विभूतियोग

परिवर्धित संस्करण

अखण्डानन्द सरस्वती

प्रकाशकीय

विभूतियोग : द्वितीय संस्करण

'विभूतियोग'का प्रथम संस्करण 1972में अति लघु रूपमें प्रकाशित किया गया था। जो कि काफी समयसे अनुपलब्ध था ग्रन्थकी माँग बराबर बनी हुई थी।

महाराजश्रीके प्रवचन-व्याख्यान टेपसे एवं प्रत्यक्ष रूपसे सुनने वालोंकी परमपूज्य महन्तश्री स्वामी ओंकारानन्दजी सरस्वतीसे बारम्बार यही प्रार्थना होती रही कि 'महाराजश्रीने जैसा बोला है वैसा ही छपे' क्योंकि जिन्होंने महाराजश्रीकी मधुराति मधुर वाणी और सहज हँसी सुनी है या सुनते हैं वह उसमें किसी भी प्रकारका बदलाव नहीं चाहते। फिर तो महन्तश्रीकी आज्ञा हुई और विदुषी श्रीमती सतीशबाला महेन्द्रलाल जेठीजीने कठिन परिश्रमकरके अपनी लेखनीसे विभूतियोगको अक्षरशः पाण्डुलिपिके रूपमें उपलब्ध कराया। इसके प्रथम संस्करणमें मात्र 20 प्रकरण थे परन्तु इस परिवर्धित संस्करणमें 53 प्रकरण प्रस्तुत हैं। अब यह परिवर्धित संस्करण आपके कर कमलोंमें है।

यह ग्रन्थ पढ़ते हुए आपको यही अनुभव होगा कि परमपूज्य महाराजश्री बोल रहे हैं।

तो अब आप अपने चक्षुओंसे, श्रवणोंसे, मनसे, बुद्धिसे, चित्तसे वह योग ग्रहण करें जो 'अविकम्प' है।

संन्यास जंयन्ती, 2060 —ट्रस्टी

2 फरवरी 2004 **सत्साहित्य प्रकाशन ट्रस्ट**

प्रथम संस्करण

प्रकाशकीय

परमपुरुष परमात्माका अनुग्रह है कि अनन्तश्री स्वामी अखण्डानन्द सरस्वतीजी महाराज द्वारा गीताके विभिन्न योगों पर किये विवेचनात्मक प्रवचनोंके सन्दर्भमें उनका यह विभूति-योग-सम्बन्धी विस्तृत प्रवचन पुस्तकरूपमें विद्वानोंके भोगार्थ और जिज्ञासु साधकोंके मार्ग-दर्शनार्थ प्रस्तुत करनेका सौभाग्य प्राप्त हो रहा है। कर्म, उपासना और ज्ञानकी त्रिवेणी इस गीता-सरितामें राजविद्या-राजगुह्य उपासनाके प्रसंगमें उसके सौविध्यके लिए भगवान्‌की विभूतियोंका निरूपण 10वें अध्यायमें किया गया है।

इस विभूति-योगके वर्णनका फल भगवान्‌ने 'अविकम्प-योग' बताया है। पूज्य स्वामीजीने 'अविकम्प योग'का जो मार्मिक विवेचन किया है, वह द्रष्टव्य है। श्रीशंकराचार्यने इसका अर्थ सम्यग्दर्शन किया है। ज्ञानेश्वरने 'असन्दिग्ध रूपसे युक्त' अर्थ किया है। लोकमान्य तिलकने 'विभूति'का अर्थ विस्तार और योगका अर्थ उसकी शक्ति किया है। योगी अरविन्द लिखते हैं कि योगकी वह स्थिति, जब मनुष्य उसमें पूर्ण सिद्ध, अनन्य-स्थिर हो जाता है।'

बीस प्रकरणोंके इस विभूति-योगमें पूज्य महाराजश्रीने तत्तत् विभूतियोंके ग्रहणका स्वारस्य और अनेक शास्त्रीय विषयोंकी चर्चा की है, जो जिज्ञासुओंके लिए उनकी बहुमूल्य देन है। एतदर्थ हम उनके चरणोंमें अपनी श्रद्धा व्यक्त करते हुए पाठकोंके हाथ इसे सहर्ष प्रस्तुत करते हैं।

वाराणसी
गुरुपूर्णिमा : 2029

—प्रकाशक
सत्साहित्य प्रकाशन ट्रस्ट

।श्रीमद्भगवद्गीता।।

।। अथ दशमोऽध्यायः।।

विभूतियोग

अनुक्रमणिका

प्रवचन	श्लोक	पृष्ठ संख्या
20-23	तेषां सततयुक्तानां भजतां प्रीतिपूर्वकम्। ददामि बुद्धियोगं तं येन मामुपयान्ति ते।।10।।	253
23-25	तेषामेवानुकम्पार्थमहमज्ञानजं तमः। नाशयाम्यात्मभावस्थो ज्ञानदीपेन भास्वता।।11।।	291
	अर्जुन उवाच	
26-27	परं ब्रह्म परं धाम पवित्रं परमं भवान्। पुरुषं शाश्वतं दिव्यमादिदेवमजं विभुम्।।12।।	320
27-28	आहुस्त्वामृषयः सर्वे देवर्षिर्नारदास्तथा। असितो देवलो व्यासः स्वयं चैव ब्रवीषि मे।।13।।	338
28	सर्वमेतदृतं मन्ये यन्मां वदसि केशव। न हि ते भगवन्व्यक्तिं विदुर्देवा न दानवाः।।14।।	350
29-32	स्वयमेवात्मनात्मानं वेत्थ त्वं पुरुषोत्तम। भूतभावन भूतेश देवदेव जगत्पते।।15।।	354
32-34	वक्तुमर्हस्यशेषेण दिव्या ह्यात्मविभूतयः। याभिर्विभूतिर्लोकानिमांस्त्वं व्याप्य तिष्ठसि।।16।।	395
34	कथं विद्यामहं योगिंस्त्वां सदा परिचिन्तयन्। केषु केषु च भावेषु चिन्त्योऽसि भगवन्मया।।17।।	412
	श्रीभगवानुवाच	
34	विस्तरेणात्मनो योगं विभूतिं च जनार्दन। भूयः कथय तृप्तिर्हि शृण्वतो नास्ति मेऽमृतम्।।18।।	416
35	हन्त ते कथयिष्यामि दिव्या ह्यात्मविभूतयः। प्राधान्यतः कुरुश्रेष्ठ नास्त्यन्तो विस्तरस्य मे।।19।।	425
36-37	अहंमात्मा गुडाकेश सर्वभूताशयस्थितः। अहमादिश्च मध्यं च भूतानामन्त एव च।।20।।	434
37-38	आदित्यानामहं विष्णुर्ज्योतिषां रविरंशुमान्। मरीचिर्मरुतामस्मि नक्षत्राणामहं शशी।।21।।	447

।।ॐ तत्सदिति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु
ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसंवादे
विभूतियोगो नाम दशमोऽध्यायः।।

स्वामी अखण्डानन्दा सरस्वतीजी महाराज

विभूतियोग

अब आओ, दसवें अध्यायमें प्रवेश करें। विभूतियोग इसका नाम है। अध्यायोंके नाम महाभारतमें नहीं है। उसमे तो '*भगवद्गीता-पर्वणि प्रथमोऽध्याय:, द्वितीयेऽध्याय:*' आदि ऐसे ही हैं। आचार्य लोगोंने अध्यायोंके नामोंकी कुछ व्याख्या-आख्या भी नहीं की है। लेकिन अब तो भाई, यह बात चल गयी है। '*स्थितस्य गति: चिन्तनीया*' आचार्य लोग कहते हैं कि जो बात चल जाये, उसकी कोई संगति लगा लेनी चाहिए; उसके साथ ज्यादा खटपट करनेकी जरूरत नहीं है। नहीं तो खण्डन-मण्डनमें दिमाग खराब होता है।

श्रीभगवानुवाच

भूय एव महाबाहो शृणु मे परमं वच:।
यत्तेऽहं प्रीयमाणाय वक्ष्यामि हितकाम्यया॥ 1॥

भगवान् कहते हैं कि अर्जुन सुनो! '**महाबाहो**'का अर्थ होता है योद्धा। 'महाबाहो' सम्बोधनके द्वारा भगवान् यह संकेत कर रहे हैं कि यदि तुम युद्ध नहीं करोगे तो तुम्हारी ये बड़ी-बड़ी बाहें निष्फल चली जायेंगी और बाहुओंकी सफलता तब है, जब वे कोई बड़ा भार वहन करें। तुम्हारी बाहोंपर धर्मका बड़ा भार पड़ा है और तुम उसको उतारकर फेंक देना चाहते हो? धर्मरक्षा और धर्म-संवर्द्धनका भार तुम्हारी बाहोंपर है। अरे, तुम तो दूरकी कौड़ी ला सकते हो,

दूरकी वस्तुको भी उठा सकते हो! मैं तो तुमको बहुत नजदीककी बात बताता हूँ—'**शृणु मे परमं वचः।**' परम वचन सुनाता हूँ। यह भी देखो कि वचन तो परम है ही, श्रेष्ठ है ही, यह '**प्रीयमाणाय**' भी है—अर्थात् तुम मेरी बात सुनकर खुश होते हो, उससे तो वह कहनी ही चाहिए।

'**हितकाम्यया**'—भगवान् कहते हैं कि मैं जो कुछ कह रहा हूँ हितकी कामनासे ही कह रहा हूँ। मेरे हृदयमें हित-ही-हित भरा है। इस तरह वक्ताके हृदयमें प्रीति-तृप्ति है और वचन सर्वोत्कृष्ट है—इसलिए आओ, सुनो।

देखो, इस दसवें अध्यायमें दो विषय हैं। उनपर आप लोग अलग-अलग विवेकपूर्वक ध्यान देना। एक है योग और एक है विभूति। जब ठंडे पानीमें बर्फ मिला हुआ रहता है, तो उसका नाम होता है योग; और जब जमकर सिल्लीके रूपमें आजाता है, तब उसका नाम होता है विभूति। जलके वैभवका नाम बर्फ है। आग जबतक लकड़ीमें छिपी है तबतक योग है और जब ठण्ड दूर करनेके लिए अथवा रसोई बनानेके लिए प्रकट हो जाती है, तब वह अग्निका वैभव कहलाती है। इसी प्रकार परमेश्वर योग रूपसे भी रहते हैं और विभूति रूपसे भी रहते हैं। इस ओर मैं आपका ध्यान इसलिए खींच रहा हूँ कि कई योगके पक्षमें बहुत ज्यादा हो जाते हैं—कि बस, हम मिले रहें ईश्वरसे। और कई लोग विभूतिके पक्षमें बहुत ज्यादा हो जाते हैं—कि यह देखो भगवान्का वैभव। भगवान्का वैभव है सूर्य, भगवान्का वैभव है चन्द्रमा, भगवान्का वैभव है हिमालय (इन सब वैभवोंका वर्णन आयेगा इस अध्यायमें)। तो योग और विभूति इन दोनोंके माध्यमसे भगवान्का वर्णन करनेका लाभ क्या है? प्रयोजन क्या है? लाभ न पूछो तो प्रयोजन तो पूछ ही लो। क्योंकि, बिना प्रयोजनके मन्दबुद्धि पुरुष भी प्रवृत्त नहीं होता—

'प्रयोजनमनुद्दिश्य न मन्दोऽपि प्रवर्तते।'

यहाँ प्रयोजन यह है कि जब समाधिमें रहें तो वहाँ भी भगवान्से मिले रहें और जब सूर्य-चन्द्रमा-वृक्ष-पृथिवी-पर्वत-नदी देख रहे हों, तब भी परमात्मका दर्शन हो रहा है। तो समाधिमें भी परमात्माका अनुभव हो—इसके लिए दसवें अध्यायमें योग और विभूति दोनोंका वर्णन है। आप सातवें श्लोकको देखना, उसमें बिल्कुल विभाग कर दिया गया है।

एतां विभूतिं योगं च मम यो वेत्ति तत्त्वतः।
सोऽविकम्पेन योगेन युज्यते नात्र संशयः॥ 7॥

यहाँ अविकम्प योग एक और आगया। एक विभूति है, एक योग है और एक अविकम्प योग है। पातञ्जलयोगके अष्टांग-योगमें यह अविकम्प योग नहीं है। घरेण्डसंहितामें नहीं है, दृढ़योग-प्रदीपिकामें नहीं है, योग-संहितामें नहीं है, मन्त्र-योग संहितामें नहीं है और राजयोग-संहितामें भी नहीं है। यह अविकम्प योग गीतामें है—माने जो समाधिमें है, वही व्यवहारमें है। योग विकम्पित नहीं हुआ, डाँवाडोल नहीं हुआ—चाहे व्यवहारमें रहो, चाहे समाधिमें रहो—

सोऽविकम्पेन योगेन युज्यते नात्र संशयः।

जो विभूतिको भी भगवान् देखता है और शान्तिको भी भगवान् देखता है, वह भगवान्से कभी बिछुड़ता नहीं—यह बात इन श्लोकोंमें आपको दिखायी देगी।

न मे विदुः सुरगणाः प्रभवं न महर्षयः।
अहमादिर्हि देवानां महर्षीणां च सर्वशः॥ 2॥
यो मामजमनादिं च वेत्ति लोकमहेश्वरम्।
असंमूढः स मर्त्येषु सर्वपापैः प्रमुच्यते॥ 3॥

भगवान् कहते हैं कि ये जो देवता लोग हैं, इन्द्रियोंके आदिदैविक अधिष्ठाता हैं—हाथमें इन्द्र हैं, पाँवमें विष्णु हैं—ये मेरी उत्पत्तिको नहीं जानते। इनपर यह कहावत चरितार्थ होती है कि *'बापके जन्म कि जाने पूत'*? ये तो बादमें पैदा हुए हैं; बच्चे हैं; ये क्या जानेंगे? बोले कि अच्छा, ऋषिलोग जानेंगे? बोले कि नहीं। इन्द्रियोंके आध्यात्मिक दृष्टिसे एक-एक ऋषि हैं और जैसे ऋषिलोग द्रष्टा होते हैं *'ऋषयो मन्त्रद्रष्टारः'*—वैसे ही शब्द-द्रष्टा-श्रोता ऋषि हैं, रूप-द्रष्टा नेत्र ऋषि हैं, गंध-द्रष्टा घ्राण ऋषि हैं और रस-द्रष्टा रसना ऋषि हैं। लेकिन ये ऋषिलोग भी भगवान्की उत्पत्तिको नहीं जानते हैं। ये लोग भी जानते हैं कि हमको अपनी ज्ञान-रश्मिसे उज्जीवित करनेवाला परमात्मा कहाँसे पैदा होता है।

'अहमादिर्हि देवानां महर्षीणां च सर्वशः'—ये कर्मेन्द्रिय, ज्ञानेन्द्रिय और अन्तःकरणके जितने आधिदैविक देवता हैं तथा विश्व-सृष्टिमें और भी जितने देवता हैं—जैसे वास्तु देवता, अग्निदेवता, वायु देवता आदि जितने भी देवता हैं—वे सब व्यष्टि-समष्टिरूपसे ज्ञान-रश्मि देनेवाले परमात्माको नहीं जानते हैं। अच्छा, ऋषि नहीं तो महर्षि तो जानते होंगे! कि महर्षि भी नहीं जानते हैं! तब कौन जानता है?

देखो अर्जुन, तुम दो बातोंको जान लो। इन्द्रियाँ जायमान हैं, ऋषि जायमान

हैं और मैं अज हूँ। इन्द्रियों, ऋषियों और देवताओंका आदि है, परन्तु मेरा आदि नहीं है—

'अनादिरादिर्गोविन्द सर्वकारणकारणम्' (ब्रह्मसंहिता 5.1)।

इसलिए तुम परमात्माको इस तरहसे जानो कि वह जन्य नहीं है और अनादिको ढूँढनेके लिए कालके आदिमें जानेकी जरूरत नहीं है। यह जाननेकी चेष्टा मत करो कि यह भूत कहाँसे प्रारम्भ होता है। यदि तुम इस चक्करमें पड़े तो समझ लो कि फिर ईश्वर तुमको नहीं मिलेगा। अगर कालके आदिमें पहुँचना चाहोगे—तो काल विकल्पमात्र है, उसका आदि कहीं होता नहीं। देश भी विकल्प मात्र है, उसका भी कहीं आदि नहीं है। दिशाएँ भी विकल्पमात्र हैं, उनका भी आदि नहीं है। इसलिए पूर्व-पश्चिम-उत्तर-दक्षिण ढूँढनेके लिए कहीं मत जाना। परमात्मा तो—जहाँ वृत्तियोंका उत्थान होता है—वहाँ रहता है, और उसका है नित्य योग। उस लोक-महेश्वरको पहचान लोगे तो असंमूढ हो जाओगे। फिर कोई पाप-ताप नहीं लगेगा। **'सर्वपापैः प्रमुच्यते।'** **'सर्वपापैः'** माने *अविद्या-तत्कार्यै*। केवल 'पाप' रहे, तब 'समूल पाप'को लेना चाहिए। समूल पाप माने फल-रहित, करण-सहित, कर्तासहित, और अपने मूलभूत अज्ञानके सहित। ये सब पापकी जातियाँ हैं।

योऽन्यथा सन्तमात्मानमन्यथा प्रतिपद्यते।
किं तेन न कृतं पापं चौरेणात्मापहारिणा॥

जो है तो कुछ, और जानता है अपनेको कुछ, वह भी पापी है। भ्रम भी पाप है। भ्रमका बाप अज्ञान भी पाप है। **'सर्वपापैः प्रमुच्यते'** माने इन सबसे छुटकारा मिल जाता है, परमात्माको जान लेनेपर।

देखो; जब सृष्टिकालमें रजोगुण प्रवृत्त होता है, तब ब्रह्माका जन्म होता है और ब्रह्मा भिन्न-भिन्न प्रकारकी सृष्टि बनाते हैं; जनताका उद्भव होता है। और, जब प्रलय काल होता है; तमोगुण प्रकट होता है, तो इसमें जो चैतन्यकी अभिव्यक्ति है, रुद्र प्रकट होता है।

तो असलमें चैतन्यका तो जन्म नहीं हुआ, वह तो अज है और तमोगुण रजोगुण प्रकट हुए। जब ये प्रकट हुए तब उनमें चैतन्य भी प्रतिबिम्बित हुआ। चैतन्यका भी आभास हुआ। तब विशिष्ट चैतन्य भी बना, तब औपाधिक चैतन्य भी बना।

इसी प्रकार जब सत्त्वगुण प्रकट होता है, तब उसमें विष्णु प्रकट होते हैं

और महाप्रलयके समय सत्त्वगुण लीन हुआ तो विष्णु भी श्रीगोविन्दाय नमो नम:; उनका भी कहीं पता नहीं। इसी प्रकार ब्रह्ममें कल्पित माया है, असली माया है नहीं। कल्पित जो माया है वह कभी डूबती है कभी उतराती है, यह तो सपना कभी आता है कभी नहीं आता। जब माया डूबती है तो ईश्वरका ऐश्वर्य और ईश्वरका प्रकटरूप दोनों लापता हो जाते हैं और जब माया उतराती है ब्रह्ममें, फुरती है—ऐसे समझो, तो उसके साथ-साथ अन्तर्यामी ईश्वर भी फुर आता है।

एक दृष्टिसे कहो तो मायारूप उपाधिके जन्मसे ईश्वरका जन्म है और एक दृष्टिसे इसे कहो तो शुद्ध चैतन्यरूप होनेके कारण, वह ब्रह्म ही है, न इसमें जन्म है, न मृत्यु है।

परमात्माके स्वरूपको देवता और महर्षि—ये नहीं जान सकते।

क्यों नहीं जान सकते? क्योंकि यह तो माया प्रकट हुई, फिर महतत्त्व प्रकट हुआ, हिरण्यगर्भ, ब्रह्मा, विष्णु, महेश प्रकट हुए फिर ब्रह्मासे ऋषि, महर्षि, देवता—ये सब पैदा होते हैं। तो ब्रह्मासे पहले क्या था? ब्रह्माका जन्म कैसे हुआ, विष्णुका जन्म कैसे हुआ, रुद्रका जन्म कैसे हुआ? ईश्वरका जन्म कैसे हुआ, उनका वैभव क्या है—यह तो न किसी देवताने देखा है और न तो किसी ऋषि-महर्षिने देखा है। ठीक है कि ये ईश्वरकी उत्पत्तिको और ईश्वरके प्रभावको नहीं देखते और ईश्वर चैतन्यरूपसे अजन्मा है और उपाधिकी दृष्टिसे जन्मवान है। महर्षि और देवता इसके जन्मको जानते भी नहीं—यह कहना भी ठीक है और इसका जन्म होता भी नहीं यह कहना भी ठीक है।

अब दूसरी बात देखो, परमात्माका जब अवतार होता है, तब जन्म होता है। रामका जन्म हुआ, कृष्णका जन्म हुआ, मत्स्य, कच्छप, वराह, नृसिंह, वामन, परशुरामका जन्म हुआ, तो परमात्मा अजन्मा कैसे?

अजायमानो बहुधा ह्यजायत!

देखो, इसका अभिप्राय यह है कि जगत्‌के जन्ममें, जीवके जन्ममें, अवतारके जन्ममें, ईश्वरके जन्ममें, जो अन्तर है उसे—समझना चाहिए। प्रकृतिमें जो विकार होता है उसीको जन्म कहते हैं। एक चनेका बीज मिट्टी-पानीमें डाल दिया, उसे अंकुरणका वातावरण मिल गया। जब पका तो उसमें-से अंकुर निकला, पत्ते निकले, पौधा निकला, फिर उसमें फली लगी। तो जड़ वस्तुका जो जन्म है वह विकार है और जीवका जन्म इस जड़के विकारको मैं—मेरा मान लेना है और जो ज्ञानी पुरुष है वह उसके मैं-मेरे पनसे मुक्त हो जाता है, भले वह प्रतीत

होता रहे, परन्तु जड़ वस्तुको वह 'मैं मेरा' नहीं मानता है, उसे अपने स्वरूपका ज्ञान हो गया, मगन हो गया। पहले तो भले उसका जड़के साथ सम्बन्ध था, परन्तु अब नहीं रहा। परन्तु ईश्वर तो नित्य शुद्ध ज्ञानवान है, जो उसको अपनी स्वदृष्टिमें कभी अज्ञान होता नहीं, इसलिए अजन्मा है और दूसरे लोग उसमें जन्मका आरोप करें, तो कोई घुँघचीके दानेको अगर आग समझे तो वह जलता नहीं है। तो आओ परमात्माके अज स्वरूपका विवेक करें।

यह बड़ा विचित्र है कि मनुष्यके सत्त्वका पता लगता है कि इसकी बुद्धि कहाँ लगी है? किसीकी बुद्धि लगी है कि हमको धन मिले। इस साल धन मिले, भले भोग न हो, अगले साल देखेंगे।

हम एक आदमीको जानते हैं, उसको दो सौ रुपया महीना मिला। तो उसने कहा कि इस दौ सौ रुपयेको अगर हम किसी काममें लगा दें, तो दो बरस बाद हमको चार सौ रुपया महोना मिलने लगेगा। तो उसने महीनेके उस दो सौ रुपयेको, काममें लगाना शुरू किया, कि दो बरस बाद फिर हमको चार सौ रुपया महीना मिलेगा। अब वह दो बरस जो भूखे बिता रहा है और नंगे बिता रहा है, ठीक कपड़ा नहीं पहनता, कुछ ठीक खाता नहीं। दो सौ रुपयेमें उसका जीवन निर्वाह ठीक हो सकता था, इस बरसमें भी होता, अगले बरसमें भी होता, दो सौ रुपये महीनेमें उसका जीवन निर्वाह हो जाता। अब वह चार सौ की लालचमें, आशामें दो बरसके लिए उसने वह तकलीफ बुलायी है कि न खानेको है, न पहननेको।

पैसा बुलाना अपने घरमें, लेकिन खाकर, पहनकर, भोगकर, तब पैसा बुलाना चाहिए। किसीकी बुद्धि धनमें लग जाती है, किसीकी बुद्धि भोगमें लग जाती हैं कि हमको भोग ही मिले, कल भूखे भले रहेंगे, व्यवस्थाको छोड़ देता है। आज भी खानेको चाहिए, कल भी खानेको चाहिए। आज इतना खा लो कि कल अजीर्णकी दवा लेनी पड़े, वह कोई खाना तो नहीं हुआ? आज इतना भोग करो कि कल भूखे रहना पड़े, यह भोग करनेकी पद्धति नहीं है।

किसीकी बुद्धि धनमें लग जाती है, किसीकी बुद्धि भोगमें लग जाती है, किसीकी बुद्धि कर्तव्याकर्तव्यके झगड़ेमें इतनी लग जाती है कि वे बेचारे धरतीपर पाँव ही नहीं रख सकते कि कोई कीड़ा न मर जाय। वे हाथ ही नहीं उठा सकते, आँखकी पलक ही नहीं गिरा सकते, तो कर्तव्याकर्तव्यके पचड़ेमें वे पड़ गये।

तो यह बुद्धि जो है यह कहीं-न-कहीं, छोटी-छोटी चीजमें आदमीको ले जाकरके फँसाती है, धनमें फँसावे, भोगमें फँसावे, कर्ममें फँसावे, रिश्तेदार-नातेदारमें फँसावे, अब जिसको रोनेकी आदत पड़ जाय, वह अगर सुने कि आज एक आदमी मर गया है, तो उसकी मौत सुनकर रोने लगेगा, उसकी आँखसे झट पानी निकलने लगेगा। बड़ा दयालु है भाई, देखो दूसरेका दु:ख सुनकर कैसी पीड़ा इसके चित्तमें हुई! पीड़ा तो उसीको हुई, रोना तो उसीको पड़ा।

यह जो बुद्धि है यह मनुष्यको गलत जगहपर लगा देती है। ईश्वरके बारेमें अगर विचार किया जाय तो यह भोग सम्बन्धी, धन सम्बन्धी, कर्म सम्बन्धी, सम्बन्धी-सम्बन्धी—सगेके बारेमें जो विचार है, अपनी जातिके बारेमें जो विचार है, जिनके कारण चित्तमें बड़ा उद्वेग, बड़ा विक्षेप होता है, यहाँसे उठकरके मनुष्यकी बुद्धि ईश्वरके बारेमें चली जाती है। इसलिए ईश्वरकी ओर बुद्धिका जाना यह बड़े पुण्यका लक्षण है और बड़े भाग्यशालीका लक्षण है कि वह बैठकरके धन कमानेके बारेमें नहीं सोच रहा है, ईश्वरके बारेमें सोच रहा है।

आप देखो आपके जीवनमें ऐसे कितने क्षण व्यतीत होते हैं, जब आप संसारके बारेमें न सोच करके अपनी बुद्धिसे ईश्वरके बारेमें विचार करते हैं। वह आपका पुण्यकाल है, जीवनमें सबसे बड़ा पुण्यकाल वही है।

तीर्थयात्रा करनेसे पाप कटता होगा, एकान्तमें रहनेसे लड़ाई-झगड़ा किसीसे नहीं होता होगा, विक्षेप कम होता होगा! परन्तु ईश्वरके बारेमें विचार करने पर अज्ञानान्धकारकी निवृत्ति होती है। इसलिए तीर्थयात्रासे सत्संग बड़ा है। एकान्तमें बैठके अपने विचारोंमें डूब जानेकी अपेक्षा भी सत्संग बड़ा है। क्योंकि वह ईश्वरका विचार देता है। एकान्तमें हम अपनी मान्यतासे आगे नहीं बढ़ पाते हैं और सत्संगमें अपनी मान्यतासे आगे बढ़ पाते हैं। हमको एक नया विचार, जिसका संस्कार अभी नहीं है, चित्तमें पड़ता है। तो—

यो मानजमनादिं च वेत्ति लोक महेश्वरम्। 10.3

बोले—ऐसा है—भगवान्, अजन्मा है। जीवका जन्म होता है। अचित्के साथ—जड़के साथ तादात्म्य ही जीवका जन्म है। परन्तु; भगवान्का जो अवतार होता है उसका जड़के साथ तादात्म्य नहीं होता है, वहाँ तो भक्तके भावसे अखण्ड चेतनमें आकारकी पूर्ति होती है।

आनन्दमात्र कर पाद मुखोदर......

यहाँ तो चिन्मात्र आनन्दमात्र सन्मात्र मुख है, सन्मात्र हाथ है, सच्चिदानन्द मात्र पेट है, सच्चिदानन्द मात्र पाँव है। वह जो अवतारका शरीर है, वह न भौतिक है और न भूत संसस्थ है। वह तो अज सुख है। उसका जन्म असलमें जन्म नहीं है—

जन्म कर्म च मे दिव्यं एवं यो वेत्ति तत्त्वतः।
त्यक्त्वा देहं पुनर्जन्म नैति मामेति सोऽर्जुन॥ गी. 4.9

भगवान्के जन्मका रहस्य समझ जाओ तो स्वयं भी जन्मसे छूट जाओ। भगवान्के जन्मका रहस्य साधारण नहीं है, क्योंकि जन्म होते हुए भी अज ही है। अजन्मा ही है।

अब ब्रह्मकी जो अजता है, वह तो ऐसा है, प्रकृतिका अज होना, जीवका अज होना ईश्वरका अज होना और इस त्रैतसे विनिर्मुक्त जो तत्त्व है उसका अज होना।

अज माने जन्म-मरण न होना। 'अ' माने नहीं, और 'ज' माने जन्म-मरण दोनों। जायमान होना और (मर) जाना—दोनों अजमें है। अज माने जायमान जहाँ पैदा होना भी न हो और जीना-मरना भी न हो। क्योंकि जिसका जन्म होता है, उसका मरण होता है, इसलिए जन्मसे मृत्युका भी ग्रहण हो जाता है। **न जायते** अर्थात् **न जायते न म्रियते इति अजः**। जो न जन्म लेता है, न मरता है।

देखो जिसमें जप करना नहीं पड़ता। उसका नाम अज है। जिसमें जप छूट जाता है। उसको दोहराना नहीं पड़ता, ऐसा है वह अजन्मा कि एक बार पहचान लो, तो दोहराना न पड़े।

कहते हैं कि जायमान जितने हैं, जगत्से विलक्षण हैं, इसलिए अज है। जीवसे विलक्षण है इसलिए अज है। देखो अजमें क्या है? 'ज' माने जगत्, 'ज' माने जीव और इससे जो विलक्षण है, सो अज। 'ज' माने जगन्नाथ। जो जगन्नाथसे भी विलक्षण है उसका नाम अज। तो यह जगन्नाथ जो है यह जगत्से विलक्षण, जीवसे विलक्षण, जगन्नाथसे विलक्षण, यह जो मूल तत्त्व है इसे 'अज' कहते हैं।

जो जानता है कि परमात्मा अजन्मा है, न इसमें जगत् है, न जीव है, न ईश्वर है, बस वही-वही है। प्रजा है तो राजा है, जहाँ राजा प्रजाका भेद नहीं है, ऐसा जो मूल तत्त्व **अनादिञ्च**—अनादि क्यों बोलते हैं? कहते हैं कि अजन्मा क्यों हैं क्योंकि अनादि है। अजन्मापनामें अनादिपना हेतु है। शंकराचार्य भगवान्ने इसकी

व्याख्या की—**अनादित्वं अजत्वे हेतुः**। अनादि जो कहा, इसका कोई कारण नहीं है। देखो श्रुतिने कहा—**न कश्चिज्जनिता न चाधिपः**—ईश्वरका बाप कौन? ईश्वरका बाप कोई नहीं। अगर यह मानो कि फलाने दिनको ईश्वर पैदा हुआ, तो उसके पहले ईश्वर नहीं था क्या? इसीसे देखो वेदान्तियोंके घरमें ब्रह्मकी जयन्ती नहीं मनती है।

महात्मा लोग राम जयन्ती मनाते हैं, कृष्ण जयन्ती, मत्स्य जयन्ती, कच्छप जयन्ती, नृसिंह जयन्ती, वामन जयन्ती, परशुराम जयन्ती सब तो है, बुद्ध जयन्ती भी है, अभी कल्कि पैदा नहीं हुए, कल्कि जयन्ती भी है, लेकिन ब्रह्म जयन्ती तो है ही नहीं। जिसकी जयन्ती न हो उसका नाम अज। यह 'अज' शब्दका अर्थ है।

यह कैसे अनादि है?

अनादिपनेको समझनेके लिए हमको कुछ बाबू लोग मिले, तो वे लोग बोले—कि महाराज! महात्मा लोग आँख बन्द करके सोचते होंगे कि ईश्वर कब पैदा हुआ—ईश्वर कब पैदा हुआ। तो कुछ समझमें आता नहीं होगा! जब कोई बात समझमें नहीं आती होगी तब अनादि कह देते होंगे।

आपको तो क्या सुनावें, एक बहुत पढ़ा-लिखा आदमी था, जिसको दुनियामें ज्यादा पढ़ा-लिखा मानते हैं, बहुत करके बुलन्दशहरके थे, लंडनसे वे साहित्यके डाक्टर थे, रामायण पर डी. लिट् थे। परन्तु उनको यह मालूम नहीं था कि सीताजी किसकी बेटी थीं? हमको मिले और हमसे प्रश्न किया। लंडनसे डी. लिट् होकर आये थे और रामायण पर विशेष अनुसन्धान किया था।

एक बात आपको और सुनावें—इलाहाबादमें एकके बहुत बड़े नेता थे, उनका नाम था ईश्वरचन्द्र जी, गाँधीजीके जमानेमें बहुत प्रसिद्ध थे। उनके पुत्र हैं। वे विलायतसे लौटके आये, वे भी डॉक्टर होकर आये थे। तो गोरखपुरमें संकीर्तनमें आये, संकीर्तन हो रहा था—

हरे राम हरे राम राम राम हरे हरे।

बोले—यह क्या हो रहा है! यह हरे राम हरे राम क्या होता है!

तो बताया गया—भाई, भगवान्‌का नाम है यह।

इसका क्या फायदा है? अच्छा फायदा है तो एक बार बोलें, यह बार-बार दोहरानेसे क्या फायदा है!

आपको सुनावें—एक मिनिस्टरकी बात। उनका नाम था जगजीवन रामजी। केन्द्रिय मिनिस्टर थे, रेलवे मन्त्री थे। तो एक बार हम और वे दोनों जने

एक मंच पर थे तो उन्होंने बताया कि सीता जारकी सन्तान थी और उससे कोई ब्याह नहीं करता था। तो रामचन्द्र भगवान्ने पतित-उद्धारकी दृष्टिसे उसके साथ विवाह किया।

एक नहीं, ऐसी दस बातें उन्होंने सुनायीं। अब यह रिकार्ड कर लिया गया उनका भाषण। उसके बाद मैंने, हम तो जैमिनीका लिहाज नहीं करते हैं, पतञ्जलि, कपिलका लिहाज नहीं करते हैं, वे तो सेठ लोग मिनिस्टरोंसे डरते हैं, उनको सर्वज्ञ मानते हैं। वे समझते हैं कि बाबा नाराज हो जायेगा तो कुछ बिगाड़ देगा, खुश हो जायेगा तो कुछ दे देगा। तो सेठ लोग उनको परमेश्वर समझते हैं। जिस दिन मिनिस्टरीकी गद्दी पर बैठेंगे उसदिन मान लेंगे कि यह सर्वज्ञ होगया। उनसे वेदान्तपर बुलवा लो, उनसे मीमांसाकी चर्चा कर लो। एक अक्षर भी विज्ञानका नहीं जानते हैं बुलवा लो उनसे विज्ञान।

अब मैंने महाराज उनको लताड़ा। तो बोले कि मैंने तो यह बात कही नहीं, ऐसे कह दिया। अच्छा जब कह दिया कि कही नहीं तो, उनके घरपर जाकर फिरसे टेपरिकार्डर बजाके सुनाया गया कि कही है, तब बोले कि गलतीसे यह बात मैंने कही है।

यह सब छपा हुआ है, तो कुछ छिपी हुई बात नहीं रही। फिर एक पुस्तक छपी दिल्लीमें, तो उसमें उनका भाषण और मेरा भाषण सब उसमें प्रकाशित हुआ, क्योंकि हिन्दूलोग नाराज हो गये थे, सीताजीके बारेमें उनके वैसा बोलनेसे।

यह बात हम इसलिए बताते हैं कि आप ईश्वरके बारेमें, ब्रह्मके बारेमें जो उसके जानकर हैं उनकी बातको सुनें और उनकी बातको समझें; कलक्टर, कमिश्नर, मिनिस्टरके ओहदे और उनकी डिग्रीके साथ इस बातका कोई सम्बन्ध नहीं है। राजनीतिके बारेमें कोई राजनेता बोले, तो उसकी बातका आदर कर सकते हैं। ऐसे समझो; किसी विषयको कोई गम्भीरतासे समझता हो और उसके बारेमें उसकी जानकारी ज्यादा हो सकती है, लेकिन जब ईश्वरकी चर्चा आवे, तो जो ईश्वरके बारेमें जानकार हैं, उनकी बात सुननी चाहिए। उनकी बात माननी चाहिए। यह परमार्थका मार्ग है, यह न्यायाचार्य, सांख्याचार्य, वेदान्ताचार्य, व्याकरणाचार्य, साहित्याचार्य विषयके आचार्य और तीर्थ जो हैं, ये काशीमें ऐसे मारे-मारे फिरते हैं दो-दो रुपयेके लिए और इनको हम पाँच-पाँच रुपये, दो-दो रुपये देकर उपकृत बनाते हैं, इनका जो ज्ञान है, वह ईश्वरके बारेमें नहीं है, परीक्षा पास करने तकके लिए है। आजके तार्किक कहते हैं—महात्माओंकी समझमें बात

नहीं आती कि ईश्वरका जन्म कब हुआ होगा, तो हम लोगोंकी बुद्धिमें पर्दा डालनेके लिए अनादि कह देते हैं।

वस्तुतः 'अनादि' जो है शास्त्रोक्त सत्य है। जैसे 'ज्ञान'—तुम्हारे अन्दर जानकारी है कि नहीं, तो क्या तुम बता सकते हो कि यह कब पैदा हुई? यदि कहो कि हमने 'ज्ञान'को पैदा होते देखा, तो ज्ञानसे देखा कि अज्ञानसे देखा? यदि ज्ञानकी उत्पत्ति देखी जायेगी तो ज्ञानसे ही देखी जायेगी तब ज्ञानकी उत्पत्तिसे पहले ज्ञान रहेगा। असली ज्ञान कौन है? जिसने उत्पत्ति देखी, वह असली ज्ञान है, जिसकी उत्पत्ति देखी गयी, वह असली ज्ञान नहीं है। ज्ञान तो अनादि होता है। अनादि कहनेका अर्थ है कि जिस चीजकी आदि होती है, उसकी उत्पत्ति होती है। और किसी भी वस्तुकी उत्पत्ति सिद्ध होनेके पहले ज्ञान रहता है और उसकी उत्पत्तिको सिद्ध करता है। ज्ञानका अनादिपना आँख बन्द करके नहीं सोचा जाता। चेतनकी जो अनादिता है वह सम्पूर्ण जड़ वर्गको प्रकाशित करती और जड़ वर्गमें जो क्रम है—एकके बाद दूसरा, दूसरेके बाद तीसरा, तीसरेके बाद चौथा और जड़ वर्गमें जो विस्तार है, जो जड़ वर्गमें बीजके कारण पृथक्ता है, वह ज्ञानसे प्रकाशित होती है। पृथक्ताका प्रकाशक ज्ञान, लम्बाई-चौड़ाईका प्रकाशक ज्ञान। और एक मिनट, दो मिनट, चार मिनटका प्रकाशक ज्ञान। कालकी आदि है; परन्तु कालके प्रकाशककी आदि नहीं है। देशकी आदि है, परन्तु देशके प्रकाशककी आदि नहीं है। इसलिए भाव और अभाव—देशाभाव और देश, काल और कालाभाव द्रव्य और द्रव्याभाव—ये जिस आत्मचैतन्यके द्वारा प्रकाशित होते हैं, वह अनादि है।

वेत्ति लोक महेश्वरम्—लोक-महेश्वर कहनेका अभिप्राय यह कि प्रकाश्यका जो जादू है उससे विलक्षण। मनुष्योंके राजा मनुष्य, देवताओंके राजा देवता, ऋषिका राजा ऋषि, पशुका राजा पशु और यह मिथ्या प्रकाश्यका सत्य प्रकाशक, विचित्र है! इसका आश्चर्य यह है कि मिथ्या प्रकाश्यका सच्चा प्रकाशक। जो इसको जान लिया, परमात्माके इस स्वरूपको जानता है, वह अमर्त्य है। वेद भगवान् कहते हैं कि ये शरीरधारी तो मर्त्य हैं और परमात्मा कैसा है कि अमर्त्य है।

आओ हम इसके बारेमें विचार करें कि सब मरनेवालोंमें अमर कौन है? सब बदलनेवालोंमें एकरस कौन है? अलग-अलग शरीरोंमें एक कौन है? जड़ोंमें चेतन कौन है? दुःखोंमें सुख कौन है? कौन अस्ति है, कौन भाति है, कौन प्रिय है! आओ परमात्माको ढूँढे।

यो मां वेत्ति स असंमूढः। जो मुझे जान लेता है वह असंमूढ हो जाता है।

देखो संमूढ़का अर्थ बताते हैं—मोह माने अज्ञान होता है और सम्मोह माने भ्रान्ति होता है—सम्यक् मोह।

सम्यक् मोह क्या होता है?

देखो; रस्सीको न पहचानना अज्ञान है और उसको साँप समझना भ्रम है। आप अज्ञान और भ्रमका फर्क समझो। रस्सीको न पहचानना अलग चीज है और उसको साँप समझना दूसरी चीज है। दोनों एक चीज नहीं है। जब रस्सीको नहीं पहचानेंगे तभी उसे साँप समझेंगे, लेकिन रस्सीको न पहचाननेसे कई भ्रम हो सकते हैं। क्या-क्या? रस्सीको नहीं पहचाना तो उसे फूलकी माला समझ लिया, डंडा समझ लिया, धरतीकी दरार समझ ली। तो फूलकी माला समझना यह भ्रम है, डंडा समझना भ्रम है, दरार समझना भ्रम है। और रस्सीको न पहचानना अज्ञान है। अज्ञानसे भ्रमकी उत्पत्ति होती है, अज्ञान पहली भूमिका है और भ्रम दूसरी भूमिका है। इसमें तो विपरीत प्रत्यय हो गया। पहले तो चीजको पहचाना नहीं, दूसरे अन्य समझ लिया। चीजको न पहचानना बात जुदा है, ठीक है विभृति हो गयी, लेकिन उलटा समझ लेना, राधाको चन्द्रावली पहचान लेना यह दूसरी बात है। चन्द्रावली पहचाननेकी मार पड़ती है। यह उलटा हो गया। तो भय आतंक आदि केवल अज्ञानसे नहीं होता। देखो, अज्ञान रस्सीको नहीं पहचाना है। नहीं पहचानना तो डर थोड़े ही होगा, दिल थरथर थोड़े ही होगा, लेकिन साँप समझ लेंगे, तब? तब तो दिल धक-धक करने लगेगा। भ्रान्तिमें-से भय निकलता है, दुःख निकलता है, लेकिन अज्ञानमें ये सब बीज़ ही रूपसे रहते हैं, ये निकले हुए नहीं रहते हैं। क्योंकि भ्रान्ति स्वयं वृत्ति है, भ्रान्ति स्वयं अज्ञात है। **यो वेत्तिनां अजं अनादिं च लोकमहेश्वरम्**। **असंमूढः**—कौन? बोले—मोह वह है कि परमात्माको नहीं पहचाना और सम्मोह क्या है? परमात्माको जीव-जगत्, शोक-मोह, पाप-पुण्य, अपना-पराया, समझा। ब्रह्म हत्या कर दी न! उसका नाम ब्रह्म हत्या हुआ, ब्रह्म हत्या हो चाहे न हो, काट-कूटकर रख दिया। यह ब्रह्मको काट-कूटके रखना जो है; यह सम्मोह है। तो यह सम्मोह बड़ा दुःख देता है। मोह उतना दुःख नहीं देता जितना दुःख सम्मोह देता है। इसीसे देखो समाधिमें जाकर आदमी सन्तुष्ट होता है। क्योंकि वहाँ मोह तो रहता है, सम्मोह नहीं रहता। समाधिमें विघ्न रहता है; लेकिन भ्रान्ति नहीं रहती। भ्रान्ति तो विपरीत वृत्ति है। भ्रान्तिमें तो सर्प रूप, मालारूप, दण्डरूप विषय है,

लेकिन समाधिमें विषय नहीं है। परन्तु अज्ञानकी निवृत्ति तो अपने आप हो गयी, जब अपने आपको ब्रह्म जाना। यदि नहीं जाना तो अज्ञान बैठा हुआ है। मेरी समाधि लगी, मैं समाधि वाला यह अभिमान करके बैठे रह गये! तो असलमें यह अर्थ है कि जहाँ इस परमात्माको जाना वहाँ भ्रान्ति मिट गयी। और भ्रान्ति मिटनेका फल क्या होता है? ईश्वर मिलेगा।

हम लोगोंसे पूछते हैं कि ईश्वर मिलेगा तो क्या होगा? सुखके बारेमें लोगोंको इतना ही पता है कि लड्डू खानेको मिले तो सुखी होंगे, स्त्री-पुरुषका मिलन हो तो सुखी होवें, ईश्वर मिलेगा तो क्या मिलेगा? क्या सुख मिलेगा?

अरे भाई सत्य भी एक वस्तु है, यथार्थ भी एक वस्तु है। उसकी प्राप्तिका, सचको ढूँढ़ निकालनेका बड़ा भारी सुख होता है। अन्धकारमें भटकता हुआ पुरुष जब प्रकाश पा जाता है तो क्या प्रकाशको जीभसे चाटता है? क्या प्रकाशको नाकसे सूँघता है? क्या प्रकाशका मधुर-मधुर स्पर्श वह करता है? अरे अन्धकार मिट गया वही परमसुख है। तो यह—**अविद्यामन्तरो वर्तमानः** अविद्या-अहंकारके अन्दर वर्तमान होकरके, व्यवहार करते हुए कुछ नहीं मालूम, सच्चा क्या है, झूठा क्या है? और भटक रहे हैं संसारमें।

अब इसीको 'पाप लगना' कहते है यह (up go, down go) ऐसे बोलते हैं ना, (opposite) अंग्रेजोवाले जो 'अर्थ' बोलते हैं ना, तो यह पाप जो है यह परमात्माके अपोदित है, इसलिए इसको पाप बोलते हैं। पाप और अप। यह पाप वही है। पाप कब लगता है? देखो सबेरे उठे और सामने माँ पड़ी, पिता भी पड़ गये और प्रणाम नहीं किया, तो क्या हुआ? तो यह पिताजीके अपोजिट हुआ, यह पाप होगया, बड़ोंके सामने होनेपर झुकना पड़ता है। यह है पापका अर्थ—**सर्वपापैः प्रमुच्यते।**

आपके विचार तो बहुत क्रान्तिकारी हों, परन्तु पाप फुरा तो! यह हमलोगोंका निश्चित मत है कि विज्ञानके द्वारा पापका पता नहीं चल सकता। न द्रव्य विज्ञानके द्वारा पापका पता चल सकता। एक-एक अणुको अलग-अलग करके देख लो, अणु विज्ञानके द्वारा पापका पता नहीं चल सकता। क्रिया विज्ञानके द्वारा भी पापका पता नहीं चल सकता, समाज विज्ञान तो कहता है जो मथुरामें धर्म है वह वृन्दावनमें पाप है। समाज विज्ञानकी दशा तो यह है कि जो माथुर समाजमें धर्म है, वह वृन्दावनी समाजमें पाप है। समाजका दृष्टिकोण इतना बदलता है। पच्चीस बरस पहले जो पाप था, वह आज पुण्य है। जो पहले पुण्य था वह आज

पाप है। संस्कृतिसे भी पापका पता नहीं चलता है। संस्कृति भौगोलिक और कालिक क्रमसे बदलती हुई होती है। कोई मध्यकालीन संस्कृति है, उत्तरकालीन संस्कृति, भारतीय संस्कृति, प्रागैतिहासिक संस्कृति, कोई योरपीय संस्कृति, यह सब क्या होती है! यह संस्कृति देश-देशकी अलग होती है, काल-कालकी अलग होती है।

कर्मका भी बताते हैं। एक ही कर्म एक देशमें, एक जातिमें, एक कालमें एक व्यक्तिके लिए पुण्य होता है और दूसरे व्यक्तिमें दूसरे देशमें, दूसरे कालमें, दूसरी जातिमें दूसरे व्यक्तिके लिए पाप होता है।

अणु विज्ञानसे पाप-पुण्यका पता नहीं चलता है। यह साईंसका विषय नहीं है। न समाज विज्ञानसे चलता है, न संस्कृतिके ज्ञानसे चलता है। क्रियासे भी इसका पता नहीं चलता है। अच्छा , अब यह कहो कि भावमें पाप पुण्यका निवास है। भावनासे तो पापका पता चलेगा! भाव हमारा अच्छा था, तो इसमें भर गया। नहीं, निषिद्ध कर्ममें अगर अच्छा भाव करोगे तो वह भाव क्या उसको पुण्य बना देगा? बहनको पत्नी समझोगे कि हमांरा पत्नी-भाव हो गया था, तो बहनके साथ शादी करना क्या पुण्य हो जायेगा? यह बात भावसे भी नहीं बनती है।

हमारे सांख्य-योगमें एक ऐसा विवेचन है। हमको तो याद नहीं है कि धर्म जो है उसका वस्तु-विज्ञान, क्रिया-विज्ञान, समाज-विज्ञान, संस्कृति-विज्ञान अथवा भाव-विज्ञानके साथ सम्बन्ध नहीं है। एक बड़े अच्छे कविने चिट्ठी लिखी, तो उसमें यह भी उन्होंने लिखकर भेजा कि और सब बात तो समझमें आगयी कि यह भी धर्म नहीं, यह भी धर्म नहीं, पर भाव भी धर्म नहीं, यह बात समझमें नहीं आयी। असलमें विहित स्थानमें जो भाव होगा, वही पुण्यका जनक होगा, निषिद्ध स्थान पर जो भाव होगा वह पाप होगा। जैसे शराब पीते हैं और यह कहें हम गंगाजल समझके पीते हैं। हमारा भाव बड़ा पवित्र है। यह भाव क्या करेगा? पाप और पुण्यकी उत्पत्ति लोभ रक्षणसे होती है। बोले—अच्छा जिसको हम जानते हैं कि पाप है, उससे पापकी उत्पत्ति होती है और जिसको जानते हैं कि पुण्य है उससे पुण्यकी उत्पत्ति होती है! कि नहीं, तुम उसको निषिद्ध जानते हो कि नहीं? सवाल यह है।

हमारे जो महात्मा लोग थे वे कैसे रहते! यह नहीं समझना कि उनके पास थोड़ी मशीनें ज्यादा हो गयी हों, तो वे ज्यादा पहुँचके हो गये। पर

मशीनोंकी भी जो बात है उसमें भी आँखसे कोई चीज दिखती है, आँख देखती है। तो आँखसे हमें मालूम पड़ता है। अब मशीन इतना करेगी कि यहाँ जो चीज पड़ी है, आँखसे नहीं दिख रही है तो आँखकी ज्योति थोड़ी बढ़ा देगी और यदि कोई आवाज है और कानसे नहीं सुनायी पड़ रही है तो मशीन कानकी शक्ति थोड़ी बढ़ा देगी और हमको अवाज मालूम पड़ने लग जायेगी। यह मशीन हमको मालूम न करावे, दूसरेको मालूम कराये और हमको मालूम पड़ जाय, यानि कि यन्त्र भी तो भाई अपने ज्ञानमें हमारे लिए ही मददगार होते हैं। यह वैज्ञानिक उन्नति धर्मको मशीनपर पकड़ कर उसकी गोली बनायेगी, जैसे रसायन बनते हैं? हमने देखा जाकर बड़े-बड़े कारखानोंमें, मिट्टीमें-से ऐसा-ऐसा रस निकालते हैं कि उससे धातुएँ बनती हैं। यह ताँबा कैसे बनता है? यह चाँदी कैसे बनती हैं, यह सोना कैसे बनता है? तो यह खास तरहका ताप—गर्मी पहुँचाकर मिट्टीमें-से पत्थरमें-से, खास तरहके बालूमें-से एक प्रकारका रस निकालते हैं और उस रसमें-से चीजें बन जाती हैं। ऐसे धर्म बननेवाला नहीं है द्रव्य-विज्ञान, अणु-विज्ञान, इन्द्रिय-विज्ञान, संस्कृति-विज्ञान, समाज-विज्ञान और भाव-विज्ञानके साथ उसका सम्बन्ध नहीं है, यह बात हमारे महात्माओंने बड़ी गम्भीरताके साथ समझी। और परमात्मा-शास्त्र ज्ञानसे प्राप्त होता है। **'चोदनालक्षणोऽर्थो धर्मः'**। यह प्रत्यक्ष प्रमाणसे-अनुमान प्रमाणसे, उपमान प्रमाणसे, यर्थापत्ति, अनुपलब्धि, ऐतिह्य, सम्भव, चेष्टा आदिके द्वारा इनका पता नहीं चलता। इनका पता कैसे चलता है?

यदि कोई ऐसा यन्त्र होता जिसके द्वारा आत्मा और परमात्माकी एकता जाहिर हो सकती? भले जीवका बनाया हुआ यन्त्र नहीं, ईश्वरका बनाया हुआ ही यन्त्र होवे! कि नहीं, महावाक्य, 'चोदनालक्षणोऽर्थो धर्मः' वेद वेदितेऽपि कर्तव्य—धर्मः। नहीं; केवल महावाक्य द्वारा ही इस एकताका ज्ञान हो सकता है।

तो, पाप और पुण्यका पता कैसे चलता है?

अब देखो कि तुम्हारे आचरणमें—

सर्वपापैः प्रमुच्यते पाप माने जिसको पीछे छिपा दे। अपनी पीठ पीछे किसीको छोड़ दिया, वैसे अपने आपको भुलाकर, जिसके लिए ये सब; उसको भुलाकर दुनियामें तुम फँस गये। देखो; तुम किसके लिए मरे, स्त्री किसके लिए? पुत्र किसके लिए? धन किसके लिए? मकान किसके लिए? सत्संग किसके लिए? श्रीकृष्णका दर्शन किसके लिए? समाधि किसके लिए? जिसके लिए

सब, उसको घुसेड़ दिया पीठके पीछे और जो तुम्हारे लिए, उसके लिए तुम हो गये।

विषयको सुखप्रद समझना, विषयमें स्वतन्त्र रूपसे प्रकाश समझना, और विषयमें विषयकी असली सत्ता समझना, अपनी जो अस्ति है, भाति है, प्रिय है, उसको छोड़करके, उसको भुलाकरके दूसरी वस्तुको अस्ति, भाति, प्रियके रूपमें मान बैठना, यह सब पाप है, **सर्व पापैः**। सबसे बड़ा पापी कौन? वाल्मीकि रामायणमें एक श्लोक आता है, लौकिक प्रसंगका—

योऽन्यथा सन्तमात्मानमन्यथा प्रतिपद्यते।
किं तेन न कृतं पापं चौरेणात्मापहारिणा॥

पापी कौन है? **अन्यथा सन्तमात्मानं अन्यथा प्रतिपद्यते**—जैसे है तो चोर, लेकिन अपनेको जाहिर करता है साहूकार, यह माया है। यह दम्भ, यह कपट, यह सबसे बड़ा पाप है। सबसे बड़ा पाप क्या है? यथार्थके विपरीत जो मान्यता है, सत्यके विपरीत जो मान्यता है, उसका नाम पाप है।

इस आत्मघाती चोरने कौन-सा पाप नहीं किया?

यह श्लोक तो विष्णु पुराणमें भी आता है। स्मृतियोंमें भी आता है, वाल्मीकि रामायणमें भी आता है, परन्तु आध्यात्मिक ग्रन्थोंमें इसका अर्थ दूसरा हो जाता है। '**यो अन्यथा सन्तमात्मानं**'—अपना आत्मा है नित्य शुद्ध-बुद्ध-मुक्त—सच्चिदानन्दघन ब्रह्म और **अन्यथा प्रतिपद्यते**—अपनेको कर्ता, पापी, पुण्यात्मा, सुखी-दुःखी, संसारी, परिच्छिन्न, लोक लोकान्तरमें जाने-आनेवाला मान बैठता है **किं तेन न कृतं पापं चौरेणात्मापहारिणा**। अपनी नित्य-शुद्ध-बुद्ध-मुक्त आत्माको छोड़ दिया इस चोर ने। क्या पाप नहीं किया? सबसे बड़ा पाप इसने यह किया—**असंमूढः**—परमात्माको देखो, जो अनादि है अजन्मा है, इसके बारेमें सम्मोह मत रखो भ्रान्तिको मिटा दो। और भ्रान्तिको जब मिटा दोगे, तो यह जितना पाप दुनियामें है यह सब कुछ तो रह जाता ही नहीं, होता ही नहीं। जब अलगाव होने लगता है तब यह होता है। उपनिषद्‌में बड़े ढंगसे इसका वर्णन आया है—

ब्रह्म सम्परा येनु प्राप्यते सर्ववेद।

बड़े नाम लेते हैं, 'सर्वं सम्परावा' जब तुम किसीको अपनेसे न्यारा समझोगे तो यह न्यारा तुम्हारे सिरपर सवार हो जायेगा। क्योंकि ये तुमको पराया समझते हैं, तब अपनी मुट्ठीमें तुमको क़र लेना चाहिए। ये तो सब तुम्हारी मुट्ठीमें

रहेगा। जब ब्राह्मणको अलग समझा, ब्राह्मण दुश्मन हुआ, क्षत्रियको **अलग** समझा, क्षत्रिय दुश्मन हुआ। देवताको अलग समझा, देवता दुश्मन हुआ, **वेदको** अलग समझा, वेद दुश्मन हुआ। सब उसके दुश्मन हुए जिसने **सबको अलग** समझा तो सबसे न्यारे और सबमें एक, यही विलक्षण पद्धति **आत्मज्ञानकी है,** पापोंसे छुड़ानेवाली।

आगे अब यह बताते हैं कि तुम्हारे मनमें जितने भाव होते हैं, **वे किसके** होते हैं, इसको पहचानो, अच्छे-बुरे सब, सात्त्विक, राजस, तामस '**मत्तः स्मृतिर्ज्ञानमपोहनं च।**' किसके होते हैं आध्यात्मिक भाव और आधिदैविक भाव किसके होते हैं?

महर्षयः सप्तपूर्वे चत्वारो मनवस्तथा।
मद्भावा मानसा जाता येषां लोक इमाः प्रजाः॥ 6॥

तो 'इमा प्रजा, चत्वारो' और 'बुद्धिर्ज्ञान असम्मोह इमा सत्यं'—ये आध्यात्मिक।

तो आध्यात्मिक, आधिदैविक, आधिभौतिक जितने भी पदार्थ प्रकट होते हैं ये—

अहिंसा समता तुष्टिस्तपो दानं यशोऽयशः।
भवन्ति भावा भूतानां मत्त एव पृथग्विधाः॥ 5॥

नाम देखनेमें अलग-अलग हैं, लेकिन उनका प्रकाशक जो स्वयं प्रकाश सर्वाधिष्ठान परमात्मा है वह एक है।

तो आध्यात्मिक, आदिदैविक, आधिभौतिक और यह भी, अद्भुत इसकी लीला है। यह तो बुद्धि कह दिया। तो कौन सी बुद्धि परमात्मासे प्रकट होती है? बोले—जितनी तरहकी बुद्धि है सब परमात्मासे प्रकट होती है। तो कितनी तरहकी बुद्धि है? बुद्धि कौन-सी? इनका गणित है;

1. तामसी बुद्धि—

अधर्मं धर्ममिति या मन्यते तमसावृता।
सर्वार्थान्विपरीतांश्च बुद्धि सा पार्थ तामसी॥ 18.32

2. राजसी बुद्धि—

यया धर्ममधर्मं च कार्यं चाकार्यमेव च।
अयथावत्प्रजानाति बुद्धिः सा पार्थ राजसी॥ 18.31

3. सात्त्विकी बुद्धि—

प्रवृत्तिं च निवृत्तिं च कार्याकार्ये भयाभये।
बन्धमोक्षं च या वेत्ति बुद्धिः सा पार्थ सात्त्विकी॥ 18.30

4. आत्मप्रसादजा बुद्धि होती है—

रागद्वेषवियुक्तैस्तु विषयानिन्द्रियैश्चरन्।
आत्मवश्यैर्विधेयात्मा प्रसादमधिगच्छति॥ 2.64
प्रसादे सर्वदुःखानां हानिरस्योपजायते।
प्रसन्नचेतसो ह्याशु बुद्धिः पर्यवतिष्ठते॥ 2.65

5. ईश्वरप्रसादजा बुद्धि होती है—

ददामि बुद्धियोगं तं येन मामुपयान्तिते। 10.10

तो, सात्त्विकी बुद्धि, राजसी बुद्धि, तामसी बुद्धि, आत्मप्रसादजा-बुद्धि, ईश्वर-प्रसादजा बुद्धि और एक बुद्धि और होती है, ब्रह्मविद्या—यह बिलकुल दूसरे ढंगकी होती है। ज्ञान, सात्त्विक ज्ञान, राजसज्ञान, तामसज्ञान, आत्मप्रसादजज्ञान, ईश्वरप्रसादज ज्ञान और—

6. ब्रह्मविद्या, तत्त्वज्ञान—

ज्ञानं ज्ञेयं ज्ञानगम्यं हृदि सर्वस्य विष्ठितम्। 13.17

ऐसे अब यह प्रसंग सब कल सुनावेंगे।

बुद्धिर्ज्ञानमसंमोहः क्षमा सत्यं दमः शमः।
सुखं दुःखं भवोऽभावो भयं चाभय मेव च॥4॥

देखो भगवान्ने दो उपनिषद् ली—गीतासु उपनिषत्सु, तो दो उपनिषदोंमें एक है योग उपनिषद्, दूसरी है विभूति उपनिषद्।

एतां विभूतिं योगं च मम यो वेत्ति तत्त्वतः। 10.7

और;

विस्तरेणात्मनो योगं विभूतिं च जनार्दन। 10.18

तो इस उपनिषद् ज्ञानका पहलेसे ही विभाजन कर दिया है—

तो श्रीकृष्ण स्वयं योग पुरुष हैं और अर्जुन विभूति स्वरूप हैं। हित योग है और प्रीयमाण—'**यत्तेऽहं प्रीयमाणाय वक्ष्यामि हित काम्यया।** (10.1) प्रीयमाण विभूति है। तो बताया कि मेरा प्रभाव और वैभव, ऐसे शब्दका प्रयोग किया प्रभवका।

न मे विदुः सुरगणाः प्रभव न महर्षयः। (10.2)

तो प्रभव योग है और प्रभाव विभूति है। महर्षयः योगके जानकार हैं **और** सुरगणाः विभूतिके जानकार हैं।

अब योगका निरूपण करते हैं। तो योगमें दो पद्धति स्वीकार की कि—

यो मामजमनादिं च वेत्ति लोक महेश्वरम्। (10.3)

अब अजम् अनादिं तो योग है और लोकमहेश्वर विभूति है। **असंमूढः स मर्त्येषु**—यह योग है और **सर्वपापैः प्रमुच्यते** यह विभूति है।

तो अब योगकी व्याख्या करनेके लिए योगका भी दो रूप कर दिया। एक योग और एक अविकम्प योग।

एतां विभूतिं योगं च मम यो वेत्ति तत्त्वतः। (10.7)

तो योग और विभूतिको जो जानता है, उसे अविकम्प योगकी प्राप्ति होती है। अविकम्प योग फल है और योग और विभूति साधन है। ईश्वरका योग भी विभूति है।

तो योग और वैभव कैसे मालूम पड़े? कि सब जगह परमात्मा है। जो कुछ हो रहा है, सब परमात्मासे हो रहा है, इस सिद्धान्तका स्थापन कर रहे हैं—

अहं सर्वस्य प्रभवो मत्तः सर्वं प्रवर्तते। (10.8)

अब देखो 'अहं सर्वस्य प्रभवः' योग है और 'मत्तः सर्वं प्रवर्तते' यह वैभव है। सबको नचा रहा है। यह दुनिया नाच रही है और नचानेवाली विभूति है। और, सब उसीसे प्रगट हुआ—यह उसका योग है। तो अभिन्न निमित्तोपादान कारण परपात्मा ही है किसीका विनाशक, किसीका रक्षक। यह बात मालूम हो जाय तो अविकम्प योग होगा। माने जहाँ रहेंगे वैसे रहेंगे, रोते हुए वह रुला रहा है, हँसते हुए वह हँसा रहा है। मारते हुए वह मार रहा है, जिलाते हुए वह जिला रहा है। जहाँ हैं वहीं उसीमें स्थित हैं। तो अविकम्प योग हो गया न! इसलिए पहले तीन भाव धारण किया—आध्यात्मिक, आदिदैविक और आधिभौतिक। तो—

बुद्धिर्ज्ञानमसंमोहः क्षमा सत्यं दमः शमः। 10.4

यह क्या है? कि हमारे अन्तःकरणमें जितने भाव होते हैं **सब परमात्माके।**

भवन्ति भावा भूतानां मत्त एव पृथग्विधाः। 10.5

एक, और—

महर्षयः सप्त पूर्वे चत्वारो मनवस्तथा। 10.6

यह क्या है? यह अनुभव दशा है। यह कैसे है? **कि यह योग है। और येषां लोक इमाः प्रजाः।** यह आधिभौतिक भाव है।

मद्भावा मानसा जाता येषां लोक इमाः प्रजाः। 10.6

तो आधिदैविक, आध्यात्मिक और आधिभौतिक जितने भाव हैं वे सर्वात्मा परमात्मामें प्रगट होकर परमात्मामें स्थित हैं, सबके भीतर वही रह रहा है और सबका वही संचालन कर रहा है। बिना उसकी सत्ताके, बिना उसकी महत्ताके एक पत्ता भी नहीं हिलता है। उसकी सत्ताका पृथक् न होना योग है और उसके बिना उसका न होना विभूति है।

तो अब थोड़ा आध्यात्मिक भावसे गणना कराता हूँ।

बुद्धिर्ज्ञानमसंमोहः क्षमा सत्यं दमः शमः। 10.4

बुद्धिको ही लो। बुद्धिका चाहे व्यष्टि रूप हो चाहे समष्टि रूप हो, यह

भवन्ति भावा भूतानां मत्त एव पृथग्विधाः। 10.5

तो व्यष्टिका अर्थ होता है एक बीज, एक फल, जैसे मटर, गेहूँ, चना और

समष्टि बीज होता है कि जिसमें सबकी बीजरूपता है। अस्ति माने बीज होता है। जिससे अंकुरका उदय होता है, उसको अस्ति बोलते हैं। अस्ति माने बीज। और विशेष-विशेष वस्तुओंकी अस्ति और एक व्यष्टि अस्ति।

उस बीजको जड़ दृष्टिसे बीज बोलते हैं और चेतन दृष्टिसे उसीको जीव बोलते हैं। एक जीव है, एक बीज है और बीज और जीव दोनोंमें जो समरस है, देशका आदि अन्त कल्पित, देशका मध्य कल्पित, कालकी आदि-अन्त कल्पित और उसका मध्य कल्पित। वस्तुकी आदि, अन्त कल्पित और उसका मध्य कल्पित। और उस कल्पितका जो अधिष्ठान है अकल्पित स्वयंप्रकाश परमात्मा, वह सत्य है।

बुद्धि• तो अलग-अलग है। एक तामसी बुद्धि भी होती है। तो यह नहीं समझना कि वह शैतानने दिया है। तो बोले—एक खुदाकी बुद्धि है और एक शैतानकी—ऐसी दो बुद्धि नहीं हैं।

आपको हँसनेके लिए सुनाते हैं—हिन्दू धर्मके अनुसार ईश्वर स्वयं अवतार लेता है और ईसाई धर्मके अनुसार अपने बेटेको भेजता है और मुसलमान धर्मके अनुसार न खुद आता है, न बेटेको भेजता है, क्या करता है? सन्देश वाहक—पैगम्बर भेज देता है। तो जब मुसलमानोंने यह सोचा कि हमारे यहाँ खुद ईश्वर नहीं आया और अपने बेटेको भी नहीं भेजा, वह तो दूतसे ही काम चला लिया, तो वे पुकारने लगे—खुद आ, खुद आ, खुद् आ। यह चिट्ठी-पत्रिवालेसे काम नहीं चलेगा। बेटेसे काम नहीं चलेगा, तू चाहिए, तो खुद् आ।

यह तो सृष्टिकी महिम है, इसमें खुदा और शैतान—ऐसा नहीं है। जो सबको सुषुप्तिमें डाल दे, उसका नाम शैतान होता है और जो खुद आवे, स्वयंभू होवे, स्वयंप्रकाश होवे, चेतन होवे उसको खुदा कहते हैं—ऐसे समझो शैतान और खुदाका माने। स्वयंभू—स्वयं प्रकाश तो यह जो स्वयंप्रकाश परमात्मा है, यही सबको प्रकाशित करता है। यह वैदिक धर्मकी विशेषता है। क्योंकि देखो आप क्षेत्रको तो जानते हैं न! उसमें एक बुद्धिका नाम है।

महाभूतान्यहंकार बुद्धिरव्यक्तमेव च। 13.5

अब यहाँ बुद्धि शब्द व्यष्टि बुद्धिका वाचक नहीं है, समष्टि बुद्धिका वाचक है। क्योंकि महाभूत, महाभूतके बाद अहंकार, अहंकारके बाद बुद्धि, बुद्धिके बाद अव्यक्त। अव्यक्त बुद्धि, बुद्धिके अहंकार, अहंकार महाभूत, तो बुद्धि माने महत्तत्त्व प्रकट होता है इसको बुद्धि बोलते हैं।

तो वह कैसे प्रकट होता है? कि—

मयाध्यक्षेण प्रकृतिः सूयते सचराचरम्। 9.10

प्रकृतिका काम तो यही है।

अब यह अव्यक्त जो है यह वेदान्तियोंके द्वारा नाम रूपका आचरण होनेके पूर्व जो स्थिति है, उस अव्याकृतको ही वेदान्ती लोग अव्यक्त मानते हैं। यह 'पुरुषान परं किंचित्' वाली जो श्रुति है—**महतः परमव्यक्तमव्यक्तात् पुरुषः परः। पुरुषः न परं किंचित् सा काष्ठा सा परा गति।** वही, स्वतन्त्र प्रकृति नहीं, नाम रूप प्रकट होनेके पूर्व जो वीर्य विशिष्ट सत् है उसीको अव्याकृत बोलते हैं। समष्टि बुद्धि जो प्रगट हुई वह ईश्वरसे ही प्रकट हुई प्रकृतिमें। तो उसका संचालक उसका प्रेरक वही हुआ।

तो फिर बुद्धिके तीन विभाग हुए—तामस, राजस और सात्त्विक।

भवन्ति भावा भूतानां मत्त एव पृथग्विधाः। 10.5

यह 'पृथग्विधा भावा' जो है, एक-एक भावके अनेक-अनेक रूप हो जाते हैं। यह 'पृथग्विधा भावा'का अर्थ है कि एक-एक भावकी विधा पृथक्-पृथक् है। उसके प्रकार जुदा-जुदा हैं।

तो तामसी बुद्धि आयी। तामसी बुद्धिकी पहचान क्या है? कि वह इनके विपरीत पड़ गयी। एक हमारे ब्रह्मचारी थे। उनसे प्रेम करो तो कहते थे, इनको हमसे स्वार्थ है, इसलिए प्रेम करते हैं। जब उनकी उपेक्षा कर दो तो कहते—देखो ना, हमारा तिरस्कार करते हैं। अब बताओ उनके साथ कैसे बरतें? प्रेममें तो स्वार्थी समझें और उपेक्षामें तिरस्कार समझें। कठिनाई हो गयी न! तो यह क्या हुआ? यह बुद्धिमें विपर्यय हो गया।

अधर्मं धर्ममिति या मन्यते तमसावृता।
सर्वार्थान्विपरीतांश्च बुद्धिः सा पार्थ तामसी॥ 18.32

जो मिलानेका काम नहीं करती है, वियोगका काम करती हैं, जोड़नेका काम नहीं करती तोड़नेका काम करती है तो **सर्वार्थान्विपरीतांश्च**। स्वरूप अर्थको नहीं, विपरीत अर्थको देती है। विपरीतांश्च, विपर्यय, परयानुगत नहीं, विपर्ययार्थ। जो विपरीत होवे वह तामसी बुद्धि है। तो बोले—किसीके हृदयमें तामसी बुद्धिका प्रकाश होता है, किसीके राजसी। तो राजसी बुद्धिमें सच्चा ज्ञान नहीं होता।

धर्ममधर्मं च कार्यं चाकार्यमेव च।
अयथावत्प्रजानाति बुद्धिः सा पार्थ राजसी॥ 18.31

किसी चीजको ठीक-ठीक न समझना राजसी बुद्धि है। और विपरीत समझना तामसी बुद्धि है और—

प्रवृत्तिं च निवृत्तिं च कार्याकार्ये भयाभये।
बन्धं मोक्षं च या वेत्ति बुद्धिः सा पार्थ सात्त्विकी॥ 18.30

जो ठीक-ठीक समझे, प्रवृत्तिको, निवृत्तिको, विधिको, निषिद्धको, कि कहाँ प्रवृत्ति करनी चाहिए? कहाँ निवृत्ति करनी चाहिए? कहाँ गृहस्थाश्रम है? कहाँ संन्यासाश्रम है? कहाँ विधि है? कहाँ निषेध है, कहाँ त्याग है? कहाँ ग्रहण है? कार्य-अकार्य, भय-अभय, बन्धन-मोक्षको जाननेवाली बुद्धि सात्त्विक है।

देखो, एक समष्टि बुद्धि और तीन गुणके अनुसार तीन बुद्धि, यही न! तो अब बुद्धि चार हो गयी। तो बोले—चार काहेको? देखो इन चारसे आगे कितनी बुद्धि है?

अब समझो कि बुद्धि एक ऐसी होती है जो ईश्वर कृपासे प्राप्त होती है. कैसी? कि

मच्चित्ता मद्गत प्राणा बोधयन्त परस्परम्।
कथयन्तश्च मां नित्यं तुष्यन्ति च रमन्ति च॥ 10.9
तेषां सततयुक्तानां भजतां प्रीतिपूर्वकम्।
ददामि बुद्धियोगं तं येन मामुपयान्ति ते॥ 10.10

भगवान् कहते हैं कि अपना मन और बुद्धि दोनों मुझमें लगाओ, मुझमें स्थापित करो। चित्त शब्दका अर्थ मन और बुद्धि दोनों है।

मय्येव मन आधत्स्व मयि बुद्धिं निवेशय। 12.8
अथ चित्तं समाधातुं न शक्नोषि मयि स्थिरम्। 12.9

दोनों हो गया न, चित्त माने मन और बुद्धि दोनों।

मद्गत प्राणा—प्राण रखो तब, जब भगवान्का भजन हो। और जब भगवान्का भजन छूट गया तो लोहारकी भस्त्राकी तरह साँस लेनेसे क्या फायदा? **मद्गत प्राणा।**

बोधयन्त परस्परम्—एक दूसरेको समझाओ। बुद्धि बढ़ाओ।

कथयन्तश्च मां और उसमें **तुष्यन्ति च रमन्ति च**। सन्तुष्ट हो।

एक हमारे मित्र हैं वे तुष्यन्ति च रमन्ति 'रमन्ति च' नहीं मानते। वे कहते हैं—**तुष्यन्ति चरमन्ति च**। 'चरमन्ति' माने 'चरमा अवस्थायां भवन्ति।' चरम रूप हो जाते हैं। क्योंकि चरमन्ति जो है यह जरा पाणिनीय व्याकरणसे ठीक नहीं है।

रमन्ति जो है वह पाणिनीय व्याकरणकी रीतिसे ठीक है। **तुष्यन्ति च रमन्ति च।**

तेषां सतत युक्तानां भजतां प्रीति पूर्वकम्। 10.10
ददामि बुद्धियोगं तं।

ऐसे भजन करनेवालेको भगवान् दीवालीके दिन बुद्धियोग देते हैं। कई महात्माओंको खास दीवालीके दिन ही भगवानने बुद्धियोग दिया।

तो बुद्धि नहीं, बुद्धियोग देते हैं। देखो; इसमें भगवान्की कंजूसी है, कोई तारीफ थोड़े ही है। मशाल दे दिया हाथमें। अभी मिले नहीं; ढूँढ़नेके लिए मशाल दिया हाथमें—

ददामि बुद्धियोगं तं येन मामुपयान्ति ते। 10.10

तो यह क्या है? कि यह ईश्वर-प्रसाद—बनिया बुद्धि है। ईश्वर खुश हुआ और खुश होकर बुद्धिका मशाल दिया।

क्या होगा उससे? कि इससे मुझे प्राप्त करेंगे। यह बुद्धि भगवान्की ओर ले जायेगी। **येन मामुपयान्ति ते।** अभी ईश्वरकी प्राप्ति नहीं होती, ईश्वरके पास पहुँचते हैं—**ईश्वरं यान्ति।** भगवान्ने बुद्धिका मशाल दिया, ऐसी बुद्धि दी जो ईश्वरकी ओर लेकर चले।

सा विद्या सन्न कुर्यात्। अब लेकर यह बुद्धि चली। तब बादमें मिलते हैं भगवान्। कैसे मिलते हैं? ज्ञानकी जब व्याख्या करेंगे तब बतायेंगे कि बुद्धिसे नहीं मिले, ज्ञानसे मिले। आप देखना—

तेषा मे वानुकम्पार्थमहम ज्ञानजं तमः।
नाशयात्यात्मभावस्थो ज्ञानदीपेन भास्वता॥ 11॥

बुद्धि और ज्ञानमें फर्क कर दिया। भगवान्ने पहले बुद्धि भेज दिया, उसके बाद वह भगवान्के पास गया, संसारसे वैराग्य किया, भगवान्की खोज की, जिज्ञासा की, ढूँढ़ा। ढूँढनेके बाद भगवान् आकर उसको कैसे मिलते हैं, यह बात ज्ञानवाले प्रसंगमें आती है। एक बुद्धि है, एक ज्ञान है। बुद्धि और ज्ञान यहाँ पर्यायवाची नहीं हैं, अलग-अलग हैं।

अच्छा लो; एक आत्मप्रसादजा बुद्धि होती है। उसके भी चार रूप होते हैं।

(i) पुण्यापुण्य प्रणाशिनी बुद्धि, जिससे पाप और पुण्य दोनों नष्ट हो जाते हैं।

(ii) निर्वेददायिनी।

(iii) समाधिदायिनी, और

(iv) सुखशान्तिदायिनी।

ये चारों प्रकारकी बुद्धि आत्मप्रसादजा होती हैं।

बुद्धियुक्तो जहातीह उभे सुकृत दुष्कृते।

जब तुम बुद्धियुक्त हो जाओगे,तुमको बुद्धि मिल गयी—यह बात कब समझेंगे? बुद्धि मिल गयी, यह बात तब समझें जब कर्मका कर्तृत्व और सुख-दु:खका भोक्तृत्व तुम्हारे अन्दर न रहे। जहाँ तक ऐसा लगता है—मैं पापी, मैं पुण्यात्मा, मैं सुखी-मैं दु:खी, मैं संसारी, मैं परिच्छिन्न; कर्मके दो अहंकार—मैं पापी, मैं पुण्यात्मा; फलके दो अहंकार—मैं सुखी, मैं दु:खी और मैं संसारी परिच्छिन्न—यह भ्रान्ति है, उसका कारण अज्ञान है। अज्ञानके कारण अपने परिच्छिन्नपनेकी भ्रान्ति होती है, तब अपनेको संसारी, आवागमनवाला, जन्मने मरनेवाला और सुखी-दु:खी, पापी-पुण्यात्मा मानते हैं।

तो तुम्हें सच्ची बुद्धि मिल गयी—यह बात कब मानें? कि जब, **जहातीह उभे सुकृत-दुष्कृते**—जब पाप पुण्य दोनों तुम छोड़ दो। न पाप लगे, न पुण्य लगे।

बोले—मरने पर महाराज अपने आप छूट जायेंगे; कि नहीं, हम मरनेकी बात थोड़े करते हैं, मरनेकी बात तो अमंगल ही है।

बुद्धियुक्तो जहातीह उभे सुकृत दुष्कृते।

जिन्दा रहो, काम करो और पाप-पुण्य न लगे—ऐसी बुद्धि अगर तुमको प्राप्त हो गयी, तो तुमको बुद्धि मिली। यह पाप और पुण्यसे असंग बनानेवाली एक बुद्धि होती है। कर्म हो रहा है और पाप-पुण्य से असंग है। और, एक बुद्धि कैसी मिली? कि वैराग्य हो गया सबसे। यह भी तो बुद्धि है।

ये गृहस्थ-संसारी लोग समझते हैं कि वैरागी लोग बेवकूफ होते हैं, उनको बुद्धि ही नहीं होती। ये किस्मतके मारे लंगोटी लगाये धरतीमें पड़े हैं।

उनको भी एक बुद्धि होती है—

यदा ते मोह कलिलं बुद्धिर्व्यतितरिष्यति।
तदा गन्तासि निर्वेदं श्रोतव्यस्य श्रुतस्य च॥ 2.52
श्रुतिविप्रतिपन्ना ते यदा स्थास्यति निश्चला।
समाधावचला बुद्धिस्तदा योगमवाप्स्यसि॥ 2.53

मोह कलिलका यदि त्याग हुआ, मोह छूटा और जो कुछ अबतक सुना है

और आगे सुनोगे, अबतक जो स्वर्ग-नरक सुना है, अबतक जो पाप-पुण्य धर्माधर्मका ज्ञान प्राप्त किया है, इससे भी वैराग्य हो जायेगा और आगे जो सुनोगे, उससे भी वैराग्य, यह वैराग्य निर्वेददायिनी बुद्धि है और समाधि दायिनी है—

समाधावचला बुद्धिः

यह अचल बुद्धि है। अचल बुद्धि और समाधि दोनों एक हैं।

अब देखो, एक और बुद्धिका वर्णन। आप ध्यान देना, एक तो प्रकृतिसे होनेवाली समष्टि बुद्धि, सात्त्विकी बुद्धि, राजसी बुद्धि, तामसी बुद्धि, ईश्वर प्रसादजा बुद्धि, पापपुण्य प्रणाशिनी बुद्धि, समाधिदायिनी बुद्धि, वैराग्यदायिनी बुद्धि, आत्मप्रसादजा बुद्धि। अब देखो—

रागद्वेषविमुक्तैस्तु विषयानिन्द्रियैस्चरन्।
आत्मवश्यैर्विधेयात्मा प्रसादमधिगच्छति॥ 2.64
प्रसादे सर्वदुःखानां ह्वानिरस्योपजायते।
प्रसन्नचेतसो ह्याशुबुद्धिः पर्यवतिष्ठते॥ 2.65

यह जो बुद्धिका निष्ठावती होना है, नैष्ठिकी बुद्धि है यह कहाँसे आयी? इसमें न देखना पड़ा, न इसमें काम छोड़ना पड़ा, न इसमें भोग छोड़ना पड़ा।

रागद्वेषवियुक्तैस्तु विषयानिन्द्रियैश्चरन्।

इन्द्रियोंसे विषयभोग होता रहा और इन्द्रियोंसे उनके कर्म होते रहे, छूटा क्या? कि इन्द्रियोंकी परतंत्रता-आत्मवश्यैः। तब उनके परतन्त्र होकर नहीं करते हैं—आत्मवश्यै विधेयात्मा। मनमुखी होकर नहीं करते हैं, मन आज्ञाकारी है और कि 'आत्मप्रसादजा-प्रसादमधिगच्छति'।

नास्ति बुद्धिरयुक्तस्य न चायुक्तस्य भावना।
न चाभावयतः शान्तिरशान्तस्य कुतः सुखम्॥ 2.66

यह सुख शान्तिजनना बुद्धि है, यह आत्मप्रसादजा बुद्धि है।

अब इसमें कहो इससे भी बड़ी कोई बुद्धि है? है! वह बुद्धि क्या है? बड़ी विलक्षण है। ईश्वरप्रसादज बुद्धि योग है, आत्मप्रसादज बुद्धि योग है। वैराग्य, समाधि, पापपुण्यप्राणाश बुद्धि होवे, परन्तु एक बुद्धि और विलक्षण है!

अब इसकी चर्चा कल करेंगे।

☆

बुद्धिर्ज्ञानमसंमोहः क्षमा सत्यं दमः शमः।
सुखं दुःखं भवोऽभावो भयं चाभयमेव च॥ 4॥

उपासना शास्त्रमें प्रसिद्धि है कि जो आदमी किसी देवताकी आराधना करता है, देवता उसकी रक्षा करता है।

देवता रक्षा कैसे करता है? क्या हाथमें डंडा लेकर रक्षा करता है? बोले—नहीं हाथमें डंडा लेकर रक्षा नहीं करता, जिससे अपनी रक्षा हो जाय ऐसी बुद्धि दे देता है। बुद्धिमें फेर-फार करना देवताका काम है। तब तो फिर देवताकी दी हुई बुद्धि हमेशा बनी रहे और आदमीके जीवनमें हमेशा सफलता ही सफलता रहे?

तो बोले—नहीं, जब देवता बुद्धि देता है और आदमीकी बुद्धि अच्छा काम करती है तब आदमी देवताको भूल जाता है और अपनी बुद्धिकी याद रहती है। तब वह यह नहीं सोचता कि हमने देवताकी उपासना की, तब ऐसी बुद्धि मिली। वह सोचता है कि हमने अपनी बुद्धिसे यह काम किया, अब और काम भी हम अपनी बुद्धिसे करेंगे, इसमें देवताजी क्या करेंगे? जब वह देवताका तिरस्कार करता है, तब देवता बुद्धिको ऐसी प्रेरणा नहीं देता।

इसमें उपासना शास्त्रकी बात आपको बतायी। तो ईश्वर भी बुद्धि देता है। यह जो बुद्धि इस समय है, यह भी ईश्वरने ही दी है। और जो पहले थी वह भी ईश्वरने ही दी थी, और जो आगे देगा सो भी ईश्वर ही देगा।

जैसे आप जब कहीं, जहाँ कहीं, जो कुछ आपने देखा, सूर्यकी मददसे देखा। अगर सूर्यकी मदद न होती तो हमारी आँख नहीं देख पाती, यह बात बिलकुल सच्ची है भला! बिजलीकी रोशनीके रूपमें, आगकी रोशनीके रूपमें, चाँदनीके रूपमें भी सूर्यकी रोशनी ही आती है।

जैसे बिना सूर्यकी मददके हमारी आँख देख नहीं सकती, वैसे ईश्वरकी मददके बिना हमारी बुद्धि सोच नहीं सकती।

अच्छा, तो फिर शत्रुके अन्दर बैठकर बुद्धि देनेवाला ईश्वर और हमारे अन्दर भी बैठकर बुद्धि देनेवाला ईश्वर—दोनोंको दो तरहकी बुद्धि क्यों देता है? इसका उत्तर प्रायः सब दार्शनिकोंने एक ही दिया है और नास्तिक दार्शनिकोंमें भी एक-दो ऐसे हैं जो यही उत्तर देते हैं। क्योंकि वे ईश्वरको बुद्धि देनेवाला तो नहीं

मानते पर कारण तो मानते हैं। जिसका जैसा कर्म होता है, कर्मानुसार बुद्धिका दान करता है ईश्वर। जैसे बुरे कर्म करे और बुरे लोगोंकी संगति करे, बुरी किताब पढ़ें—आगमाः। बुरा पानी पीयें वैसा फल। श्रीमद्भागवत्में बताया कि ईश्वरकी ही रोशनीमें सब बुद्धियाँ बनती हैं और अपना काम करती हैं, लेकिन ईश्वर किस बुद्धिको कैसा बनाता है, तो बोले आदमी जैसी किताब पढ़ता है, और जैसा पानी पीता है, गंगाजल पीये कि शराब पीये; दोनों काम पर बुद्धिमें फर्क पड़ जायेगा न! जैसे लोगोंमें उठेगा-बैठेगा, जैसे स्थानमें रहेगा और समयका जैसा उपयोग करेगा; जैसे वंशमें जन्म होगा, जैसे मन्त्रका जप करेगा, जैसे कर्म करेगा, जैसा ध्यान करेगा, जैसे संस्कार उसे प्राप्त होंगे, उसके अनुसार बुद्धिमें रंग बदलता रहेगा और बुद्धि तो उससे ही मिलती है।

आगमोऽपः प्रजा देशः कालः कर्म च जन्म च।
ध्यानं मन्त्रोऽथ संस्कारो दशैते गुणहेतव॥

तो यह बुद्धि देता तो ईश्वर ही है। यह बात बतायी—**भवन्ति भावा भूतानां मत्त एव पृथग्विधाः**। प्राणियोंके भाव तो अलग-अलग होते हैं, लेकिन सबके सब मुझसे होते हैं। भला एक ही मिट्टीमें सब पैदा होते हैं तो अलग-अलग क्यों होते हैं? बोले—बीजके हिसाबसे। बोले—एक ही बीज सब होवे, तो? बोले—अब कहाँ खाद वाली मिट्टी है, कहाँ कंकड़वाली मिट्टी है, कहाँकी गीली मिट्टी है, कहाँकी सूखी मिट्टी है, इस बातसे भी फर्क पड़ जायेगा। कहाँका खारा पानी है और कहाँका मीठा पानी है, इसके हिसाबसे भी फर्क पड़ जायेगा।

तो बुद्धि देता तो है ईश्वर, परन्तु कर्मानुसार संस्कारानुसार देता है। तो

भवन्ति भावा भूतानां मत्त एव पृथग्विधाः।

कल आपको बुद्धिकी चर्चा विस्तारसे सुनायी थी। अब थोड़ा और उसमें ध्यान दे लो। एक बुद्धि होती है अनर्थ देनेवाली बुद्धि। जो तामसी और राजसी बुद्धि होती है, वह अनर्थ देनेवाली बुद्धि होती है। केवल उससे दुःख ही मिलेगा। क्योंकि तामसी बुद्धि **सर्वार्थान्विपरीतांश्च**—सुखको दुःख बतावेगी, दुःखको सुख बतावेगी। सुख समझकर दुःखकी ओर बढ़ोगे तो दुःख मिलेगा और दुःख समझकर सुखकी ओर भागोगे तो भी दुःख मिलेगा। तो जब बुद्धि आदमीकी विपरीत हो जाये तो ऐसा ही होगा। एक पत्नी थी। तो जब उसका पति घर छोड़कर दुकान पर जाय या बाजारमें जाय या लोगोंसे मिले-जुले, तब वह लड़ाई करे और रोवे, कि तुम तो हमको छोड़कर बाजारमें चले जाते हो। अच्छ आ

बाबा, नहीं जायेंगे, तुम्हारे पास ही रहेंगे। अब बैठ गये तो घरमें नोन नहीं, लकड़ी नहीं, रोटी नहीं, दाल नहीं तो भी रोने लग गयी। पति जाय, तब तो रोवे कि तुम्हारा प्रेम नहीं है, हमको छोड़कर चले गये और न जाय तो बोले कि तुम निकम्मे हो, रोटी-दालका कोई बन्दोबस्त ही नहीं करते।

तो यह क्या हुआ? यह तामसी बुद्धि हुई न! **सर्वार्थान्विपरीतांश्च बुद्धिसा पार्थ तामसी।**

राजसी बुद्धि भी कुछ निश्चय नहीं करती। वह दु:खदा-अनर्थकारिणी बुद्धि है।

अब जो सात्त्विकी बुद्धि होती है, वह अर्थदा होती है। तो धर्मसे नियन्त्रित कर देनेवाली जहाँ होती है वहाँ तो सुखदा होती है और धर्मसे अनियन्त्रित करनेवाली जहाँ होती है वहाँ दु:खदा होती है। धर्मसे नियन्त्रित भोग देनेवाली सुखदा होती है और धर्मसे अनियन्त्रित भोग देनेवाली दु:खदा होती है। ये बुद्धिके भेद हैं। तो अर्थदा बुद्धि और भोगदा बुद्धि दोनोंमें धर्मका नियन्त्रण चाहिए।

अब केवल इसी लोकके भोग और अर्थको दे तब लौकिक बुद्धि; लौकिक सात्त्विकी बुद्धि है भला! राजसी और तामसीको तो लौकिक भोग, लौकिक अर्थ, लौकिक धर्म भी नहीं मिल सकता। पारलौकिक सुख और पारलौकिक अर्थ भी जो देवे तो धर्मदा बुद्धि होती है—धर्म देनेवाली बुद्धि।

मोक्षदा बुद्धि इन तीनोंसे विलक्षण होती है। यह सत्संगका मार्ग निराला है। इससे धन चाहो तो मिलेगा, भोग चाहो तो मिलेगा, यश, प्रतिष्ठा चाहो तो मिलेगा और धर्म चाहो तो लोक-परलोकमें सुख देनेवाला धर्म भी मिलेगा। सत्संगसे जो बुद्धि मिलती है, वह सर्व देनेमें समर्थ है। मोक्षदा बुद्धि दो तरहकी मिलती है—या तो ईश्वर प्रसादसे या तो आत्मप्रसादसे।

तो ईश्वरप्रसादसे अथवा आत्मप्रसादसे जो बुद्धि मिलती है वह या तो वैराग्य दे या तो निष्कामता चित्तमें। कर्म तो होता रहे पर निष्कामता दे दे।

देखो, **बुद्धौ शरणमन्विच्छ कृपणाः फलहेतवः।**

बुद्धिकी शरण लेना माने निष्काम होना। फलहेतुताका परित्याग करना, कार्यव्ययका परित्याग करना—**बुद्धौ शरणमन्विच्छ।** तो 'निर्वेदना'—माने वैराग्य देनेवाली बुद्धि। 'समाधिदा'-समाधि देनेवाली बुद्धि। और राग-भोगसे छुड़ानेवाली बुद्धि; सुख शान्ति देनेवाली 'प्रसाददा बुद्धि'—ये सब ईश्वर प्रसादसे अथवा आत्म-प्रसादसे जो सात्त्विकी बुद्धिका उदय होता है उससे इसकी प्राप्ति होती है।

तो अब वैराग्य भी होवे, समाधि भी मिले, निष्कामता भी आवे, कुछ शान्तिकी सृष्टि भी मालूम पड़ने लगे, तो बस ईश्वरके राज्यमें जो बात थी, वह पूरी हो गयी? कि नहीं, अभी पूरी नहीं हुई। वैराग्य हो गया, कि बहुत बढ़िया। समाधि हो गयी कि बहुत बढ़िया। निष्कामता आ गयी, कि बहुत बढ़िया। सुख शान्तिका अनुभव होता है उस समय, बहुत बढ़िया! लेकिन यदि ईश्वर नहीं मिला, तो यह कोई चीज टिकाऊ नहीं है। आज जहाँ तुम फँसे हुए हो, इससे पूरी तरहसे छूटोगे तब, जब परमात्माकार बुद्धि होगी। एक परमात्माकी दी हुई बुद्धि और एक परमात्माकार बुद्धि। यह नहीं कि परमात्मा बुद्धि जब देता है, तब बुद्धि परमात्माकार होती है। ऐसा नहीं समझना। यह सब कर्मानुसार बुद्धि तो परमात्माने दी है। ज्ञानीको वैराग्यकी बुद्धि दी है, अभ्यासीको समाधिकी बुद्धि दी है, नि:स्वार्थ कर्म करनेवालेको निष्काम बुद्धि दी है और राग-द्वेष रहित होकर जो अपने कर्तव्यका पालन कर रहा है, उसको निष्कामतावाली बुद्धि दी है। सब ईश्वरने दी है, पर ईश्वरकी दी हुई बुद्धि जबतक तुम ईश्वरको नहीं दोगे तबतक अपूर्ण ही रहोगे। तो एक बुद्धि ऐसी चाहिए। ईश्वरकी दी हुई बुद्धि तो तुम्हारे पास है और उसे बार-बार काम-मुक्ति, वैराग्य, समाधि और निष्कामता और पाप-पुण्य राहित्य सब प्राप्त होनेको तैयार है, परन्तु तुमने ईश्वरको बुद्धि दी, कि अपनी रक्खी? अब सवाल यह आता है।

तो अब देखो एक बुद्धि—

तद्बुद्धयस्तदात्मानस्तन्निष्ठास्तत्परायणाः ।
गच्छन्त्य पुनरावृत्तिं ज्ञाननिर्धूतकल्मषाः ॥ 5.17

यह कैसी है? कि तद्बुद्धयः। अब यह ईश्वरकी दी हुई बुद्धि ईश्वरके पास पहुँची। निर्वेदमें अटकना, वैराग्यमें अटक जाना, ऐसी बुद्धिसे ईश्वरकी प्राप्ति नहीं है और समाधिमें अटक जाना—यह भी ईश्वरकी प्राप्ति नहीं है। निष्कामतामें अटक जाना, यह भी ईश्वरकी प्राप्ति नहीं है। राजस और तामस बुद्धि तो अनर्थदा है। और सात्त्विक बुद्धि अर्थदा है, भोगदा है, धर्मदा है। और निष्काम है, वैराग्यवती है, समाधिमती है, सुखशान्तिमती है, ईश्वरके पास जानेके योग्य है। **कुमारी तैयार हो गयी, पर विवाह नहीं हुआ। उसके बाद विवाहका प्रसंग आता है।**

विवाहका प्रसंग क्या है? तद्बुद्धयाः—तब बुद्धि बन जाती है। ईश्वर बुद्धि देता है, यह होनेपर भी जो अनुभव करे कि ईश्वर बुद्धि देता है। बुद्धिका आश्रय

ईश्वर है—माने बुद्धिके पीछे रहकर बुद्धिको रोशनी देता रहता है; लेकिन बुद्धिके आगे भी ईश्वरको आना चाहिए। माने ईश्वरकी गोदमें बुद्धि बैठी है—यह हुआ एक। और बुद्धिकी गोदमें आकर ईश्वर बैठ जाय—यह हुआ दो। अब इसमें एक असंभावना होती है, एक विपरीत भावना होती है। जो लोग ईश्वरको पहचानते नहीं, वे भी कह देते हैं कि ईश्वर भला कभी बुद्धिमें आ सकता है? तो वंचित हो गये। अरे जैसे ईश्वरको तुम जानते हो, वैसे ईश्वरको लाकर अपनी बुद्धिमें बैठाओ। जैसा जानते हो, वैसेको ही लाकर बैठाओ, बुद्धिकी गोदमें। अच्छा, कोई तो निराश हो गये, हताश हो गये, और असंभावना हो गयी कि बुद्धिकी गोदमें तो कभी ईश्वर आवेगा ही नहीं; मारे गये। किसीको विपरीत भावना हो गयी। विपरीत भावना क्या है? जड़ विषय दिखता है और उसीको ईश्वर समझ लेता है, तो विपरीत भावना हो गयी। दृश्यमें ईश्वरकी विपरीत भावना है और ईश्वराकार वृत्ति हो ही नहीं सकती—यह असंभावना है—इस प्रकारका निश्चय और बुद्धिका काम न करना—यह निकम्मापन है—अप्रतीति है बुद्धिकी।

बुद्धिमें कई दोष होते हैं—लय, विक्षेप, रसास्वाद, असम्भावना और अप्रतिपत्ति। बुद्धि 'लय' हो गयी कोई काम नहीं करती है। 'विक्षेप' हो गया दूसरी ओर चली गयी। कुछ खोटी चीजका मजा लेने लग गयी, किसीके राग-द्वेषके चक्करमें पड़ गयी और ईश्वर तत्त्वको समझनेकी कोशिशको यह समझकर छोड़ दिया कि वह तो बुद्धिमें आ ही नहीं सकता। तो माण्डूक्य कारिकामें चार ही दोषोंका वर्णन है। अप्रतिपत्तिका नहीं है। क्योंकि अप्रतिपत्ति तो सबको होती ही है, अग्रहण और अन्यथा ग्रहण नामके जो दो दोष हैं, परमात्माको ग्रहण न कर सकना अग्रहण और उलटा ग्रहण करना—अन्यथा ग्रहण; इसीसे परमात्मा दूर है। कोई-कोई उलटा ग्रहण करके फँस गये और कोई अग्रहणसे परेशान हो गये। कई सुषुप्तिमें चले गये, कई सपनेमें खो गये। और जाग्रतमें दोनों—अग्रहण और अन्यथा ग्रहण गये। अग्रहण माने सुषुप्ति और अन्यथा ग्रहण माने स्वप्न और जो सच्चा जाग्रत है, उससे वंचित रह गये। तो बुद्धिको सोने मत दो। सोना तो अपराध है। अपना पति सामने खड़ा हो, उसको तो प्यास लगी हो और श्रीमतीजी तान दुपट्टा सोवें। यह तो अधर्म है सर्वथा, अपराध है। यह उलटी बुद्धि है।

तो 'तद्बुद्धयः' माने लगाव, बुद्धिको परमात्मामें लगाओ। बोले—भाई, बुद्धि परमात्मामें लगानेका उपाय क्या है? बोले—तदात्मानं!

तदात्मानंका अर्थ है जो आत्मा सो परमात्मा, आत्मा और परमात्माकी एकताका अनुभव करना ही बुद्धिका परमात्मामें लगाना है। बोले—महाराज, लगाते तो हैं कि आत्मा-परमात्मा एक है, ऐसा सोचते हैं बैठकर; लेकिन हर समय यह बात याद नहीं रहती। याद रहनेका झगड़ा, न प्रेममें है और न ज्ञानमें है। यह अधकचरे लोगोंमें है। अरे हम अपने बच्चेके लिए जब रोटी बनाते हैं या बच्चा स्कूल चला जाता है और हम उसके लिए कपड़े समेटने लगते हैं, तो क्या बच्चेकी याद रहती है? अरे दस बात और सोचते हैं। उससे बच्चेका प्रेम क्या कम होजाता है? माँ अगर छह घंटे नींदमें रहे और बच्चेकी याद न आवे छह घंटे, तो उसके प्रेमकी कमी है? अरे प्रेम तो जैसा कल जागनेके समय था, वैसा ही आज भी जागनेके समय है। छह घंटे भूल जानेसे बच्चेको, बच्चेका प्रेम कहीं चला गया? प्रेमपर स्मृति-विस्मृतिका असर नहीं पड़ता और ज्ञानपर भी। तुम घड़ेको जानते हो, लेक़िन घड़ेको भूले रहते हो। क्या घड़ेकी हर समय स्मृति रहती है? तो क्या ज्ञानपर कोई असर पड़ता है? ज्ञान नष्ट हो जाता है? विस्मृतिसे ज्ञान नष्ट नहीं होता। यह तो जो लोग ठीक रीतिसे ज्ञान स्वरूपका विवेक नहीं करते हैं। वेदान्त परिभाषामें पहली बात जो लिखी है वह यह है कि ज्ञान स्मृतिव्यावृत्त है। माने स्मृतिसे जुदा चीजका नाम ज्ञान है। याद रहनेका नाम ज्ञान नहीं है, घड़ेपर जो अज्ञानका आवरण है उसका मिट जाना, इसका नाम ज्ञान है। और बारम्बार घटाकार वृत्ति होना, यह जैसे मरी हुई औरतकी आज याद करते हैं, नष्ट वनिताका जैसे स्मरण होता है, इस तरहसे बारम्बार किसीकी याद करते रहनेका नाम ज्ञान नहीं है। ज्ञानमें याद करनेकी जरूरत नहीं पड़ती।

'तन्निष्ठा'का क्या अर्थ है? कि अरे भाई एक बार देख लिया, 'हीरा पाया गाँठ गठियाया, बार-बार वाको क्यों खोले?' जब पूरी तरहसे कपड़ेकी गाँठ देख ली, रोशनी करके देख लिया कि इसमें साँप नहीं है। एक रस्सी थी वह साँप मालूम पड़ती थी, उठाके रस्सी फेंक दी, अब तान दुपट्टा सोवो ना! 'तन्निष्ठा'का अर्थ है आत्मा और परमात्माकी एकता स्वत: सिद्ध सत्य वस्तु है, इसीमें निष्ठा रखो। बोले—महाराज, निष्ठा ही तो नहीं बनती है। तो **तत्परायणाः** अपनी निष्ठाको घर बना लो। माने घूम-फिरके जैसे अपने घर आजाते हैं—तत्परायणम्। **तदेव परं अयनं निवासस्थानं यस्य।** एक बार जिज्ञासा समाप्त। सपना दिख गया तो फिर क्या हुआ? कि जग गये। फिर आया सपना अरे फिर जग गये, वह तो सपना था। जितनी बार दुनिया दिखे और जितनी बार जागो। जागने पर, पचास वर्ष स्वप्नमें रहे

और एक मिनट जाग्रत्‌में रहे, तो एक मिनटका जाग्रत्‌ पचास वर्षके स्वप्रको मिटा देगा कि नहीं मिटा देगा? एक मिनटका जाग्रत्‌ पचास वर्षके स्वप्रको क्षणभरमें मिटा देगा। अरे यह तो सपना देखा है भाई, सपना। तो **तत्परायणा**का अर्थ है इसी सच्चाईको सच्ची समझो, झूठे दृश्यको सच्चा मत समझो। **गच्छन्त्यपुनरावृत्तिं।**

तो **तद्बुद्धयः**का अर्थ है परमात्माको केवल बुद्धिके पीछे मत रहने दो, परमात्माको बुद्धिके आगे भी ले आओ, उसका अपरोक्ष-साक्षात्कार होने दो। तब क्या होगा कि बुद्धिके पीछे जो परोक्ष है और बुद्धिके सामने जो अपरोक्ष है, ये दोनों तो एक ही रहेंगे। **तत्त्वमसि**—'तत्' माने बुद्धिके पीछे और 'त्वं' माने बुद्धिके सामने और 'असि' माने दोनों एक। जो बुद्धिके पीछे है वही बुद्धिके सामने है, जो परोक्ष है वही अपरोक्ष है और जब दोनों एक हो जायेंगे, तो दोनोंके बीचमें बुद्धि भी एक हो जायेगी। दोनों दो नहीं, एक है।

ज्ञाननिर्धूतकल्मषा—ज्ञानसे यह जो द्वैतका कल्मष है कि बुद्धि नामकी कोई दूसरी चीज है कर्म-संस्कारको लेकर जो बैठी है, उसे कल्मष बोलते हैं। यह कल्मष शब्दकी व्युत्पत्ति बड़ी विलक्षण है, 'कल्म' नहीं है, कर्म है, कर्ममें-से रेफ जो है वह 'ल्' बन गया, तो कर्मका कल्म हो गया और 'ष' जो है वह संस्कारका वाचक है। ये जो कर्मके संस्कार बैठे हुए हैं यह करना, वह करना, वह पाना, वह छोड़ना यह संस्कार है। एक आदमीसे दस बार बात करते हैं, तो न उसके मनके रागका ही पता चलता है कि रागी है और न उसके वैराग्यका ही पता चलता है कि वैरागी है। दस मिनट तक एक आदमी बात करे, तो लगातार अपने राग या वैराग्यको सुरक्षित नहीं रख सकता, बदल जाता है। दस मिनटके भीतर बदल जाता है। घंटे भरके भीतर तो चार सौ दफे रागी होता है और चार सौ दफे वैरागी होता है, यह स्थिति है।

यह चित्त बड़ा चंचल है। अब देखो यह जो बुद्धि है, कौन-सी? जो परोक्ष और अपरोक्ष, परोक्ष जो तत् पद लक्ष्यार्थ है और अपरोक्ष जो त्वं-पद-लक्ष्यार्थ है—इन दोनोंको एक कर दो। **तदात्मानः**। यह बुद्धिका स्वरूप है।

स एव आत्मा येषां ते तदात्मानः।

आत्मा और परमात्माकी एकताकी जो बुद्धि है वह बुद्धि आवे। यह महावाक्यकी बुद्धि है। ईश्वर प्रसन्न होकर संस्कार देता है। किसीको अर्थ देता है, किसीको धर्म देता है, किसीको काम देता है, किसीको अन्तःकरणकी शुद्धि देता है, किसीको स्वर्ग देता है। यह योगवाली बुद्धि चाहिए।

इसके भी परे एक बुद्धिका वर्णन है। यह ऐक्य बुद्धि अविद्याको निवृत्त करके स्वयं निवृत्त हो जाती है, दूसरे क्षणमें रहती नहीं। पर बाधितानुवृत्तिसे एक बुद्धि जीवन्मुक्तके शरीरमें रहती है। वह विदेह मुक्ति पर्यन्त रहती है। जब तक जीवन्मुक्त रहता है, तबतक उसमें बुद्धि रहती है। इसका भी वर्णन है गीतामें—

न प्रहृष्येत्प्रियं प्राप्य नोद्विजेत्प्राप्य चाप्रियम्।
स्थिरबुद्धिरसंमूढो ब्रह्मविद्ब्रह्मणि स्थितः॥ 5.20

'**असंमूढः स मर्त्येषु सर्वपापैः प्रमुच्यते**' यह जो असंमूढ है, असंमूढमें भी—जीवन्मुक्तमें भी जो बुद्धि है, वह बाधित बुद्धि है। जहाँ उपाधि ही बाधित हो गयी वहाँ उपाधिका एक अंश बुद्धि अबाधित कहाँसे रहेगी? पर जबतक तत्त्वज्ञानीका जीवन है तबतक कैसा? यह समबुद्धि है—**न प्रहृष्येत्प्रियं प्राप्य नोद्विजेत्प्राप्य चा-प्रियम्**। किसीने आकर चन्दन लगाया माला पहनायी और हाथ जोड़कर बोला कि,

त्वमेव माता च पिता त्वमेव......

कोई कच्चा साधु हो, और कोई उसके सानने आकर ऐसा बोले, तो वह मान लेगा कि यह सच बोलता है! यह कच्चे साधुकी पहचान है। जबतक तुम मानोगे तबतक तुम होगे। अब तुम देख लो कि कितनी देर तक तुम्हारी बुद्धिमें 'त्वमेव माता च पिता त्वमेव'—यह निश्चय रहता है। बोले—वह तो महाराज बिहारीजीको बोलते हैं 'त्वमेव माता च पिता त्वमेव' और जब उधर पीठ करके जाते हैं तब दूसरा ही कोई 'त्वमेव माता च पिता त्वमेव' होता है।

वैसे सृष्टिमें एक ही व्यक्ति माँ भी है और बाप भी है, सखा भी है, बन्धु भी है—ऐसा हो नहीं सकता। यह केवल परमात्मा ही माँ-बाप, सखा-बन्धु-धन हो सकता है।

नित्य शुद्ध, बुद्ध, मुक्त अपना स्वरूप है। जो आत्मा, वह परमात्मा। अब इसके दृश्यमें विद्यमान जिज्ञासुओंकी दृष्टिमें विद्यमान उसके शरीरमें जो बुद्धि है सो कैसी है?

न प्रहृष्येत्प्रियं प्राप्य—महात्माके लिए है। मैंने कहा न सच्चे साधुको कोई कहे—'**त्वमेव माता च पिता त्वमेव**' तो ऐसा समझ लिया कि यह हमारा बड़ा भक्त हो गया भाई! बड़ा प्रेमी हो गया। अब इसके पीछे-पीछे घूमो और जिस दिन वह कह देगा कि नहीं हो तुम हमारे माँ-बाप, उस दिन क्या करोगे बाबाजी? कि कोई दूसरा माँ-बाप कहनेवाला ढूँढेंगे। दुनिया तो नित्य बदलती है। ठीक है वह कहेगा मैं रामकी, कृष्णकी, शालिग्रामकी, नर्मदाके शिवकी जैसी मूर्ति होती है वहाँ

मानेंगे। जैसे ये रोज मूर्तिके सामने त्वमेव माता च पिता त्वमेव बोलते हैं वैसे मुझ मूर्तिके सामने बोलते हैं।

न प्रहृष्येत्प्रियं प्राप्य—प्रिय वस्तु, प्रिय व्यक्ति, प्रिय भाव—इनको प्राप्त करके 'न प्रहृष्यते'—प्रहर्षका कर्ता न बने।

नोद्विजेत्प्राप्य चाप्रियम् और अप्रियकी प्राप्ति होने पर उद्विग्न न हो।

कैसा है? ब्रह्मवित्। पहले ब्रह्मवित् हो चुका—**तद्बुद्धयस्तदात्मानः**, ब्रह्मवित् हो चुका। ब्रह्मणि स्थितः। असंमूढः। स्थिरबुद्धिः। देखो कितनी बात कही गयी—

अप्रिय मिलने पर उद्विग्न न हो, जैसे संसारी लोग हाय-हाय करने लगते हैं, रोज उनका कोई मौसा, कोई मौसाका मामा मरता ही रहता है। अब रोज कोई-न-कोई टेढ़ी आँखसे देखता ही रहता है। ऐसा कैसे होगा कि सब लोग आदर ही करें। कोई-न-कोई मूँछ ऐंठ ही देगा उनके सामने; तो मरो!

नोद्विजेत्प्राप्य चाप्रियम्—अप्रिय प्राप्त करके उद्विग्न न होवे। उद्वेगका आश्रयत्व, उद्वेगका कर्तृत्व अपनेमें न होवे। और प्रहर्षका आश्रयत्व, कर्तृत्व अपनेमें न होवे। यह स्थिर बुद्धि है समत्वबुद्धि, यह किसे मिलती है? कि जो असंमूढ है। असंमूढ़ कौन होता है? कि ब्रह्मवित्। और ब्रह्मवित् कौन होता है? कि 'ब्रह्मणि स्थितः' जो ब्रह्मनें स्थित है। इस 'ब्रह्मणि स्थितः'का अर्थ है ब्रह्मनिष्ठ और ब्रह्मवित्का अर्थ है श्रोत्रिय। तो बोले—यह श्रोत्रिय ब्रह्मनिष्ठ कैसे हुए भाई? ऐसे हुए कि अखिल भारतीय व्यापार-मण्डलमें उनको 'श्रोत्रिय ब्रह्मनिष्ठ'का खिताब दिया है।

अब ये कहाँ व्यापार-मण्डलवाले, न तो श्रोत्रियको जानें, न ब्रह्मनिष्ठको जानें और खिताब दे देंगे किसीको भी कि ये 'श्रोत्रिय-ब्रह्मनिष्ठ' हैं। जिसके श्रोत्रमें महावाक्यका अर्थ नहीं पड़ा है वह भी श्रोत्रिय हो जायेगा और जिसने ब्रह्मके नाम पर ब्रह्म राक्षसका भी दर्शन नहीं किया है, वह ब्रह्मनिष्ठ हो जायगा।

तो ऐसे एक 'ब्रह्मनिष्ठ' है, एक 'ब्रह्मवित्' है माने श्रोत्रिय है और असंमूढ है। यह सम्मोह, जड़-चेतनका जो अभ्यास है, वह अभ्यास न होना संमूढ होना है। अब ईश्वर किसको कौन-सी बुद्धि देता है, तामसी बुद्धि, राजसी बुद्धि, सात्त्विकी बुद्धि, ईश्वर प्रसादजा बुद्धि, आत्म-प्रसादजा बुद्धि, पापप्रणाशिनी बुद्धि, निष्काम बुद्धि, निर्वेदजा बुद्धि, समाधि दायिनी बुद्धि, सुख- शान्ति दायिनी बुद्धि, ऐक्यज्ञान दायिनी बुद्धि-समबुद्धि। यह सब बुद्धि कहाँसे आती है?

बुद्धिर्ज्ञानमसंमोहः

भवन्ति भावा भूतानां मत्त एव पृथग्विधाः।

परमात्मा कहते हैं—मैं ही यह बुद्धि देकर सब बुद्धियोंको सत्ता-स्फूर्ति देता रहता हूँ।

अहं सर्वस्य प्रभवो मत्तः सर्वं प्रवर्तते।

इसको कैसे देखें? साधन बताओ! देखो, शान्तवृत्तिका नाम ब्रह्मज्ञान नहीं है। शान्तवृत्ति और विक्षिप्त वृत्ति—ये तो अन्तःकरणकी दो अवस्थाएँ हैं।

क्षिप्त, विक्षिप्त, मूढ़, एकाग्र, निरुद्ध—ये तो चित्तकी पाँच भूमिकाएँ हैं। उनमें एक निरुद्ध भूमिका भी है। द्रष्टा जो पुरुष है वह तो निरुद्ध भूमिकामें द्रष्टा है। जैसे व्यक्तिगत निरुद्ध भूमिका द्रष्टा है, वैसे समष्टिगत निरुद्ध भूमिका भी द्रष्टा है। जो व्यक्तिगत निरुद्ध भूमिका द्रष्टा है वही समष्टिगत निरुद्ध भूमिका द्रष्टा है कि कोई दूसरा है? यदि दूसरा है तो वह दृश्य होगा, कल्पित होगा। और, यदि अपना आपा ही है तो उसके अपने आपेका बोधक कोई तो होना चाहिए। तो अपने आपेका बोध हुआ कि वह अपना आपा ही है।

यह बुद्धि कहाँसे आयी?

तद्बुद्धयस्तदात्मानस्तन्निष्ठास्तत्परायणाः।

यह बुद्धि परमात्मा देता है। अब कहो **ज्ञानं**। ये 'ज्ञानं' भी बड़ा विचित्र है। ज्ञान भी सभीको होता है। दुर्गापाठमें लिखा है कि संसारमें ऐसा कोई भी प्राणी नहीं है जिसे ज्ञान न होता हो—

ज्ञानी तस्यैतां पतंगानां

देखो; पक्षी—चिड़ियोंको ऐसा ज्ञान है कि ये जंगलमें-से चारा अपने मुँहमें उठाती हैं भला। आदमीके लिए यह काम मुश्किल है। और स्वयं भूखे रहती हैं और वह चारा अपने घोंसलेमें लाकर अपना बिन पंखका जो बच्चा है उसके मुँहमें डालती हैं।

विद्यमाना अपि क्षुधा—स्वयं भूखसे पीड़ित हैं और मुँहका चारा उनके मुँहमें डालती हैं। यदि आदमीको मुँहमें लेकर खिलाना पड़े बच्चेको तो? जिसे अपना आत्मा बोलता है खुद हो भूखा और बच्चेको हाथसे न खिलाना हो, मुँहमें अपने डालकर फिर उसके मुँहमें डालना हो तो आधा खुद खा जाता, बच्चेका हिस्सा, भला! देखो हमको इतना ज्ञान है कि अपने बच्चे हैं और इतना मोह है कि स्वयं भूखे रहकर भी उनको खिलाते हैं। तो पक्षीको भी ज्ञान है। ज्ञानमें मोह जुड़ा हुआ है।

ज्ञान और मोह—दोनोंका आदमीमें मिश्रण तो नहीं होना चाहिए।

हमने बचपनमें दुर्गापाठ बहुत किये हैं। अपने लिए भी किये हैं, दूसरोंके लिए भी किये हैं। हम ब्राह्मण थे तो दूसरेके लिए भी दुर्गापाठ करते थे।

एवमेव तथाऽहं च द्वावप्यत्यन्तदु:खितौ।
दृष्ट दोषेऽपि विषये ममत्वाकृष्टमानसौ॥
तत्किमेतन्महाभाग यन्मोहो ज्ञानिनोरपि।
मयाऽस्य च भवत्येषा विवेकान्धस्य मूढता॥

'**दृष्टदोषेऽपि विषये**'—मालूम पड़ता है कि यह चीज साथ देनेवाली नहीं है। ये लड़की-लड़के समझते हैं कि अब ब्याह नहीं होगा, लेकिन आसक्ति जब हो जाती है तो अन्धे हो जाते हैं कि नहीं? कुछ सूझता नहीं है। दोनों अन्य हैं, दूसरे हैं समझते हैं कि ब्याह नहीं हो सकता, लेकिन मोह जुड़ गया।

समझदारी रहते हुए यह मोह कहाँसे आया?

तो; ज्ञान दो तरहका होता है—एक मोह-संपृक्त और एक मोहासंपृक्त। यहाँ तक समझो कि मोह भी ज्ञानका ही एक रूप है। यही ज्ञान होगया हो कि यदि हम धनसे मोह नहीं करेंगे, बालकसे मोह नहीं करेंगे, इज्जतसे मोह नहीं करेंगे, भोगसे मोह नहीं करेंगे तो हाय-हाय हमारा क्या होगा? यह दीन मोह, छोटा मोह है।

देखो, तामस ज्ञान, राजस ज्ञान और सात्त्विक ज्ञान—तीन प्रकारका ज्ञान तो प्रसिद्ध ही है।

यत्तु कृत्स्नवदेकस्मिन्कार्ये सक्तमहैतुकम्।
अतत्त्वार्थवदल्पं च तत्तामसमुदाहृतम्॥ 18.22

ज्ञान क्या है? एक ही किसी चीजमें, वस्तुमें जो झूठा है सत्य समझते हैं। और कहो कि इसमें क्या हानि-लाभ होगा, यह सोचा? नहीं सोचा! और वह चीज न तो सच्ची है और न तो उससे कोई प्रयोजन ही सिद्ध होनेवाला है। 'अतत्त्वार्थवत् अल्पं च'—अतत्त्व भी है और अर्थवत् भी नहीं है। अहैतुकम्। ऐसा ज्ञान—जो एक झूठी चीजमें, बिना किसी मतलबके, छोटी चीजको पूर्ण समझ करके फँस जाओ—ऐसा ज्ञान है। इस ज्ञानको क्या बोलेंगे? तामस ज्ञान। यह देहको 'मैं' मानना भी तामस ज्ञान है। देह तत्त्व नहीं है विकार है। जैसे घड़ा है, घड़ा माटी है। घड़ा दूसरी चीज, माटी दूसरी चीज। तो जैसे दो है, यह असत्य है। और इसके मोहमें फँसनेसे किसी प्रयोजनकी स्वर्ग—अपवर्गकी सिद्धि होनेवाली नहीं है, इसको मैं करनेसे।

अल्पं च—थोड़े दिन जीनेवाला है और कुछ बहुत सोच-विचारकर इसमें प्रीति की नहीं जाती, लेकिन आज यही मानो सब कुछ हो गया है। यह देहसे प्रेम है। देहात्म-विषयक जो ज्ञान है, यह क्या है? बोले—तामस ज्ञान है। और, यदि अपने शरीरसे बाहरवाले किसीसे होगया, तब तो महातामस हो गया। अपने शरीरसे तामस और दूसरेके शरीरसे महातामस। यह तामसज्ञान है।

यह राजसज्ञान कैसा होता है?

पृथक्त्वेन तु यज्ज्ञानं नानाभावान्पृथग्विधान्।
वेत्ति सर्वेषु भूतेषु तज्ज्ञानं विद्धि राजसम्॥ 18.21

राजस ज्ञान जो है वह भोग वृत्ति है। जिससे लड़ाई हो सो राजस ज्ञान—**पृथक्त्वेन तु यज्ज्ञानं।** यह संन्यासी हैं, उदासी है, यह वैष्णव है। यह पुरोहिती ले ली साधुओंने, ईसाइयोंमें पुरोहित होता है, वह अपने सम्प्रदायकी शिक्षा-दीक्षा सबको देता है। दूसरे सम्प्रदायसे अपने सम्प्रदायकी विशेषता बताना और उस सम्प्रदायमें निष्ठावान् रखना। ईसाइयोंमें जैसे पादरी होता है वैसे मुसलमानोंमें मौलवी होता है। हिन्दुओंमें उसके बदले पुरोहित-पद्धति है। पुरोहित अपने सम्प्रदायकी, धर्मकी, उपासनाकी, अपने संस्कारकी बात बतायेगा और मुसलमान-ईसाईसे क्या न्यारापन है हिन्दूमें यह भी बतायेगा।

जो साधु है, अरे यह हिन्दू थोड़े ही होता है, यह मुसलमान थोड़े ही होता है, यह ईसाई थोड़े ही होता है, यह तो ब्रह्म होता है।

कभी साम्प्रदायिक सद्भावके मंचपर ले जाकर एक सम्प्रदायका प्रतिनिधि बना कर बैठा देते हैं। अरे, वह तो सम्प्रदायसे अतीत है भाई। हिन्दूपनेसे अतीत नहीं हुआ तो चोटी काहेको कटायी, जनेऊ क्यों निकाला? पुरोहित और साधुका भेद लोगोंकी समझमें नहीं आता। महात्मा दूसरी चीज है और पौरोहित्य करना दूसरी चीज है। यह त्रिगुणातीत महात्मापनकी जो पद्धति है यह मौलवीपनेमें नहीं है, यह पादरीपनेमें नहीं है, यह ब्राह्मण-पुरोहितपनेमें नहीं है। सन्तोंकी रीति तो न्यारी होती है भाई! राजस ज्ञान लड़ाई करानेवाला है और सात्त्विक ज्ञान होता है—

सर्वभूतेषु येनैकं भावमव्ययमीक्षते।
अविभक्तं विभक्तेषु तज्ज्ञानं विद्धि सात्त्विकम्॥ 18.20

☆

बुद्धिर्ज्ञानमसंमोहः क्षमा सत्यं दमः शमः।
सुखं दुःखं भवोऽभावो भयं चाभयमेव च॥4॥

भगवान् कहते हैं कि प्राणियोंके हृदयमें अध्यात्ममें जितने भी भाव होते हैं, वे भले अलग-अलग विधा रखते हों, कभी निर्दयता आती है, कभी दयता, यह अलग-अलग विधा होगयी **भयं चाभयमेव च**। परन्तु वे होते, मिटते हैं। भीतर बैठे हुए स्व-स्व—कर्मानुसारेण, जिसके जैसे कर्म हैं, उसके अनुसार भगवान्‌से तुमको डरना चाहिए। ऐसे निर्भय हो जाना चाहिए। तो जो बुरा काम करता है उसके भीतर डर-भय भेज देते हैं।

यह 'डर' शब्द भी संस्कृतका ही है। संस्कृतमें मूलमें 'डर' है, डर माने भय।

किसीने अच्छा काम किया, निर्भय हो गया, तो धर्म युक्त अन्तःकरणमें निर्भयता और अधर्म संस्कारसे संस्कृत अन्तःकरणमें भय भगवान् ही देते हैं। वही भीतर बैठकर भेजते रहते हैं।

भीतर भी भेजते हैं, बाहर भी भेजते हैं, चीजें भी बनाते हैं। यह कारखाना भगवान्‌का बहुत बड़ा है। वही जरा गिनती गिनाके बताते हैं।

बुद्धिर्ज्ञानमसंमोहः। जो लोग सन्तोषकर लेनेवाले हैं, अपने दिमागको तकलीफ नहीं देना चाहते। तो यह समझ लो कि जो बुद्धि है सो ज्ञान है, जो ज्ञान है सो असंमोह है। इसमें क्या फर्क है? पारक्य तो कोई है नहीं जो 'बुद्धिर्ज्ञानम् असंमोहः इति अनर्थकरं' बुद्धि, ज्ञान और असंमोह ये तो तीनों एक ही हैं। बोले—नहीं भाई आत्मदृष्टिसे, परमात्म-दृष्टिसे तो सब एक ही है।

यह सन्तोषकी एक प्रक्रिया हुई कि सब एक है, *'आलसी गिरलैं कुंएमें, बोललँ कि भले बाटी'*—आलसी आदमी कुंएमें गिर गया तो बोला कि मैं बहुत मजेमें हूँ। तो अविवेकके गड्ढेमें गिर गये, *'जानि न परै झूंठका सांची'*—मालूम ही नहीं पड़ता कि झूठ क्या है, सच क्या है! बोले—वह सब एक ही है। 'सोलहों धान बाईस पसेरी।' धान सोलह तरहके होते हैं, लेकिन सबका एक ही भाव, रुपयेका

बाईस पसेरी। यह तो पुराने जमानेका है, अब तो रुपयेका बाईस छटाँक मिलना मुश्किल है। बाईस पसेरीकी तो बात क्या! तो—'सोरहो धान बाईस पसेरी'। अब लौंगचूर कैसा है, बासमती कैसा है, श्याम जीरा कैसा है, कृष्ण भोग कैसा है, गजकेसर है, इनका क्या भाव है खानेका कैसा बोध होता है और इनके कैसे भाव होते हैं, अलग-अलग हैं। अब विवेक न करे तो सन्तोष कर ले कि सब एक ही है, लेकिन मनुष्यको तो विवेक करना चाहिए।

बुद्धि और ज्ञानमें क्या फर्क है, पहले यह देखो! बुद्धि जो है वह मनुष्यके अन्त:करणमें विराजमान है उसमें वस्तुके ज्ञानका सामर्थ्य है। बुद्धिमें ऐसी सूक्ष्मता है कि कर्तव्यकर्तव्यको, अच्छाई-बुराईको जान लेती है। ऐसी शक्ति है उसमें। उसे बुद्धि बोलते हैं। यह मनुष्यका सामर्थ्य है। **सूक्ष्माद्यर्थावबोधनसामर्थ्यम् बुद्धि:**। सूक्ष्म वस्तुके बोधकी जो शक्ति है, उसको बुद्धि बोलते हैं।

ज्ञान क्या है? वस्तुके यथार्थ स्वरूपका जो ज्ञान है—प्रकाशन है, उसको ज्ञान बोलते हैं। माने बुद्धि जरा बाहरसे भीतरको निकलती है और ज्ञान जिस चीजको जानता है उसके स्वरूपको ले आता है। ज्ञेय जो वस्तु होती है उसके स्वरूपकी प्रधानता ज्ञानमें होती है, जो चीज जानी जाय जैसी है वैसी वह ज्ञेय ही है। पदार्थके स्वरूपमें कोई हेर-फेर करके जानना कोई जानना नहीं है। माने पदार्थ तन्त्र-वस्तु तन्त्र ज्ञान है और कर्तृप्रधान बुद्धि है—**बुद्धि कर्तृ**।

देखो; एक चीजको हम जानते हैं कि ठीक है, लेकिन बुद्धि ऐसी है कि युक्तिसे उसको सत् करके सिद्ध कर दे। वकीलोंकी बड़ी-बड़ी बुद्धि देखो! नेताओं, मन्त्रियोंकी बड़ी-बड़ी बुद्धि! यह बुद्धि दूरको पास करनेका भी सामर्थ्य रखती है। परन्तु ज्ञान, जो चीज जैसी है उसका वैसा ही ज्ञान होता है। हृदयमें संस्कारकी प्रधानतासे बुद्धि काम करती है और वस्तुके स्वरूपकी प्रधानतासे ज्ञान काम करता है।

बुद्धि और ज्ञान-इन दोनोंमें, देखो, तामसी बुद्धि और तामस ज्ञान, राजसी बुद्धि और राजस ज्ञान, सात्त्विकी बुद्धि और सात्त्विक ज्ञान। अल्प वस्तुमें फँस जाना, छोटी चीजमें, पाँवके नीचे क्या है इसका पता ही नहीं है, 'दीया तले अँधेरा'। यह तामस ज्ञान है। और तामसी बुद्धि कौन-सी है? कि उलटी समझ। **अवर्णनं वर्ण्यते या मन्यते तमसावृता:**।

अलग-अलग सब चीजोंको बतानेवाली बुद्धि क्या? **अयथावत्प्रजानाति**। राजसी बुद्धि कौन-सी? राजसी बुद्धि वह जिसमें वस्तुका ठीक ज्ञान न हो।

रागोपरत होकरके या द्वेषोपरत होकरके बुद्धि ज्ञान करावे। जैसे एक आदमी है। आदमीको आदमी बताना यह ज्ञानका काम है। आदमीको आदमी बता देना कि एक आदमी बैठा है वह स्त्री है, यह पुरुष है यह बताना ज्ञानका काम है। क्योंकि आदमी है और ज्ञानने आदमी बता दिया।

अब महाराज राजसी बुद्धि आयी, उसने क्या बताया? यह देखो तुम्हारा बुरा सोच रहा है, कि यह तुम्हारा बड़ा दोस्त है, तुम्हारी भलाई सोच रहा है। अब भला दूसरेके दिलका कैसे पता चला कि यह भलाई सोच रहा है कि बुराई सोच रहा है। बुद्धि जिसको दोस्त मानती है उसके बारेमें सोचती है कि यह तुम्हारी भलाई सोच रहा है और जिसको दुश्मन मानती है, उसके बारेमें यह ख्याल करती है कि यह तुम्हारी बुराई सोच रहा है। रजसे उपरत होकर बुद्धि दोस्त और दुश्मन बना देती है।

अब ज्ञान अलग-अलग बताता है—**पृथक्त्वेन तु यज्ज्ञानं**—

देखो असलमें पृथक्त्वज्ञानका भी बड़ा उपयोग है। आपको सुनाते हैं। यह भी दो तरहके होते हैं क्लिष्ट और अक्लिष्ट। तामस ज्ञानका भी उपयोग है। हम उदाहरण देकर बतावें, तो बहुत अच्छा नहीं लगेगा, बोले—बस इतना ही हमारा ईश्वर बस इतना ही है। बोले—यह तो भाई, छोटा कर दिया। कि छोटा नहीं कर दिया देखो धरती तुम्हारी है—

पृथिवी माता पुत्रोऽहं पृथिव्याः यह ज्ञान है कि धरती मेरी माँ है और मैं इसका बेटा हूँ। अच्छा बोले—भारतमाता—भारत मेरी माँ है और मैं उसका बेटा हूँ। जोड़ा बना कि नहीं बना? इसको मर्यादा बोलते हैं। तो जैसे दस किसान एक गाँवमें रहते हैं या दस व्यापारी रहते हैं गाँवमें उन्होंने जमीन खरीदी और मेंड़ लगा दी—मर्यादा बना दी, यहाँ तककी जमीन हमारी और यहाँ तककी जमीन तुम्हारी, तो यह पृथकत्व ज्ञान जो हुआ, यह काहेके लिए हुआ? यह देखो है तो पृथकत्व ज्ञान—इतना खेत हमारा, इतना तुम्हारा, इतनी जमीन तुम्हारी और इतनी हमारी और बीचमें चार दीवारी डाल दी। अब धरती तो एक है यह चार दीवारी काहेको डाली? अच्छाईके लिए कि बुराईके लिए? देखो अच्छाई इसमें है कि यदि मेंड़ बनी रहेगी और दोनों मेड़का पालन करेंगे एक मर्यादा बन गयी इधर हिन्दुस्तान, इधर पाकिस्तान, यदि दोनों मर्यादाका पालन करेंगे तो आपसमें लड़ाई नहीं होगी और मनमें द्वेष नहीं होगा, द्वेष नहीं होनेसे अन्तःकरण शुद्ध रहेगा।

यह क्या हुआ? यह अस्तित्व मर्यादा हुइ, भेदज्ञान तो है, यहाँ तक हिन्दुस्तान और यहाँ तक पाकिस्तान, यहाँ तक मेरा खेत और यहाँ तक तेरा खेत, यहाँ तक मेरी जमीन, यहाँ तक तेरी जमीन यह भेद ज्ञान तो है, परन्तु यदि यह चित्तकी शान्तिका हेतु होवे, अद्वेषका हेतु होवे, परस्पर मेलका हेतु होवे, तो यह भेदज्ञान जो है यह अच्छा है और यदि यह हो कि मेड़ तोड़कर आगे यहाँ तक अब ले लें और कल दो हाथ और बढ़ावेंगे, जरा हल जोतते समय एक हराई मेढ़ पर ली, दूसरी बार दूसरी और तीसरी बार तीसरी, हम तो खेतीका बात जानते हैं भला, हमने फावड़ा चलाया था उसमें। बाबाजी नहीं हैं हमेशासे। हमें तो गृहस्थोंके बहुत सारे गुर मालूम हैं। बनारसमें एक हाथ जमीनके लिए मुकदमा सुप्रीम कोर्ट तक लड़ा गया 'लक्खी चौतरा' उस मुहल्लेका नाम है, रेशमका व्यापार होता है अभी वहाँ एक हाथ जमीनके लिए लाखों रुपये खर्च हुए और अंग्रेजोंके जमानेमें, प्रिवी कौंसिल तक मुकदमा लड़ा गया।

तब यह भेद-ज्ञान क्या हुआ? दुःखका हेतु हो गया। तो भेदज्ञान भी दुःखका हेतु होता है, भेदज्ञान भी सुखका हेतु होता है।

अब इसके बाद देखो, बुद्धिका सात्त्विक रूप क्या है? कि जिसमें प्रवृत्ति, निवृत्ति, कार्य-अकार्य, भय-अभय, बन्धन-मोक्ष इनको ठीक-ठीक जानो, यह सात्त्विकी बुद्धि है। और, सात्त्विक ज्ञान है—

सर्वभूतेषु येनैकं भावमव्ययमीक्षते।
अविभक्तं विभक्तेषु तज्ज्ञानं विद्धि सात्त्विकम्॥ 18.20

सर्वभूतेषु—तत्त्व दृष्टिसे ब्रोलते हैं। यह संन्यासी, उदासी अपनी-अपनी मर्यादा है। वैष्णव और संन्यासी अपनी-अपनी मर्यादा है। हिन्दू-मुस्लिम अपनी-अपनी मर्यादा है। समझो सत्त्वमें मनुष्य होनेपर भी, प्राणीकी दृष्टिमें मनुष्य होने पर भी, जैसे हिन्दू-मुस्लिम एक मर्यादा हुई और हिन्दूमें ब्राह्मण, क्षत्रिय एक मर्यादा हुई, समन्यासी-उदासी एक मर्यादा हुई, फिर उदासी-वैष्णव एक मर्यादा हुई, वैष्णव-संन्यासी एक मर्यादा हुई। परन्तु ये मर्यादाएँ इसलिए हैं कि आपसमें टकरायें नहीं, आपसमें लड़ाई न हो, द्वेष न हो इसके लिए तो ठीक है और जहाँ यह द्वेष और लड़ाईका कारण बने वहाँ बिलकुल गलत है। उनको उठाकर बिल्कुल आलेमें डाल दो। यह आलेमें भी नहीं रखना, यह तो समुद्र ही में डालने लायक है। जहाँ यह अन्तःकरणको अशुद्ध करने-वाली हो।

सर्वभूतेषु येनैकं भावमव्ययमीक्षते।

वस्तुके स्वरूपकी प्रधानतासे ज्ञान होता है। सात्त्विक ज्ञान, राजस ज्ञान, तामस ज्ञान सबमें एकताका दर्शन, हमें इस प्रकारसे होता है। सबका शरीर पंचभूतसे बना है इसलिए एकता है। समझो जैसे एक ईश्वर था, तो वह अनन्तकोटि ब्रह्माण्ड पुरुष विराट् था। एक ब्रह्माण्डसे दूसरे ब्रह्माण्डमें लड़ाई हो तो समझौता होता था। अरे भाई सब एक ही विराट्के अंग हैं तो इस ब्रह्माण्डवाले अमुक ब्रह्माण्डवालोंसे न लड़ें; क्योंकि ये सब एक ही विराट्के रोम कूपमें हैं। सारे विराट्में ईश्वर है और ईश्वरकी शक्ति थी, वह माता थी। महामाया सबकी माता है। योगमाया महामाया—ऐसे सब चलता था।

देखो; अब ईश्वरके स्थान पर राष्ट्र पुरुष हुआ। अनन्तकोटि ब्रह्माण्ड पुरुष विराट् है और एक ब्रह्माण्ड पुरुष है। तो एक ब्रह्माण्ड पुरुषमें पृथिवी माता है। पृथिवी मातामें राष्ट्र पुरुष है। राष्ट्र पुरुष है, राष्ट्र माता है। यह भेदज्ञान है। तो पहलेकी महामायाकी जगह भारतमाता है और ईश्वरकी जगह राष्ट्र पुरुष। अब आजकल तो ये समाज विज्ञानके जो लोग हैं, समाज विज्ञानके जाननेवाले प्राणी, मनोविज्ञानके जाननेवाले प्राणी, ये पुराने रिश्तोंको तो बेवकूफी बताते हैं और खुदको ज्ञानी बताते हैं। कोई भी अक्लमंद इस बातको समझ सकता है कि कितना विशाल दृष्टिकोण रख करके अनन्तकोटि ब्रह्माण्डके एक अद्वितीय अधिष्ठानको समझानेवाला तत्त्व ज्ञान कहाँ और महाराष्ट्र और गुजरातमें लड़ाई करानेवाला समाज शास्त्री विज्ञान कहाँ! महाराष्ट्री और गुजरातीमें लड़ाई करानेवाला तत्त्व एक, यह वर्तमान सामाजिक मनोविज्ञान है और एक अनन्तकोटि ब्रह्माण्डके एक अधिष्ठानसे परमात्माका बोध करानेवाला विज्ञान! तो इसकी महिमाको देखो!

ज्ञान वस्तु-प्रधान है और बुद्धि कर्तृप्रधान है। बुद्धिको जैसे घुमाओ घूम जायेगी, लेकिन ज्ञान जो चीज जैसी है उसका वैसा ही ज्ञान है। प्रमेय प्रधान ज्ञान होता है और मातृ प्रधान बुद्धि होती है—ऐसा समझो। प्रमाता प्रधान बुद्धि और प्रमेय प्रधान ज्ञान। बुद्धिकर्तृ, ज्ञान वस्तु तन्त्रम्।

ज्ञानके बारेमें थोड़ी बात गीतासे आपको और सुनावें। ज्ञान गीतामें एक पारिभाषिक शब्द है। पारिभाषिक माने तान्त्रिक—टेकनीक। एक निर्माण कार्य करनेवाला। हृदयमें आवे और एक निर्माण करे। ज्ञानका दो काम है। एक प्रमाण और दूसरा निर्माण। प्रमाण माने वस्तुके यथार्थ स्वरूपको बता देना और निर्माण

माने रचना करना। यह शिल्प ज्ञान कारीगरीका जो ज्ञान है वह तान्त्रिक ज्ञान है। यह ज्ञान जब दिलमें आता है, तब एक कारीगरी करता है।

कारीगरी क्या करता है, देखो ज्ञान, तान्त्रिक ज्ञान बताते हैं—

अमानित्वमदंभित्वमहिंसा क्षान्तिरार्जवम्।
आचार्योपासनं शौचं स्थैर्यमात्मविनिग्रहः॥ 13.7
इन्द्रियार्थेषु वैराग्यमनहंकार एव च।

इस तरहसे बताया—**एतज्ज्ञानमिति प्रोक्तमज्ञानं यदतोऽन्यथा**—यह क्या है? इसीको पारिभाषिक बोलते हैं। यह ज्ञानका साधन होनेसे ज्ञान पदवाच्य है। लक्षणा इसे बोलते हैं। लक्षणा तब होती है, जब अभिधावृत्तिसे काम नहीं चलता। अभिधावृत्ति जब बोलनेमें असमर्थ हो जाती है, जब किसी आदमीका नाम मालूम नहीं है, तो कैसे उसको बतावेंगे? बोलेंगे कि वह चश्मावाला। यह अभिधावृत्ति नहीं हुई। चश्मा जिसका लक्षण है, यह लक्षणा हो गयी। जिससे सच्चा ज्ञान, परमार्थ ज्ञान प्राप्त हो, उस ज्ञानके साधनको ज्ञान कहना, यह लाक्षणिक हो गया। इसीको पारिभाषिक बोलते हैं, इसीको तान्त्रिक बोलते हैं। तो ज्ञान किसको बोलते हैं?

अमानित्वं—अपनेको मानके भीतर मत ले आना। मान माने यह जो वजन तुम्हारा निकलता है। कभी-कभी, मन, डेढ़मन, दो मन, कोई तो महाराज मन भर भी नहीं पहुँचते हैं, कई तो अस्सी-नब्बे पौंडके बोचमें रह जाते हैं। तो यह वजन क्या है? कि मान है। और यह साढ़े तीन हाथ—यह मान है। जो उम्र है तुम्हारी पचास बरस, सौ बरस वह भी मान है। तो अमानित्वंका अर्थ है कि कालके भीतर जो शरीर पैदा हुआ है और मरेगा। और अमानका अर्थ हुआ जो साढ़े तीन हाथके घेरेमें/तुम्हारा शरीर होता है और जो दो मन, ढाइं मन वजन रखनेवाला है, वह शरीर तुम नहीं हो। अगर इसको तुम मैं मानते हो तो तुमको ज्ञान नहीं है, अमानित्व हुआ।

अदंभित्वं—अरे जैसे हो वैसे ही रहो भाई, बनते काहेको हो?

अहिंसात्वं—किसीको सताते क्यों हो? अदंभित्वं, अहिंसात्वं क्षान्ति—ये सब क्या है? कि इनका नाम ज्ञान है—

एतज्ज्ञानमिति प्रोक्तम् अज्ञानं यदतोऽन्यथा।

अब जरा इस दृष्टिसे देखो कि भगवान् ज्ञान देता है—**मत्त एव पृथग्विधा।** जो ज्ञानके लिए उद्यत है, माने जो सत्संग करते हैं, जो भले मानुस बनना चाहते

हैं, सदाचारी बनना चाहते हैं, धर्मात्मा बनना चाहते हैं, योगी बनना चाहते हैं, जिज्ञासु बनना चाहते हैं, इन चाहनेवाले और अपने विवेकके प्रकाशमें जाने हुए असत्‌का परित्याग करना चाहते हैं। अपनेको जो मालूम पड़ता है कि यह गलत और जो इसको छोड़ना चाहते हैं। ईश्वर उसको ज्ञान देता है—जो अपने जाने हुए गलतको छोड़नेको उद्यत है, दूसरेसे अकल उधार लेनेकी जरूरत नहीं है।

अगर तुमको कोई काम गलत मालूम पड़ता है तो उसको तुम छोड़नेके लिए तैयार हो कि नहीं? तुम अपने जजके फैसलेको मानते हो कि नहीं? जो आत्मा-जज बैठा हुआ है वह जो फैसला देता है कि यह तुम्हारा काम गलत, उसको माननेके लिए राजी हो कि नहीं?

आत्मा वैवस्वतो नाम—अन्तर्यामी सबके हृदयमें रहता है। इसके फैसलेको तुम मानते हो कि नहीं? उसने कहा कि तुमने बुरा किया, तुमने गलत किया, तुमने अच्छा किया, उसके फैसलेको तुम मानते हो कि नहीं? अपनी आत्माके फैसलेको झुठलाते हो, तो वह फैसला सुनाना बन्द कर देगा और उसके फैसलेको अगर मानते हो, तो वह फैसला देता रहेगा।

तो परमात्मा ज्ञान देता है—**एतज्ज्ञानमिति प्रोक्तम्** और वह ज्ञान देता है। दो टूक ज्ञान बिल्कुल विवेक।

ज्ञानके बारेमें तीन बातें हैं, एक तो ज्ञान दुःख भी देता है और दूसरे ज्ञान जड़ता भी देता है और तीसरे—जिसका ज्ञान होता है वह मरता भी जाता है। कितने जाने हुए लोग मर गये और कितनी जड़ चीजोंको हम जानते हैं और कितनी ही जानकारियाँ दुःखद होती हैं।

एक बहू-बेटे थे, उनके घरमें सास-ससुर—माँ-बाप थे। पुरुषके माँ-बाप और बहूरानीके सास-ससुर। तो वे दोनों कभी किवाड़ी बन्द करके कमरेमें बैठते थे, तो ये बहू-बेटेने कोई छेद बना रखा था और उसमें-से झाँकते कि हमारे सास-ससुर हमारे माँ-बाप बन्द कमरेमें क्या करते हैं? अब जो जानकारी उनको मिलती कि आपसमें वह ऐसी बातें करते जो बहू-बेटेके सामने करनेकी नहीं होतीं। अब जब वह जानकारी प्राप्त करके वे दोनों उठते, तो सास-ससुरके प्रति माँ-बाप उनको घृणा होती, द्वेष होता, दुश्मनी होती। इस जानकारीमें-से क्या निकला? दुःख निकला न!

एक बहू-बेटेने हमको बताया कि हम लोग जब बन्द कमरेमें बैठे

हुए होते हैं, तो हमारे ससुरजी आकर खिड़कीमें-से झाँकते हैं। हमारी और उनकी लड़ाई होती है—सिर्फ इसी कारण कि हम कमरेमें बैठते हैं और वे झाँकते हैं।

देखो जानकारी किसका कारण हुई? दुःखका कारण। अब ससुरजी और बहू-बेटेमें लड़ाई करानेवाली वह जानकारी हो गयी। जानकारी भी कभी-कभी दुःखद होती है।

असलमें जानकारी दुःखद नहीं होती, यह जानकारीका विषय ऐसा गन्दा चुना गया कि उस विषयमें-से दुःख निकला; ज्ञानमें-से दुःख थोड़े ही निकला। ज्ञान तो प्रकाशक है।

अच्छा, तो दुःख ज्ञानमें-से नहीं निकलता, विषयकी कुरूपता और सुरूपतामें-से, विषयके सौन्दर्यमें-से और असौन्दर्यमें-से दुःख निकलता है।

अच्छा, बोले—हम जड़को जानते हैं तो ज्ञान जड़ थोड़े ही है। ज्ञान तो जड़को अलग करनेवाला है। अरे तुम जानते हो और जड़ जाना जाता है। जड़से तुम्हारा अलगाव बतानेवाला ज्ञान है। और तुम जानते हो कि हम जड़से अलग हैं फिर भी उसीसे जाकर मिलते हो तो ज्ञान बेचारा क्या करे!

बोले—मरनेवालेके साथ एक हो गये कि हाय-हाय मर गये। ये दुनियादार लोग तो दिन भरमें बीस-पच्चीस दफे मरते हैं और बीस-पच्चीस दफे जिन्दा होते हैं। पैसा गया तो मरे, दूध-पानी गिर गया तो मरे, प्रियतम रूठा तो मरे, कि हाय बाबा मैं तो मर गया!

संसारी लोग मौतको बारम्बार बुलाते हैं। बेवकूफीको बुलाते हैं, दुःखको बुलाते हैं, झगड़ाको बुलाते हैं, इसमें ज्ञानका दोष नहीं है। ये ज्ञानका विषय ऐसा बनाते हैं और उसके साथ सम्बन्ध ऐसा जोड़ते हैं।

ज्ञान भी दो तरहका होता है, एक ईश्वर प्रसादज ज्ञान होता है, एक आत्म प्रसादज ज्ञान होता है।

ईश्वर प्रसादज ज्ञान कैसा होता है?

तेषामेवानुकम्पार्थमहमज्ञानजं तमः।
नाशयाम्यात्मभावस्थो ज्ञानदीपेन भास्वता॥ 10.11

हमारे हृदयमें अपनेको ब्रह्म न जाननेका जो अज्ञान छिपा हुआ है, उसके लिए आत्माके रूपमें स्थित होकर वृत्तिज्ञानका दीपक प्रज्वलित करता है ईश्वर। वृत्तिज्ञानके दीपके प्रकाशमें अज्ञान मिट जाता है और ईश्वर सिर्फ आत्माके रूपमें

रह जाता है। यह ईश्वर प्रसादज ज्ञान है। अभी दसवें अध्यायमें ही इसकी चर्चा आनेवाली है।

और देखो—

योमां पश्यति सर्वत्र सर्वं च मयि पश्यति।
तस्याहं न प्रणस्यामि स च मे न प्रणश्यति॥ 6.30
सर्वभूतस्थमात्मानं सर्वभूतानि चात्मनि।
ईक्षते योगयुक्तात्मा सर्वत्र समदर्शनः॥ 6.29
सर्वभूतस्थितं यो मां भजत्येकत्वमास्थितः।
सर्वथावर्तमानोऽपि स योगी मयि वर्तते॥ 6.31

भगवान् कहते हैं, 'क्षेत्रज्ञं चापि मां विद्धि'।

अर्जुन! जानो। यह कहनेका अभिप्राय—आत्म प्रसादज ज्ञान है। तुम जानोगे तब होगा। क्या जानें? कि **क्षेत्रज्ञं मां विद्धि**—यह जो आत्मा है इसको परमात्मा समझो। जो क्षेत्रज्ञ है सो 'माम्' है, सो परमात्मा है। क्षेत्रज्ञ है सो परमात्मा और परमात्मा सो क्षेत्रज्ञ जानो।

यह ज्ञानका उपदेश करते हैं। आत्म-प्रसादज ज्ञान है। परमात्मा कैसा? कि ज्ञानगम्य—

ज्ञानं ज्ञेय ज्ञानगम्यं हृदि सर्वस्य विष्ठितम्।

ज्ञान है, ज्ञानस्वरूप परमात्मा। परमात्मा स्वयं ज्ञान है और उसका अज्ञान जिससे नष्ट होता है, वह वृतिज्ञान परमात्माका दिया हुआ है। इस ज्ञानके लिए अमानित्वादि जो साधन है, वह परमात्माका दिया हुआ है। परमात्माके दिये हुए ज्ञानका मतलब यह होता है कि हमारी बुद्धिके पीछे जो परमात्मा बैठा हुआ है उसीकी सत्तासे उसकीके ज्ञानसे, उसीकी प्रियतासे सब कुछ प्रकाशित हो रहा है। वह परमात्मा सच्चिदानन्दघन है। **बुद्धिर्ज्ञानमसंमोहः**—असंमोह भी परमात्माका दिया हुआ है। 'दिया हुआ' माने—**भवन्ति भावा भूतानां मत्त एव**। 'मत्त एव' माने मेरी सत्तासे स्फुरित होता है असंमोह। असंमोहका अर्थ है अज्ञानकी निवृत्ति। यह कैसे? गीतामें ही देख लो—

कच्चिदज्ञानसंमोहः प्रनष्टस्ते धनंजय।

हे धनंजय! तुम्हारा अज्ञानरूप जो संमोह था, अज्ञानजन्य जो सम्मोह था, क्या वह नष्ट हो गया? तो सम्मोह जब नष्ट हो गया तो असंमोह कहेंगे उसको। गीताके अट्ठारहवें अध्यायमें श्रीकृष्णने अर्जुनसे पूछा है। वह तो अभी बता दिया

अर्जुनने—**मोहोऽयं विगतो मम**। मोह तो हो गया था अर्जुनको **धर्म संमूढ चेताः, कार्पण्यं। कृपया परयाविष्टः**। मोह हो गया।

भगवान् बताते हैं कि असंमोह कैसे मिले? यह समझो कि इसमें क्या बोले? बुद्धि तो मनुष्य सबको देता है, लेकिन वस्तुके यथार्थ स्वरूपका ज्ञान कम लोगोंको होता है, सबको नहीं होता।

अच्छा, एक और ज्ञान भी होता है। एक ऐसा ज्ञान होता है जो कभी-कभार होता है, कभी-कभार चला जाता है। तो फिरसे सम्मोह न होवे—ऐसा ज्ञान असम्मोह! बुद्धि, ज्ञान और ज्ञानके बाद फिर कभी सम्मोह न होवे। थोड़ी देर विवेककी रोशनी जाग्रत् होती है, विवेक जगता है लेकिन फिर सम्मोह हो जाता है। यह मालूम पड़ता है कि हम दृश्यसे अलग हैं।

देखो जो दृश्यको देखता है, वह दृश्यसे न्यारा होता है। यह बात तो पक्की है। पर यह प्रक्रिया अधूरी है। जिससे देखता है उससे न्यारा होता है, पर जो देखता है उससे दीखनेवाला न्यारा होता है कि नहीं—यह दूसरा सवाल है।

घटात् मृद पृथक् भवति। परन्तु मृच्छता घटः पृथङ् न भवति।

घड़ेसे मिट्टी जुदा मृत्तिका तो होती है; परन्तु मिट्टीसे घड़ा जुदा नहीं होता। तो, जड़से चेतन जुदा होता है, परन्तु चिन्मात्र जो अखण्ड वस्तु है, देश, काल, वस्तुसे अपरिच्छिन्न उससे जड़ जुदा नहीं होता। तो जड़ और चेतनका विवेक हो गया, यह बात कब समझे? जब हमको ठीक मालूम पड़ गया कि हम दृश्यसे अलग द्रष्टा हैं। यह बात कब मालूम पड़े? यह बत तब मालूम पड़े जब द्रष्टा ब्रह्म ही होवे। और जब द्रष्टा ब्रह्म होवे तो दृश्य नामकी कोई चीज होवे ही नहीं। दृश्यसे द्रष्टा अलग है, परन्तु द्रष्टासे दृश्य अलग नहीं है। यह वेदान्तका विचार अद्वितीयताकी सिद्धिके लिए है।

तो क्या सारा वेदान्त भेदकी सिद्धिके लिए है कि दृश्यसे द्रष्टा अलग है? दृश्य द्रष्टा दोनों अलग-अलग हैं, क्या वेदान्तका यही सिद्धान्त है?

वेदान्तका सिद्धान्त अद्वय तत्त्व है। अद्वय ज्ञान, अद्वय ब्रह्म, अद्वय तत्त्व— यह वेदान्तका सिद्धान्त है।

द्रष्टा जो है वह दृश्यसे न्यारा है—इसे 'व्यतिरेक' बोलते हैं और द्रष्टा दृश्यमें अनुगत है—इसको 'अन्वय' बोलते हैं और जो मूल तत्त्व है उसमें न अन्वय है न व्यतिरेक है। बच्चा जिज्ञासुको, ऋजु बुद्धि जिज्ञासुको समझानेके लिए अन्वय और व्यतिरेक, दृश्य और द्रष्टाका विवेक किया गया है।

अपनेको पहले ही दिन बड़ा-बूढ़ा न समझ लेना, पहले विवेकको समझना। विवेक यह होता है कि मैं जैसे घड़ेसे न्यारा वैसे दृश्य मात्रसे न्यारा। यह देह जो है यह घड़ेकी तरह ही है। पेट कैसा? कि घड़ेके पेट सरीखा। यह गला कैसा? कि आदमीकी गर्दन जैसा। आदमीकी नकल करके घट बना है। घट क्या? कि जो गढ़ा जाय। गढ़ा हुआ जो होता है—गढ़न्त, गढ़न्तका नाम घड़ा है।

अब दृश्यसे मैं न्यारा हूँ—इसका मतलब हुआ कि परिच्छिन्नसे मैं न्यारा हूँ।

आप यह बात ध्यानमें लो। क्योंकि दृश्य केवल मिट्टीके ढेलेका नाम नहीं है। कालमें जो क्षण-क्षण है और दृश्यमें जो कण-कण है और कण-कणका जो विस्तार है, वह तीनों दृश्य हैं। कल्पित कण-कणसे देशकी समष्टि बनी, वस्तुकी समष्टि बनी, कल्पित क्षण-क्षणसे कालकी समष्टि बनी और आत्मा जो है सम्पूर्ण देशरूप दृश्यसे, सम्पूर्ण कालरूप दृश्यसे और सम्पूर्ण वस्तुरूप दृश्यसे न्यारा है। अर्थात् अखण्ड अद्वितीय ब्रह्म है। और इस अखण्ड अद्वितीय ब्रह्मसे न्यारी कोई चीज नहीं है।

तो 'असंमोह'का अर्थ यह हुआ कि आप चाहे कहीं भी विचरो, कहीं संमोह न हो।

तत्र को मोहः कः शोक एकत्वमनुपश्यातः।

रोज आप ईशावास्योपनिषद्का पाठ करते हैं कि जब तुमने एकत्वका दर्शन कर लिया तो मोह कहाँ, शोक कहाँ?

कच्चिदज्ञानसंमोहः प्रनष्टस्ते धनंजय।

बार-बार समझमें आवे और बारम्बार मोह होवे। एक आदमीके सामने भोजन रखा गया था। एक बच्चा दौड़ा आया, कहा ठहरो-ठहरो! क्या बात है? कि इसमें जहर मिला हुआ है। अच्छा! जहर मिला हुआ है? हाथ रुक गया उसका। फिर देखा, भाई कचौड़ी तो बहुत बढ़िया है, जरा खालो। दही बड़े तो बहुत अच्छे बने हैं। अरे तुमको यह मालूम भी हो गया कि जहर मिला हुआ है और फिर बड़े, कचौड़ी या खीरकी लालच होती है, तो इसका क्या मतलब है। इसका मतलब कि इसमें जहर है यह ज्ञान तुमको नहीं हुआ। ज्ञान यदि हो जाता फिर खानेका लोभ क्यों होता?

यह जो द्रष्टा और दृश्यका विभाग है, इसमें दृश्य विभाग, बिलकुल द्रष्टासे न्यारा है। अपनेको द्रष्टा समझनेका अभिप्राय ही यह है कि जो देश-

परिच्छिन्न, काल-परिच्छिन्न वस्तु-परिच्छिन्न जो दृश्य है, वह दृश्य में नहीं हूँ, मैं इससे न्यारा हूँ। यह हुआ विवेक। और इस विवेकसे अपनी अखण्डता, अद्वितीयता, ब्रह्मताका हुआ ज्ञान और जब अपनी ब्रह्मताका हुआ ज्ञान तो वह जो देश-परिच्छिन्न, काल-परिच्छिन्न, वस्तु-परिच्छिन्न अर्थात् परिच्छिन्नता, परिच्छिन्नताकी समष्टि अर्थात् देश काल वस्तु—ये सब-के-सब बाधित हो गये। फिर क्या कहा—देखो, बोले—सुईका छेद भी दिख रहा है और अपना साढ़े तीन हाथका लम्बा चौड़ा शरीर भी दिख रहा है और फिर भी सुईके छेदमें घुसना चाहता है। सुईका छेद अगर सुईका छेद मालूम पड़ता है तो तुम लम्बे-तडंगे पंजाबी जवान सुईके छेदमें घुसना क्यों चाहते? अरे भाई, वह घुसने लायक जगह नहीं है।

तो अपनेको ब्रह्म भी जानना और शरीरमें अन्त:करणके छोटेसे छेदमें जिसमें कानी उंगली भी नहीं घुसती, उसमें घुस करके फिर 'मैं' करना; अपनेको ब्रह्म भी जानना और अन्त:करणके नन्हे-मुन्ने छेदमें घुस करके फिर उसको भी मैं मानना—ये दोनों बात कैसे होगी?

तो ज्ञान जहाँ है वहाँ असम्मोह है। असम्मोह माने फिरसे सम्मोह नहीं है—मोह माने अपनेको जीव मानना। ऐसे समझो कि मोह माने अपनेको ब्रह्म न जानना और सम्मोह माने अपनेको जीव मानना। और असम्मोह माने अपनेको जीव माननेकी भ्रान्ति और अपनेको ब्रह्म न जाननेका अज्ञान—दोनोंका मिट जाना, अज्ञानकी निवृत्ति। तो बुद्धि होना, ज्ञान होना और असम्मोह होना—ये तीनों तीन दशाएँ हुईं।

मोहोऽहं विगतो मम्।

कच्चिदज्ञानसंमोहः प्रणष्टस्ते धनंजय।

अब देखो अर्जुनकी ओरसे कोई बोले—

नष्टो मोहः स्मृतिर्लब्धा त्वत्प्रसादान्मयाच्युत।

यह स्थिति अर्जुनको किसने दी? तो अर्जुनको 'ईश्वर प्रसादजा' सिद्धि है। वामदेवको 'आत्मप्रसादजा' सिद्धि है। शुक्रदेवादि तो बिल्कुल शिव हैं, विष्णु हैं, सनत्कुमार हैं। उनको अन्त:करण-शुद्धिके लिए साधन नहीं करना पड़ा है—'आत्मप्रसादजा बुद्धि' हैं और न तो ईश्वरसे वरदान लेना पड़ा है, स्वत: उनकी ब्रह्मता है, उनको अविद्याकी निवृत्तिके लिए कोई विशेष प्रयास नहीं करना पड़ा।

अब आगे बताते हैं कि ईश्वर देता है समझ, असंमोहके बाद। समझका अर्थ यह है कि दुनियामें पाप तो होता ही रहता है, उपद्रव करनेवाले उपद्रव करनेसे चूकते नहीं।

क्षमा बड़न को चाहिए छोटन को उत्पात।

क्षमा करनेका अर्थ है कि अपने अन्दर प्रतीकार करनेका सामर्थ्य होवे, तब भी अपराधीको क्षमा कर देना।

अपराधी माने स्वयं पतित। अपराध शब्दका अर्थ पतित है। अपराध माने जो साधनासे च्युत हो गया, उसे अपराध बोलते हैं। राध माने राधना—आराधना-साधना। और जो इससे अपगत है अपराधनम् अपराध:। जिसमें साधनाका भाव नहीं है। जिसमें साधनाका भव होता है, वह तो अपने अन्त:करणकी शुद्धि पर स्वयं ध्यान रखता है कि हमारे अन्त:करणमें यह अशुद्धि आयी और वह उस अशुद्धिसे बचता है। लेकिन जिसके अन्त:करणमें साधनाका भाव नहीं रहता है, वह स्वयं अपराधसे बचनेकी कोशिश नहीं करता, जब उसके मनमें अपराधका भाव आता है, तब वह कर बैठता है अपराध। बोले कि भाई इसके मनमें तो साधनाका भाव नहीं है, इसलिए इसने अपराध किया। अब जिसके प्रति किया गया उसके मनमें साधनाका भाव है कि नहीं? यदि वह अपराधी पर क्रोध करेगा तो उसके मनसे भी साधनाका भाव निकल जायेगा, तो दोनों कहाँ गिरेंगे? दोनों एक ही भूमिकामें गिरेंगे। दो आदमी अगर आपसमें गुत्थमगुथ हो रहे हैं, तो दोनों एक ही भूमि पर गिरेंगे, चाहे दोनों आसमानमें खड़े होकर लड़ें। यह मैं साधुओंके बारेमें कह रहा हूँ।

एक वर्णाश्रम धर्मके अनुसार सद्गुणोंकी व्यवस्था होती है, तो सबकी अपनी-अपनी ड्यूटी होती है भला! सैनिक है, उसकी अपनी ड्यूटी है, वह तो सेनापतिकी आज्ञासे बन्दूक चलाता है और सेनापतिकी आज्ञासे बन्दूकको रख देता है। सैनिकको शत्रुके मारनेका पाप नहीं लगता है, बल्कि अपने धर्मकी रक्षाके लिए, मातृभूमिकी रक्षाके लिए शत्रुको मारता है तो उसको अपने धर्मपालनका पुण्य होता है। अर्जुनके सामने यह समस्या है कि नहीं है? अर्जुन कहता है मरनेमें पुण्य है भगवान् कहते हैं मारनेमें पुण्य है। यह आप गीताका सिद्धान्त देख लेना—

हतो वा प्राप्यसि स्वर्गं जित्वा वा मोक्ष्यसे महीम्।
तस्मादुतिष्ठ कौन्तेय युद्धाय कृतनिश्चय:॥ 37॥

अर्जुन कहता था मरना पुण्य है, भगवान् कहते थे नहीं मरना नहीं तू सैनिक है मारना पुण्य है। यह दोनोंमें फर्क था।

यह तो ऐसा हुआ जैसे एक गाँवमें कोई व्यवस्था पहलेसे नहीं थी कि सुरक्षा करनेके लिए कौनसे लोग रहें, आग बुझानेके लिए कौनसे लोग रहें, झगड़ा सुलझानेके लिए कौनसे लोग रहें, बच्चोंको पढ़ानेके लिए कौनसे लोग रहें, व्यवस्था नहीं थी, तो गाँवके एक कोनेपर आग लगी, तो हल्ला हुआ कि सब लोग दौड़ो उधर आग-बुझानेके लिए। गाँवमें एक तरफ चोर आया, तो बोले—सब लोग दौड़ो चोर पकड़नेके लिए। एकके घरमें साँप निकला, बोले—सब चलो साँप पकड़नेके लिए। अरे भाई, व्यवस्थापूर्वक जब रहते, साँप पकड़नेवाला अलग होता, आग बुझानेवाला अलग होता, चोर पकड़नेवाला अलग होता, इसीको वर्णव्यवस्था बोलते हैं, इसीको आश्रम-व्यवस्था बोलते हैं।

विरक्ति प्रधान, वैराग्य-प्रधान जो धर्म होता है वह दूसरा होता है और राग प्रधान धर्म दूसरा होता है। राग प्रधानवाले तो वैराग्यवानोंको हमेशा रागी बनानेकी कोशिश करते हैं, परन्तु वैराग्य-प्रधान जो व्यक्ति होता है वह हमेशा सबको वैराग्यवान बनानेकी कोशिश नहीं करता। वैराग्यवान तो जन्म-जन्मान्तरसे जो पुण्यात्मा होते हैं और ईश्वरकी कृपा पात्र होते हैं उनके चित्तमें निवृत्तिका, वैराग्यका उदय होता है। वह दूसरी चीज है, वह सबके लिए नहीं है।

मैंने कल शर्माजीको सुनाया था, एक बार वृन्दावनमें गोलवलकर आये थे—राष्ट्रीय स्वयं संघके गुरुजी, जो अभी हैं। उन्हींकी बात है, दूसरेकी नहीं। जब ये आते हैं तो इनके सब स्वयं सेवक इकट्ठे होते हैं, लाठी ले-लेकर, आगरा डिविजनके, मथुरा डिविजनके, वृन्दावनमें इकट्ठे हुए। कई हजार थे सेवक। तो हमारे एक मित्र बड़े वेदान्ती हैं विजय शर्मा, अच्युत मुनिजीके शिष्य हैं, बड़े पुराने हैं, वे भी उनके भक्त हैं। उसमें काम करते हैं, तो वे भी आये हुए थे। मेरे पास आये, तो मैंने पूछा—तुम जाकर गोलवलकर गुरुजीसे पूछना कि अब हम सब लोग लाठी-भाला सीखें क्या? हम भी लाठी उठायें? हिन्दुस्तान-पाकिस्तान बना ही था उस समय। और बड़ा जोश था। तो वह लाठी-भाला चलाना, वह भागना और वो क्लास लगाना, उस समय गाँधीजीकी मृत्यु तो हुई नहीं थी, इसलिए उनका प्रभाव बढ़ रहा था। तो मैंने पूछा—मैं भी लाठी उठाऊँ? तो महाराज ऐसा बढ़िया उत्तर भेजा गुरुजीने, गुरुजीने कहा—तब हम किसके लिए लाठी उठावेंगे? हम तो आप महात्माओंकी रक्षाके लिए, वेदोंकी रक्षाके लिए, धर्मकी रक्षाके

लिए, भारतीय संस्कृतिकी रक्षाके लिए लाठी उठायी है। आप लोग सुरक्षित रहेंगे अपने स्थानपर, तब हमारा लाठी चलाना सफल होगा। और आप ही अगर अपनी जगहसे गिर गये तो हम लाठो लेकर बचावेंगे किसको? आपकी रक्षाके लिए हमने लाठी उठायी है। ऐसी खबर भेजी।

हम उनके राजनीतिक विचार, उनके संघकी जो प्रणाली है, उसमें 'हाँ' 'ना', नहीं बताते हैं, उसकी आलोचनासे हमारा अभिप्राय नहीं है, परन्तु भई यह क्षत्रिय शक्ति किसीकी रक्षाके लिए होती है। ब्राह्मण शक्ति जो है वह किसीकी रक्षाके लिए होती है, वैश्यकी पोषण-शक्ति भी किसीकी रक्षाके लिए होती है श्रम-शक्ति भी किसीकी रक्षाके लिए होती है। वैराग्यकी भी एक परम्परा है, ज्ञानकी भी एक परम्परा है, ब्रह्मनिष्ठाकी भी एक परम्परा है। इसकी रक्षाके लिए लड़ाई होती हैं। लड़ाई मैं और तूकी रक्षाके लिए नहीं होती। सैनिक सेनापतिकी आज्ञासे बन्दूक चलाता है, उस सैनिकके दिलमें द्वेष नहीं है, वह तो आज्ञाकारी है।

तो 'क्षमा' माने क्या होता है? देखो, क्षमा एक धर्म है और यह अन्तःकरणके नियन्त्रणका सामर्थ्य है। इससे पता चलता है कि मनुष्यके हृदयमें ईश्वर है कि नहीं? क्षमा व्यक्तिगत धर्म है, यह जातिगत धर्म नहीं है। जातिका धर्म क्षमा नहीं है। सम्प्रदायका धर्म क्षमा नहीं है। यह मानवताका धर्म क्षमा नहीं है। मानवता किसीको क्षमा करेगी, किसीको नहीं करेगी। सम्प्रदाय किसीको क्षमा करेगा किसीको नहीं करेगा, जाति किसीको क्षमा करेगी, किसीको नहीं करेगी, राष्ट्र किसीको क्षमा करेगा किसीको नहीं करेगा। परन्तु जो अपने अन्तःकरणको अपने नियन्त्रणमें लेकरके परमात्माकी ओर चल रहा है, उसके लिए जो बात है, सामर्थ्य रहते हुए भी अपराधीको दण्ड नहीं देना, उसको क्षमा करना। यह क्षमा कहाँसे आती है? ईश्वरसे आती है, भीतर बैठ करके ईश्वर क्षमा देता है।

इस प्रसंगको फिर सुनावेंगे।

बुद्धिर्ज्ञानमसंमोहः क्षमा सत्यं दमः शमः।

भक्ति अपनेको कैसे विलक्षण रूपमें प्रकाशित करती है, इसकी भी अपनी एक पहचान होती है। बुद्धिमें पहचाननेकी शक्ति है। स्त्री अपनेको पुरुषसे अलग करके पहचान कराती है। और पुरुष स्त्रीको अलग करके अपनी पहचान देता है। सब अपनी-अपनी पहचान, अपना-अपना लक्षण, अलग-अलग लिये हुए हैं। जो चीज जैसी है उसको वैसा ही समझना—यह तो ज्ञान है। और समझनेकी जो शक्ति है वह बुद्धि है। राग-द्वेष हो चित्तमें तो समझ वैसी ही हो जाती है। जिससे राग होता है उसका दोष नहीं दिखता, जिससे द्वेष होता है उसका गुण नहीं दिखता। राग-द्वेष अन्धे बना देते हैं।

भगवान् बुद्धि दे और फिर किसीसे राग-द्वेष न दे। पक्षपात न हो, दुश्मनी न हो, क्या विचित्र है। फिर, बुद्धि चंचल न हो। यह भी हमने देखा है। अब देखो फोटो लेनेके लिए कैमरा तो अपने पास है, पर जिसकी फोटो लेनी है, वह अपना फोटो न खिंचवाना चाहे, ढँक ले अपनेको, तो कैसे चलेगा? शुरु-शुरुमें गीताप्रेस वालोंका ऐसा ख्याल था कि फोटो नहीं खिंचवाना चाहिए। तो बड़ा मजा आता था उस समय। जयदयालजी गोयन्दका फोटो नहीं खिंचवाते थे, तो जयदयाल डालमियांने कहा कि सन्ध्या-वन्दन करते समय ले लीजिये इनकी फोटो। अब संन्ध्या-वन्दन करते समय उनको शंक़ा हो गयी तो उन्होंने अपना जो अंगोंछा था, वह मुँह पर डाल लिया। फोटो आयी तो घूंघट काढ़े हुए, बड़ा मजा आया। माने ज्ञानमें जो वस्तुका स्वभाव है, उसका ज्ञान होना चाहिए, जो वस्तुका स्वभाव है, स्वरूप है, लक्षण है, वह प्रगट होना चाहिए। अपने अन्दर सामर्थ्य हो और वस्तु अपने ऊपर पर्दा डाल ले तो काम कहाँसे चले!

तो निर्मल ज्ञान होना चाहिए। वस्तु निर्मल होनी चाहिए। अच्छा फिर ज्ञान भी हो गया लेकिन बार-बार सम्मोह हो जाता है।

सम्मोह कैसे होता है?

देखो, आदमी जानता है कि झूठ बोलना बुरा है और सच बोलना अच्छा है, लेकिन जब स्वार्थजी आते हैं बीचमें और बुद्धिको यह मालूम पड़ता है कि यहाँ तो झूठ बोलनेसे ही अपना स्वार्थ बनेगा, इसके लिए बुद्धि ऐसी-ऐसी बात गढ़ती है, ऐसे-ऐसे काम करती है जो नहीं करना चाहिए। तो सम्मोह हो गया न!

सम्मोहके चक्करमें भी मत फँसो। यह भी भगवान् देते हैं। भीतर जो बैठे हैं परमात्मा, उन्हींकी रोशनीमें यह चीज आती है। वेदमें ऐसे लिखा है कि जब भगवान् किसीको ऊपर उठाना चाहते हैं तो अच्छी-अच्छी चीजें उसमें प्रकाशित करते हैं, और जब उसको नीचे गिराना चाहते हैं, तो बुरी-बुरी बातें उसके दिमागमें उठती हैं। भला ईश्वर ऐसा क्यों करने लगा? जो संस्कार हैं पहलेसे हैं, बुरे संस्कारसे बुरे भावका उदय और अच्छे संस्कार जिसके चित्तमें हैं उसके अच्छे भाव उदय होते हैं। आदमीको देखकर पता चल जाता है कि यह किस रास्ते पर चल रहा है और कहाँ पहुँचेगा! जो उन्नतिके मार्गपर चल रहे हैं वे अच्छे रास्तेपर पाँव सँभाल-सँभालकर चलते हैं। जो अवनतिके रास्तेपर चल रहे हैं, वे बिना अपना पाँव सँभाले धड़ल्लेसे नीचे गिरते जा रहे हैं। जिनके द्वारा अभ्युदयनीय कर्म होते हैं, जो सन्ध्या-वन्दन करता है, प्रसादका आदर करता है, ईश्वरका स्मरण करता है, गुरु-शास्त्रके प्रति श्रद्धा रखता है, वह ऊपर जाता है और जो पतनीय कर्म कर रहा है वह नीचे जायेगा।

ईश्वर बड़ी कृपा करके क्षमा देता है। यह क्षमा कमजोरकी निशानी नहीं है समर्थका लक्षण है। दंड देनेका सामर्थ्य होनेपर भी—'जा भाई, तेरा भला हो'—ऐसा भाव मनमें आये। यह क्षमा शब्द 'क्षम् सामर्थ्य क्षम् अनुकम्पायां', एक तो कृपाके अर्थमें होता है—अनुकम्पाके अर्थमें और एक सामर्थ्यके अर्थमें। 'क्षम्' धातु है। क्षम सामर्थ्य भी है और क्षम कृपा भी है—अनुकम्पा भी है।

तो; एक तो समर्थ पुरुषको बोलते हैं कि यह क्षम है। इस अर्थमें सक्षम शब्द नहीं बनता। हिन्दीमें कई शब्द जो हैं वे संस्कृतकी प्रकृतिसे थोड़ा विपरीत व्यवहारमें आते हैं, जैसे बोलते हैं 'सशक्त' है। अब संस्कृतकी प्रकृतिमें 'सशक्त' शब्द नहीं है। 'शक्त' है। शक्त माने शक्तिमान, शक्तिवाला, जिसके शक्ति हो उसे शक्त बोलते हैं। 'शक्ति अस्यास्तीति शक्तः-मत्वर्थी अत् प्रत्यय' हो गया। अब संस्कृतमें अगर सशक्त बोलेंगे तो वह अशुद्ध हो जायेगा, पर हिन्दीमें सशक्त शब्द खूब चलता है। इसी प्रकार 'सक्षम' शब्द जो है, यह केवल क्षम है, इस कर्ममें यह क्षम है, समर्थ है योग्य है, क्षम कहनेसे ही काम चलेगा, सक्षम बोलनेकी

जरूरत नहीं पड़ती, पर हिन्दीमें चलता है। सक्षम माने संस्कृतमें होगा क्षमा सहित; सामर्थ्यके लिए नहीं होगा।

देखो, अपराध किससे नहीं होता? आपने सुना होगा कि ईसा कहीं जा रहे थे। देखा, एक मैदानमें बड़ी भीड़ थी, क्या हुआ कि एक चोर पकड़ा गया था, उसको ढेला मारनेवाले थे, चिल्लाते—ढेला मार-मारके मार डालो। बड़ी भीड़ इकट्ठी हुई। सब लोग ढेला ले-लेकर आये थे, ईसाने पूछा—यह काहेकी भीड़ है? बोले—चोर पकड़ा गया है, उसको ढेलेसे मार डालेंगे। हमने न्याय किया है, दण्ड दे रहे हैं अपराधीको। ईसाने कहा—भाई, इसने अपराध किया, तुमने इसको दण्ड दिया, न्याय किया, अब हमारी भी कुछ सुन लो, जिसने कभी चोरी न की हो, वह पहला ढेला मारे। सबके हाथ रुक गये। सोचे बचपनसे अबतक मिठाईकी चोरी बहुतोंने की, पैसेकी चोरी, एक पैसा, दो पैसा उठाया घरमें, बचपनमें किताबकी चोरी की, अच्छा अपना तो भूल गया न! यह विधाताकी सृष्टि जो है इसमें दोष और गुण दोनों होता है।

गुन दोष मय, विश्व कीन्ह करतार।
संत हंस गुन गहहिं पय, परिहरि वारि विकार॥

इस विश्वमें ऐसा कोई नहीं होता जिसके अन्दर गुण और दोष दोनों न हों। जिससे दुश्मनी होती है उसका दोष-दोष देख लेते हैं और जिससे दोस्ती होती है उसका गुण-गुण देख लेते हैं और अपने दोष तो भूल ही जाते हैं। दूसरेका देखते हैं तिल भरका दोष और अपना डोल भरका नहीं देखते हैं। अपनी गलती मनुष्यकी दृष्टिमें नहीं आती है। क्यों नहीं आती? अपनेमें ब्रह्म भाव हो तब न! तो अज्ञातरूपसे भी अपनेमें ब्रह्मभाव रहता है। इसलिए आदमी अपने कर्मको, अपनी सुन्दरताको अपने सौन्दर्यको सबसे बढ़िया समझेंगे। अपनी बुद्धिको सबसे बढ़िया समझेंगे।

हमने देखा है जिनकी नाक टेढ़ी है वे अपने होंठकी कट बताते हैं कि क्या बढ़िया पानकी तरह है। और जिनके होंठ मोटे हैं वे भौंहोंकी बनावट बताते हैं। कहीं-न-कहीं अपनेमें सुन्दरता ढूँढ लेंगे। क्योंकि असलमें तो ब्रह्मभाव अज्ञातरूपसे भीतर-भीतर काम करता ही रहता है। इसलिए बिल्कुल दुष्ट अपनेको कोई समझ नहीं सकता। दूसरेके दिलको दुष्ट समझेगा। और दूसरेको अगर अच्छा समझेगा भी, शिष्ट समझेगा भी, तो अपनी बुद्धिसे उसकी बुद्धिको थोड़ी कम जरूर समझेगा, कहेगा। हम अपने गुरुको भी, वे भी जब कोई काम

करते हैं, और वह काम हमारी बुद्धिके अनुसार नहीं होता है तो उनके बारेमें कहते हैं कि वह भोले-भाले हैं, संसारकी बात नहीं समझते। माने उनसे ज्यादा हम समझते हैं इस बातको। यह अपनेमें पूर्णताकी जो अज्ञातरूपसे अनुगति है, अज्ञात रूपसे जो ब्रह्मभाव है, वह अपनेको गुरुसे भी श्रेष्ठ बना देता है। ऐसे कहते हैं—भक्तोंने हाथ जोड़-जोड़कर, खिला-पिलाकर भगवान्‌को बहका दिया, बोले—भाई, भगवान् भोले-भाले हैं।

इसका अभिप्राय समझो—संसारमें जितनी भी वस्तुएँ होती हैं सबका अपना-अपना एक लक्षण होता है। स्त्रीका एक लक्षण, उसकी नाकका एक लक्षण, आँखका एक लक्षण, कानका एक लक्षण, भौंहका, पलकका, सबका जुदा-जुदा लक्षण। यह सृष्टि भेदमयी है। इसमें अभिन्न यदि कोई है तो परब्रह्म परमात्मा। यदि तुम इसके भेदको सह नहीं सकते व्यवहारमें, तो तुमको जिन्दा रहनेका कोई हक नहीं है। सह अस्तित्व ही एक मात्र शरण है इस विश्व व्यवहारमें, विश्व प्रपंचमें। स्त्रीमें भी है, पुरुषमें भी है। पुरुषकी सहकर स्त्री रहे, स्त्रीकी सहकर पुरुष रहे, मनुष्यकी सहकर पशु रहे, पेड़-पौधेकी सहकर मनुष्य रहे, प्राणियोंकी सहकर पेड़-पौधे रहें। इस संसारमें इसके सिवाय और कोई गति नहीं है।

अच्छा; मान लो एक आदमीने किया अपराध दूसरेने कहा कि इनको गुस्सा आया, हम इनको दण्ड देंगे। बोले—अच्छा तुम दण्ड दोगे, तुम पुलिस बन रहे हो? कानून अपने हाथमें ले रहे हो, हम तुमको दण्ड देंगे। तो पुलिसने कहा—हम दोनोंको दण्ड देंगे। मजिस्ट्रेटने कहा कि पुलिसका बड़ा भारी अपराध है, दोनोंको एक साथ पकड़ा। जज कहेगा कि मजिस्ट्रेटने गलत फैसला दिया। एक राजा जब किसी बातको मानेगा तो दूसरा राजा कहेगा कि यह अन्यायी है। जबतक बात ईश्वरके दरबारमें नहीं पहुँचेगी, तबतक खत्म नहीं होगी। सारी सृष्टि क्रोधमय हो जायेगी। और, बाबा एकने किया गलत और तुम कह दो—'ना' वहीं खत्म। संसारके काटनेका तरीका दण्ड देना नहीं है, संसारको काटनेका तरीका क्षमा है।

भगवान् देते हैं—**क्षमा सत्यं दमः शमः**। जिसको फँसाना होता है, उसको 'अक्षमा' देते हैं, जिसको छुड़ाना होता है उसको क्षमा देते हैं, जिसको सताना होता है, उसको सम्मोह देते हैं। जिसको नहीं सताना होता उसको असंमोह देते हैं।

एक गोरुजी होते हैं, एक गुरुजी होते हैं। गुरुके भी दो भेद होते हैं—

हरहिं शिष्य धन, शोक न हरहीं।
सो गुरु घोर नरक महँ परहीं॥

तो एक गुरुजी थे। अपने एक चेले (शिष्य)को अच्छा खाना न दें, कपड़ा न दें, और एक चेलेको अच्छा खाना दें, अच्छा कपड़ा पहननेको दें। तो एक महात्माने पूछा—ऐसा क्यों करते हो, अपने दो चेलोंमें पक्षपात करते हो? बोले—पक्षपात नहीं करते हैं, जिसको संसार चाहिए उसको संसार दे रहे हैं, जिसको परमार्थ चाहिए उसको परमार्थ दे रहे हैं।

कोई जबरदस्ती नहीं देता, यह भी ध्यान रखना। अभी आज एकने सबेरे हमसे पूछा कि सत्संगका असर क्यों नहीं पड़ता हम लोगों पर? सत्संग है कि कोई आग है कि शरीर जलने लग गया? यह स्थूल शरीर पर असर डालनेके लिए नहीं होता है और सूक्ष्म शरीर पर तबतक असर नहीं पड़ता जबतक वह आदमी खुद असर लेनेके लिए तैयार न हो। सूक्ष्म शरीर तो इच्छात्मक है, जब जिज्ञासु स्वयं कहेगा कि हमारा अन्तःकरण शुद्ध हो तो शुद्ध होगा और वह कहे कि हमारा मान-सम्मान बढ़े तो सत्संग करके उसका अन्तःकरण थोड़े ही शुद्ध होगा? अहंकार बढ़ा, हमारी जानकारी बढ़ गयी, सिंहासन पर बैठकर उपदेश करने लग गये, बोले—इसका अर्थ यह है, चार-छह बात समझ गये और पाँव धुलवाने लग गये, ऐसे तो सत्संग नहीं बनता।

तो; क्षमा करनेसे संसारकी निवृत्ति होती है और अक्षमा करनेसे संसार बढ़ता है। अपने रास्ते चलो भाई—**सत्यं दमः शमः क्षमा**। सत्य शब्द वैसे बोला जाता है परन्तु वाणीमें ही सत्य- असत्यका भेद होता है। जैसा अपना अनुभव है, चाहे इन्द्रियसे हो, चाहे मनसे हो, चाहे बुद्धिसे हो, अपने अनुभवके द्वारा दूसरेके अन्तःकरणमें ज्यों-का-त्यों संचारित करनेके लिए जो शब्द बोला जाता है उसको **सत्य** कहते हैं। जो वक्ताकी विवक्षा है—बोलनेकी इच्छा, वह अगर यह चाहता हो कि हम समझते हैं कुछ और यह सुननेवाला समझ जाय कुछ, तो उसे सत्य नहीं बोलते हैं। वक्ताके मनमें जो बात होनी चाहिए, कि जैसा अनुभव मिला है वही अनुभव सुननेवालेके हृदयमें प्रकाशित हो जाय इस इच्छासे बोला हुआ जो योग्य शब्द होता है, उसको सत् कहते हैं। जैसा देखा जैसा सुना, जैसा अनुभव किया, उसको दूसरेकी बुद्धिमें संक्रान्त होनेके लिए वैसी ही वाणीका उच्चारण करना—इसका नाम 'सत्' है।

इसमें एक बात और है, कभी-कभी सत् बोलते हैं लोग; परन्तु दूसरेको हानि पहुँचानेके लिए बोलते हैं। ऐसा सत्य जिसमें हित न हो, वह सत् नहीं है। वह तो अपने दिलका जहर सत्में घोल दिया।

महाभारतमें सत्यका निर्णय किया है—

न सत्यवचनं सत्यं नासत्यवचनं मृषा।
यद्भूतहितमत्यन्तमेततद् सत्यं मतं मम॥

ज्यों-का-त्यों किसी बातको कह देना—इसका नाम सत् नहीं है और बातको बदलकर कहना—इसका नाम झूठ नहीं है। बोले—तब सच और झूठ क्या है? जिसमें प्राणियोंका परम कल्याण हो, उसको सत्य बोलते हैं।

देखो; इसका गुर बता देते हैं कि यह बात कही क्यों जाती है! गुर यह है कि जो सत् होता है वह ज्ञानके विरुद्ध नहीं होना चाहिए—यह तो पहली परिभाषा बतायी। हितके विरुद्ध न हो। जैसा ज्ञान हो वैसा ही हो, पर आनन्दके विरुद्ध न हो, यह बात भी तो देखनी चाहिए। क्योंकि सत्-चित्-आनन्द—ये तीनों जुदा-जुदा नहीं होते। जो सत् है सो चित् है। जो चित् है सो आनन्द है। तो तुमने सत्को तो पकड़ा और चित् छोड़ दिया, तो झूठ हो गया। और सत्को पकड़ा, चित्को भी पकड़ा, परन्तु आनन्दको छोड़ दिया, तो भी असत् हो गया—दु:ख हो गया। तो वाणी ऐसी बोलनी चाहिए जो सत्को भी न छोड़े ज्ञानको भी न छोड़े और आनन्दको भी न छोड़े। माने हमारी वाणीसे सच्चिदानन्दका झरना झरे। माने गाली देनेके लिए जो हम बोलते हैं उसका नाम सत् नहीं, दूसरेको दु:ख पहुँचानेके लिए जो भाषण करते हैं, उसका नाम सत् नहीं है, सत्य वह है जो सत्य वस्तुको दूसरेके हृदयमें भरे। सत्यज्ञान और सत्य आनन्दको ही दूसरेके हृदयमें जो भरे, उस सच्चिदानन्दमयी वाणीको ही असलमें सत्य बोलते हैं। इस परिभाषाको रख लो ध्यानमें।

और यदि कहो जो सच्चिदानन्दको न जाने वह क्या करे? तो बोले—जितना जाने उतना बोले। जितना जाने कि इसमें इसका भला है और यह बात सच्ची है और जैसा मेरा ज्ञान है—अनुभव है वैसा ही मैं बोल रहा हूँ, जितना ज्ञान है उतना बोले।

और, एक बात—बोलनेकी जरूरत हो तब बोले। बात-बातमें कुछ-न-कुछ बात न बनावे। आनन्द अपना आत्मा तो है ही। जरूरत हो तब बोले। अपनी जरूरतसे न बोले दूसरेकी जरूरत हो तब बोले।

आवश्यक बोले, समयसे बोले। यह नहीं कि भोजनके समय शौचालयकी चर्चा करना प्रारम्भ कर दे।

एक आदमी भोजन कर रहा था, दूसरे सज्जन अब आकर बोले—आज तो हमने महाराज जुलाब ले लिया था सो ऐसे पतले-पतले दस्त लगे। अब बताओ यह सच्ची बात है कि नहीं? बात तो सच्ची है, लेकिन वे समय नहीं कहीं गयी न! किसीके घरमें ब्याह हो, और उसका कोई रिश्तेदार मर गया, तार आया, जिसके हाथ लगा, वह जाकर मंडपमें जहाँ कन्यादान हो रहा है, वहाँ पढ़कर सुनाने लग जाय। तो क्या यह सच है? यह सच नहीं हुआ। वह तार हाथमें दबा लेना चाहिए, जब ब्याह हो जाय, सब लोग खा-पी चुकें, तब बताना चाहिए।

सच्चा हो, अपने ज्ञानके, अनुभवके अनुसार हो, दूसरेकी भलाई करनेवाला हो, बताना जरूरी हो, समयसे और थोड़े शब्दोंमें बताया जाय। बतानेमें विस्तार करके दूसरेको बोर न किया जाय।

हित हो, मित हो, आवश्यक हो, अवसरोचित हो और अपने अनुभवके अनुरूप हो और वस्तुके यथार्थ स्वरूपको प्रगट करनेवाला हो, तब बोलना चाहिए।

बोलिये तो तब जब बोलिबेकी रीति जानो।

बोलो तब भाई, जब बोलनेकी रीति जानो।

अच्छा कोई दुःखका समाचार हो तो तुम जल्दीसे पहुँचानेकी कोशिश क्यों करते हो? कि हम ही सबसे पहले दुःख दे आवें उसको, यह मतलब है तुम्हारा? अच्छा; दो दिन बाद अगर वह सुनेगा, तो दो दिनकी जो देर होगी दुःखका समाचार मिलनेमें; उसमें दो दिन दुःखके उसके बच जायेंगे। तबतक तो वह समाचार ही पुराना पड़ जायेगा और हल्का हो जायेगा।

कोई भी दुःखद समाचार पहले क्षण भयंकर होता है, एक बार सुने, दो बार सुने, पाँच बार सुने, तो बोला—अरे सुन चुका, छोड़ो क्या बारम्बार उसकी चर्चा करना, पहला हथौड़ा जितना चोट करता है, दूसरा, तीसरा, चौथा उतनी चोट नहीं करता है, बोलनेका तरीका भी होना चाहिए।

अनुद्वेगकरं वाक्यं सत्यं प्रियहितं च यत्।
स्वाध्यायाभ्यसनं चैव वाङ्मयं तप उच्यते॥

असलमें महात्माओंको परब्रह्म परमात्माके सिवाय और कुछ सत्य मालूम नहीं पड़ता। तो दुनियामें जब लोग अपने-अपने सत्के लिए, संकीर्ण सत्य,

आजकलकी बोलीमें मजहबी सत्य-साम्प्रदायिक सत्य, जातीय सत्य, प्रान्तीय सत्य, भाषायी सत्य और आगे बढ़े तो राष्ट्रीय सत्य, अरे और आगे बढ़ो तो मानवीय सत्य स्वीकारते हैं। महात्माओंका तो एक ब्रह्म सत्य है। महात्माओंकी दृष्टिमें अन्य सब सत् अज्ञानसे मिश्रित होनेके कारण, अनजान लोगोंके द्वारा माने हुए सत्यकी कीमत नहीं होती। एकने कहा—ऐसे यह काम करना है महाराज। बोले—अच्छा ऐसे ही सही। एकने महात्मासे कहा—महाराज शंकरजी सबसे बड़े, बोले—हाँ भाई तुम्हारा भाव बहुत श्रेष्ठ है। दूसरेने कहा कि विष्णु बड़े! कि हाँ, क्या पूछना? विष्णु तो बड़े श्रेष्ठ हैं। तीसरेने कहा कि नहीं महाराज, निराकार ईश्वर सबसे बड़ा। बोले—हाँ, निराकार तो सर्वत्र व्याप्त है।

जो परम सत्यको नहीं जानते हैं तो उनमेंसे कोई साकारको, कोई निराकारको, कोई इधरको, कोई उधरको सच समझते हैं। तो महात्मा लोग कहते हैं—यह झूठ-झूठ आपस्में लड़ते हैं सत्य-सत्य नहीं लड़ते। आपसमें जो साधकता-बाधकता है, यह सम सत्ता नहीं है।

'आपसमें समसत्ता जिनकी, तिनकी लखि साधकता बाधकता'। सपनेकी चीज सपनेसे लड़ती हैं जाग्रतकी चीज जाग्रत्से लड़ती है, परमार्थमें तो दूसरा कोई है ही नहीं कि लड़ाई हो। जहाँ एक सत्यसे दूसरा सत्य टकराता है, वहाँ दोनों सत्य नहीं हैं। परमार्थ सत्य दोनोंसे निराला है।

सत्यं—सत्यका अर्थ है कि अपनी वृत्ति-सत्यकी रक्षा, क्योंकि सत्य तो अन्त:करणका भाव है। बुद्धि, ज्ञान, असंमोह, क्षमा, दम, शम, सत्य—ये सब अन्त:करणके भाव हैं। अब कहो कि नहीं, हम तो अपने पड़ोसीको बिल्कुल सच्चा बनायेंगे, तो उसको सच्चा बनाते-बनाते, तुम झूठे भले हो जाओ। यह जो उपदेशकोंको उपदेश करते समय अच्छे भाव आते हैं यही उसकी अच्छाई है। और यह दुनिया तो विलक्षण है, अपने मनका कहा अपना हाथ नहीं मानता, अपनी बुद्धिका कहा, अपनी जीभ नहीं मानती। बुद्धि कहती है कि ऐसा मत बोलो और जीभ बोल देती है टुप्से। बुद्धि कहती है, हाथसे ऐसा काम मत करो, यह कर देता है भला! तो जब बुद्धिकी बात अपनी जीभ नहीं मानती, अपना हाथ नहीं मानता, तो यह जो दु:ख है कि हमारी औरत हमारी बात नहीं मानती, हमारा बेटा हमारी बात नहीं मानता, यह फालतू है। यह तो 'शहरके दु:खसे काजी दु:खी'—ऐसी कहावत है—*'काजी जी दुबले क्यों? शहरके अंदेसे से!'* जब अपने शरीरपर, अपने हाथ पर, अपनी जीभपर, अपनी बुद्धि जिसकी नहीं चल पाती है,

वह चिल्लावे कि अपने भाई पर, अपनी औरत पर, अपने पड़ोसी पर, मुहल्ले पर कि हमारी बुद्धिसे सब सोचें, पहले अपनी बुद्धिको चीर-फाड़ कर सबके भीतर पहुँचाओ तो। पहले अपनी बुद्धिका आपरेशन करके सबमें पहुँचाओ!

ऐसा ही है।

देखो एक समय था ऐसा जब ऋषिकेश, उत्तरकाशी, बदरीनाथकी ओर जाते-आते थे, या रामघाटकी तरफ, तो कोई हमको प्रचारक कह दे तो अपनेको गाली सुननेमें जितनी तकलीफ होती है, कोई बेइमान कहे, इस बातसे अपनेको जितनी तकलीफ हो सकती थी, उतनी तकलीफ उस समय प्रचारक कहनेसे होती थी। और 'महन्त'-'मण्डलेश्वर' कह दे तो अब भी तकलीफ होती है, पहलेकी तो बात ही क्या!

जो लोग कहते हैं ऐसा, तो हम जानते हैं वे जानबूझकर चिढ़ानेके लिए कहते हैं ऐसा। किसी-किसीकी नीयत ऐसी नहीं होगी, यह बात तो हम मानते हैं, वह तो इस देशमें जिस नामके साथ 'महन्त:' 'मण्डलेश्वर' जुड़ा है उसको बड़ा मानते हैं और हमारे गंगा-किनारे महात्माओंमें, विरक्तोंमें जिस नामके साथ 'महन्त'-'मण्डलेश्वर' जुड़ा है, उसको सन्त नहीं मानते हैं। यह कहनेकी बात आपको बताते हैं ऐसा ख्याल था। अब तो हमारे नामके साथ पचासों जगह 'महा-मण्डलेश्वर' छपा हुआ है एक पुस्तक अभी छपी तो उसमें महन्त छपा है। क्योंकि एक महन्तजीने छपवाया तो हमको भी महन्त कर दिया। महन्त होना अच्छा है, कोई खराब नहीं है। जो महान होय सो महन्त। जिसके अन्दर कोई महत्ता होवे, धनकी, मठकी, शिष्यकी, विद्याकी, तपस्याकी, उस महत्तावालेको महन्त बोलते हैं। और जिसके अन्दर कोई विशेषता न हो, केवल सन् मात्र वस्तु, ब्रह्म-वस्तुको लेकर होवे उसको सन्त बोलते हैं। ईश्वर कोटिके महात्माको 'महन्त' बोलते हैं, 'मण्डलेश्वर' बोलते हैं, ब्रह्मकोटिके महात्माको 'सन्त' बोलते हैं। यह आपको सुनाया, सन्त, महन्तकी व्याख्या।

अब यह सब सफाई इसलिए दी है कि कोई महन्त-महामण्डलेश्वर हो तो नाराज न हो जाय कि हमको कहते हैं, उनसे क्षमा माँगकर सत्यकी बात कहता हूँ। वह बड़ी निराली है। सत्य छोटे बड़ेको सहन नहीं करता है। गुरु और शिष्यमें छोटा-बड़ा इसीलिए है कि अभी शिष्यजीको सत्यकी प्राप्ति नहीं हुई है। अगर शिष्यजीको सत्यकी प्राप्ति हो जाय तो जो शिष्य सो गुरु, जो गुरु सो शिष्य। हमेशा चेलेको चेला बनाये रखना, यह सत्य नहीं है। यह सत्य नहीं है कि चेला चेला ही

बना रहे और गुरु-गुरु बना रहे, चेलेको गुरु ही नहीं बनाना, चेलेको तो वह ब्रह्म अनुभव कराना हैं, जो अनुभव गुरुको है। यह सत्यके प्रसंगमें यह बात आपको कही **दमः शमः**—दमन और शमन। इसका अर्थ है कि इन्द्रियोंसे तो बुरा काम होने मत देना, और मनमें जो आजाय उसको वहीं शान्त कर देना शमन होता है। बाह्य इन्द्रियोंको काबूमें रखनेका नाम है दम। अन्तःकरणको अपने काबूमें रखनेका नाम है शम।

इसमें भी बड़े-बड़े दृष्टिकोण हैं, सम्प्रदायके भेदसे इसमें भेद है, साधनाके भेदसे इसमें भेद है। जैसे एक गृहस्थ अगर साधनके मार्गमें आगे बढ़ रहा है तो अपनी पत्नीके साथ ऋतुकाल गमनसे उसके दमनमें बाधा नहीं पड़ती, परन्तु एक ब्रह्मचारी अगर साधनके मार्गमें आगे बढ़ रहा है, तो दमनका अर्थ सम्पूर्ण ब्रह्मचर्य होगा अपवाद सहित ब्रह्मचर्य नहीं होगा।

आप इसपर ध्यान दो कि एक तरहकी क्रियाका नाम या एक तरहकी रहनीका नाम ब्रह्मचर्य नहीं है जिसके लिए जो विहित है उसके लिए वही ब्रह्मचर्य है। वीर्यकी रक्षामें ब्रह्मचर्य नहीं है। द्रव्यमें ब्रह्मचर्य नहीं है, वीर्य द्रव्यमें ब्रह्मचर्यका निवास नहीं है। मैथुन क्रियाके करने न करनेके साथ ब्रह्मचर्यका सम्बन्ध नहीं है, जिसके लिए जो शास्त्रमें विहित है, उसके लिए वही ब्रह्मचर्य है। क्योंकि वस्तु सब निर्गुण है, निर्विशेष है, निर्धर्मक है, निष्प्रपंच है, परमार्थ ब्रह्म है, इसलिए जबानी-जमा खर्चके सिवाय दोष गुण और कहींसे आ नहीं सकता। इसलिए शास्त्रोक्त विधि-निषेधसे ही गुण-दोषकी उत्पत्ति होती है, द्रव्यमें गुण-दोष नहीं होता है।

यह बात जो उपनिषद्को वेदान्त मान करके स्वाध्याय करते हैं उनकी समझमें आनेवाली है। और जो लोग कहीं भी, कैसे भी सुन लिया, कोई परम्परा नहीं, उनकी समझमें नहीं आनेवाली।

क्रियामें गुण-दोषकी व्यवस्था हमारी नहीं है। क्रिया कभी गुण भी हो सकती है, कभी दोष भी हो सकती है। द्रव्यमें गुण-दोषकी व्यवस्था नहीं है। द्रव्यमें गुण-दोष विहित और निषिद्धसे आते हैं। क्रियामें गुण-दोष विहित और निषिद्धसे आते हैं। भावमें गुण-दोष विहित और निषिद्धसे आते हैं। माने कल्पित रूपसे आते हैं, शास्त्र कल्पनासे आते हैं, वे वस्तुमें-से नहीं निकलते। यह बात बहुत क्रान्तिकारी है कि द्रव्यके स्थानपर, क्रियाके स्थानपर, भावके स्थानपर देख लिया कि वह तो ब्रह्मके सिवाय और कुछ है ही नहीं, तब

व्यवहारमें मर्यादा कहाँसे बने? बोले—वस्तुके आधारपर मर्यादा मत बनाना। मुम्बई और गुजरातकी प्राकृत सीमा नहीं हो सकती, वह बनाओगे तो कभी छूट जायगी भला! महाराष्ट्र और आन्ध्रकी प्राकृत सीमा नहीं होगी। कहीं भी धरतीमें एक मेंढ़ बनानी पड़ेगी, समुद्रमें बनानी पड़ेगी, हमारा समुद्र यह, तुम्हारा यह। फिर बोले—हमारे सामुद्रिक सीमाका उल्लंघन किया। तो वह कानूनसे जो कल्पित है, वह माना हुआ है। कानूनसे माना हुआ है, प्राकृत सीमा नहीं है। ऐसे ही वायु सीमा जैसे कानूनसे कल्पित होती है कभी बारह मीलकी मानते हैं, कभी सात मीलकी मानते हैं, कभी पचास मीलकी मानते हैं। जैसे वायु-सीमा, आकाशीय सीमा कल्पित होती है, जैसे जलीय सीमा कल्पित होती है, जैसे पार्थिव सीमा कल्पित होती है, इसी प्रकार तत्त्वमें गुण-दोषकी सीमा कानूनसे कल्पित होती है, प्राकृत नहीं होती हैं। हमारे महात्माओंने हजारों-लाखों-वर्ष पहले इस बातको समझा और बोले कि देखो शास्त्रको छोड़कर भटकना मत, कहीं मशीनसे परीक्षा करने मत जाना कि 'दम' क्या है और 'शम' क्या है? अपनी-अपनी मर्यादा होती है।

अच्छा! अब देखो; जो यज्ञमें दीक्षित होता है, उसको क्रोध नहीं करना चाहिए और किसीके ऊपर हाथ भी नहीं उठाना चाहिए। कितनी देर तक? कि जितनी देर यज्ञमें दीक्षित रहे। जब यज्ञ समाप्त हो गया तो वह आदमी धनुष-बाण लेकर शत्रुको मार सकता है।

अपने मनमें शान्ति रखना, कबतक? कि जबतक यज्ञमें दीक्षित है। कन्ट्रोल तो चाहिए, नियन्त्रण, जहाँ विधि है मारनेकी, वहाँ मारना और जहाँ निषेध है वहाँ नहीं मारना।

यह देखो मनपर तो काबू हुआ, मनोमुखी बात नहीं हुई कि हमारे मनमें जो आया सो कर दिया, नियन्त्रण तो हो गया, परन्तु शास्त्रके अनुसार हुआ।

अब बोले कि जो उपासना करते हैं उनके लिए दूसरी बात है। अपने प्रियका चिन्तन करना चाहते हैं, तो किसीसे दुश्मनी मत जोड़ना। नहीं तो जिससे दुश्मनी जोड़ोगे उसीका चिन्तन होगा। अपना प्यारा तो धरा रह जायेगा। माने कृष्णसे प्रेम किया और कंससे दुश्मनी की, तो क्या नतीजा निकलेगा? आपको मालूम है? जब प्रेम बढ़ेगा मनमें तो कृष्णका चिन्तन होगा, और जब दुश्मनी उमड़ेगी मनमें तो कंसका चिन्तन होगा, तो उपासना बिगड़ जायेगी, उपासना कंसका ध्यान करनेके लिए नहीं होती, कृष्णका ध्यान करनेके लिए होती है। जब

उपासनाके मार्गमें चलेंगे, तब अपने इष्टदेवका ही चिन्तन हो, अनिष्टका चिन्तन न हो।

ये जो धर्मात्मा लोग हैं वे बोले—भाई! कम-से-कम गंगाजी पर माने तीर्थ देशमें तो किसीको गाली मत दो। एकादशीके दिन माने अमुक कालमें, यज्ञमें दीक्षित होकर माने अमुक क्रिया करते समय, माने अमुक स्थानमें, अमुक व्यक्तिपर क्रोध मत करो, यह धर्मका नियन्त्रण है।

बोले—अरे! जिससे अपना इष्ट चिन्तन छूटता हो, उसकी ओर ध्यान ही मत दो। चाहे जो हो।

और जब योगाभ्यासके मार्गमें चलेंगे तब? शमका रूप बदल जायेगा।

अब योगाभ्यास करना हो तो? समाधि करनी हो तो? देखो उसका ढंग दूसरा है। योगाभ्यासकी वृत्ति यह है कि अपने इष्टका भी चिन्तन न हो। तब निरोध सम्पन्न होगा, कोई वृत्ति ही न हो, न इष्टाकार, न अनिष्टाकार। वृत्तिका निरोध सम्पन्न होगा तब द्रष्टा पुरुष अपनेको अलग दिखावेगा। और नहीं तो यद् यद् वृत्ति होगी, तद् तद् वृत्तिकारक हो जायेगा, मरो उसके साथ।

धर्ममें 'शम'का रूप तीर्थके आश्रयसे, समयके आश्रयसे, क्रियाके आश्रयसे, व्यक्तिके आश्रयसे होता है और वासनामें शम होता है अपने इष्टदेवके आश्रयसे और योगाभ्यासमें निराश्रय-आत्माश्रय।

अब वेदान्तमें, जो शम-दम होते हैं वे बिलकुल निराले; वे निषिद्धसे भी निराले हैं और विहितसे भी निराले हैं। अद्भुत, मनमें कैसे शान्ति रहे और इन्द्रियाँ कैसे दान्त रहें? यह प्रसंग आगे सुनावेंगे।

बुद्धिर्ज्ञानमसंमोहः क्षमा सत्यं दमः शमः।
सुखं दुःखं भवोऽभावो भयं चाभयमेव च॥ 4॥

भगवान्के योग और भगवान्की विभूतिको जो जानता है, उसको अविकम्पयोगकी प्राप्ति होती है। अविकम्प योग माने अखण्ड योग। परमात्मासे ऐसा मिलन जिसमें विछोह न हो, उसे बोलते हैं अविकम्प योग। तो परमात्माकी अखण्ड प्रेमाभक्ति, अखण्ड परा भक्ति प्राप्त करनेके लिए क्या करना चाहिए? भगवान्की विभूति और भगवान्के योगको जानना चाहिए।

आपने यह सुना कि यह प्रारम्भसे ही अध्याय दो विभागमें विभक्त है। योगका वर्णन और विभूतिका वर्णन।

अब बता रहे हैं कि हमारे भीतर बैठकर भगवान् कैसे हमारे अन्तःकरणमें आध्यात्मिक भावोंको प्रकाशित कर रहे हैं और कैसे वे समूची सृष्टिमें बैठकर आधिदैविक और आधिभौतिक भावोंको प्रकाशित कर रहे हैं—

भवन्ति भावा भूतानां मत्त एव पृथग्विधाः।

वह दिल देखो जादूगरका कि जो भीतर बैठकर खुद छिपा हुआ है और कभी सूक्ष्म और कभी स्थूल भावोंको नये-नये ढंगसे जाहिर कर रहा है। जादूको मत देखो जादूगरको ढूँढ़ निकालो।

वह भीतर बैठकर क्या दे रहा है? आपने देखा कि बुद्धि माने संसारके सम्पूर्ण पदार्थोंके यथार्थ रूपको समझनेकी शक्ति-सामर्थ्य। वह हृदयमें है, बुद्धिमें हैं। और जैसा जो पदार्थ है, उसका ठीक वैसा ही प्रकाशक विज्ञान है। और विवेक हो जाने पर फिर भूल नहीं करना-असंमोह। और कोई कितना भी अपराध करे उसको क्षमा करना, यह व्यक्तिगत बात है। ऐसे कहो कि क्षमाकी शक्ति भगवान् किसी-किसीके अन्तःकरणमें दे रहा है। किसीके अन्तःकरणमें अक्षमाकी शक्ति दे रहा है, अक्षमा भी वही देता है।

आगे चलकर जब **भयं चाभयमेव च** और **यशोऽयशः** और **पृथग्विधाः**—ये सब आयेंगे तो यह सब व्यवस्थापूर्वक देता है। जो व्यक्ति रजोगुण और तमोगुणको छोड़कर सत्त्वको धारण करके, सोलहों श्रृंगार करके अपने प्रीतमसे

मिलनेके लिए अभिसार कर रहा है, उसको क्षमा देता है। और जो प्रीतमसे विमुख रहकर संसारमें ही लगा रहना चाहता है उसको अक्षमा देता है। यह अधिकारी भेदसे व्यवस्था है।

एक वैष्णवाचार्य थे वृन्दावनमें, उन्होंने यह बात पहले हमको सुनायी थी—

आनुकूल्य प्रातिकूल्याभ्यां व्यवस्था।

भगवान् चाहते हैं कि यह हमारे पास आवे। समझो एक आदमी रातके समय अपने प्रिय व्यक्तिको मिलनेके लिए निकला और रास्तेमें कुत्ता भौंकने लगा। तो जिसको अपने प्रियके पास पहुँचनेकी जल्दी थी, उसने तो कहा—कुत्तेको भौंकने दो, हम तो अपने रास्तेपर चलें, जल्दी पहुँच जायेंगे। और एक आदमी चला तो था प्रियको मिलनेके लिए; परन्तु जब कुत्ता भौंकने लगा तो उसने कहा पहले हम इसको खदेड़कर जहाँतक जायेगा, एक मीलतक उसका पीछा करेंगे, उसको डंडा मारकर तब आगे बढ़ेंगे। जिसके मनमें वह कुत्ता खदेड़नेकी बात आयी, उसको वह प्यारा मिलना नहीं चाहता है। और जिसके मनमें वह कुत्ता भौंकनेके प्रति क्षमा आ गयी वह अपने प्यारेके मार्गमें बढ़ गया। क्षमा जो है वह प्रियतमके मार्गमें बढ़नेका साधन है और क्षमा भगवान् देता है। जीवन्मुक्ति विवेकमें एक प्रसंग आता है—

धर्मार्थकाममोक्षाणां प्रसह्य परिपन्थिनो।

बोले—यदि तुम अपराधीके प्रति मुँह फुलाते हो; अरे इस क्रोधके प्रति ही क्रोध क्यों नहीं करते? इस क्रोधने हमारा क्या नुकसान किया? बोले—क्रोधने आकर तुम्हारा धर्म बिगाड़ा, क्रोधने आकर तुम्हारे धनका नुकसान किया, क्रोधने तुम्हारे भोगमें बाधा डाली, क्रोधने अन्तःकरण अशुद्ध करके मोक्षकी प्राप्तिमें विघ्न डाला। इतना बड़ा दुश्मन तो तुम्हारा क्रोध; उसके ऊपर क्रोध करके तुम अपने दिलसे निकालते नहीं हो और बाहरी आदमीपर क्रोध करने जाते हो। इसका मतलब क्या हुआ? इसका मतलब हुआ कि ईश्वर कहता है अभी दुनियामें रहो, हमारे पास मत आओ।

जिसको ईश्वरके पास पहुँचनेकी जल्दी होती है, वह अपराधीको क्षमा करते हुए चलता है, क्योंकि देखो संसारमें अनधिकारी तमोगुणी है, रजोगुणी है, कई पुरुष अज्ञानी हैं, वे यदि अज्ञानवश कोई अपराध करते हैं तो उनकी समसत्तामें अपनेको ले जाना, जैसे वे हैं वैसे ही अपनेको बना देना, उस स्थितिमें रहनेके कारण तुम उनको बुरा समझते हो, उन्होंने गाली दी इसलिए बुरे हैं और

तुम गाली दोगे तो कौनसे बड़े हो जाओगे? तो अपनेको ठीक उसी स्थितिमें ले जाना, यह किसी बुद्धिमानका काम नहीं है।

इसलिए कहते हैं—अपने हृदयमें क्षमाकी शक्ति जो दे रहा है उस ईश्वरसे ले लो। वह खजाना है, घर है क्षमाका। धरतीपर विष्ठा करते हैं और थूकते हैं, धरती गुस्सा नहीं करती। जलमें मुर्दा डालते हैं, गुस्सा नहीं करता। आगमें कूड़ा जलाते हैं दुनिया भरका गुस्सा नहीं करता है। वायुमें दुर्गन्ध फैलाते हैं, वह गुस्सा नहीं करता है। आकाशमें बुरी-बुरी आवाज करते हैं, लेकिन गुस्सा नहीं करता है।

देखो मनमें भली-बुरी दोनों तरहकी बातें आती हैं, बुद्धि दोनों पक्षमें जाती है। द्रष्टा आत्मा दोनों तरहकी बातोंको प्रकाशित करता है। अधिष्ठान अच्छा-बुरा दोनों तरहके अध्यास ग्रहण किये हुए हैं। कभी भी धरतीसे लेकर अधिष्ठान परमात्मा-पर्यन्त जो सत्य है, वह विरोधी नहीं है।

यह तुम्हारा अहंकार ही क्षमाका विरोधी है, बीचमें कहाँसे घुस पड़ा, यह अहंकार अज्ञानका बेटा और दुःखका बाप है भला! उसे त्यागकर क्षमा अपनाओ!

सत्यं दमः क्षमः। सत्य - जो जो सत्य समझमें आता जाय, उसे ग्रहण करो। यह नहीं कि पहली जो पकड़ है, बेवकूफीसे जो पकड़ लिया था उसे अब जब सत्य समझमें भी आता है तो छोड़ नहीं सकते। ऐसा नहीं करना। सत्यको स्वीकार करो।

सत्य ऐसी चीज है कि जितने आकार-प्रकार आरोपित हैं उनसे न्यारा है। सत्यमें जो शक्ल-सूरत होती है, बाहरसे थोपी जाती है। देखो मिट्टी सत्य है और उसमें घड़े, सकोरे थोपे हुए हैं। पानी सत्य है, उसमें बुलबुले, फेन और तरंग थोपे हुए हैं। अग्नि सत्य है, पर उसमें धुआँ, लपटें, चिंगारियाँ थोपी हुई हैं। इसीको आरोपित बोलते हैं। वायु सत्य है, लेकिन यह अलग-अलग शरीरमें श्वास बनकर अलग-अलग रह रहा है यह आरोपित है। आकाश सत्य है; लेकिन घटाकाश मठाकाश—ये सब झूठे हैं, आरोपित हैं। देखो मृत्यु सत्य है, लेकिन दुःख नहीं है। लेकिन जब मेरा मरता है, तब दुःख होता है। दुनियामें रोज न जाने कितने मरते हैं। क्या दुनियामें रोज पति नहीं मरते हैं? या दुनियामें रोज पुत्र नहीं मरते हैं? जो रोज मरते हैं वे कौन मरते हैं? अरे मरते होंगे कोई, हम तो उस दिन रोयेंगे जिसदिन हमारा कोई मरेगा। तो तुम मृत्युके लिए रोते हो कि 'हमारेके लिए' रोते हो?

यह हमारापन कहाँसे आया? मृत्युमें जो हमारापन है, वह तो मृत्युमें शक्ल-सूरत बना दी गयी कि अब रोओ। यह 'मेरापन' मूर्खतासे आता है—'मेरा

मरा', 'मेरा मरा' यह 'मेरापन' बड़ा दु:ख देता है। छोटा 'मेरापन' होवे तो भी दु:ख देता है और बड़ा 'मेरापन' होवे तब भी दु:ख देता है अगर ब्रह्माण्डको मेरा समझोगे, तब भी यह छूटनेकी कल्पना बनेगी और दु:ख होगा। ब्रह्माको भगवान्ने सबसे बड़ी आयु ब्रह्माण्डमें दी, दो परार्ध उनकी आयुकी संख्या है, लेकिन ब्रह्मा कहते हैं—हाय! मैं तो अधेड़ हो गया, मेरे बाल अब सफेद होने लगे, ब्रह्मा रोता है कि आगे मर जायेंगे।

अरे दुनियामें सब मरते हैं, वे सब नहीं, मेरा-मेरा-मेरा दु:ख देता है। सत्य दु:ख नहीं देता; सत्य तो जब हम अपने लिए अलग कर लेते हैं अपने लिए जब सत्यका बँटवारा कर लेते हैं, तब वह दु:ख देता है। दुनियामें चोरी कब नहीं होती? दुनियामें आग कब नहीं लगती? पर जब 'मेरे' लगती है तब दु:ख होता है।

'सत्य' बता रहे हैं। सत्य यह है कि दु:ख जो होता है वह मनमें आता है। सुख जो आता है, वह भी मनमें आता है। बाहरी चीजसे इसका कोई सम्बन्ध नहीं है, न किसीके मरनेसे, न किसीके जीनेसे। इसका कोई रिश्ता है ही नहीं। न किसीके बिछुड़नेसे, न किसीके मिलनेसे। अपने मनीरामको सत्यके साथ जोड़ दो और जो शक्ल-सूरत मरे, उसको जादूका खेल देखो! जो बने उसे जादूका खेल देखो। इस जादूके खेलमें कितने बच्चे पैदा हो रहे हैं और कितने मर रहे हैं! जादूके खेलमें हमने लड़ाई देखी है आपलोग तो बम्बइया हैं, हम बनारसी हैं। बनारसमें जब दो जादूगर आपसमें मिलकर लड़ाई करते हैं तो पटापट दोनोंकी मंत्र ओरसे फेंकते हैं तो कभी वह गिर रहा है, कभी यह गिर रहा है, वह ऐंठ रहा है और मुँहसे पानी निकल रहा है, एक जादूगर जब दूसरेपर जादू चलाता है तो ऐसा देखनेको दृश्य मिलता है, जब अन्तमें आराम लेते हैं तो दोनों ठीक हो जाते हैं।

यह संसारका खेल बड़ा विलक्षण है। सत्यको पकड़ो और ये झूठे जो आकार हैं, विचार हैं, प्रकार हैं, मृत्युका बँटवारा कर लिया कि तुम्हारे घरमें आवे और हमारे घरमें न हो। तुमने स्वयं अपने घरमें मौत बुला ली। बोले—जिसकी मौत होती है, उसकी होती है। और जो जिन्दा रहता है, वह जिन्दा रहता है। आत्माकी कभी मृत्यु होती नहीं, परमात्माकी कभी मृत्यु होती नहीं, यह बद्धमुक्तका भी ख्याल झूठा है भला! जो मुक्त है वह मुक्त ही है और जो बद्ध है वह बद्ध ही है। यह कहो कि मुक्त ही मुक्त है, बद्ध कोई है ही नहीं। जो अपनेको बद्ध मानता है.सो बद्ध है—ऐसे। मिट्टी बद्ध नहीं है, जल बद्ध नहीं है, अग्नि बद्ध नहीं है, वायु बद्ध नहीं है, आकाश बद्ध नहीं है, मन बद्ध नहीं है, बुद्धि बद्ध नहीं

है, प्रकृति बद्ध नहीं है। आत्मा बद्ध नहीं है, ब्रह्म बद्ध नहीं है। यह बन्धन तो—

मानि मानि बन्धनमें आयो।

फर्क इतना ही है कि एक जानता है कि मैं मुक्त हूँ और एक नहीं जानता है इस सत्यको। इसके सिवाय बद्ध और मुक्तमें कोई भेद नहीं है। एक जानता है कि मैं मुक्त हूँ, छुट्टा छड़िंगा, बिलकुल स्वतंत्र, कैवल्य- केवल है। दूसरे बेचारे जानते हैं कि हम बँधे हुए हैं।

सत्यको स्वीकार करो। सत्यको स्वीकृति देनेके लिए व्यक्तिगत जीवनमें थोड़ी तैयारीकी जरूरत पड़ती है। वह जानता है कि जो ऐन्द्रियक भोगमें फँस जाते हैं वे एक परिस्थितिमें आबद्ध हो जाते हैं। वे कहते हैं—'हाय, हम इसको छोड़कर कैसे रहेंगे?' ऐसा पलंग नहीं होगा, तो कैसे सोयेंगे? ऐसा मकान नहीं होगा तो कैसे बैठेंगे? ऐसे नौकर-चाकर हाथ जोड़े साथ नहीं होंगे तो कैसे जीयेंगे? उनको पता ही नहीं चलता है कि संसारमें हजारों-लाखों आदमी कैसे जिन्दा रह रहे हैं?

देखो; जिन्दा रहना है तो अपनेसे गरीबकी ओर देखो कि कैसे जिन्दा रहते हैं? यह जो ख्याल है कि ऐसे महलके बिना और ऐसे पैसेके बिना, नौकरके बिना जिन्दगी नहीं होती है, यह ऐसा ही है कि जैसे बगीचेमें लगाये हुए फूलसे कह दो कि वह सोचे कि जंगलमें फूल ही नहीं होते। तो क्यारीमें लगाये हुए जो पौधे होते हैं वे जब सोचने लगें कि जंगलमें फूल होते ही नहीं। अरे जंगलमें भाई बिना बोये, बिना क्यारी बनाये, बिना सींचे, बिना खाद डाले, ऐसे-ऐसे फूल होते हैं कि बगीचेमें नहीं मिलते, उनको ढूँढ़नेके लिए विदेशोंसे लोग आते हैं भला! हिमालयमें जोशीमठसे थोड़ा और आगे जाना पड़ता है, वहाँ ऐसे-ऐसे फूलके पौधे हैं जो सामान्यत: नहीं पाये जाते।

ऐसे सुन्दर-सुन्दर महात्मा लोग निकल आते हैं हिमालयकी गोदमें-से और पहाड़ जंगलमें-से ऐसी सुन्दर स्त्रियाँ निकलती हैं कि शहरके लोग उनका दर्शन करने जाते हैं।

दमः। ऐन्द्रियक भोगके प्रति, इन्द्रियोंसे होनेवाला जो भोग है, उसके प्रति आसक्ति नहीं रखना। इन्द्रियोंके भोगमें सुख है—यह बात बिलकुल गलत है। अपने सुखको बाहर भेज देना, कि जबतक शारीरिक संग नहीं होगा, तबतक सुखी नहीं होंगे, इस ख्यालमें ये स्त्री-पुरुष जो हैं, ये फँसे हुए हैं। आबद्ध है।

तो असलमें इसमें दो बात एक साथ कही गयी है। ध्यान तो उन दोनों पर

देनेका है। आप 'दम' और 'शम'को समझते होंगे **दमनं दमः। शमनं शमः।** एक जोर लगाकर दमन करनेका है और एक शान्तिसे शमन करनेका है। दमनमें दंडका भाव है। **दंडो दमयिता।** दमन करना। जब प्रजा कहीं भड़क उठती है तो राजा उसका दमन करता है और जब लोगोंके विचारमें उथल-पुथल मचती है तो समझा-बुझाकर शमन किया जाता है।

दमन और शमनमें फर्क होता है। अच्छा! देखो; आपको दोनों ही एकताकी बात बताते हैं और इन्द्रियोंका नाम लेना हम छोड़ देते हैं। आपकी आँख अगर कभी रूपमें जाकर फँस जाय कि इसको देखे बिना नहीं रहा जाता। अच्छा! देखो; कहाँ तुम और कहाँ तुम्हारा दिल और कहाँ तुम्हारी आँख और कहाँ ये गये चाट खाने। आँखकी चाटका नाम रूप है। जैसे जीभकी चाट खाने चौपाटी जाते हैं, ऐसे यह आँखकी चाटका नाम रूप है। चाट खाने गये। जिसका रोकनेका मन होगा, उसका रुकेगा और जिसका रोकनेका मन नहीं होगा उसका तो मन नहीं रुकेगा। जिस समय आपका मन आँखके रास्ते रूप देखनेके लिए जाना चाहता है, उस समय आप अपनी आँखको ही देखिये। कैसी सुन्दर-सुन्दर, सचमुच आपकी आँख जैसा सुन्दर और कोई पदार्थ आपके जीवनमें नहीं है। शीशेमें नहीं, मनमें देखो न! क्या फूलकी तरह खिले हैं दोनों। कानके पत्ते अगल-बगल। माने जिस चीजको तुम देख नहीं रहे हो, उसको भी ये मनमें ले आते हैं। और आँखसे; जिस चीजको तुम देख रहे हो बाहर उसको ये मनमें लाती है। लेकिन बाहरवाले रूपमें और अपनी आँखमें जो बाह्य रूप है दोनोंकी तुलना करके देख लो। आपकी आँख सुन्दर है कि यह रूप सुन्दर है? अगर आँख न हो तो रूप रहेगा? दुनियामें कितना बढ़िया फूल क्यों न खिला हो लेकिन वह हमारी आँखसे बढ़िया नहीं हो सकता। न गुलाब, न कमल, न जूही, न चमेली, न बेला; न स्त्री, न पुरुष; हमारी आँखसे सुन्दर और कौन होगा? तो अपने मनको रूपमें-से निकालकर आँखमें ले आओ।

इसमें आपको सीधे ही शब्द बता देते हैं, योगमें इस क्रियाका नाम 'प्रत्याहार' है। हमने जैसे यहाँके लोग बात करते हैं, वैसी बात कर दी, आप रूपको मत देखो, अपनी आँखको देखो। योगकी भूमिकामें इस बातको प्रत्याहार बोलते हैं। अपनी इन्द्रियको विषयसे लौटाकर उसको उसके गोलकमें स्थापित करना।

हमने कहा—आप अपने मनसे जरा अपनी आँखोंकी ओर देखिये, इसमें क्या बढ़िया काला-काला बिन्दु लगाया हुआ है और क्या बढ़िया इसकी साड़ी है!

क्या सफेदीके बीचमें डिठौना लगाया हुआ है! सचमुच इन आँखोंसे तो आप हजारोंको जीत सकते हैं, पर जो लूटने जा रहे हैं न, यह बेवकूफी है इसमें। यह आँखें हैं, खुदाका नूर हैं। वह नूर सीधे आँखोंमें-से बरसता है। यह आत्माके झाँकनेकी खिड़की है। आत्मा इन्हींके रास्तेसे संसारकी ओर झाँकता है।

यह तो मैंने आँखका नाम भर लिया। आप और इन्द्रियोंके सम्बन्धमें भी ऐसे ही समझो। आपको अपनी जीभ प्यारी है कि भोजन प्यारा है? यह जीभरानी क्या नरम-नरम हैं। बत्तीस पहरेदारोंके बीचमें, सेवक इनके बत्तीस हैं, कुचल-कुचलके स्वाद इनको देते हैं क्या बढ़िया-बढ़िया और इनके नौकर चाकर भी सफेदपोश हैं। गन्दी मालकिनके जैसे गंदे नौकर होते हैं। कैसे देखते हैं अपने नौकरको गन्दा। भले मानुस अपने नौकरको गन्दा नहीं देख सकते हैं। तो यह जीभ रानी स्वयं देखो रंगीन और अपने चारों ओर देखो क्या बत्तीस नौकर रख छोड़े हैं और ये बढ़िया-बढ़िया स्वाद उनकी सेवामें उपस्थित करते हैं। लेकिन; आप यह बताओ कि आपको दुनियाका कौन-सा ऐसा स्वाद इतना प्यारा है जिसके लिए आप जीभ काटना पसन्द करेंगे? स्वाद अच्छा है कि जीभ अच्छी है? आप देखो; स्वाद प्यारा है कि जीभ प्यारी है? दुनियाकी कोई चीज प्यारी नहीं। देखो; जिनकी जीभमें कैंसर हो जाता न, तो जीभ हटानी पड़ती है, उसके बाद फिर खट्टा-मीठाका क्या पता चले? क्या स्वाद आयेगा? क्या खायेंगे?

तो अपनी जीभकी सुन्दरताका अनुसन्धान करो।

यह तो उपलक्षण है। उपलक्षण माने इशारा है। असलमें; आँख और जीभका ध्यान करनेकी जरूरत नहीं है। यह तो मैंने जैसे माण्डूक्य-उपनिषद्में यह है कि अकारकी उपासना करनेसे यह लाभ है, उकारकी उपासना करनेसे यह लाभ है, मकारकी उपासना करनेसे यह लाभ है, तो ये तीनों अलग-अलग क्यों बताये गये? क्या इसलिए बताये गये कि तीनोंकी अलग-अलग उपासना करो? नहीं, यह व्यस्त उपासनाकी महिमा समस्त उपासनाकी महिमा बतानेके लिए है, माने 'ओऽम्'का अनुसन्धान करो।

तो; मैंने जो जीभका ध्यान करो और आँखका ध्यान करो—यह बात बतायी यह तो व्यस्त है। समस्त क्या है? कि जरा अपने दिलकी सुन्दरता देखो—यह समस्त है। आँखको मत देखो, ऐसा कमल खिला है तुम्हारे कलेजेमें, आहा-हा क्या उसकी गद्दी है, क्या उसकी पंखुड़ी है,क्या उसकी मंजरी है, क्या उसमें रस है, क्या उसमें सुगन्ध है, अपने इस कलेजेको देखो न! इस अपने दिलको

देखो। देखो क्या दमन होता है। ये विषय कहीं-के-कहीं धरे रह जायेंगे। बिलकुल वैसे जैसे राख पड़ी होती है। जिस समय आप अपनी आँखको विषयमें-से खींचकर आँखकी गोलकमें रखोगे, उस समय दुनियाके रूप और राख दोनों बराबर हो जायेंगे। उस समय दुनियाके सब स्वाद और गोबर बराबर हो जायेंगे, जिस ममय आप अपने मनको जीभमें ले आओगे। और जिस समय आप अपने मनको आँख और जीभ दोनोंमें-से, इन्द्रियोंमें-से खींच लोगे; कानकी चाट है संगीत और तारीफ। दो तरहकी। तरह-तरहकी सुन्दरता आँखकी चाट है और तरह-तरहके इत्र, सुगन्ध यह नाककी चाट है और तरह-तरहके भोजन जीभकी चाट है और तरह-तरहके कोमल और सुकुमार वस्तुओंका जो सेवन है यह चामकी चाट है। इनकी ओरसे जब अपने मनको हटाकर कलेजेमें लाओगे, दिलमें लाओगे, तब उसका सौन्दर्य देखो! तुमने दुनियामें यह देखा होगा कि एक 'राष्ट्र सुन्दरी' होती है, एक विश्व सुन्दरी होती है, प्रतियोगिता होती है, होड़ लगती है कि यह विश्वमें सबसे अधिक सुन्दरी है, यह देखा होगा भला! अरे वह जाकर नहीं देखी होगी तो अखबारमें तस्वीर ही देखी होगी। यह सिने तारिका है, यह अमुक सुन्दरी है, सबकी सुन्दरता देख ली, लेकिन अपने दिलकी सुन्दरता नहीं देखी? जब अपनी सुन्दरता नहीं देखी, तब क्या देखा?

सचमुच 'विश्व सुन्दरी' कहलाने लायक अगर कोई चीज है तो वही आदमीकी जो दिलड़ी है! सिन्धी लोग दिलड़ी बोलते हैं, हमको बताया कि दिल नहीं, दिलड़ी। दिल तो कठोर है, दिलड़ी तो और सुकुमार है। वे दिल_नहीं, दिलड़ी बोलते हैं। कि और सौन्दर्य, और सौन्दर्य, दिलका दिलड़ी हो गया।

तो यह विश्व सुन्दरी बाहर नहीं है। यह हृदय ही है। तुम अपने हृदयके सौन्दर्यको देखोगे, तो दुनियाका सौन्दर्य कैसा लगेगा? जैसे शिवजीके शरीरमें भभूत। परम सुन्दर भगवान् हैं। परम सुन्दर शंकर भगवान् हैं, वे जैसे श्मशानकी भभूतसे अपनी सुन्दरताको दबाते हैं, नहीं तो मर जायँ लोग देखकर भला! ये राख क्यों पोतते हैं अपने शरीरपर? कि इनके सौन्दर्यको देखकर लोग मर न जायँ। तब भी लोग उनसे गले लगनेके लिए दौड़ते हैं। उन्होंने साँप पहन लिया, सावधान। आँखने सौन्दर्य देखा तो उसपर भभूत डाल दी, ढँक दिया। साँपने फुफकार दिया तो लोग दूर हो गये। यह तुम्हारा दिल है, तुम्हारे हृदयेश्वर हैं नारायण। विश्व सौन्दर्य यहाँ निवास करता है।

इन्द्रियोंके दमनकी प्रक्रिया क्या है कि आप अपनी नजरको दृष्टिको जरा

खींचे रखिये, विषय-सौन्दर्य न देखकर, अपनी इन्द्रियोंका सौन्दर्य देखें। ज्यादा प्यारी हैं वे। और इन्द्रियोंका सौन्दर्य न देखकर अपने इस हृदयका सौन्दर्य देखें। कमलमें जैसे रस होता है वैसे ही हृदयकमलमें भी एक रस होता है। हृदयकमलमें रस क्या है? प्रेमरस ही हृदयकमलका मकरन्द है।

कमलमें चमक होती है। क्या बढ़िया सुन्दर-सुन्दर चमकता है। हृदयमें प्रकाश क्या है? इसमें जो ज्ञान है वही इसकी चमक है। इसमें जो प्रेम है वही इसका सौन्दर्य है। इसमें जो सद्भाव है वही उसकी पंखुड़ी और सुगन्ध है।

धर्मकन्दो समुद्भूतं ज्ञाननालं तु शोभनम्।

यह हृदयकमल धर्मकन्दसे उत्पन्न सुशोभन ज्ञाननालवाला है।

तो इन्द्रियोंको वशमें करनेका उपाय क्या है? यह नहीं कि सब ब्रह्म है, सब ब्रह्म हैं, ऐसे इन्द्रियाँ वशमें नहीं होती। ब्रह्म तो इन्द्रियोंको छोड़ देनेके काम भी आता है और इन्द्रियोंको बाँध देनके काम भी आता है। यह बाँधनेका भी प्रकाशक है और छोड़नेका भी प्रकाशक है।

कोई बेहोश हो रहा है तो बिजली होशमें लानेके काम भी आवेगी और किसीको मारना हो तो मारनेके काम भी आवेगी। बिजली ठंडा भी कर दे, जिला भी दे, मार भी दे। ब्रह्म तो बिजलीकी जगह पर है। इसका तुम उपयोग कैसा करते हो, यह बात दूसरी है। यह दूसरी विद्या है। इसका नाम 'दहर विद्या' है वेदान्त दर्शनमें। यह हृदयकी विद्या है।

पुण्डरीकं वेश्म—तुम्हारे हृदयमें एक महल है, इसमें एक कमल खिला है। इसमें सद्भावकी पंखुडियाँ हैं और इसमें संकल्पकी मंजरियाँ हैं। इसमें जो तुम्हारी निष्ठा है वह कर्णिका है। इसमें जो प्रेमरस है वह मकरन्द है। मधु है। इसमें जो ज्ञान है वह चमक है। और, इसमें कौन रहता है? इसपर तुम्हारा प्यारा निवास करता है। और एक झलक इसकी मिल जाय तो,

जो मोहि राम लागते मीठे,
तौ नवरस षट्रस अनरस रस
हो जाते सब सीठे।

दमः—इन्द्रियोंका दमन करना। इनको जबरदस्ती भी रोकना। देखो; इसका अभिप्राय यह है कि मनमें क्रोधका भाव आ जाय, लेकिन हाथसे मारना नहीं किसीको, मुँहसे गाली नहीं देना। दमन करना। दमन करनेका अर्थ है कि इन्द्रियोंको जबरदस्ती भी रोकना। लेकिन; मनको समझाना। इन्द्रियोंके लिए दमन

है और मनके लिए शमन है, शान्ति रखना। मनमें काम आवे, क्रोध आवे, लोभ आवे तो उसके लिए है—**शान्तो दान्तः**।

अब थोड़ी बात साधकोंकी करते हैं। यह भी साधकोंकी थी, क्योंकि योगमें 'प्रत्याहार' शब्दका जब उच्चारण करते हैं तो मालूम पड़ता है कोई बड़ी लड़ाई है, बहुत कठिन समझते हैं। यह तो बड़ी लड़ाई नहीं है। जैसे आँखसे रुमाल देखना, यह विषयों और इन्द्रियोंका संयोग है और केवल आँख देखना—यह प्रत्याहार होगया और केवल एक दिल देखना यह अन्तरंग प्रत्याहार हो गया। यह भी प्रत्याहार ही है। विषय-वासना जो है वह शान्त होती है। **दमः शमः**। यह आप मत समझना कि आपके दिलपर कोई हाथ रख देगा और आपकी अखण्ड समाधि लग जायेगी। यह ब्लैक नहीं चलाना साधनमें, इसका अभ्यास करना पड़ता है।

एक सज्जन दो पैसेका माला और चन्दन हमारे पास ले आये और बोले कि चार बजे हमारे पास आना और हम वह टोना-टोटका करेंगे कि तुम्हारा ध्यान लग जायेगा। नारायण, ऐसे ध्यान लग जाता तो हम सब लोग ध्यान ही में रहते, हर समय ध्यान ही में रहते। यह ब्लैकसे काम नहीं चलता, इसके लिए दीर्घ-कालीन अभ्यासकी जरूरत पड़ती है, इसके लिए हृदयमें नियम निष्ठाकी जरूरत पड़ती है। **दमः शमः**।

श्रुतिमें वर्णन है—**शम, दम, उपरति, तितिक्षा, श्रद्धा, समाधान**—इसको वेदान्ती लोग षट् सम्पत्तिके नामसे बोलते हैं। वेदान्ती उसको कहते हैं कि जो उपनिषद्‌की बात ही बोले। यह बताते हैं कि अकलका बाध अकलसे नहीं होता, अकलका बाध ब्रह्मज्ञानसे होता है। अकलमन्दीसे अक़लका बाध नहीं होता। अकलमन्दीसे अक्कल बढ़ती है। इसलिए बहुत बुद्धिमान होनेसे या बहुत युक्ति जाननेसे या बहुत तर्क जाननेसे ब्रह्मज्ञानके बारेमें यह बुद्धि बढ़ती नहीं है।

आप लोगोंने कठोपनिषद सुनी है—

नैषा तर्केण मतिरापनेया, युक्तितर्क प्रतिष्ठानम्—इससे बुद्धि ब्रढ़ेगी, बुद्धि और पुष्ट होगी। अनन्त अखण्ड ब्रह्ममें बुद्धि नामकी कोई वस्तु नहीं है, यह बात बुद्धिसे कैसे मालूम पड़ेगी, यह अनुभवकी प्रणाली जुदा है। तो उपनिषद्‌ने कहा—

शान्तो दान्त उपरतस्तितिक्षुः समाहितः
श्रद्धान्वितो भूत्वा आत्मन्येवात्मानं पश्येत्।

(वृहदारण्यकोपनिषद्)

श्रुतिने शान्तो दान्तः कहा और भगवान्ने 'दम शम' कहा। देखो इसमें आगे-पीछेका फर्क है। यहाँ 'दन्त' है और शान्तः है; और, वहाँ शान्तः है और दान्तः हैं। षट्सम्पत्ति है। भगवान् दम देते हैं और शम देते हैं। जो चरित्र शुद्ध करके और उपासनासे तत् पदलक्ष्यार्थकी प्राप्तिका निश्चय कर चुका है—धर्मसे चरित्र शुद्धि करके उपासनासे तत्पदार्थकी प्राप्तिका निश्चय कर चुका है और योगाभ्याससे आत्मपदार्थका शोधन कर चुका है, माने तत्पदार्थका शोधन और त्वं पदार्थका शोधन जिसको हो गया है, महावाक्य उसको तत्पद-लक्ष्यार्थ और त्वंपद-लक्ष्यार्थकी एकताका उपदेश करता है।

वेदान्तमें स्थिति क्या हुई कि जब हृदय शान्त हुआ कामकी निवृत्ति हो गयी तो इन्द्रियाँ अपने आप शान्त हो गयीं। वहाँ शान्ति मिलनेसे दान्ति स्वाभाविक है। वहाँ ऐसे कहा जायेगा। **शान्तः दान्तः।**

धर्मानुष्ठान, ईश्वरोपासना, योगाभ्यास और आचार्यप्रसाद—गुरुकी कृपासे, उसका मन पहले शान्त हो चुका है, इसलिए वह शान्त है, उसकी इन्द्रियाँ काबूमें हैं। आरूढ़ हो गये हैं। बिलकुल तत्त्वज्ञानके निकट पहुँचा हुआ है। क्या फिकर है?

जब एक साधक नीचेसे ऊपरकी ओर चलता है, तब उसको पहले दान्तः होना पड़ता है, फिर शान्तः होना पड़ता है। पहले यह संकल्प उठा, मन क्या करता है? रोज हिसाब लगाता रहता है कि इस हिसाबसे अगर पैसे हमारे बढ़ेंगे तो एक बरसमें, दो बरसमें, तीन बरसमें कितने हो जायेंगे! अब एकने तो निश्चय कर लिया कि हमको तो संन्यास लेना है और यह सब छोड़ना है। जहाँ यह ख्याल होता है कि मरें तो हमारे बेटेको ही मिले, दूसरेको न मिले, वहाँ धनका मोह छूटा नहीं है, न बेटेका मोह छूटा है। वह संन्यास बाह्य संन्यास है, वह भीतरी संन्यास नहीं है। भीतरी संन्यासका अर्थ होगा—

ज्यों-की-त्यों धरि दीन्हि चदरिया।

अब इसको कौन लेगा या यह कोई कीमती चीज है, इसका कुछ ख्याल नहीं है।

महाराज! एक साधु मरे, तो उनके पास कुछ सम्पत्ति थी। उन्होंने चार पीढ़ीके लिए वसीयतनामा किया, हमारे उत्तराधिकारी ये हैं, इनके ये हैं, इनके ये हैं, तो इनके ये हैं। झूठी बात नहीं कहते, साँची। चार पीढ़ीके लिए वसीयतनामा किया माने उन्होंने तीन उत्तराधिकारियोंको बेवकूफ समझा कि नहीं? अगर कोई

बुद्धिमान आदमी होता, तो कहता ऐसी वसीयत हम नहीं स्वीकार करते। अब इनके पदपर कोई विद्वान् पुरुष नहीं आवेगा, कोई योग्य पुरुष नहीं मानते तो कमसे कम हमें अपना उत्तराधिकारी चुननेकी तो सुविधा देते, कि हम बुद्धिमानीसे अपना उत्तराधिकारी चुन लेंगे। चार पीढ़ीका चुननेकी क्या जरूरत है साधुको कि उनका उत्तराधिकारी वह होगा तो उनका वह होगा। नारायण अब क्या कीमत है पैसेकी, क्या कीमत है गद्दीकी!

तो 'दान्तः' अतएव 'शान्तः'। साधक पहले अपनी इन्द्रियोंको काबूमें करता है। हमने यह बताया कि जिसको यह ख्याल है कि इस हिसाबसे हमारी सम्पत्ति बढ़ती जायेगी तो उसको अशान्ति है न! बढ़कर इतनी हो जायेगी। अब जब उसने कहा कि हमने छोड़ दिया। छोड़ दिया तो हिसाब लगानेकी कोई जरूरत रही क्या? संन्यास लिया अब हिसाब लगानेकी कोई जरूरत नहीं कि कितनी बढ़े? जब उसने छोड़ दिया तब हिसाब लगाना छूट गया।

और, ज्ञान किसको होता है? कि जब हिसाब लगाना छूट गया, तब इन्द्रियोंके साथ कशमकश करनेकी जरूरत नहीं रहती है वह तो स्वाभाविक दान्त हो गयी न! शान्त होनेपर इन्द्रियाँ स्वाभाविक दान्त होती हैं और साधन-कालमें इन्द्रियोंको दान्त करना पड़ता है, तब मन शान्त होता है। इन्द्रियोंकी दान्ति मनकी शान्तिका साधन है और मनकी शान्ति इन्द्रियोंकी शान्तिका स्वाभाविक परिणाम है।

धर्ममें कर्ता इन्द्रियोंका दमन करता है। उपासनामें संकल्प किया जाता है। एक दिन एक माता आयी, बोली महाराज! बड़ी अशान्ति रहती है। क्या कारण है भाई? बोलीं हमारे पतिका मन बड़ा अशान्त रहता है, आप हमारे लिए कोई ऐसा अनुष्ठान बताओ कि हम अनुष्ठान करें जिससे कि हमारे पतिका मन शान्त हो जाय। मैंने कहा—तुम ऐसा अनुष्ठान क्यों नहीं करती कि तुम्हारा ही मन शान्त हो जाय, उनका अशान्त रहे तो रहे। बोलीं—नहीं महाराज, हमारा तो जैसा है वैसा ठीक है, पर उनका मन शान्त होना चाहिए।

अब सोचो जो अनुष्ठान करेगा अनुष्ठानका सबसे पहला प्रभाव तो उसीपर पड़ना चाहिए। जिसके लिए किया जायेगा, वह तो पारम्परिक हो गया। अपना मन शान्त हो, इसके लिए अनुष्ठान करोगे तो जल्दी असर पड़ेगा और दूसरेका मन शान्त हो, इसके लिए करोगे, तो उसका असर तो लम्बा हो जायेगा। पड़ेगा, लेकिन बड़ा लम्बा असर पड़ेगा।

धर्ममें कर्ता अपने बलसे, कर्मसे इन्द्रियोंको रोकता है और उपासनामें ईश्वरसे प्रार्थना करता है कि हमारे मनको रोक दो और योगमें जब प्रतिलोम परिणाम चितवृत्तिका होता है, तब अपने आप शान्त हो जाती है। और, वेदान्तमें महाराज, वहाँका शम-दम विलक्षण है। धर्ममें केवल निषिद्ध कर्म न होवे, इतना ही 'दम' है और निषिद्ध भाव न हो इतना ही 'श्म' है। जहाँ विहित क्रोध है विहित काम है वहाँ काम, क्रोध भी होवे और जहाँ विहित इन्द्रियोंका भोग है, वहाँ इन्द्रियोंका भोग भी हो। उपासनामें सब ईश्वरकी प्रसन्नताके लिए होवे। योगमें सब शान्त हो जाय। वेदान्तमें, यह तीनोंसे विलक्षण है। ऐसा नहीं है कि योगदर्शन सुनकर दौड़े गये, मनुस्मृति सुनकर दौड़े गये, इनका विवेक होता है। इनके अन्तरंग घुसनेका होता है, तब तत्त्वका पता चलता है। बड़े कामकी बात है।

अपने जीवनमें जो सुख-दु:ख आता है न, वह भगवान देते हैं। ऐसा गिनगिनके देते हैं, देखो हम लोग थोड़ा बोलते हैं सीधी बात। भागवतमें लिखा है कि जब महात्मा लोग सत्त्वको समझ जाते हैं तो चुप हो जाते हैं—**एवं विमृश्य सुधियो विरमन्ति शब्दात्।**

जब महात्मा लोग समझ जाते हैं कि असलियत क्या है तो उनका बोलनेका मन नहीं होता, शब्दोच्चारणके क्लेशसे उपराम हो जाते हैं।

ऐसी-ऐसी बात है इसके बारेमें, यदि हम यह बतावें कि तुम्हारे घरमें, जो घाटा हुआ है यह ईश्वरकी बड़ी कृपा है, तो आप सुनना पसन्द नहीं करेंगे। तुम्हारे घरमें जो मृत्यु हुई है, तुम्हारे शरीरमें जो रोग हुआ है, यदि हम बतावें कि यह ईश्वरने दिया है और बड़ी भारी तुम्हारे ऊपर कृपा की है तो वह समयसे समझमें आवेगा। बात असली है, इसमें ईश्वरकी कृपा है, इसमें ईश्वर आसक्ति छुड़ाता है, बन्धन छुड़ाता है, दु:ख छुड़ाता है, अहंकार छुड़ाता है, इसमें ईश्वर राग-द्वेष छुड़ाता है। बड़ी कृपा ईश्वर करता है। यदि हम इस कृपाकी व्याख्या व्यक्तिगत रूपसे करें तब तो आदमी चिढ़ जायेगा, सुनेगा नहीं और सामूहिक रूपसे करें तो अपने लिए नहीं समझेगा, अपने पड़ोसीके लिए समझेगा तो—

विमृश्य सुधियो विरमन्ति शब्दात्।

यह सुख दु:खकी जो बात है—अपने जीवनमें—दमकी, शमकी, सुखकी, आगे यह कल आपको सुनावेंगे।

बुद्धिर्ज्ञानमसंमोहः क्षमा सत्यं दमः शमः।
सुखं दुःखं भवोऽभावो भयं चाभयमेव च॥ 4॥

दमः शमः सुखं दुःखं—एक है दमन, दण्डसे जिसकी शोभा हो वह है दम और शान्तिसे जिसकी शोभा हो सो शम। 'श' माने शान्ति और 'म' माने शोभा। और 'द' माने दण्ड और 'म' माने शोभा।

इसका अभिप्राय क्या है? कि दोष-दुर्गुण जब क्रिया पर्यन्त आ जायँ, माने दोष-दुर्गुणके अनुसार जब क्रिया होने लगे तो दण्ड देकर उनको रोकना चाहिए और दोष-दुर्गुण जबतक मनमें रहें, तबतक उनको समझा-बुझाकर रोकना चाहिए। दण्ड देकर रोकनेकी भावनाको दम बोलते हैं और समझा-बुझाकर रोकनेकी भावनाको शम बोलते हैं।

जैसे दुश्मन जब प्रकट रूपसे आक्रमण करने लगे, तो **चतुर्थोस्योदितं दमः।** राजनीतिमें बोलते हैं चौथा उपाय दण्ड देना है। 'साम' माने पहले समझाना-बुझाना, यह पहला उपाय है। 'दाम'—कुछ दे-लेकर काम चले तो यह दूसरा उपाय है। दे-लेकर काम न चले तो 'भेद'—फूट डाल दो—यह तीसरा उपाय है और जब तीनोंसे काम न चले तो चौथा उपाय करो, उसका नाम होता है 'दण्ड'—दमः।

इन्द्रियोंको पहले समझाओ कि झूठ नहीं बोलना चाहिए, गाली नहीं देनी चाहिए, ब्रह्मचर्यका भंग नहीं करना चाहिए। समझाने-बुझानेसे न मानें तो कुछ दे लेकर भी बात कर लो। माने उसमें मर्यादा बना लो कि यहाँ तक काम करो, उसके आगे मत जाओ। जब उससे भी काम न चले तो भेद डालो, यह धर्मके विपरीत अधर्म है, यह पाप है यह पुण्य है, इससे भी काम न चले तो दमन करो, जबरदस्ती उनको रोको, दण्ड दो।

दमनं दमः—दमनका जो भाव है, भावरूप जो दमन है, उसीको दम बोलते हैं। अच्छा अभी जब दमन करना पड़ता है तो अकेले दमन हो जाय तो हो जाय,

नहीं तो मददगारकी भी जरूरत पड़ती है। यदि शत्रु बलवान हो तो उससे सन्धि करनी चाहिए, कमजोर हो तो दबा लेना चाहिए। शत्रुका मूल नहीं छोड़ना चाहिए। श्रीमद्भागवतमें आया—

यथाऽऽमयोऽङ्गे समुपेक्षितो नृभिर्न शक्यते रूपपदश्चिकित्सितुम्।

यथेन्द्रियग्राम उपेक्षितस्तथा रिपुर्महान् बद्धबलो न चाल्यते॥ 10.4.38

यदि शरीरमें कोई रोग होवें और उपेक्षा उसकी कर दी जाय, तो वह रोग बढ़ जाता है और वह फिर दवा करने पर भी नहीं मिटता। इसी प्रकार ये इन्द्रियाँ हैं; ये शत्रु हैं, इनकी उपेक्षा कर देनेसे, ये अपनी जड़ बना लेती हैं, पक्की कर लेती हैं और '*बद्ध बलो न चाल्यते*' जब इनकी जड़ जम जाती है, आदतें बिगड़ जाती हैं तो ठीक करते-करते भी ये ठीक नहीं होतीं तो ***रिपुपर दया परम कदराई***— शत्रुके ऊपर जो दया है, वह कायरता है, यह गोस्वामी तुलसीदासजीका वचन है। वेदमें एक मन्त्र आता है—

योऽस्मदारातियात् यस्य मे द्वेषतो जनाः।

निन्दा यस्मान् गुप्तां च सर्वं तं भस्मसात्कुरु॥

प्रार्थना करते हैं—हे अग्निदेव! जो हमसे दुश्मनी करता है, हमारी शान्तिमें विघ्न, हमारी स्वरूप स्थितिमें बाधा डालता है, जो काम, क्रोध, लोभ, मोह हमसे दुश्मनी करनेवाले हैं, जो हमसे जलन करते हैं, द्वेष करते हैं जो हमें नीचा दिखाते हैं, जो हमारी होड़ करते हैं, **सर्वं तं भस्मसात्कुरु**—उन सबको भस्म कर दो।

अग्निसे प्रार्थना है।

अब देखो जो अपने मनके दोषोंको और चरित्रके दोषोंको शत्रु समझकर उसको दण्ड देनेके लिए तैयार नहीं है—यह भाव है, यह बाह्य शत्रु आने पर क्या करेगा? जो अन्तर्शत्रुको दण्ड देनेके लिए हमेशा तत्पर रहता है, वही बाह्यशत्रुको दण्ड दे सकता है। और जो अन्तःशत्रुको दण्ड नहीं देता, उसको बाह्यशत्रुको भी दण्ड देनेका अभ्यास छूट जाता है।

तो बोले—भाई! यह सब तो नेचरकी माँग है। यह नेचर माने न्यक्चर— 'नीचं चरती', जो नीचेकी ओर जाय उसका नाम होता है संस्कृतमें 'न्यक्चर', उसको अंग्रेजीमें बोलते हैं नेचर।

प्रकृतिसे महत्, महत्से अहंकार, अहंकारसे पंचतन्मात्रा, पंचतन्मात्रासे पंचभूत, पंचभूतसे देश-न्यक्चर, न्यक्चर माने प्रकृति। वह परिणामको प्राप्त होकर नीचेको जाती है, विकारको प्राप्त होती है। इसीसे न्यक्चर बोलते हैं।

अब्र जो अपने जीवनके दुर्गुण और दोषोंको प्रकृतिपर छोड़ देगा, वह फिर बाहर कोई आक्रमण करेगा क्या? वह, तो बोलेगा 'कर लेने दो भाई, जैसा हमारा राज्य वैसा उसका राज्य।' ऐसा हो जायगा। और जो अपने भीतरके दोषोंसे लड़ाई करेगा, वह बाहरके दोषोंके समय भी बहादुर रहेगा।

तो मदद कैसे लेगा? देखो, यदि अपनी इन्द्रियोंको और विषय वासनाको शान्त बनाना है, सधाना है, घोड़ेकी तरह; तो मदद लेनी पड़ती है। तो दमनमें थोड़ी कालकी मदद लो। कालकी मदद लेना क्या? कि आज एकादशी है भाई, आज पूर्णिमा है, आज अमावस्या है, आज संक्रान्ति है, आज ग्रहण है, आज बुरे काम छोड़नेकी आदत डालो। यह कालकी मदद है। कालकी मदद हो गयी, सहारा ले लिया। बुरा काम करनेका जब समय आवे तो कह दें कि आज नहीं कल। आज नहीं भाई!

अच्छा, थोड़ा स्थानका सहारा लो। अरे भाई, यह मन्दिर है, यह गंगाका किनारा है, यह तीर्थ-स्थान है, ऐसी जगह बुरा काम नहीं करना! यह स्थानका सहारा हुआ।

थोड़ा व्यक्तिका सहारा लो। कि इस व्यक्तिके साथ ऐसा काम! नहीं, नहीं। बुराईको समझ लो। तो थोड़ा-समयका सहारा, थोड़ा स्थानका सहारा, थोड़ा व्यक्तिका सहारा। और, फिर क्रियाका सहारा लो। यह काम धर्म-विरुद्ध है, यह काम यह धर्मके अनुकूल है। बँटवारा कर लो।

फिर भोगका सहारा लेना चाहिए। भोगका सहारा लेनेका क्या अर्थ होता है? कि पवित्र जो भोजन है, स्वभावके अनुरूप वह करना चाहिए, जो अपवित्र भोजन है वह नहीं करना चाहिए।

आहार शुद्धौ सत्त्वशुद्धिः सत्त्वशुद्धेर्ध्रुवा स्मृतिः।

भोजन पवित्र करना चाहिए। भोजनकी पवित्रतामें चार बातें आती है—

एक तो—भोजन जन्मसे शुद्ध हो, माने किस्म भोजनकी, वह माँस, मछली, मदिरा--ऐसी चीज न हो। जाति उसकी शुद्ध हो। दूसरे—उसमें कोई गन्दी चीज मिलायी न गयी हो। गन्दे बर्तनमें न बनाया गया हो। तीसरे—उसको बनानेवाला अच्छा आदमी हो। एक स्त्री रोते-रोते रोटी बनावे और उसके आँसू उसमें गिरें। रोटी बनाते समय आँसू बहेंगे तो वे रोटी पर गिरेंगे ही, तो उसको खानेवाला खुश नहीं रह सकता। अच्छा कामनाके भावसे आक्रान्त होकर यदि कोई स्त्री रोटी बनावे तो उस रोटीपर भी कामका प्रभाव पड़ेगा। गुस्सेमें बनावे तो

गुस्सेका असर पड़ेगा। लोभके असरसे बनावे तो लोभका प्रभाव होगा। कहनेका अभिप्राय कि बनानेवालेका मन शुद्ध होना चाहिए, चीजकी किस्म अच्छी होनी चाहिए—गन्दी न हो, माने शास्त्र-विरुद्ध न हो। और बनानेका बर्तन, बनानेका स्थान—ये सब पवित्र हों।

चौथी बात यह है कि ईमानदारीकी कमाई होनी चाहिए। अपने हककी होनी चाहिए। ब्लैकका माल खावे और अन्त:करणको शुद्ध करना चाहे, कैसे होगा?

यह आहारकी शुद्धि है, इससे दमन होता है। इन्द्रियोंके दमनमें मदद लो। अपना सहायक बनाओ—आहारशुद्धिको। कर्मशुद्धिको अपना मददगार बनाओ। तब इन्द्रियोंका दमन होगा। अच्छे कर्मोंको करना, बुरे कर्मोंको नहीं करना।

भावशुद्धिको अपना मददगार बनाओ, इन्द्रियोंपर विजय प्राप्त करनेमें सुविधा होगी। और, स्थित बुद्धि होना, कभी-कभी इन्द्रियोंको छोड़करके; हर समय उन्हींमें रहनेसे वे ढीठ हो जाती है। किसीको ज्यादा मुँह लगा लेनेसे आदमी ढीठ हो जाता है। थोड़ा उससे अलग रहनेका भी अभ्यास होना चाहिए। अच्छा भाई, इतनी देर बन्द, तुम मिल नहीं सकते हो हमसे। इन्द्रियोंसे भी कह दिया कि इतनी देर तक तुम हमसे मिल नहीं सकती। हम अब अपने असंग शुद्ध आत्मामें स्थित होते हैं, मनका निरोध करते हैं, अपने असंग आत्मामें स्थित होते हैं—द्रष्टामें। ऐ इन्द्रियों! तुम इतनी देरतक हमारे पास आना नहीं, मिलना मत!

यह स्थितिकी सिद्धि है। तो भोगकी सिद्धि कर्मकी सिद्धि, भावकी स्थिति और स्थितिकी सिद्धि। और फिर यह देखना कि जिसकी यह सब सिद्धि होती है, उसका मैं द्रष्टा हूँ। शुद्ध चिन्मात्रात्मा। और, यह चिन्मात्रात्मा देश परिच्छेद, काल परिच्छेद, वस्तु परिच्छेदके अत्यन्ताभावका अधिष्ठान और प्रकाशक है, ब्रह्म है। तब उस ब्रह्ममें यह सम्पूर्ण देश, स्थान, वस्तुके भावाभाव बाधित हैं, अपने स्वरूपसे जुदा कुछ है ही नहीं। तो यह है—**दमः शमः**। दंडसे जिसकी शोभा हो, उसका नाम दम और शान्तिसे जिसकी शोभा हो, उसका नाम शम। अब शमके बारेमें भी एक दो बात आपको सुनाते हैं।

तो शमकी बात यह है, नारायण बिल्कुल घबरानेकी चीज नहीं है। शममें तो जैसे कोई परिश्रम ही न हो। श्रमका रूप बदल गया, शम हो गया। श्रममें से रेफ निकल गया, तो क्या रहा? शम रहा।

शान्त्या मीयते।

आपको थोड़ा विचार करनेकी बात सुनाते हैं। शममें कोई श्रम नहीं है। शममें रमण भी नहीं है, रण भी नहीं है। शम उसको कहते हैं जिसमें रण नहीं है, रणका रेफ नहीं है। श्रम वहाँ है, जहाँ रण है या रमण है और जहाँ रण और रमणका रेफ ही नहीं है, वहाँ श्रम क्या हो गया? कि शम हो गया। श्रममें-से रेफ निकल गया, रण और रमण दोनों निकल गया, तब उसका नाम शम हो गया।

अब आओ आपको दिखाते हैं—एक आदमी झूठ बोलता है, तो उसके मनमें 'शम' नहीं रह सकता और सत्य बोलता है, तब उसके मनमें शम रहेगा। अच्छा, वह चोरी करता है, तब उसके मनमें शम नहीं रह सकता और जो चोरी नहीं करेगा, तब उसके मनमें शम रहेगा आपको यह सुनाना है—लोभको मिटानेके लिए सन्तोष चाहिए और हिंसाको मिटानेके लिए अहिंसा चाहिए और असत्यको मिटानेके लिए सत्य चाहिए और कामको मिटानेके लिए ब्रह्मचर्य चाहिए। परन्तु धनके दो दोष होते हैं, एक तो दूसरेके हिस्सेका लेना—यह तो स्तेय है, दूसरेके हककी चीज बिना इजाजतके, उसकी स्वीकृतिके बिना ले लेना—यह तो 'स्तेय' हुआ—चोरी है। और, अपने हककी चीज जरूरतसे ज्यादा इकट्ठा करना, इसका नाम 'परिग्रह' है। एक है स्तेय और एक है परिग्रह। तो इन दोनोंके लिए दो चीज है, स्तेयके लिए 'अस्तेय' और परिग्रहके लिए 'अपरिग्रह'। माने दूसरेके हककी चीज लेना नहीं और अपने हककी होनेपर भी ज्यादा चीज रखना नहीं।

ये दोनों किसके मारक हैं? लोभके। दूसरेकी चीज लेनेमें भी लोभ है और अपने पास ज्यादा इकट्ठा करनेमें भी लोभ है। तो लोभके सामने दो पहलवान, एक अस्तेय और दूसरा अपरिग्रह।

असत्यके सामने एक चीज—'सत्य'।

हिंसाके सामने एक चीज—'अहिंसा'। और

कामके सामने एक चीज—'ब्रह्मचर्य'। लेकिन

लोभके सामने दो चीज—(i) अस्तेय और (ii) अपरिग्रह; क्योंकि महाराज, यह 'भजकलदार' जो है, यह मनुष्यको हरानेकी ऐसी लीला है कि ये जरा ज्यादा खींचती हैं। इसका मुकाबला करनेके लिए एक पर एकसे काम नहीं चलता, एक पर दो चाहिए डबल-ड्बिल होनेसे तब यह वशमें होता है। परन्तु

उसमें सुगमता क्या है, वह आपको बताते हैं। जैसे देखो, एक आदमी झूठ बोलता है तो हजार बात उसके मनमें आवेगी, एक झूठ पर सौ झूठ बोलना पड़ता है, तो अशान्ति हो गयी चित्तमें। लेकिन जो सच बोलेगा वह तो एक ही बात बोलेगा, तो शान्ति हो गयी मनमें। असलमें असत्यके कारण होनेवाली अशान्तिको निवृत्त करनेवाली जो शान्ति है, उसको सत्य कहते हैं। हिंसाके कारण होनेवाली जो अशान्ति है, उसका निराकरण करनेवाली शान्तिको ही अहिंसा बोलते हैं। लोभमें जो हजारों दोष हैं उसका निवारण करनेवाले अस्तेय और अपरिग्रहको शान्ति कहते हैं और कामनामें जो बड़ा भारी विक्षेप है चंचलता है, उसको मिटानेवाली शान्तिको ही ब्रह्मचर्य बोलते हैं। असलमें चित्तकी शान्ति सद्गुण है और चित्तका विक्षेप दुर्गण है। तो अलग-अलग सद्गुण ढूँढ़ना नहीं पड़ेगा। देखो, दोष तो अलग-अलग आवेंगे स्त्री-पुरुषको लेकर काम आवेगा, धनको लेकर लोभ आवेगा, दुश्मनको लेकर हिंसा आवेगी, वे अलग-अलग विषयोंको लेकरके आते हैं। इनमें फूट है। जो काम है सो क्रोध नहीं, जो क्रोध है सो लोभ नहीं, जो लोभ है सो काम नहीं, अलग-अलग हैं। धनको अपने पेटमें भरके आया लोभ। स्त्री-पुरुषको अपने पेटमें भरके आया काम, दुनिया भरकी कल्पनाको अपने पेटमें भरके आया झूठ, दुश्मनको अपने पेटमें भरके आयी हिंसा, लेकिन शान्तिका पेट खाली। शान्तिमें न स्त्री है, न पुरुष है, न धन है, न दुश्मन है। यह इसकी विशेषता है। इसलिए शान्तिको धारण करना माने अपने मनका पेट खाली कर देना। यही सद्गुण है। जब अपने मनका पेट खाली हुआ, तब वह परमात्माके साथ चिपक गया और जब अपने मनका पेट भर गया स्त्रीसे, पुरुषसे, दुश्मनसे, तब वह परमात्मासे दूर हो गया।

तो शमःका अर्थ क्या है? शमःका अर्थ है मनको विश्राम देना। तो जैसे नींद न आनेसे आपको रोग होता है, जैसे जाग्रत-अवस्था रहे, दिन भर खटपट करते रहे और नींद नहीं आयी तो डाक्टरकी जरूरत पड़ गयी, वैसे यदि आपको अपने मनको विश्राम देनेकी आदत नहीं है, आप मनसे काम तो बहुत लेते हैं। एक नौकर है उसको आप अपने घरमें यह चाहते हैं कि यह बैठने न पावे, हर समय दुकानसे यह ले आओ, बाजारसे यह ले आओ, घरमें यह बर्तन माजो, यह झाड़ू लगाओ, हर समय उससे काम लेते हैं, लेकिन वह छह घण्टे सो सके, इसका मौका अगर आप उसको नहीं देते हैं, तो आपका नौकर ठीक

काम नहीं करेगा? चायके प्याले तोड़ देगा, बर्तन ठनाठन गिरा देगा, कपड़े फाड़ देगा, इस्त्री करते समय जला देगा। जब उसको विश्राम नहीं मिला तो उसका चित्त विक्षिप्त हो गया।

तो जैसे मालिकका यह कर्त्तव्य है कि अपने नौकरसे काम भी ले और उसको विश्राम भी दे। यह मालिकका ही काम है कि यदि वह बर्तन माँजने और झाड़ू लगानेके द्वारा उसके कपड़े गन्दे होते हैं तो नौकरको कपड़े धोनेका मौका देना, कि उसके कपड़ेमें साबुन लगे और उसका कपड़ा साफ रहे, उसका ख्याल भी मालिकको ही रखना चाहिए। जब उससे दिनभर काम लेनेका ख्याल मालिक रखता है, तो उसके सोनेका ख्याल भी मालिकको ही रखना चाहिए। जब मालिक यह ख्याल रखता है कि चुरकर वह कोई चीज खा न जाय, तो ठीक भोजन उसको मिल जाय—इसका ख्याल भी मालिकको ही रखना चाहिए।

तो यह मन भी नौकर है। इसके हाथ नहीं है, लेकिन भीतरका सब काम करनेवाला यह नौकर है। इसको विश्राम देना। जिसको अपने मनको विश्राम देनेकी आदत नहीं है, दिन-रात कुछ-न-कुछ खटपट करता है, उसका मन पागल हो गया। मन ही जब पागल हो गया, तो उससे अच्छे कामकी उम्मीद कहाँसे रखेंगे? इसलिए मनको विश्राम देना। और, देखो, मनका पागलपन देखो, जितना तुम्हें करना है उतना ही तो तुम्हें सोचना है, जितना भोगना है; उतना ही तो सोचना चाहिए न, जिस वस्तुको प्राप्त करना है, उसीके बारेमें सोचना चाहिए; लेकिन ये मनीराम कहीं बैठनेका नाम नहीं लेते। जिनका मन वशमें नहीं है उनको तो अलग कर दो—आप अपनेको मत मानो इस कोटिमें, यह मान लो कि आपका मन वशमें है। लेकिन जिसका मन वशमें नहीं है, अगर उसको कह दें कि भाई; ईमानदारीके साथ जो बात मनमें आवे सो बोलते जाओ, यदि वह बोलने लगे तो आधे घण्टेके भीतर पागल खाने भेजने लायक स्थिति हो जायेगी, इसका मतलब है कि जीभपर अपना वश है और मनकी सारी बातें लोगोंके बीचमें बोल नहीं देते हैं, इसलिए भलेमानुष कहलाते हैं। यदि मनकी सारी बातें लोगोंके बीचमें बोल दें, तो वह भलमनसाहतका जो पर्दा है, वह बिल्कुल फट जायेगा। बाहरसे भलमनसाहत और भीतरसे पागल, ऐसा मन लिये-लिये जब संसारमें काम करना पड़ रहा है, तो बड़ा खतरा है न! अपने मनको समझाओ।

एक महात्माने पहले एक पुस्तक 'चित्त-प्रबोधनम्'—लिखी थी, वह मैंने

पढ़ी थी। बहुत दिनकी बात है, पुस्तकें तो छपती हैं, खत्म हो जाती हैं। 'चित्तप्रबोधन'—अपने चित्तको समझाओ। अरे भाई बच्चा है अभी, जरा बुजुर्गोंकी बात मान। तुझे यहाँ नहीं जाना चाहिए, तुझे ऐसा नहीं सोचना चाहिए, तुझे यह नहीं खाना चाहिए, यह नहीं पीना चाहिए, **लालयेत् चित्तबालकम्**—यह अपना मनरूपी जो शिशु है, यह जो बच्चा है यह बड़ा शैतान है, बड़ा शरारती है, यह बेढंगी बात करता है, बेढंगी बात सोचता है। इसे समझा-बुझाकर अपने वशमें करना। ये भीतर बैठे हुए जो परमात्मा हैं, वे इस 'दम'को भी शक्ति दे रहे हैं और 'शम'को भी शक्ति दे रहे हैं। परमात्मा तुम्हारी मदद कर रहा है। अगर तुम इस रास्तेपर चलो कि हम अपनी इन्द्रियोंको वशमें करें और हमारा मन शान्त हो जाय, काम-क्रोधादि दोष न रहे इसके लिए कोशिश करो, तो भीतर बैठा हुआ परमात्मा तुम्हारी मदद कर रहा है, परमात्मा बड़ा भारी मददगार है तुम्हारा।

अच्छा, ये सुख-दु:ख आते हैं। अब यह संसारका वर्णन है, भला, देखो।

बुद्धिर्ज्ञानमसंमोहः—ये तीन परमार्थकी ऊँची बातें हैं—बुद्धि, ज्ञान और असंमोह। और **क्षमा सत्यं दमः शमः**—ये चार अन्तरंग साधन होते हैं। अन्त:करणको शुद्ध करनेवाले ये चार साधन बताये हैं। वेदान्तकी भाषामें ये बहिरंग हैं, लेकिन अन्त:करण शुद्धिके ये चार साधन हैं। तो वे चारों जो श्रेष्ठ साधन हैं। बुद्धि, ज्ञान और असंमोह—ये तीनों श्रेष्ठ साधन भी परमात्मा देता है और क्षमा, सत्यं दमः शमः ये चार अन्त:करण शुद्धिके साधन हैं।

परमात्माके साक्षात्कारके लिए ये तीन बुद्धि, ज्ञान और असंमोह हैं। ऐसा समझो कि यह 'असंमोह' जो है, यह विपर्ययको निवृत्त करनेवाला है और 'बुद्धि' संशयको निवृत्त करनेवाली है और 'ज्ञान' जो है वह अज्ञानको निवृत्त करनेवाला है। तो बुद्धिने संशयको निवृत्त किया, असंमोहने विपर्ययको निवृत्त किया और संशय-विपर्ययकी निवृत्ति होने पर ज्ञानने अज्ञानको मिटा दिया।

तो श्रवण, मनन, निदिध्यासन—ये तीन जो अन्तरङ्ग साधन हैं, ये **बुद्धिर्ज्ञानमसंमोहः**—परमात्माने दिये और अन्त:करण शुद्धिके लिए **क्षमा सत्यं दमः शमः** ये औजार साफ करनेके लिए, अन्त:करण शुद्ध करनेके लिए हैं।

अब चलो संसारमें। तो देखो संसारमें छह बातें होती रहती हैं—

सुखं दुःखं भवो भावो भयं चाभयमेव च।

यह संसारका नंगा निरूपण है भला! **सुख दु:ख,** ये शाब्दिक होते हैं, उनका

ऐसा कहना है कि जितने अर्थ होते हैं, उतने शब्द होते हैं। जितने शब्द होते हैं उतने अर्थ होते हैं। अर्थके बिना शब्द नहीं, और शब्दके बिना अर्थ नहीं।

तो सुख और दु:ख जो अपनेको होता है, अब इसको समझानेकी तो कोई जरूरत नहीं, अपना दिल ही जानता है। स्वसंवेद्य है सुख-दु:ख। किसीको आँखमें आँसू देखते हैं, तो हम समझते हैं कि यह बड़ा दु:खी होगा और किसीको मुस्कुराते देखते हैं, तो समझते हैं कि यह बड़ा सुखी होगा। लेकिन महाराज मुस्कुरानेवाले बड़े दु:खी मिलते हैं कभी-कभी और रोनेवाले भी कभी-कभी भीतरसे बड़े सुखी मिलते हैं। बाहरसे आँसू निकालते हैं और भीतरसे मजा लेते हैं।

हमारे एक मित्र थे काशीमें, हर समय बस वे 'जोक' बोला करें, बहकानेके लिए 'जोक' ही तो बोलते हैं। जब देखो तब हँसा दें। उनके पास जाकर पाँच मिनट बैठो; हँसा दें। बड़े आदमी थे, उनका नाम मैं नहीं बताता हूँ, इसलिए कि आप लोगोंमें-से ज्यादातर लोग उनको जानते हैं, बड़े बूढ़े थे, मैं जाकर उनके पास बैठता था, खूब हँसाते थे। किस्से-कहानियाँ-चुटकुले उन्हें खूब याद थे। तो मैंने ऐसे एक दिन उनसे पूछा कि आप इतने खुश कैसे रहते हैं? जब देखो तब हँसी आपके चेहरे पर खेलती रहती है। वे हमको पण्डितजी बोलते थे। बोले—पण्डितजी, अपने दिलकी क्या बतावें? यदि मैं हँसाऊँ नहीं लोगोंको और हँसू नहीं, तो मेरा दिल फट जायेगा। देखो; स्त्री मर गयी, शरीर बूढ़ा हो गया, दो बेटे हैं उनमें एक गुंडा-आवारा हो गया और एक अभी छोटा है और छह लड़की हैं और छहों विधवा होकर हमारे घरमें रहती हैं, वे अपनी ससुरालमें नहीं रहतीं, उनके पालन-पोषणका सारा भार मेरे ऊपर है और दो सौ रुपया महीनाकी आमदनी है, वह भी जब काम करता हूँ तब मिलता है। दो सौ रुपये महीनेमें छह लड़कियोंको पालना, एक लड़केको पढ़ाना अपनी गुजर-बसर करना, अब इसमें यदि मैं जोक बोलके, चुटकुले बोलके, कहानी बोलके हँसता-हँसाता न रहूँ और अपने घरकी परिस्थितिकी याद करूँ, तो मेरा तो कलेजा फट जायेगा। देखो, वे हँसते थे लेकिन भीतर उनको बड़ा भारी दु:ख था।

एक चोर था, वह बेईमान था, उसने लाखों रुपये बेईमानी करके, चोरी करके, अपने पास रख लिया और जब किसीके पास जावे तो रोवे, आँसू गिरावे, उदास हो जाय, हाय-हाय, महाराज खानेको कुछ नहीं है, घरमें पैसा नहीं है,

पहननेके लिए कपड़ा नहीं है। लाखों रुपया तो चुराके रखा हुआ था। भीतरसे तो उसको सहारा था कि हमारे पास लाखों रुपया है और ऊपरसे रोता था।

अतः ऊपर-ऊपरसे पता नहीं चलता कि कौन दुःखी है और कौन सुखी है?

पाणिनीने क्या किया, कि सुख-दुःखकी व्याख्या करना जरूरी नहीं समझा। यह शब्द- शास्त्रके आचार्यकी बात आपको सुनाता हूँ। उन्होंने कहा—

सुख दुःखस्तु तत् क्रियायाम्।

जब अपने मनमें सुख हो तब उसको सुख समझना और जब अपने मनमें दुःख हो तब दुःख समझना। दूसरेका सुख-दुःख नहीं, अपने मनमें जब सुख-दुःख होता है उसको समझना। तत् क्रियायाम्। जब सुख हो तब सुख और जब दुःख हो तब दुःख। सुख-दुःख दोनों धातु हैं, उणादिमें, उनका रूप बनता है सुखयति। जो सुख देवे सो सुख। दुःखयति—जो दुःख देवे सो दुःख। अरे बाबा, यह कोई अर्थ हुआ? कि जो सुख देवे सो सुख, जो दुःख दे सो दुःख? यह तो 'मक्षिकास्थाने मक्षिका' हो गयी। तो क्या बैठता है? **तत्क्रियायाम्**। यह धातु जैसे भू-सत्तायाम् है ना, भू धातुका अर्थ सत्ता बताया। जैसे भू धातुका अर्थ सत्ता बताया, अद् भक्षणे—अद् धातुका अर्थ भोजन बताया, वैसे सुख-दुःख धातुका भी कोई अर्थ बताना चाहिए था कि इसका कुछ मतलब होता है। बोले कि नहीं, जब मनमें सुख हो तब सुख, जब दुःख हो, तब दुःख। माने स्वसंवेद्य है। पाणिनीका कहना है कि इसलिए स्वसंवेद्य चीज है, मनमें हम सुखी हों कि दुःखी हों, यह हम समझते हैं। अगर हम सुखी हैं और दूसरा कोई हमें दुःखी कहे तो उसके समझनेकी कोई कीमत नहीं है। और हम दुःखी हों और कोई हमको सुखी कहे तो उसके कहनेकी कोई कीमत नहीं! सुख-दुःखकी बात आपको एक दो और सुनाते हैं।

अब बोले कि अच्छा भाई पाणिनीकी बात कही, और थोड़ी गहराईमें देखो कि सुख-दुःखका कोई अर्थ निकलता है कि नहीं निकलता है? पहले शब्द ही की बात सुनो; क्योंकि हमें अर्थ तक पहुँचनेके लिए शब्दके सिवाय और कोई सहारा नहीं मिलता है।

न सोऽस्ति प्रत्यये लोकेयः शब्दानुगमादृते।

हमारे वैय्याकरणोंका मत है कि मनमें कोई ऐसा भाव ही नहीं होता, जिसका शब्दके द्वारा उल्लेख ही न किया जाय। शब्दानुगत भाव होता है। जब

मनमें एक, दो, संख्याएँ हैं, उस समय भी एक-दो, लाल, काला, पीला, दुश्मन-दोस्त, मनमें फुरते हैं, तो उसकी भी भाषा होती है। ये हमारे बाबू लोग जो अंग्रेजी ज्यादा पढ़े होते हैं, ये जब सोचते हैं, भीतर-ही-भीतर अंग्रेजीमें बोलते हैं। हम लोग सोचते हैं, तो इन चीजोंका नाम संस्कृत भाषामें रखते हैं। नाम रखना पड़ता है। तो देखो, सुख माने **सुष्ठु खं यस्मिन्।** खं माने हृदयाकाश। यह छातीके भीतर पोल है, उसमें कोई आँधी न हो, कोई तूफान न हो, कोई आग न लगी हो, बिल्कुल निर्मल हो अपना हृदयाकाश। ख माने आकाश। तो जिसमें अपने हृदयका आकाश बिल्कुल सुष्ठु हो, निर्मल हो, स्वस्थ हो, उसका नाम सुख। और, **दुर्निन्दितं खं यस्मिन् तद् दुःखम्।** जिसमें दिलमें उफान उठता हो, कामकी बाढ़ आगयी हो, क्रोधकी आग लग गयी हो, कामकी आँधी चल रही हो, गोस्वामीजीने ऐसे कहा—

काम वात कफ लोभ अपारा,
क्रोध पित्त नित छाती जारा।

क्रोधसे छातीमें जलन होती है, कामसे आधी चलती है, दर्द होता है और लोभसे कफ बढ़ जाता है, सर्दी जुकाम हो जाता है। क्रोध पित्त-प्रधान है, चित्तमें जलन होती है। काम वात-प्रधान है, वह शरीरमें मन्थन करके बाहरको फेंकता है। यदि अपने कलेजेमें कामकी आँधी चल रही हो और क्रोधकी आग जल रही हो और लोभकी बाढ़ आयी हुई हो और मोहकी हथकड़ी लगी हुई हो, तो इसे क्या कहेंगे? अपने दिलमें उपद्रव हो रहा है, दिलमें तूफान मच गया, इसका नाम दुःख है।

बुद्धिर्ज्ञानमसंमोहः क्षमा सत्यं दमः शमः।
सुखं दुःखं भवो भावो भयं चाभय मेव च॥4॥

यो मामजमनादिं च वेत्ति लोक महेश्वरम्—भगवान् कहते हैं मेरे शरीरको जो जानता है वह मनुष्योंमें तो असंमूढ़ है और सब पापोंसे प्रमुक्त हो जाता है। इसके पहले दूसरे श्लोकमें यह बात कही कि **न मे विदुः सुरगणाः प्रभवं न महर्षयः**—बड़े-बड़े ऋषि-महर्षि निवृत्ति परायण और बड़े-बड़े देवता-भोगपरायण—ये दोनों मेरे प्रभव और प्रभावको—उत्पत्ति और वैभवको नहीं जानते। अब कहते हैं कि जो कोई मुझे अजन्मा और अनादि जान लेता है, वह असंमूढ है और सब पापोंसे छूट जाता है, एक ओर तो यह कहना कि बड़े-बड़े देवता, महर्षि मेरे जन्म और मेरी विभूतिको नहीं जानते और एक ओर यह कहना कि जो मुझे अजन्मा जान लेता है। आखिर इसका तात्पर्य क्या है ?

मनमें क्या-क्या आता है—यह मत सोचो किसकी ओरसे आता है—यह देखो!

यह जो तुम्हारे मनमें तरह-तरहकी तस्वीरें बन रही हैं, यह क्या-क्या तस्वीर बन रही है, हर एकको यह देखना जरूरी नहीं है, लेकिन वह कौन कलाकार है, कौन चित्रकार है, कौन तस्वीर बनानेवाला है भीतर जिसकी रोशनीमें, जिसके रंगमें, जिसकी उंगलियोंसे यह हमारे दिलमें तस्वीरें बन रही हैं। यह रंग भरनेवाला कौन है! तो, **भवन्ति भावा भूतानां मत्त एव पृथग्विधा**—भगवान् कहते हैं कि वह रंगरेज, वह चित्रकार, वह अपनी किरणोंसे इन्द्रधनुष बनानेवाला सूर्य मैं हूँ—

भवन्ति भावा भूतानां मत्त एव पृथग्विधा।

यह मत देखो कि चाँटा किसने मारा, तो अपने मित्रका मारा हुआ चाँटा होवे, तब भी तकलीफ हो जावेगी और यह न देखो कि गुदगुदानेवाला कौन है, अपना शत्रु होवे, तब भी गुदगुदाके तकलीफमें डाल सकता है। तुम्हारी नजर ईश्वरपर जाये, हाथ उसका है, सत्ता-स्फूर्ति उससे हो रही है। उसमें, उससे, वही

नाना रूप-रंग धारण करके अपने हृदयमें प्रकट हो रहा है, देखो उसको। 'उसमें' माने अधिष्ठानगम्य , 'उससे' माने प्रकाशक वही है और तस्वीरका जो नामरूप है, वह भी वही है, उससे जुदा नहीं है। वही सच्चिदानन्दघन, आप ही चित्र और आप ही चितेरा है—**तस्य देवस्य चाद्यं न ममारः न जीर्यति**—देखो उस प्यारे प्रभुकी कविता, जो तुम्हारे हृदयमें ऋग्वेदकी ऋचा और सामवेदका संगीत-दोनों तुम्हारे दिलमें बना रहा है, उस प्रभुकी कारीगरी देखो—**मत्त एव पृथग्विधाः**।

चाहे वह वीभत्सरसका चित्र होवे, चाहे भयानक रसका होवे, चाहे रौद्र रसका होवे और चाहे श्रृंगार, अद्भुत, किसी रसका होवे, परन्तु उस कलाकारकी तारीफ करो।

एक चित्रशालामें गये, वहाँ देखा श्रृंगाररसकी तस्वीर, श्रृंगाररसका चित्र, मन प्रफुल्लित हो गया, अद्‌भुतरसका चित्र देखा, आश्चर्य हो गया, हास्यरसका चित्र देखा, हँसते-हँसते लोट-पोट होगये, करुणरसका चित्र देखा, रोने लगे, आँखमें आँसू आगये। जब अंग्रेजोंका राज्य था तब काशीमें भारतमाताका एक मन्दिर नया-नया बना था उसमें पराधीन भारतका देखकर आँसू आ जाते।

पर सब चित्र देखे, चित्र बनानेवालेको देखे ही नहीं। देखो, उस कारीगरकी कारीगरी कि वह जैसे तस्वीर सामने ला देता है, वैसा ही हमारा मन, वैसा ही हमारा तन, वैसी ही हमारी बुद्धि बन जाती है।

तो बुद्धि, ज्ञान, असंमोह—बुद्धि नयनात्मिका, ज्ञान अज्ञान-निवर्तक, और असंमोह निद्धिध्यासनात्मक वही देता है। सत्यसे प्रीति, दम-इन्द्रियोंका निग्रह, शम-निष्ठावती बुद्धि; वही प्रभु देता है। सुख दुःख भी वही देता है। यह सुख जब बोलते हैं तो 'सु' हल्का बोलते हैं और जब दुःख बोलते हैं तो 'दुः' को भारी बोलते हैं। 'सुख-दुख' ऐसे नहीं बोला जात, सुख-दुःख; दु और खके बीचमें दो बिन्दी होती है, तब वह 'दुःख' शब्द बनता है।

अब आपको सुना रहा था कि शब्दका अर्थ तो तब बताया जाय, जब सुननेवालेको मालूम न हो। लेकिन दुनियामें ऐसा कौन शरीरधारी है जिसको सुख-दुःख शब्दका अर्थ मालूम न हो। इसलिए पाणिनीने पाणिनीय व्याकरणमें, जब सुख-दुःखका अर्थ बताना हुआ, तो सुख और दुःख दो धातु तो मान ली, लेकिन ऐसा अर्थ बताया कि **तत् क्रियायाम्**—सुख हो सुख है, दुःख हो दुःख है। लो, यह तो कोई बात ही नहीं बनी। उन्होंने कहा—आओ, आओ इसको और खोजें, शब्दके दिलमें देखें। तो,

सुष्ठु खं हृदयाकाशं यस्मिन् तत् सुखम्।

जिसमें हमारा हृदय निर्मल होवे, वह सुख है। और, जिसमें हमारा हृदय मलिन होवे वह दु:ख है।

असलमें वासना ही दु:ख है। सामान्य रूपसे वासना माने दु:ख। जो चीज हम नहीं चाहते हैं, वह हो तो दु:ख और जो चीज हम चाहते हैं वह न हो तो दु:ख। इसीको राग-द्वेष बोलते हैं। पसन्दगी-नापसन्दगी। नापसन्दगीमें द्वेष होता है और पसन्दगीमें राग होता है। यह अपने मनका जो राग-द्वेष है—वासना है, वह सुख-दु:खकी सृष्टि करती है। इसीलिए जो निर्वासन होते हैं, उनको दु:ख नहीं होता है, कि यहाँ यूँ भी वाह-वाह है, यूँ भी वाह-वाह है। जिसको कहीं जाना नहीं है, उसका मुँह कोई पीछेको कर दे तो पीछेको चलता रहे, आगेको कर दे तो आगेको चलता रहे। उसके लिए मरना भी ठीक; जीना भी ठीक। जीनेकी वासना है, तब मरनेमें दु:ख है और मरनेकी वासना है तो जीनेमें दु:ख है। इसलिए महात्मा लोग कहते हैं—

निरस्तवासनान् मौनात् ऋते नास्ति परं पदम्।

वासनाहीन मौनसे बढ़करके और कोई उत्तम पद नहीं है। अपनी जगह पर बैठे रहो।

अच्छा, तो फिर दूसरा देखो।

सुष्ठु शोभनानि खानि यस्मिन् तत्सुखम्।

जिसमें अपनी इन्द्रियाँ प्रफुल्लित हैं उसका नाम सुख है।

पराये घरमें जाना दु:खीका लक्षण है। यह दिनभर भटकते रहना, इस दुकानसे उस दुकान, उस दुकानसे उस दुकान, माने घरमें कोई कामकी चीज नहीं है, तो दुकानमें ढूँढ रहे हैं, इनसे मिलना, उनसे मिलना, उनके पास जाना, उनके पास जाना, घर पसन्द होता तो बाहर क्यों जाते? अपने दिलमें सुख होता तो बाहर काहेको निकलते! अपनी आँखमें अगर सुन्दरता समायी हुई होती, तो दूसरेको देखनेकी जरूरत क्या पड़ती!

'प्रीतम छबि नैनन बसी, पर छवि कहाँ समाये।'

अच्छा, अब आओ सुख-दु:खके बारेमें थोड़ा विचार करें। तो दोनोंमें सुखमें और दु:खमें एक गुण लगा है—यह क्यों है? कि

सुष्ठु शोभनम् खनतीति सुखम्।
दुर्निन्दितम् खनतीति दु:खम्॥

दु:ख निन्दित है। ये सुख-दु:ख अपने दोस्त-दुश्मनको ढूँढ निकालते हैं। जब किसीसे बड़ा मजा मिले तो कहेंगे यह हमारा बड़ा दोस्त है, उसके दातासे राग जोड़ लेते हैं। और, जब दु:ख मिले, तो दुश्मन ढूँढ निकालते हैं—खनति—खोद निकालता है।

जब दु:ख होता है, असलमें दु:खानुशयी दोषका उदय हो जाता है और सुखानुशयी रागका उदय हो जाता है, जब कभी सुख मिलता है। स्वामी शरणानन्दजी महाराज कल अये थे बता रहे थे कि कहीं अकेले चलते रहे, ये तो प्रज्ञाचक्षु हैं, अनुग्रहकी आँखसे देखते हैं। तो चले सड़कपर एक सामनेसे बैलगाड़ी आ रही थी और वह लगी टक्कर, तो गिर पड़े, डण्डा उधर गया, कमण्डलु उधर गया, बड़ी तकलीफ हुई। ये तो बल खाके रह गये। लेकिन एक बुढ़िया गाँवमें-से निकली और गाड़ीवानको उसने खूब गाली दी कि यह बेचारा तो बिना आँखका है, इन्हें नहीं दीखता था, पर तुम तो आँखवाले हो, तुमको गाड़ी बचाकर ले जानी चाहिए। तो बोले कि मनमें थोड़ा सुख मिला, आश्वासन मिला कि चलो! हमारी ओरसे बोलनेवाला कोई निकल आया। अच्छा किया, गाड़ीवानको डाँट दिया।

कहते हैं कि जब कुछ आगे बढ़ा, तो पेड़से जाकर टकरा गया। फिर गिर गया, फिर चोट लगी। तब मनमें विचार हुआ कि अब किसको गाली दें? वहाँ तो गाड़ीवानको दु:खका दाता मानकरके, उसको गाली दी तब खुशी हुई, अब पेड़को गाली दें। वह तो कर्ता नहीं है न!

असलमें जब सुख-दु:खका हम कोई संसारमें देनेवाला मान बैठते हैं, तो दु:ख देनेवालेसे द्वेष होता है और सुख देनेवालेको अपना दोस्त मानते हैं। चित्तमें रागद्वेषका उदय होता है। यदि कर्ता पर नजर न जाय संसारमें, सब जगह यही मालूम पड़े कि उसी प्यारेका हाथ है, यह उसीने चिकोटी काटी है, यह उसीने चाँटा मारा है। पहचानो भाई उसको! **मत्त एव पृथग्विधाः**—सुख-दु:ख बदल जायेंगे। यह अपनी आत्माकी ही स्फूर्ति है।

आओ थोड़ा गीतामें सुख-दु:खका विचार जो है, वह करें। आओ सुखकी बात करें पहले। गीतामें, संसारमें जो सुख होते हैं, उनकी गिनती करायी। एक आदमी काम न करना पड़े तो अपनेको बड़ा सुखी मानता है। निद्रा, आलस्य, प्रमाद और उस समय सुखं मोहनमात्मनः—उस समय मोहन सुख है। अपनेको मोहमें फँसा दिया। इस देहके साथ मूढ़ हो गये। पलंग पर सोता रहे तो बड़ा सुख।

आलसीको अगर चबाना भी न पड़े अपने मुँहसे, दूसरा कोई चबाकर उसके मुँहमें डाल दे तो बहुत मजेदार! ये आलसी लोग हैं। **प्रमाद**—प्रमाद यह है कि दुनियामें किसीपर ऐसा भरोसा कर लेना कि यह हमारी हमेशा सेवा करेंगे, हमको सुख पहुँचायेंगे, यह प्रमाद है, बिलकुल प्रमाद है। दूसरेके भरोसेपर कैसे हम सुखी रह सकते हैं? वह पहले मर सकता है। वह पहले बिछुड़ सकता है। एक आदमीपर भरोसा करके बैठ जाना, कि यही हमको सुख देगा—यह बुद्धिका प्रमाद है। पड़े रहनेसे हमको सुख होता है—यह आलस्य, लेटे रहनेसे सुख होता है, निद्रासे सुख होता है—यह मोह है। मोह क्यों है कि मूढ़ अवस्थामें जो शरीर है, हड्डी, माँस चाम—इसमें 'मैं' करके बैठ गये, इसका नाम तामस सुख है; यह अँधेरेका सुख है। यह ब्लैक है असलमें काला है। कुछ करना नहीं, दूसरेके भरोसे पड़े-पड़े अपनेको सुखी माननेकी कोशिश करना—यह तमोगुण है।

यदग्रे चानुबन्धे च सुखं मोहनमात्मनः।
निद्रालस्य प्रमादोत्थं तत्तामसमुदाहृतम्॥

यह सुख तामस है। न लेटते समय, आलस करते समय, प्रमाद करते समय सुख है, और न तो उसके नतीजेमें कोई सुख मिलेगा। इसका परिणाम तो क्या निकलेगा! और काम करनेकी आदत और छूट जायेगी। यह जो तमोगुणी सुख है, यह असलमें सुख नहीं है।

अब देखो, दूसरा सुख क्या है? कि राजस सुख है। वह क्या है? कि भोग-सुख। भोग सुख जो है उसको राजस कहते हैं।

विषयेन्द्रियसंयोगात् यत् तदग्रेऽमृतोपमम्।
परिणामे विषमिव तत्सुखं राजसं स्मृतम्॥

यह भोगका अभ्यास हो जानेसे आदमी बड़ा दुःखी हो जाता है। हमने सौमें-से निन्यानबे आदमियोंको यह याद करके रोते देखा है कि पहले हमारे घरमें क्या-क्या सुख था! हमारे घरमें कैसे पलंग थे, कैसे महल थे, कैसे पति थे और कैसे पुत्र थे और कैसी इज्जत थी, अब नहीं है। इन्हीं पुरानी बातोंको याद करके रोते हैं।

यह खण्डहरकी याद करके रोनेवाले लोग। खण्डहर ही तो है न! यह इमामबाड़ा उनसे छूटता नहीं। लखनऊमें छोटा इमामबाड़ा, बड़ा इमामबाड़ा, वे नवाबी समयके संस्मरण हैं। पहरेदार बन्दूक लेकर खड़ा रहता है। तो ये जो जिन्दगीके इमामबाड़े हैं, वे गढ़ते हैं। कैसे? कि जो भोगी हो जाता है, वह

जिन्दगीमें इमामबाड़ेकी रचना करता है। पीछेकी याद करते रहते हैं। जबतक मिला नहीं तबतक दु:खी हैं यह मिले, यह मिले और मिलकर छूट गया तो खण्डहरके पहरेदार।

एकके घरमें गये, तो घेरा बड़ा भारी, उसमें बीचमें छोटा-सा कमरा, अब महाराज ऐसा कालीन उसमें बिछाया था, जो जगह-जगहसे फट गया था, बिलकुल गन्दा, उसके रोयें उड़ गये, पर था बड़ा। तो उन्होंने बताया यह हमारे दादाके जमानेका है। पहले महाराज ऐसे-ऐसे कालीन हमारे पास थे, दो-दो बार दिनमें बिछाये जाते थे, अब तो कम्बल भी नहीं है ओढ़नेको, और रोने लग गये।

जो लोग विषय और इन्द्रियके संयोगसे होनेवाले सुखमें आसक्त होते हैं, उसमें बड़ा दोष है, क्योंकि मिलनेसे पहले तो भिखमंगे और मिलनेपर अभिमान और छूटनेपर बुखार; दु:ख हो गया। जिसको तुमने अमृत समझकर स्वीकार किया, वह तुम्हारे लिए विष हो गया।

और फिर देखो, भोग माने विवर्धन्ते रागा:—जो जितना भोगाभ्यास करेगा, उसको और-और चाहिए। जब खानेकी आदत पड़ेगी तब पीनेकी भी पड़ जायेगी। क्योंकि खानेमें तकलीफ होती है, पीनेकी आदत पड़ जायेगी। खाना और पीना बोलते हैं, मुम्बईमें बोलें—बाहरका खाना। भर्तृहरिका एक श्लोक है—

भिक्षो मांसनिषेवणं अकुरुषे किन्तेन, मद्यं विना
मद्यं चापि प्रियं, प्रियमहो वाराङ्गनाभि सह।
वेश्याप्यर्थरुचि: कुतस्तव धनं, द्यूतेन चौर्येण वा
चौर्यद्यूत परिग्रहोऽपि भवत: भ्रष्टस्य काऽन्या गति:॥

एक भिखारी था, वह माँस खा रहा था। राह चलते किसी बुद्धिमानने पूछा—अरे ओ भिखारी, है तो तू भिखमंगा और खाता है माँस? तो भिखारी बोला—बाबू! सच कहते हो, मैं माँस खाता हूँ, पर,

किन्तेन मद्यं विना—जबतक शराब नहीं मिलती तबतक मजा नहीं आता।

मद्यं चापि प्रियम्? तू शराब भी पीता है, बेवकूफ? वह बोला—

प्रियमहो वाराङ्गनाभि सह—महाराज शराबका मजा तो तब आता है, जब साथ वेश्या हो। बोले कि राम राम राम, तुझे वेश्या भी चाहिए? **वेश्याप्यर्थरुचि: कुतस्तव धनं**—वेश्याको तो धन चाहिए, तेरे पास धन कहाँसे आया? बोला—**द्यूतेन चौर्येण वा**—जूआ खेलता हूँ और चोरी करता हूँ।

चौर्य द्यूत—क्या तुम चोरी और जूआ भी करते हो? बोला—**भ्रष्टस्य काऽन्या गतिः**—जो एक बार अपने रास्तेसे गिर गया, उसके लिए फिर दूसरा चारा ही क्या है? वह और कर ही क्या सकता है?

यह जो विषय और इन्द्रियके संयोगसे सुख होता है, यह मनुष्यको अधिकाधिक बाँधता है और अधिकाधिक गिराता है। इसको राजस सुख बोलते हैं। बड़ी भारी तारीफ है। बोले—अमुक महाराजके हरममें दो सौ, तीन सौ औरतें रहती हैं। यह सुख है। तो यह राजस सुख जो है यह भोगके समय तो अमृत मालूम पड़ता है, लेकिन बादमें यह बन्धनका हेतु होता है। और और भोगाभ्यास बढ़ता है, और और प्यास बढ़ती है, और और वासना बढ़ती है, और और मनुष्यका पतन होता है, यह राजस सुख है।

सात्त्विक सुख क्या है?

अपने जीवनमें अच्छे अभ्यास डालो जिस दिन सूर्य नमस्कार किया, मजा आ गया। माला फेरी, मजा आगया।

अरे कहते हैं जिन्दगी भर माला ही फेरें! अच्छा जिन्दगी भर शराब पीयें, और क्या करेंगे?

नारायण, देखो एक जहर होता है, वह शरीरको मारता है, और, नशा किसको मारता है? बुद्धिको।

सत्का विरोधी मृत्यु है, जहर मृत्युका कारण है, सदंशका विरोधी है विष और चिदंश बुद्धिका विरोधी है नशा और अपना आत्मा सुख है, सुखका विरोधी क्या है? विषयासक्ति। अपनेको सुखरूप न जान करके, संसारके विषयको सुखरूप जानना। यह देहाध्यास ऐसे नहीं छूटता है, कि थोड़े दिन भोग लो तो छूट जायेगा।

यावतः कुरुते जन्तुः सद्भावे मनसः प्रियान्।
तावदेव हि खन्यन्ते हृदये शोकशंकवः॥

मनुष्य अपने मनको प्यारे लगनेवाले जितने रिश्ते नाते दुनियामें जोड़ता है, यह हमारा चाचा, यह हमारा मामा, यह हमारा ताऊ, अरे जितने रिश्ते बढ़ेंगे, उतने लोग ज्यादा तुम्हारी जिन्दगीमें मरेंगे, जितने रिश्ते बढ़ेंगे, उतने ज्यादा लोग बिछुड़ेंगे, जितने लोग रिश्ते-नातेमें बढ़ेंगे, उतने ज्यादा बीमार पड़ेंगे, अरे वंश बढ़ रहा है, वृद्धि हो रही है, हे भगवान्! एक वृद्धि हुई माने एक दुःख और बढ़ा। एक वियोग, एक मौत, एक रोगी और बढ़ा। संसारमें यही वृद्धि हो रही है। एक पति-

पत्नी थे, वे बड़े भक्त थे भगवान्‌के, उनके आगया बेटा। अब भगवान् छूट गये। सारी प्रीति उसमें गयी। अब भगवान् रोज आवें, उनका द्वार खटखटायें अरे भाई मैं भी आया हूँ, मेरी ओर भी ध्यान करो। सारा ध्यान बेटेमें ही जो बेटा भगवान्‌ने दिया था। दोनोंके दिलको गुदगुदाया, अरे मेरी ओर देखो, मुझसे प्रेम करो, मुझको मत छोड़ो। अब वे दोनों तो लगे थे बेटेमें, बोले—यही भगवान् है। भगवान्‌ने कहा—भाई इतनी भक्ति करनेके बाद ये भटक गये, उठा लो उसको बीचमें-से, अपनी गोदमें ले लिया। दोनों ढूँढने लगे कहाँ गया, कहाँ गया? जब कहीं नहीं मिला तब उनको ख्याल आया कि भगवान्‌ने दिया था, शायद भगवान्‌ने अपनी गोदमें ले लिया हो, तो चलो उनके पासमें मिलेगा। जब बेटेको खोजते हुए भगवान्‌के पास पहुँचे, तो देखा उनकी गोदमें खेल रहा है बोले—अरे आपके पास है! अब दोनोंको भगवान्‌की फिर याद आगयी कि भगवान् हमारे कितने प्यारे, तो बेटेको भगवान्‌ने अपने शरीरमें मिला लिया।

यह देखो संसारमें जो सुख है न, सुख, बिना परिश्रमके जो सुखी होनेकी कोशिश करते हैं, उनका सुख अधूरा है।

अभ्यासाद्रमते यत्र दुःखान्तं च निगच्छति।
यत्तदग्रे विषमिव परिणामेऽमृतोपमम्।
तत्सुखं सात्त्विकं प्रोक्तं आत्मबुद्धिप्रसादजम्॥

आत्माकार बुद्धिके प्रसादसे जो होता है, वह सुख क्या है? वह बुद्धि-प्रसाद है। यह बेटा प्रसाद नहीं है, यह बाप प्रसाद नहीं है, यह धन प्रसाद नहीं, मकान प्रसाद नहीं। सुखका नाम देवी-भक्त नहीं है, कौन है? कि **आत्मबुद्धिप्रसादजम्**—जब चित्तवृत्ति संसारमें भटकना छोड़करके आत्माकार होती है और वासनाका मल चूर-चूर हो जाता है, तो उस समय सात्त्विक सुखका उदय होता है। चाहे धर्माभ्याससे होवे, चाहे उपासनाभ्याससे होवे, चाहे योगाभ्याससे होवे; जो सुख अभ्याससे उत्पन्न होता है वह अपनी मेहनतका फल है।

राहमें पड़ा हुआ पैसा पाकर कोई धनी नहीं हो सकता। एक आदमी था, वह बड़े प्रेमसे, रोज हल लेकर जाता और दोपहरतक खेत जोतता, बैठकर रोटी खाता, फिर खेतमें काम करता, दिनभर लगा रहता, फसल अच्छी होती उसकी, खाने-पीनेका काम चलता। बच्चे थे, बड़े आनन्दमें रह रहा था। एक दिन क्या हुआ कि जब वह पेड़के नीचे भोजन करनेके लिए गया, तो एक चिड़िया आकर उसके शरीरसे टकरा गयी, अकस्मात। टकरा गयी तो पकड़ लिया, बड़ी खुशी

हुई कि आज तो मैंने एक चिड़िया पकड़ ली। जाकर बाजारमें बेचा, तो दस रुपये मिल गये।

अब उसने कहा खेतीका काम दस दिन करें, तब भी दस रुपया नहीं बचता है और यह तो जरा-सी चिड़िया शरीरसे टकरा गयी, दस रुपया मिल गया, अब क्या किया कि हल जोतना छोड़कर उसने जंगलमें घूमना शुरू कर दिया, काहेके लिए? कि कभी चिड़िया आकर टकरा जायेगी तो दस रुपये मिल जायेंगे। अब महाराज छह महीना हो गया, सालभर होगया, कोई चिड़िया टकरायी ही नहीं, सालभरकी खेती नष्ट, बेटी-बेटा भूखे, स्त्री भूखी।

जो लोग अकस्मात् मिलनेवाली चीज पर, सट्टेमें पैसा आजायेगा, जूएमें पैसा आ जायेगा, रास्तेमें पड़ा मिल जायेगा, दूसरेकी गाँठ काट लेंगे, इस आधार पर अपना जीवन व्यतीत करते हैं, उनका जीवन तामस जीवन है भला! और जो अपने परिश्रमसे उत्पन्न करते हैं—

पंचमेऽहनि षष्ठे वा शाकं पचति स्वे गृहे।
अनृणी चाप्रवासी च स वारिचर मोदते॥

भले पाँचवें छठे दिन केवल सब्जी खाकर गुजारा करना पड़े, लेकिन अपने सिरपर कोई कर्ज न हो और पराये घरमें न रहना पड़े, तो बोले बड़ा भारी आनन्द है। 'अन्ये च प्रवासी च'—परायेके सहारे न जीना पड़े और कर्ज न लेना पड़े, 'स वारिचर मोदते'—वह आनन्दित होता है।

क्लेश फलेन पुनर्नवतां विधत्ते।

कालिदासने कहा—कितनी भी तकलीफ उठानी पड़े, परिश्रम करना पड़े लेकिन उसके बाद जो थोड़ा-सा फल मिलता है, तो नवीन स्फूर्ति आ जाती है जीवनमें। यह है सात्त्विक सुख।

अब जरा समाधि सुखकी बात कर लें। समाधि सुख, ब्रह्म सुख, गीतामें तो सबका ही वर्णन है! एक गुर बता देते हैं आपको। दु:ख कभी किसीको सुषुप्तिमें नहीं होता। दु:ख जब होगा, तब जाग्रतावस्थामें होगा, संयोग-वियोगसे। अथवा स्वप्नावस्थामें होगा अपनी कल्पनासे। सुषुप्ति-अवस्थामें किसीको दु:ख नहीं होता। इसका मतलब है कि जहाँ त्याग सत्ता है, वहाँ दु:ख नहीं है। जहाँ स्वप्न और जाग्रत्के सारे दु:ख छोड़ दिये गये, वहाँ दु:खका नामोनिशान नहीं है। स्वप्न और, जाग्रत्के दृश्योंको पकड़ रखना, उनमें आस्था रखना, उनमें बँध जाना—यही दु:ख है। कितना भी दु:खी हो आदमी, खूब मार खाये हुए हो, खूब रोग होवे, खूब

वियोग होवे, खूब दरिद्रता होवे, घरमें मौत ही मौत हो, लेकिन नींद आ जाय, तो? इसका मतलब है कि सारे दुःख बहुत छिछले स्तर पर, ऊपर-ऊपर जाग्रत् और स्वप्नमें घूमा करते हैं सुषुप्तिकी गहराईमें तो दुःखकी पहुँच ही नहीं है। एक बात और आपको इस सम्बन्धमें सुनाता हूँ। 'मैं दुःखी हूँ'—यह अभिमान जिसको नहीं है, उसको दुःख कभी छू नहीं सकता। आभास-रूप बोलते हैं इसको। दुःख साक्षीभास्य है, आभासभास्य नहीं है। माने जैसे घड़ा दिखाता है, कपड़ा दिखता है, घट-पट; घट माने घड़ा, पट माने कपड़ा, मठ माने मकान जैसे घड़ा, कपड़ा, मकान दिखता है, लोहा हथेलीपर उठाकर लाते हैं, ऐसे दुःखको पकड़कर ले आओ कि यह दुःख है हमारा; माने दुःख न हाथसे पकड़ा जा सकता है, न पाँवसे चलकर दुःख तक पहुँचा जा सकता है, न आँखसे दुःख देखा जा सकता, न त्वचासे दुःख छुआ जा सकता, दुःखके निमित्तमें दुःखका आरोप कर देते हैं। निमित्त दूसरी चीज है और दुःख दूसरी चीज है। बोले—मौत दुःख है। नारायण! मौत तो हजारोंके घरमें होती रहती है, यह तुम्हारे घरमें हुई तो दुःख हो गया और दूसरेके घरमें हुई तो दुःख नहीं हुआ। मौत अगर दुःख होती तो किसीके घरमें होती तो दुःख होता, बोले—नहीं, ममता दुःख है। मेरा मर गया। मौत दुःख नहीं है, ममता दुःख है। दिवाला हजारोंके निकलते रहते हैं, क्यों नहीं दुःखी होते, अपना निकलता है तब दुःखी होते हैं। दिवाला निकलना दुःख नहीं है, मेरा और मेरेका दिवाला निकलना दुःख है।

यह दुःख स्वीकृति है, मानसिक वस्तु है। दुःख माने ठोस द्रव्य नहीं। घट-पट-मठके समान मरना दुःख नहीं, वियोग दुःख नहीं, धन जाना दुःख नहीं, शरीरमें रोग होना दुःख नहीं।

आपको मालूम होगा ये जो भिखमंगे लोग होते हैं, हाथ-पाँव तोड़ लेते हैं, आँख फोड़ लेते हैं, काट देते हैं, खून बहा देते हैं और भीख माँगते हैं। हमारे गाँवमें एक बिन्द था, उसको अपने दुश्मनको सताना था कि उसको दुःख पहुँचे। उसने क्या किया कि अपने शरीरका एक अंग काट दिया और पुलिसमें रिपोर्ट लिखायी कि हमारे दुश्मनने काट दिया। बिलकुल सच्ची घटना है, लेकिन लोगोंको मालूम हो गया कि उसने नहीं काटा, वह भलामानुस है, वह भला किसीके ऊपर ऐसा हथियार काहेको चलावेगा। लोग इकट्ठे हुए, पंचायत हुई, मैं भी था। यह कह दिया कि नहीं, उस आदमीने नहीं काटा है, पुलिसके सामने सब लोगोंने कहा कि इसने अपने आप काटा है। झूठी शिकायत की है।

देखो, दुःख कहाँ है? जहाँ स्वीकृति है कि मैं दुःखी हूँ। आप बिलकुल अस्वीकार कर दो। चाहे दुनियामें कुछ हो जाय मैं दुःखी नहीं हूँ। उलट जाने दो दुनियाको, हो जाने दो सृष्टि, हो जाने दो प्रलय, हो जाने दो उलट-फेर, मैं दुःखी नहीं हूँ। देखो दुःख तुमको छूता है कहीं! यह तो मनकी एक संवित् है, मनका एक ख्याल है। यह उलटे दिमागवालोंको यह खानख्याली हो जाती है कि मैं दुःखी हूँ।

दुःख सुषुप्तिमें नहीं प्रवेश कर पाता, लेकिन सुषुप्तिसे उठनेपर जब यह स्मृति होती है कि मैं बड़े सुखसे सोया था और मुझे कुछ पता नहीं चला, तो सुषुप्तिसे उठनेपर 'सुखसे सोया' यह जो स्मृति होती है, इस स्मृतिसे सुख होता है कि सुषुप्तिमें भी सुख है। असलमें सुख साक्षीका स्वरूप है, आत्माका स्वरूप है, या आनन्द है। सुषुप्तिमें तो वह था ही स्वयं प्रकाश। इन्द्रियाँ नहीं थीं, मनोवृत्तियाँ नहीं थीं, वह स्वयं प्रकाश, सुखस्वरूप आत्मदेव। अरे! जहाँ हम हैं वहीं सुख होगा न, कि जहाँ हम नहीं होंगे वहाँ सुख होगा? तुम यहाँ बैठे हो और अपना सुख क्या आलेमें रखकर आये तिजोरीमें बन्द करके आये? तुम्हारा सुख हलवाईकी दुकानमें तला जा रहा है कढ़ाईमें? तुम्हारा सुख बजाजकी दुकानमें कपड़ेके रूपमें फाड़ा जा रहा है? तो सुख तो दिलमें होता है, जहाँ तुम हों वहाँ सुख हो गया, जहाँ तुम नहीं हो, या नहीं थे, वहाँ सुख कहाँसे आवेगा? या नहीं होंगे वहाँ सुख कहाँसे होगा? तुम्हारी उपस्थिति ही सर्वोत्तम सुख है। बोले—भाई अच्छा, यह सुख जो है, यह साक्षी भास्य है। बोले—नहीं सुख साक्षी-भास्य भी नहीं होता। यह बड़ी अद्भुत प्रक्रिया है, जैसा सुख सुषुप्तिमें होता है, बिना प्रयासके, समाधिमें प्रयास करके ऐसा सुख बनाया जाता है। कैसे? कि वैसी अवस्था बनायी गयी, जैसी सुषुप्तिमें इन्द्रियाँ काम नहीं करतीं, मन काम नहीं करता, अभ्यास करके सुषुप्ति सरीखी एक अवस्था उत्पन्न की गयी अपने शरीर और अन्तःकरणमें और उस उत्पाद्य सुषुप्तिका नाम समाधि है। अपने परिश्रमसे हुई, इसलिए बड़ा सुख हुआ और सुषुप्ति रोज अपने आप ही आजाती है, वह तो असलमें 'घर आये नाग न पूजें, और बाँबी पूजन जायँ'। रोज सुषुप्तिके रूपमें समाधि आती है, उसको नहीं जानते हैं; क्योंकि वह श्रमसाध्य नहीं है और समाधि श्रमसाध्य है इसलिए उसको सुख मानते हैं।

असलमें बुद्धि जिस समय संसारके बाहरी विषयोंको ग्रहण नहीं करती, उस समय सुखी ही सुखी है। सुखमें साक्षी अपने आश्रय भूत साक्षीसे अभिन्न होकरके रहता है, यद्यपि अज्ञान रहता है। इस दशाको भगवान्‌ने गीतामें क्या

बताया है, क्षेत्ररूप सुख है यह। यह तामस नहीं, राजस नहीं, सात्त्विक नहीं, यह कैसा है? आप जरा सुखवाला श्लोक पढ़ना—

महाभूतान्यहंकारो बुद्धिरव्यक्तमेव च।
इन्द्रियाणि दशैकं च पञ्चेन्द्रियगोचराः॥
इच्छा द्वेषः सुखं दुःखं संघातश्चेतना धृतिः।

तो यह प्राकृत सुख जो है, वह क्या है कि इन्द्रियाँ क्रियाशील हों नहीं, विकारोंका उदय हो नहीं और विकारोंका उदय न होनेसे बुद्धि जो शान्त होकर अपने आश्रय आत्मासे अभिन्न बैठी है, परन्तु जानती नहीं है कि परमात्मासे अभिन्न हूँ, यह परमात्माका आलिंगन तो करती है, परमात्मा उसका आलिंगन करता है, परन्तु उसे पता नहीं है अज्ञानाक्रान्त है, इसलिए इस दशामें जो सुख है, वह अज्ञान होनेके कारण क्षेत्रात्मक हो जाता है, क्षेत्रज्ञरूप नहीं रहता है। अब योगमें कैसा सुख होता है? भगवान् गीतामें ही तो वर्णन करते हैं—

सुखमात्यन्तिकं यत्तद्बुद्धिग्राह्यमतीन्द्रियम्।
वेत्ति यत्र न चैवायं स्थितश्चलति तत्त्वतः॥
यं लब्ध्वा चापरं लाभं मन्यते नाधिकं ततः।
यस्मिन् स्थितो न दुःखेन गुरुणापि विचाल्यते॥
तं विद्यादुःख संयोगवियोगं योग संज्ञितम्।
स निश्चयेन योक्तव्यो योगो निर्विण्णचेतसा॥

ऐसा सुख प्राप्त करनेके लिए योग करना चाहिए। अब योगमें क्या हुआ कि 'अनिर्विण्णचेतसा'। जल्दीबाजी नहीं। जो लोग जल्दी करते है, वह कहा है न—

चोरी करे निहाय की, करै सुई का दान।
ऊँचे चढ़के देखते, केतिक दूर विमान॥

अरे अनादि कालसे अब तक तो सांसारिक संस्कार कितने देखे हैं और दो-तीन दिन माला फेरी और आकर पूछा—महाराज हमने इतना भजन किया, अभी तक भगवान् हमें मिलने नहीं आये! हो गया भगवान् पर एहसान।

तो ऐसे नहीं—'अनिर्विण्णचेतसा'। एक जन्म, दो जन्म, दस जन्म—

जनम जनम लगि रगर हमारी,
बरऊँ शंभु न त रहऊँ कुँआरी।

डट गये कि हमको तो जबतक जीना है, तबतक यही करना है, फिर-फिर यही करना है। अभी तो दुकानमें जाना है। जल्दी क्या है? एक बार **यहाँ सत्संग**

होता था, यहाँ सिंहानिया बाड़ी, उसीमें मैं ठहरा था। तो वहाँ क्या रीति है कि वक्ताके सामने रहती है घड़ी दीवार पर और श्रोताओंके पीछे पड़ती है। जब दस बजनेमें पाँच मिनट रह जाता था, सब श्रोता लोग टोपी लगा लगाकर सिरपर जल्दीसे और पीछेकी ओर घूम-घूमकर देखना शुरू करते थे कि अभी सुई दसपर गयी कि नहीं? बात यह थी कि वे नौ बजे खा पीकर घरसे आते थे, दस बजे तक व्याख्यान सुनना और फिर बाजारमें जल्दी पहुँचना।

अब सत्संग छोड़कर बाजारमें जाना तो बहुत जरूरी है, दुकानमें जाना तो बहुत जरूरी है। जो लोग ईश्वरकी प्राप्तिमें बड़ी त्वरा, बड़ी जल्दी करते हैं, उनको कहीं-न-कहीं दुकानमें जाना रहता है। यह एक कान नहीं, दू कान हैं। एक कान सत्संगमें उनका और दूसरा कान दुकानमें उनका। तो ऐसे सत्संगका मजा नहीं आता।

तो, सुख क्या है?

सुखमात्यन्तिकं यत्तद् बुद्धिग्राह्यमतीन्द्रियम्।

माने जो कालसे न कटे। **अन्तम् अतिक्रान्तः।** जिसका अन्त कभी न हो उसको आत्यन्तिक बोलते हैं। माने अविनाशी। और बुद्धिग्राह्यम्—जिसके लिए ठोस पदार्थकी जरूरत न हो, सोचने मात्रसे मिल जाय माने अभी मौजूद, कहीं जानेकी जरूरत नहीं, देशसे अपरिच्छिन्न, अतीन्द्रियम्, जिसके लिए इन्द्रिय और विषयके संयोगकी जरूरत नहीं, अर्थात् विषय नहीं, माने विषयके परिच्छेदसे रहित निर्विषय और देशके परिच्छेदसे रहित माने दूर नहीं, और आत्यन्तिकम् माने जिसके मिलनेमें देर नहीं, ऐसा कुछ—अभी-अभी, यहीं-यहीं, और वह नहीं वहाँ नहीं—ऐसा कुछ।

अब सुखका वर्णन तो करेंगे कल, लेकिन जो सच्चा सुख है वह समाधि-सुखसे भी परे है, सुषुप्ति-सुखसे परे है, अभ्यास-सुखसे परे है, वह सम्पृक्त सुख है।

सुखं दुःखं भवो भावो—अबतक जो सुख और दुःखकी बात सुनायी। उस सुख और दुःखके सम्बन्धमें साधारण लोगोंकी ऐसी धारणा होती है कि यह बाहरसे आता है।

एक दिन हम एकान्तमें बैठे थे, अब जैसे रास्ता भूल गये हों जंगलमें, एक आदमी दूरसे आता दीख पड़ा, कल्पना यह हुई कि कहीं लुटेरा न हो, डर गया। उसके प्रति प्रतिकूल वेदना हुई। यह हुई, हमारी हानि पहुँचानेके लिए आनेवाला व्यक्ति है। अब उसके आनेसे दुःख हो रहा है। पास आकर पूछा, उसने कि तुम जंगलमें कैसे हो अकेले हो, रास्ता भूल गये हो, तो चलो हम तुमको बता देते हैं। थोड़ी देरमें मालूम हुआ कि वह तो हमारी मदद करनेके लिए आया है, सुख होगया। वह आदमी तो आदमी है, मनुष्य तो मनुष्य है, उसके प्रति जब हमारे मनमें अनुकूलताकी भावना हुई तब सुख हुआ और जब प्रतिकूलताकी भावना हुई तब दुःख हुआ। सुख-दुःख उस आदमीसे नहीं आया, जो हमारे हृदयमें अनुकूल वेदना या प्रतिकूल वेदना, अनुकूल भावना या प्रतिकूल भावना हुई, उससे सुख-दुःखका उदय हुआ।

अब जिन लोगोंका ऐसा ख्याल हो जाता है कि सारी दुनिया हमारी दुश्मन है, सब हमको धोखा देनेवाले हैं, यहाँतक कि ईश्वर भी हमको दुःख ही देता है, गुरु भी हमको ठग ही लेगा, हमारे आसपास जितने लोग हैं सब हमारे उलटे ही चल रहे हैं, ऐसा ख्याल किसीके मनमें हो जाय तो वह कितना दुःखी हो जायेगा! और, ऐसा ख्याल हो जाय कि ईश्वर हमारी मदद कर रहा है और संसारमें हमारा नुकसान चाहनेवाला कोई नहीं है, सब हमारी भलाई चाहते हैं और सब अपनी-अपनी शक्तिके अनुसार हमको सुख देनेकी ही कोशिश कर रहे हैं—यह भावना हो जाय, यह वेदना हो जाय तो मनुष्यका हृदय सुखी हो जाय। इसीसे हमारे न्याय दर्शनवाले कहते हैं कि ये सुख-दुःख कोई धनसे मिलनेवाली चीज नहीं है, यह

भोगसे भी मिलनेवाली चीज नहीं है, धन जाकर भी दुःख देता है, अभिमानसे भी दुःख देता है, वासनासे भी दुःख देता है धन न हो और वासना हो, तब भी दुःख। और, छोड़के चला जाय तो भी दुःख। तो धन हमेशा सुख ही देता है, यह नियम कौन बना सकता है? जब धनके बारेमें हमारा यह ख्याल होता है कि यह हमारे अनुकूल है, धनसे राग होता है, धनसे प्रेम होता है, तब धनमें सुख दिखायी पड़ता है और जब यह मालूम पड़ता है कि यह धन हमारे उलटे है, यह धन हमारे पास रहेगा, तो सरकार हमको जेलमें डाल देगी देखो (Gold) सोनेके बारेमें जिस दिन कानून बना था उस समय कई लोगोंने अपने घरकी सम्पत्ति फेंक दी कि पकड़े जायेंगे। अब धनमें जब प्रतिकूल वेदना हुई, कि जेल जायेंगे, पकड़े जायेंगे, तो धनको पटक दिया। अपने घरमें कोई ऐसा आदमी हो, मालूम होवे कि इसकी वजहसे सारे घरका नुकसान होगा, तो उस आदमीको छोड़ देते हैं।

असलमें यह दुःख-सुख क्या है? गीतासे आपको सुनाया, तामस सुख, राजस सुख, सात्त्विक सुख-ये अलग-अलग हैं और इनसे भी ऊपर एक क्षेत्र सुख है—

इच्छा द्वेषः सुखं दुःखं संघातश्चेतनाधृतिः।
एतत्क्षेत्रं समासेन सविकारमुदाहृतम्॥

क्षेत्रमें जो सुख है, वह दो स्थानपर अभिव्यक्त होता है, एक सुषुप्तिमें और दूसरे समाधिमें! सुखका जो आकार है वह साक्षी-भास्य होता है और दुःखका आकार भी साक्षी-भास्य होता है क्या कल कोई सज्जन आये थे, वे पूछ रहे थे। तो साक्षीभास्य होनेपर भी सुख और दुःखमें थोड़ा फर्क है। दुःख केवल जाग्रतावस्थामें और स्वप्नावस्थामें होता है। सुषुप्ति-अवस्थामें किसीको दुःख नहीं होता, समाधि-अवस्थामें भी किसीको दुःख नहीं होता, क्योंकि वहाँ हमारी वृत्तियाँ अनुकूलता और प्रतिकूलताकी कल्पना करती हुई नहीं होतीं। जाग्रत् और स्वप्नमें तो हमारी चित्तवृत्ति अनुकूलता और प्रतिकूलताकी कल्पना कर लेती है, परन्तु सुषुप्तिकालमें और समाधिकालमें अनुकूल निमित्त अथवा प्रतिकूल निमित्त न होनेके कारण, और वृत्तियोंके भी लीन हो जानेके कारण सुख-दुःख वृत्तिरूपमें नहीं रहता है। सुख-दुःख वृत्तिरूपमें नहीं रहता, वृत्तिसे अलग करके यदि देखें तो दुःख नामकी कोई चीज मिलेगी नहीं। वृत्तिसे जुदा, माने अपनी मनोवृत्तिसे पृथक् दुःख नामकी कोई वस्तु नहीं है। दुःख माने अपने मनकी कल्पना। दुःख माने 'मैं दुःखी हूँ'—यह अभिमान।

अब आपको और उससे भीतर ले जाकर यह बात समझाता हूँ। दुःख तबतक होगा ही नहीं, जबतक मनुष्यके मनमें 'मैं दुःखी हूँ' इस अभिमानकी वृत्तिका उदय न हो, क्योंकि सुख-दुःख जो है यह कोई कर्म नहीं है, सुख-दुःख फल है। अच्छे-बुरे कर्मका फल। अच्छे कर्मका फल सुख और बुरे कर्मका फल दुःख। तो कोई-कोई ऐसा मानते हैं कि कर्म अपना फल अपने आप ही दे देता है। जब हम कोई बुरा काम करते हैं, तो बादमें दुःख आवेगा ही आवेगा, यह कर्म और दुःखका कार्य-कारण सम्बन्ध है। जब अच्छा काम करेंगे तो सुख आवेगा ही आवेगा, यह अच्छे कामका और सुखका कार्य-कारण सम्बन्ध है।

कोई कहते हैं कि नहीं, ईश्वर देखता रहता है और वह कर्मके अनुसार फल देता है। परन्तु हर हालतमें, चाहे कर्मको फल देनेमें स्वतन्त्र मानें पूर्वमीमांसाके अनुसार अथवा जैनमतके अनुसार उसको स्वतन्त्र मानें अथवा बीचमें ईश्वरको फल देनेवाला मानें जैसा कि वेदान्त दर्शन मानता है—**फलमता उपपत्तेः** दोनों ही हालतमें सुख-दुःख ये फलात्मक वृत्ति हैं, साधनात्मक वृत्ति नहीं हैं। तो फलात्मक जो वृत्ति होती है, वह जब वृत्तिमें प्रतिफलित होती है फलके रूपमें उदय होती है, तो इस फलको, प्रति फलित वृत्तिको देखनेवाला, जाननेवाला इसका साक्षी इससे न्यारा होता है। तो फल क्या है? कि अहम्। अहं फल है। इसलिए वृत्तिमें अपना अहं जुड़के अहं दुःखी, अहं सुखी—ऐसा अभिमान बन जाता है। कोई ऐसे नहीं दिखा सकता कि यह घड़ी दुःख है। चोरके हाथमें अगर घड़ी पकड़ी जाय, तो उसके लिए दुःख हो जायेगी और एक अपने समयका सदुपयोग करनेवालेके हाथमें घड़ी हो तो उसके लिए सुख बन जायेगी, लेकिन घड़ी सुख है कि दुःख है—यह निर्णय कोई नहीं कर सकता। मृत्यु भी किसीके लिए सुख, किसीके लिए दुःख होती है। एक आदमी किसीके मरनेसे रोता है, दूसरा आदमी उसीके मरनेसे हँसता है। दुश्मनको सुख होता है। अच्छा दुष्टके मरनेसे लोगोंको सुख होता है। कभी-कभी रोगसे भी सुख होता है, कभी-कभी वियोगसे भी सुख होता है। रोग, वियोग, मृत्यु—इनमें-से किसी पर कोई उँगली रखकर यह नहीं बता सकता कि यह सुख है, यह दुःख है। तब क्या होगा? जहाँ हम दुःखीपनेका अभिमान कर लेते हैं, वहाँ दुःख है और जहाँ हम सुखीपनेका अभिमान कर लेते हैं, वहाँ सुख है। अभिमानरूप होनेके कारण सुखीपना और दुःखीपना दोनों आभास हैं।

आभासभास्य नहीं है। वेदान्तकी भाषामें इसको बोलते हैं, जैसे घट, पट आदि पदार्थ हैं बाहर और आँखसे, त्वचासे, नाकसे, जीभसे मालूम पड़ते हैं; इनको आभासभास्य बोलते हैं और जो केवल अभिमानसे ही होते हैं—जैसे मैं संन्यासी हूँ। तो अब कोई गृहस्थ अपने आपको संन्यासी मानने वालेको, बोले—हमसे नीचा है, तिरस्कार करो, तो 'मैं संन्यासी हूँ'—यह अभिमान दुःखका हेतु हो जायेगा। 'मैं हिन्दू हूँ'—तो मुसलमानसे द्वेष हो जायेगा। क्योंकि अभिमान जो होगा वह दूसरेको काटकर ही होगा, बिना दूसरेको काटे अभिमान होता ही नहीं है। जब एकको अपनेसे अलग करोगे, तब दूसरेको मैं मानोगे। इसलिए सबसे बड़ी हिंसा जो है वह अभिमान है। अभिमान ही हिंसा है और जब हिंसा होती है, तब एक ओर सुख जाता है, एक ओर दुःख जाता है, मैं सुखी हूँ मैं दुःखी हूँ—यह अभिमान होता है। वेदान्ती कहते हैं कि—'मैं दुःखी हूँ', 'मैं सुखी हूँ'—ये दोनों अभिमान आभासमें होते हैं और जो शुद्धात्मा है—द्रष्टा है, जो साक्षी है, वह तो जैसे घड़ेको देखनेवाला घड़ेसे न्यारा होता है, इसी प्रकार मैं सुखी हूँ, मैं दुःखी हूँ—इस फलको, इस प्रतिफलित वृत्तिको देखनेवाला, जाननेवाला, इसका साक्षी इससे न्यारा होता है। जिसको अपने साक्षीपनेका ज्ञान हो जाता है, वह सुखीपने और दुःखीपनेसे न्यारा हो जाता है। लेकिन इसके आगे भी विचार है। वह विचार क्या है कि मैं सुखी हूँ, मैं दुःखी हूँ, ये दोनों तो आभास हैं, परन्तु दुःख जो है वह जाग्रताभास है, स्वप्नाभास है, परन्तु सुषुप्तिआभास नहीं है। परन्तु सुख जो है, वह सुषुप्तिकालमें भी रहता है, क्योंकि सोकर उठनेके बाद 'मैं बड़े सुखसे सोया', ऐसी स्मृति होती है। तो यदि वृत्ति और वृत्तिमें जो आकार है, उसको न्यारा करके देखा जाय तो सुख साक्षीका स्वरूप है।

संसारमें धनसे, भोगसे, धर्मसे या स्थितिसे जितने भी सुख मिलेंगे, वे सब सुख नश्वर होंगे। अविनाशी सुख कौन-सा होगा, वह बात गीतामें बतायी गयी कि—

> **सुखमात्यन्तिकं यत्तद् बुद्धिग्राह्यमतीन्द्रियम्।**
> **वेत्ति यत्र न चैवायं स्थितश्चलति तत्त्वतः॥** 6.21
> **तं विद्याद् दुःखसंयोगवियोगं योगसंज्ञितम्।**
> **स निश्चयेन योक्तव्यो योगोऽनिर्विण्णचेतसा॥** 6.25

अब देखो इस श्लोकमें तीन बात साफ कही गयी—एक-अतीन्द्रियम—सच्चा सुख वह होता है जो इन्द्रियसे भोग्य नहीं होता। जो सुख इन्द्रियसे भोग्य

होगा, विषय और इन्द्रियके संयोगसे होगा, उसमें या तो विषय मर जायेगा या तो इन्द्रियोंकी शक्ति नष्ट हो जायेगी, वियोग जरूर होगा दोनोंमें या मनमें अरुचि हो जायेगी, या तो बेहोशी आजाये। अभिमान ही नष्ट हो जाये, तो सुख कहाँसे होगा? इसलिए इन्द्रिय और विषयके संयोगसे जो सुख होता है, वह राजस-सुख है और वह सच्चा सुख नहीं है।

अब दूसरी बात कही—**बुद्धिग्राह्यम्**। बुद्धि ग्राह्यम्का अर्थ यह है कि वह तामस सुखसे विलक्षण है। तामस सुख कैसा है?

यदग्रे चानुबन्धे च सुखं मोहनमात्मनः। 18.39

तामस सुखमें मोह है और सच्चा सुख जो है वह मोह नहीं है, बुद्धि-ग्राह्य है।

अच्छा, और तीसरी बात यह बतायी कि सात्त्विक सुख अभ्याससे होता है।

अभ्यासाद्रमते यत्र दुःखान्तं च निगच्छति। 18.36

परन्तु अभ्याससे जो सुख होगा, वह अभ्यास छूटनेपर नष्ट हो जायेगा। इसलिए वह आत्यन्तिक नहीं होगा। सच्चा सुख मोहरूप भी नहीं होगा—माने तामस नहीं होगा और विषय और इन्द्रियके संयोगसे भी नहीं होगा अर्थात् राजस नहीं होगा और वह अभ्यासजन्य नहीं होगा, स्वाभाविक होगा। तो इसलिए

सुख आत्यन्तिकं यत् तद् बुद्धिग्राह्यमतीन्द्रियम्।
वेत्ति यत्र न चैवायं स्थितश्चलति तत्त्वतः॥ 6.21

यह आत्माके रूपमें; एक प्रकृतिके रूपमें मिला हुआ सुख और एक प्रकृतिसे विविक्त सुख। जो प्रकृतिसे मिला हुआ सुख है, उसकी तो क्षेत्र सुख बताया।

एतत्क्षेत्रं समासेन सविकारमुदाहृतम्। 13.6
एतद्यो वेत्ति तं प्राहुः क्षेत्रज्ञ इति तद्विदः। 13.1

और जो सात्त्विकसे मिला हुआ सुख है, उसको स्थिर सुख बताया।

अब साथ ही यदि अपनेको देश, काल, वस्तुसे अपरिच्छिन्न नहीं जानता है, उसका सुख भी अन्तमें नाशवान सुख होगा। इसलिए गीतामें ब्रह्मसुखको अक्षय सुख, और

सुखेन ब्रह्मसंस्पर्श अत्यन्तं सुखमश्नुते।

अक्षयं सुखं अथवा अत्यन्तं सुखं करके जो ब्रह्मसंस्पर्श रूप सुखका

वर्णन किया गया है, वह गीतामें सच्चा सुख है। अपने आपको केवल देह इन्द्रियसे; मनबुद्धिसे न्यारा कर लेनेसे, अपनेको केवल ज्ञाता और द्रष्टा कर लेनेसे मनुष्यको सच्चे सुखकी प्राप्ति नहीं होती। जब वह अपनेको परमात्मासे, सत्यसे, ब्रह्मसे अभिन्न जानेगा और अविद्याकी निवृत्ति हो जायेगी, तब सच्चे सुखकी प्राप्ति होगी।

अब भगवान् यह बताते हैं कि मनुष्यके जीवनमें जो सुखका उदय होता है, वह भीतर आत्माके रूपमें बैठा हुआ मैं ही उस सुखको प्रकाशित करता रहता हूँ, मैं ही सुखके रूपसे प्रकाशित होता रहता हूँ।

एक तो यह हुआ कि सुख मिलता है—कर्मके फलस्वरूप। जैसा जिसका कर्म, उसके अनुसार सुख मिलता है। दूसरा—प्रकृतिमें सुख अपने आप होता है। तीसरा—कर्मानुसार ईश्वर सुख देता है और चौथा—इन्द्रियोंके शान्त हो जानेपर, वृत्तियोंके शान्त हो जानेपर स्वरूपभूत जो सुख है वह चमकता है। पाँचवाँ—अविद्याकी निवृत्ति हो जानेपर अनन्त परिपूर्ण, अविनाशी परिपूर्ण, अद्वितीय, प्रत्यक् चैतन्याभिन्न सुख-ही-सुख है—इस बातका बोध हो जाता है।

तो अब यह जो सुख-दुःखकी चर्चा है, इसको आप फिर कल सुनना।

सुखं दु:खं भवोऽभावो भयं चाभयमेव च। 10.4

राम बैठे हैं हृदयमें और जितने आध्यात्मिक भाव हृदयमें उदय होते हैं आध्यात्मिक भाव माने मनमें उदय होनेवाली वृत्तियाँ, माने मनमें जितनी वृत्तियाँ उदय होती हैं, और, जितने ये सूर्य चन्द्रादि ग्रह-उपग्रह प्रकट होते हैं और उद्भिज्ज, स्वेदज, अंडज, जरायुज—ये जितनी प्रजा होती है सब भगवान् ही से हो रही है। मनमें जो दिखता है सो भी भगवान्‌के द्वारा दिखाया हुआ तमाशा है। दुनियामें जो दीखता है, यह भी एक उनका खेल, एक सिनेमा है। और, सृष्टिमें जो बहुत सारी चीजें होती और नहीं होती हैं, इनके पीछे भगवान्‌का ही हाथ है—

मत्त एव पृथग्विधा:। ये चाहे जैसे भी अलग अलग होवें, इनके अलगावकी ओर मत देखो, इनके पीछे जो भगवान्‌का हाथ है उसकी ओर देखो।

तो धर्मात्मा लोग कहते हैं भगवान्‌का हाथ कर्मानुसारी हाथ है और कई लोग तो कहते हैं कि बिलकुल स्वतन्त्र ही हाथ है। इसमें भी फर्क है। ईसाई और मुसलमान सब चीजोंके पीछे ईश्वरका हाथ मानते हैं पर स्वतन्त्र, कर्मानुसारी नहीं। वे कहते हैं कर्मानुसारी हाथ होगा तो खुदा क्या होगा? वह तो मैनेजर होगा, कर्मके अनुसार फल देनेवाला। हिन्दू-सिद्धान्त ऐसा है कि अगर ईश्वर स्वतन्त्रतासे किसीको अमीर, किसीको गरीब, किसीको सुखी, किसीको दु:खी बना देता है तो उसपर पक्षपात और निर्दयताका दोष आता है, क्यों किसीको सुखी बना दिया, क्यों किसीको दु:खी बना दिया? तो बोले भाई जिसका जैसा कर्म था उसको वैसा बना दिया।

ईसाई, मुसलमान बताते हैं कि नहीं, जीव भी वही बनाता है। पहले जीव था ही नहीं। हिन्दूधर्ममें मानते हैं कि जीव अनादि है। तो जीव भी वही बनाता है, कर्म भी वही देता है, भोग भी वही देता है, क्योंकि वह परमस्वतन्त्र है। जब धर्मके अनुसार करनेके लिए वह बाध्य होवे, तो पराधीन होगा, कर्म ही ईश्वर होगा, ईश्वर तो उसका सेवक हो जायेगा, वैसे ही धर्मका ऐसा कहना है कि यह ईश्वरका बनाया हुआ ही नियम है कि कर्मके अनुसार फल देना। इसलिए अपने बनाये हुए

नियमका, अपने बनाये हुए कानूनका पालन करनेसे कोई पराधीन नहीं होता, कोई कर्तव्य नहीं होता।

ये बड़े विचित्र-विचित्र विचार हैं। ईश्वर हमारे हृदयमें बैठकर कभी सुख देता है, कभी दु:ख देता है। गहराईमें पहुँचो तो दोनोंमें फिर मजा आने लग जायेगा। यही इसकी महिमा है। गहराईमें पहुँच जाओ।

एक बार श्रीआनन्दमयी माँने एक कथा सुनायी कि एक बार एक सन्तोंकी सभा लगी हुई थी। कोई एक घड़ा गंगाजल भरकर ले आया, सन्तोंके बीचमें रख दिया, महात्माओं यह गंगाजल पीओ। आपकी सेवामें मैं एक घड़ा गंगाजल ले आया हूँ। एक सन्तने कहा—'यह घड़ेका भी क्या भाग्य है कि इसमें गंगाजल भरा गया और सन्तोंकी सेवाके लिए आया।' कहते हैं कि वह घड़ा बोला—घड़ेने कहा कि मैं पहले माटी था। एक दिन कुम्हार आया और वह फावड़ा मारने लगा मेरे ऊपर, मैंने कहा—बड़ा दु:ख आया। फिर गधेपर लादकर घर ले गया, वहाँ कूटा-पीसा फिर, एक-एक कंकड़-पत्थर उसमें-से अलग किया, पानी मिलाया, माटीको खूब रौंदा, मैंने कहा कि कितना दु:ख है। उसके बाद जब घड़ा बनाने लायक हो गया तब उसने चाकपर चढ़ाकर घड़ा बनाया, फिर काटा; उतारनेके बाद फिर पीट-पीटके थापीके साथ, उसने हमको ठीक किया उसके बाद आगके अँवेमें डाल दिया। मैं समझता था कि मुझे दु:ख-ही-दु:ख मिल रहा है, फावड़ा हमारे ऊपर चला, रौंदा मैं गया, पानी मिलाके गूँथा मैं गया, गला मेरा कटा, चाकपर मैं घुमाया गया, थापी मेरे ऊपर पीटी, आगमें मैं जलाया गया, उसके बाद किसी तरहसे पका, बाजारमें आया तो जो आवे सो ठोंकके देखे कि कहीं फूटा तो नहीं है, थोड़ी कीमतमें बिका, कोई कीमत भी ज्यादा नहीं लगी। मैं तो समझता था कि मेरे जीवनमें दु:ख-ही-दु:ख है, परन्तु मालूम पड़ता है कि दु:खके बाद सुख जरूर आता है। जो दु:ख देनेमें इतना सावधान है, वह सुख देनेमें कभी गलती नहीं करेगा। अब गंगाजल भरा गया, सन्तोंके बीचमें आया। यह हमारा तप कितना सफल हो गया, हमारा जीवन सार्थक हो गया, हमारे सारे दु:ख सुखमें बदल गये। क्योंकि अपने प्यारोंके काम आगया।

एक मैंने सुना था, एक हीरा एक दिन भगवान्‌के गलेमें पहनाया गया, बोला कितना भाग्यशाली है। अरे भाई हीरा एक दिन माटीमें पड़ा हुआ था, इसको कोई नहीं जानता था। वहाँसे किसानने जब पहले पहल अपने खेतमें पाया, तो बीस रुपयेमें बेच दिया। जब जौहरीके घर गया और सफाई हुई और उसमें कट बन

गयी, खूब घिसा गया और काटा गया और उसमें छेद किया गया, कितना दुःख! घिसना भी दुःख, काटना भी दुःख, छेदना भी दुःख! कितना दुःख पाया। एक दिन देखो उस दुःखीको प्यारेके गलेका हार बनना पड़ा। तो काटता है, पीटता है, छेदता है, पिसता है। जो दुःख देता है, वही सुख देता है। तब वह बीस रुपयेकी कीमतका हीरा बीस हजारमें बिका।

हमको एक झवेरीने काशीमें, रामेश्वर झवेरी उनका नाम है, हमारे बड़े भक्त हैं। हैं इधरके ही, गुजरातके ही रहनेवाले हैं, काशीमें उनका व्यापार है, मकान है। सज्जन भी हैं, सम्पन्न भी हैं। उन्होंने बताया—महाराज मैंने बीस-बीस रुपयेमें हीरे खरीदकर बीस-बीस हजारमें बेचे हैं। और यह बात भी अबसे पन्द्रह-बरस पहले हमको बतायी थी।

तो कहनेका अभिप्राय यह कि जहाँ पहले घिसाई है, पिटाई है, जहाँ छिद्र है, जहाँ दुःख है वही तो सुखकी भूमिका है।

यह मत देखो कि क्या दुःख आ रहा है, गहरायीमें घुसो, यह देखो कि कौन दुःख दे रहा है। अगर हमारा प्रियतम, हमारा प्रभु ही हमको सतानेवाला है, वह परम दयालु, वह उदार चूड़ामणि, वह रसिक चक्रवर्ती, वह विदग्ध सम्राट्, हमको दुःख देनेवाला है, तो उस दुःखके आनेमें भी कोई-न-कोई राज होगा, कोई-न-कोई उसका रहस्य होगा और उसमें भी हमारे सुखका बीज निहित है। तो **सुखं दुःखं**—सुख देनेवाला भी वही और दुःख देनेवाला भी वही।

आपको सुनाया था कभी, श्रीहरिबाबाजी महाराज एकबार बरसाने गये। तो बरसानेमें एक सौ-सवा सौ बरसके सन्त मिले। हरिबाबाजीका स्वभाव है कि वे जानना चाहते हैं कि इस सन्तका जीवन कैसा है? चरित्रसे उनकी बड़ी प्रीति है, वे रोज सन्तोंका, भक्तोंका चरित्र पढ़ते और सुनाते हैं। यह उनका अभ्यास ही है। तो सन्तने बताया कि मैं एक ऐसी स्त्रीका बालक था जो व्यभिचारिणी थी। वह मेरी माँ थी।

तो यह तो आपको सुना ही चुका हूँ कि माँ वेश्या भी हो, यदि बेटा उसका भक्त होता है तो माँको अपने वेश्या होनेका फल मिलता है, नरकमें जाती है और बेटेको मातृ-भक्तिका फल मिलता है, वह स्वर्गमें जाता है। दोनोंकी स्थिति, दोनोंके कर्म अलग-अलग हैं। वेश्या होनेपर भी माँकी सेवा नहीं छोड़नी चाहिए, बापकी सेवा नहीं छोड़नी चाहिए। वह तो अपना कर्तव्य हो गया। सेवा नहीं छोड़ना चाहिए, सेवा करनेवालेको मेवा मिलता है।

जब ये दस बरसके हुए, सौ-सवा सौ बरसवाले महात्मा, तो माता और उनके यार दोनोंने यह तय किया कि लड़का हमारे बीचमें आजायेगा,इसलिए इसको मार डालना चाहिए और माताने विष घोला और वह जो यार था, वह शर्बत लेकर गया बच्चेके पास लेकिन उसका हाथ काँप गया, उसने कहा—निरीह बच्चेको कैसे जहर दें? उसने कहा कि मत पीओ, इसमें जहर है। तो दस बरसके बच्चेके मुँहसे यह बात निकली कि जिस माँने मुझे नौ-दस महीनेतक अपने पेटमें रखा, और जिसने अपने स्तनका दूध पिलाकर मुझे पाला-पोसा, अगर उसके हाथका दिया हुआ विष है तो वह मेरे लिए अमृतसे भी बढ़कर है।

आप देखो, यह केवल उक्ति बतानेके लिए आपको, कि जिसने हमको अमृत पिलाया अगर वह कभी हमको जहर दे; जिस दिन उसने लड्डूकी थाल भेजी उस दिन तो खुश और जिस दिन तुम्हारे यहाँसे उसने एक छटाँक, दो छटाँक गेहूँ, चावल, बाजरा, ज्वार माँग लिया, ले लिया, उस दिन तुम उसके ऊपर नाराज? यह क्या प्रीति है! तो देखना यह है कि जिसने जीवन दिया, जन्म दिया, उसीके हाथों अगर मृत्यु आती है, तो वह तो प्यारी होनी चाहिए, क्योंकि हाथ उसका है। उसने बेटा दिया, उसने पैसा दिया उसने मकान दिया, और एक दिन उसने कहा कि हमारा वापिस करो, तो हम उसको गाली देने लगे। यह तो कोई भलमनसाहत नहीं है।

तो वह जो पीछे बैठा हुआ सुख देनेवाला दुःख देनेवाला है—

मत्त एव पृथग्विधाः। भवन्ति भावा भूतानाम्॥ 10.5

यह देखो, यह भक्तिका कारण है। यह बात क्यों बतायी गयी, आपको याद होगा न!

सोऽविकम्पेन योगेन युज्यते नात्र संशयः। 10.7

जो इस बातको समझ जाता है कि पत्ता-पत्ता उसीकी सत्तासे हिल रहा है, एक-एक क्रियामें उसीकी महत्ता छिपी हुई है, सब उसीके संकल्पसे हो रहा है, सब उसीमें होरहा है, सब वही है, सब उसीमें सत्ता-स्फूर्ति है, सब उसीका स्फुरण है। सब आत्मदेवका ही स्फुरण है। यह जिसको ज्ञान हो गया अब वह कभी परमात्मासे बिछुड़ेगा?

सोऽविकम्पेन योगेन युज्यते नात्र संशयः।

एक बारकी बात है भाई हनुमानप्रसादजी और मैं बगीचेमें एकान्तमें बैठे थे ऊपर कमरेमें। वे बड़े भक्त प्रकृतिके हैं। दास प्रकृतिके भक्त हैं। बोले—

'पण्डितजी!' मैं पण्डित था, उस समय लोग पण्डितजी बोलते थे, अब नहीं बोलते हैं।

'पण्डित जी! बीच-बीचमें भगवान्की विस्मृति हो जाती है। बड़ा दुःख है।' व्याकुलसे हो रहे थे।

मैंने उनसे कहा—'भाई जी! क्या यह विस्मृति भगवान्की दी हुई नहीं है?'

मत्तः नम स्मृतिर्ज्ञापोहनं च।

स्मृति भी वही देता है, ज्ञान भी वही देता है और अपोहन भी वही देता है। स्मृति-प्रधान स्वप्न, ज्ञान-प्रधान जागरण और विस्मृति प्रधान सुषुप्ति।' बोले—'हाँ देता तो वही है। अरे, यह विस्मृति भी उन्हींकी दी हुई है!' उनके शरीरमें रोमांच हो गया, आँखसे झर-झर आँसू गिरने लगे।

देखो, **सोऽविकम्पेन योगेन युज्यते नात्र संशयः।** देखो न; तुमको सुषुप्ति किसने दी! तुमको जाग्रत् किसने दिया, तुमको स्वप्न किसने दिया! किसकी सत्तासे, किस अन्तर्यामीकी महत्तासे, किस आत्माकी सत्तासे, किस अखण्ड ज्ञान स्वरूपसे यह स्मृति-विस्मृति, सुख-दुःख सबके सब फुर रहे हैं!

सोऽविकम्पेन योगेन युज्यते नात्र संशयः।

परमात्मा कभी छूटनेवाला नहीं है। एक महात्मा कहते हैं जो छूट जाय सो परमात्मा नहीं। परमात्मा कभी छूट नहीं सकता, छूटनेका भ्रम ही होता है और जगत् कभी पकड़में आता नहीं। जो यह ख्याल है कि हमने वह तिजोरीमें बन्द करके रखा है, अब वह हमारा; वह बिलकुल गलत। वह बैंक-बैंलेंस गलत। वह तो एक कानून किसी दिन बने, राष्ट्रपतिका एक अध्यादेश निकले, सब लॉकर गायब, सब तिजोरी गायब, सब बैंक-बैंलेंस गायब। इतनी तो उसमें शक्ति है। हमारा-हमारा करके बैठे हुए हैं क्या रखा है? सुखं-दुःखं—देखे, परमात्मा सुख भी दे रहा है, दुःख भी दे रहा है।

अच्छा, सुख-दुःखके दार्शनिक रूपकी यह चर्चा तो थोड़ी कठिन पड़ती है कभी-कभी! अन्तःकरणमें जाग्रत् और स्वप्न दोनों हैं। सुखाकार वृत्ति भी होती है, आहा-हा बड़ा सुख है, मैं सुखी हूँ। परन्तु सुषुप्तिमें दुःखाकार वृत्ति नहीं होती। 'अहं दुःखी'—इत्याकारक अभिमान भी नहीं होता। सुषुप्तिमें सुखाकार वृत्ति भी नहीं होती और 'अहं सुखी' इत्याकारक अभिमान भी नहीं होता। दोनों गायब सुषुप्तिसे। लेकिन सुख रहता है। सुखाकार वृत्ति नहीं रहती, क्योंकि वृत्ति सो गयी और अभिमान भी नहीं रहता, क्योंकि वह भी सो गया, परन्तु सुख रहता है।

उठनेपर याद आती है—'सुखभावाप्सम्'। वह सुख किस रूपमें रहता है? वहाँ सन्मात्र, चिन्मात्र जो साक्षी है, उससे अभिन्न होकर रहता है, आनन्दमात्र रहता है। सुखाकार वृत्ति, दु:खाकार वृत्ति माने अहं सुखी, अहं दु:खी—यह अभिमान साक्षी-भास्य है, परन्तु सुषुप्ति कालमें जो सुख है वह साक्षी स्वरूप है वह साक्षी-भास्य नहीं है, परन्तु साक्षीको अपनी ब्रह्मताका ज्ञान नहीं है। इसलिए जाग्रत् और स्वप्नमें वह आवृत हो जाता है। सुषुप्तिमें अज्ञान रहता है। वहाँ है वह सुख ब्रह्मरूप, है वह सुख आत्मरूप, है वह सुख साक्षीरूप, परन्तु उसकी ब्रह्मताका ज्ञान नहीं है। सुषुप्तिमें अज्ञान भी है और सुख भी है। अज्ञानसे मिश्रित होनेके कारण वहाँ सुखकी ब्रह्मता नहीं भासती है। यदि तत्त्वज्ञानके, द्वारा अज्ञानका निवारण कर दिया जाय, तो सुषुप्तिमें जो सत्ता है, जो ज्ञान है, जो सुख है, वह तो अखण्ड ब्रह्म है, वह तो अद्वितीय ब्रह्म है।

अब देखो सुख-दु:खका एक द्वन्द्व बताकर दूसरा द्वन्द्व बताते हैं—

भवोऽभावो भयं चाभयमेव च—भवोऽभाव:, भव और अभाव, भव और भाव ऐसा भी पाठ है और भव और अभाव—ऐसा भी पाठ है। कोई अकारका प्रश्लेष करते हैं कोई अकारका प्रश्लेष नहीं करते। सम्प्रदाय भेदसे ऐसा होता है। तो भवो भाव:। भव माने जन्म और अभाव माने मृत्यु।

नासतो विद्यते भाव: नाभावो विद्यते सत:। देखो सुख-दु:ख जो है आनन्दस्वरूप परमात्मा और सुखाकार, दु:खाकार दोनों वृत्ति उसके विवर्त। इसी प्रकार सन्मात्र परमात्मा और जन्म और मृत्यु दोनों उसके विवर्त। आनन्दमात्रके विवर्तकी दृष्टिसे सुख-दु:खका निरुपण किया, जब सन्मात्रके विवर्तकी दृष्टिसे भवोऽभावोका वर्णन कर रहे हैं। भवोऽभावो—कभी जन्म प्रतीत होता है, कभी मृत्यु प्रतीत होती है। असलमें यह जो जन्म और मृत्यु है, ऐसे बाँच जानेसे भगवान् क्या कहना चाहते हैं यह पता नहीं चलेगा, भगवान्से मैत्री जोड़ो तो उनकी बातका मतलब समझमें आवे। एक आदमीसे जब हम कई दिनतक लगातार बात करते हैं तब उसका अभिप्राय समझमें आने लग जाता है और यदि कई दिनतक उससे बात न करें, पहले ही पहले बात करें तो उसका अभिप्राय समझमें नहीं आवेगा। सत्संगमें भी यही होता है, दो दिन सत्संगमें गये, तो वक्ताका अभिप्राय, वह कैसे बोलता है, किस ढंगसे, उसके शब्दोंमें कैसी योग्यता होती है और उसका पूर्वापर सम्बन्ध कैसा होता है, संगति कैसी होती है, उसकी बोलनेकी विवक्षा-आकांक्षा कैसी होती है; यह बात एक-दो-दिन सुननेसे थोड़े ही मालूम पड़ेगी।

तो **भवोऽभावो**—'भव' माने जन्म। भवनं भव:। किसी भी वस्तुका अस्तिके रूपमें अनुभव होना। और, 'अभाव:'। किसी भी वस्तुका नास्तिके रूपमें अनुभव होना यह अभाव है। दुनियामें कोई चीज मालूम पड़ती है कि हाँ है। और कोई चीज मालूम पड़ती है कि नहीं है। घड़ा बन गया और घड़ा फूट गया। तो माटीमें घड़ेकी शक्ल-सूरतका कल्पित हो जाना—इसका नाम घड़ेका जन्म है और माटीमें कल्पित जो घड़ेकी शक्लसूरत उसका फूट जाना—इसका नाम घड़ेकी मृत्यु है। अब उसमें फूटा क्या? घड़ेका आकार फूटा, घड़ेका नाम फूटा और माटी तो ज्यों-की-त्यों रही। तो यह दुनियामें जितनी शक्लें बनती हैं और जितने नाम रखे जाते हैं, माटी तो वही है; बिलकुल! बीचकी जो चीजें हैं, 'जायते, अस्ति, वर्धते, विपरिणमते, अपक्षीयते, विनश्यति।' घड़ा बना, घड़ा है—ऐसा मालूम पड़ा। जायते-अस्ति—पहले पैदा होता है, फिर है—ऐसा मालूम पड़ता है। वर्धते-पक्का हो गया, बिलकुल ठोस, पक्का। अपक्षीयते—फिर धीरे-धीरे बदलने लगा, क्षीण होने लगा, फिर विनश्यति—टूट गया। जैसे घड़ा है, वैसे शरीर घट है। सन्तलोग तो शरीरको घट ही बोलते हैं। यह घट है, बड़ा-सा पेट और छोटा-सा गला—कम्बुग्रीवादिनाम। मृण्मय आकृति विशेष, शंखकी तरह गला और कुंहड़े—काशीफलकी तरह पेट। यह आकृति विशेष, खास तरहकी एक शक्ल, इसको बोलते हैं घड़ा। घड़ा माने गढ़ा हुआ। संस्कृतमें घट शब्दका अर्थ होता है घटित, गढ़ा हुआ। कपड़ेमें भी घट बना देते हैं। देखो, कपड़ेकी किनारी होती है उसके बीचमें कभी घड़ा बना देते हैं; सूत्रका ऐसा विन्यास कर देते हैं, सोनेमें घड़ा बना देते हैं, माटीमें घड़ा बना देते हैं। यह जो अनन्त परमात्मामें उत्पत्ति दीख रही है, जो भीतर छिपी हुई थी, वह बाहर निकल आयी। 'ऊर्ध्वं उत्पदनं उत्पत्ति:।' जो चीज भीतर छिपी हुई थी वह बाहर निकल आयी, उसका नाम उत्पत्ति हो गया। और, फिर भीतर समा गयी, उसका नाम मृत्यु हो गया।

देखो! यह उत्पत्ति और मृत्यु सच्ची चीजका नहीं होता। सच्ची चीज तो माटी है जो बनी रहती है।

वाचा रम्भणं विकारो नामधेयं मृत्तिका इत्येव सत्यम्।

श्रुतिने कह दिया। और जो झूठी चीज होती है, उसकी भी उत्पत्ति नहीं होती। बन्ध्या पुत्रका न जन्म है न मृत्यु है। और, ब्रह्मका न जन्म है न मृत्यु है। तो जो बिलकुल असली चीज है, खाँटी परमार्थ उसका भी जन्म-मरण नहीं और जो बिलकुल झूठी है बन्ध्यापुत्रके समान, उसका भी जन्म-मरण नहीं। तब जन्म-

मरण किसका? बोले—न सत्यका न झूठका—ना सतो विद्यते भावः नाभावो विद्यते सतः। न झूठेका जन्म-मरण, न सच्चेका जन्म-मरण। यह क्या है? थोड़ा-थोड़ा झूठा, थोड़ा-थोड़ा सच्चा। दोनोंको मिलाकर 'नासतो विद्यते भावः'—असत्‌का भाव माने जन्म नहीं है। जन्म नहीं है—माने मृत्यु भी नहीं है। असत् मांने बन्ध्यापुत्र। 'नाभावो विद्यते सतः'। सत् माने ब्रह्म। उसका अभाव माने मृत्यु। और मृत्युसे उपलक्षित जन्म। क्योंकि मृत्यु उसीकी होती है जिसका जन्म होता है। और जन्म उसीका होता है जिसकी मृत्यु होनी होती है। सत्‌का भी जन्म और मरण नहीं और असत्‌का भी जन्म-मरण नहीं। यह ऐसी कोई अज्ञात चीज है जिसको तुम पहचानते तो हो नहीं; जिस चीजको तुम नहीं पहचानते हो, उसीका जन्म-मरण मालूम पड़ता है। जो अनिर्वचनीय है, **सत्त्वासत्त्वाभ्यां अनिर्वचनीय** जो है। है कहो तो अखण्ड परमात्मामें दूसरी चीज हो नहीं सकती और न कहो तो दिखायी पड़ रही है, कैसे न कहें? तो यह हाँ-नाके बीचमें—

है कहो तो नहीं है और नहीं कहो तो है।
है नाहिंके बीचमें जो कुछ है सो है।

है और नाहींके बीचमें यह अनिर्वचनीय ही जन्म और मरण दिखायी पड़ रहा है।

देखो; कौन जन्मता है और कौन मरता है? यह देखो कि जन्मना-मरना किसको मालूम पड़ता है। उलट दो। अपनी विचारधाराको उलट दो, यह मत देखो कि कौन जन्मता है और कौन मरता है। श्रीउड़ियाबाबाजी महाराजने कहा कि अपनी अकल जन्म-मरणकी सिद्धिमें नहीं लगानी, नरक-स्वर्गमें जाने-आनेके लिए अपनी अकल खर्च नहीं करना, किसका जन्म, पुनर्जन्म होता है—यह सिद्ध करनेके लिए अपनी बुद्धिका व्यायाम मत कराना। यह देखो कि यह असलमें जन्मना और मरना मालूम किसको पड़ता है। सपनेमें पाँच बरसका बेटा और पच्चीस बरसका मर्द, दोनों सपनेमें एक साथ पैदा हुए और जब सपना टूटा, तब दोनों एक साथ मर गये। अरे भाई! बाप-बेटा होंगे तो बाप पहले पैदा हुआ होगा और बेटा बादमें पैदा हुआ होगा। सपनेमें दोनों एक साथ पैदा होते हैं, क्योंकि एक साथ मालूम पड़ते हैं, बिना बेटा हुए कोई बाप कैसे मालूम पड़ेगा? और बिना बाप हुए कोई बेटा कैसे मालूम पड़ेगा? तो ये बाप-बेटा मालूम पड़ते हैं। किसको मालूम पड़ते हैं? भीतर बैठा हुआ जो अन्तर्यामी है, नारायण, ईश्वरसे कभी टेलीफोन करना हो तो निरहंकारताके नम्बरपर जोड़ना, अपने परिच्छिन्न अहंको

काटकरके तब ईश्वरके साथ जोड़ना और देखना तब दालमें नमक डालनेके लिए कौन बताता है कि इतना डालो!

यह जन्म और मरणका जो ज्ञान होता है, निश्चित समझो, आप अमर हो, आप दूसरेके बहकावेमें आकर अपनी मौत मानते हो और अपना जन्म मानते हो। बिलकुल दूसरेका बहकावा है। भाई; तुमने अपना जन्म देखा कहाँ? देखा महाराज! जब देखा तब होश-हवासमें थे न, कि बेहोश थे? अगर होश-हवाशमें तुम थे और तुमने जन्म देखा तो जन्मसे पहले तुम मौजूद थे, तुम्हारा जन्म हुआ नहीं। बोले— अपनी मौत देखी कि नहीं देखी? अगर तुमने अपनी मौत देखी तो मौत होनेके बाद देख रहे थे, तो तुम जिन्दा थे कि मर गये थे? अगर तुमने अपना जन्म और मृत्यु नहीं देखा और उसकी कल्पना करते हो, तो बिना प्रमाणके कल्पना करते हो और यदि तुमने जन्म और मरणको देखा तो तुम्हारा जन्म और मरण हुआ नहीं।

साधो हम मरते नहीं, पलटू करो विचार।

आत्माकी मृत्युका अनुभव कभी होगा क्या? यह तो परमात्माका खेल है। यदि अपनी मृत्युका अनुभव हो, तो जिसको अनुभव होगा, वह मैं हूँ, मुझे ही तो मालूम पड़ेगा कि मेरी मौत हो गयी और यदि अपनी मृत्युका अनुभव किसीको नहीं है, तो वह केवल कल्पना ही तो करता है, यह मनकी कमजोरी है। जो जन्म और मृत्यु मालूम पड़ते हैं, इस अभिनयका—इस नाटकका सूत्रधार, यह सिनेमा दिखानेवाला, यह लीला दिखानेवाला, यह खेल दिखानेवाला कौन है? परमात्मा। **भवोऽभावः**। जन्म और मरण। बोले परमाणु आपसमें मिल गये तो अणु बन गया, और अणुसे जनित हुआ, जनितसे त्रनित हुआ और फिर सारी सृष्टि बन गयी। जगत्के मूलमें क्या है? बोले—परमाणु। बड़ी विचित्र-विचित्र कथा है।

बौद्ध लोग मानते हैं कि जगत्का न कोई उपादान कारण है और न तो निमित्त कारण है। न कुम्हार है, न घड़ा है। यह शून्यमें प्रतीत हो रहा है, प्रतीत्य समुत्पाद्य है। यह जब पहले मालूम पड़ने लगता है, तब लोग इसकी उत्पत्ति मानते हैं।

चार्वाक् लोग मानते हैं कि उपादान कारण तो इसका है चारभूत; लेकिन निमित्त कारण बिलकुल नहीं है।

जैन लोग मानते हैं कि उपादान कारण है और निमित्त कारण कर्म है।

नैयायिक वैशेषिक मानते हैं कि जगत्का कारण परमाणु है। सांख्य और योग मानते हैं कि जगत्का कारण प्रकृति है।

पूर्व मीमांसक मानते हैं कि जग्तृका कारण कर्म है।

वेदान्तदर्शन कहता है जगत्का कारण अभिन्ननिमित्तोपादान कारण ईश्वर है।

दूसरे वेदान्ती कहते हैं कि वह परिणामी है—अविकृत परिणामी है और;

अद्वैत वेदान्ती कहते हैं वह विवर्ती है। यह जिससे हो रहा है भाव और अभाव, वह चैतन्य शक्ति, वह चिन्मात्र शक्ति देखो उसको देखोगे तो मालूम पड़ेगा कि सारी दुनियाको जो नचा रहा है, उससे हमारा वियोग कैसे होगा? बड़ी अद्भुत-अद्भुत लीला है।

सर्वभूतस्थ मात्मान सर्वभूतानि चात्मनि।

एक-एक अणु हिल रहा है, परमाणु हिल रहा है, गति हो रही है, शक्ति मालूम पड़ रही है दुनियामें कितनी चीजें छिप रही हैं, कितनी बदल रही हैं कितनी मिट रही हैं और यह **भवोऽभाव**: संसारमें सर्व वस्तुओंका जो जन्म और मरण हो रहा है, यह कौन कर रहा है? अगर इसको समझ जाओ तो ईश्वरसे कभी वियोग नहीं होगा। ईश्वरसे वियोग भक्तलोग मानते हैं केवल अभक्तिके कारण, प्रेमकी कमी है इसलिए ईश्वर नहीं मिलता है। और, वेदान्ती लोग कहते हैं कि पहचानते नहीं हो, इसलिए ईश्वर नहीं मिलता है। देखो दोनोंमें फर्क है न! ईश्वर छिपा है, लेकिन जब वह तुम्हारा प्रेम देखेगा, तब तुम्हारे सामने जाहिर हो जायेगा। वेदान्ती कहते हैं छिपा भी नहीं है, वह तो बिलकुल जाहिर है, तुम पहिचानते नहीं हो, इसलिए नहीं मिल रहा है।

देखो छिपा हैं और मिलेगा, इसमें उसकी कृपा चाहिए और हम नहीं पहचानते, इसलिए नहीं मिल रहा है, तो हमारे प्रयत्नकी जरूरत है कि अज्ञानको दूर करें। ज्ञान और भक्ति मार्गमें मौलिक मतभेद यही है कि अगर वह जानबूझ करके नहीं छिपा है, तो प्रकट हो जाय जानबूझके, तब मिलेगा। बोले—प्रगट तो है, परन्तु हम पहचानते नहीं है, इसलिए नहीं मिलता है।

यह जन्म और मरणका संसार है, इसमें अजन्मा और अमर, अमृत परमात्मा भरपूर है। कोई नहीं मरा, कोई नहीं जीया। जिनके लिए तुम रोते हो, वे मरे नहीं, जिनके पैदा होनेसे तुम खुश हुए वे पैदा नहीं हुए। पैदा होनेकी जो खुशी है, वह मरनेसे चली जायेगी और मरनेका जो दुःख है वह पैदा होनेसे चला जायेगा। जन्म-मृत्युपर नजर मत डालो, जो पर्दा खींचनेवाला है, उस सूत्रधारको देखो, उस पर्देको देखो जिसपर यह खेल हो रहा है, उस सूत्रधारको देखो जो यह खेल कर रहा है। इसमें कहीं राग-द्वेष करनेकी गुंजायश नहीं है। अविकम्प

योग—**भयं चाभयमेव च**। भय भी वही होता है और अभय भी वही देता है। कभी-कभी भय भी देना पड़ता है। डरानेमें हमेशा अहित ही हो सो बात नहीं है। माँ भी तो अपने बच्चेको डराती है न! और एक डाकू, चोर, लुटेरा, दुश्मन भी डराता है। यह देखना पड़ेगा कि डरानेवाला असलमें कौन है! पहचानो—

भवन्ति भावा भूतानां मत्त एव पृथग्विधाः। (10.5)

आपको मालूम है कौन सन्त थे महाराष्ट्रके! कहीं यात्रा कर रहे थे, तो रास्तेमें क्या देखते हैं कि बड़ा लम्बा-चौड़ा भूत है। तो कौन भूत बनकर आया था, आपको मालूम है? पहचानते होंगे, जब डरानेवालेको पहचान लिया, तो अविकम्प योग होगया। अच्छा, आपको ऐसा वेश धारण करना भी आता है? इस शक्लमें भी आप आते हैं महाराज!

सोऽविकम्पेन योगेन युज्यते। (10.7)

भयं—आया भूत डरानेके लिए, पर उसमें-से निकला कौन? ईश्वर। 'भले बने हो लम्बक नाथ। योजन भरि भरि हाथ।'—ऐसे आया जैसे लगा कि खा जायेगा। पर देखो उसमें-से कौन निकला? उसमें-से परमेश्वर निकला।

एक सन्त थे महाराष्ट्रके! गंगाजल भरकर ले जा रहे थे रामेश्वरम्। बड़ी लम्बी यात्रा, बीचमें एक गदहा प्यासा मर रहा था, तो पानी पिलाने गये गधेको और निकला कौन उसमें-से? परमेश्वर देखो; और, वह कुत्ता रोटी लिये जा रहा था! नामदेवकी, बोले—अरे घी चुपड़ लेने दे, रूखी नहीं खाना। कुत्तेमें-से कौन निकला? परमेश्वर निकला। शक्लसूरत पर मत आओ भाई! नामरूपमें मत फँसो, एक पारदर्शिनी नजरकी, पारदर्शिनी दृष्टिकी आवश्यकता है। नाम-रूपके पर्देको फाड़करके उसको देखें जो भीतर छिपा हुआ है। ऐसी पारदर्शिनी दृष्टि चाहिए।

मैं बौरी ढूँढन चली, रही किनारे बैठ।

डरानेवाला कौन? एक पति-पत्नी यात्रा कर रहे थे, पानीके जहाजमें तूफान आया। सब लोग डर गये। पत्नी भी डर गयी और पति मौजसे अपना काम कर रहा था। पत्नीने आकर पूछा—ऐ! तुम अपना काम करते हो, तुमको डर नहीं लगता? पतिने निकाली पिस्तौल और लगा दिया छातीपर, कि मार डालेंगे। खड़ी होगयी बेचारी चुप, हक्की बक्की। पूछा—पिस्तौलसे डर नहीं लगता है तुमको? बोली—पिस्तौलका डर क्यों लगेगा? यह तो तुम्हारे हाथमें है, जब तुम चलाओगे तब पिस्तौल मुझे मारेगी! मैं देख रही हूँ, पिस्तौल मुझे नहीं मार सकती, पिस्तौल

तुम्हारे हाथमें है। पतिने कहा—मैं देख रहा हूँ, यह तूफान मुझे नहीं मार सकता, यह तूफान मेरे प्यारेके हाथमें है। जब देखोगे न—

भयं चाभयमेव च। भवन्ति भावा भूतानां मत्त एव पृथग्विधा:। (10.5)

यह तो भयके निमित्तकी बात हुई। निमित्त लानेवाला परमात्मा। बोले कि नहीं, भयकी दृष्टि देनेवाला परमात्मा। यह भयकी वृत्ति हानिकारक नहीं है, यह भी एक दवा है। क्या कड़वी दवा कभी नहीं खिलाते हैं? कड़वी दवा भी तो देते हैं न! वह भी तो दवा ही होती है। आँखमें दवा डालते हैं तो आँख जलती है। अरे क्या यह आँखमें जलनेवाली दवा डाल दी! अरे भाई जलानेवाली भी दवा होती है। यह भी वैद्यकी दी हुई दवा है। जो रोगका अपवाद करे उसीको दवा बोलते हैं, फिर वादको दवा बना लिया इन लोगोंने।

तो देखो '**भयं चाभयमेव च**' भीतर बैठकर। उसको कोई मशीन नहीं घुमानी पड़ती, स्विच नहीं दबाना पड़ता, उसको बोलकर हुकुम नहीं देना पड़ता। उसको आँख नहीं तिरछी करनी पड़ती, उसको उँगलीसे इशारा नहीं करना पड़ता। **भयं चाभयमेव च।**

कभी भीतरसे भय भी देता है, कभी निर्भयता भी देता है। कभी ठण्डे पानीमें रखता है तो कभी गरम पानीमें पकाता है, रसायन बनानेकी विधि यही है।

हमारे गाँवके पास एक वैद्य थे, तो हमने देखा, कुचिला नामकी एक औषधिको वह गोबरमें सात दिन तक रखते, सात दिन गोबरमें रख लिया, सात दिन मट्ठेमें रख लिया, सात दिन उसको दूधमें रख लिया, सात दिन घीमें रख लिया। उसको कभी पकाते थे, कभी ठण्डा करते थे। कुचिलेका रसायन बनाते थे। वैद्य जानता है कि इसका रसायन कैसे बनेगा? तो ईश्वरको मालूम है कि इस आदमीका रसायन कैसे बनेगा, किस अन्त:करणका रसायन कैसे बनेगा, कभी घाटा देकर, कभी मुनाफा देकर, कभी संयोग देकर, कभी वियोग देकर, कभी जन्म देकर, कभी मृत्यु देकर, कभी यश देकर, कभी अपयश देकर, वह तो जीवोंका रसायन बना रहा है, कि हमारे साथ आकर चिपक जाय। ऐसा तैयार कर रहा है कि ये हमारे साथ चिपके, ऐसी दवा तैयार कर रहा है ईश्वर। तुम्हारे अन्दर ऐसी विशेषता उत्पन्न कर रहा है ईश्वर कि यह हमारे साथ आकर ऐसे चिपके कि कभी छूटे नहीं। **अविकम्पेन योगेन**—अविकम्प योग होवे।

अच्छा! यह प्रसंग अब फिर।

☆

तो जो अन्तर्यामीके रूपमें भगवान्‌को मानते हैं कि सब कलपुर्जा वही चलाता है। तो केवल हाथ-पाँवका कलपुर्जा नहीं, मशीन नहीं, मन और बुद्धिका कलपुर्जा भी वही चलाता है। **यन्त्रारूढानि मायया**—जाग्रत्, स्वप्न, सुषुप्तिका भी संचालन वही करता है।

तो सभी मतोंमें यह बात मानी जाती है कि **द्वासुपूर्णा सयुजा सखाया समानं वृक्षं परिषस्व जाते**—

जीव और ईश्वर दोनों इसी दिलमें रहते हैं। जो लोग द्वैतवादी हैं, उनकी यह बात कह रहा हूँ। वे कहते हैं कि जीव एक बुद्धिको पकड़ कर बैठा हुआ है, यही मेरी बुद्धि है, इसका कर्म मेरा, इसका धर्म मेरा, इसकी अवस्था मेरी, इसका स्वभाव मेरा, इसमें जो रुचि है सो मेरी, जीव तो वह है कि जो बैठा हुआ है बुद्धिके धर्म, अवस्था, स्वभावादिके स्वीकार करके। और, ईश्वर वह है जो एक बुद्धिको स्वीकार करके नहीं बैठा हुआ है, सब बुद्धियोंसे अलग रहकर सब बुद्धियोंका संचालन करता है। सब बुद्धियोंमें है। और, बुद्धियोंमें रहकर भी उनसे अलग है और उनका संचालन करता है।

वेदान्ती कहते हैं कि नहीं जो बुद्धिको पकड़कर बैठा है सो तो प्रतिबिम्ब है और ईश्वर बिम्ब है और ये दोनों औपाधिक हैं और स्वयंप्रकाश जो आत्मा है, वह तो इन दोनोंसे न्यारा है और वह ब्रह्म है।

यह निरूपणकी शैली है अलग-अलग। तो भक्तलोग मानते हैं कि हृदयमें ईश्वर रहता है, परन्तु भक्ति न होनेसे उसका अनुभव नहीं होता।

वेदान्ती कहते हैं कि ईश्वर हृदयमें रहता है, पहचान न होनेसे वह अप्राप्त मालूम पड़ता है। केवल अज्ञानसे ही वह नित्यप्राप्त होनेपर अप्राप्त-सा हो गया है। केवल अज्ञानके कारण हम पहचानते नहीं हैं।

ईश्वर भीतर बैठकर क्या करता है? अगर एक ही काम करे ईश्वर, तो वह भी बोर हो जायेगा, इसलिए तरह-तरहके काम करता रहता है—बदलता रहता है।

कभी अन्त:करणको सुला देता है, कभी जगा देता है, कभी उसमें सपना दिखाता है, वही करता है सब। सबके दिलमें नये-नये दृश्य उत्पन्न करता रहता है, बड़ा खिलाड़ी है—**भयं चाभयमेव च।**

देखो; शेरको क्रोध आ रहा है और हरिण बेचारा डर रहा है। शेरके दिलमें आया गुस्सा कि खा जाँय इसको और हरिण डर गया तो हरिणके डरे हुए अन्त:करणमें जो डरका, भयका भाव उदय हुआ, वह परमेश्वरकी सत्तासे ही हुआ और शेरके हृदयमें जो क्रोधका भाव उदय हुआ, वह भी परमेश्वरकी सत्तासे ही हुआ।

इस बातको ऐसे समझो आप, कि मान लो आपको सपना आवे और उसमें एक शेर होवे और एक हरिण होवे और शेर हरिणपर आक्रमण कर दे, तो हरिण तो डरके बेचारा चुप हो गया और शेर उसे चीरे जा रहा है। अब आपके अन्त:करणमें जो स्वप्न आ रहा है और उसमें जो गुस्से वाला शेर है और डरा हुआ जो हरिण है, ये दोनों आपकी ही सत्तासे हैं कि नहीं? अगर आप सपना देखनेवाले न होते, आप अन्त:करणको न देख रहे होते तो कहाँसे वह शेर दिखायी पड़ता और कहाँसे उसमें गुस्सा होता और कहाँसे डर होता? तो जैसे स्वप्नमें एक स्त्री है और एक पुरुष है, दोनोंकी सत्ता किससे है? स्वप्नद्रष्टासे। स्वप्नद्रष्टा कोई है न! दोनोंके मनमें काम है, कि दोनोंके मनमें घृणा है या एकके मनमें काम है एकके मनमें घृणा है। दोनोंकी सत्ता स्फूर्ति आपसे ही तो हो रही है न! सपनेमें एक आदमीके घरमें बच्चा हो रहा है और एक आदमीके घरमें कोई मर रहा है, तो दोनों तो स्वप्न-द्रष्टाकी दृष्टिसे ही तो हो रहा है।

इसी प्रकार इस समूची सृष्टिमें जो कुछ होता है वह सब ईश्वरके भीतर होता है—ऐसे कहो कि ईश्वरके सपनेमें होता है। और आत्मा जो है वह जीवके सपने और ईश्वरके सपने-दोनोंसे न्यारा। ईश्वरकी मायासे न्यारा और जीवके अन्त:करणसे न्यारा, इसका नाम द्रष्टा होता है, साक्षी होता है, इसको ब्रह्म बोलते हैं।

परस्पर विरोधी जितने भाव आते हैं, देखो एक ओर सूर्यको चमक दे रहा है, दूसरी ओर चन्द्रमाको चमक दे रहा है एक ओर माटी होकर खिल रहा है, तो दूसरी ओर पानी होकर बह रहा है, तीसरी ओर आग होकर जला रहा है, चौथी ओर हवा होकर उड़ा रहा है, चौथी पाँचवीं ओर आकाश बनकर शान्त, सबको धारण कर रहा है। मन बनकर वही सपना देख रहा है। बुद्धि बनकर

वही अच्छे-बुरेका ज्ञान प्राप्त कर रहा है। सबका मूल कारण बन करके वही प्रकृति, वही ईश्वर।

तो यह सब खेल स्वयं परमात्मा कर रहा है।

आपे अमृत आपु अमृत घट आपै ही पीवन हारी।
आपे ढूँढे आपु ढुँढावे, आपै ढूँढन हारी॥

यह ईश्वरकी लीला, इस प्रकारसे हो रही है। कभी दिलमें डर आजाय तो सपनेमें डरते हैं कि नहीं? और कभी निर्भयता आजाय, वह बहादुर बन गये, भिड़ गये शेरसे। एक दिन सपना आया तो बाघसे लड़ गये, बड़ी निर्भयता आयी और एक दिन सपना आया तो कुतियाको देखकर भगे। एक दिन भगे, एक दिन बहादुर बन गये ये दोनों बात कहाँसे आयी? कि भीतरसे आयी। कि भीतरसे कौन भेजता है? अरे वही भेजता है भाई। तो—**भयं चाभयमेव च**।

अच्छा, यह भी बात है कि कभी भयसे भी भला होता है और कभी निर्भयतासे भी भला होता है। इन दोनोंमें कहो कि भय बहुत खराब है। कि नहीं, कई लोग भयके कारण पापसे बच जाते हैं, बुराईसे बच जाते हैं, कभी-कभी भय भी हितकारी होता है और कभी निर्भयता भी हितकारी होती है। इसमें यह नहीं समझना कि एक ही वृत्ति होनी चाहिए; निर्भयताके पक्षपाती कहेंगे कि हमेशा निर्भय ही रहना चाहिए। धर्मके पक्षपाती कहेंगे बाबा पापसे बचना चाहिए, दूसरेकी बुराईसे डरना चाहिए, अपने हाथसे कोई गलत काम न हो जाय, इससे डरना चाहिए। क्योंकि देनेवाला तो सब ईश्वर ही है न!

देखो; ईश्वरकी तो दी हुई आँख है, इससे कभी देखना ठीक होता है, कभी आँख बन्द कर लेना ठीक होता है, दोनों बात मालूम है। इसका उपयोग ठीक होना चाहिए। कान दोनों ईश्वरके दिये हुए हैं, कभी कोई बात सुनना ठीक होता है, कभी कोई बात सुनना गलत होता है। जीभ ईश्वरकी दी हुई है। इससे कभी कोई बात बोलना ठीक होता है और कभी ठीक नहीं होता। कभी ईश्वर बोलना देता है, कभी न बोलना देता है।

देखो; अहंकार भी ईश्वरका दिया हुआ है, यह भी कभी ठीक होता है, कभी गलत होता है। एक आदमीने आकर कहा—चलो हमारे लिए झूठी गवाही दो। बोले—ऐ! हम संन्यासी होकर, ब्राह्मण होकर, धर्मात्मा होकर, झूठ बोलेंगे? बोले—बड़े अहंकारी हो जी। बोले—हाँ अहंकारी हैं, यह हम मानते हैं, लेकिन झूठ नहीं बोलेंगे।

उस समय भगवान्‌का दिया हुआ जो अहंकार है वह श्रेष्ठ है। और, किसीको अहंकार हुआ कि हम राजा हैं, हम चाहे जो कर सकते हैं और बुरा काम करने लग गया। तो अहंकारका उपयोग गलत हो गया।

ईश्वरकी दी हुई चीज, न अच्छी होती है न बुरी होती है, वह तो ईश्वरकी दी हुई है। अब हम उसको जब अपने स्वार्थके लिए और दूसरोंकी हानिके लिए उसका उपयोग करते हैं, तब बुरी हो जाती है और दूसरोंकी भलाईके लिए और अपने त्यागके लिए, उदारताके लिए जब उसका प्रयोग करते हैं, तब वही चीज भली हो जाती है।

तो सब जगह ईश्वरका हाथ देखना, ईश्वरको पहचानना और अपने आपको मगन रखना।

अहिंसा समता तुष्टिस्तपो दानं यशोऽयशः।
भवन्ति भावा भूतानां मत्त एव पृथग्विधाः॥ 5॥

भगवान् कहते हैं भूत भी अलग-अलग होते हैं। प्राणी सब अलग-अलग होते हैं। भूत उसको कहते हैं जो कई बार पहले हो चुका है और अब भी हुआ है उसका नाम भूत है। वह पहले भी था। भूत कहनेका मतलब यह हुआ कि आज ही नहीं है, यह पहले भी था। भूत तो आप जानते हो। आज वर्तमान है, कल भूत था और अगला कल भविष्य होगा। तो किसीको भूत बोलना माने यह पहले भी था। माने जो यह पहले भी था तो संस्कार तो उसके भीतर पहलेका जरूर है। और, जब संस्कार भीतर हैं तो अलग-अलग संस्कार होनेसे अलग-अलग भाव भी सबके उठते हैं। कोई लाल शीशा है, कोई हरा शीशा है, कोई पीला शीशा है और सूर्यकी रोशनी तो सबके ऊपर पड़ती है। तो ईश्वर तो है सूर्यकी तरह, उसकी रोशनी पड़ रही है सबके ऊपर और अन्तःकरण शीशेकी तरह हैं।

देखो बिजली पंखेमें आती है, तो पंखा घूमता है, बल्बमें आती है तो बल्ब जलता है और दूसरी मशीनोंमें जाता है तो कोई ठण्डा करता है कोई गरम करता है। तो बिजली तो एक है लेकिन मशीन अलग-अलग है। इसी प्रकार यह तत्-तत् संस्कार युक्त, उन उन संस्कारोंसे युक्त अन्तःकरणकी मशीनें न्यारी-न्यारी हैं और सबमें घूमनेवाली ईश्वरकी जो बिजली है, वह एक है। बोले—भाई, ईश्वर वहाँ तो रोशनी देता है और यहाँ हवा देता है और वहाँ गर्मी देता है और यहाँ ठण्डक देता है, यह ईश्वरका कैसा दोष! बोले—ईश्वरका दोष नहीं है, यह तो मशीनकी विशेषता है।

किसके अन्दर पुण्यके भाव जगें, किसके अन्दर पापके भाव जगें, यह तो उन-उन मशीनोंमें जैसे-जैसे संस्कार हैं, वैसा होता है। और, बिजली तो सबमें एक ही दौड़ रही है। तुम उस बिजलीको पहचानो। मशीनकी विशेषता जुदा चीज है और बिजलीकी विशेषता जुदा चीज है। जितने भिन्न-भिन्न भाव संसारके भिन्न-भिन्न प्राणियोंमें होते हैं, उसमें सूर्यकी रोशनी जरूर है, उसमें बिजली है, उसमें माटी है, पानी है, आग है, हवा है, उसमें आकाश है, लेकिन संस्कार होनेसे जैसे चनेके बीजमें-से अलग अंकुर निकलता है और गेहूँके बीजमें-से अलग अंकुर निकलता है, जैसे अंगूरके बीजमें-से अलग अंकुर निकलता है और मिर्चके बीजमें-से अलग अंकुर निकलता है, तो वह बीजका भेद है, माटी-पानीका भेद नहीं है। इसी प्रकार अलग-अलग जो भाव उठते हैं मनुष्योंके हृदयमें परस्पर विरोधी अच्छे और बुरे, वे सब जो बीज हैं, संस्कार हैं, उनके कारण मनुष्य जुदा-जुदा होते हैं, ईश्वर तो सबके भीतर एक ही होता है।

अब बोले—महाराज, ईश्वर किसीके बीजमें अहिंसा देता है, यह नहीं समझना कि सबको अहिंसा देता है, ऐसा भी है कि कभी किसीको, कभी किसीको दे देता है, ऐसा भी हो जाता है। एक आदमीको हमने देखा लाखोंका नुकसान हुआ और उसे दु:ख नहीं हुआ। लेकिन उसी आदमीको देखा एक दिन दो रुपया नुकसान हो गया, तो लड़ रहा था। बड़ा भारी गुस्सा, दो रुपयेके लिए लड़ रहा था और दो लाखके लिए नहीं लड़ा। ऐसा क्यों हुआ? यह विचार तो करना पड़ेगा न! कि कभी कौन-सा संस्कार उदय हो गया, कभी कौन-सा संस्कार उदय हो गया? तो भीतर कभी हिंसाका उदय होता है, कभी अहिंसाका उदय होता है।

यह किसीको पीड़ा पहुँचानेका जो भाव है उसको हिंसा बोलते हैं, जानबूझ करके—'अच्छा, तुमको समझेंगे!' बहुत बढ़िया, जबसे कृष्णने कंसको मारा, तबसे लोग ऐसे बोलने लगे कि—'अच्छा मामा तुमको समझेंगे!'

कृष्णका मामा लगता था न कंस। उन्होंने मारा! अच्छा मामा, देख लेंगे तुमको! अच्छा मामा, समझेंगे तुमको!

मामा माने कंस हो जाता है, ऐसे अवसरपर। ऐसे अवसरों पर दुश्मनको मामा बोलते हैं। हिंसाके भी कई रूप होते हैं। शरीरसे किसीको दु:ख पहुँचाना, वाणीसे किसीको दु:ख पहुँचाना, मनसे किसीको दु:ख पहुँचाना—इसको हिंसा बोलते हैं।

आजकल तो केवल मनुष्यकी दृष्टिसे विचार करनेकी पद्धति चलती है, इसलिए जरा पुराने शास्त्रोंकी बातें कम समझमें आती हैं। इसका कारण क्या है? कि पहले जिस दृष्टिकोणसे विचार करते थे, उस दृष्टिकोणको यदि स्वीकार करके हम उनकी बातको समझेंगे, तब तो वह बात समझमें आवेगी और यदि उस दृष्टिकोणको नहीं मानेंगे, तो बात समझमें नहीं आवेगी। पहले चार वर्ण होते थे और चार आश्रम होते थे। उनकी दृष्टिसे हिंसा-अहिंसाका विधान होता था। एक बाबाजीकी हिंसा और एक वैश्यकी हिंसा, दोनों एक सरीखी नहीं होती। बाबाजीके लिए दातुन तोड़नेका निषेध है, वह किसी पेड़ पौधेमें-से दातुन न तोड़े, क्योंकि हिंसा हो जायेगी। अच्छा, ब्राह्मण यज्ञ करे तो लकड़ी न काटे अगर समिधा न काटे, वह अगर नौ ग्रहोंकी नौ औषधि न ले आवे, या सर्वौषधि न ले आवे तो स्नान ही नहीं होगा, यज्ञ ही नहीं होगा। वह कहे कि बाबाजीके लिए तो यह हुकुम है कि दातुन ही नहीं तोड़ना और ब्राह्मण जो है वह लकड़ी काट-काटके होम करता है, यज्ञ करता है, तो अलग बात हो गयी।

अब देखो क्षत्रिय युद्धभूमिमें सामने जो शत्रु है उसको मारता है, और वैश्य जब खेती करता है, 'कृषि गोरक्ष्यवाणिज्यं' उसके घरमें गेहूँ रखा है, उसमें लग गये घुन, बोले कि नहीं हम घुन नहीं मारेंगे, तो उसके घरमें रखा हुआ अन्न नष्ट हो जायेगा। चावलमें लग गये कीड़े, बोले—हम हिंसा नहीं करेंगे, हम हल ही नहीं चलावेंगे खेतमें, क्यों? कि उसमें हिंसा होती है। तो ऐसे कैसे चलेगा। हिंसा-अहिंसाकी जो बात प्राचीन ग्रन्थोंमें लिखी हुई है, उसको समझनेके लिए, उस समयकी जो विधि-व्यवस्था है, उसको भी समझना पड़ता है, नहीं तो वह समझमें नहीं आवेगी।

एक घर-गृहस्थसे अलग रहनेवाले वनवासीके लिए जैसी अहिंसाका निरूपण है, एक खेती करनेवालेके लिए, या एक युद्धभूमिमें लड़नेवालेके लिए वैसी अहिंसा नहीं हो सकती।

मनुष्यकी बुद्धिके स्तरके अनुसार, उसकी व्यवस्थाके अनुसार हिंसा, अहिंसाका विधान है। डाक्टरकी हिंसा दूसरे ढंगकी है। बोले—भाई डाक्टर जो है वह कहेगा हम आपरेशन नहीं करेंगे उसमें तो बहुतसे कीड़े मर जायेंगे, दवा नहीं देंगे, दवा खानेमें तो बहुत कीड़े मरते हैं। सफेद रंगके जो कीड़े बढ़ते हैं, शरीरमें, उनको मारनेके लिए ऐसी दवा देते हैं कि वे मर जायँ और भूरे रंगके बढ़ जायँ। भीतर भी तो युद्ध होता रहता है न!

यह हिंसा, अहिंसाका जो विधान है, उसको समझना चाहिए। यह कायरता जो है, वह सबसे बड़ा पाप है। तो देखो इसका एक अभिप्राय आपको बताते हैं कि आजका एक मनोविज्ञानका डाक्टर ऐसे आकर बोलता है कि मनमें जो आवे सो आने दो, उससे लड़ाई मत करो। ये नेचरकी माँग पूरी करते हैं पट्ठे। अब इसमें यह बात हुई कि मनमें अच्छे-बुरेका भेद करके और लड़ाई करके बुरी भावनाको दबा देना और अच्छी भावनाको प्रबल करना, अगर यह अभ्यास आपको रहता, तो यदि कोई राष्ट्रमें या दूसरे राष्ट्रमें कोई बुराई करता तो लड़ाई करके भी उसकी बुराईको दबा देना चाहिए, यह बात आपके अन्तरके अभ्यासमें आती। अन्तरके अभ्यासमें आती तब बाहरके अभ्यासमें भी आती। कि भाई; पापकी क्रिया जब होनेवाली हो तो पुण्यकी क्रियासे उसको दबा देना चाहिए, संसारकी भावना बढ़े तो ईश्वरकी भावनासे उसको दबा देना चाहिए।

अब तो यह हुआ कि बाबा जो होवे सो होने दो। अब लो जो होयेसे होने दो, अपने मनके लिए मान लिया कि जो होये सो होने दो, तो अब बाहर भी मानो जो होये सो होने दो। चोर घरमें-से ले जाये, तो ले जाने दो, लुटेरा ले या ले जाय सो ले जाने दो, बोले—नहीं, बाहर तो नहीं मानेंगे।

बाहरका नहीं मानोगे तो सामना करनेके लिए बल कहाँसे आवेगा? यदि मनोबल होता तुम्हारे, मनसे एक भावनाको रोकनेके लिए, दूसरी भावनाको मनमें प्रबल रक्खो, एक भावको काटनेवाला दूसरा भाव होता है। यदि मनमें तुम बुराईसे लड़ाई करते, तो बाहर भी लड़ाई करनेका अभ्यास होता, यहाँ तो कामके सामने आत्म समर्पण कर दिया। मनमें काम आया तो सिर झुका दिया कि चलो भोग करेंगे। क्रोध आया, बोले मारेंगे, रोकना ही नहीं बिल्कुल! बोले—लोभ आया तो दूसरेकी चीज उठाकर ले आवेंगे। मोह आया, तो पक्षपात करेंगे। जब साधनाका भाव, जब जिस जातिमें, जिस सम्प्रदायमें, जिस देशमें अन्तःकरण शुद्धिका भाव शिथिल हो जाता है, उस देशमें फिर वीर भी पैदा नहीं होते, क्योंकि अन्तरंग ही जब निर्वीर हो गया, निर्वीर्य हो गया, तो बाहरसे वीर्य आवेगा कहाँसे? शौर्य आवेगा कहाँसे?

यह धर्मकी भावना है। हमारे कई बाबू लोग भारतीय भाषामें धर्म किसको कहते हैं, इस बातको नहीं जानते। वे विदेशी भाषामें जो धर्म है, वही समझते हैं। समझते हैं एक आचार्य द्वारा चलाया हुआ तो कोई मजहब है, कोई फिरका है, कोई पंथ है, कोई सम्प्रदाय है उसमें जो बात मानी जाती है, उसीको धर्म समझते

हैं। अपने यहाँ तो धर्मकी ऐसी परिभाषा नहीं है धर्म उसको कहते हैं जो अन्तःकरणकी वृत्तियोंपर रोक लगावे, अपने बुरे कर्मोंपर रोक लगावे—

धारणात्धर्मः। चोदनालक्षणाऽर्थोः धर्मः।

कायदेके अनुसार, कानूनके अनुसार चलना, विधिके अनुसार चलना, निषिद्धकर्म नहीं करना, अपने मन-इन्द्रियोंको रोकना। क्या तुम्हारे सामने जो काम आजाय, मनमें काम आजाय वे ही करोगे? विचार नहीं करोगे, रोक नहीं लगाओगे? जो मनमें आजायेगा, वही बोलोगे? जीभपर रोक नहीं लगाओगे? जो मनमें भोग करनेका आजायेगा, वही भोगोगे? मनपर रोक नहीं लगाओगे? अगर ऐसा करोगे तो पशुमें और मनुष्यमें कोई भेद नहीं रहेगा। तो जीभपर लगाम लगानेके लिए, वाणीपर; भोगपर लगाम लगानेके लिए, कर्मपर लगाम लगानेके लिए जो अन्तःकरणमें अपनी इन्द्रियों और मनको रोक रखनेकी जो शक्ति है, उस शक्तिको धर्म बोलते हैं। हमारी भाषामें धर्म अन्तरंग मनो-बलका नाम है और दूसरे जो सम्प्रदाय हैं, वहाँ धर्म मजहबी कानून-कायदे हैं। मजहबी कानून-कायदे अलग-अलग होते हैं और अन्तरंग, शाश्वत जो समस्याएँ हैं, अन्तःकरणमें, उनको रोकनेकी जो वृत्ति होती है वह बिल्कुल जुदा होती है।

जो दोष और दुर्गुणोंके सामने आत्मसमर्पण कर देता है, वह शत्रुओंके सामने भी आत्मसमर्पण कर देगा, इसलिए मनुष्यके जीवनमें ऐसी वीरता, ऐसी शूरता, ऐसी बहादुरी रहनी चाहिए कि अपने मनमें जो दोष-दुर्गुण आवें, उनके सामने वह आत्म समर्पण न करे, उनके सामने कायर न हो जाय। यह कायरता हिंसासे भी बुरी चीज है।

अब देखो, कायरता तमोगुण है। कायरताके बाद दूसरेको नुकसान पहुँचानेका जो ख्याल आता है, वह रजोगुण है। दूसरेको नुकसान पहुँचानेका ख्याल मनमें न आवे—हिंसाका भाव न आवे; लेकिन जब कोई हिंसा करे, तब? बोले—प्रतिहिंसाका भाव आवे। यह हिंसासे श्रेष्ठ वस्तु है। कायरतासे श्रेष्ठ है हिंसा, और हिंसासे श्रेष्ठ हैं—'हनतेको हनिए, पाप-दोष ना गनिये।' ऐसे किसी आदमीको नुकसान नहीं पहुँचाना, लेकिन '**आततायिनमायान्तं हन्या देवा विचारयन्।**' यदि कोई आततायी आवे, तो उसको मार डालना।

तो अर्जुनके सामने क्या प्रश्न था? अर्जुनके सामने प्रश्न था कि हम मर जायें, लेकिन लोगोंको मारना नहीं, मजहबी सवाल नहीं था, कौरव और पाण्डव दोनों

दो मजहबके नहीं थे, हिन्दू-मुसलमानकी लड़ाई नहीं थी, ये तो एक ही मजहबके दोनों थे। कौरव और पाण्डव-दोनों वैदिक सम्प्रदायके अनुयायी थे, दोनों वेद-शास्त्र-पुराणको मानते थे, दोनों सनातनधर्मी थे। यहाँ तो कोई एक मजहबकी दूसरे मजहबके साथ लड़ाई नहीं थी।

आजकल बाबू लोग समय-समयपर कह देते हैं और बड़े-बड़े ऐतिहासिक लोग बोलते हैं, मजहबके कारण बड़ी लड़ाईयाँ हो रही हैं, आश्चर्य होता है, इतिहासके पंडित लोग बोलते हैं, कि हमने जाँच करके देखा है, पर आजकलकी अदालतोंमें जो मुकदमे होते हैं, पैसेके लिए होते हैं, जमीनके लिए होते हैं, आपसमें मारपीट अपमानके कारण होते हैं, लौकिक स्वार्थोंके कारण मुकदमे होते हैं, मजहबके कारण उतने नहीं होते। आप देख लो। धर्मके लिए पाँच प्रतिशत मुकदमे भी आजकी अदालतोंमें नहीं हैं। सारे भारतवर्षमें नहीं, सारे विश्वमें जो मुकदमे लड़े जा रहे हैं उनमें भी। परन्तु आज लोग कहते हैं कि मजहबके कारण बड़ी-बड़ी लड़ाई हुई है। अरे बाबा जमीनके कारण जितनी लड़ाई रोज होती है, पैसेके कारण जितनी लड़ाई रोज होती है, इज्जतके कारण जितनी लड़ाई रोज होती है, प्रतिष्ठाके कारण जितनी लड़ाई रोज होती है, पाँच प्रतिशत नहीं, एक प्रतिशत भी धर्मके लिए उतनी लड़ाई नहीं होती है, सम्पूर्ण विश्वमें यह स्थिति है आजकी यह हिन्दूस्थान-पाकिस्तानकी लड़ाई मजहबकी लड़ाई थोड़े ही है, स्वार्थकी लड़ाई है। हमको कश्मीर चाहिए, हमको जमीन चाहिए, हमको यह चाहिए, हमको वह चाहिए, इसीलिए लड़ाई है। कहनेका अभिप्राय क्या है कि इतिहासमें भी जमीनके लिए लड़ाई जितनी हुई हैं, धनके लिए जितनी लड़ाई हुई हैं, अपने वंशकी प्रतिष्ठा, इज्जतके लिए जितनी लड़ाई हुई है, लौकिक स्वार्थके लिए जितनी लड़ाई हुई हैं, उतनी धर्मके लिए नहीं हुई हैं भला!

लोग झूठे ही बदनाम करते हैं कि धर्मके कारण इतिहासमें खून-खराबे हुए हैं। अरे कोई-कोई लड़ाई हुई है, यह हम नहीं कहते बिल्कुल नहीं हुई है, कोई-कोई हुई है, और एकाध तो बहुत बड़ी भी हुई है, लेकिन जो लोग कहते हैं कि धर्म ही लड़ाईका कारण है, वे बिल्कुल गलत कहते हैं, न तो उनको वर्तमान, जो विश्वकी स्थिति है, उसके बारेमें ठीक-ठीक विचार है और न तो जो पीछे हो चुकी है, उसके बारेमें विचार है। लौकिक स्वार्थके कारण युद्ध होता है, धर्मार्थके कारण युद्ध नहीं होता।

अर्जुन हिंसक नहीं थे, वे कहते थे—

यदि मामप्रतीकारमशस्त्रं शस्त्रपाणयः।
धार्तराष्ट्रा रणे हन्युस्तन्मे क्षेमतरं भवेत्॥ 1.46
श्रेयो भोक्तुं भैक्ष्यमपीह लोके। 2.5

भीख माँगके खा लूँगा, मर जाऊँगा लेकिन मैं मारूँगा नहीं। भगवान्‌ने सारी गीता सुनाकर उनको समझाया कि जो अन्यायके मार्गमें चलनेवाले हैं, इनको मारना धर्म है, इनके हाथों मरना नहीं। जो धर्मकी हिंसा कर रहे हैं, जो न्यायकी हिंसा कर रहे हैं, उनको मारना ही धर्म है। गीतामें यह बात बतायी गयी—

हतो वा प्राप्स्यसि स्वर्गं जित्वा वा भोक्ष्यसे महीम्।
तस्मादुत्तिष्ठ कौन्तेय युद्धाय कृतनिश्चयः॥ 2.37

यदि हिंसा कोई कर रहा है, तो प्रतिहिंसाका भाव है।

अब देखो; किसीको योग करना है। योग मार्गपर क्या करना है? कि चित्तवृत्तिका निरोध करना है, चित्तवृत्तिका निरोध हिंसासे नहीं होगा, अहिंसासे होगा। बाबाजी हो गया, साधक हो गया। बाह्य शत्रुका निरोध और विरोध दूसरा है और अन्तःशत्रुका विरोध और निरोध दूसरा है। असलमें अहिंसा भी एक अन्तः शत्रुके विरोध और निरोधकी प्रणाली ही है। भीतर जो हिंसाकी भावना आती है उस भावनाको निवृत्त करना अहिंसा है।

आप जानते हैं, अहिंसा एक तप है। गीतामें भगवान्‌ने बताया—

ब्रह्मचर्यमहिंसा च शारीरं तप उच्यते। 17.14

शारीरिक तप है, क्या? दूसरेको कष्ट न पहुँचाना। जानबूझकर किसीको तकलीफ पहुँचानेकी कोशिश नहीं करना, जहाँ तक हो अपने शरीरसे ऐसे कामोंको बचाकर रखना। यह एक अहिंसा हुई।

अब दूसरी अहिंसा देखो, दैवी सम्पत्ति। दैवी सम्पत्ति भी तो अहिंसा है न!

अहिंसा सत्यमक्रोधस्त्यागः शान्तिरपैशुनम्।
दयाभूतेष्वलोलुप्त्वं मार्दवं ह्रीरचापलम्॥ 16.2

यह भी एक साधन हुआ। एक तपस्याके रूपमें अहिंसा है और दैवी सम्पत्तिके रूपमें अहिंसा है और ज्ञानसाधनके रूपमें अहिंसा है—**अमानित्वमदम्भित्वमहिंसा क्षान्तिरार्जवम्।** (13.7) ज्ञानके मार्गमें चलना है। सम्पूर्ण दृश्य प्रपंचसे वैराग्य करके, वैराग्यका जो साक्षी है, उसको ब्रह्म जानना है। सम्पूर्ण दृश्य प्रपंचसे विरक्त होकर असंग होकर—**असंगशस्त्रेण दृढेन छित्त्वा**

(15.3)—असंग शस्त्रसे सारे सम्बन्ध-बन्धनको काटकरके अपने असंग द्रष्टा-साक्षी आत्माको ब्रह्मरूपमें जानना, यह अहिंसा नहीं, यह ज्ञानका असंग है—

एतज्ज्ञानमिति प्रोक्तमज्ञानं यदतोऽन्यथा। 13.11

इसका नाम ज्ञान है। देखो योग दर्शनमें अहिंसा किसको कहते हैं? सत्य, अहिंसा, अस्तेय, ब्रह्मचर्य, अपरिग्रह—ये यम हैं। हिंसा करके कोई कैसे बैठेगा योगाभ्यास करने? समाधि लगाना है, तो हिंसा करके नहीं बैठना, नहीं तो ग्लानि होगी। दो वृत्ति आवेगी हिंसासे, अगर गलत हिंसा करके, निरपराधकी हिंसा करके बैठोगे योगाभ्यास करने तो ग्लानिकी वृत्ति इतने जोरसे उठेगी कि समाधि नहीं लगेगी और यदि जो हिंसाके योग्य है उसकी हिंसा करके समाधि लगाने बैठोगे, तो अभिमानकी वृत्ति उदय हो जायेगी कि हमने बड़ी बहादुरीका काम किया। अभिमानकी वृत्ति उदय होगी तो वह भी समाधि लगानेमें बाधा डालेगी। समाधि लगानेमें हर्ष और विषाद दोनों बाधा डालते हैं। यदि चित्तको समाहित करना है, अथवा तत्त्वज्ञान प्राप्त करना है, ध्यान करने बैठना है, तब फिर वहाँ हिंसा काम नहीं देगी, अहिंसा ही काम देगी। संन्यासी बाबा बन गये, सारा संसार छोड़ दिया, जैन मुनि बन गये, बौद्ध मुनि बन गये। तब भीतर सम्पूर्ण चित्तवृत्तियोंका निरोध करके अथवा सम्पूर्ण चित्तवृत्तियोंसे विवेक करके, अपनेको असद् वृत्तियोंसे अलग जानकरके परमात्माके साथ एक होना पड़ेगा। तो हिंसा काम नहीं देगी, वहाँ तो अहिंसा ही काम देगी।

अब देखो भगवान् जिसको चाहते हैं कि यह ज्ञानके मार्गमें चले, जिसको चाहते हैं कि यह योगके मार्गमें चले, जिसको चाहते हैं कि यह तप और दैवी सम्पत्तिके मार्गमें स्थिर हो जाय, उसे अहिंसा दे देते हैं। दैवी सम्पत्तिमें तो युद्ध भी होता है, दैवी सम्पत्तिमें तेज भी है, शौर्य भी है, अभय भी है।

तो, (i) दैवी सम्पत्तिमें तो अहिंसा भी है और युद्ध भी है। और,

(ii) तपस्यामें अहिंसा है, युद्ध नहीं है। तपस्यामें अहिंसाकी वृत्ति है और,

(iii) योगमें हिंसाकी वृत्तिका निषेध करनेवाली अहिंसा है। और,

(iv) तत्त्वज्ञानमें शान्तिरूप अहिंसा है। अपने असंग स्वरूपमें स्थित होना।

धर्ममें अपने लिए विहित जो धर्म है, उसका आचरण करना और इसमें जितनी हिंसा है उतनी ही करना, ज्यादा नहीं करना—इसका नाम अहिंसा है। धर्ममें हिंसा कितनी? अपने लिए जितनी विहित हिंसा है, उतना ही करना, उससे अधिक नहीं करना।

वैश्य खेती करे, तो खेतीमें कीड़ोंके मरते समय भी वह अहिंसक है। वह अन्नकी रक्षा करे अपने घरमें, गोदाममें, तो अन्नमें पड़े हुए कीड़ोंको मारते हुए भी वह अहिंसक है। सैनिक युद्धभूमिमें शत्रुओंको मारते हुए भी अहिंसक है। और ब्राह्मण यज्ञमें हिंसा करते हुए भी अहिंसक है, यह वर्णधर्मकी बात हुई।

अब जब आश्रमधर्म आता है, तब ब्रह्मचारी रोज समिधा लेकर आवेगा, लेकिन वह अहिंसक है। गृहस्थके घरमें रोज रसोई बनेगी, ज्यादा अहिंसाका अभिमान कोई करे, तो रोटी नहीं बन सकती घरमें। आग जलती है तो बहुत कीड़े मरते हैं। वानप्रस्थ जंगलसे फल-मूल लेकरके भी अहिंसक है। और संन्यासी जो है, भले ही उसके कुटुम्बको पीड़ा पहुँच रही हो, लेकिन वैराग्यसे यदि वह सबको छोड़कर आ गया है, तो वह कुटुम्बको पीड़ा पहुँचाता हुआ भी अहिंसक है।

आश्रमधर्मकी व्यवस्था जुदा तरहसे है, वर्णधर्मकी व्यवस्था जुदा रीतिसे है। अधिकारी भेदसे हिंसा-अहिंसाकी व्यवस्था होती है, सोलहों धान बाईस पसेरी नहीं होता। वैदिक धर्मकी यही व्यवस्था है। साध्य एक होनेपर भी साधनके स्वरूपमें पृथकता होती है। अनेक साधनोंसे एक साध्यको बनानेवाला जो मार्ग है उसको वैदिक मार्ग बोलते हैं। धर्मसे चलो, भक्तिसे चलो, योगसे चलो, तत्त्वज्ञान-विवेकके मार्गसे चलो, रास्ते बहुतसे हैं, पहुँचना एक जगह है।

यह जो अहिंसाकी वृत्ति आती है वर्णधर्मके अनुसार, आश्रम धर्मके अनुसार, अपनी साधनाके अनुसार; साधना पद्धतिमें—योगीकी अहिंसा, ज्ञानकी अहिंसा, भक्तिकी अहिंसा। भक्तिमें तो भगवान्की आज्ञा ही अहिंसा है।

यह अहिंसा कौन देता है? **भवन्ति भावा भूतानां मत्त एव पृथग्विधाः। (10.5)** भीतर बैठा हुआ परमेश्वर। मत्त एव। दूसरेसे नहीं। परमाणुसे नहीं होती यह हिंसा-अहिंसा, प्रकृतिसे नहीं होती हिंसा-अहिंसा, बाह्य निमित्तसे नहीं होती हिंसा-अहिंसा, भीतर बैठकर वही कहता है—'देखो, उबलना नहीं।' जब हिंसाका भाव आता है चित्तमें तो उबलता है। हिंसाके भी कई भेद होते हैं, एक तो हिंसा है, दूसरा द्रोह है, तीसरा क्रोध है, चौथा द्वेष है। ये सब वृत्तियाँ अलग-अलग होती हैं। इनपर विवेक करते हैं, तो द्रोह जो है वह सामूहिक रूपसे होता है, फिर तो किसीको दुःख देते ही हैं, किसीको तकलीफ देते ही हैं, दूसरेको भी प्रेरणा देते हैं कि तुम भी उनसे द्वेष करो, यह क्या हो गया? कि यह द्रोह हो गया खुद तो दूसरेको नुकसान पहुँचाते हैं, दूसरोंको भी प्रेरणा देते हैं कि तुम भी उनको नुकसान पहुँचाओ, उनको हानि पहुँचाओ, यह द्रोह है।

और, वाणीसे किसीको गाली देना, किसीकी बुराई करना, हाथसे किसीको मार देना, मनसे किसीका बुरा चाहना—यह हिंसा है—व्यक्तिगत हिंसा है। और मनमें जब जलन होने लगे अपने-आप, गुस्सा आया हो, जब गुस्सा आया तो आँख लाल होगयी, भौंह काला, यह जो लोग सुन्दर बननेकी कोशिश करते हैं, शीशेके सामने खड़ा होकर मुँहपर चिकनाई लगाते हैं सँवारते हैं और उसके बाद करते हैं गुस्सा, तो क्या होगा? लाल होकर चेहरा काला पड़ जायेगा, खूनमें जब शान्ति नहीं रहेगी, खूनमें जब राग नहीं रहेगा, तो बाहरका राग-रंग क्या करेगा? यह क्रोध जब आता है, तो बाहर और भीतरके राग-रंगको भी बिगाड़ देता है। क्रोध भभकता हुआ है और द्वेष भभकता हुआ तो नहीं है, उसमें उफान तो नहीं है, लेकिन भीतर ही भीतर वह, जैसे राखके नीचे दबाई हुई आग हो, वैसे सुलगता रहता है। क्रोध प्रज्वलित अग्नि है और द्वेष राखसे ढकी हुई आग है। द्वेष क्रोधसे ज्यादा सूक्ष्म है।

जो परमार्थके मार्गमें, चलते हैं, उनके लिए द्रोह, हिंसा, क्रोध, द्वेष—ये चारों काटने पड़ते हैं। चारों नहीं काटोगे तो अहिंसा कहाँसे आवेगी? इतना बड़ा सामर्थ्य आवे कहाँसे? भीतर तुम्हारे खजाना बैठा हुआ है। सम्पूर्ण सद्गुणोंका जो खजाना है, वह तो तुम्हारे भीतर बैठा हुआ है। उससे वह सामर्थ्य आता है।

अच्छा, अब इसकी चर्चा फिर कल करेंगे।

हृदयमें बैठकर भगवान् क्या कर रहे हैं और इस बातको जाननेका क्या प्रयोजन है, ये दो बातें आपको सत्संगमें करनी हैं।

यदि यह बात हमारी जानकारीमें आजाय और अनुभव होने लगे, तो जितने भी आध्यात्मिक, आदिदैविक, आधिभौतिक भाव हमारे हृदयमें उठते हैं, सृष्टिमें जो कुछ होता है, इन तीन रूपोंसे होता है, उसके मूलमें सब जगह भगवान् हैं। उनकी सत्ता, उनके प्रकाश, उनकी प्रियतासे बाहर-भीतर सब कुछ हो रहा है। अगर सचमुच यह बात जानकारीमें आ जाय तो अविकम्प योग हो जायेगा, यह प्रयोजन हुआ। जब इस जानकारीका फल क्या हुआ? असंग योग। फिर आप सोते समय भी भगवान्से जुदा नहीं होंगे, सपनेमें भी भगवान्से जुदा नहीं होंगे, जागनेमें भी भगवान्से जुदा नहीं होंगे, रोते-हँसते भी भगवान्से जुदा नहीं होंगे। पर यह बात मालूम पड़ जाय कि जितने भाव हैं वे सब परमात्मामें ही स्फुरित हो रहे हैं; फुर रहे हैं।

पहले जब योग वासिष्ठ पढ़ते थे तो उसमें फुरनाकी बात बहुत आती थी, कि यह सब फुरना है, जितनी फुरना है, तरंग समुद्रकी फुरना है। यह जो धूल उड़ती न! यह धरतीकी फुरना है और जो लपटें उठती हैं, चिंगारियाँ उठती हैं, यह अग्निकी फुरना है, यह जो हवा आकर गुदगुदाती है शरीरको यह वायुकी फुरना है। ये शब्द जो कानमें आकर टकराते हैं, यह आकाशकी फुरना है। जो संकल्प उठते हैं यह मनकी फुरना है, जो विचार उठते हैं, यह बुद्धिकी फुरना है, ईश्वर हर दशामें इनका संचालन करता है। मिट्टीमें जो धूल उड़ती है वह ईश्वरसे है, पानीमें जो तरंग उठती है, वह ईश्वरसे है। आगमें जो चिंगारी उठती है वह ईश्वरसे है। वायुके जो झोंके आते हैं वे ईश्वरसे, मनमें जो संकल्प उठते हैं वे ईश्वरसे, बुद्धिमें जो विचार आते हैं वे ईश्वरसे।

वह दिलमें बैठकर क्या करता है कि भावोंका जाल फैलाता है और इनको समेटता है। कहते हैं कि हमारे मनमें अहिंसाका भाव आगया। अब देखो, आपको कल अहिंसाकी बात समझायी थी। शूद्रकी अहिंसा, वैश्यकी अहिंसा, क्षत्रियकी अहिंसा, ब्राह्मणकी अहिंसा, ब्रह्मचारीकी अहिंसा, गृहस्थकी अहिंसा, वानप्रस्थकी अहिंसा, संन्यासीकी अहिंसा।

संन्यासीकी अहिंसा बड़ी विचित्र है—

अभयं सर्वभूतेभ्यो मत्तः स्वाहा।

हमसे डरो मत। निर्भय रहिये। अब हम अपराधीको दण्ड देनेवाले नहीं हैं। पर यह अहिंसा संन्यासीकी है, फक्कड़ीकी नहीं है।

अहिंसा गुण है कि दोष है? जिसके लिए जैसी विहित है, वैसी अहिंसा उसके लिए गुण है। जिस देशमें, जिस कालमें, जिस व्यक्तिके लिए जैसी अहिंसा विहित है, माने शास्त्रोक्त है वैसी गुण है और जिस देशमें, जिस कालमें, जिस व्यक्तिके लिए जैसी अहिंसा निषिद्ध है, वह अहिंसा दोष है। जो भी अहिंसा निषिद्ध है, वह अहिंसा दोष है। अहिंसा भी निषिद्ध होती है। राष्ट्रविप्लव होनेपर, शत्रुका आक्रमण होने पर, धर्मकी हानि उपस्थित होनेपर, राजाका, क्षत्रियका, राष्ट्रका कर्तव्य हो जाता है कि वह हिंसा करे।

जो शाश्वत निहित-विधि होती है धर्मकी, आजकल उसका आदर नहीं करते हैं। यह वर्तमान मनोवृत्ति, यह वर्तमान विज्ञानका एक अभिशाप है कि शाश्वत चिकित्साको स्वीकार नहीं करते।

आपको देखो उदाहरणके रूपमें बताते हैं, जैसे हमारे व्रत हैं, ये यदि ईश्वरकी प्रसन्नताके लिए, आत्म शुद्धिके लिए और धर्मपालनके रूपमें होवें, तो ये हमेशा रहेंगे। दो एकादशी हर महीनेमें करो, अमावस्या और पूर्णिमा करो, सोमवार, मंगलवार, गुरुवार करो, भाद्रपद एक ऐसा मास आता है जिसमें समझो कि शुक्ल-पक्षके पन्द्रह दिनमें-से दस दिन कमसे कम व्रतके हैं, हरतालिका है, गणेश चतुर्थी है, ऋषि पंचमी है, लोलार्क षष्ठी है, दुर्गा सप्तमी है, राधा अष्टमी है, वामन द्वादशी है, अनन्त चतुर्दशी है, पूर्णिमा है, यह तात्कालिक नहीं हैं, यह हमेशा ऐसा करना चाहिए। कार्तिकमें एक समय भोजन करना महीने भर। माघमें एक समय भोजन करना, वैशाखमें एक समय भोजन करना। बैशाखव्रत, माघव्रत, कार्तिक व्रत। देखो मुसलमानोंमें रोजा है, ईश्वरकी प्रसन्नताके लिए, आत्मशुद्धिके लिए। तो उसमें मनुष्यकी निष्ठा होती है, वह जीवनके साथ हमेशाके लिए जुड़ा

हुआ होता है। और जब सामान्य जीवन व्यतीत करते हैं, तब तो कहते हैं यह सब ढकोसला है, ठोंग है, कहाँ ईश्वर खुश होता है व्रत करनेसे, कहाँ आत्मशुद्धि होती है, क्या परलोक बनता है! जब जरूरत पड़ती है, तब कहते हैं अब आजसे व्रत करो। ईश्वरके लिए जो व्रत है वह छोड़ दो! अब आजसे राष्ट्रके लिए व्रत करो, तो यह चार महीना धारण करेंगे, समझो, राष्ट्र पर जबतक संकट है, तबतक धारण करेंगे और फिर छोड़ देंगे। और यदि ये शाश्वत नियमके अन्तर्गत धारण किये जाते, तो ये मनुष्यके जीवनमें बैठ जाते।

अत: इनको आप व्रतको धर्म समझकर धारण करो, व्रत करना बहुत आवश्यक है जीवनमें। इससे शरीरका स्वास्थ्य बनता है, इससे मन प्रसन्न होता है, इससे धर्म होता है, इससे ईश्वर प्रसन्न होता है, इससे तप होता है, इससे हम ईश्वरकी ओर बढ़ते हैं। उपवास करना, व्रत करना बहुत अच्छा काम है। अगर किसी भी निमित्तसे कोई कहे कि आज भाई कोई मर गया है, आज व्रत रह जाओ, तो व्रत रहना चाहिए। इस बातको समझना चाहिए। विज्ञानका अभिशाप यह आया कि जब जरूरत पड़े तब व्रत कर लो! जिस दिन डॉक्टर सलाह दे कि आज नहीं खाना उस दिन नहीं खाया। यह व्रत नहीं हुआ कि डॉक्टरकी सलाह पर भूखे रहे। भूखे रह जानेको व्रत नाम देना गलत हो गया भला! चाहिए यह कि व्रत महीनेमें दो-चार जरूर कर लिया करें, परन्तु धर्मके लिए करें, अन्त:शुद्धिके लिए करें।

अब जरूरत पड़े तब तो व्रत करना ही चाहिए, जब भौतिक रूपसे व्रत आवश्यक हो जाये, तब तो जरूर ही करना पड़ता है, पर विवशताका व्रत धर्मका उत्पादक नहीं होता, श्रद्धामूलक विहित जो व्रत होता है, वह धर्मोत्पादक होता है।

अब दूसरी बात अहिंसाकी सुनाते हैं। अहिंसा जो होती है वह राष्ट्रका धर्म कभी नहीं होती। राजधर्म अहिंसा कभी नहीं होती। यह राजधर्म नहीं है, राष्ट्रधर्म नहीं है, सैनिक धर्म नहीं है। यदि शत्रु आक्रमण करे, चोर लुटेरे-लूटने लगें और अपनी सेना और अपना राष्ट्र अहिंसक बनकर हाथपर हाथ रखकर बैठ जाय तो यह धर्म नहीं है। हमारे महात्मा लोग इस बातको सनझते थे, कायरको अपराधी मानते थे। कायरसे अच्छा तो हिंसकको मानते थे और हिंसकसे ऊँची स्थिति यह है कि अपनी ओरसे आक्रमण न किया जाय, कोई आक्रमण करे तो प्रतिहिंसा—प्रत्याक्रमण किया जाय। आततायीको मारो और उससे भी ऊँची अवस्था यह है

कि यदि किसीको समाधि लगानी हो, तपस्या करनी हो, ज्ञानके मार्गमें चलना हो, तत्त्वज्ञान प्राप्त करना हो भगवद्भजन करना हो, तो उस विशेष व्यक्तिको अहिंसाका व्रत ग्रहण करना चाहिए।

बोले—ज्ञान हो जाने पर हिंसा कि अहिंसा? नारायण! ज्ञान हो जानेपर साधनके रूपमें तो अहिंसाकी जरूरत नहीं है और द्वेषसे होने वाली हिंसाकी भी जरूरत नहीं है। हिंसा और अहिंसामें समता आती है, जहाँ युद्धकी आवश्यकता है वहाँ युद्ध होगा, जहाँ शान्तिकी आवश्यकता है वहाँ शान्ति होगी। तत्त्वज्ञानी पुरुष जो है, वह निवृत्ति परायण नहीं होता।

श्रीउड़ियाबाबा जी महाराज कहते थे कि यह निवृत्तिका जो विधान है शास्त्रमें, वह जिज्ञासुके लिए है, ज्ञानीके लिए नहीं है। यह जो प्रवृत्तिका निषेध है यह जिज्ञासुके लिए है, ज्ञानीके लिए नहीं है। तब? कि ज्ञानी प्रवृत्तिमें पड़ेगा, तो राज्य करेगा, प्रवृत्ति करेगा; वह निवृत्तिमें पड़ जायेगा तो निवृत्त रहेगा, ज्ञानकी दृष्टिसे प्रवृत्ति और निवृत्ति दोनों समान हैं। जिसमें प्रवृत्ति और निवृत्ति दोनों कल्पित हैं, वह असलमें आत्म सत्य अकल्पित है और हिंसा-अहिंसा ऐसे आते-जाते रहते हैं। सब लोग बाबाजी थोड़े ही हो जायेंगे। अरे राज्य होगा तो उसमें प्रजा होगी, कर्मकर लोग होंगे, व्यापारी लोग होंगे, सैनिक होंगे, बुद्धिजीवी लोग होंगे। चलो सब कवियोंको कह दो कि अपने हृदयमें जो फुरना होती है, उसके अनुसार कविता न लिखें, सब अन्नपर कविता लिखें, सब बसपर, मोटरपर कविता लिखें। ऐसे कोई कविता लिखी जायेगी? कविता तो फुरनासे लिखी जायेगी।

भीतरसे ईश्वर फुरना देता है। इसमें एक पक्षको, जो कहे कि सबको हिंसा करनी चाहिए, वह गलत, और जो कहे कि सबको अहिंसा करनी चाहिए वह भी गलत। क्योंकि हिंसा और अहिंसा वस्तु रूपमें न सत्य है, न ज्ञान हैं, न आनन्द है। यह तो अस्ति-भाति-प्रियके द्वारा प्रकाशित है—हिंसा-अहिंसा दोनों। हिंसा-अहिंसा दोनों नामरूप हैं। हिंसा-अहिंसा दोनों जगद्रूप हैं। हिंसा-अहिंसा दोनों अध्यस्त हैं। अखण्ड ब्रह्ममें न हिंसाकी कोई कीमत है, न अहिंसाकी कोई कीमत है। उसको शास्त्रोक्त रीतिसे व्यवहारमें बर्तना चाहिए।

अब बोले, भगवान् भीतर बैठकरके बड़ा मजा करता है, बराबर करता रहता है, सबको तराजूपर तोलता रहता है।

बोले—कृष्णपक्ष ज्यादा अच्छा कि शुक्लपक्ष? कि शुक्लपक्ष ज्यादा अच्छा; क्यों? कि उसमें चाँदनी जो रहती है। अरे चाँदनी तो नारायण कृष्णपक्षमें भी रहती

है। बल्कि एक विशेषता देखो कि शुक्लपक्षमें तो शामसे चांदनी बढ़ती है, यह द्वितीयाका चन्द्रमा है, यह तृतीयाका है, यह चतुर्थीका है, और कृष्णपक्षमें प्रात:काल उठकर बैठो, देखो क्या चाँदनी छिटकी हुई है, भजन करनेकी सुविधा उस समय कितनी होती है। सबेरे उठकर छतपर बैठ जाओ, समुद्र किनारे बैठ जाओ, क्या बढ़िया चाँदनी छिटक रही होती है।

सम प्रकास तम पाख दुहुं नाम भेद विधि कीन्ह।

गोस्वामीजीने कहा कि घण्टे गिन लो, शुक्लपक्षमें जितनी चाँदनी होती है, कृष्णपक्षमें भी उतनी ही चाँदनी होती है। कृष्णपक्षमें आधी रातके बाद ज्यादा होती है और शुक्लपक्षमें भी आधी रातके बाद ही ज्यादा होती है।

तो समताका मतलब है भगवान् आपको स्वस्थ रखे, पर कभी अगर सिरमें दर्द हो जाये, तो यह नहीं समझना कि भगवान्ने हमारे साथ बड़ा अन्याय किया। पचास बरसकी उम्र हुई, एक बार दाँतमें दर्द हुआ और ईश्वरको दस गाली दी, आज तुमने हमारे दाँतमें दर्द क्यों दिया? अरे पचास बरस अच्छा रखा, इसका पहले उसको धन्यवाद तो दे लेते! तुम्हारे घरमें स्त्री-पुत्र-पति सगे सम्बन्धी आये, इतने दिन तुम्हारे पास रहे उसके लिए तो ईश्वरके प्रति कोई कृतज्ञता नहीं, एक दिन अपने दिये हुए पदार्थोंमें-से किसीको अपने पास बुला लिया; अब लगे ईश्वरको गाली देने कि ईश्वर बड़ा अन्यायी है। तो उसने जो पुरस्कार दिया, उसका ध्यान छूट गया और उसने उसमें-से जो थोड़ा-सा वापिस ले लिया, उसके लिए उसको गाली देते हैं।

आप देखो ईश्वरने आपको मजा कितना दिया है और तकलीफ कितनी दी है! अगर दिन भरमें घण्टेभर तकलीफ दी होगी, तो तेईस घण्टे मजा दिया होगा। छह घण्टे नींद दी कि नहीं? छह घण्टे नींद दी तो सारी चिन्ताओंसे छुड़ा दिया कि नहीं? अच्छे-अच्छे सपने दिये कि नहीं? सूर्य दिया, चन्द्रमा दिया, धरती दी, सांस लेनेके लिए हवा दी, सब भूल गये?

तिब्बतमें प्रसिद्ध है, एक सज्जन अपने सिरमें पट्टी बाँधे आये, तो लामाने पूछा—क्यों भाई! आज यह सिरमें झण्डा कैसे लगाया? बोले—सिरमें बड़ा दर्द है, इसलिए लगाया। लामा बोले—'भलेमानुस, तीस बरसकी उम्र तक ईश्वरने तुम्हारे सिरमें दर्द नहीं दिया, तब तो एक दिन भी झण्डा नहीं लगाया कि ईश्वर कितना कृपालु है, हमारे सिरमें दर्द नहीं देता है और आज एक दिन थोड़ा-सा दर्द दे दिया, तो उसकी बदनामी करते फिरते हो कि उसने दर्द दिया।'

देखो, जो भोजन देता है, वह एक दिन उपवास भी देनेका अधिकारी है कि नहीं? जिसने धन दिया, वह धन देवे ही देवे कभी लेवे नहीं? अगर कर्जदारके घरमें कोई कर्ज देनेवाला होता और तुमको लाख रुपया देता, तो मय व्याजके फिर वसूल करता ना! और तुम ईश्वरसे यह उम्मीद रखते हो कि वह बस देता जाय, देता जाय, एक दुकानसे दूसरी दुकानमें भी न भेजे! एक मुनीमसे दूसरे मुनीमके हाथमें भी न भेजे! कैसे काम करनेवाले हो भाई! अगर हम ईश्वर होते तो बरखास्त ही कर देते कि यह मुनीम रखने लायक नहीं है। अरे उसीकी सब दुकान, उसीका सब पैसा, उसीके सब मुनीम। कभी इस दुकानमें रखता है, कभी उस दुकानमें रखता है, कभी इस मुनीमके हाथ रखता है, कभी उस मुनीमके हाथ रखता है। देखो ना कि सब ईश्वरकी दुकान है और सब ईश्वरके मुनीम हैं, क्या समता चित्तमें आती है। कभी तुम्हारी जेब भरके रखा, कभी तुम्हारे पड़ोसीका जेब भरके रखता है। तुम्हारा ही जेब हमेशा भरके रखे, क्या यह जरूरी है?

तो चित्तमें आनी चाहिए समता। यह ममता समताकी विरोधिनी है। सब मेरे घरमें रहे, मेरे खजानेमें रहे, मेरे नामसे रहे! तो गीतामें समताकी बड़ी महिमा है। **समत्वं योग उच्यते**। (2.48)—गीतामें समताको योग कहते हैं। साधारण दृष्टिसे पढ़ें तो कोई विशेषता नहीं मालूम पड़ती। योग तो उसको कहते हैं कि जब आदमी आसन बाँधकर प्राणायाम करके, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान करके समाधिमें बैठता है और उसमें सम्प्रज्ञात-असम्प्रज्ञात, सविकल्प, निर्विकल्प, सबीज, निर्बीज समाधि लगती है, पुरुष अपने कैवल्य स्वरूपमें प्रतिष्ठित होता है, उसको योग बोलते हैं। और, यह महाराज श्रीकृष्ण गाय चराये जन्म भर, कोई प्राणायाम तो जानता नहीं, ग्वालिया है, इसका कहना है कि योग तो हम तुम्हारे साथ चलते-फिरते जोड़ देते हैं। तुम्हारा भोजन भी योग बना देते हैं, तुम्हारा शयन भी योग बना देते हैं, ऐसा योग बताते हैं जिसमें समाधि तो लगानी न पड़े, न सम्प्रज्ञात, न असम्प्रज्ञात, न सविकल्प, न विर्विकल्प, न सबीज, न निर्बीज; धारणा ध्यान करना न पड़े, प्राणायाम-प्रत्याहारकी जरूरत नहीं, दमघोंटू प्राणायाम न करना पड़े और आसनसे हाथ-पाँव बाँधना न पड़े और योग तुम्हारे चरण चूमे, ऐसी युक्ति बताते हैं तो **समत्वं योग उच्यते**। समता धारण करो। योग है समता। सुखमें-दुःखमें, रणमें, बनमें सबमें क्या समता है! परन्तु आदमी घबरा जाता है।

एक सज्जनको बुखार आया। बुखार थर्मामीटरसे नापते हैं, वे बेचारे

थर्मामीटर नहीं जानते थे। तो दादासे कहते थे—आज हमको ढाई सौ डिग्री बुखरी है। बुखारको बुखरी बोलते थे। अभी जिन्दा हैं। एक सज्जनको बुखार बढ़ गया, बोले—अब तो सहन नहीं हो रहा। बोले—तुम आखिर कर क्या रहे हो? सह रहे हो कि नहीं? सह रहे हो। यह तो मनका धैर्य नहीं बनता है और जीभसे बोल देते हो कि अब सहन नहीं होता है, लेकिन असलमें तुम सह रहे हो। अपनी स्थितिका ठीक-ठीक अनुवाद नहीं करते हो। जब कोई कहता है, अब यह बात सहन नहीं होती, उस समय वह सहन करता हुआ ही कहता है कि सहन नहीं होती। क्या मानें! केवल बोलनेमें ही झूठ है, पर वह सहन कर रहा है।

संसारमें देखो—**समलोष्टाश्मकाञ्चनः**। (6.8) जो योगी होता है, उसके लिए मिट्टीका डला-पत्थरका टुकड़ा और सोनेकी ईंट समान हो जाते हैं। कई लोग अपनेको असली हीरेसे चमकाते हैं और कई लोग नकली हीरेसे चमकाते हैं। सुन्दरतामें तो कोई फर्क पड़ता नहीं! असली हीरा भी चमकता है, देखनेमें सुन्दर लगता है जो नकली हीरा पहनता है वह भी चमकता है। अब फर्क कहाँ पड़ेगा? सुन्दरतामें फर्क नहीं पड़ता, अभिमानमें फर्क पड़ेगा। असली वालेको यह अभिमान होगा कि हम बड़े आदमी हैं, असली पहनते हैं और जो नकली पहनेगा, वह बाहरसे चमकेगा, लेकिन भीतर उसके यह ख्याल होगा कि आखिर तो ये नकली हैं। बड़े लोग नकली भी पहनते हैं तो दूसरे लोग बेवकूफ बनते हैं कि यह असली है। तो समताका अर्थ है—**समलोष्टाश्मकाञ्चनः**। संसारमें जो वस्तुएँ हैं वे सब भी एक नजरसे मालूम पड़ती हैं।

बचपनमें मैंने सुना कि हीरेकी कीमत बहुत होती है, हीरा देखा नहीं था और पहचान तो बिलकुल अब भी नहीं है असली-नकलीकी। हमको तो आँखसे देखनेसे सोना पीतल भी अलग-अलग नहीं मालूम पड़ता है कि क्या फर्क है दोनोंमें? नकली सोना जबसे चला, तबसे तो बँटाढार ही हो गया। विलायतसे आता है जो नकली सोना, वह आँखसे देखकर तो बिलकुल मालूम ही नहीं पड़ता कि कौन असली, कौन नकली, तो हम यह पूछते थे अपने दिलसे, बड़ी उम्र तक पूछते थे कि हीरेकी इतनी कीमत क्यों होती है? न तो इसको खा सकें, स्वाद कोई है नहीं, जाड़ा इससे मिटता नहीं, हमारे तो किसी कामका नहीं है, हमको तो दो ही चीज चाहिए, ठण्ड लगे तो हमारा जाड़ा मिटना चाहिए, और भूख लगे तो भोजन मिलना चाहिए। और यह पट्ठा दोनों क़ाममें नहीं आता है, इतना कीमती क्यों है? मेरे मनमें यह सवाल कितनी बार पैदा हो गया—

पाषाणखण्डेष्वपि रत्नबुद्धिः, **कान्तेति धीः शोणितमांसपिण्डे।**
पञ्चात्मके वर्ष्मणि चात्मभावो, जयत्यसौ मोहन मोहलीला॥

पत्थरके टुकड़ोंको लोग हीरा समझते हैं। **कान्तेऽति धीः शोणितमांसपिण्डे।** —खून और मांसके पिण्डको प्यारी समझते हैं। **पञ्चात्मके वर्ष्मणि चात्मभावो**— माटी, पानी, आग, हवा एवं आकाशसे बने शरीरको मैं समझते हैं। यह क्या है? बोले—**जयत्यसौ मोहनमो**हलीला। यह मोहने कुछ ऐसा खिलवाड़ किया, ऐसा जाल, फैलाया सृष्टिमें कि सब-के-सब इस जालमें फँस गये। कृष्ण-लीला नहीं, यह मोह-लीला है।

तो, गीतामें देखो—**सुखदुःखे समे कृत्वा।** (2.38)—हमारे जो प्राकृतिक चिकित्सक होते हैं, सुख-दुःख, प्राकृतिक चिकित्सक तो आप लोग समझते ही होंगे, अरे जो फल-फूल पर भूखे रखते हैं और पेंडूका स्नान करवाते हैं, प्राकृतिक-चिकित्सक उनको बोलते हैं। जब चिकित्सा कोई करने लगे और जुकाम हो जाय, तो कहते हैं वाह-वाह-वाह हमारी चिकित्सा काम कर गयी। क्यों? बोले—शरीरमें जो मैल जमा था, वह निकल रहा है, शरीर स्वस्थ हो जायेगा। कभी दस्त लग जायँ तो बोलेंगे बहुत बढ़िया हुआ, शरीर तुम्हारा ठीक हो जायेगा। और, ये जो होमपंथी, होम्योपैथिक बोलते हैं, इसका विज्ञान यह है कि जिस कारणसे रोग होता है, उसी कारणसे निवृत्त होता है।

हमारे मित्र लोग हैं, होम्योपैथी, उनसे बहुत बात हुई इस सम्बन्धमें। एक दिन हमारे पास एक बड़े होम्योपैथी डाक्टर, बम्बईके चिकित्सा करने आये, तो उन्होंने पूछना शुरू किया कि तुम्हारे बचपनमें जुकाम कब हुआ था? अबसे चालीस बरस पहले सिर दर्द कब हुआ था? कभी तुम्हारे शरीरमें खाज हुआ था कि नहीं? और यह सब पूछकर उन्होंने दवा लिख दी। अब जब मैंने दवा खायी तो सारे शरीरमें दाने निकल आये। अब हमको तो रोग उतना था ही नहीं, जितना उन दानोंके निकल आनेसे तकलीफ हुई। तो मैंने उनसे शिकायत की कि हमारे तो सारे शरीरमें दाने निकल आये, अब तो खाज हुई जाती है। तो बोले—बहुत बढ़िया, बचपनसे अबतक शरीरमें छिपी हुई थी, निकल रही है। मैंने कहा—बाबा दया करो, हम तो नहीं निकालना चाहते हैं। हमको तो यह नहीं चाहिए, बस लेकिन देखो उनकी भी तो एक मनोवृत्ति है न! प्राकृतिक चिकित्सककी, होम्योपैथिककी, रोग उभड़े तो बहुत खुश होते हैं, बोले—बस, हमारी दवा काम कर गयी। **सुखदुःखे समे कृत्वा**— छान्दोग्योपनिषद्में लिखा है कि बुखार आवे, जुकाम हो तो समझो कि तप कर रहे

हैं। जब मरनेके बाद शरीरको आगमें डालते हैं, तो बोले—यह होम हो रहा है, शरीरका होम हो रहा है, यज्ञ है। उसको यज्ञ बताया है।

हमारे कहनेका अभिप्राय यह है कि संसारमें कभी सुख आता है, कभी दु:ख। सुख आता है तो अभिमान देता है और दु:ख आता है तो विषाद देता है, ग्लानि देता हे, दैन्य देता है। आदमी दोनोंमें चाहे तो अपनी उन्नति कर सकता है। सुख भी ईश्वरका भेजा हुआ आता है, हमारी भलाईके लिए और दु:ख भी ईश्वरका भेजा आता है हमारी भलाईके लिए। तो चित्तमें समता बनी रहे।

सुखदु:खे समे कृत्वा लाभलाभौ जयाजयौ।
ततो युद्धाय युज्यस्व नैवं पापमवाप्स्यसि॥ 2.38

तो हानि और लाभ, जय और पराजय—

पाप पुण्यसे छुड़ा दिया।

अब देखो, यह तो फल है—**समलोष्टाश्मकांचन (6.8)** में लोष्ट, अश्म, कांचन पदार्थ हैं और सुख-दु:ख, लाभ-हानि, जय-पराजय—ये फल हैं कर्मके, इसमें सम। और कर्म?

न द्वेष्ट्यकुशलं कर्म कुशले नानुषज्यते। (18.10)

कर्ममें भी आसक्ति नहीं करनी चाहिए। एक आदमी रोज होम करता था, आदत पड़ गयी, एक दिन नहीं कर सका। बड़ा पश्चात्ताप हुआ, रोने लग गया कि हाय-हाय हम इतने निष्ठावान्, और यह आज छूटा गया! अब उसको रोना नहीं चाहिए, तो क्या करना चाहिए? अरे भाई होमका समय बीत गया, एक दिन होम नहीं हुआ, तो दूसरे दिन मत छोड़ो। अगर किसी कारण एक दिन सन्ध्यावन्दनमें चूक हो गयी तो यह मत कहो कि कल छूट ही गया, तो अब आज भी क्या करें! यह बेवकूफी है। साफ-साफ बेवकूफी है यह। कल छूट गया तो छूट गया, आज तो करो!

कई बरस पहले सेठ जयदयालजीने एक बार बताया था जबसे हमारा यज्ञोपवीत हुआ है, तबसे (और जिस दिन वो बता रहे थे, अबसे पन्द्रह बरस पहले बताया होगा) आजतक दोनों समय सन्ध्या करनेमें हमारे कभी अन्तर नहीं पड़ा। पचास-साठ बरससे लगातार दोनों समय, सूर्योदय और सूर्यास्तके समय मैंने सन्ध्या की है।

यह नियम-निष्ठा है। बोले—कभी-कभी ऐसे स्थानपर रहा जहाँ जल नहीं था। तो जलकी जगह बालूसे अर्घ्य दिया है, लेकिन अर्घ्य दिया जरूर है। ऐसा

एक दिन भी, सूतक-पातकमें भी अर्घ्य बन्द नहीं होता। और, सब सन्ध्यावन्दनमें अन्तर पड़ता है, पर अर्घ्य सूतक-पातकमें भी दिया जाता है। यह स्थिति है।

किसीसे कभी कोई गलती हो जाय, बोले—दो दिन सत्संगमें नहीं गये, तो तीसरे दिन शर्म आयी कि दो-दिन नहीं गये, तो तीसरे दिन क्यों जायँ? दो दिन छूटा इसके लिए जिन्दगी भरके लिए छोड़ दिया, यह बेवकूफी हो गयी। फिर क्या करना चाहिए? आसक्ति नहीं तो द्वेष भी तो नहीं होना चाहिए। समता यह है। आसक्ति छोड़नेके लिए द्वेष कर बैठे, द्वेष छोड़नेके लिए आसक्ति कर बैठे। दोनों गलत हैं।

अब देखो भगवान् तो यह कहते हैं कि चाहे कोई साधु हो चाहे, कोई पापी हो, अपने मनमें तो बुद्धि सम रखनी चाहिए—यह बात आपके ध्यानमें है न—

सुहृन्मित्रार्युदासीनमध्यस्थद्वेष्यबन्धुषु ।
साधुष्वपि च पापेषु समबुद्धिर्विशिष्यते॥ 6.9

'साधुष्वपि च पापेषु'—अरे तुम उसका कर्म देखते हो कि उसके अन्दर जो परमात्मा बैठा है उसको देखते हो? तुम्हारी नजर उसके भीतर जो पंचभूत है, उसपर है, कि नाक टेढ़ी आँख टेढ़ी इसपर है? तत्त्वपर दृष्टि होवे, तो मिट्टी सबमें बराबर, पानी बराबर, सबके अन्तःकरण है, सबके मन और बुद्धि है, सबकी आँख सामनेकी ओर रहती है और देखती है, सबके कान बगलमें होते हैं, कितनी समता है, सबका मुँह आगेको है, सबकी नाक सूँघती है, सबके हाथ एक जैसे, सबके पाँव एक जैसे। बोले—हमारी दुकान जरा बड़ी है। दुकानके बड़प्पनसे तुम्हारे अन्दर बड़प्पन कहाँसे आवेगा? वह तो दुकानका बड़प्पन है! तुम्हारा तो हाथ-पाँव, आँख-कान-नाक-जीभ-मुँह, पंचभूत, अन्तःकरण, जीव, ईश्वर सब तो समान ही हैं!

देखो जबतक अपनेमें अभिमान नहीं होता, तबतक अपनेसे छोटा कोई नहीं दिखता। अपनेसे छोटा कोई मालूम पड़ता है जीव, तो समझो अपनेमें बड़प्पनका अभिमान है और यदि अपनेसे बड़ा कोई मालूम पड़ता है तो समझो कि हीनताका भाव है अपने अन्दर, और यदि है तो छोटा, परन्तु अपनेको दिखाना चाहता है बड़ा, तो हीनताका भाव है। तो **साधुष्वपि च पापेषु समबुद्धिर्विशिष्यते**— यह समता कहाँसे आती है? कि भीतर ईश्वर बैठकर देता है, किसीकी बुद्धिको कहीं लगाता है, किसीकी बुद्धिको कहीं लगाता है। एक कमरेमें जाओ, तो देखो मजा आ जायेगा उसमें चित्र लगे हैं। उसमें सिने-अभिनेत्रियोंका भी चित्र लगा है,

नेताओंका चित्र लगा है, साधुओंका भी चित्र लगा है, ठाकुरजीका भी चित्र लगा है। जरा आप गौर करना कि आपकी नजर कहाँ जाकर टिकती है। एक कमरेमें इतने चित्र लगे हों, देखना आपकी नजर कहाँ जाकर टिकती है?

बाबू सम्पूर्णानन्दजी नेता थे, बनारसके, अब गवर्नर हैं राजस्थानके। उनके बेटा सर्वदानन्द फिल्ममें काम जब करने लगे, तो यह हुआ कि वहाँ हँसी करते थे हम लोग कि बाप नेता और बेटा अभिनेता, एक कदम आगे बढ़ा। फिर छोड़ दिया उन्होंने, अभिनेतापन। भाईजीके साथ रहने लगे। तो एक कदम आगे।

नजर जाकर कहाँ टिकती है? हरिबाबाजी महाराज वृन्दावनमें कथा सुनने जाते थे। उनके साथ एक सेवक भी जाते थे। हरिबाबाजी चुपचाप, अपनी नजर नीची किये गये और नीचे जाकर बैठ गये, कथा सुनी और उठकर चले आये। एक दिन सेवकजीने कहा कि वक्ता महाराज कथा तो बहुत बढ़िया करते हैं, लेकिन उन्होंने सब अच्छे-अच्छे कपड़े-दुशाले क्यों टाँग रखे हैं खूँटी पर लटका कर, कि हमारे पास इतने हैं। तो हरिबाबाजीने कहा—चार महीना बाबा हमको जाते हो गया, उनके यहाँ कथा सुनते। हमने तो एक दिन भी नहीं देखा कि खूँटी पर क्या टँगा है? तुम कथा सुनने जाते हो कि चारों ओर देखने जाते हो! मत जाया करो। बस, तुम्हारा कलसे कथामें जाना बन्द। तुम यह देखने जाते हो कि वहाँ क्या रखा है? कि तुम अपने कामकी चीज लेनेके लिए जाते हो?

एक बार हरिबाबाजीने मुझे बताया—उड़ियाबाबाजीके आश्रममें रामलीला होती थी। बहुत पुरानी बात है, उड़ियाबाबाजी थे, तबकी बात है। हरिबाबाजी लेकर पंखा झलते थे। अब तो इतना परिश्रम नहीं कर सकते, वृद्ध हो गया शरीर, पंखा लेकर दोनों हाथसे, पूरी ताकत लगाकर झलते थे रामलीलामें, उनका स्वभाव ऐसा कि कहते हैं कि हम बैठ नहीं सकते हैं चुपचाप। एक दिन किसीने कहा कि महाराज रामलीला तो बहुत बढ़िया होती है, एक महीना रामलीला हुई। बहुत बढ़िया होती है, रामजी बहुत ही बड़े सुन्दर हैं, बस कमी इतनी है कि रामजीका स्वरूप बनता है जो लड़का, वो गोरा है। वे बोले कि भलेमानुस एक महीना तो हमको पंखा झलते हो गया। मैंने तो देखा ही नहीं, गोरा है कि काला है! मैं तो उसको साँवरा समझता था कि रामजीका जैसा स्वरूप है वैसे ही है। मैंने तो उसकी ओर कभी आँख उठाकर देखा ही नहीं कि वह साँवरा है कि गोरा है?

असलमें दिखती चीज कहाँसे है? अपने मनके भीतरसे दिखती है। तुम्हारे

दिलमें बदमाशी भरी हो, तो सारी दुनिया बदमाश दिखेगी और तुम्हारे मनमें भलमनसाहत भरी हो, तो सारी दुनिया भलेमानुस दिखेगी। यह दुनियामें, सबमें जो एक है उसको देखो!

गीतामें भगवान्‌ने कहा—

साधुष्वपि च पापेषु समबुद्धिर्विशिष्यते। (6.9)

बुद्धि समान होनी चाहिए। हद कर दी श्रीकृष्णने—

विद्याविनयसंपन्ने ब्राह्मणे गवि हस्तिनि।
शुनि चैव श्वपाके च पंडिताः समदर्शिनः॥ 5.18

क्या दर्शन होगा, कितना दिव्य दर्शन होगा कि विद्या-वियन-सम्पन्न ब्राह्मण और श्वपाक, श्वपाक माने कुत्तेको पकाकर खानेवाला। और गवि और शुनि गाय और कुत्ता, और हाथी, 'पंडिताः समदर्शिनः'—शक्ल सूरतपर नहीं जाते, विद्या बुद्धि पर नहीं जाते, जाँत-पाँत पर नहीं जाते, उनके भीतर जो परमात्मा छिपा है, उसको जो देखे सो पंडित, समदर्शी। उसका अर्थ यह नहीं है कि कुत्तेका भोजन विद्या-विनय-सम्पन्न ब्राह्मणको और हाथीका भोजन गायको और गायका भोजन हाथीको। समवर्ती नहीं, दर्शनकी समता; ज्ञानकी समता बतायी। माहात्म्य इसका क्या है?

इहैव तैर्जितः सर्गो येषां साम्ये स्थितं मनः।
निर्दोषं हि समं ब्रह्म तस्माद्ब्रह्मणि ते स्थिताः॥ 5.19

जिसके चित्तमें समता आगयी उसकी तो ब्राह्मी स्थिति हो गयी।

यह देखो भगवान् कहते हैं कि समता सबके हृदयमें बैठकर मैं जगाता हूँ। और, जिसके हृदयमें समता जाग जाती है, उसको अखण्ड योगकी—अविकम्प योगकी प्राप्ति हो जाती है।

बुद्धिर्ज्ञानमसंमोहः क्षमा सत्यं दमः शमः। 10.4

अच्छा, भीतर बैठकर भगवान् क्या खेल-खेल रहे हैं? सब प्राणियोंके हृदयमें जो भाव उठते हैं, उनको सत्ता-स्फूर्ति दे रहे हैं।

आपने कभी कठपुतलीका नाच देखा है? पुराने जमानेमें लोग देखते थे। तो मंचपर पुतली आती है—स्त्री आती हैं, पुरुष आता है, बच्चा आता है, बुड्ढा आता है, जवान आता है और पीछेसे सूत्रधार उनको हिलाता-डुलाता रहता है। जैसे नटके इशारे पर वानर नाचता है, जैसे सूत्रधारके इशारे पर कठपुतलियाँ नाचती हैं **यन्त्रारूढानि मायया,** वैसे सबके हृदयमें बैठ कर ईश्वर भिन्न-भिन्न भावोंको नचाता रहता है। बिना उसकी उपस्थितिके, बिना उसकी सत्ताके, बिना उसके प्रकाशके, बिना उसकी प्रेरणाके, अच्छे बुरे-कोई भी भाव नहीं उठ सकते।

जैसे घरमें रोशनी होती है, रसोई पकती है, वह भी बिजलीसे और कभी एक्सीडेंट हो जाता है आग लग जाती है, तो भी बिजलीसे। मशीनकी खराबी होवे यह बात दूसरी, मशीन अच्छी होवे यह बात दूसरी, लेकिन बिजली तो दोनोंमें काम करती है, अच्छी मशीनमें जाती है तो काम करके देती है और खराब मशीनमें जाती है तो काम बिगाड़ देती है, लेकिन काम बिगड़े—ऐक्सीडेन्ट होवे तो भी बिजलीसे और काम बन जावे तो भी बिजलीसे।

ईश्वर सबके हृदयमें बैठा हुआ है। आप ऐसे देखो कि शुद्ध साक्षी स्वयं प्रकाश आत्माके प्रकाशमें अन्तर्यामी ईश्वर ही इन यन्त्रोंको चला रहा है, सबके यन्त्रोंको चला रहा है जो एक यन्त्रका अभिमानी है वह जीव है और जो सब यन्त्रोंको चला रहा है वह ईश्वर है और जो अकर्ता, अभोक्ता, स्वयंप्रकाश, निर्गुण, निर्विशेष, निर्धर्मक, साक्षी है वह ब्रह्म है। उसीके प्रकाशमें ईश्वर और जीव-दोनों काम कर रहे हैं और यह जगत् चल रहा है। बड़प्पनकी दृष्टिसे ईश्वर कहते हैं, छोटप्पनकी दृष्टिसे जीव बोलते हैं। एक मशीनकी जो देख-रेख करता है उसको जीव बोलते हैं और सब मशीनोंकी जो देख-रेख करता है, उसको ईश्वर बोलते हैं लेकिन रोशनी जो है वही स्वयंप्रकाश, सर्वावभासक।

तो आओ, देखो हमारे हृदयमें ईश्वर अहिंसा, समता, तुष्टि देता है। अहिंसा,

समता, तुष्टिमें तीन भाव हैं। सबमें सत्ताको एकरस देखा जाय, सत्ताकी प्रधानतासे अहिंसा होती है। समता ज्ञानकी प्रधानतासे होती है, अपनी बुद्धिमें विषमता नहीं आवे और तुष्टि आनन्दकी प्रधानतासे होती है। आत्मा सच्चिदानन्द है। सच्चिदानन्दका अर्थ यह है कि वह जन्म-मृत्युसे भी न्यारा है, वह विषमतासे भी न्यारा है और वह दु:खसे भी न्यारा है।

आपको सुनाया था—समता कैसे होती है? अलग-अलग गीतामें सब भावोंकी समताका वर्णन है। **समलोष्टाश्मकाञ्चनः**—वस्तुमें समता, व्यक्तिमें समता—**साधुष्वपि च पापेषु समबुद्धिर्विशिष्यते**।

जातिकी दृष्टिसे—**विद्या विनय सम्पन्ने ब्राह्मणे गवि हस्तिनि**। ये तो बाहरकी वस्तुएँ हुईं। असलमें समताका स्थान तीन है—मन, बुद्धि और चित्त। जैसे बोलते हैं—**सुख दु:खे समे कृत्वा लाभालाभौ जयाजयौ**। यह समता कहाँसे आवेगी? यह बुद्धिमें आवेगी न! सुख-दु:खमें सम होना, जय-पराजयमें सम होना, लाभ-हानिमें सम होना। समताका जो निवास स्थान है वह तीन है।

एक तो बताते हैं कि जिज्ञासु जब चलता है ज्ञानके मार्गमें, तो उसको जो साधना करनी पड़ती है, उसमें अपने चित्तको सम रखना पड़ता है—

नित्यं च समचित्तत्वमिष्टानिष्टोपपत्तिषु—चाहे अपने मनके अनुसार कोई काम होवे, चाहे मनके खिलाफ होवे, अपने चित्तका तराजू किसी ओर झुके नहीं। मनके खिलाफ कोई काम होवे तो हाय-हाय न करने लगे और मनके अनुकूल होवे तो फूले नहीं, दु:खी न होवे, विषाद न करे तो,

नित्यं च समचित्तत्वमिष्टानिष्टोपपत्तिषु

तेरहवें अध्यायमें जहाँ जिज्ञासुका लक्षण बताया—ज्ञानका अधिकार—**अमानित्वमदंभित्वमहिंसा क्षान्तिरार्जवम्**—उसमें बताया—**नित्यं च समचित्तत्त्वम्**—अपने चित्तको समान रखना।

दूसरी जगह बताया योगीके लिए कि चाहे कोई कुछ करे अपनी बुद्धिको सम रखना।

सुहृन्मित्रार्युदासीनमध्यस्थ द्वेष्यबंधुषु।
साधुष्वपि च पापेषु समबुद्धिर्विशिष्यते॥ 6.9

तीसरी जगह देखो यह बताया कि मनको सम रखना—**इहैव तैर्जितः सर्गो येषां साम्ये स्थितं मनः**। तो मनका समताममें स्थित होना। इसी बातको अर्जुनने बताया कि हम अपने चित्तको योगके द्वारा निरुद्ध करके जब शान्त कर देते हैं तब

साम्य हो सकता है और विवेकके द्वारा अपनी बुद्धिको परिष्कृत कर देते हैं, तो वह भी सबमें समता देखने लगती है, लेकिन यह मन विषम हो जाता है। जिससे सुख मिलता है, यह उसकी ओर झुक जाता है; जिससे दु:ख मिलता है उससे नफरत करने लगता है। मनमें समताका आना बड़ा मुश्किल है। यह आपने छठे अध्यायमें पढ़ा होगा—

योऽयं योगस्त्वया प्रोक्तः साम्येन मधुसूदन।
एतस्याहं न पश्यामि चंचलत्वात्स्थितिं स्थिराम्॥ 6.33

यह मनमें समताका आना, बड़ा कठिन है। लेकिन यदि ब्रह्मज्ञान हो जाये, तो मन, बुद्धि, चित्त, व्यक्ति, जाति, पदार्थ, लाभ-हानि—सबके सब समतामें आजायँ।

यह कैसे होगा?

असलमें देखो गुण, देखकर राग होता है, और दोष देखकर द्वेष होता है और ब्रह्म जो है, वह सम है—**निर्दोषं हि समं ब्रह्म तस्माद् ब्रह्मणि ते स्थिताः।** सच्चा सम कौन है? सच्चा सम ब्रह्म है। उसमें यह प्रपंचकी विषमता कैसी है? कि जैसे कोई रस्सीमें साँप देखे, डण्डा देखे, फूलकी माला देखे, भूछिद्र देखे, तो जैसे वह रस्सीमें सब कल्पनाओंके अन्दर एक रस्सी समरूपसे मौजूद है, ऐसे संसारमें चाहे जन्म देखो, चाहे मृत्यु देखो, चाहे सुख देखो, चाहे दु:ख देखो, चाहे शत्रु देखो, चाहे मित्र देखो, चाहे समाधि देखो, चाहे विक्षेप देखो, यह आत्मा ब्रह्म है यह समरूपसे विद्यमान है।

यह जो समब्रह्म है, इसके प्रति राग-द्वेष नहीं होता, क्योंकि वह सम है। और वह राग-द्वेषका आश्रय भी नहीं बनता। राग-द्वेषका आश्रयी होना कि 'मैं रागी हूँ' 'मैं द्वेषी हूँ'—यह राग-द्वेषका आश्रय होना है। 'यह मेरा रागास्पद है', 'यह मेरा द्वेषास्पद है।' ब्रह्म निर्माय है। निर्दोषं माने दोष-गुणसे रहित है। एक दोष आनेसे गुण भी आगया। माने दोष-गुणके हेतु मायासे रहित है, उसमें माया ही नहीं है। इसलिए वह सम है।

जो ब्रह्ममें स्थित हो गया माने जिसने अपने आपको जिसने ब्रह्म जान लिया, उसकी अविद्या निवृत्त हो गयी और अविद्या निवृत्त होनेसे राग-द्वेष निवृत्त हो गये, राग-द्वेष बाधित हो गये और बाधित हो जानेसे उसके चित्तमें समता आगयी।

समाधिमें अहिंसा आती है; क्योंकि सत्से अभिन्न होकर स्थित होते हैं। और, समाधिके नशेसे व्यवहारमें भी रहती है, परन्तु यदि ब्राह्मी स्थिति हो जाय,

तो सहज अहिंसा हो जायेगी और ब्रह्मज्ञान हो जाय तो सहज समता आजायेगी। यह समता देता है ईश्वर—परमात्मा।

और, तुष्टि—तुष्टि माने एक प्रकारका सन्तोष।

कोई-कोई तो ऐसे होते हैं कि जिस दिन भोजन बढ़िया मिले, उस दिन बोलते हैं कि आज भाई खूब सन्तोष हुआ, अच्छा भोजन मिला। इसमें तीन स्थिति होती है, एक रति, एक तृप्ति और एक तुष्टि। देखो गीतामें तीनोंका एक साथ उल्लेख है—

यस्त्वात्मरतिरेव स्यादात्मतृप्तश्च मानवः।
आत्मन्येव च सन्तुष्टस्तस्य कार्यं न विद्यते॥ 3.17

कर्तव्यके बन्धनसे मुक्त कौन हुआ? कि जिसको रमण करनेके लिए स्त्री-पुरुषकी जरूरत नहीं है। बोले—किससे रमण करेगा? अपने आपसे। यह हुआ—आत्मरति।

बोले—तृप्तिके लिए भिन्न-भिन्न प्रकारके रस नहीं चाहिए। तब कहाँसे तृप्त होगा? अपने आपसे। बोले—सन्तोषके लिए धन नहीं चाहिए, तुष्टिके लिए धन नहीं चाहिए। तुष्टिके लिए मनुष्यको धन चाहिए है। तृप्तिके लिए रस चाहिए है और रतिके लिए स्त्री-पुरुष चहिए।

कहते हैं जिसको यह ब्राह्मी-स्थिति—ब्रह्मज्ञान प्राप्त हो गया, उसको रतिके लिए स्त्री-पुरुषकी जरूरत नहीं, आत्मरति हो गयी और तृप्तिके लिए उसको भोजनादिके रसकी जरूरत नहीं और तुष्टिके लिए धनकी जरूरत नहीं। बिना धनके सन्तुष्ट है और बिना रसके तृप्त है और बिना स्त्री-पुरुषके आराममें है—रत है। तो यह स्थिति कब होती है? जब ब्राह्मी स्थिति प्राप्त होती है। परन्तु उसके पहले भी तो सन्तोष चाहिए न! संसारमें सन्तोष परमधन है।

सन्तः सन्तोषभाजनम्। सन्त जो हैं वे सन्तोषके भाजन होते हैं। माने सन्तका जो जीवन है वह एक बर्तन है—भाजन है और उसमें पूँजी काहेकी रखी है? बोले—सन्तोषकी। सन्तका जीवन एक सन्दूक है, तो उसमें कौनसी पूँजी रखी है? बोले—सन्तोषकी। सन्त सन्तोषके पात्र हैं, सन्तोष रखनेकी जगह हैं, सन्तोषके भाजन हैं।

योगदर्शनमें बताया कि यदि कोई सन्तोषसे रहे तो उसको सर्वोत्तम सुखकी प्राप्ति होती है—**सन्तोषादनुत्तमसुखलाभः**। सन्तोषरूप नियम, मनुष्यके द्वारा अनुष्ठेय है, मनुष्य चाहे तो उसको अपने जीवनमें धारण कर सकता है कि हम तो

सन्तोष ही करेंगे। सन्तोष न होवे तो लाभ भी हानि हो जावे। पाँच रुपया मिले तो यह है कि सन्तोष हो गया और एक यह है कि हमारे पड़ोसीको दस मिला और हमको पाँच मिला, तो यह बड़ा असन्तोष। असन्तोष है—उद्वेग है। ये भौतिकवादी लोग असन्तोषको अपना प्रीतम मानते हैं, जैसे हम अपने प्यारेको आशीर्वाद देते हैं कि बेटा लाख बरस जीओ, वैसे ये लोग कहते हैं कि '**असन्तोष**—चिरजीवी हो।' भौतिकवादी लोग कहते हैं कि सन्तोष मत करो और आगे बढ़ो, और वैज्ञानिक उन्नति करो, और बाँध बनाओ, और कारखाना खोलो। वह भी ठीक है। भौतिकवादकी दृष्टिसे वह बिल्कुल यथा योग्य है।

अब अन्तःकरणके सुख शान्तिकी दृष्टिसे देखते हैं। तो **सन्तोषात् सुखमाप्नोति**। सन्तोषसे सुखकी प्राप्ति होती है।

सन्तोषः परमं धनम्। सन्तोष परमधन है। आजकल व्याकरणकी रीतिसे तो 'सन्त' शब्द प्रातिपदिक नहीं होता है। पाणिनीयव्याकरणकी दृष्टिसे, सत् शब्द है। तो उसीका फिर सन्त सन्तौ सन्तः ऐसा रूप बनता है बहुवचनमें '**सन्तः**' बनता है।

लेकिन 'कातन्त्र' नामका एक व्याकरण है, उसमें सन्त शब्द स्वयं प्रातिपदिक है। माने 'सन्त' नाम है। **सन्तः सन्तौ सन्ताः**—ऐसा रूप चलता है। तद्धितमें तालव्य शकारसे पाणिनीय-व्याकरणमें भी 'शन्त' शब्द बनता है। और वही आगे चलकर तालव्य सकारका दन्त्य सकार हो गया तो सन्त हो गया। **संजू, सुमन्जु, सन्तः**—ऐसे बनते हैं।

तो यह सन्तोष क्या है? सन्तो वसति अत्र—जिसमें सन्त निवास करें उसका नाम सन्तोष। सन्तोष माने सन्तका निवास स्थान। अर्थ वही है—सन्त और सन्तोष बराबर। तो आओ सन्तोषकी बात जरा देखें। तो संसारी लोग भोगकी प्राप्तिसे सन्तुष्ट होते हैं। परन्तु थोड़े दिनोंमें वह कम मालूम पड़ने लगता है, वह बदलना चाहिए, खीर मिली, बड़ा सन्तोष, लेकिन बादमें फिर लगातार खानेको मिले, तो बदलनेको चाहिए कि नहीं? संसारमें कभी कोई सन्तुष्ट होकर कैसे रहेगा? भोगमें सन्तोष नहीं हो सकता, यह तो जितना-जितना भोग करो, उतना और-और भोगका अभ्यास बढ़ता है।

भोगमनुविवर्धन्ते रागाः तेषां कौशलानि च।

जितना-जितना भोग करो, उतना-उतना राग बढ़ता है, आदत पड़ती जाती है और भोगके कौशल बढ़ते जाते हैं।

मैंने सुना था झूठ कि सच? कि अपने भारतवर्षके एक पूंजीपतिने किसी पशुकी मूत्रेन्द्रिय अपने शरीरमें लगवायी थी भोगके लिए। सन्तोष नहीं है?

एक राजाके बारेमें मैंने सुना था कि वे पहले प्रिय वस्तुका भोजन करते थे। फिर घंटे आध घंटेके बाद वमन करते थे और फिर थोड़ी देर बाद फिर खाते थे। बोले—ऐसा क्यों करते हो? कि भोजनका मजा लेनेके लिए, भोजन करनेमें बड़ा मजा आता है।

भोगमें सन्तोष नहीं है, जितना-जितना भोगका अभ्यास बढ़ावेंगे, उतना-उतना वह बढ़ता जायेगा और **नानुपहत्य भूतानि भोगः सम्भवति**। दूसरोंको सताये बिना, कोई भोगी हो नहीं सकता। एक आदमी जब ज्यादा भोग करेगा तो दूसरेको तो मिलेगा नहीं। भोग करनेमें एक तो अभ्यास पड़ जाता है, आदत पड़ जाती है, भोग आदत हो जाता है। आदत माने गृहीत। संस्कृतका शब्द है। ऐसा वह पकड़में आजाता है कि फिर छोड़ते नहीं बनता। आदत पड़ जाती है और अपने स्वयं तो पराधीन हुए, भोगके पराधीन हुए, यह खाये बिना नहीं रह सकते, यह पहने बिना नहीं रह सकते। एकने बताया कि नींद नहीं आती है महाराज जब वृन्दावन गये थे। क्यों नहीं आती है? कि एयर कंडीशनमें रहनेकी आदत है। अब वह एयरकंडीशन घरसे बाहर तो रहने नहीं देगा, क्योंकि आदत बिगड़ गयी, अच्छी आदत थोड़े ही पड़ी। बड़े आदमीकी आदत हुई। एक तो स्वयं पराधीन हो गये, दूसरे क्या हुआ कि दूसरेको तकलीफ पहुँची।

भोगमें सन्तोष। अच्छा धनमें सन्तोष, अपनेसे बड़े-बड़े धनीकी ओर देखते जाओ कि अरे उनके पास तो इतना है, हमारे पास तो अभी थोड़ा है। हमने व्रजभूमिमें देखा है किसीको दो आने पैसे दे दो और नचा लो। दो आना पैसा देकर, वह बृजवासी जो है, कमर पर हाथ रखकर और एक हाथ सिरपर रखकर नाचने लग जायेगा, कि आहा हमको..। नाच जाते थे, माँ-बाप कहते नाचो बेटा, दो पैसा देते हैं। फिर दो आनेके लिए नाचने लगे, फिर दो रुपयेके लिए नाचने लगे, दो हजारके लिए नाचने लगे। सेठ लोग दो लाख, दो करोड़के लिए नाचते हैं। नाचकी कीमत बढ़ती गयी, लेकिन नाचना तो वही बना रहा न! वह तो नचपनवाली मनोवृत्ति है, वह गयी कहाँ? असलमें भोग प्राप्त करके, धन प्राप्त करके, ऊँचा पंद प्राप्त करके, लोग देखो कलक्टर होनेके लिए व्याकुल रहते हैं, सेक्रेटरी होनेके लिए व्याकुल रहते हैं। फिर होता है कि मंत्री हो जायँ कैबिनेटमें,

फिर होता है कि प्रधानमंत्री हो जायँ। फिर बोलते हैं, बाबा अन्तर्राष्ट्रीय ख्याति हमको होनी चाहिए। अगर सन्तोष नहीं रखोगे, तो कहीं सुखी नहीं हो सकते। ब्रह्माको भी असन्तोष, विष्णुको भी असन्तोष, रुद्रको भी असन्तोष होगा अपने पदसे। ब्रह्मा भी डरते रहते हैं अरे हम अभी बड़े कहाँ हुए? क्योंकि एक दिन हमको मरना पड़ेगा। उनको भी डर लगता है।

जब पायो सन्तोषधन, सब धन धूरि समान।

जीवनमें सन्तोष बड़ी वस्तु है। गीतामें बताया, जो लोग भक्तिका साधन करने लगते हैं, उनके अन्दर सन्तोष आता है। अभी इसी अध्यायमें आनेवाला है—

तुष्यन्ति च रमन्ति च। (10.9)

कब?

मच्चित्ता मद्गतप्राणा बोधयन्तः परस्परम्। 10.9

भगवान्में मन लगाया, यह मान लिया कि हमारे प्राणपति, हमारे प्राणेश्वर, हमारे सर्वस्व भगवान् हैं। देखो इतनेमें क्या सन्तोष होता है।

ऐसे वरको के बरूँ जो जन्मै और मर जाय।

'मच्चित्ता मद्गत प्राणा' जब बोले तब ईश्वर हमारा जीवन है, बस ईश्वरके साथ हम जिन्दा हैं, इसके सिवाय हमको और कुछ नहीं चाहिए, पैसा गया तो जाने दो, भोग गया तो जाने दो, सम्बन्ध गये तो जाने दो, ईश्वर तो है न! ईश्वर तो नहीं गया।

प्रह्लादके जीवनमें एक कथा आती है—लक्ष्मी गयीं! हाँ जाने दो. चली गयीं। यश कीर्ति गये। जाने दो कोई हर्ज नहीं। सब चले गये। प्रह्लादने कहा—शील तो अपना बना है न! अपना जो शील स्वभाव है, लोगोंके साथ भलमनसाहतका बर्ताव, वह तो अपने अन्दर है न! जब वह है तब कोई परवाह नहीं, कहा कि सबको जाने दो। बेटेको जाने दो, भोगको जाने दो, यशको जाने दो, कीर्तिको जाने दो; अगर हम लोगोंके साथ भलमनसाहतका बर्ताव करते रहेंगे तो सबको घूमकर हमारे पास आना पड़ेगा। और उनके जीवनमें वह सब फिर आये।

महाभारतमें शीलाध्याय नामका एक अध्याय है, उसमें यह कथा है, प्रह्लाद ने सबको छोड़ना मंजूर किया, परन्तु शीलको छोड़ना मंजूर नहीं किया। यदि तुम सबको छोड़ना मंजूर कर लो और ईश्वर को न छोड़ो तो देखो **तुष्यन्ति च रमन्ति च,** जीवनमें भगवान्की भक्ति आयी।

ईश्वरको लेकर दो तरहका सन्तोष आता है, एक भजनकालीन सन्तोष और दूसरा भक्ति प्राप्त हो जाने पर सन्तोष। ईश्वर प्राप्तिका सन्तोष और भजन प्राप्तिका

सन्तोष। तो **तुष्यन्ति च रमन्ति च** यह क्या है? कि भजन प्राप्ति; रम जाते हैं, इतना मीठा भगवान्‌का नाम, जीभपर आ रहा है, ऐसी सुन्दर मूर्ति भगवान्‌की देखनेको मिल रही है। ऐसा ध्यान हो रहा है, ऐसा नाम ले रहे हैं, असन्तोष काहेको, हमारा जीवन तो धन्य, धन्य हो रहा है।

सन्तोष करनेके लिए बाहर की चीज मत रखो। घड़ी हमारे पास रहे तो सन्तुष्ट और घड़ी चली जाय तो असन्तोष, यह मत करो, भला! घड़ीको रखना अपने हाथमें नहीं है। अगर घड़ीमें सन्तोषको डालोगे तो कभी असन्तुष्ट भी होना पड़ेगा, अपने सन्तोषको अपने हृदयमें रखो। इसीलिए भगवान्‌का भक्त क्या करता है?

संतुष्टः सततं योगी यतात्मा दृढनिश्चयः।
मय्यिप्रित मनोबुद्धिर्यो मद्भक्तः स मे प्रियः॥

भगवान् कहते हैं कि मैं प्यार करता हूँ। भगवान्‌के प्यारे बनना चाहते हो? कि भगवान् तुम्हारे प्रेमी बनें और तुम उनको याद न करो। तब भी वे तुमको प्यार करें, तुम उनकी ओर न देखो तब भी वे तुमको देखें। वे तुम्हारा ख्याल रखें—ऐसा चाहते हो। तो बोले **सन्तुष्टः सततं**—हमेशा सन्तुष्ट रहो। और दूसरा बताया, ये भक्तके लक्षण हैं—**सन्तुष्टो येन केन चित्**—सन्तोषको अपने पास रखो। जिस चीजसे सन्तोष मिलता है, उस चीजका विचार मत करो, यह देखो कि तुम्हारे अपने चित्तमें सन्तोष है कि नहीं? और **सन्तुष्टः सततं योगी**।

एक तो दुनियाके कौनसे विषय आने पर हम सन्तुष्ट होते हैं और कौनसे न आने पर सन्तुष्ट होते हैं—इसका विचार छोड़ दो और अपने हृदयमें विद्यमान जो परमात्मा है, उससे सन्तुष्ट हो, यह भक्तका सन्तोष बताया।

ज्ञानीका सन्तोष भी बताय है कि ज्ञानी कैसे सन्तुष्ट होते हैं? तो पहले दूसरे अध्यायमें देखो जहाँ स्थितप्रज्ञका लक्षण बताया—**आत्मन्येवात्मना तुष्टः स्थितप्रज्ञस्तदोच्यते**। भगवान् तुष्टि देते हैं, अपने हृदयमें सन्तुष्ट रहो और अपने आपसे सन्तुष्ट रहो। माने सन्तुष्ट होने के लिए विलायत मत जाओ और वहाँके भोग और सम्पत्तिसे सन्तुष्ट मत होओ। **आत्मनि एव** अर्थात् 'हृदये एव'। जब आँखके, कानके बिलमें-से निकलते हैं, बाहर, यह विलायत होजाता है। यह बाह्य प्रपंच ही विलायत हो जाता है, यह बाहरी दुनिया विलायत है। क्योंकि ये इन्द्रियोंके जो बिल हैं, ये अगर ठीक-ठीक होंवे, तब तो इनका सुख मिले। और, अपना देश क्या है? ***सुरत बिरहुलिया छाई निज देश।*** अपने देश ही है। ***जहाँ न सूरत, जहाँ न मूरत, पूरन धनी धनेश।*** **आत्मन्येवात्मना तुष्टः**। अपने आपमें सन्तुष्ट

रहो। दूसरेका घर नहीं और दूसरा निमित्त नहीं। अपना घर और अपना निमित्त। सन्तोषका निमित्त अपना आत्मा और दूसरेमें नहीं अपने आपमें।

कैसे होवें सन्तुष्ट? वह भी सुनाया आपको कि—

यस्त्वात्मरतिरेव स्यादात्मतृप्तश्च मानवः। (3.17)

आत्मन्येव च संतुष्टः। (3.16)

एव लगा हुआ है, 'आत्मनि एव च सन्तुष्टः'—अपने आपमें ही सन्तुष्ट रहो।

इसीसे जब जीवन्मुक्त महापुरुषका लक्षण बताया तो उसमें संतोषको भी बताया। जिज्ञासुके जीवनमें सन्तोष चाहिए और भक्तके जीवनमें सन्तोष चाहिए, सिद्ध भक्तके जीवनमें सन्तोष चाहिए और योगीके जीवनमें भी सन्तोष चाहिए—

यत्र चैवात्मनात्मानं पश्यन्नात्मनि तुष्यति। (6.20)

वह योगी है, जो अपने आपमें अपने आपको देख रहे हैं और सन्तुष्ट हो रहे हैं। योगीको भी सन्तोष चाहिए। जिज्ञासुको सन्तोष चाहिए, भजन करनेवालेको संतोष चाहिए, भक्तको सन्तोष चाहिए, योगीको सन्तोष चाहिए, ज्ञानीको सन्तोष चाहिए—

यस्त्वात्मरतिरेव स्यादात्मतृप्तश्च मानवः।
आत्मन्येव च सन्तुष्टस्तस्य कार्यं न विद्यते॥ (3.17)

जीवन्मुक्तमें भी सन्तोष रहता है। वह कैसे? कि

यदृच्छालाभसंतुष्टो द्वन्द्वातीतो विमत्सरः।
समः सिद्धावसिद्धौ च कृत्वापि न निबध्यते॥ (4.22)

विमत्सरः—कोई अपनेसे आगे बढ़ता है तो उसके पास मात्सर्य नहीं है, द्वन्द्व नहीं है और यदृच्छालाभसंतुष्ट है।

योगीके लिए, भजन करनेवालेके लिए, जिज्ञासुके लिए, भक्तके लिए, योगी के लिए, ज्ञानीके लिए, जीवन्मुक्तके लिए सबके लिए सन्तोष आवश्यक है।

संतोष है क्या? कि आनन्दभावकी अभिव्यक्ति। समता क्या है? कि चिद्भावकी अभिव्यक्ति, और अहिंसा क्या है? कि सद्भावकी अभिव्यक्ति। किसीको दुःख नहीं पहुँचाना। अहिंसा है शुद्ध चेतन, शुद्ध सत् है, अन्तःकरणमें। जब यह सच्चिदानन्द अद्वय निरावरण हो जाता है तब महात्मा पुरुषके जीवनमें ये तीन बातें प्रकट होती हैं—

अहिंसा समता तुष्टिस्तपो दानं यशोऽयशः।
भवन्ति भावा भूतानां मत्त एव पृथग्विधाः॥ 5॥

जब मनुष्य जन्म-जन्ममें पुण्य करता है, सद्‌गुरुकी आचार्यकी कृपा होती है, अपना अन्तःकरण प्रसन्न होता है, ईश्वरकी कृपा होती है—तीन बात; जीवका अन्तःकरण प्रसन्न हो निर्मल हो, ईश्वरकी कृपा हो और सद्‌गुरुकी शरणागति प्राप्त हो, तब ये तीन बातें जीवनमें आती हैं। अहिंसा, समता, तुष्टि। किसीको पीड़ा नहीं पहुँचाना—अहिंसा, किसीके प्रति निर्दयता और पक्षपात नहीं बर्तना—समता; और तुष्टि माने भीतर संतोष ही सन्तोष है। चार आदमी रो रहे हों और एक मस्त, जीवन्मुक्त आकर उनके बीचमें बैठ जाय, उसके शरीरमें-से ऐसी तन्मात्राएँ निकलेंगी कि दुःखकी मात्रा कम हो जायेगी, सन्तोषकी हवा चलने लगेगी।

एक बारका वर्णन है, महाभारत युद्ध हुआ था, तो कई बातें बड़ी गड़बड़ की गयी थीं, क्योंकि युद्धकी रीति यह है कि उसमें सच और झूठ दोनों थोड़ा-थोड़ा मिलाया जाता है, सारा प्रपंच ऐसा ही है—**सत्यानृते मिथुनी कृत्य। सत्यानृते तु वाणिज्यं**—अगर सच और झूठ दोनों नहीं मिलावें तो व्यापार नहीं चलेगा। बिलकुल सच्चाईके आधारपर व्यापार तब चले, जब सब ग्राहक और सब व्यापारी सच्चे हो जायँ। परन्तु, सब ग्राहक और सब व्यापारी कभी सच्चे नहीं हो सकते, क्योंकि तमोगुण और रजोगुण तो सृष्टिमें रहेगा, तो व्यापार जो है वह सत्य अनृतको मिलाकर चलता है। ऐसे ही राजनीति भी थोड़ा सच और थोड़ा झूठको लेकर चलती है। युद्धनीति थी।

वहाँ महाभारतमें बताया कि कभी अर्जुनको भी दो चार कदम पीछे हटना पड़ा और निरस्त्रके ऊपर अस्त्रका प्रहार करना पड़ा, भीष्मको शिखण्डीकी आड़ लेकर मारना पड़ा। द्रोणाचार्य बिलकुल अस्त्रहीन थे, तब उनके ऊपर अस्त्र चलाना पड़ा और कर्ण अपने रथको सँभालनेमें जब लगा हुआ था, उसका ध्यान दूसरी तरफ था, तब उसको मारना पड़ा। यहाँ तक कि द्रोणाचार्यके प्रसंगमें युधिष्ठिरको कहना पड़ा—'अश्वत्थामा हतः, नरो वा कुंजरो वा।'

ये आदर्श जो जीवनके होते हैं, वे निवृत्ति-परायणोंके आदर्श दूसरे होते हैं, प्रवृत्ति-परायणोंके आदर्श दूसरे होते हैं। प्रवृत्तिमें सच और झूठ-दोनोंको मिलाना पड़ता है। बहुत विचित्र है!

तो जब द्रोणाचार्यकी मृत्यु हुई, तो यह हुआ कि महाराज युधिष्ठिर आपसे युद्धभूमिमें कोई गल्ती हो गयी है तो उसका दण्ड भी आपको भोगना पड़ेगा। बोले—भाई दो, जो दण्ड हो सो दो, उसमें भी समता है उसमें भी सन्तोष है। बोले—दण्ड यही है कि एकबार नरकके रास्तेसे आप निकलेंगे। आपको नरकका

निरीक्षण करायेंगे, इसका मतलब यह कि दुर्गन्ध और वहाँकी पीड़ा युधिष्ठिरको पहुँचेगी, वे भी दु:खी होंगे, उनको भी नरककी यन्त्रणा मिल जायेगी। तो जब युधिष्ठिर नरकके रास्ते निकले तो नरकमें पड़े हुए जितने जीव हैं, वे चिल्लाने लगे—'बड़ी शान्ति मिली, बड़ा सन्तोष मिला, बड़ा सुख मिला, महाराज, धर्मराज! थोड़ी देरके लिए आप यहाँ रुक जायँ।' युधिष्ठिरने पूछा—क्या बात है भाई! तो चित्रगुप्तने बताया—महाराज आपकी उपस्थितिसे, आपके शरीरमें-से जो सुख-शान्ति, सन्तोषकी धारा निकलती है, वातावरणमें जैसे सूर्यमें रोशनीका वातावरण होता है-प्रभाका, ऐसे महात्माके शरीरसे सुख-शान्ति-सन्तोषकी किरणें निकलती हैं, तो महाराज आप यहाँ पधारे हैं, नरकके लोगोंको बड़ी शान्ति मिल रही है, बड़ा सन्तोष मिल रहा है। अब तो युधिष्ठिर जी बैठ गये, बोले कि अगर मेरे रहनेसे इनको सन्तोष मिलता हो और सुख मिलता हो, तो मैं स्वर्गमें नहीं जाऊँगा, यहीं रहूँगा। दूत बोले—महाराज जल्दी चलें आप। युधिष्ठिर बोले—नहीं, नहीं, हम तो यहाँ बैठेंगे। दूत बोले—आपके इस संकल्पसे—'कि अगर इन दु:खियोंको सुख मिलता हो, तो मैं नरकमें रहूँगा', आपके मनमें यह संकल्प आनेसे, आपको इतना पुण्य हुआ है कि वैसे तो आपको पाँच मिनट नरक दिखाते भी, अब तो जल्दी निकलो यहाँसे, आपका कोई दोष-अपराध रहा ही नहीं, जिससे आपको नरकमें रखें।

जिसके जीवनमें सन्तोष आता है, उससे लोगोंको भी सन्तोष मिलता है, जिसके जीवनमें शान्ति आती है, उससे लोगोंको भी शान्ति मिलती है। जिसके जीवनमें तीन चीज न हो, एक तो जन्म-मृत्युका भय निवृत्त हो जाय, दूसरे समता आ जाय, पक्षपात और निर्दयता निवृत्त हो जाय और तीसरे सन्तोष आ जाय, जैसे हैं वैसे ही, हर हालमें खुश हैं तो मनुष्यका जीवन धन्य-धन्य हो जाय। लेकिन यह बात आवे कैसे? बोले—इसके लिए तपकी भावना हृदयमें होवे—**तपोदानं यशोऽयश:**—तप और दान एक जोड़ी है और 'यशोयश:' एक जोड़ी है। तप क्या है और दान क्या है? दूसरा सुखी हो—यह ख्याल रखना—इसका नाम तो दान है और अपनेको भले तकलीफ भोगनी पड़े। यह तकलीफ भी एक प्रकारका तप ही है, यह आदिमें 'त' है और अन्तमें भी 'प' भला, यह तप के बीचमें 'कली' घुस गयी है, तकलीफ जो है यह तप है।

गीतामें तप भी बताया है, तपका बड़ा वर्णन है, तामस तप होता है दूसरेको कष्ट देनेके लिए। कई लोग अपनी एक आँख फोड़ना मंजूर करते हैं, दूसरेकी दोनों आँख फोड़ देनेके लिए। दूसरेको तकलीफ देनेके लिए जो आदमी कष्ट सहता है,

तप करता है वह तो तमोगुणी है। और भोगके लिए जो तप करता है वह रजोगुणी है और सात्त्विक तपस्या तीन प्रकारकी होती है—शारीरिक, वाचिक और मानस।

आप जानते ही हैं, आपको क्या बताना? यह तप शब्द जो है यह सबको पवित्र कर दे, इसीलिए इसको तप बोलते हैं। यह चोरको भी पवित्र कर दे, 'त' माने तस्कर और 'प' माने पावित्र्य!

अब तप अपने जीवनमें क्या हुआ, क्या नहीं हुआ, उसका ख्याल छोड़ो और तपको स्वीकार करो। बोले—महाराज तब क्या करें, पंचाग्नि तपें, कृच्छ्र करें, चान्द्रायण करें? नहीं इसको तप नहीं बोलते हैं। श्रीमद्भागवतमें तपका ऐसा बढ़िया वर्णन है, वहाँ तपका लक्षण बताया है—

तप्यन्ते लोकतापेन प्रायशः साधवो चोजनाः।
परमाराधनं तद्धि पुरुषस्याखिलात्मनः॥

दुनियाके दुःखको देखकर अपने चित्तमें दुःखी होना, अपने दुःखसे दुःखी नहीं होना, दूसरेके दुःखसे दुःखी होना, और दूसरेके दुःखसे अगर दुःखी होते हैं, तो यह क्या है? कि यह ईश्वरकी परमाराधना है।

परमाराधनं तद्धि पुरुषस्याखिलात्मनः।

साधुका यही स्वभाव है, साधु यही तप करता है। वह अपने दुःखमें दुःखी नहीं है, वह लोगोंके दुःखसे दुःखी होता है।

तपका महत्त्व बताया है तपकी ऐसी महिमा बतायी कि ब्रह्माने सृष्टि बनायी तपस्या करके, विष्णुको क्षीरसागर मिला तपस्या करनेसे। विष्णु भगवान्‌को चक्र मिला तपस्या करनेसे। शिव भगवान्‌को संहारका सामर्थ्य मिला तपस्या करनेसे। **तपो हि दुरतिक्रम्**—तपस्याकी शक्तिको कोई काट नहीं सकता, अकाट्य है।

तो बोले—तपस्या क्या?

अब एक जगह महाराज देखा मैंने, कीलकी खाट बनाकर उसके ऊपर साधु बाबा लेटे हुए हैं। बोले—यह संकट सहन तपस्या है।

आत्मनः पीडया क्रियते तपः परस्योत्साधनार्थं वा।

यह संकट सहन तो तामस तपस्या है। एक जगह देखा तो बाबाजी जेठकी तो दोपहरी और बालूकी धरती और उसमें चौरासी धूनी जलायी और मटकेमें आग जलाकर उसे सिरपर रख लिया और बैठ गये। जिसको देखकर ईश्वरको भी तकलीफ हो जाय, अरे भाई तप तो जीवनका शृंगार है। कुरूपताका नाम तप नहीं है, जीवनके शृंगारका नाम तप है।

आपको सुनावें, गीतामें जो तप बताया उसमें एक वाचिक तप बताया, चुप होनेको वाचिक तप नहीं बताया, लोग रूठते हैं तो बोलना बन्द कर देते हैं—ऐसा भी होता है, उसका नाम तप थोड़े ही होगा। गरुड़ पुराणमें वह हँसी उड़ाई है, आपको क्या सुनावें, बोले कि—

आजन्ममरणान्तं च गंगादितटिनी स्थिताः।
मण्डूकमत्स्य प्रमुखाः किं भवन्ति तपस्विनः॥

यह गरुड़ पुराणका श्लोक है। जन्मसे लेकर मृत्युतक गंगाजीमें रहनेवाले मेंढ़क और मछली, जीवनभर गंगाजीमें रहें, क्या वे तपस्वी हैं?

पारावतामिताहाराः कदाचिदपि चातकाः।
न पिबन्ति महीतोयं व्रतिनः किं भवन्ति ते॥

ये कबूतर कंकड़ पत्थर खाते हैं, और चातक धरतीका पानी नहीं पीते हैं, तो क्या वे व्रती हैं? ऐसे व्रत नहीं होता।

गरुड़-पुराण बड़ा बढ़िया ग्रन्थ है। इधर तो रिवाज नहीं है, उसको पढ़नेका। हमारे बचपनमें यह रीति थी कि जब किसी भलेमानुसके घरमें कोई मरता था, तो गरुड़ पुराण सुनते थे। उसमें वैराग्यकी बात है, परलोककी बात है, बड़ी बढ़िया-बढ़िया बातें हैं। तो, जब मैं गुरुआई करता था, पुरोहित नहीं था मैं। हमारे यहाँ पुरोहित और गुरु दो होते हैं। जो गणेश, गौरी, नवग्रहकी पूजा कराके उनका पैसा लेते हैं और जो सङ्कल्प किया हुआ दान लेते हैं, उनको पुरोहित बोलते हैं, विवाहमें, यज्ञोपवीतमें, सबमें। और हम लोग केवल भागवतकी कथा, सत्यनारायणकी कथा, गरुड़ पुराणकी कथा करते थे। विवाह भी कराते थे। यज्ञोपवीत कराते थे।

आपको एक बात सुनाते हैं। सत्रह अट्ठारह तककी उम्रतक मैं सब कराता था। मैंने बीसों जगह गरुड़ पुराणकी कथा, उधरके सम्पन्न क्षत्रियोंके घरोंमें जब मृत्यु हो जाती तो सुनाया। बड़ा विचित्र, बड़ा अद्‌भुत ग्रन्थ है। गरुड़ पुराणमें आजकल जो यमपुरीका यमलोकका या रास्तेका वर्णन है, उसमें लोगोंकी श्रद्धा नहीं होती है, इसलिए उसकी चाल कम हो गयी है, लेकिन उसमें तत्त्वज्ञानका निरूपण है, जैसे शिवपुराणमें बीच-बीचमें तत्त्वज्ञानका निरूपण आता है, ऐसे उसमें तत्त्वज्ञानका निरूपण है।

बोले—कोई तपस्वी, कोई व्रती ऐसे नहीं हो जाता, तपस्या तो जीवनका शृंगार है और इसका भगवान्‌को भोग लगता है। गीतामें बताया—

भोक्तारं यज्ञतपसां सर्वलोकमहेश्वरम्।
सुहृदं सर्वभूतानां ज्ञात्वा मां शान्तिमृच्छति॥

भगवान्‌को भोग लगानेके लिए दो चीज चाहिए—'भोक्तारं यज्ञतपसां' क्या? दूसरेको खिलाओ तो भगवान्‌को भोग लगता है और स्वयं अपनी इन्द्रियोंका संयम करो तो भगवान्‌को भोग लगता है। जिस दिन अपने घरमें खीर बने और वह अतिथिको, माने जो बिना सूचना दिये हुए, अचानक भोजनके समय मेहमान हो गया है, उसको खिला दिया और स्वयं नहीं खाया, तो उस अतिथि रूप ईश्वरको खीर खिलानेका नाम यज्ञ है। और स्वयं न खाना—यह तप है। तप भगवान्‌की पूजा है, भगवान्‌को भोग लगाना है। अपने लिए इन्द्रिय-संयम और दूसरेके लिए दान, भगवान् इसका भोग लगाते हैं।

तो देखो, तपस्याका एक उदाहरण देखो। भगवान् तपसे प्रसन्न होते हैं। बोले—बोली कैसी बोलना? कि, **अनुद्वेगकरं वाक्यं**

जिसको सुनकर दिलमें उद्वेग न हो। उद्वेगका अर्थ हम आपको बहुत मोटी भाषा में समझा देते हैं। जैसे आप कभी कोई चीज खा लें और कै आने लगे, तो क्या हुआ? कि उद्वेग हुआ—हूल उठी, तो मुँहसे जब कोई चीज खावें और वमन आने लगे, ऐसे ही अगर कानसे कोई ऐसी बात किसीको सुना दी जाय कि उसका कलेजा अपनी जगह छोड़कर व्याकुल हो जाय, तिलमिला जाय, जैसे किसीको ऐसी चीज खिला दें कि उसको कै आने लगे, ऐसे ही कानके रास्तेसे किसीके दिलमें ऐसी बात डाल देना कि उसका दिल मुँहको लग जाय, इसको उद्वेग बोलते हैं।

तो बात ऐसी बोलना, जिससे किसीको उद्वेग न हो। अच्छा, सच बोलना, लेकिन वह सुननेमें प्यारी लगे। तेरी माँका खसम—ऐसे मत बोलना, 'तुम्हारे पिताजी'—ऐसे बोलना। अनुद्वेगकर वाक्य, सत्य, प्रिय और हितकारी बोलना।

देखो यह क्या है? कि यह तप है, मानस तप है। 'स्वाध्यायाभ्यासनं'— अपने स्वाध्यायका अभ्यास, जिसने अपने आत्माका ज्ञान होवे, आत्मनिरीक्षण होवे, जिससे अपने अन्दर क्या दोष है, अपने अन्दर क्या गुण है, अपना क्या स्वरूप है, हम कर्ता हैं कि भोक्ता हैं? परिच्छिन्न हैं कि संसारी हैं कि नित्य-शुद्ध-बुद्ध-मुक्त हैं—इसका अभ्यास, इसका स्वाध्याय करना। यह ईश्वरके लिए भोग लगनेवाला तप है—**भोक्तारं यज्ञ तपसां** (5.29) इस तपस्याको भगवान् खाते हैं, भोग लगाते हैं।

☆

तपो दानं यशोऽयशः (10.5) **भवन्ति भावा भूतानां मत्त एव पृथग्विधाः।** तप और दान—ये दोनों जानबूझकर एक साथ रख दिये। दान होता है वस्तुका और तपस्या होती है अपने मनसे, इन्द्रियोंसे और शरीरसे। जो मनुष्य ठीक-ठीक जीवन व्यतीत करना चाहते हैं इस संसारमें, उनके जीवनमें तप और दान—दोनों होने चाहिए।

तप और दानके सम्बन्धमें एक दो बात सामान्य रूपसे जान लेनी चाहिए। एक तप-दान होता है लौकिक प्रयोजनसे, जैसे सवर्ण हिन्दुओंसे हरिजन अलग न हों, इसके लिए महात्मा गांधीने अनशन किया। वह जो अनशन है वह तप है। परन्तु उस तपका प्रयोजन लौकिक है, दृष्ट है। इसलिए दृश्य रीतिसे जैसे वह सर्वांगपूर्ण होवे वैसे करना चाहिए। वह विलायतको भी मालूम होना चाहिए, वह नेताओंको भी मालूम होना चाहिए, वह जनताको भी मालूम होना चाहिए, वह सब समाचार पत्रोंमें भी छपना चाहिए और अधिकसे अधिक लोगोंके चित्तपर जैसे उसका प्रभाव पड़े, वैसे होना चाहिए। क्योंकि उसका प्रयोजन लौकिक है। परन्तु यदि कोई अपने पापोंका प्रायश्चित करनेके लिए तप करे या पुण्य-प्राप्तिके लिए तप करे कि हमको स्वर्ग मिले, नरकमें न जाना पड़े, या इसलिए तप करे कि हमारा अन्तःकरण शुद्ध हो, कोई इसलिए तप करे कि ईश्वर प्रसन्न हो, तो प्रयोजनके भेदसे तपके संकल्पमें और तपके स्वरूपमें भी भेद हो जाता है।

इसमें दृश्य प्रयोजनसे किया जानेवाला तप और अदृश्य प्रयोजनसे किया जानेवाला तप—दो भेद कर दें। यदि कोई अपने पापोंके लिए प्रायश्चित्तके लिए और स्वर्गकी प्राप्तिके लिए तप कर रहा है, तो स्वर्ग और पापोंका प्रायश्चित—ये एकमात्र शास्त्रसे ही जाने जाते हैं। इसलिए शास्त्रकी रीतिसे जब तप किया जायेगा, तब वह पापका निवर्तक होगा, स्वर्गका प्रापक होगा, प्रायश्चित बनेगा अथवा अपने इष्ट फलकी प्राप्तिका हेतु बनेगा।

यदि शास्त्रोक्त फल प्राप्त करना है तो शास्त्रोक्त तप होना चाहिए और यदि लौकिक फल प्राप्त करना है, तो लौकिक तप करना चाहिए। अब देखो कोई चाहता तो यह हो कि हमारे पाप कट जायँ, नरकमें न जाना पड़े, स्वर्गकी प्राप्ति हो और तप करे मनमाने ढंगसे, तो नहीं बनेगा। ऐसे तपके लिए पवित्र काल चाहिए, एकादशीके

दिन व्रत करो, यह शास्त्रोक्त है, फिर इसको भी संकल्प लेकर करो कि हम बारह वर्षतक दोनों एकादशी हर महीनेकी करेंगे या एक वर्षतक दोनों एकादशी करेंगे या केवल शुक्लपक्षकी एकादशी करेंगे। ऐसा भी शास्त्रमें वर्णन है। संकल्प लेकर देवताकी पूजा करके प्रतिज्ञा करके यह व्रत किया जाता है। ऐसे चान्द्रायण किया जाता है तो विधिपूर्वक किया जाता है। कृच्छ्र है, प्राजापात्य है, सान्तपन है, यह है जीवनमें शास्त्रके अनुसार व्रत ग्रहण करके अपनी इन्द्रियोंका संयम करना।

एक ही समय भोजन करेंगे, इतने महीने तक, इतने बरसों तक फलाहार करेंगे, ये शास्त्रोक्त जो व्रत हैं, वे व्रत शास्त्रोक्त विधिसे अपने संकल्पके अनुसार किये जायँ, तब वह पापके लिए प्रायश्चित होंगे, क्योंकि पाप भी शास्त्रसे ही मालूम पड़ता है और कोई तरीका नहीं है और नरक और स्वर्ग केवल शास्त्र से ही मालूम पड़ते हैं और कोई तरीका नहीं है, इसलिए उनके उद्देश्यसे निवारण या प्राप्तिके लिए जो तप किया जाता है, वह शास्त्रोक्त होना चाहिए।

अब अन्त:करण शुद्धिकी बात करो, तो अन्त:करणशुद्धि असलमें अदृष्ट प्रयोजन नहीं है, दृष्ट प्रयोजन है। दृष्ट प्रयोजन माने इसी जन्ममें मालूम पड़नेवाला लाभ, कि अब हमारे अन्त:करणमें जो दुर्वासनायें आती हैं, वे शान्त हो जायँ। कामके वश होकर हम कभी व्यभिचार न कर बैठें, क्रोधके वश होकर किसीको गाली न दें, अपमान न करें, निन्दा न करें। लोभके वश होकर चोरी-बेइमानी न करें तो हमारे अन्त:करणमें जो काम है, क्रोध् है, लोभ है, वह दब जाय, हमारे अन्त:करणमें जो मोह है, वह कम हो जाय, हमारी इन्द्रियाँ वशमें हो जायँ, हमारा मन काबूमें हो जाय—इसको अन्त:करणकी शुद्धि कहते हैं। बढ़िया-बढ़िया बातें हमारे दिलमें आवें, खराब-खराब बातें कभी न आवें, यह दृष्ट प्रयोजन है। इसलिए यह यदि अपने-अपने गुरुकी सलाहसे करें, तो भले वह एकादशी न हो दशमी हो और एकादशीकी जगह द्वादशी हो और वह प्राजापात्य, सान्तपन, कृच्छ्रमें-से कोई न हो, तब भी चल सकता है। वह क्या है ? मैं एक महापुरुषके पास गया, कोई अनुष्ठान करना था, तो बोले—बस अब आजसे चार महीने तक सिर्फ मूंगकी दाल और जौ—दो ही चीज खाना, तीसरी कोई चीज मत खाना। अब इसके कोई नरक तो मिटाना नहीं था, पापका प्रायश्चित करना नहीं था, स्वर्ग पाना नहीं था, अपनी इन्द्रियोंका मनका संयम हो, अहंकारकी निवृत्ति हो, क्योंकि अपने मनसे जब तप किया जाता है, तो उसका अभिमान आता है, अगर पूरा न हो तो आदमीमें हीन भावका उदय होता है, कि हाय-हाय हमसे एक व्रत पूरा नहीं

हुआ, तो हम दुनियामें दूसरा अच्छा काम कहाँसे करेंगे? यदि पूरा हो गया तो अभिमानका उदय होता है। इसलिए सद्‌गुरुकी सलाहसे अन्त:करणकी शुद्धिके लिए व्रत करना चाहिए। अन्त:करणकी शुद्धिके लिए जो व्रत होता है वह संतुलित होता है। उसमें अति नहीं होती है। बिलकुल भूखे रहें तो दिमाग खराब हो जायेगा, गरमी बढ़ जायेगी और ज्यादा खा लेंगे तो फिर विचार बिखर जायेंगे, विकार आने लग जायेंगे, इसलिए संतुलित भावसे ये दृष्ट प्रयोजनवाले व्रत चलते हैं। अब ईश्वरको प्रसन्न करनेके लिए जो व्रत होते हैं, वे श्रद्धा और भावकी प्रधानतासे होते हैं, ईश्वर पर श्रद्धा करना और भाव करना।

अब एक दूसरी बात उसके सम्बन्धमें बताते हैं। यदि वही व्रत जो शास्त्रोक्त है और शास्त्रोक्त फलकी प्राप्तिके लिए किये जाते हैं; व्रत तो वही किये जायँ, निष्काम भावसे, अन्त:करणकी शुद्धिके लिए, ईश्वरकी प्रसन्नताके लिए, तो अन्त:करणकी शुद्धि हो जाय इसी जीवनमें न होवे तो वे जो शास्त्रोक्त व्रत हैं वह अपना अदृष्ट उत्पन्न करेंगे, संस्कार उत्पन्न करेंगे और वे अगले जन्ममें मनुष्यके लिए कल्याणकारी हो जायेंगे। जो शास्त्रोक्त नहीं होंगे और केवल दृष्ट प्रयोजनसे और दृष्टयुक्तिसे विचार कर किये जायेंगे उनका फल अगर इस जन्ममें हुआ तो हुआ, नहीं तो अगले जन्ममें वे अपना दृढ़संस्कार नहीं डाल सकेंगे, दृढ़ अदृष्ट उत्पन्न नहीं कर सकेंगे। इसलिए जो व्रत, जो तप शास्त्रोक्त फलकी प्राप्तिके लिए और शास्त्रोक्त रीतिसे किये जाते हैं, वे लोक और परलोक दोनोंमें हितकारी होते हैं। और आपने देखा ही है गीतामें तो 'तपस्या'का प्रसंग है—

आत्मनः पीडया क्रियते तपः—केवल अपनेको तकलीफ देना, इसीको जो तप मानते हैं, उसको तामस तप कहते हैं। तपस्या तो कर रहे हैं, खाना छोड़ दिया, पीना छोड़ दिया, पहनना छोड़ दिया, तप करते हैं, पर काहेके लिए? बोले— अपनेको तकलीफ देनेके लिए। तो अपनेको तापस देना-तकलीफ देना, यह कोई व्रत नहीं है। **परस्योत्सादनार्थं वा** (17.19)—या दुश्मनको मार डालनेके लिए तप करना—यह कोई तप नहीं है।

तो तामस और राजस तप नहीं करना चाहिए, सात्त्विक तप करना चाहिए। और सात्त्विक तपमें कल बताया था कि बोलना ऐसे, जिससे किसीके दिलपर धक्का न लगे—**अनुद्वेगकरं वाक्यं**। सच बोलना, किन्तु प्रिय बोलना। हित बोलना, किन्तु मित बोलना। मित माने थोड़ा, एक मात्रामें। अमित नहीं बोलना, मित बोलना और अवसरोचित बोलना। श्रीकृष्ण बोलते थे—**समं महत्**। श्रीकृष्णकी वाणीमें समता

होती थी, उदारता होती थी और गंभीरता होती थी। शरीरसे तप करना चाहिए यह सामान्य तप है। माने इससे दृष्टादृष्ट दोनों प्रयोजनकी सिद्धि होती है।

स्वाध्यायका अभ्यास करना। अब, देव द्विज गुरु प्राज्ञपूजनं शारीरिक तपस्या है। रोज देवताकी पूजा करना। इससे देवताका कोई लाभ होता हो,सो बात नहीं है, शालग्राम कहाँ खाते हैं? लेकिन शालग्रामके सामने रखनेसे जो अपने हृदयमें भाव पैदा होता है कि यह भगवान्का प्रसाद हो गया, यह बड़ा लाभदायक है। तुलसी डाली, शालग्रामके सामने रखा, शालग्रामका प्रसाद सबके लिए ग्राह्य है। भोग लगाकर खाना, देवताकी पूजा करना। पूजा करनेसे पूजा जिसकी की जाती है, उसका लाभ नहीं होता, जो पूजा करता है, उसका लाभ होता है। कर्मका फल कर्ताको मिलता है। कर्मका फल जिसके लिए किया जाता है, उसको थोड़े ही मिलता है। जो करता है उसको मिलता है। पूजाका यह लाभ है। और उतनी देरके लिए चित्तवृत्ति कामसे, क्रोधसे मोहसे लोभसे ऊपर उठ गयी, देवताका स्मरण हुआ, चिन्तन हुआ और द्विज—ब्राह्मणकी पूजा करना; क्योंकि ये ज्ञानको धारण करनेवाले हैं। देवताकी समझो सूर्यकी, अग्निकी, वायुकी पूजा करना, समुद्रकी पूजा करना, सबके भीतर जो एक ईश्वर है उसकी पूजा करना, क्योंकि ये प्रकाश देनेवाले हैं, ज्ञान देनेवाले हैं, जीवन देनेवाले हैं।

गुरु—गुरुकी पूजा करना। ज्ञानका स्रोत है और जो गुरु न होवे, फिर भी ज्ञानी होवे, उसकी भी पूजा करना इसमें द्विज, गुरु, ज्ञानी (प्रज्ञ) तीन बात है। ब्राह्मण चाहे गुरु हो, चाहे न हो, ज्ञानी हो न हो गुरुकी पूजा करना और जो ज्ञानी हो और गुरु न हो तो उसकी भी पूजा करना। पूजा माने सत्कार करना, आदर करना।

सेठ जयदयालजी पूजा करानेका बड़ा निषेध करते थे पर; करनेका नहीं, यही बात कहने जा रहा था। कई बार उनसे चर्चा हुई कि देखो गीतामें तपका लक्षण बताया है कि ब्राह्मणकी पूजा करना, गुरुकी पूजा करना और ज्ञानीकी पूजा करना—ये तीनों तो मनुष्य ही हैं, द्विज भी मनुष्य है, गुरु भी मनुष्य है और ज्ञानी भी मनुष्य है, तो यहाँ तो मनुष्यकी पूजा, साफ-साफ करनेको लिखा है, यह तो तप है, करना चाहिए। तो वे बोले कि मैं पूजा करनेका निषेध नहीं करता हूँ, पूजा तो करनी ही चाहिए। यदि ब्राह्मणकी, गुरुकी, ज्ञानीकी पूजा नहीं करेंगे, तो लोगोंका कल्याण कैसे होगा? देखो, पूजा तो करनी चाहिए।

तो बोले—फिर यह आप खण्डन क्या करते फिरते हो? बोले—हम पूजा करानेका खण्डन करते हैं।

एक बार किसी महात्माका उन्होंने सम्बोधन किया—'पूज्य अमुकजी'! तो मैंने बादमें उनसे पूछा कि आप इनको पूज्य क्यों कहते हैं? तो बोले कि हमारा तो धर्म ही है पूजा करना; हमारे तो पूजनीय हैं ही वे।

पूजनम् यह पूजा तपस्या है। **पूजनं शौचं**—अपने शरीरको भी पवित्र रखना। यह तप है। और **आर्जवम्**—अपने मनको सरल रखना छल कपटसे भरकर नहीं रखें। **ब्रह्मचर्य**से रहना और **अहिंसा व्रत**का पालन करना। शरीरसे किसीकी हिंसा नहीं करना, इसका नाम शारीरिक तप है।

अब मानसिक तप बताते हैं—**मनः प्रसादः** अपने मनको हमेशा निर्मल रखना-प्रसन्न रखना। रामचन्द्रका वर्णन आया है कि वे जिससे बोलते मुस्कुराकर बोलते—**स्मितपूर्वाभिभाषी**।

जो अपने सामने आया, उसको कुछ देना चाहिए, सबको पैसा नहीं दे सकते, सबको भोजन नहीं करा सकते, सबको कपड़ा नहीं दे सकते, तो उसको क्या देकर भेजें? बोले—एक मुस्कान उसको देकर भेजें। यह मुस्कान क्या है? खुशी है। जब तुम मुस्कुराओगे तब वह भी मुस्कुरा जायेगा। तुम मनहूस रहोगे तो वह भी मनहूस रहेगा—स्मित बोलते हैं इसको। इसके लिए 'स्मय' और 'स्मायन' शब्द भी है संस्कृतमें। यह स्मित जो है—**स्मायावलोकलवदर्शितभावाहारी**। भागवतमें इस शब्दका प्रयोग है। एक मुस्कान दो और फिर बात करना शुरू करो।

एक दूसरी बात और भारतीय शिष्टाचारकी है कि **पूर्वाभिभाषी**। यह नहीं देखो कि जब कोई आकर परिचय करावे, देखा कि हमसे बड़ा है यह, समझते हैं कि आदरणीय है, लेकिन ठूंठकी तरह उसके सामने खड़े हो गये और जब किसीने आकर बताया कि ये तो अमुक हैं, ये तुम्हारे चाचा लगते हैं, तब प्रणाम किया। नहीं, अपने मनमें अगर चाचा लगते हों तो प्रणाम कर लेना चाहिए, इसमें तुम्हारा कोई नुकसान नहीं है, बिना परिचयके ही प्रणाम कर लेना चाहिए—**पूर्वाभिभाषी च**। बातचीत अपनी ओरसे शुरू करनी चाहिए। यह विनयका लक्षण है। और कोई परिचय करा दे वह आकर हाथ जोड़ दे, तब बात करना। बोले—नहीं, अपनी ओरसे बात शुरू करना—**पूर्वाभिभाषी च**।

अपने मनको भी प्रसन्न रखना और दूसरेके मनको भी प्रसन्न रखना—**सौम्यत्व**। आह्लाददायी होना। तुम्हारे चेहरेको देखकर, वेशभूषाको देखकर किसीके मनमें उद्वेग न हो। वेषभूषा ऐसी रखनी चाहिए, जिससे अपना मन भी शान्त रहे, दूसरेका मन भी शान्त रहे। सौम्यता हो, वेशभूषामें सौम्यता, आकृतिमें

सौम्यता। कई-कई लोग उद्विग्न करनेवाली वेशभूषा भी जानकर धारण करते हैं। पहले गलमुच्छा बनाते थे। आपलोगोंको मालूम नहीं होगा शायद, ये मूँछें जो बड़ी-बड़ी और फिर ये गालोंपर भी बड़े-बड़े बाल रखकर बनवाते थे, वैसा बाल कटवाते थे।

कैसा कपड़ा पहनना? उद्धत वेशभूषा नहीं होनी चाहिए, जिससे मालूम हो गुंडा है। जानबूझकर ऐसी वेशभूषा धारण नहीं करनी चाहिए। ऐसी वेशभूषा धारण करनी चाहिए जिससे अपनेको भी शान्ति मिले, दूसरेको भी शान्ति मिले—आह्लाददायी वेश और आह्लाददायी आकार।

आँखें चढ़ाये हुए हैं, लाल-लाल हो रही हैं और मुँह चढ़ा हुआ है—ऐसा नहीं, सौम्यता चाहिए। जिससे देखनेसे मालूम पड़े जो मनमें है, सो ही बाहर है। आपलोग तो ब्रह्मका विचार ज्यादा करते हो, इसलिए ये सब मामूली बातें आपके सामने कहना ठीक नहीं लगता है—**मनः प्रसादः सौम्यत्वं**। 'सौम्यत्वं' माने जैसे चन्द्रमा सबके ऊपर चाँदनी बरसाता है, ऐसे अपने हृदयमें जो मिठास है उसको बर्तते रहना। तुम्हारे दिलमें अगर कड़वाहट है तो उसको दबा दो, देखो आपके घरमें कोई मेहमान आवे खानेको और दो-चार रोटी जल गयी हो और उसको दो चार रोटी बढ़िया बनी हो तो आप अपने मेहमानको जली हुई रोटी दोगे, अपने लिए अच्छी रख लोगे कि मेहमानको अच्छी रोटी दोगे, अपने लिए जली रख लोगे? मेहमानको अच्छी रोटी दी जायेगी न!

अगर आपके मनमें कड़वे और मीठे-दोनों तरहके भाव हैं, तो जब कोई सामने आवे तो उसको अपना मीठा भाव देना चाहिए। जो सामने आया सो तो मेहमान हो गया! वह तो अपना अतिथि हो गया, अभ्यागत हो गया! ऐसे बोलते समय चेहरा तन जाये—यह बोलनेका ढंग नहीं है, आवाज कड़वी हो जाय—यह बोलनेका ढंग नहीं है। हाथ और मुँह टेढ़े हो जाये—यह बोलनेका ढंग नहीं है, सौम्यता रहनी चाहिए। और, **मौनं**—इसका भी बड़ा विचित्र अर्थ है। देखो, मौनको मानस तपस्याके अन्तर्गत रखा है, यह तो आपको ध्यान है ही! आपके सामने यदि शील-विभाग तपस्याका होता, एक वाचिक, एक शारीरिक और एक मानसिक, तो आप मौनको वाचिक तपस्याके अन्तर्गत रख लेते, परन्तु श्रीकृष्ण मौनको वाणीकी तपस्यामें रखते हैं। मनसे मौन रहना। इसका मतलब यह है कि बेमतलब बातें नहीं सोचना। जो बातें बीत गयीं—निष्प्रयोजन, आ आकर केवल दिलको कुरेदती हैं, उनकी आदत नहीं डालना। किसीका वियोग हो गया, कोई

मर गया, किसीने कभी गाली दे दी, किसीने कोई तिरस्कार कर दिया, तो मनको उसके बारेमें मौन कर लेना चाहिए। अपनी अच्छाई मत बोलो मनमें, कि हमने यह किया, यह किया, अभिमान आयेगा और, दूसरेकी बुराई मत बोलो मनमें, क्योंकि उससे द्वेष आवेगा।

अपने मनको असलमें ईश्वरमें लगाते हुए चलना चाहिए। भविष्यमें ज्यादा जाना भी मनकी कमजोरी है और भूतमें ज्यादा जाना भी मनकी कमजोरी है। इतना मन दृढ़ होना चाहिए कि वह वर्तमान सामना करता हुआ आगे बढ़ता चले।

आत्मविनिग्रहः—इन्द्रियाँ इधर-उधर जायँ, तो उनको काबूमें रखना, उनका निग्रह करना। माने अपने घरमें जैसे कोई पशु हो, बैल हो, बकरी हो, कुत्ता हो, यदि वह स्वच्छन्द सड़कपर भाग जाय अपने मनसे, तो उसको बाँधकर रखते हैं। किसीको काटने दौड़े, मारने दौड़े तो उसको बाँधकर रखते हैं, इसी प्रकार ये इन्द्रियाँ भोगके अभिलाषसे ग्रस्त होकर जब दूसरेकी हिंसा करनेके लिए दौड़ती हैं, तो इनको रोक करके रखना, इनको सधा लेना कि ये भोगके लिए व्याकुल होकर बाहर न जायँ, अपने काबूमें रहें। इनको मारना नहीं, ये मारनेके लिए नहीं हैं, ये सदुपयोग करनेके लिए हैं। परन्तु; ये अपने काबूमें होनी चाहिए। आत्मविनिग्रह और भावसंशुद्धि—भावसंशुद्धिका अर्थ है, अपने दिलका भाव देखना, भावका संशोधन करते रहना। जहाँ किसीके बारेमें बुरा भाव आवे, तो उसका संशोधन कर लो, उसमें-से बुरा निकाल दो और भाव रहने दो। देखो, हजारों रुपये आदमी कमा सकते हैं, लेकिन एक बार यदि सद्भाव खो दें तो वह फिर प्राप्त नहीं हो सकता है। हृदयका भाव बड़ी वस्तु है, संसारकी सम्पत्ति बड़ी वस्तु नहीं है। आखिर संसारकी सब चीजें अपने दिलको सुखी रखनेके लिए ही तो होती हैं। अगर अपना दिल सुखी न हो तो तुम्हारा व्यंक-बलांश बैंक बैलेंस (Bank Balance) कितना भी होवें, बड़ी-बड़ी गिनती होवें बैंकमें तुम्हारे पास-विविध अंक होवें और उनके बलका बड़ा भारी अंश होवे, लेकिन वह किस कामका, यदि तुम्हारा दिल छटपटा रहा है दुःखसे?

यह इतना ही धर्मका रहस्य बताया गया शास्त्रमें—

यदा न कुरुते भावं सर्वभूतेषु पापकम्।
कर्मणा मनसा वाचा स धर्मं वेद जाजले॥

धर्म व्याध तुलाधार उपदेश कर रहा जाजलि ऋषिको धर्मका, कि तुम किसीको अपने मनमें पापी मत समझो, अपने मुँहसे किसीको पापी मत कहो और

किसीके साथ ऐसा व्यवहार मत करो, जैसा पापीके साथ सामान्यरूपसे लोग करते हैं। 'कर्मणा, मनसा वाचा'—जबानसे किसीको पापी मत कहो, मनसे किसीको पापी मत सोचो और शरीरसे उसके साथ ऐसा व्यवहार मत करो कि वह पापी है।

जब संसारमें किसीको मनुष्य पापी नहीं समझता; देखो अपने मनकी परीक्षा करके देख लो, तुमने चोरी करते अपने जीवनमें कितने लोगोंको देखा है? लेकिन चोर बहुतोंको मानते हो, तुमने अनाचार-व्यभिचार करते कितने लोगोंको अपने जीवनमें देखा है? लेकिन बहुतोंको अनाचारी और व्यभिचारी मानते हो। यह कहाँसे मानते हो? सुन-सुनकर मानते हो या अन्दाज लगाते हो। अनुमान करते हो। अन्दाज कैसे लगाते हो, यह बड़ी मजेदार बात है। वैसी परिस्थितिमें होनेपर तुम जैसा काम करते हो, एक स्त्री पुरुष एकान्तमें होवे, तो उसके बारेमें तुम सोचते हो कि ये बुरी बात कर रहे हैं, तो ऐसा क्यों सोचते हो? इसलिए कि तुम जब एकान्तमें होते हो, तो बुरी बात करते हो। जो स्वयं स्त्री-पुरुष एकान्तमें होनेपर बुरी बात नहीं करेगा, वह दूसरेके बारेमें कैसे सोच सकेगा कि वे बुरी बात करते हैं! दूसरेके दोषकी चर्चा करना माने अपने दोषकी ख्याति करना। अपने दोषका विज्ञापन करना।

तो 'भावसंशुद्धि'का अर्थ यह है कि केवल सुन-सुनाकर मत मान लो। स्वामी शुकदेवानन्दजी एक बहुत बढ़िया बात बताया करते थे कि एक कोई सज्जन जब परदेश जाने लगे, तो अपनी पत्नीको गाँवके एक किसी बहुत बढ़िया सत्पुरुषके पास समर्पित कर गये, बोले कि अब तुम्हीं इसकी रक्षा करना। वे बोले कि हमारी बेटी है, हमारे पास रहे। वे सज्जन बोले कि आने पर जब तुम कहोगे कि यह ठीक है, तब तो मानूँगा कि यह ठीक है और तुम कहोगे कि यह ठीक नहीं है, तो मैं नहीं मानूँगा। उनसे ऐसा कहकर गये।

अब ये सत्पुरुष सोचने लगे कि कहीं हमको झूठ न बोलना पड़े, लड़की अगर कहीं गड़बड़ करेगी, तो झूठ बोलना पड़ेगा, तो क्या किया कि बीचमें तलवार रखकर उस लड़कीको अपने ही पलंग पर सुलाते। अब जो कोई महाराज देखे, तो उनकी बदनामी करे, अब वह लड़की भी जानती थी कि ये सत्पुरुष हैं और वे सत्पुरुष भी जानते थे कि हमारा इसका कोई बुरा सम्बन्ध नहीं है। परन्तु दुनियामें सब लोग अपनी तरह उसको समझें और निन्दा करें। माने कहाँ तक अपने भावको शुद्ध करना चाहिए, यह देखो!

हमारा दिल शुद्ध रहे और दुनियामें जो हो रहा हो, सो होवे। क्योंकि अपने

शुद्ध हृदयमें परमात्मा प्रगट होता है, अपने शुद्ध हृदयमें परमात्माका निवास होता है, दूसरेके चरित्रकी शुद्धिका कोई ठेकेदार नहीं है।

एक महात्माका सत्संग हम लोग करते थे, तो कभी दूसरेकी चर्चा आगयी। आजकल तो दिनभर करते हैं दूसरेकी चर्चा। वे महात्मा बोले—क्योंजी, उसने तुमको अपने चारित्र्यकी रक्षाका कोई ठेका दिया है? उसने कोई पट्टा लिखा है? उसने तुमको जज बनाया है कि तुम उसकी आलोचना करो, निर्णय दो उसके बारेमें कि वह कैसा है! यदि उसने तुमको जज नहीं बनाया, यदि उसने तुमको पट्टेदार ठेकेदार नहीं बनाया तो उसके बारेमें तुम जो चर्चा करते हो, वह कोई हक रखकर चर्चा करते हो कि बेहक चर्चा करते हो?

भावकी जो शुद्धि है, सबके प्रति अपने मनमें पवित्र भावकी उपस्थिति। अपना हृदय पवित्र है तो सारी दुनिया पवित्र है। एक आता है श्रीमद्भागवतमें—**यथोपानत्पदः शिवम्।** एक आदमीको चलना था कहीं पैदल, तो बड़ी कँटीली धरती थी तो उसने सोचा क्या करें, रास्तेमें-से काँटा दूर करते हुए चलें, तो बोला—सारी धरतीका काँटा दूर करना तो हमारे लिए शक्य नहीं है, तब क्या किया? कि अपने पाँवमें जूता पहन लिया और काँटेके रास्तेसे निकल गया तो हमें सारी दुनियाको स्वच्छ बनाते हुए नहीं जाना है आगे, हमें अपने हृदयको सुरक्षित रखकर जाना है। भावसंशुद्धि माने अपने भावको हमेशा पवित्र रखना—

तेरे भावे जो करो, भलो बुरो संसार।
नारायण तू बैठके अपनो भवन बुहार॥

तुम अपने आँगनको साफ रखो। अपना-अपना आँगन सब साफ रखें, तो सारी दुनिया साफ रहे।

इसका अभिप्राय यह है कि असलमें जो दूसरेके दिलको गन्दा सोचते हैं, उनका दिल खुद ही गन्दगी सोचते-सोचते गन्दा हो जाता है। तो अपने दिलको साफ रखनेका उपाय यह है कि अपने भावको शुद्ध रखा जाय। जो तपस्या व्रत करके की जाती है, वह दूसरी है, और यह जो सामान्य रूपसे अन्तःकरणको शुद्ध करनेके लिए और ईश्वरकी प्रसन्नताके लिए जो तपस्या होती है, यह दूसरी है। तपस्यासे सब कुछ साध्य है। विश्वामित्रने तपस्यासे अनहोनी सृष्टि की, जो कहीं थी नहीं, ऐसी सृष्टि बना ली। तपस्यासे असाध्य भी सिद्ध हो जाता है। मरनेवाला भी अमर हो जाता है, बुड्ढा भी जवान हो जाता है, पापी भी पवित्र होकर परमात्माका प्यारा हो जाता है, यह तपस्यामें शोधनका बड़ा भारी सामर्थ्य है।

दानं—अब 'दान'की बात करें। मैंने गाँवमें देखा, बचपनमें अपने, जब किसीको दान करना होता, खासकरके ब्राह्मणोंमें यह रिवाज थी कि जब किसीको दान करना हुआ, तो अपने जमाईको बुलाया, अब अपने जमाईको दान दिया, तो वह तो अपनी लड़की और अपने दौहित्रको ही तो मिला न तो जहाँ सम्बन्ध है, वहाँ दान अदृष्टोत्पादक नहीं होता, उससे पुण्य उत्पन्न नहीं होता। अच्छा, फिर मैं बड़ा हुआ, तो मारवाड़ियोंके घरमें गया आपको मालूम नहीं होगा, मैं सात वर्ष गीताप्रेसके सम्पर्कमें रहा, रतनगढ़में बरसों रहा, चुरुमें, गोरखपुरमें रहा, उस सम्बन्धसे फिर कलकत्तेमें, मुम्बईमें, दूसरी जगह मारवाड़ियोंके घरमें जानेका खूब काम पड़ा। उनके जब कोई खुशी, व्रत, दानका दिन आवे, तो रसोइया महाराजको देते कि खुश रहेगा तो रसोई भी बढ़िया बनावेगा, अब रसोई भी बढ़िया बनावे और स्वर्ग भी दे। रसोइयेको खुश करनेके लिए देना चाहिए। यह नहीं कहते कि नहीं देना चाहिए, लेकिन उसको देना हो तो ईनाम-पुरस्कार देना चाहिए कि जिससे वह खुश रहे, बढ़िया रसोई बनावे। लेकिन; स्वर्गके लिए दान करना रसोइयेको तो ठीक नहीं है!

अब बाबाजी हुआ, तब क्या देखा? कि ज्यादातर लोग मिनिस्टरोंके सम्बन्धसे दान करते हैं। हम बिल्कुल विरोध नहीं करते, अस्पताल बनवाना बहुत बढ़िया काम है, स्कूल बनवाना बहुत बढ़िया काम है और मिनिस्टरोंके सहयोगसे बनवाना बहुत बढ़िया काम है, हम उसकी निन्दा नहीं करते हैं और यहाँ कई लोग बैठे होंगे, जो ऐसा करके बैठे होंगे, तो उनके ऊपर आक्षेप करना भी उचित नहीं है, हम आपको यह बात बताना चाहते हैं कि जब आप इन्कमटैक्स माफ करवानेके लिए दान करते हैं या परमिट लेनेके लिए दान करते हैं कि हमारा व्यापार बढ़ जाये, तो आपने दान किया तो उसका फल यहीं मिल गया, आपका इन्कमटैक्स कम हो गया, आपको जो पुलिसने पकड़ रखा था वहाँसे छूट गये, आपने बही-खातेमें जो गड़बड़ीकी थी, वह माफ हो गयी, परमिट आपको मिल गया।

यह दान खातेका जो पैसा है, फिरसे फायदा उठानेके लिए काम करना यह दान नहीं हुआ। वैसे तो समझो कि दानकी पद्धति है, पहले लौकिक दानकी ही बात आपको सुनाता हूँ, तीन समस्या मुख्य है—एक तो मनुष्यके जीनेकी, एक उसकी समझ बढ़नेकी और एक उसके सुखी रहनेकी। ये तीनों ही समस्याएँ क्यों हैं? आप सोचोगे तब मालूम पड़ जायेगा। यह परमात्मा सबरूप है, इसलिए जीना सब चाहते हैं। जी रहे हैं और जीना चाहते हैं। तो जीनेके लिए अन्न चाहिए, तो अन्नदान करो।

जीनेके लिए कपड़ा चाहिए, तो वस्त्रदान करो। जीनेके लिए औषधि चाहिए तो औषधि दान करो। जीनेके लिए पानी चाहिए तो पानी दान करो। माने जीनेके लिए जो-जो जरूरी हो आदमीको, और, जिसके पास कमी होवे उसको देना, यह सत्का दान है। और जो लोग अज्ञानी हैं, उनको विद्या दान करना, पुस्तकालय बनाना, वाचनालय बनाना, पढ़नेके लिए पुस्तक देना, विद्यार्थियोंको वृत्ति देना—यह चित्का दान है। चिदँश जो है परमात्माका, उसका दान है। और, यह मनुष्य दुःखी न रहे। पर दुःखी होता है कई बार भौतिक वस्तुओंकी कमीसे और कई बार मनुष्य अपने दिमागकी खराबीसे दुःखी होता है, माने मनकी गड़बड़ीसे दुःखी होता है। भौतिक वस्तुओंकी कमीसे जहाँ दुःखी है, वहँ उसको भौतिक वस्तु प्राप्त होनी चाहिए। अगर अन्न नहीं है तो अन्न मिलना चाहिए, वस्त्र नहीं है तो वस्त्र मिलना चाहिए। मकान नहीं है तो मकान मिलना चाहिए। ये भौतिक वस्तुएँ उसको मिलनी चाहिए। लेकिन जहाँ मिलनेपर ज्यादा मिलनेके लिए व्याकुल है, बीस हजारकी मोटर पर चलता है और लाख रुपयेवाली मोटरके लिए व्याकुल है अब वहाँ तो वस्तुकी कमीसे वह व्याकुल नहीं है, वहाँ अकलकी कमीसे व्याकुल है। क्योंकि उसके चित्तमें जो तृष्णा है, बड़प्पनका जो भाव है, वह उसको दुःख दे रहा है। ऐसी स्थितिमें तो सत्संग चाहिए।

रोग नहीं है, कहीं रोग हो न जाय इस डरसे व्याकुल है, मौत नहीं मौतके डरसे व्याकुल है, खाने भरके लिए है, पर अगली पीढ़ी क्या खायेगी इसके लिए व्याकुल हैं, दस वर्ष बाद लोग क्या खायेंगे, इसके लिए व्याकुल है। उसके दिमागमें कुछ गड़बड़ी है। यह राज्य, प्रजा दस वर्ष बाद क्या खायेगी, इसकी चिन्ता, जो हमारे शासनाध्यक्ष हैं, पूरे राष्ट्रके जिम्मेवार नेता लोग हैं, जातीय नेता हैं, सामाजिक नेता हैं, राजनीतिक नेता हैं, दस वर्ष बाद वाली व्यवस्था करनेका दायित्व उनके ऊपर है, दुःखी नहीं होना चाहिए उसके लिए। भरपेट खा लेते हैं और फिर फिक्र करके दुःखी होने लगते हैं कि अगली पीढ़ी हमारी कैसे खायेगी? अगली पीढ़ीके लिए अन्न नहीं मिलेगा, तब? कि आजसे मछली खाना शुरू कर दो। अरे अगली पीढ़ी तक भाई, ऐसे-ऐसे आविष्कार हो जायेंगे कि नये-नये अन्न पैदा हो जायेंगे। उनके लिए आजसे माँस खाना काहेको शुरू करते हो?

कहनेका अभिप्राय यह है कि बुद्धिके दोषसे जो दुःख होता है, उस बुद्धिके दोषको निवारण करनेके लिए सत्संगकी जरूरत है। ईश्वरके बारेमें जो अज्ञान है, उसके निवारणके लिए सत्संगकी जरूरत है। जीवनकी जो सद्भावयुक्त

प्रणाली है उसको जाननेके लिए, सत्संगकी जरूरत है। बुद्धिको शुद्ध बनानेके लिए सत्संगकी जरूरत है। और, बिना वस्तुके ही जो हमारे भीतर आनन्दका झरना बहता है, उसमें स्नानके लिए, उसमें डुबकी लगानेके लिए सत्संगकी जरूरत है।

अब दानकी प्रणाली देखो। एक तो मृत्यु, रोग, अभावके कष्टको दूर करनेके लिए स्वयं जीना और दूसरोंको जीने देना, स्वयं सच्ची समझ रखना और दूसरोंको सच्ची समझ प्राप्त होवे इसके लिए प्रयत्न करना, यह सत्संग भी बड़ा भारी दान है। स्कूल बनवाना जैसे दान है, अस्पताल बनवाना जैसे दान है, शरीरके रोगकी निवृत्तिके लिए अस्पताल है, मनके रोगकी निवृत्तिके लिए सत्संग है, और अन्नके अभावके दु:खकी निवृत्तिके लिए खेती है, अन्न उत्पादन है, और अभावकी कल्पनाका जो झूठा दु:ख है, उसके निवारणके लिए सत्संगकी जरूरत है।

दु:खकी निवृत्तिके लिए, आनन्दकी प्राप्तिके लिए, अज्ञानकी निवृत्तिके लिए, ज्ञानकी वृद्धिके लिए, मृत्यु और रोगकी निवृत्तिके लिए और एक सद्भाव युक्त जीवनकी प्राप्तिके लिए जो दान किया जाता है, तो उसमें अब देखो गोदान है, अन्नदान है, वस्त्रदान है, स्वर्णदान है, आजकल तो महाराज दान तरह-तरहके हैं, श्रमदान है, समयदान है, चक्षुदान है, अनेकों तरहके दान हैं। ये जो लौकिक दान होते हैं इनमें यदि अधिक-से-अधिक लोगोंको लाभ देना हो, तो अधिक-से-अधिक लोगोंको जानकारी कराना भी जरूरी होता है, भला! इसके लिए नोटिस भी छापना पड़ता है, लाउडस्पीकर भी लगाना पड़ता है, रेडियोमें भी बोलना पड़ता है, अखबारोंमें भी छपवाना पड़ता है, काहेके लिए? कि अधिक-से-अधिक लाभ लेना हो तो अधिक-से-अधिक काम करना पड़ता है। यह लौकिक है। पर अब देखो, दान कोई करता है शास्त्रोक्त रीतिसे, शास्त्रोक्त फलकी प्राप्तिके लिए। आपको सुनावें, जब संन्यासी होते हैं, तब एक दान करना होता है, वह केवल संन्यासी होनेके समय नहीं होता है, कर्मकाण्डकी कोई भी ऊँची विधि जब होती है, तब उसमें वह दान होता है। तो उसको बोलते हैं सर्वप्रायश्चित्।

बोले—अनादिकालसे जीवके रूपमें हम जो संसारमें भटक रहे हैं और जाने-अनजाने तरह-तरहके पाप हुए, तो उन पापोंका प्रायश्चित् करना—सर्वप्रायश्चित्त उसको बोलते हैं। यह संन्यासका भी अंग है और बड़े-बड़े जो

यज्ञ करते हैं, उनमें अधिकारी होनेके लिए भी पूर्वाङ्ग रूपमें सर्वप्रायश्चित्त कराया जाता है।

अब देखो शास्त्रोक्त रीतिसे नहीं करोगे तो होगा ही नहीं। पितरोंको पिण्डदान करते हैं, बोले ऐसे ही खीर बनाकर पिण्ड बनाकर डाल दो, तो वह कैसे होगा? पितर तो बिना शास्त्रके जाने ही नहीं जाते, जो चीज शास्त्रसे ही जानी जाती है, उनके लिए जो काम किया जायेगा वह शास्त्रकी रीतिसे ही किया जायेगा। जो श्राद्ध शास्त्रोक्त रीतिसे नहीं होगा, वह पितरोंके लिए तृप्तिकारक नहीं होगा और कर्ताके लिए सुखकारक नहीं होगा, अपने मनसे पिण्ड देनेसे पुण्य थोड़े ही प्राप्त होगा!

देखो; शिवपुराणमें वह कथा आयी है मैंने आपको सुनाया होगा—भीष्मपितमाहने जब पिण्ड उठाया अपने पिताको देनेके लिए, तो पिताका हाथ निकल आया, रुक गये भीष्म पितामह, उन्होंने ब्राह्मणोंसे पूछा कि पिण्डदान कहाँ करें पिताके हाथपर करें कि कुशपर करें? ब्राह्मणने कहा कि भीष्म पितामह! कुशपर पिण्ड दान करो, क्योंकि फिर दूसरे लोग भी कहने लगेंगे कि हमारे बापका हाथ निकले तो पिण्डदान करें। तो श्राद्धकी परम्परा भंग हो जायेगी, इसलिए शास्त्रोक्त रीतिसे करो, तुमको फल होगा। आकाशवाणी हुई कि भीष्म! तुम्हारे धर्मज्ञानकी परीक्षा करनेके लिए यह हाथ निकाला गया था कि तुम धर्मज्ञानमें कितने निपुण हो? तो यह दान शास्त्रोक्त रीतिसे सम्पन्न होता है।

दान देनेके लिए भी देश चाहिए? स्थान चाहिए। किस स्थानमें दान दें? चंडुखाना दान देनेकी जगह नहीं है, सिनेमा घर दान देनेकी जगह नहीं है। समय होना चाहिए दान देनेके लिए, अवसर होना चाहिए, पवित्र तिथि हो, पवित्र स्थान हो, लेनेवाला अधिकारी होना चाहिए—पात्र होवे।

देशेकाले पात्रे च तद्दानं सात्त्विकं स्मृतम्।

दान अखबारमें छपवाकर नहीं दिया जाता। अखबारमें छपवानेसे क्या होता है? कि यश मिल जाता है, यश मिल जानेसे उसका लौकिक फल हो जाता है, लौकिक फल होनेसे स्वर्गके लिए कुछ बचता ही नहीं। अदृष्टके लिए तो कुछ बचता ही नहीं, वह तो अखबारमें छप गया। चिड़ावामें एक बड़े त्यागी ब्राह्मण थे, वे किसीसे कोई प्रतिग्रह नहीं लेते थे। तो वहाँके जो सेठ लोग थे, उनके मनमें यह बात रहती थी कि कैसे इनके घरमें कुछ पहुँचावें। जब दही जमाते, तो उसमें गिन्नी डाल देते और पंडितानीके पास भेज देते। अब पंडितानी जब दही निकालती, तब

उसमें-से गिन्नी निकलती तो पंडितजीको बताती नहीं, रख लेतीं। माने पंडितजीको भी पता न चले और पंडितजीके घरमें गिन्नी पहुँच जाय।

हमारे अपने घरकी बात, मैंने देखी नहीं, सुनी है भला! सुनी है मतलब हमारे पितामह सुनाते थे। जब हमारे पितामह बच्चे थे, यह बात होगी संवत् 1910 की लगभग सौ बरस पहलेकी बात होगी, हमारे पितामह हमको सुनाते थे। घरमें चावल नहीं होता था। तो जब कभी मेहमान आते तो चावलकी जरूरत पड़ती, उस दिन चावल बनता, तो कहते, हम उस दिन बहुत खुश होते कि आज हमारे घर भात बन रहा है, ताली बजा-बजाके नाचते कि आज हमारे घरमें भात बन रहा है यह सौ-सवा सौ बरस पहलेकी बात है। तो गाँवमें एक छोटी जाति-बिन्द जातिका आदमी रहता था, उसका मकान भी बढ़िया था, खेत भी उसके पास ज्यादा थे, खेती भी अच्छी होती थी। तो वह गाँवभरकी खबर रखता था कि आज किसके घर मेहमान आया है और वह करता क्या था कि अपनी पत्नीको साग बेचनेवाली जैसे होती हैं, दही बेचनेवाली; ऐसे बनाता था और टोकरीमें दाल, चावल, घी, दही, सब्जी रखकर कपड़ेसे ढँककर वह स्त्री बोलती हुई आती, कोई दही लेगा, दही! अरे कोई सब्जी लेगा सब्जी! किसीको मालूम पड़े नहीं, घरमें घुस जाय और वहाँ जाकर सब खानेका समान, हम लोगोंके घरमें देकर जाती थी कि जिससे मेहमानको ठीक खिलाया जाय। वह सबके घरके मेहमानकी खबर रखता था। अब महाराज, आजकल हमने देखा है, जिस समय लोग एक रुपयेके नोटकी जगह दो रुपयेका नोट देना पसन्द करते हैं, जब उदारता बढ़ती है, तो उस नोटको ऐसे ढंगसे टेढ़ा करके पकड़ते हैं कि देखनेवालोंको मालूम पड़े, कहीं एक ही न समझ लें लोग, यह दो हैं भाई, दो, देख लो!

यह जो विज्ञापनकी प्रक्रिया है, यह दानमें, धर्ममें नहीं चलती है भला। तो यह दान करनेकी, तप करनेकी वृत्ति भगवान्‌की बड़ी कृपासे भीतर आती है, नहीं तो लोग रखे-रखे मर जाते हैं, हमने साधुओंके यहाँ देखा, गृहस्थियोंके यहाँ देखा—जिन्दगी भर कमाया, खुद न खाया, न दूसरेको खिलाया, जब मर गये तो ऐसे लोगोंके हाथ लगा जिसको वे बिल्कुल देना नहीं चाहते थे।

तो मनुष्यको अपने जीवनमें तप और दान, यह जो भगवान्‌की दी हुई वृत्ति है, उसका सदुपयोग करना चाहिए, यह हमारे कल्याणके लिए दी हुई है।

☆

तपोदानं यशोऽयशः—भगवान् श्रीकृष्ण कहते हैं जब कभी तप करनेकी प्रेरणा प्राप्त होवे; तप माने इन्द्रिय-संयम, अपने-अपने धर्मके अनुकूल इन्द्रियोंका संयम। धर्मके विरुद्ध जो इन्द्रियोंका संयम है, उसको तप नहीं मानते, धर्मके अनुकूल इन्द्रियोंका संयम हो तो समझना कि गीता वक्ता भगवान् हमको अपनी ओर बुला रहे हैं। जब भगवान्‌का मन अपनी ओर बुलानेका होता है, तब वे तप करनेकी प्रेरणा देते हैं। बोले—भाई तप तो करें, यह तो शरीरके साथ तपका सम्बन्ध है, इन्द्रिय है, मन है, इनको निवृत्त करना और बाहर जो चीजें पड़ी हैं उनका क्या करें? बोले—दानं। ये तो किसीके पास जानेवाली हैं नहीं। कोई चीज किसीके साथ अबतक गयी नहीं है। भर्तृहरिका एक श्लोक है—

अवश्यं यातारः चिरतरमुषित्वाऽपि विषयाः।

ये संसारके विषय दस दिन ज्यादा रहें, दस दिन कम रहें, यह तो भले हो जाय, लेकिन जायेंगे जरूर, जायेंगे अवश्य!

वियोगे को भेदस्त्यजति न जनो यत्स्वयमभुम्।

अब इसपर सवाल यह है कि जब जायेंगे और जरूर जायेंगे, तो वियोग तो होगा ही। इनको जिन्दा रहते छोड़ दें या मरने पर यह छूटें, जब छोड़ना अनिवार्य है, तो हम इनको जान-बूझकर क्यों नहीं छोड़ देते हैं, क्योंकि छूटना तो है ही। और छूटना एक सरीखा ही है। छूटनेमें कोई भेद नहीं है। अरे एक भेद है, वह क्या? कि—

व्रजन्तः स्वातन्त्र्यादतुलपरितापाय मनसः।

अगर ये विषय तुमको छोड़कर चले जायेंगे स्वतन्त्रतासे, तो तुम्हें बहुत दुःख होगा। और, **स्वयं त्यक्ता ह्येते समसुखमनन्तं विदधति।** यदि स्वयं इनका परित्याग किया जाय, तो छोड़नेका भी मजा आता है।

पाँच रुपया कमाया तो कमानेका मजा आया और पाँच रुपया दिया, तो देनेका भी मजा आया, लेकिन अगर वह पाँच रुपया कोई चोर ले गया या किसीने छीन लिया, या कहीं छूट गया, या मजबूरीसे छोड़ना पड़ा, तो छोड़नेके समय

बड़ा दु:ख होगा। इसलिए जब कभी हृदयमें दानका भाव आवे, तो उसको तुरन्त ही पूरा करना चाहिए। ऐसा नहीं कि फिर पूरा कर लेंगे नहीं, जबतक लोभ न आवे और लोभ आकर तुम्हारे मनको दबा न दे, वे तो बारी-बारीसे आते रहते हैं, कभी उदारता आती है कभी लोभ आता है। एक बार उदारताका भाव जब चित्तमें आवे, तो उसको कबतक पूरा कर लेना चाहिए? कहीं दूसरी वृत्तिके रूपमें लोभ न आजाय। लोभ आजाय और रोक दे, अच्छे काममें रुकावट लगा दे, तो उससे पहले दान करना चाहिए।

आपको बताया कि दानकी कई श्रेणी होती है। संस्कृतमें दान सम्बन्धी कई ग्रन्थ हैं, दानका विवेक करनेके लिए, हेमाद्रिका एक दानखण्ड है, श्रीमद्भागवत जितना बड़ा ग्रन्थ है, इतना बड़ा ग्रन्थ केवल दानके विषयमें है। हेमाद्रि राजाके मन्त्री थे, तो उनको राज्यमें दानकी व्यवस्था करनी पड़ती थी, दानाध्यक्ष थे। कैसे-कैसे दान होते हैं अद्भुत-अद्भुत, इसका उसमें निरूपण है। हेमाद्रिका दानखण्ड, उसका नाम है चतुर्वर्ग-चिन्तामणि।

आप लोगोंको यदि हम यह बताने लग जायँ कि अन्नका दान कैसे, सोनेका दान कैसे, चाँदीका दान कैसे, तिलका दान कैसे, जौका दान कैसे, यह तो 'बाढ़हि कथा पार नहीं लहई' इसकी कथा अनन्त है, पर दानके सम्बन्धमें दो-चार बातें जानने लायक जरूर हैं। उनमें-से एक यह है कि दान अपने अन्त:करणकी शुद्धिके लिए किया जाता है। देखो, तुम यह समझो कि जितने-जितने गरीब हैं और गरीबोंकी जो-जो जरूरत है, उसको हम पूरी करेंगे, तो इसका सामर्थ्य सृष्टिमें किसीमें है नहीं, हुआ नहीं, आगे होगा नहीं। क्योंकि गरीब अनगिनत हैं, जरूरत मन्द बहुत ज्यादा हैं और एक-एककी जरूरत बड़ी-बड़ी है। तो जो यह समझता है कि हम सब जरूरतमन्दोंकी जरूरत पूरी कर देंगे, वह तो गलत समझता है।

तब दान कहाँसे आना चाहिए? अपने हृदयकी प्रेरणासे आना चाहिए। यह जब दिलमें भभके कि देना चाहिए, ऐसे आदमी होते हैं कि उनको दिये बिना तकलीफ होती है। ईश्वर करे आपलोगोंके हृदयमें ऐसी तकलीफ आवे कि दिये बिना रहा न जाय। यह शुद्ध अन्त:करणका लक्षण है। अच्छा, आप जिसको देना चाहते है, जब वह बिलकुल गरीब हो जायेगा, रोगी हो जायेगा और उसके शरीरपर कपड़े नहीं रहेंगे और खानेको अन्न नहीं रहेगा, तब आप उसको चार पैसा देंगे, आप उसका नाश करना चाहते हैं कि दान करना चाहते हैं? जब उसको ऐसी

जरूरत पड़ेगी कि हमारे दिये बिना उसका काम न चले, तब देंगे! इससे बढ़ करके दानके अधिकारीका तिरस्कार और क्या हो सकता है?

तो दान अपने हृदयका उत्साह है उसमें बाहरके जरूरतमन्द आदमीकी जरूरत नहीं है। दूसरी बात यह है कि आप चाहे कितना भी दान करें, दान करनेके बाद यह नहीं आना चाहिए कि हमने इतना दिया। देखो दुनियामें आपने क्या दिया? जब जरूरतकी दृष्टिसे देखें तो यहाँ अरबों गैलन पानीकी जरूरत है, वहाँ आपने एक प्याला भी पानी नहीं दिया।

हमारे एक मित्र थे, गीताप्रेसमें पहले रहते थे, उनका नाम है भुवनेश्वर नाथ मिश्र 'माधव' कई बहुत अच्छी-अच्छी पुस्तकें लिखी हैं। आजकल वे बिहारके शिक्षा विभागमें डाइरेक्टर हैं। गीताप्रेसमें उनकी तनख्वाह अस्सी रुपया महीना थी, अब दो हजार रुपयेकी जगह पर हैं। तनख्वाहकी दृष्टिसे वे काम भी नहीं करते थे। वह तो एकबार एक अधिकारीने उनसे पूछा—आप 'कल्याण'के काममें कितने घण्टे लगाते हैं? तो जा रहे थे शौच, ऐसा कष्ट हुआ उनको कि लोटाका पानी फेंक दिया और आकर लेट गये खाटपर और उन्होंने बताया कि रातमें जब सोता हूँ, तब सोचता हूँ कि 'कल्याण'के अगले अंकमें कौन-कौनसी सामग्री संग्रह करें, कौन-कौनसे लेख लिखें, क्या-क्या बैठावें तब वह सुन्दर होगा? हमारी नींदका समय भी 'कल्याण'के कामके लिए जाता है और हमसे पूछा जाता है कि आफिसमें बैठकर तुम कै घंटे काम करते हो? जहाँ सेवककी सेवा कोई न समझे, वहाँ स्वामी तो बहुत समझदार नहीं हुआ। तो फिर वहाँसे निकल गये और जाकर एक कालेजमें प्रोफेसर होगये, फिर उसके प्रिंसिपल होगये। जब कांग्रेस सरकार बनी तो उसने उनको अपने शिक्षा-विभागमें डाइरेक्टर रख लिया। बिहार राष्ट्र भाषा परिषद्का बड़ा भारी प्रकाशन कार्य है, वह सारा उनकी देखरेखमें होता है। वही उसके अध्यक्ष हैं।

तो क्या बात मैं कह रहा था? उनकी कोई बात आपको सुनाना चाहता था। उनका इतिहास बतानेमें वह बात दिमागसे उतर गयी। वे कहते थे—ये लोग दान कैसा करते हैं! बोलो कि बड़ा भारी पानीका सरोवर भरा हो घरमें और आदमी दूबसे, तिनकेसे उसमें-से पानी निकाले और सूखी जमीनमें ले जाकर छिड़के और फिर अभिमान करे कि मैंने धरती सींच दी। तो जैसे यह उसका अभिमान बिलकुल गलत है।

हमने ऐसे लोग देखे हैं कि जिनके पास दो रुपया था कुल उन्होंने दो रुपया

दे दिया। इसका दान बड़ा हुआ कि जिसके पास अरबों करोड़ों रुपये हों वह सौ-दो सौ रुपया दान करें?

तो अगर तुम्हारा माल हो तो दान करो। यह माल तो तुम्हारा है ही नहीं, यह तो ईश्वरका है। बोले—ईश्वरके सामने हाथ जोड़कर यह कहना कि हे प्रभु! यह माल तो तुम्हारा है, इसको गलतीसे मैंने अपना समझ लिया था, मेरी गलती थी, मैं दे नहीं रहा हूँ, मैं तो अपनी गलती मिटा रहा हूँ।

जैसे देखो, सोशलिष्ट कहते हैं कि सम्पत्ति समाजकी है, व्यक्तिकी नहीं है। कम्युनिस्ट कहते हैं कि सम्पत्ति श्रमिककी है, मालिककी नहीं है। मजदूरकी है, जो परिश्रम करे उसकी सम्पत्ति। बोले—सम्पत्ति सबकी मिली-जुली है, समाजकी है। राष्ट्रवादी कहते हैं कि सम्पत्ति राष्ट्रकी है। और विश्ववादी कहते हैं कि सारी दुनियामें सरकार एक होनी चाहिए और विश्वमें जहाँ जरूरत हो वहाँ सम्पत्तिका उपयोग होना चाहिए। भक्तलोग कहते हैं कि सम्पत्ति ईश्वरकी है, मेरा कुछ नहीं है, सब तेरा है।

तो देना इस दृष्टिसे चाहिए, कि जिसको देना उसमें ईश्वर बुद्धि करके देना, यह दानकी एक पद्धति है। बोले—भला ईश्वरको पैसेकी क्या जरूरत! अरे हम पैसेकी बात कहाँ कर रहे हैं! यह पेड़में-से फूल जब तुम चुनते हो, तो वह पेड़ ईश्वरका, वह फूल ईश्वरका और असलमें ईश्वरपर चढ़ानेके लिए होता है, अपने ऊपर चढ़ानेके लिए नहीं होता। तो वह फूल, वह चन्दन **त्वदीयं वस्तु गोविन्द तुभ्यमेव समर्पये**। जहाँ ईश्वर-बुद्धि होवे, वहाँ ईश्वरकी सम्पत्ति ईश्वरको समर्पित करना, यह दान हुआ।

बोले—भाई, पहले ईश्वरकी सम्पत्तिको अपनी समझना, फिर उसको देना, इससे बढ़िया तो यह होगा कि जो जहाँ है, वहाँ रहे, सब ईश्वरका। अपना नहीं समझना। अपना स्वत्व हटाकर, दूसरेका स्वत्व उत्पन्न करना, इसका नाम दान होता है। और, अपना स्वत्व हटा लेना—इसका नाम त्याग होता है।

दान और त्यागमें क्या फर्क है? दानमें दोहरा भाव है—अपना हक हटाना और दूसरेका हक पैदा करना। और, त्याग जो होता है, उसमें अपना हक हटा लिया जाता है, जो तुम्हारी मर्जी हो सो करो—**मम नाथ यदस्ति योऽस्म्यऽहम् सकलं तद्ध तवैव माधव**। हे स्वामी, हे नाथ, जिसको मैं आजतक मैं-मेरा करता रहा, वह न मैं हूँ न मेरा है। **नियत स्वमिति**—यह बात बिलकुल पक्की है कि सृष्टिके मालिक तुम्हीं हो। यह बात मैं जान गया। अब मैं तुम्हें क्या समर्पण करूँ?

असलमें यह सम्पत्ति भगवान्की है, हम उसके केवल रक्षक मात्र हैं, मुनीम मात्र हैं, केवल ईश्वरकी आज्ञासे उसका उपयोग करनेवाले हैं, उस सम्पत्तिका अभिमान धारण नहीं करना चाहिए।

'यह हमारी लड़कीके रूपमें लक्ष्मी आयी है—**लक्ष्मी रूपिणीं इमां कन्यां**—हर विवाहमें जो संकल्प होता है, वह यही होता है—हमारी कन्या लक्ष्मीरूप है और होता है **श्रीधर रूपिणे वराय**—'वरके रूपमें साक्षात् नारायण आये हैं। उनकी लक्ष्मी उनको देते हमारा क्या लगता है!' देखो, जैसे लड़कीके बारेमें है, वैसे ही सम्पत्तिके बारेमें है। यह नारायणको ब्याह करनेका शौक है। लक्ष्मीको घर-घर भेजते हैं कि जाओ, वहाँ लड़की बनकर आओ और हमसे ब्याहो। वे भी तरह-तरहके रूप धारण करके आते हैं। वे भी लक्ष्मीको सम्पत्ति बनाकर घर-घर भेजते हैं कि फिर घर-घरसे लौटकर हमारे पास आओ।

यह जो लीला, यह जो क्रीड़ा नारायणकी है, यह लीला है। देना और लेना, **ददाति-प्रतिगृह्णाति**। तो शास्त्रमें सबसे बड़ा दान क्या माना गया है? दान तो बहुत प्रसिद्ध है। अन्नका दान, वस्त्रका दान, औषधदान, स्वर्ण दान, तुला दान, छाया दान, बहुत सारे दान प्रसिद्ध हैं शास्त्रमें, शैय्या दान, धूनी दान, अश्व दान, गज दान, गोदान, विद्या दान भी दान है। लोगोंको जैसे ज्ञान मिले, वैसे ज्ञानदान करना भी दान है। सबसे बड़ा दान क्या है? शास्त्रमें इसका निर्णय दिया हुआ है, अभयदान सबसे बड़ा दान है।

अभय दान—जो लोगोंके मनमें तरह-तरहका डर बैठा हुआ है, पुनर्जन्मका डर, नरकका डर, जन्मजन्मान्तरका डर, राजाका डर, ईश्वरका डर, यमदूतका डर, यह जो डर लोगोंके हृदयमें बैठा हुआ है, यह डरके लिए संस्कृतमें 'दर' शब्द है। तो ऐसा ज्ञान लोगोंको देना, जिससे यह भय मिट जाये। लोगोंके दिलमें जो मरनेका भय है जो रोगी होनेका भय है, जो दुःखी होनेका भय है, दरिद्र होनेका भय है, जो बेवकूफ बननेका भय है, जो भयाक्रान्त हैं लोग, उनके मनसे भयको मिटा देना, यह सबसे बड़ा दान माना गया है। यह अभय दान तो केवल महात्मा ही कर सकता है। अज्ञानसे जितने भय हैं, उन सब भयोंको वही मिटा सकता है, जो ज्ञानदान करे! इसलिए जब संन्यास लिया जाता है, तब यह संकल्प करना पड़ता है—

अभयं सर्वभूतेभ्यो मत्तः अस्तु स्वाहा।
अभयं सर्वभूतेभ्यो दत्त्वा प्राव्रज्यमाचरेत्।

संन्यास लेना माने, अब हम तुम्हारा धन नहीं छीनेंगे, अब कपड़ा नहीं छीनेंगे, अब हम अपने हकका कोई दावा नहीं करेंगे। सब हमसे निर्भय हो जाओ, तुम अपराध भी करोगे, तो दंड नहीं देंगे।

'निर्भय हो जाओ'—यह संन्यासीका संकल्प है! निर्भय हो जाओ, तुम अपराध भी करोगे तो दंड नहीं देंगे। यह संकल्प है। मतलब यह है कि संसारको छोड़. और तपस्याकी प्रेरणा माने अन्तर्मुख हो जाओ—ये दोनों भगवान् देते हैं, हृदयमें बैठकर। जिसके ऊपर प्रसन्न होते हैं, उसको देते हैं। और नहीं तो जिसको अपने पास नहीं बुलाना चाहते, वह मुट्ठी बाँधके रखता है, अपनी इन्द्रियोंको खुली छोड़ देता है।

अपनी इन्द्रियोंको खुली छोड़ देना और मुट्ठी बाँधकर रखना—ये दोनों काम भगवद्-भावनासे विपरीत जानेवाले हैं।

यशोऽयशः। भगवान् यश भी देते हैं और अयश भी देते हैं। यशके सम्बन्धमें भी लोगोंकी भावना बड़ी विचित्र है। किसीको यही यश प्राप्त है कि कुश्ती लड़नेमें बेजोड़ हैं। बड़े भारी पहलवान हैं 'गामा'का नाम देखो, बड़ा प्रसिद्ध है। तो कई लोग सोचते हैं हमारा नाम फैल जाये—यही यश है। नाम फैलनेका नाम यश नहीं है। बदनामीमें भी तो नाम फैलता है—एक बात यह भी है—

'अगर बदनाम होंगे तो क्या नाम न होगा?'

हमारे गाँवके पास एक गाँवमें एक लड़केका दिमाग खराब होगया था, तो वह जाकर कुएँपर टट्टी कर दे, धोबीका गधा मिल जाय, तो उसपर चढ़कर घूमे; लोगोंने कहा कि ब्राह्मणके लड़के होकर क्या काम करते हैं। बोले—वैसे तो हमारा नाम कोई लेता नहीं, और अब तो सवेरे गाँव भरमें हमारा नाम फैल जाता है कि कुएँपर टट्टी कौन कर गया? कि भाई उसीका काम है। सारे गाँवमें हमारा नाम फैल जाता है सबेरे-सबेरे। तो अगर इस तरहसे अपना नाम फैलाना होवे; तो यह नाम फैलनेका तो कोई तरीका नहीं है।

चार जोड़े माने आठ वस्तुएँ दो-दो होकर आयीं और बारह बातें एक-एक करके आयीं। कुल बीस बातोंका इसमें वर्णन है—बारह और आठ। बुद्धि, ज्ञान असंमोह, क्षमा, सत्य, दमः, शमः, अहिंसा, समता, तुष्टि, तप, दान—ये बारह और सुख-दुःख, भव-अभाव, भय-अभय, यश-अयश—और ये आठ माने चार जोड़े।

इन बीस बातोंमें भगवान् चार बातोंको उलटी-सीधी बोलते हैं और आठ

बातोंको बिलकुल सीधे-सीधे बोलते हैं। यह बात सोचनेकी है। नहीं तो भगवान् क्षमा भी दे और अपराधीको दण्ड भी दे और भगवान् सत्य भी दे और असत्य भी दे और दम भी दे और भोग भी दे, शम भी दे और अशम भी दे—ऐसा?

यदि सबके विपरीत भावको देना होता तो चार ही भावको विपरीत भावमें युक्त वर्णन करना और बाकीको इकहरा वर्णन करना—यह कैसे आता?

तो इसके कई प्रकारके उत्तर महात्मा लोग देते हैं। सुख-दुःख तो कर्मानुसार प्रारब्धसे आता है जिसने पुण्य किया उसको भगवान्‌ने सुख दिया, जिसने पाप किया उसको दुःख दिया। अब जब प्रारब्धके अनुसार दुःख देना है; दुःख तो प्रारब्धके अनुसार आता है, भोग है। तो दुःख भगवान् देते हैं। लेकिन अब कहो कि झूठ बोलना भी भगवान् देते हैं तो झूठ बोलना तो कर्म है, झूठ बोलनेका कर्म भगवान् कैसे देंगे?

अब इसी तरहसे जन्म और मरण जो प्रारब्धके अनुसार होता है, उसको तो भगवान् देते हैं और मनुष्यके मनमें भय और अभय जो है, वह सतानेके लिए, हल्के अपराध जो होते—हैं उनका फल भयके रूपमें आता है और हल्के जो पुण्य होते हैं उसका फल अभयके रूपमें आता है। और **यश-अयश**— ये भी आता है। तो असलमें ये चारों जो बातें हैं, चारों जोड़े हैं, ये दोनों हालतमें सुख-दुख देनेवाले होते हैं। किसीका दुःख होनेसे ही कल्याण होता है, ऐसे लोग भी होते हैं, किसीका मृत्युसे भी कल्याण होता है, किसीका भयसे ही अन्तःकरणकी शुद्धि और निर्माण होता है, डर-डरके आदमी ठीक रहे और अपयशसे भी किसीका कल्याण होता है। साधुओंके बारेमें तो यह मशहूर है कि वे जानबूझकर ऐसा काम करते हैं कि बदनामी होवे, यह शास्त्रमें ऐसे लिखा है—

तथा तथा चरेद् योगी सतां वृत्तिमगर्हयन्।
जना यथाऽवन्यन्येरन् गच्छ्युर्नैव संगतिम्॥

जब भगवान् किसी साधुको भीड़-भाड़से बचाना चाहते हैं कि यह एकान्तमें रहकर भजन करे तो उसको अपयश दे देते हैं। अयश भी देते हैं भगवान्। अयश दे देंगे तो लोग उसके पास जायेंगे नहीं और जायेंगे नहीं तो उसका भजन बना रहेगा।

भाई! कोई काम बुरा करने आदमी जारहा है तो उसको डरा दिया भगवान्‌ने, तो बुरे कामसे बच गया। एक असुर है, उसको भगवान् आकर खुद मारते हैं, मौत देते हैं उसको, तो मौत देनेसे वह असुर योनिसे मुक्त हो जाता है,

उसका कल्याण होता है। और, किसीको भगवान् ऐसा दु:ख देते हैं कि उसकी तपस्या हो जाय।

तो ये जो भोग हैं—दु:खरूप, जन्मरूप, मृत्यु-रूप, भय-अभयरूप, यश-अयशरूप, ये तो भगवान् दोनों ही हालमें जीवका कल्याण करनेके लिए देते हैं, लेकिन, अगर भगवान् किसीको क्रोध देते हैं कि वह किसीके ऊपर प्रहार-हिंसा करने लग जाय, किसीको दंड देने लग जाय, झूठ बोलने लग जाय; तो झूठ बोलनेसे तो किसीका कल्याण नहीं होगा।

फिर ? बोले—ये चार जोड़े भगवान् देते हैं और बाकी जो हैं, वह मनुष्यकी गलतीसे आते हैं—

अज्ञानेनावृतं ज्ञानं तेन मुह्यन्ति जन्तवः। 5.15
काम एष क्रोध एष रजोगुण समुद्भवः। 3.37
महाशनो महापाप्मा विद्ध्येनमिह वैरिणम्। 3.37

तुम्हारा दुश्मन है काम और क्रोध। अपने दुश्मनको पहचानो। काम और क्रोधका बाप कौन है ? बोले—अज्ञान। अज्ञानसे ये काम और क्रोध आते हैं और वे बुरे रास्तेपर ले जाते हैं।

अब आगेका विचार करो, एक बात तो यह बन गयी कि प्रारब्ध जो है, उसका भोग देते हैं भगवान् और जो बुरे कर्म और बुरे भाव हमारे चित्तमें आते हैं वे अज्ञानसे आते हैं। अज्ञानको अगर मिटा दिया जाय, तो बुरे भाव और बुरे कर्म मिट जायेंगे और मनुष्य पवित्र हो जायेगा। अब यह प्रश्न हुआ, भगवान् किसीको बुराई क्यों देने लगे? फिर यह प्रश्न उठा कि जो बुराई है वह भी तो क्षेत्रके अन्तर्गत है न!

इच्छा द्वेषः सुखं दुःखं संघातः चेतना धृतिः।
एतत्क्षेत्रं समासेन सविकारमुदाहृतम्॥ 13.6

राग भी क्षेत्रके अन्तर्गत है और द्वेष भी क्षेत्रके अन्तर्गत है। संघातः—यह शरीरका संघात ही क्षेत्र है। चेतना, धृति—ये सब संघातके अन्तर्गत हैं, ये सबके सब प्राकृत विकार हैं। इसमें अज्ञान और कामरूप शत्रुकी क्या बात है? मान लो ये कल्पित कामसे होती हैं, मान लो यह गलती अज्ञानसे होती है, मान लो यह गलती प्रकृतिसे होती है, तब फिर यह प्रश्न आया कि मैं तो क्षेत्र नहीं। कंकड़-फूस-घास भी खेतमें होते हैं और बोया हुआ अनाज भी खेतमें पैदा होता है। ये हैं तो दोनों खेतमें।

तो बोले—कि नहीं, ये विकार हैं। **एतत्क्षेत्रं समासेन सविकारमुदाहतम्।** कुछ लोग ऐसे इसकी व्याख्या करते हैं कि महाभूत, अहंकार, बुद्धि, अव्यक्त, दस इन्द्रियाँ और मन और पाँच विषय ये तो हैं प्रकृति-क्षेत्र; और इच्छा द्वेषः सुखं दुःखं संघातश्चेतना धृतिः—ये सब 'क्षेत्रं समासेन सविकारम्'। पहले श्लोकमें क्षेत्रका वर्णन है और दूसरेमें विकारका वर्णन है! माने राग और द्वेष-ये क्षेत्रके विकार हैं, ये क्षेत्र नहीं हैं। ये खेतके बिगाड़ हैं। जिस खेतकी ठीक-ठीक सेवा नहीं की गयी, ठीक-ठीक जिसकी जुताई, निराई नहीं हुई, जिसमें खाद नहीं पड़ी, जिसके कंकड़ नहीं चुने गये, जिसके ढेले नहीं फोड़े गये, उस खेतमें ये सब विकार होते हैं और जिन्होंने अपने अन्तःकरणको शुद्ध किया है, उनके खेतमें ये विकार नहीं होते हैं।

अब दूसरी बात। देखो जी, ये प्रकृतिके ही तो विकार होते हैं। तो,

मयाध्यक्षेण प्रकृतिः सूयते सचराचरम्।
हेतुनानेन कौन्तेय जगद्विपरिवर्तते॥ 9.10

प्रकृतिमें जो भी पैदा होता है, उसमें प्रेरक रूपसे भगवान् मौजूद हैं, उसका मतलब हुआ कि अनादि जीव, उसका अनादि अज्ञान, उसका अनादि अन्तःकरण और उसमें अनादि कर्म-संस्कार। भगवत्प्रेरणासे यह अनादि जीव अपने अनादि अन्तःकरणमें जैसे संस्कारोंकी परम्पराको धारण करता है, उसके अनुसार भगवत्-सत्तासे ही, प्रकाशमात्र जो भगवत्सत्ता है, जैसे सूर्यकी रोशनीमें चोर चोरी करे और जैसे साहूकार-साहूकारी करे, इस प्रकार रोशनी तो है ईश्वरकी, लेकिन अपने-अपने कर्मसंस्कारानुसार अन्तःकरण बरत रहे हैं। **यशोऽयशः**—कभी यश भी मिलता है, कभी अयश भी मिलता है, इसमें डरना नहीं।

देखो, जैसे जीवनमें सुख आता है-कभी दुःख भी आता है, जन्म होता है, मरण भी होता है, कभी डरते हैं, कभी निर्भय होते हैं और कभी संसारमें यश मिलता है और कभी अपयश है, जैसे रातके बाद दिन और दिनके बाद रात कालमें होता है कि नहीं? बरसातके बाद जाड़ा, जाड़ेके बाद गर्मी, गर्मीके बाद बरसात, जैसे कालचक्र चलता है, वैसे इस अन्तःकरणमें भी एक चक्र चलता है। जैसे सड़कपर मोटर जब चलते हैं तो कहीं अच्छी सड़क मिलती है—कहीं खराब सड़क मिलती है, कहीं ठूँठ मिलता है कहीं फूल मिलता है; वैसे ही जीवनके मार्गमें मनुष्य जब चलता है, तो सुख-दुःख, भय-अभय, यश-अपयश—ये सब आते-जाते रहते हैं, जैसे घरमें रसोई बनती है, रोज-रोज बढ़िया बनती है, कभी

बिगड़ भी जाती है ना, कभी कड़वी तोरईका साग बन जाता है गलतीसे, कभी कड़वा परवल बन जाता है, कभी खीर बनाते हैं बड़े प्रेमसे और जल जाती है? तो यह सबको जैसे पार करते चलना पड़ता है, जिसके घरमें रसोई बनेगी, उसके घरमें कभी बिगड़ेगी भी, जिसके दिन आवेगा, उसके रात भी आवेगी, जिसके जन्म होगा, उसके मरण भी होगा, जो निडर होगा, वह कभी डरेगा भी और जिसको यश मिलेगा, उसको अपयश भी मिलेगा। यह सृष्टि-चक्र ऐसे ही चल रहा है। कालिदासका वचन है—**नीचैर्गच्छत्युपरि च दशा चक्रनेमिक्रमेण**। जैसे रथका पहिया घूमता है, तो वह कभी नीचे जाता है, कभी ऊपर जाता है, इसी प्रकार मनुष्यके जीवनकी जो दशा है वह रथके पहियेकी तरह घूमती रहती है। हार मत मानो, तुम्हें आगे सफलता मिलेगी। अरे इसी रास्तेमें चलते-चलते तुमको ईश्वर मिलने वाला है। रास्ता देखकर मत घबड़ाओ।

एक बार हमलोग गंगोत्तरी जा रहे थे, भैंरो घाटी पड़ी, कुछ खच्चरोंपर सामान जा रहा था, वहाँ बड़ा सँकरा मार्ग, अब उन खच्चर वालोंने सामान उतार कर रख दिया, बोले—बाबा, इस रास्तेमें हमारे खच्चर सामान लेकर नहीं जायेंगे। अब महाराज अच्छे रास्ते पर तो सामान खच्चर लेकर चले, बुरे रास्ते आये तो वह सामान भी अपनी पीठपर रखना पड़ा। कोई सिरपर, कोई कन्धेपर, कोई पीठपर और एक तरफ हजारों फुट गहरा खड्ड नीचे गंगाजी बह रहीं और दूसरी ओर हजारों फुट ऊँचा पहाड़, नील गंगा। अब महाराज, एक सज्जन थे हमारे साथ, उन्होंने तो दोनों हाथ उठा लिये—

मेरे तो गिरिधर गोपाल दूसरो न कोई।

एक सज्जन थे जयपुरके, अब वे रोने ही लग गये कि हमने कभी अपने सिरपर सामान नहीं उठाया और सो भी ऐसे मौकेपर जहाँ एक पाँव इधरसे उधर हो तो नीचे गये।

अब किसी तरह बड़ी मुश्किलसे सामान लेकर भैरों घाटीके ऊपर पहुँचे, भैंरो चट्टी जब पहुँचे तो दूसरे दिन गंगोत्तरीका खूब सुन्दर दृश्य मिला।

तो रास्तेमें कभी चलते-चलते जब खराब दिन आजाय, खराब रास्ता आजाय, खराब लोगोंसे घिर जायँ, तो हार नहीं मानना चाहिए। एक इसकी पद्धति है, देखो हमको एक महात्माने बताया था कि रास्तेमें चलते-चलते कभी-कभी पाँव फिसल जाते हैं और कभी गिर भी पड़ते हैं। यह कोई अपराध है? पाँव फिसल गया या कहीं गिर पड़े; कोई जानबूझकर गिरना थोड़े ही चाहते हैं, वह तो

असावधान हो जाते हैं, प्रमाद हो जाता है, आँख दूसरी तरफ चली जाती है यही सब कारण हैं, बोले—अपराध क्या है? अपराध यह है कि अगर एक बार पाँव फिसल गया, गिर गये और फिर उठे नहीं, पड़े रह जायँ तो यह अपराध है। और उठकर फिर आगे न बढ़ें तो यह डबल अपराध है।

अरे भाई कैसे भी, नाचते हुए, चलते हुए, गिरते हुए, दौड़ते हुए, रोते हुए, हँसते हुए, कैसे भी अपने प्रीतमके मार्गमें, अपने प्रभुकी प्राप्तिके मार्गमें चलते चलो। तो—

भवन्ति भावा भूतानां मत्त एव पृथग्विधाः।

देखो, एक परमात्माके सिवाय दूसरा कोई है नहीं, **क्रीडार्थमात्मन इदं त्रिजगत् कृतं ते** (भा. 8.22.20) भगवान्ने अपने खेलके लिए यह दुनिया बनायी है। तुम भी उस खेलका मजा लेते हुए चलो। इसीलिए चेतन बनाया, जड़ नहीं बनाया, गुड़िया नहीं बनाया, चेतन बनाया, वह जैसा जैसा खेल खेल रहा है, उसके खेलका मजा लेते हुए खेल खेलो।

ये पृथग्विध जितने भाव हैं, अलग-अलग तरहके, अलग अलग किस्मके, नये-नये रंग, नये-नये नजारे, नये नये वृक्ष, कहीं पर पहाड़ दिख रहे हैं, ऊँचे-ऊँचे बरफसे लदे हुए तो कहीं सूखा जंगल दिख रहा है, तो कहीं हरा भरा, फला-फूला दिख रहा है, अब यह रास्तेमें चल रहे हैं, तो सबका मजा लेते हुए चलना।

ये दृश्य कौन दिखा रहा है? यह नाटक कौन कर रहा है?

भवन्ति भावा भूतानां मत्त एव पृथग्विधाः।

भीतर बैठा हुआ ईश्वर, **अहं सर्वस्य प्रभवः।** वह कहता है सब मुझसे पैदा हो रहा है। **मत्तः सर्वं प्रवर्तते।** सबकी प्रवृत्ति मुझसे हो रही है। उसमें यह नहीं कहा भगवान्ने कि इतने लोगोंको मैं चलाता हूँ, मिनिस्टरोंको बुद्धि मैं देता हूँ और जनताको बुद्धि कोई और देता है। यह बात नहीं है। **मत्तः सर्वं प्रवर्तते।** सबकी प्रवृत्तिका कारण मैं हूँ और **अहं सर्वस्य प्रभवः** सबका उपादान कारण, मसाला सब मैं और सबको हिलाने, चलानेवाला, बिजली मैं। तो यह जो परमात्माका अनुभव करते हुए रहना, यह योग है। कैसे योग है? कि सब क्रियामें परमात्माको देखो, सब भावमें परमात्माको देखो, सबका संचालन परमात्मा कर रहा है, इसको देखो हर जगह योग बना रहेगा, कभी वियोग ही नहीं होगा, इसीको 'अविकम्प योग' बताया कि ईश्वरसे कभी वियोग नहीं। यह

आध्यात्मिक, आधिदैविक, आधिभौतिक भाव माने हमारे अन्त:करणमें जितने भाव होते हैं, सब परमात्मासे।

अब बताते हैं कि आधिदैविक और आधिभौतिक जो भाव होते हैं वह भी मुझमे ही होते हैं।

महर्षय: सप्त पूर्वे चत्वारो मनवस्तथा।
मद्भावा मानसा जाता येषां लोक इमा: प्रजा:॥ 10.6

जितने आदिदैविक भाव हैं सब मुझसे और जितने आधिभौतिक भाव हैं सब मुझमे। मनके भीतर जो होता है सो मुझमे और बाहर जो सूर्य-चन्द्र-ग्रह-नक्षत्र तारे करते हैं, सो मुझमे और स्वर्गादिमें जो कुछ होता है सो भी मुझसे।

अब जरा इनका अध्ययन करें—**महर्षय: सप्त पूर्वे**—ये ऋषि महाराज बड़े विचित्र होते हैं। सप्त ऋषि भीतर भी रहते हैं बाहर भी रहते हैं। कभी कभी किसी किसीको ऋषियोंके ऐसे दर्शन होते हैं और ऐसे मिलते हैं कि देखकर आश्चर्य हो जाता है। **ऋषन्ति। यस्मात् ऋषन्ति ते धीरा: महान्त: सर्वतो गुणै:।** यह गुणसिंहको यश मिला है। गुण मूलक यश होना चाहिए, सद्गुण मूलक यश होना चाहिए। तो महर्षिको महर्षि क्यों कहते हैं? ये महर्षि, देवर्षि होते हैं, सप्तर्षि होते हैं परमर्षि होते हैं, काण्डर्षि होते हैं, इनके कई भेद होते हैं।

तो **महर्षय: सप्त**—सात महर्षि होते हैं। इनके अर्थमे बड़ा-बड़ा मतभेद होता है कि महर्षि माने क्या, सात महर्षि कौन? और **पूर्वे चत्वार:** कौन! तो 'महर्षय: सप्त पूर्वे'के साथ इधर भी कर देते हैं और 'चत्वारो मनवस्तथा' इधर भी कर देते हैं। और 'पूर्वे चत्वारा' अलग कर देते हैं और 'मनवस्तथा' अलग कर देते हैं।

अब यह प्रसंग फिर आपको कल सुनायेंगे।

☆

आपके ध्यानमें होगा अध्यायके प्रारम्भमें यह बात सुनायी कि इस अध्यायमें दो उपनिषद् हैं—योगोपनिषद् और विभूति उपनिषद्। विभूति-योगमें देवता प्रधान हैं और आत्मयोगमें महर्षि प्रधान हैं। न महर्षि भगवान्‌की उत्पत्तिको जानते हैं, न देवता भगवान्‌की उत्पत्तिको जानते हैं, न प्रभवको, न प्रभावको। यह प्रसंग पहले आगया है। अब उसको दूसरे ढंगसे बताते हैं कि संसारमें जितने प्रवृत्तिके, निवृत्तिके और दोनोंके नियामक प्रकट हुए हैं, वे सब मुझसे प्रकट हुए हैं। तो—

महर्षयः सप्त पूर्वे चत्वारः मनवस्तथा।
मद्भावा मानसा जाता येषां लोक इमाः प्रजाः॥ 6॥

भगवान्‌ने यह बताया कि भीतर जो कुछ होता है, वह तो मेरी उपस्थितिसे होता है, परन्तु लोक-लोकान्तरमें, अनन्त कोटि ब्रह्माण्डमें जो ब्रह्मा पैदा होते हैं और ब्रह्मासे फिर सृष्टि चलती है, वह सृष्टि भी मुझसे ही चलती है। कोटि-कोटि ब्रह्मा और उनके द्वारा बनायी जानेवाली सृष्टि सम्पूर्ण आधिदैविक और आधिभौतिक सृष्टिका भी मूल कारण मैं ही हूँ। तो पहले जिनका नाम लिया—

बुद्धिर्ज्ञानसंमोहः—वह तो आध्यात्मिक सृष्टि है। वह मनके भीतर होती है और यह आधिदैविक और आधिभौतिक सृष्टि कैसे भगवान्‌से होती है अब यह बात बताते हैं।

इसमें पहले बताया कि **महर्षयः सप्त**—सात जो महर्षि हैं वे '**मद्भावा मानसा जाता येषां लोक इमाः प्रजाः**'—वे सब मेरे भावसे सम्पन्न हैं।

'मेरे भावसे सम्पन्न'का अर्थ दो प्रकारसे होता है। एक तो मेरी शक्तिसे वे भरपूर हैं मेरी भावना, मेरी शक्ति उनके अन्दर भरपूर हैं और दूसरे उनका हृदय उनका मन, उनकी भावना मुझसे भरपूर है। माने मैं उनमें हूँ और वे मुझमें हैं। मैं उनमें व्यापक हूँ और वे मेरे ध्यानमें मग्न हैं। **मद्भावा** शब्दका दो अर्थ है—वे मेरे संकल्पसे प्रकट हुए, इसलिए मेरे संकल्पसे बाहर नहीं है—मद्भावा। और दूसरे **मयि भावो येषां**—उनकी सम्पूर्ण भावना मुझमें संलग्न है, माने वे सम्पूर्ण विश्व-सृष्टिको भगवद्रूप देखते हैं। यह उनकी विशेषता है। **महर्षि** कौन? कि **यस्मात्**

ऋषन्ति ज्ञानेन भगवन्तम् महेश्वरम्—वे अपने ज्ञानके द्वारा भगवान् महेश्वरको जानते हैं। कण-कणमें देखते हैं, क्षण-क्षणमें देखते हैं, एक-एक लम्बाई-चौड़ाईमें देखते हैं। कणमें जो परिवर्तन है उसमें भी परमात्माको देखते हैं और कणमें जो परिमाण है उस लम्बाई-चौड़ाईमें भी परमात्माको देखते हैं। इसीसे महर्षिको महर्षि बोलते हैं। जो महान परमात्मा है उसको अपने ज्ञानके द्वारा निरन्तर देखे उसका नाम महर्षि।

महर्षिको सात बताया, उनकी संख्या सात कर दी। सात बतानेका अभिप्राय यह है कि चौदह मनवन्तर होते हैं, ब्रह्माके एक दिनमें। माने ब्रह्माका दिन ही बड़ा भारी होता है। हम लोगोंका जो कलियुग होता है, यह चार लाख बत्तीस हजार वर्षका हम लोगोंके हिसाबसे होता है। इसका दुगुना द्वापर और इसी कलियुगका तिगुना त्रेता और इसका चौगुना सत्युग होता है। तैंतालीस लाख बीस हजार वर्षकी एक चतुर्युगी होती है और सन्ध्या-सन्ध्यांश सहित समझो इकहत्तर चतुर्युगी ब्रह्माका एक दिन होता है। और उतनी बड़ी उनकी रात होती है। और, फिर उस हिसाबसे तीस दिन-रातका उनका महीना होता है और बारह महीनेका वर्ष होता है और उस वर्षके हिसाबसे सौ वर्ष ब्रह्मा जीते हैं। उन ब्रह्माका आधा-पचास वर्षको 'पर' बोलते हैं। अब एक परार्ध बीत चुका है और उत्तरपरार्ध अभी बाकी है। तो अभी जो संकल्प ब्राह्मण लोग बोलते हैं—'द्वितीय परार्धे'—ऐसा बोलते हैं। प्रथम दिने, प्रथम प्रहरे, इस समय हम लोग जहाँ रह रहे हैं, वे ब्रह्मा पचास वर्षकी आयु पारकर चुके हैं और पहले दिनका पहला प्रहर व्याप्त हो रहा है और उसमें यह अट्ठाईसवीं चतुर्युगीका कलियुग है।

जो एक-एक ब्रह्माण्डमें फिर एक-एक मनवन्तर होते हैं उनमें सात-सात ऋषि होते हैं। वे सप्तर्षि क्या करते हैं? उनका काम होता है कि धर्मको चालू रखना। धर्म दो तरहका होता है—एक प्रवृत्ति धर्म और एक निवृत्ति धर्म। प्रवृत्ति धर्मके जो आचार्य हैं उनको सप्तर्षि कहते हैं और जो निवृत्ति धर्मके आचार्य होते हैं उनको **पूर्वे चत्वारः** कहते हैं। माने सनक, सनातन, सनन्दन, सनत्कुमार—ये निवृत्ति धर्मके आचार्य होते हैं। ये अपने उपदेश और आचरणके द्वारा धर्मकी स्थापना करते हैं। सप्तर्षि सन्तानकी उत्पत्ति भी करते हैं और उनके लिए धर्मोपदेश भी करते हैं। तो समझो कि एक दिनमें चौदह मनवन्तर, उसमें पहला मनवन्तर स्वायंभुव मनवन्तर। स्वायंभुव मनवन्तरमें जो सप्तर्षि होते हैं, वे मरीचि, अत्रि, अङ्गिरा, पुलस्त्य, पुलह, क्रतु और वसिष्ठ—ये सातों होते हैं। इसलिए

उन्हींको यहाँ ग्रहण करना चाहिए। वैसे हर मनवन्तरमें सप्तर्षि होते हैं, परन्तु **'मद्भावा मानसा जाता'** जो यहाँ बात कही गयी है तो ब्रह्माजीके मानस पुत्र हैं, वे स्वायंभुव मनवन्तरके सप्तर्षि हैं, वे मानस पुत्र हैं। इसलिए उनका ग्रहण किया जाता है। और **पूर्वे चत्वारः** ऋषि कौन? तो बोले कि भाई ऋषि तो सबके सब विवाह करते हैं, गृहस्थ होते हैं और गृहस्थ धर्मकी स्थापना करते हैं। तो निवृत्ति-धर्म कहाँसे चलेगा? तो निवृत्ति धर्मके आचार्य सनकादि हैं। वे इन सप्तर्षियोंके भी बड़े भाई हैं, ब्रह्माजीके पहले बेटे हैं। वे निवृत्ति-धर्मके आचार्य हैं।

बोले—अच्छा सनकादिको यहाँ अगर मान लें, तो उनके बच्चे तो हुए नहीं—**येषां लोक इमाः प्रजाः**। यहाँ तो उन लोगोंका वर्णन है जिनकी प्रजा है, जिनकी सन्तान है। तो बोले कि सन्तान भी दो तरह की—एक बिन्दु सन्तान और दूसरी नाद सन्तान। तो पितासे पुत्रकी जो उत्पत्ति होती है उसको बिन्दु सन्तान बोलते हैं, वे बिन्दुसे उत्पन्न होते हैं और गुरुसे जो शिष्यकी उत्पत्ति होती है, उसको नाद-सन्तान बोलते हैं, नाद पुत्र हैं वे। जब गुरु अपने शिष्यको उपदेश करता है कि तुम कौन हो, तो यह नया ही भाव उदय होता है। वह बतावे कि तुम भगवान्‌के भक्त हो, भगवान्‌के सेवक हो। तो देखो एक सेवक शरीरका उदय अपने अन्तःकरणमें होगा। वह बतावें मित्र हो, वह बतावें पुत्र हैं, वह बतावें कि तुम भगवान्‌की सखी हो, सखा हो, कि भगवान्‌के आत्मा हो, वे बतावें कि तुम इस देहसे अतीत द्रष्टा हो। तो एक नवीन भावकी उत्पत्ति गुरुके उपदेशसे होती है, इसलिए जैसे भौतिक जगत्‌में पिता माता जन्म देनेवाले होते हैं, वैसे आध्यात्मिक जगत्‌में, आदि दैविक जगत्‌में गुरु भी जन्म देनेवाला होता है। इसीसे गुरुको—

> **गुरुर्ब्रह्मा गुरुर्विष्णुः, गुरुर्देवो महेश्वरः।**
> **गुरुः साक्षात् परं ब्रह्म तस्मै श्रीगुरवे नमः॥**

ब्रह्मा उसको कहते हैं जो पैदा करे। शिष्यको उत्पन्न किसने किया? बोले—गुरुने। गुरुने ही उसके सूक्ष्म शरीरको जन्म दिया, कि तुम ऐसे हो, तुम ऐसे हो, यह संस्कार, यह भाव दिया। इसलिए वह पिताके स्थानपर गुरु है। इसलिए गुरुर्ब्रह्मा है और, उसीने बारम्बार सत्संगके द्वारा, उपदेश के द्वारा, ज्ञानके द्वारा, उस शरीरका पोषण किया। तो विष्णुका काम पालन करना है और उसने भी पालन किया, इसलिए गुरु विष्णु है। और शिष्यके जीवनमें जितना दोष-दुर्गुण है, उसका संहार किसने किया? उसको मिटाया किसने? कि गुरुने,

इसलिए वह रुद्र है। और जब स्थूल-सूक्ष्म-कारण शरीरकी उपाधिको हटाकर शुद्ध आत्माकी दृष्टिमें देखते हैं, तो गुरु साक्षात् परं ब्रह्म—जो शिष्य है सो गुरु है और जो गुरु है सो शिष्य है। तो निवृत्ति धर्मके आचार्य भी एक पिता हैं। उपनिषद्में आता है—

त्वं नः पिता स भवान् तमसः पारं पारयति।

तुम हमारे पिता हो। कैसे पिता हो? क्योंकि तुम हमको इस घोर अन्धकारसे पार पहुँचाते हो, इसलिए तुम हमारे पिता हो। तो **पूर्वे चत्वारः। येषां लोक इमाः प्रजाः।** गुरुसे शिष्यरूप सन्तानको चलानेवाले और पिता होकर पुत्ररूप सन्तान-परम्पराको चलानेवाले और अपने आचरणसे धर्मकी शिक्षा देनेवाले, प्रवृत्ति धर्ममें, वर्णाश्रम धर्ममें रहकर किस तरहसे धर्म पालन करना चाहिए, यह बात भी महर्षि लोग खुद करके बताते हैं। क्योंकि धर्मकी बात यह है कि यदि वह किया न जाय तो बतानेसे उसके पालनमें किसीकी रुचि नहीं होती। यह बात हम रोज देखते हैं अपने पास, जब गृहस्थ लोग अपने बच्चोंको लेकर आते हैं, तो उनसे कहते हैं कि स्वामीजीको प्रणाम करो, बच्चे नहीं करते हैं, जिद कर जाते हैं और नहीं, नहीं, नहीं बोलने लग जाते हैं। लेकिन जब वे गृहस्थ स्वयं प्रणाम करते हैं और उन बच्चोंके बड़े भाई, बड़ी बहनें जब स्वयं प्रणाम करने लगते हैं, तब वे बच्चे अपने आप ही आकर प्रणाम करते हैं।

इसका अर्थ है केवल आज्ञा देनेसे धर्मानुष्ठान नहीं होता, धर्मानुष्ठानके लिए आचरणकी आवश्यकता होती है। तो यह **महर्षयः सप्त**—ये जो सात महर्षि हैं, ये स्वयं धर्माचरण करवाते हैं, अपनी सन्तानसे धर्माचरण करवाते हैं और सारी प्रजासे भी धर्माचरण करवाते हैं, क्योंकि ये स्वयं धर्माचरण करते हैं। इसी प्रकार सनकादि स्वयं निवृत्तिधर्मका आचरण करते हैं और अपने शिष्योंसे और अपनी प्रजासे निवृत्ति धर्मका पालन करवाते हैं। जो निवृत्तिधर्ममें दीक्षित होवे, उसके लिए निवृत्ति धर्मके आदर्श बने रहते हैं। दो विभाग किया ऋषियोंका—**महर्षयः सप्त** और **पूर्वे चत्वारः।** ये सबके सब महर्षि भगवान्‌के संकल्पसे प्रकट हुए। ये सात जो ऊर्ध्व इन्द्रियाँ हैं, जैसे दोनों कान हैं, आँख है, नाक है, मुख है—ये जो इन्द्रियाँ हैं अथवा ये सात छिद्र मुखमें हैं—दो कानके, दो आँखके, दो नाकके और एक मुख—ये सात जो छिद्र हैं इनमें सात ऋषि बैठे हुए हैं और ये भगवान्‌के संकल्पसे प्रकट हुए और व्यष्टि अन्तःकरणमें जो मन, बुद्धि, चित्त, अहंकार है अथवा अधिदैव रूपसे जो वासुदेव, प्रद्युम्न, अनिरुद्ध, संकर्षण हैं, जिनको

चतुर्व्यूह बोलते हैं, वे भी सबके अन्त:करणमें बैठकर मन, बुद्धि, चित्त और अहंकारका नियमन करते हैं—पूर्वे चत्वार: ।

अब यह धर्मका दो भेद क्यों हो गया? आपको धर्मकी एक साधारण-सी बात सुनाता हूँ, जो प्रवृत्ति धर्मके पालनसे फल मिलता है, वही निवृत्ति धर्मके पालनसे भी फल मिलता है। धर्मके पालनमें अपनी वासनाओंका नियन्त्रण करना ही पड़ता है। चाहे प्रवृत्ति धर्म हो और चाहे निवृत्ति धर्म हो।

देखो, आपने सुना होगा कि युद्ध भूमिमें जो सन्मुख मरता है, वह सूर्य-मण्डलका भेदन करके, अमानव पुरुषके द्वारा ब्राह्मी गतिको पहुँचा दिया जाता है—

द्वाविमौ पुरुषौ लोके सूर्यमण्डलभेदिनौ।
परिव्राड् योगयुक्तश्च रणे चाभिमुखे हतः॥

जो युद्धभूमिमें मारा गया, वह भी सूर्यमण्डल भेदन करके ब्रह्मलोकमें जाता है और जो योगमुक्त परिवाड् है, सन्यासी है, निवृत्ति धर्म परायण, वह भी सूर्यमण्डलका भेदन करके ब्रह्मलोकमें जाता है, माने तत्त्वज्ञानके पूर्व योगयुक्त संन्यासी मरे तो और तत्त्वज्ञानके पूर्व रणभूमिमें सन्मुख कोई वीर मरे, तो दोनोंको एक ही गति होती है। क्योंकि एकने प्रवृत्ति-धर्मका ठीक-ठीक पालन किया युद्धभूमिमें और एकने निवृत्ति धर्मका पालन किया वनमें, गुफामें, पर्वतमें। दोनोंको स्वधर्मानुष्ठान करनेके कारण ब्रह्मलोक रूप एक गतिकी प्राप्ति हुई, एक प्रवृत्ति धर्मका पालन करनेवाला और एक निवृत्ति धर्मका पालन करनेवाला। अब इसके सम्बन्धमें एक रहस्य और है, वह यह है कि कोई पूछे कि तब धर्मको दो प्रकारका क्यों बताया? एक प्रवृत्ति धर्म और दूसरा निवृत्ति धर्म। जब फल एक ही मिलना है, तो एक ही प्रकारका धर्म रहता? अरे जब प्रवृत्ति धर्मसे उसी गतिकी प्राप्ति हो ही जाती है, तो सब लोग प्रवृत्ति धर्मका पालन करते, बाल-बच्चे भी होते, राज्य भी होता, धन-वैभव भी होता और अपने धर्मका अनुष्ठान करते और उसी गतिको प्राप्त कर लेते। अरे इसमें शास्त्रकी दृष्टिसे कोई आपत्ति नहीं है। यदि तुम्हें ऐसा लगता है कि हम गृहस्थ-धर्मका पालन करते हैं और बाल-बच्चे भी रहें, धन भी रहे और हम सब अपने कर्तव्यका पालन भी करते रहें और अनासक्त निष्काम-भावसे अपने धर्मका पालन करें और अन्तमें हम परमात्माको प्राप्त कर लेंगे, यदि इस विश्वाससे अपनी साधना करते हो, तो इसमें कोई आपत्ति नहीं है, बल्कि ठीक है। वही ईश्वर मिलता है, गृहस्थको भी, जो संन्यासीको मिलता है, क्योंकि ईश्वर दो नहीं होते।

तब प्रश्न यह रहा कि फिर प्रवृत्ति-धर्म और निवृत्ति-धर्म दो क्यों? बोले—यह दो फलके लिए दो धर्म नहीं है, यह दो अधिकारीके लिए दो धर्म है। क्योंकि फलमें तो भेद ही नहीं है, फलात्मक जो ब्रह्म है, उसमें भेद नहीं है। तब धर्म दो क्यों? कि

वैराग्यरागोपाधिभ्यामाम्नातोऽभयलक्षणन्। भा. 1.9.26

धर्म दो प्रकारके इसलिए बताये जाते हैं कि किसी-किसीके अन्त:करणमें सहज वैराग्य होता है और किसी-किसीके अन्त:करणमें सहज राग होता है। जो राग-प्रधान वाला अन्त:करण है, वह भी अपने प्रवृत्ति-धर्मका पालन करके, अन्त:करण शुद्ध करके परमेश्वरको प्राप्त करे और जिसके मनमें वैराग्य-प्रधान धर्म है, वह भी त्याग-वैराग्य प्रधान होकर अपने अन्त:करणको शुद्ध करे और परमात्माका ज्ञान प्राप्त करे।

बोले—भाई, इसमें वैराग्य श्रेष्ठ है और राग कनिष्ठ है—यह बात नहीं है बिलकुल। शास्त्रकी दृष्टिसे अन्त:करणमें जो राग और वैराग्य आता है, वह तो भिन्न-भिन्न अन्त:करणोंका स्वभाव होता है। जिसके अन्त:करणमें सहज वैराग्य हो उसको निवृत्ति धर्मका पालन करना चाहिए और जिसके अन्त:करणमें रागकी प्रधानता होवे उसको प्रवृत्ति-धर्मका पालन करना चाहिए। फिर महिमा तो देखनेमें यही आती है कि निवृत्ति धर्मकी बड़ी भारी महिमा है शास्त्रमें, संन्यासी सबसे श्रेष्ठ है, निवृत्ति सबसे श्रेष्ठ है, वैराग्य सबसे श्रेष्ठ है। तो एक बात तो यह है कि इस महिमाका वर्णन गृहस्थ लोग ही करते हैं मुख्यरूपसे। क्योंकि जब वे देखते हैं कि हम नंगे नहीं रह सकते और कोई नंगा रह रहा है, जब वे देखते हैं कि हम बिना संग्रहके नहीं रह सकते और कोई बिना संग्रहके रह रहा है, जब वे देखते हैं कि हम जाड़ा-सर्दी-गर्मी नहीं सह सकते और कोई सह रहा है, हम बिना बाल-बच्चे, स्त्री, धनके नहीं रह सकते और कोई रह रहा है, तो उनके हृदयमें स्वाभाविक श्रद्धाकी उत्पत्ति होती है, क्योंकि जो हम नहीं कर सकते वह काम यह कर रहा है, यह जब स्वाभाविक श्रद्धाकी उत्पत्ति होती है, तब वह निवृत्ति-धर्मको श्रेष्ठ मानता है।

एक बात इसमें यह भी है कि निवृत्ति-धर्मको श्रेष्ठ माननेसे प्रवृत्ति धर्मवाला संसारमें आसक्त नहीं होता। वह कहता है कि अन्तमें भाई सबसे बढ़िया बात यही है तो यही करना होता है। और दूसरी बात इसका एक कारण कलियुगी भी है। कलियुगी कारण क्या है? कलियुगी कारण यह है कि जो लोग पहले निवृत्ति परायण हुए तो निवृत्ति व्यक्तिगत धर्म है, सामूहिक धर्म नहीं है। यह वैराग्य लेना,

जंगलमें रहना, गंगा-किनारे रहना, गुफामें रहना, यह एक आदमीके लिए है, झुण्डके झुण्ड वैराग्यवान् मिलें, वैराग्यवानोंकी टोली बने—

हीरनकी नहिं बोरियाँ, सन्तनकी न जमात।
सर सर हंस न होंहि, होंहि गजराज न वन वन॥

हर सरोवरमें हंस नहीं होते और हर जंगलमें हाथी नहीं होते, हीरोंकी बोरियाँ नहीं होती और साधुओंकी जमात नहीं होती।

यह तो कालका प्रभाव ऐसा आया कि सम्प्रदायके नामपर, सन्तके नामपर, गुटके नामपर, फिरकेके नामपर जो लोग अकेले जीवन व्यतीत करनेके लिए घरसे निकले थे, वे जुट-के-जुट हो गये, गुट-के-गुट हो गये, झोपड़ीके नामपर बड़े-बड़े महल बन गये। नाम होगा कुटीर और होगा महल। नाम होगी कुटिया और होगा महल। तो इसका फल क्या हुआ कि जब झुंड-के-झुंड रहने लग गये तो न उनकी खेती, न उनके व्यापार, न उनके नौकरी। तो ये जो पंथाई लोग हैं, फिरकापरस्त लोग हैं, वह लगाया हो कि किसकी संख्या कितनी, रामादल और नागादल, दो दल होते हैं, साधुओंके, वो आपसमें लड़ाई करते हैं, किस सम्प्रदायमें कितनी गिनती ज्यादा है, उदासी-सम्प्रदायमें ज्यादा लोग हैं कि संन्यासी-सम्प्रदायमें कि वैष्णव सम्प्रदायमें ज्यादा हैं—इस बातकी भी गिनती होती है। लोगोंको भर्ती करना है और झुण्ड-के-झुण्ड यह फौज रहती है। उनकी जीविका चलानी पड़ती है। अरे ये तलवार रखते हैं, गड़ासी रखते हैं और जब इनके जुलूस निकलते हैं भागते हुए, उसमें उसका प्रदर्शन करते हुए चलते हैं, बोले भाई यह नागादल है, यह रामादल है। ऐसे-ऐसे होते हैं।

आप लोग बुरा नहीं मानना, अपने बात दो टूक करते हैं। ये गृहस्थ लोग जाते हैं कुम्भमें नहानेके लिए, तो ये 'संन्यासियोंके साथ हम स्नान करें' इसके लिए कई बेवकूफ लोग नंगे होकर चले जाते हैं स्नान करनेके लिए। और कई लोग सबसे पहले स्नान करनेके लिए गेरुआ कपड़ा लेकर ओढ़ लेते हैं। जो केवल नहानेके लालचसे गेरुआ ओढ़ सकता है, वह यदि मठके लालचसे या क्षेत्रकी लालचसे या उस सम्प्रदायकी लालचसे यदि गेरुआ ओढ़ ले, तो उसमें आश्चर्य क्या है?

इन बातोंका धर्मके साथ कोई सम्बन्ध नहीं है। धर्मके दो रूप हैं, जो रागवान् अधिकारी है, वह प्रवृत्ति धर्मका पालन करता हुआ, धीरे-धीरे अपने मन और इन्द्रियोंका संयम करता हुआ भगवान्‌की उपासनाके द्वारा, योगाभ्यासके द्वारा,

वेदान्तके विचारके द्वारा उसी परमात्माको प्राप्त कर सकता है, सफेद कपड़ेमें, घरमें रहते हुए, गृहस्थ आश्रममें रहते हुए। और जो निवृत्ति प्रधान है, वैराग्य प्रधान जिसका अन्त:करण है, उसको तो संसारके धर्मका पालन करना बड़ा खराब लगेगा। उसको यदि बच्चा कभी आकर रोने लगेगा तो बड़ा विक्षेप होगा, उसकी नाकमें उँगली डाल दे, कभी मूँछ खींच ले, कभी मूत दे शरीर पर तो वैराग्यवान आदमीको बड़ी ग्लानि होगी कि राम-राम-राम, ये हर समय हल्ला मचाते रहते हैं, दो बच्चे मिल जायँ तो वह उसको मारे और वह उसको मारे और दोनों रोवें, दोनों चिल्लायें, घरमें हर समय गड़बड़ी मची रहे। तो जो वैराग्य प्रधान अन्त:करण वाला पुरुष है, उसको इसमें विक्षेप होता है, कहेगा हम तो अकेले रहेंगे, जंगलमें रहेंगे।

तो अन्त:करण दो तरहके स्वभावसे होते हैं और दोनों भगवान्‌के पास पहुँच सकें, इसके लिए दोनोंके लिए शास्त्रमें व्यवस्था है, इसमें शास्त्रसंकर करनेकी जरूरत नहीं है। वानप्रस्थ धर्म, गृहस्थ धर्म, ब्रह्मचर्य धर्म, इनका पालन करके रागप्रधान अन्त:करण वाला भी अपने अन्त:करणको शुद्ध करके, प्रवृत्ति प्रधान धर्मके द्वारा ईश्वरको प्राप्त कर सकता है। वह भगवान्‌की पूजा करे, वह यज्ञ करे, वह अपने घरमें योगाभ्यास करे, ध्यानधारणा करे उसको परमात्माकी प्राप्ति होगी। और जिसके अन्त:करणमें वैराग्य हो जाय वह संन्यासकी ओर जाय। बिना वैराग्यके घर गृहस्थी छोड़ना नहीं चाहिए, वह अन्तमें पतित हो जाता है, आरूढ़-पतित हो जाता है। शास्त्रमें इसका वर्णन है कि जो पूर्ण वैराग्य हुए बिना भिक्षाके द्वारा अपना जीवन व्यतीत करने लगता है, उसका अन्त:-करण अशुद्ध होता है। इसलिए पूर्ण वैराग्य हुए बिना, भिक्षासे अन्त:करण शुद्ध नहीं होता, अशुद्ध होता है।

हरिद्वारमें, ऋषिकेशमें ऐसा देखनेमें आता है, साधु भिक्षाकी रोटी ले आते हैं, तो कई गृहस्थ लोग कहते हैं महाराज थोड़ा-सा प्रसाद दे दो। अब वह भिक्षाकी रोटी, गृहस्थके लिए प्रसाद थोड़े ही है; वह तो साधुके लिए प्रसाद है। अतिशय श्रद्धा, अतिशय प्रेमकी बात जुदा होती है, लेकिन धर्मकी दृष्टिसे वह भिक्षान्न गृहस्थके लिए उचित नहीं। उसके लिए यही नियम है कि हम भिक्षाकी रोटी नहीं खायेंगे, अपनी कमाईकी रोटी खायेंगे। इसी नियमसे उसका अन्त:करण शुद्ध होता है और उसपर परमेश्वर प्रसन्न होता है। साधु जब यह नियम करता है कि मैं अपने घरमें रहूँगा नहीं, मैं भिक्षाकी ही खाऊँगा, संग्रह, परिग्रह नहीं

करूँगा, तो इसी नियमसे इसी धर्मसे उसका अन्तःकरण शुद्ध होता है और उसको ईश्वर मिलता है।

निवृत्तिके आचार्य हैं सनकादि और प्रवृत्तिके आचार्य हैं ऋषि-महर्षि। दोनोंके बताये हुए धर्मपर कोई ठीक-ठीक न चले, तो? बोले—**मनवस्तथा;** उनके लिए मनु हैं। मनु माने राजा। चौदह मनु ब्रह्माजीके एक दिनमें होते हैं। अभी तो बारह घंटेका दिन मानते हैं न! ऐसा मान लें कि ब्रह्माजीका दिन चौदह घण्टेका होता है, तो एक-एक घण्टा एक-एक मनुका हुआ। एक-एक मनुकी एक-एक घण्टेकी ड्यूटी होती है। ब्रह्माजीकी घड़ीमें एक-एक मनुमें इकहत्तर-इकहत्तर चतुर्युगी बीत जाती हैं। तो ब्रह्माजीकी घड़ीमें जो टिक्-टिक्-टिक् बोलता है, उतनी भी मनुष्यकी नहीं आयु है। एक घण्टेमें इकहत्तर चतुर्युगी; तो एक चतुर्युगीको एक मिनट मानो माने मनुष्यकी जो आयु है, वह ब्रह्माके एक सेकेण्डका शतांश भी नहीं है। इसीका अभिमान होता है मनुष्यको, कि हमारी उम्र बहुत बड़ी और हम इतने दिन जीयेंगे और हम यह करेंगे, हम वह करेंगे।

'रहिगो मनको मनमें मनसूबो'

सिरपर मौत सवार है और लोग ईश्वरकी आँखमें रहकर बुरे काम करते हैं। पाप करते हैं। ईश्वरके मनमें रहकर बुरे काम करते हैं। ये मनु इसलिए बनाये गये कि ये लोगोंका नियन्त्रण करें। ये असलमें कालके अवयव हैं। मनु आदि सब कालके हिस्से हैं। हर समय काल तुम्हारी स्वच्छन्द प्रवृत्तिमें रुकावट डाल रहा है—'मनवस्तथा'—मनु और मनुपुत्र भी, जो स्वयं धर्मका पालन करते हैं और जो प्रवृत्ति धर्मका पालन न करे उसको भी और निवृत्ति धर्मका पालन न करे उसको भी—दोनोंको दण्ड देते हैं।

एक कथा है उपनिषदों में—एक राजा प्रतर्दन हुए। उन्होंने युद्धमें इन्द्रकी सहायता की। इन्द्रने असुरोंको मारा। 'कौशीतकी-उपनिषद्'में यह कथा है। तो इन्द्र बड़े प्रसन्न हुए, बोले—भाई तुमने हमारी मदद की, हमने असुरोंको मारा, अब तुम्हें जो वरदान चाहिए, सो माँग लो। प्रतर्दनने कहा कि बाबा हमको तो मालूम नहीं है कि सबसे अच्छी चीज क्या है? अब इन्द्रसे माँगना तो सबसे अच्छी चीज माँगना चाहिए। इसलिए तुम हमको वह चीज दो जिसको तुम अच्छी समझते हो। प्रतर्दनने ऐसा वर माँगा। जो तुम्हारी दृष्टिमें सर्वोत्तम ज्ञान है, वह हमको दो। इन्द्रने कहा—हमारी दृष्टिमें तो ब्रह्मज्ञान सर्वोत्तम है। परिच्छिन्न वस्तुका ज्ञान हमारी दृष्टिमें सर्वोत्तम नहीं, अपरिच्छिन्न वस्तुका जो ज्ञान है, वह हमारी दृष्टिमें

सर्वोत्तम है। टुकड़े-टुकड़ेको, एक-एक टुकड़ेको जाना कि यह कंगन है तो क्या जाना? यह हार है तो क्या जाना? यह अंगूठी है तो क्या जाना? सोनेको तो जानते ही नहीं। जो सोनेको नहीं जानता वह हारको, अंगूठीको पहचानता भी होवे, तो क्या उसकी पहचान ठीक है? इन्द्रने कहा—हमारी दृष्टिमें ब्रह्मको जानना ही सर्वोत्तम वस्तु है।

प्रतर्दनने पूछा कि महाराज! ब्रह्मज्ञान होनेसे क्या होता है? तो इन्द्रने कहा कि ब्रह्मज्ञान होनेसे नरकका, स्वर्गका, सुखका, दुःखका, पापका, पुण्यका सारा झगड़ा मिट जाता है, मनुष्यको परम स्वातन्त्र्यकी प्राप्ति हो जाती है।

अब इसमें उसने दृष्टान्त दिया कि पहले साधु लोग बहिर्मुख हो गये थे। आपको कभी देखना हो तो 'कौशीतक्युपनिषद्' देखना **षष्टिसहस्त्रानरुन्तुदान् यतीन् श्वापदेभ्यो प्रायच्छम्।** तेन मे लोमापि नामृयत्। हजारों लाखों साधु पहले बहिर्मुख हो गये थे, इकट्ठे हो गये थे। न कोई व्रत करे, न स्वाध्याय करे, न तो ब्रह्मका स्वाध्याय करे और न तो उनके जीवनमें कोई त्यागका, ब्रह्मचर्यका व्रत, अरुन्तदा—वे केवल दूसरोंको पीड़ा पहुँचानेके ही कारण बन गये थे, दूसरोंके मर्मस्थलका भेदन करते थे। तो मैंने क्या किया, कि **सालावृकेभ्यो प्रायच्छम्**—कुत्तोंसे नुचवा दिया। बोले—अरे बड़ा पाप किया। बोले—'नारायण कहो! यही तो ब्रह्मज्ञानका प्रभाव है'—ऐसे बोला।

इन्द्र ऐसे बोला—**तेन मे लोमापि नामृयत्।** उससे हमारा एक बाल भी बाँका नहीं हुआ। क्योंकि मैं ब्रह्मज्ञानसे युक्त था, जो अपने आत्माको ब्रह्म जानता है, वह परिच्छिन्न देह, इन्द्रिय, अन्तःकरण आदिके द्वारा कृतकारिता अनुमोदित जो कर्म है, उनसे लिप्त नहीं होता। बोले—तो यदि तुम सम्पूर्ण कर्मोंसे मुक्ति प्राप्त करना चाहते हो, तो राजा प्रतर्दन! मैं वही ज्ञान तुमको देता हूँ, तुम ग्रहण करो।

देनेवाला इन्द्र भी गृहस्थ है। प्रवृत्ति धर्मका नेता है। और जिस प्रतर्दनको वह ज्ञान दिया गया, वह राजा, वह भी प्रवृत्ति धर्मका रक्षक, लेकिन तत्त्वज्ञानकी प्राप्ति हुई।

तो ये मनु; दण्डके द्वारा, अनुष्ठानके द्वारा नियन्त्रण करते हैं। सनकादि अनुष्ठान और उपदेशके द्वारा नियन्त्रण करते हैं—निवृत्ति धर्मका। और सप्तर्षि अनुष्ठानके द्वारा और प्रजा वृद्धिके द्वारा प्रवृत्ति धर्मका पालन करते हैं।

ये सब कहाँसे आये? बोले —

मद्भावा मानसा जाता येषां लोक इमा प्रजाः।

'मद्भावा मानसा जाता'—ये सब-के-सब मेरी भावनासे होते हैं। ये सब काम करते हुए भी, यह देखते हैं कि हम भगवान्‌से ही व्यवहार कर रहे हैं। एक दुकानदार अपनी दुकानपर बैठा है, उसके सामने जब ग्राहक आया, तो उसका यह ख्याल हुआ कि भगवान् ही आये हैं ग्राहकके रूपमें और एक ग्राहक जब दुकानदारके सामने जाकर खड़ा हुआ, तब उसको ख्याल हुआ यह दुकानदारके रूपमें साक्षात् भगवान् हैं, ये हमको कपड़ा देंगे। दुकानदारने कहा—ग्राहकके रूपमें भगवान् आये, ये हमको पैसा देंगे। दोनोंमें परस्पर सद्भाव बना, न तो ग्राहक चाहता है कि हम दुकानदारका सब माल मुफ्तमें ले जायँ और न तो दुकानदार ही चाहता है कि इनके जेबका सब पैसा हम ले लें। आपसमें न्याययुक्त व्यवहारके लिए इससे प्रेरणा मिलती है—**मद्भावाः**।

श्रीमद्भागवतमें आया है कि—

यावत्सर्वेषु भूतेषु मद्भावो नोपजायते।

जबतक सम्पूर्ण प्राणियोंमें परमेश्वरका दर्शन न होने लगे, इसमें भी ईश्वर, इसमें भी ईश्वर, द्रष्टाको तुम व्यापक सोच लेते हो और ब्रह्मको व्यापक नहीं सोच सकते? त्वं पदार्थकी व्यापकता मालूम पड़ती है और तत्पदार्थकी व्यापकता नहीं मालूम पड़ती?

देखो; यदि तत्पदार्थसे अभिन्न हुए बिना द्रष्टा व्यापक है, दृश्यमें केवल लोहेके गोलेमें आगकी तरह व्यापक है और यदि द्रष्टासे अभिन्न हुए बिना ईश्वर सृष्टिमें व्यापक है तो जैसे घड़ेमें माटी व्यापक है, वैसे व्यापक है। और जब आत्मा और परमात्माकी एकताका ज्ञान हो जाता है, तब व्यापकता कैसी होती है? जैसे सर्पमें रज्जुकी। प्रपंच मिथ्या हो जाता है। व्यापकता जुदा-जुदा होती है। समझनेके लिए जुदा-जुदा दृष्टान्त हैं। लोहेके गोलेमें अग्निका व्यापक होना, लोहेका गोला भी है, अग्नि भी है, घड़ेकी आकृतिमें मिट्टीका व्यापक होना, आकृति भी है और मृत्तिका भी है और सर्पमें रज्जुका व्याप्त होना, वहाँ न लोहेके गोलेकी तरह कोई अलग पदार्थ है और न घटकी आकृतिके समान कोई अलग आकृति है, वहाँ तो बिल्कुल रज्जु ही रज्जु है। इसप्रकार यह जो प्रपंच है, इसमें जो परमात्माकी व्याप्ति है वह लोहेके गोलेमें आगकी तरह नहीं है, यदि केवल द्रष्टा होगा, तो बोले—हम ही जानते हैं बाबा सबको, इसलिए हम व्यापक हैं। बोले—वही सबका उपादान कारण है, इसलिए वह सबमें व्यापक है। जब दोनों एक है, तो वहाँ उपादान-उपादेय भाव निवृत्त हो जायेगा, वहाँका कार्य-कारण भाव चला जायेगा,

यह द्रष्टा-दृश्य भाव चला जायेगा। द्रष्टा दृश्य भाव, कार्य-कारण भाव—दोनों आरोपित होते हैं।

झूठी व्यापकता तो मिथ्या होती है। असली व्यापकता जबतक समझमें न आजाय, तबतक सबमें ईश्वरकी भावना करना, श्रीमद्भागवतमें यह बात आयी—

ब्राह्मणे पुल्कसे स्तेने ब्रह्मव्यके स्फुलिंगके।
अक्रूरे क्रूरके चैव समदृक् पण्डितो मतः॥

परमात्माको कैसे देखना, कहाँ-कहाँ देखना? बोले—भाई! परमात्माको ऐसे देखना कि अपने मनमें किसीके साथ होड़ न रहे, स्पर्धा न हो। असूया न हो और अहंकार न हो। और, सबमें परमात्माको देखना।

ये प्रवृत्तिधर्मके आचार्य, निवृत्ति-धर्मके आचार्य, और प्रवृत्ति धर्म और निवृत्ति धर्मको दंड देकरके भी ठीक पालन करवानेवाले मनु—सब भगवद्भाव रखते हैं। और ये सब भगवान्‌से ही प्रकट हुए हैं और इन्हींसे यह सारी प्रजा पैदा हुई है। उनकी जो स्थिति है—भगवान्‌के मनमें वे और उनके मनमें भगवान्—यह तो है योग और जो इससे प्रजा अपने धर्मका पालन करती है और बढ़ती है—यह है उनकी विभूति। इस प्रकार विभूति और योग दोनोंके द्वारा यह सृष्टि चलती है।

अब बताते हैं कि यदि इसको कोई जान जाये तो क्या होगा, माने इस ज्ञानका माहात्म्य बताते हैं—

एतां विभूतिं योगं च मम यो वेत्ति तत्त्वतः।
सोऽविकम्पेन योगेन युज्यते नात्र संशयः॥ 10.7

एक 'तत्त्वतः' और लगाते हैं। कोई योगको जानते हैं, कोई विभूतिको जानते हैं, कोई दोनोंको जानते हैं और कोई तत्त्वतः जानते हैं। पहले तो यह समझो कि जो योग, विभूति किसीको नहीं जानते—यह तो संसारी पुरुषकी स्थिति हुई और विभूतिको जानना, योगको जानना और विभूति योग—दोनोंको तत्त्वतः जानना।

एतां विभूतिं योगं च—एक तो भगवान् वैभव है, देवता आदि जो हैं वे भगवान्‌का वैभव हैं, यह अनन्तकोटि ब्रह्माण्डोंकी जो अचिन्त्य रचना है यह भगवान्‌का वैभव है, अपनेमें ही तस्वीर बना देना।

एक माता थी काशीमें, उसका आश्रम तो अभी है, पर वह नहीं हैं, मर गयीं, इसलिए मैं बता रहा हूँ कि कभी ढूँढने कोई जाये, तो उसको तकलीफ होगी। शिवाले घाटके पास सिद्ध माताका आश्रम बोलते हैं, उसका नाम ही था

सिद्ध माता, जब वह जिन्दा थी, जब गोपीनाथ कविराजजी उसके पास जाते थे। और महात्मा लोग उनके पास जाते थे, जीवन शंकर याज्ञिक, गोपीनाथ कविराज—ये लोग उनके बड़े भक्त थे। एक हमारे संन्यासी हैं, हमसे उन्होंने संन्यास लिया है, ऋषिकुमार उनका नाम है। तो वे भी उन्हींके आश्रममें रहते थे और अब भी उन्हींके आश्रममें हैं। उनका ध्यान लोगोंने देखा था, एक नुमाइशकी चीज थी उनका ध्यान! जब वे ध्यानमें बैठती थीं, तो उसके शरीरपर मन्त्र उभर आते थे, शरीर पर पहले कुछ नहीं होता पर, जब ध्यान करने लगतीं तो रक्तमें ऐसी हलचल होती कि उनके शरीरपर वे मन्त्र जगह-जगह उभर आया करते थे। कोई-कोई ऐसा ध्यान करते हैं।

एक योगी थे। काशीमें वे कृष्णका ध्यान करते थे, उनकी आँखमें कृष्णकी मूर्ति उतर आती थी, दीखने लगती थी, उनकी पलक उठाकर देखो तो उनकी आँखोंमें कृष्णकी मूर्ति दीखती थी, ध्यानमें बड़ा भारी प्रभाव है, यह सारी सृष्टि ध्यानसे बनी है। मनुजीने मनुस्मृतिमें लिखा—**सर्वं ध्यानिक मेवास्य यदेतद्**—ब्रह्माने ध्यान किया और यह सृष्टि बन गयी और विष्णुने ध्यान किया तो ब्रह्मा बन गये और निराकार ईश्वरने ध्यान किया तो अनन्तकोटि ब्रह्माण्ड उसके अन्दर बन गये, यह सबका सब ध्यान है। यह जो कुछ हम देखते हैं—यह हमारी माँ है, यह हमारा बाप है, यह हमारा बेटा है, यह हमारा धन है, यह हमारा मकान है, यह हमारा शरीर है, अरे यह सब ध्यान ही है। जैसे सबेरे उठकर सेठ लोग टेलीफोन पर पूछते हैं, थारीके धारणा है? थारीके भावना है? यह महाराज जैसे उनकी भावना, उनकी धारणा, उनका ध्यान होता है, वैसे यह सारी सृष्टि ही किसीका ध्यान है। किसीका ध्यान नहीं है, अपना ही ध्यान है। यह, दूसरे किसीका ध्यान नहीं है।

तो आओ देखें, भगवान्‌का योग क्या और वैभव क्या? भगवान्‌का वैभव ऐसी ही अचिन्त्य रचना है, इस सृष्टिमें। श्रीगौड़पादाचार्यजी महाराजने माण्डूक्यकारिकामें यह बात बतायी कि अगर ज्ञानी पुरुष चाहे तो जिसको जो दिखाना चाहे उसको वह दिखा दे—

यं भावं दर्शयेत् यस्य तं भावं स तु पश्यति।

कारिकामें यह श्लोक है, यहाँ तक कि वह अपनी बुद्धि लगावे तो शालग्रामकी बटियाको साक्षात् ब्रह्म दिखा दे, ऐसी युक्ति कि एक तृणको परमेश्वर दिखा दे। और यदि वह अपनी बुद्धि लगावे तो परमेश्वरको तृण दिखा दे। यह भी

समझना। परमेश्वर, जो परम ऐश्वर्यशाली परमेश्वर है उसका स्वरूप दृष्टिसे बाधकर देना—यह ज्ञानीका काम है!

वह जिसको जो चीज जैसी दिखा दे, जैसी समझा दे उसकी समझमें वैसी आजाती है।

एवं यो वेद् तत्त्वेन कल्पयेत् सोऽशंकितः।

इस बातको जो समझता है, उसको कल्पना करनेकी छूट है। वह चाहे जहाँ जैसे जिस रूपमें परमेश्वरको दिखानेका सामर्थ्य रखता है, उसके लिए मत्स्य रूपमें ईश्वर, वराहरूपमें ईश्वर, कच्छपरूपमें ईश्वर, शालिग्रामकी बटियाके रूपमें ईश्वर, गढ़ी हुई मूर्तिके रूपमें ईश्वर, नर्मदाचक्रके रूपमें ईश्वर, माटीके बनाये हुए पार्थिवमें उसके लिए ईश्वर। जिसने ईश्वरको पहचान लिया तत्त्वतः वह जहाँ चाहे वहाँ परमेश्वरको दिखा सकता है। इसकी उसको एक जड़ी-बूटी मिल गयी एक जादू मिल गया उस ज्ञानी पुरुषको कि वह अपनेको भी ईश्वर दिखा दे और दूसरेको भी ईश्वर दिखा दे, वह जड़को भी ईश्वर दिखा दे, वह चेतनको भी ईश्वर दिखा दे, ऐसा जादू उस ज्ञानी पुरुषको प्राप्त होता है।

यह योग क्या है? नवें अध्यायमें अभी आप एक योग देखकर आये हैं, जरा उधर विचार करनेके लिए ध्यान दें—

मया ततमिदं सर्वं जगदव्यक्तमूर्तिना।
मत्स्थानि सर्वभूतानि न चाहं तेष्ववस्थितः॥
न च मत्स्थानि भूतानि पश्य मे योगमैश्वरम्। 9.4-5

यह ऐश्वर्य योग है। भगवान् अर्जुनसे कहते हैं देखो, देखो—मेरा योग देखो। मैं वह जादूका खेल दिखता हूँ कि यह अनन्तकोटि ब्रह्माण्ड मुझमें है और मैं उनमें नहीं हूँ और वे मुझमें नहीं हैं। वे सब मुझमें हैं और वे सब मुझमें नहीं हैं और मैं उनमें नहीं हूँ। कि ऐसा यह जादूका खेल दिखाऊँ तुमको अर्जुन! तुम क्या समझते हो? मैं कोई मामूली मायावी हूँ! मैं मामूली मायावी नहीं हूँ, अनन्तकोटि ब्रह्माण्डको क्षणभरमें रचनेवाली जो महामाया है सो मेरे एक कल्पित अंशमें कल्पित है। आओ तुमको वह जादूका खेल दिखाऊँ—**मम यो वेत्ति तत्त्वतः।**

☆

एतां विभूति योगं चं मम यो वेत्ति तत्त्वतः।
सोऽविकम्पेन योगेन युज्यते नात्र संशयः॥७॥

भगवान् कहते हैं कि जो मेरी विभूति और इस योगको तत्त्वतः जान लेता है, वह अविकम्प—अविचल योगसे युक्त हो जाता है, इसमें कोई संशय नहीं। वह संशय विपर्ययरहित होकर परमात्माके साथ अविचल योग प्राप्त करनेके लिए, परमात्माकी विभूति और योगका तात्त्विक ज्ञान अपेक्षित है। जब परमात्माका तात्त्विकज्ञान होगा, उसकी विभूति और योगको ठीक-ठीक समझेंगे, तब अविचल योग प्राप्त होगा। तो विभूति और योगमें क्या अन्तर है—क्या फर्क है, क्या पारक्य है दोनोंमें, फर्कका मूल शब्द पारक्य है। कितना-कितना दोनोंमें परांश है Difference ! तो इसको ऐसे समझो कि जलमें रस होता है, रसके बिना तो जल हो नहीं सकता। जलकी आत्मा है रस। परन्तु उस रसमें खट्टापन है, मीठापन है, नमकीनपन है, यह क्या है? यह जलका वैभव है। जलकी रसात्मकता उसका योग है और उसमें जो तरह-तरहके रस हैं, वह उसका वैभव है। उपाधि योगसे वैभव होता है। जैसे मृत्तिका है, तो गन्धात्मक होना—यह तो उसका योग है, आत्मा है, पर चावलकी गन्ध अलग, गेहूँकी गन्ध अलग, जौकी गन्ध अलग, दालकी गन्ध अलग, सब्जीकी गन्ध अलग और तरह-तरहके इत्र जो उसमें बनते हैं, गन्ध प्रधान, यह बेला, यह चमेली, यह गुलाब, यह कमल, यह क्या है? कि यह वैभव है। गन्ध पृथिवीकी आत्मा है—योग है और तरह-तरहके जो इत्र हैं वे उसकी विभूति हैं।

यह अग्नि है, तो किसीको न्यूमोनिया हो जाये और आगसे सेंके और वह रोग दूर हो जाय, रसोई बना लें, और घरमें आग लग जाये, सारा जल जाये, तो अग्निसे जो सृष्टि स्थिति, प्रलय होता है—यह उसका वैभव है और 'दाह' उसकी आत्मा है—योग है उसका। दाहके बिना अग्नि नहीं।

दृष्टान्तसे यह बात समझाता हूँ। जैसे सूर्यमें प्रभा उसकी आत्मा है—**प्रभस्मि शशिसूर्ययोः**। योग है उसका। अगर उस प्रभाको ठीक-ठीक धारण कर लो तो सूर्य धारण हो जायेगा, परन्तु उससे जो इन्द्र-धनुष बनता है, या

कोई हरा फूल बनता है, लाल फूल बनता है, तरह-तरहके रंग दिखायी पड़ते हैं—यह सूर्यका वैभव है।

प्रभा सूर्यकी आत्मा है और नाना प्रकारके रंगोंका निर्माण होना उसका वैभव है।

आओ, ईश्वरकी ओर देखो क्या उसका योग है और क्या वैभव है! यह अचिन्त्य रचना जो देखनेमें आती है सृष्टिमें, कोई मनसे भी तर्क नहीं कर सकता, कोई सोच नहीं सकता कि कैसे है यह विचित्र रचना सृष्टिकी, अपने आप कैसे चल रही है, तोतेको हरा किसने बनाया? मयूरको ऐसा बढ़िया चमकदार रंग किसने दिया, हंसको ऐसा बढ़िया पंख, कोयलको ऐसी बढ़िया आवाज किसने दिया। उस कारीगरकी तरफ जब दृष्टि जाती है, अद्भुत है वह कारीगर, यह उसका वैभव है।

श्रीउड़ियाबाबाजी महाराज झूँसीमें थे, यह सन् तैंतीस-चौंतीसकी बात है, तो एक कोई सज्जन विदेशसे आये थे, भारतवर्षके योगियोंकी खोज करनेके लिए उन्होंने 'भारतकी गुप्त खोज' नामकी एक पुस्तक अंग्रेजीमें लिखी, हिन्दीमें भी उसका अनुवाद है। उड़ियाबाबाजीके पास आये, कहा—कोई चमत्कार दिखाओ। वे बनारसके जादूगरके पास गये थे, विशुद्धानन्दजी महाराजके पास, तो उन्होंने बड़े-बड़े चमत्कार दिखाये थे। तो उड़ियाबाबाजीने कहा कि एक बूँद पानी मनुष्यका शरीर बनकरके हँस रहा है, खेल रहा है, बोल रहा है, चल रहा है, इतना बड़ा प्रत्यक्ष चमत्कार जो दिख रहा है, बापके पेटमें-से निकला एक बूँद पानी माताके पेटमें जाकर एक डिम्ब बन गया, उसमें हाथ निकले, पाँव निकले, दिल निकला, दिमाग निकला और बाहर आनेके बाद वह चलता है, फिरता है, सोचता है, वैज्ञानिक आविष्कार करता है, दार्शनिक चिन्तन करता है, एक बूँद पानीमें स्वाभाविक रूपसे इतना बड़ा वैभव प्रकट हो रहा है। यदि यह तुमको चमत्कार नहीं मालूम पड़ता तो इससे बढ़िया चमत्कार हम तुमको दुनियामें और कोई नहीं दिखा सकते। यह ईश्वरका बिल्कुल स्पष्ट चमत्कार, यह अचिन्त्य रचना-चातुरी ईश्वरकी दिख रही है। इसका नाम है वैभव-विभूति। ईश्वरकी विभूति यह है कि कैसे एक बीजमें-से अंकुर निकलता है, ऐसा जादूका खेल चालू करता है और अंकुरसे पत्ते निकलते हैं, फिर फूल निकलते हैं, फल निकलते हैं और बिल्कुल समयसे, वैसा ही स्वाद वैसा ही रस। एक आमका फल जो आपके हाथमें आता है, जिसको आप खा जाते हैं, उस आमके बीजको

धरतीमें गाड़ दें और उससे एक पेड़ पैदा हो, आप जानते हैं वह कौन है? उस बीजमें कितने पेड़ समाये हुए हैं, इस बातकी गिनती करके क्या ब्रह्मा बता सकता है? बिल्कुल सीधी-सीधी बात है जब वह फलने लगे और मान लो एक सालमें वह दो हजार फल दे और वे सब दो हजार फल बो दिये जायें और उनके आमके पेड़ बनें हर साल और सौ वर्ष तक वह दो-दो हजार फल देता जाये, आप गिन सकते हैं कितने फल होंगे? फिर आप गिन सकते हैं उनसे कितने पेड़ पैदा हुए? और फिर उन पेड़ोंसे जो फल पैदा होंगे, वे कितने हुए? सौ पीढ़ीके भीतर ही उनकी स्थिति गणितके बिल्कुल बाहर हो जायेगी। ब्रह्माके गणितकी भीतर नहीं आवेगा। एक आमका फल जो आपके हाथमें आता है, उसमें कितना जादू, कितना वैभव, कितना चमत्कार भरा हुआ है।

तो यह देखो ईश्वरका वैभव! समझो कि पानी है, पानीमें तरंग उठती है और ठंड होनेपर बर्फ जम जाता है, उस जलमें जो तरलता है, वह जलका योग है और जो बर्फ है, वह जलका वैभव है। जो आकाश है, आकाशमें अवकाश, आकाशका योग है, आकाशकी आत्मा है और ये जो तरह-तरहके शब्द हैं, ये तो षड्ज, नैषज, गान्धार, जो आऽऽआऽऽका आलाप करके, निकालते हैं गायक लोग, यह क्या है? यह आकाशकी विभूति है। अवकाश आत्मा है, शब्द आत्मा है। और शब्दमें जो तरह-तरहके भेद हैं, ये वैभव हैं। तो विज्ञानका विषय विभूति है।

अब देखो एक दूसरी बात। यह जो विज्ञान है, यन्त्र द्वारा जो अनुसन्धान होता है, मशीनके द्वारा हम जाँच-पड़ताल करते हैं विश्व-सृष्टिकी, उसमें विभूतिकी जाँच होती है। आत्माकी जाँच नहीं होती। किसी यन्त्रपर वह आरूढ़ नहीं होता। तो परमात्माका वैभव यह देखो, एक ओरसे कुछ मालूम पड़े और एक ओरसे कुछ मालूम न पड़े, जादूगरीका खेल देखो। तो जैसे साफ मालूम पड़ती है यह बात, हम धरती पर रहते हैं, हम जिस पर पाँव रखकर चलते हैं उसका नाम धरती है, हमारी आँखसे सिद्ध है, हमरे हाथसे सिद्ध है, हमारे पाँवसे सिद्ध है, हमारी खेतीसे सिद्ध है, हमारी दुकानसे सिद्ध है, जितने हम व्यवहार-व्यापार करते हैं, उससे धरतीका अस्तित्व सिद्ध है—देखो वैभव! क्या विचित्र योग। अब योग देखो। यह तो वैभव है कि—वेद मन्त्रमें बताया कि—

येन द्यौ सहितं येन नाक येन द्यौ रुद्रा पृथिवी च दृढा।

यह ईश्वरका वैभव देखो कि धरती ठसाठस जमकर, ठोस होकर इतने प्राणी समुदायको धारण कर रही है। सिद्ध है। अब दूसरी ओर देखो, जिस

आकाशमें यह पृथिवी घूम रही है, उस आकाशमें यह पृथिवी क्या है? बताओ आकाशके किस हिस्सेमें हैं? अब इसमें आइन्स्टीनका गणित काम नहीं देगा। यदि पृथिवीका पचास गुणा आकाश होता, तो आकाशके पचासवें हिस्सेमें पृथिवी होती, जब आकाशका ओर-छोर नहीं है, पूर्व-पश्चिम, उत्तर-दक्खिन, सब उसमें कल्पित हैं और जब आकाशका आदि और अन्त नहीं है, तो आकाशकी उम्रके किस हिस्सेमें, और आकाशके विस्तारके किस हिस्सेमें यह धरती रह रही है, यह कहीं गणितका विषय होगा? हमारी आँखसे, हमारे व्यवहारसे यह सिद्ध धरती आकाशमें—

मत्स्थानि सर्वभूतानि न चाहं तेष्ववस्थितः।

न च मत्स्थानि भूतानि—मनुष्यकी दृष्टिसे पृथिवी आकाशमें स्थित है, परन्तु आकाशसे तादात्म्यापन्न होकर यदि पृथिवीका विचार करें, तो जादूका खेल हो जायेगा। जैसे जादूका खेल आकाशमें दीखता है। ऐन्द्रियक होने पर भी—इन्द्रियोंसे दीखने पर भी अपने अत्यन्ताभावके अधिष्ठान आकाशमें वह बिल्कुल नहीं है। इसीप्रकार यह सृष्टि परमात्मामें हमारी इन्द्रियोंसे, माने हमारे मनसे, हमारी बुद्धिसे, हम जिस मशीनको अपने ऊपर ओढ़कर, जिस अन्तःकरणकी उपाधिको धारण करके भूताकाशसे या चिताकाशसे या चिदाकाशसे तादात्म्यापन्न होकर हम विचार कर रहे हैं उससे साफ-साफ यह पृथिवी मालूम होने पर भी, यदि हम पृथिवीपर दृष्टि डालते हैं, तो **न च मत्स्थानि भूतानि**—जैसे एक भूत आकाशमें थोड़ी देरके लिए चमक जाये, इन्द्रियोंसे दिख जाये और खोज करने पर वहाँ बिल्कुल नहीं मिले, इसी प्रकार यह सृष्टि जादूगरके खेलकी तरह, ऐन्द्रियक दृष्टिसे दिखती है और तात्त्विक दृष्टिसे नहीं दिखती है। इसका मतलब क्या होता है? कि सारी सृष्टिके रूपमें ईश्वरका वैभव प्रकट हो रहा है और ईश्वरका योग है, माने ईश्वरके सिवाय दूसरी कोई वस्तु यह सृष्टि नहीं है। यह तो—

जथा अनेक रूप धरि नृत्य करै नट कोई।
सोइ सोइ भाव दिखावै आपुन होय न सोई॥

तो *'सोइ-सोइ भाव'* दिखाना वैभव है और *'आपुन होय न सोई'* यह उसका अपने स्वरूपमें योग है। इसका मूल श्रीमद्भागवतमें श्लोक है—

यथा मत्स्यादि रूपाणि धत्ते जह्याद् यथा नटः।

जैसे कोई नट कभी मछली बने, कभी कछुआ बने, कभी वराह बने, कभी हयग्रीव बने, कभी नृसिंह बने, परन्तु नटका जो शरीर है, वह उसका आत्मयोग

है। और, तत्तत् जो रूप हैं वे उसकी विभूति हैं। इनको समझना—सृष्टिके मूलरूपको समझना कि एक चेतन कैसे अनेक रूपमें होता है?

स्वामी रामतीर्थने एक स्थान पर कहा कि यह मनुष्य जब सत्यका विचार करने लगता है, तब अपनी जाग्रदवस्थाके सत्योंको तो सत्य स्वीकार करता है और अपनी सुषुप्ति-अवस्थाके सत्यको और स्वप्नावस्थाके सत्यको सत्य स्वीकार नहीं करता; तब इसका विचार बिल्कुल एकांगी रह जाता है।

हमने देखा है कि स्वप्नावस्थामें एक ही चेतन तत्-तत् संस्कारोंसे युक्त होकर कैसे शत्रु भी बनता है, मित्र भी बनता है, जड़ भी बनता है, चेतन भी बनता है, चर भी बनता है अचर भी बनता है, यह क्या वैभव है—

स्वप्ने देवः स्वमहिमानमनुभवति।

उपनिषदमें आया है। यह आत्मदेव सपनेमें अपनी महिमाका अनुभव करते हैं—**त्रयस्यावस्थाः**—इसके तीन निवास स्थान हैं—जाग्रदवस्था व्यापार-भवन, पाप पुण्य करो, उनका फल लो, स्वप्नावस्थामें न पाप न पुण्य प्रयोगात्मक दशा है, अपना वैभव देखो, प्रयोगशाला है, विज्ञान-भवन। व्यापार-भवन है—व्यवहार भवनका नाम जाग्रत् है। विज्ञान-भवनका नाम स्वप्न है। कितनी शक्ति है, अपने अन्दर। एक चैतन्य-संस्कार मात्रसे वहाँ नया सूर्य, नया चन्द्रमा, नया समुद्र, नयी पृथिवी, नयी सृष्टिको बना सकता है।

वह देखो उसका रौद्ररूप! क्या रौद्ररूप है उसका। सबका संहार करके **सुषुप्तौ उपसंहरते स एकः**। आनन्द-भवनमें, सुषुप्ति। सबका संहार करके अपने स्वरूपमें चला गया, कुछ नहीं।

तो 'तत्त्वतः' देखो भाई। तत्त्वमें दो चीज है असलमें, एक तत् है एक त्वं है। 'तत् त्वं ध्यान इति तत्त्वतः।' यह विलक्षण ही उत्पत्ति है। तत्त्वमसिमें जो तत् त्वं है, उसके द्वारा वस्तुका जब विचार करो, तब तत्त्व आवे, तत् भी आवे और त्वं भी आवे। तत्त्वतः देखो। तत्त्वमसि।

वैसे 'तत्' शब्दका अर्थ होता है, अब वैयाकरण रीतिसे बताते हैं। तत्+स+च—तत्त्वम्। यह जगत्, ईश्वर और जीव इन तीनोंका रहस्य जिसमें छिपा हुआ है, उसको तत्त्व बोलते हैं। इसका लक्षण क्या बताते हैं? अनारोपिताकारम्। आकारका आरोप मत करो। यह जीव है, यह शिव है, यह जगत् है, **भिन्न-भिन्न लक्षणसे सिद्ध भिन्न-भिन्न प्रमाणसे सिद्ध जो भिन्न-भिन्न पदार्थ हैं, उनके आरोपसे विनिर्मुक्त जो अबाधित सत्ता है, प्रमाणान्तरसे अधिगत और प्रमाणान्तरसे अबाधित**

जो सत्ता है उसको तत्त्व बोलते हैं। मतलब यह कि एक परमात्मामें जो ऐन्द्रियक ज्ञान है, अन्तरिन्द्रियसे होनेवाला ज्ञान और बहिरिन्द्रियसे होनेवाला ज्ञान। तो अन्त-रिन्द्रिय और बहिरिन्द्रियकी उपाधिसे जितना ज्ञान होता है, उसका अपवाद कर दो।

देखो आँखसे जो रूप मालूम पड़ता है, कानसे जो शब्द मालूम पड़ता है, त्वचासे जो स्पर्श मालूम पड़ता है, नासिकासे गन्ध, रसनासे रस और मनसे विविध प्रकारके गुण और बुद्धिसे, विचारकी उपाधिसे नाना प्रकारके आकार, विकार, संस्कार, प्रकार जो मालूम पड़ते हैं, उनका एक बार अपवाद कर दो, तिरस्कार कर दो। सम्पूर्ण बौद्धिक ज्ञानों, मानस ज्ञानों और ऐन्द्रियक ज्ञानोंका, तिरस्कार करके अवस्थाओं और अवस्थाओंके धर्म, उनके स्वभावोंका एकबार बहिष्कार कर दो, बट्टेखातेमें डाल दो, कुछ नहीं, अब देखो सबका तिरस्कार करनेके बाद क्या चीज रहती है, उसको बोलते हैं सत्य। हमारा मन, हमारी बुद्धि, हमारी इन्द्रियाँ, हमारा मन, जिसमें कोई गड़बड़ अपनी बनायी हुई डाल न दे उस वस्तुमें, इसलिए इनको और इनके द्वारा बनायी हुई गड़बड़को अलग कर दो! देखो साक्षी स्वयं प्रकाश, वह अधिष्ठान है, **तत्त्वतः यो वेत्ति** केवल सृष्टि, स्थिति, प्रलयके कारणके रूपमें ही नहीं तत्त्वतः, कारणसे परे, (कारण-कारण, कई महात्मा प्रयोग करते हैं) परात्पर, उपनिषद्‌में आया—**अक्षरात् परतः परः**। जो सबकी कारणभूता प्रकृति है, अक्षर तत्त्व है, उससे भी परे पुरुषोत्तम—उत्तम पुरुष, इसको जो तत्त्वतः जानता है, वह अविकम्प योग है। **सोऽविकम्पेन योगेन युज्यते**—अविकम्प योगका अर्थ ऐसा यह परमात्माकी प्राप्ति है, देखो समाधिमें तो यह प्राप्त रहता ही है, सुषुप्तिमें भी प्राप्त रहे। और, समाधि और सुषुप्तिमें तो प्राप्त रहता ही है, स्वप्न और जाग्रत्‌में भी प्राप्त रहे। यह मरते समय भी प्राप्त रहे, जन्मते समय भी प्राप्त रहे, जीते समय भी प्राप्त रहे 'अविकम्पेन योगेन' दुकानमें भी रहे, घरमें भी रहे, जंगलमें भी रहे, युद्धमें भी रहे—अविकम्पेन—इससे वियोग नहीं हो, ऐसा परमात्मा है—अविकम्पेन योगेन—

सोवत जागत पड़े उताने, कहै कबीर हम वही ठिकाने।

तीर्थे श्वपच गृहे वा नष्टस्मृतिरपि परित्यजदेहं

ज्ञान समकाल मुक्तः कैवल्यं याति हतशोकः।

तीर्थमें होवे या चाण्डालके घरमें होवे, जगहका ख्याल ही छूट गया और '**नष्टस्मृतिरपि**'—बिल्कुल याद नहीं है, स्मृति तो चित्तकी एक वृत्ति है, संस्कारजन्य है, वह भी छूट गयी, मान लो सुषुप्तिमें किसीका हार्टफेल हो जाये, तो ज्ञानी होगा तो फिर क्या उसका पुनर्जन्म होगा? संस्कार शेष रह जायेंगे? ज्ञानी

पागल हो जाये, क्या उसके संस्कार शेष रह जायेंगे, उसका पुनर्जन्म हो जायेगा? ये तो रोग हैं मस्तिष्कके नष्टस्मृतिरपि। हाय-हाय करके धरतीमें लोट रहा है, तो क्या वहाँ परमात्माके वैभवसे वियोग हो गया? वहाँ क्या परमात्माके सिवाय और शैतान आगया? नहीं, जो परमात्माको पहचान लेता है, वह हर हालतमें परमात्माको पहचानता है—

देख मृत्युका रूप धरे, मैं नहिं डरूँगा तुमसे नाथ।
भले बने हो लम्बक नाथ, चार चार कोस के हाथ॥

परमात्माका वह स्वरूप है, फिर तो भूत भी दिखे, तो परमात्मा और पेड़ पौधा—दिखे तो सो भी परमात्मा! क्या रूप बनाया है भाई! क्या शक्ल-सूरत है!

अब देखो तत्त्वतःका क्या अर्थ हुआ—'त्वं स्त्री त्वं पुमान्'—स्त्री परमात्माकी विभूति है और पुरुष! वह भी विभूति है। मनुष्य, पशु भी भगवान्‌की विभूति हैं। आगे वर्णन आवेगा भगवान्‌की विभूतियोंका—सृष्टि, स्थिति, प्रलय परमात्माकी विभूति है। उसमें उपादानरूपसे, प्रकाशक रूपसे, अधिष्ठानरूपसे परमात्मा है, यह उसका योग है। और, तत्त्वतः वस्तुतः यह वैभवमें अवैभव, आधारमें निराधार, कारणमें अकारण, ऐसे बैठा हुआ है। 'सोऽविकम्पेन योगेन'का अर्थ हुआ जाग्रत्में, स्वप्नमें, सुषुप्तिमें—**सम्पूर्ण जगदेव नन्दनवनम्**। सारा जगत् नन्दन वन है। **सर्वेऽपि कल्पद्रुमः**। सब वृक्ष कल्पवृक्ष हैं। **गाङ्गंवारि समस्तवारि वा**—सारे जल गंगाजल हैं। **पुण्या समस्ता क्रियाः**—सारी क्रिया पवित्र है। **वाचा प्राकृत संस्कृतौ श्रुतिशिरो**—भाषामें बोलो, *'भाखा अथवा संसकृत करत भेद भ्रम छेद'*—विचार सागरमें आया, कोई भी बोली होय, वह तो वेदान्त है। उसीका नाम वेदान्त है, उसीका नाम उपनिषद् है **श्रुतिशिरो वाराणसी मेदिनी**—सारी धरती काशी है। **सर्वावस्थिति वस्तु विषयरथवा दृष्टे परे ब्रह्मणि**—परमात्माका साक्षात्कार हो जाने पर जहाँ हैं वहीं, जैसे हैं वैसे ही, ज्यों-के-त्यों साक्षाद् परमब्रह्म हैं।

अविकम्प योग—इसका अर्थ है ऐसा योग जो किसी बीजसे युक्त होवे, ऐसा योग जो किसी विकल्पसे युक्त होवे, ऐसा योग जो किसी सम्प्रज्ञातसे युक्त होवे, सो नहीं, जिसमें जाग्रत्, स्वप्न, सुषुप्ति बिल्कुल एक समान, जागो तो वही, सपना देखो तो वही, सोवो तो वही, समाधिमें वही, विक्षेपमें वही, संहार करते समय भी वही, पालते समय भी वही, सृष्टि बनाते समय भी वही, **अत्र संशयं न**—इसमें कोई संशय नहीं है। ऐसा 'अविकम्प योग' प्राप्त होवे। बोले—क्या वह वैभव और क्या वह योग है और उसका तात्त्विक ज्ञान क्या है? आओ कृष्णसे ही पूछें।

'कृष्णसे ही पूछेंगे', यह कहते ही एक पुरानी बात याद आयी। सन् अट्ठाईसमें हम पंडित रामभवनजी उपाध्यायसे व्याकरण पढ़ते थे। तो मालवीयजीने सनातन धर्म सभा की, तो उनको बुलाया था। तो मैं उनके साथ-साथ उनकी सेवामें गया था। उन्हीं दिनों विष्णु दिगम्बरका 'गीताज्ञान यज्ञ' हो रहा था। बड़ी भारी सभा जुड़ी थी, बड़े-बड़े गीताके पंडित इकट्ठे थे मंचपर। इतनेमें एक अवधूत आया, हाथमें डंडा लिये, कमरमें लंगोटी, बोला, हम भी व्याख्यान देंगे। बोलो महाराज! मालवीयजी तो बड़े श्रद्धालु थे, चाहे जिसको बहुत आदर देते थे। मैंने मालवीयजीको देखा, मामूली-मामूली आदमियोंके पाँव छूते थे, भगवद्बुद्धिसे नमस्कार करते थे। अब वह अवधूत खड़ा हो गया। उसके आँखसे आँसू ढरने लगे। और उसने कहा—यह गीता कोई शास्त्र नहीं है, काहेको इसको ब्रह्मसूत्रके और उपनिषद्के पचड़ेमें तुम लोग डालते हो! यह तो एक मित्रने दूसरे मित्रको अपने दिलकी बात कही है। उसने बताया कि मित्रकी बात मित्र ही समझता है। श्रीकृष्णकी बात अर्जुन समझता है। यदि तुम्हें गीता समझनी होय, तो श्रीकृष्णसे मित्रता करो। जब श्रीकृष्णसे मैत्री जुड़ जायेगी तुम्हारी, तब एक दोस्त अपने दोस्तसे कैसे बोलता है, यह बात समझमें आजायेगी। ऐसे-ऐसे इशारे होते हैं दो दोस्तोंमें कि बाहरका तीसरा आदमी कोई समझे ही नहीं और कृष्ण तो कहते हैं—अर्जुन, मैं तुमको व्यक्तिगत रूपसे यह बात बताता हूँ। यह भी तो देखो न!

यत्तेऽहं प्रीयमाणाय वक्ष्यामि हितकाम्यया।

तुमको तृप्ति होती है और मेरे मनमें हित भरा है। तुम बढ़िया श्रोता और हम बढ़िया वक्ता, आओ सुन लो। देखो एक जगह ऐसा कहा भगवान्ने अर्जुनको—

भक्तोऽसि मे सखा चेति रहस्यमिदमुत्तमम्।

तुम मेरे भक्त हो, मेरे सखा हो, इसलिए यह उत्तम रहस्य बताता हूँ।

माने जो अभक्त है और सखा नहीं है वह इस रहस्यको कैसे समझेगा?

एक जगह देखो गीतामें बताया—

इष्टोऽसि मे दृढमिति ततो वक्ष्यामि ते हितम्।

अर्जुन! तुम मेरे इष्टदेव हो, तुम्हारा इष्टदेव मैं हूँ, मेरे इष्टदेव तुम हो। इष्टोऽसि मे दृढ़मिति। जैसे यज्ञ-यागादिके द्वारा, ब्राह्मण लोग इन्द्रादि देवताका यजन करते हैं, उनका इष्ट करते हैं वैसे तुम मेरे इष्ट हो, मैं तुम्हारी सेवा जो कर रहा हूँ, तुम रथी और मैं सारथि, तुम इष्ट, मैं पुजारी। देखो प्रेम ऐसा।

तो श्रीकृष्णकी बात समझमें आवे कैसे?

इदं ते नातपस्काय नाभक्ताय कदाचन।
न चाशुश्रूषवे वाच्यं न च मां योऽभ्यसूयति॥ 18.67

इसमें तर्क-वितर्क क्या करेगा! वह तो अर्जुनके कन्धेपर हाथ रखा—प्यारे तुमको यह बात बताता हूँ। वेदान्तकी बात, उपनिषद्की बात सूखे तर्कसे समझमें नहीं आती है। बालकी खाल निकाल देनेसे वेदान्त समझमें आजायेगा? **नैषा तर्केण मतिरापनेया**—कठोपनिषद् बोलती है, बाबा तर्कसे ब्रह्मतक यह बुद्धि नहीं पहुँच सकती। ब्रह्म तक पहुँचानेके लिए तर्क रथ नहीं है। तर्कका सम्बल लेकर, तर्कका कलेवा लेकर यहाँ तक नहीं पहुँच सकते।

श्रद्धावित्तोभूत्वा आत्मन्येवात्मानं पश्येत्।

इसमें तो श्रद्धाकी पूँजी चाहिए। सरल हृदय व्यक्ति, देखो कितने प्रेमसे श्रीकृष्ण बोल रहे हैं—'अर्जुन! यह बात सबसे कहनेकी नहीं है, तुमसे बताता हूँ। यह जो सृष्टि है, हृदय पर हाथ रख दिया, बोलते समय श्रीकृष्णने पहले तो घोड़ोंकी बागडोर और चाबुक एक हाथमें, और दूसरेमें ज्ञानमुद्रा—**ज्ञानमुद्राय कृष्णाय तोत्रवेत्रैक पाणये।** **ज्ञानमुद्राय**—अब ज्ञानमुद्रा बिगाड़ दी। उसको बिगाड़कर क्या किया? **अहं सर्वस्य प्रभवः**—अहं जब बोले, तो उस हाथसे छाती ठोंक दी।

एक बार ले चलो अर्जुनके रथपर, जीवनमें सारथि है गौण बना बैठा है। सारथिका रथी मुख्य होता है। आपने देखा कि नहीं!

आप देखो, आपके जीवनमें कृष्ण मुख्य है कि गौण है? कुछ है कि नहीं है? तो आज्ञा दी, किसने? कृष्णने? कि नहीं, अर्जुनने **सेनयोरुभयोर्मध्ये रथं स्थाप्यमेऽच्युत।**

बोले—अच्छा, लो। दिखा रहे हैं। और वह सारथि क्या कह रहा?

अहं सर्वस्य प्रभवो मत्तः सर्वं प्रवर्तते।
इति मत्वा भजन्ते मां बुधा भावसमन्विताः॥ 8॥

प्रेमका प्रसंग आगया—

मच्चिता मद्गतप्राणा बोधयन्तः परस्परम्।
कथयन्तश्च मां नित्यं तुष्यन्ति च रमन्ति च॥ 9॥
तेषां सततयुक्तानां भजतां प्रीतिपूर्वकम्।
ददामि बुद्धि योगं तं येन मामुपयान्ति ते॥ 10॥

देखो कहते हैं कि अर्जुन! 'बुधा'—बुद्धि नहीं बुद्धिसे बुद्ध होता है, बुद्धमें बोधापना रहता है माने व्यक्तित्वकी आत्यन्तिक निवृत्ति नहीं होती और जो बुध

होता है, वह 'बुध अवगमे'—ज्ञानमात्र रहता है। उसमें ज्ञेय और ज्ञाताका भेद नहीं है।

तो कौन-सा ऐसा ज्ञान होता है जिससे बुद्ध लोग भाव समन्वित होकरके भगवान्‌का भजन करते हैं? वह कौन-सा ज्ञान है? भाव नहीं रहा हृदयमें तो क्या रहा? केवल बातचीतकी निपुणतासे परमार्थका अनुभव होगा? केवल बुद्धिकी सूक्ष्मतासे परमात्माका अनुभव होगा? वे अर्थित्व हो गये, सामर्थ्य हो गये। अधिकारी कैसे बनता है? आजकल अधिकारी उसको बोलते हैं हमारा उसपर हक है कि नहीं? हकदारको अधिकारी बोलते हैं। संस्कृतमें हकदारको अधिकारी नहीं बोलते हैं। किसको बोलते हैं? कि जिसके अन्दर योग्यता होवे और आकांक्षा होवे, आर्थित्व होवे और सामर्थ्य होवे! ये बैरिस्टर लोग हैं, जज लोग हैं, बड़े बुद्धिमान हैं, सामर्थ्य है उनके अन्दर, अधिकार हैं, परन्तु अर्थित्व नहीं है, वे ब्रह्मको नहीं चाहते है। और, जो मूर्ख हैं उनके अन्दर अर्थित्व होवे, परन्तु शुद्ध प्रज्ञा न होवे, वासनाकलुषित प्रज्ञा होवे तो योग्यता नहीं आवेगी। अर्थित्व और सामर्थ्य दोनों चाहिए।

ये बुद्ध लोग हैं, ये 'भजन्ते मां भावसमन्विता'—ये सब-के-सब भावसे युक्त होकर मेरा भजन करते हैं। विचित्र है। हैं बुध, परमात्म तत्त्वको जानते हैं, फिर भी भाव युक्त होकरके मेरा भजन करते हैं।

बोले—भाई! उनको ऐसा क्या ज्ञान हुआ जिससे ज्ञान होनेके बाद भी भजन करते हैं? भजनका रस ही विलक्षण है गोपाल तापनी उपनिषद्‌में आया—

किं नाम भजनम्? भजन किसको कहते हैं? उसके उत्तरमें बोलते हैं—**भजनं नाम रसनं।** भजन माने रस लेना—स्वाद लेना। भजन माने दिमाग सूखना नहीं, भजन माने दिल सूखना नहीं, भजन माने रससे तरबतर हो जाना।

भला; वह कौन-सा ज्ञान है जिसके कारण ये ज्ञानी लोग भावयुक्त होकर भजन करते हैं?

अहं सर्वस्य प्रभवो—सबका उपादान कारण मैं हूँ। और, **मत्तः सर्वं प्रवर्तते**—सब मुझसे प्रवृत्त होता है। माने आप ऐसे देखो कि एक मनुष्य है, वह माँ-बापसे पैदा हुआ। तो माँ-बाप दो न हो, एक हो, माँ अलग और बाप अलग न हो, **त्वमेव माता च पिता त्वमेव** रोज तो बोलते हो। माँ स्त्री होती है और पिता पुरुष होता है, स्त्री माता और पुरुष पिता। तो 'त्वमेव माता च पिता त्वमेव'का क्या अर्थ हुआ? जिसमें स्त्री-पुरुषका भेद न हो, खुद ही स्त्री हो और खुद ही पुरुष हो, माने स्त्री-पुरुष दोनोंका कारण हो।

अच्छा, दूसरी बात क्या होगी! पहली तो यह कि स्त्री-पुरुषका उसमें भेद नहीं है। दूसरी बात यह होगी कि उपादान कारण वही होगा। माँ-बाप बच्चेको जानते हैं। बच्चा मिट्टी-पानी-आग-हवासे एक पिण्ड बनता है, पंचभूतसे बनता है, तो पंचभूत भी वही होवे—**प्रभवति अस्माद् इति प्रभवः**। जिससे जन्म होवे उसका नाम प्रभव है। प्रभवः कारणम्। उपादान कारण।

अब देखो वही बड़ा होनेपर मास्टर भी होवे, सिखावे भी और वही जवान होनेपर, सेनापति जैसे सेनाको संचालित करता है, वह भी होवे, वह माँ भी होवे, बाप भी होवे, शिक्षक भी होवे, सेनापति भी होवे, ईश्वरकी तरफसे देखो।

मत्तः सर्वं प्रवर्तते।

कब सैनिक खड़ा हो जाये और कब चले। सेनापति जब उसे कहे। मैंने सुना था बनारसमें, एक रिटायर्ड सैनिक था। घरमें जरूरत थी। जाकर बाजारमें दही खरीदा और भुलवेमें दही लिया, हाथमें दही लेकर घर जा रहा था, एक युनिवर्सिटीका कोई विद्यार्थी निकला, उसको मजाक सूझा, तो जो शब्द बोलने पर सैनिक सीधे खड़ा हो जाता है—'अटैंशन्' वह पीछेसे उसने बोल दिया। झट उसने दही फेंक दिया और सीधा खड़ा हो गया।

यह जो सृष्टि है, इसको नचाने वाला वही है—मत्तः सर्वं प्रवर्तते। ईश्वरके एक-एक हुकुम पर सृष्टि खड़ी हो जाती है, चलने लगती है, लेट जाती है, बन्दूक घुमा देती है, बन्दूक ऊपर उठा देती है—मत्तः सर्वं प्रवर्तते। सर्वका जो प्रवर्तक है, सो ईश्वर है। निमित्त कारण भी वही है और उपादान कारण भी वही है। इसी तरहसे ईश्वरका वर्णन गीतामें बहुत जगह है। आपको बतावें—

यतः प्रवृत्तिर्भूतानां येन सर्वमिदं ततम्।
स्वकर्मणा तमभ्यर्च्य सिद्धिं विन्दति मानवः॥ 18.46

ईश्वर हमारे दिलमें बैठकर चला भी रहा है और उसीने बनाया भी। ऐसा समझो कि एक सोनेका यन्त्र बना और वह बिजलीसे चलता है। तो सोना क्या है? तेजस् तत्त्व है कि नहीं? और वह बिजलीसे चलता है, तो बिजली क्या है? तेजस् तत्त्व है कि नहीं? तेजस् तत्त्वके ही दोनों रूप हैं। स्वर्ण भी तेजस् तत्त्वका ही रूप है। तेजस् तत्त्व चार तरहका होता है। एक दिव्य होता है, पेटमें होता है जो अन्नको पचाता है—ओजस् बोलते हैं उसको। दूसरा धरतीपर होता है जो रसोई पकाता है, तीसरा आकाशमें होता है तो बिजलीके रूपमें चमकता है, चौथा खानमें-से निकलता है जो सोना होता है। ये तेजस् तत्त्वके चार रूप हैं, तो सोना भी तेजस्

तत्त्व और बिजलीको चलानेवाला भी तेजस् तत्त्व। एक ही तेजस् तत्त्व, मशीन भी बन गया। यह जो मशीनका ढाँचा है, यह ढाँचा भी बन गया और इसको चलानेवाला भी बन गया ईश्वर अभिन्ननिमित्तोपादान कारण है। अर्थात् माटी भी वही है और कुम्हार भी वही है। कुम्हारको निमित्त कारण बोलते हैं और माटीको उपादान कारण बोलते हैं।

कार्यं यदुपादाय प्रवर्तते—कार्यमें जो कारण अनुगत रहता है, उसको उपादान बोलते हैं, जैसे घड़े में मिट्टी है। वह ईश्वर हमारे शरीर में है, इस मशीनके रूपमें ही है और इस मशीनके चलानेवालेके रूपमें भी है—**अहं सर्वस्य प्रभवो मत्तः सर्वं प्रवर्तते**—देखो, तत्त्वकी ओर जाओ तो इसका अर्थ है चेतन और जड़का भेद नहीं है। जिसको हम जड़ कहते हैं वह अपने मूलरूपमें चेतन है और जिसको हम चेतन कहते हैं वह अपने मूलरूपमें सत्ता है। यह बड़ी अद्‌भुत बात है। जब चेतनको निष्क्रिय मानते हैं, निर्विशेष है, निस्संकल्प है, निर्विकल्प है, निर्धर्मक है, निर्द्वन्द्व है, तो चेतन सत्य क्या पृथक् हुआ? और जब सत्ताका निरूपण करने वाला बोलता है कि सत् स्वयंभू है, सर्वभवन सामर्थ्य सत्‌में है, तब उसमें चेतनसे क्या विलक्षता है? ये नास्तिक लोग जो हैं, वे सत्ताका निरूपण करते हैं, कहते हैं यह कहीं सत् अद्वितीय जगत्‌के मूलमें था। ये जो जड़ाद्वैतवादी हैं वे कहते हैं एक सत्ता थी जगत्‌के मूलमें, वह सर्वरूपमें परिणत हुई। तो स्वयंभवन सामर्थ्य उसमें मान लेने पर स्वयं प्रकाशता तो अपने आप ही आ गयी, जब स्वयं प्रकाशता आ गयी तो चेतन हो गया और स्वयं प्रकाश चेतनको निर्विशेष, निष्क्रिय, निर्विकल्प, निस्संकल्प, निर्धर्मक जब मानते हैं, तो सन्मात्रसे उसमें क्या विशेषता रह गयी? एक ही वस्तु **मत्तः सर्वं प्रवर्तते**—सबको नचानेवाला भी है और सब भी हैं, इसका अर्थ यह हुआ। सबकी दृष्टिसे नचानेवाला है, नचानेवालेकी दृष्टिसे सब हैं। यदि नाचना और नचाना इन दोनोंसे विलक्षण तत्त्वपर दृष्टि जाय तो वहाँ आत्मा और परमात्माका भेद कहाँसे निकलेगा? **इति मत्त्वा** ज्ञान हुआ मामूली ज्ञान नहीं हुआ। देखो, अहं-अहंको ढूँढते जायें तो ज्ञानमात्र ही रहता है। क्योंकि देखो अपनी मौतका किसीको प्रत्यक्ष नहीं हो सकता, अपने अभावका किसीको प्रत्यक्ष नहीं हो सकता। और मैं अज्ञान हूँ—इसका भी किसीको प्रत्यक्ष नहीं हो सकता, क्योंकि मैं अज्ञान हूँ, यह ज्ञानसे ही जाना जाता है। मैं मर गया—यह रहके ही जाना जाता है। मैं मर गया—यह अनुभव सत्तामें कभी नहीं आता और मैं अज्ञान हूँ—यह किसी कक्षामें नहीं आता,

क्योंकि अज्ञानको जान रहे हैं, तब तो अनुभव है, ज्ञान है न, मैं अज्ञानको जानता हूँ, मैं मृत्युको जानता हूँ तो अपनी मृत्यु और अपनी अज्ञानता कभी किसी को अनुभव में आ नहीं सकती। इसका अर्थ है आत्मा सत्-चित्-स्वरूप है तो अहंको ढूँढों तो आत्मा सत्-चित्-अविनाशी और स्वयं प्रकाश मिलेगा।

अच्छा! अब अपनेको छोड़ दो, ये जो शरीर सहित पंचभूत हैं, इनके मूलका अनुसन्धान करो, तो वह अविनाशी मिलेगा वह परिपूर्ण सर्वदेशमें मिलेगा, अनन्तकोटि ब्रह्माण्ड उसीमें उदय हो रहे, उसीमें विलयको प्राप्त हो रहे। वह चेतन है कि नहीं, यह तो पता नहीं चलेगा, परन्तु शक्तिमान सत् है—यह मालूम पड़ेगा। सर्व भवन सामर्थ्यवाला सत् है—यह सिद्ध होगा। तो अधिष्ठान जो है वह सर्वभवन सामर्थ्यवाला सत् है उसको ईश्वर कहते हैं और यह जो अहं है वह स्वयंप्रकाश चेतन है, इसे आत्मा कहते हैं। यह यदि उससे न मिले, उपाधिको छोड़ देनेपर पंचकोश और पंचभूतकी उपाधि छोड़ देनेपर यदि यह वह न हो, तो वह जड़ होगा और यदि वह यह न हो तो वह परिच्छिन्न होगा। तो इसकी परिच्छिन्नता काटनेके लिए और उसकी जड़ताका निवारण करनेके लिए महावाक्य दोनोंकी एकताका निरूपण करते हैं, उसके रूपसे। अधिष्ठानके रूपसे यह सम्पूर्ण जगत्का कारण है आत्मा। और आत्माके रूपसे ब्रह्म है स्वयं प्रकाश चेतन तो तत्त्वमसि महावाक्य दोनोंकी एकताका प्रतिपादन करते हैं। **इति मत्त्वा**—यह जानकर भजन करते हैं। तब जिनके अन्दर उपासनाके संस्कार नहीं हैं, वे वेदान्ती तो घबराये—अरे ज्ञानके बाद यह क्या आया? अरे ज्ञानके बाद तुम्हारी दुकान आयी तो नहीं घबराये, व्यापार आया, तो नहीं घबराये, खाना-पीना आया तो नहीं घबराये, बीबी-बच्चे रहे ज्ञानके बाद तो नहीं घबराये और ज्ञानके बाद भक्ति आयी तो घबराते काहेको हो? सारी सृष्टि तो तुम्हारी ज्ञानके बाद चल रही है और ज्ञानके बाद अगर भगवान्का भजन आ गया तो इसमें घबरानेकी क्या बात है? तो घबराओ मत, **इति मत्त्वा भजन्ते मां बुधाः भाव-समन्विताः। यं सर्वे नमन्ति मुमुक्षवो ब्रह्मवादिनश्च।** ईश्वरके सामने सब झुकते हैं, क्या मुमुक्षु और क्या ब्रह्मवादी। क्योंकि देहादि जो परिच्छिन्न शरीरमें प्रतिमान मात्र हैं, वह प्रतिमान मात्र अपने कारण द्वारा नियन्त्रित हैं, अनित जन्मायं तद् अधिमुच्य नियन्त्रितं भवेत्।

अच्छा अब यह प्रसंग कि ज्ञानी लोग कैसा भजन करते हैं, क्या रसीला भजन होता है ज्ञानियोंका कल सुनावेंगे।

☆

अहं सर्वस्य प्रभवो मत्तः सर्वं प्रवर्तते।
इति मत्त्वा भजन्ते मां बुधा भाव समन्विताः॥ ८॥

मनुष्यके लिए यह कितने आनन्दकी, सौभाग्यकी बात होगी कि परमात्माके साथ उसका अविकम्प योग है। अविकम्प माने अविचल, अखण्ड योग होवे। एक क्षणके लिए जरा-सा भी परमात्मासे अलग नहीं हो, ऐसा योग कैसे होवे?

अब यह बताते हैं कि यदि परमात्मा ही हर जगह हो और परमात्मा ही हर समय हो और परमात्मा ही हर चीज में हो, परमात्माके सिवाय दूसरी कोई चीज होवे ही नहीं, तब तो वह मिला-मिलाया रहेगा—अविकम्प योग अखण्ड योग होवेगा। और, कहीं परमात्मा हो कहीं न हो, कुछ हो कुछ न हो, कभी हो कभी न हो, तो कभी कहीं किसी रूपमें परमात्मा रुक जाया करेगा। तो यह बात समझानेके लिए परमात्माके जगत्-कारणत्वका निरूपण किया जाता है।

वेदान्तियोंका ऐसा कहना है कि परमात्मासे जगत्की सृष्टि होती है या उसमें स्थिति होती है, या जगत्का परमात्मामें प्रलय होता है, यह जगत्की अवस्था और व्यवस्था बतानेके लिए हम उत्पत्ति, स्थिति, प्रलयका वर्णन नहीं करते हैं बाबा! करते हो तो उत्पत्ति, स्थिति, प्रलयका वर्णन और कहते हो कि उत्पत्ति, स्थिति, प्रलयकी सिद्धिके लिए वर्णन नहीं करते हैं, तो तुम्हारा अभिप्राय क्या है? बोले—हमारा अभिप्राय यह है कि उत्पत्ति-स्थिति-प्रलयका कारणरूप जो परब्रह्म परमात्मा है, उसके सिवाय दूसरी कोई वस्तु नहीं है। परमात्माकी अद्वितीयताका प्रतिपादन करनेके लिए तटस्थ लक्षणकी रीतिसे हम सृष्टि, स्थिति, प्रलयका प्रतिपादन करते हैं। वास्तविक रीतिसे नहीं करते हैं। इसलिए आप देखोगे कि जहाँ-जहाँ सगुण ईश्वरका वर्णन आया है, वहाँ-वहाँ तो स्रष्टाके रूपमें, स्थिति-स्थापकके रूपमें या प्रलयकर्ता के रूपमें ईश्वरका वर्णन आया है। और जहाँ परब्रह्म परमात्माके निर्गुण रूपका वर्णन आया है, वहाँ सृष्टि, स्थिति, लयके वर्णनको प्रधानता नहीं दी है। जैसे गीतामें ही भगवान्के दो रूपका वर्णन है, एक

भजनीय रूपका और एक ध्येयरूपका। तो तेरहवें अध्यायमें अमानित्व, अदम्भित्व आदि अधिकारीके लक्षणसे युक्त जो जिज्ञासु है, उसके लिए **ज्ञेयं यत् तत्प्रवक्ष्यामि** 13.12 करके जब परमात्माके स्वरूपका वर्णन कियौ गया, तो **अनादिमत्परं ब्रह्म न सत् तन्नासदुच्यते।** 13.12 **सर्वतः श्रुतिमल्लोके सर्वमावृत्य तिष्ठति।** 13.13 **सर्वेन्द्रियगुणाभासं सर्वेन्द्रिय विवर्जितम्। असक्तं सर्वभृच्चैव निर्गुणं गुणभोक्तृ च॥** 13.14 **बहिरन्तश्च भूतानामचरं चरमेव च।** 13.15

वहाँ कार्य-कारण भावका निरूपण नहीं किया बल्कि अद्वितीय अखण्ड परब्रह्म-परमात्माका निरूपण किया, अचर भी वही और चर भी वही। तो ज्ञेय परमात्माका जहाँ वर्णन आता है वहाँ स्थिति दूसरी होती है। वहाँ बताते हैं— **यज्ज्ञात्वाऽमृतमश्नुते।** 13.12—उसके जान लेने मात्रसे ही अमृतकी प्राप्ति हो जाती है और जहाँ भजनीय भगवान्‌का वर्णन आता है, उन भगवान्‌का तो भजन करना, सेवन करना, वहाँ सर्वज्ञ, सर्वेश्वर, सर्वशक्तिमान, सर्वकारण परमात्माका वर्णन आता है।

अभी आपको खास बात वेदान्तकी सुनाकर आगेकी चर्चा करते हैं। प्रायः वेदान्ती जब वेदान्तका निरूपण करते हैं तो वे द्रष्टा और दृश्यके विवेकको प्रधानता देते हैं। जाग्रतका द्रष्टा मैं, स्वप्नका द्रष्टा मैं, सुषुप्तिका द्रष्टा मैं, जैसे घड़ेका द्रष्टा घड़ेसे न्यारा होता है, वैसे देहादिका द्रष्टा मैं देहादिसे न्यारा। तो इसमें समझो कि एक होता है दृश्य और एक होता है उसका द्रष्टा। तो देहको मैं जानता हूँ तो देहसे मैं न्यारा हूँ, घड़ेको जानता हूँ तो घड़ेसे न्यारा हूँ; वैसे मैं देहको जानता हूँ तो देहसे न्यारा हूँ।

अच्छा! तुम तो देहसे न्यारे हो गये, अब यह देह क्या है? एक सवाल देखो, तुम तो देहसे न्यारे हो, तो एक तुम हुए और एक देह हुआ, इसीका नाम तो द्वैत हुआ। तो अब इसकी प्रणाली दो है, एक तो एक जीववादकी रीति है और एक अनेक जीववादकी रीति है। अनेक जीववादमें भी एक आभासवादकी रीति है, एक अवच्छेदवादकी रीति है, एक प्रतिबिम्बवादकी रीति है। और एक जीववादमें भी कुछ थोड़ी-थोड़ी प्रक्रियाका भेद है। तो सीधा सवाल कि तुम तो देहको जाननेवाले हो, इसलिए देहसे न्यारे हो, परन्तु यह देह क्या है? तो बोले— देह तो पंचभूतका बना हुआ पुतला है।

अच्छा तो पंचभूतका जो पुतला है, यह अलग-अलग पुतले क्यों बने? कोई स्त्री, कोई पुरुष? बोले—कर्मानुसार बने।

देखो, इसका जवाब ऐसे देते हैं। जिस जीवका जैसा कर्म, उसको कर्मके अनुसार भोग भोगनेके लिए भिन्न-भिन्न शरीरोंकी प्राप्ति हुई, माने ईश्वरने कर्मके अनुसार पंचभूतसे बनाकरके जीवको अलग-अलग शरीर दिया।

अब देखो आगे। ये जो पंचभूत हैं, इनमें सब एक सरीखे ही हैं कि इनमें भी कार्य-कारण भाव है? तो सम्पूर्ण देह पाञ्चभौतिक होते हैं, पशुके, पक्षीके, मनुष्यके, कीड़ेके, मकौड़ेके, पौधेके, सब शरीर पंचभूतके बने हुए हैं और पंचभूतमें मिट्टी पानीमें, पानी आगमें, आग हवामें, हवा आकाशमें और जितने नाम रूप हैं वे सबके सब अनभिव्यक्त रूपसे सत्तामें रहते हैं। जहाँ नाम और रूपका व्याकरण नहीं हुआ है नाम और रूप विशेष आकृतिको प्राप्त नहीं हुए हैं, उस अव्यक्त सत्‌में यह सम्पूर्ण नामरूपात्मक सृष्टि होती है।

देखो द्रष्टाको उधर छोड़ दिया भला जो देहका द्रष्टा था सो तो असंग देहद्रष्टा और यह देह पंचभूतमें और पंचभूत परस्पर एक दूसरेमें, आकाश मनमें, मन बुद्धिमें और बुद्धि जहाँ नामरूप अभिव्यक्त नहीं हैं उस सत्‌में।

तब भी यह बात थी कि एक तो इधर द्रष्टा निकल गया शरीरको छोड़कर अलग और इधर पंचभूत और पंचभूतोंके जो कारण हैं वे एक अव्यक्त सत्तामें जाकरके लीन हो गये। अब यह साक्षी इस कार्य देहका भी साक्षी है और उस अव्यक्त कारणका भी साक्षी है। तो उस अनभिव्यक्त नामरूपवाले सत्, कारण-दशा जो है, उसमें जितने क्षण कला काष्ठादि रूप काल है सो भी उसमें लीन है और इंच-फुट-गजवाला जो देह है सो भी उसमें लीन है और जो घट-पट-मठवाला विषय है सो भी उसमें लीन है। नाम-रूप प्रगट नहीं हुए हैं। और, इधर देखो भिन्न-भिन्न इन्द्रियोंको देखनेवाला द्रष्टा, मन:स्थितियोंको देखने वाला द्रष्टा, स्वप्न देखनेवाला द्रष्टा सुषुप्ति देखनेवाला द्रष्टा बिल्कुल अलग बैठा है।

अब यह द्रष्टामें और उस सत्‌में चक्कर होने दो, कि देखो यह द्रष्टा है और देखता है, माने सत् है और देखता है। अब प्रश्न है कि सम्पूर्ण जगत्‌के मूल कारणमें जो सत् है, वह केवल सत् ही है कि द्रष्टा भी है? तो वह सत् भी देश, काल, वस्तुसे अपरिच्छिन्न है और इधर द्रष्टा भी देश, काल, वस्तुसे अपरिच्छिन्न है। द्रष्टा भी देश, काल, वस्तुका द्रष्टा और वह सत्ता भी देश, काल, वस्तु जिसमें अनभिव्यक्त है ऐसी सत्ता। तो जरा देश, काल, वस्तुसे अलग करके उस सत्ताको देखो तो जो यह द्रष्टा है वही वह सत्ता है। वह सत्ता अचेतन नहीं है और यह चेतन क्षणिक नहीं है। यह सत् और चित् दोनों एक हैं। जब दोनोंकी एकताका

ज्ञान होता है, तब इधर अन्तःकरण इन्द्रियादि, देहादि और उधर पंचभूत, इन्द्रिय, और मन बुद्धि और अव्यक्त ये सब के सब अद्वितीय अखण्ड ब्रह्मतत्त्वमें बाधित हो जाते हैं। इसलिए वेदान्ती लोग जो सृष्टि, स्थिति, प्रलयका वर्णन करते हैं, वह तत्त्वकी अद्वितीयताको समझानेके लिए।

अब दूसरी प्रणाली इसकी यह है कि द्रष्टा स्वयं देश, काल, वस्तुसे बड़ा है, एक जीववादकी दृष्टिसे इसका विचार किया जाये तो द्रष्टा जहाँ देश-काल-वस्तुसे बड़ा होकर अपने स्वरूपमें स्थित हुआ, सारी सृष्टि बाधित हो गयी।

यह जो सगुण ईश्वरका वर्णन किया जाता है, वह यह बतानेके लिए कि हम जहाँ हैं वहाँ ईश्वर है। हम जिस अवस्थामें हैं उसीमें ईश्वर है। सब समय और सब जगह। और, जो रूप हमारे सामने है उसीमें ईश्वर है। जिस रूपमें हम हैं वह भी ईश्वर और जो रूप हमारे सामने हैं वह भी ईश्वर। तो जब भी ईश्वरका ऐसा ज्ञान किसीको हो गया कि ईश्वरके सिवाय दूसरा कुछ है ही नहीं, तो ईश्वरसे वियोग कभी नहीं होगा। इसीसे कहते हैं कि जो ईश्वरको एक बार पहचान लेता है, ईश्वर उसकी आँखसे ओझल कभी नहीं होता।

अब वह चाहे नरकमें रहे, चाहे स्वर्गमें रहे, चाहे ब्रह्मलोकमें रहे, सुखी रहे, दुःखी रहे, पापी रहे पुण्यात्मा रहे, हाय-हाय करता रहे, परन्तु जब उसने ईश्वरको पहचान लिया, तो एक क्षणके लिए भी, बाल बराबर भी ईश्वर उससे दूर नहीं होगा, और वह कुछ और वह कुछ—ऐसा कभी होगा ही नहीं दोनों एक ही हैं। यह ईश्वरकी पहचान। इसलिए जो लोग विद्वान् होते हैं वे ईश्वरको पहचाननेकी कोशिश करते हैं। **अहं सर्वस्य प्रभवः। सर्वस्य देशस्य। सर्वस्य कालस्य। सर्वस्य वस्तुनाः।** जितने देश, काल, वस्तु, लम्बाई चौड़ाई है, लम्बाई चौड़ाई जो मालूम पड़ती है उसको देश बोलते हैं यह एक इंच है, यह एक फुट है। यह लम्बा यह चौड़ा, यह बाहर है यह भीतर है—इसका नाम देश हुआ। और, देखो एक दिन हम बच्चे थे, फिर जवान हुए, अब बुड्ढे हो रहे हैं यह क्या हुआ? बोले—यह काल हुआ। जवानीका समय, बुढ़ापेका समय, दिनका समय, रातका समय, यह जो क्रम है, दिनके बाद रात, रातके बाद दिन—इसका नाम काल है। और ये जो अलग-अलग चीजें दिखायी पड़ती हैं यह जहर और यह अमृत, यह घड़ा है और यह कपड़ा है—इन सब वस्तुओंके रूपमें परमात्मा ही है।

तो यह देखो कि वही तो सबका प्रभव है। और वही सबको **मत्तः सर्वं प्रवर्तते** हिलना-डोलना-चलना-बोलना—सब उसीसे हो रहा है। ऐसे भी कह

सकते हैं कि जैसे यह शरीर है, तो जितने शरीर हैं कीड़े-मकोड़े, तृणसे लेकर प्रकृति तक और एक जूंएसे लेकर ब्रह्मा तक, जितने शरीर हैं, सबकी उत्पत्ति उसीमें हुई है अर्थात् सबका उपादान कारण वह है। और **मत्तः सर्वं प्रवर्तते** सब शरीरोंमें अलग-अलग जीवके रूपसे वही बैठा हुआ है और वही संचालन कर रहा है शरीरका। यह मालूम पड़ता है कि यह शरीरमें बैठा हुआ तो नन्हा-सा मैं है, वह हाथको हिला रहा है। कि नहीं, **मत्तः सर्वं प्रवर्तते** अगर ईश्वर न होता, तो मैंके होनेपर भी हाथ न हिलता—**मत्तः सर्वं प्रवर्तते।**

ईश्वर देखो प्रत्यक्ष है—साक्षात् अपरोक्ष है ईश्वर। पहले ईश्वरके रूपमें पहचानो फिर ईश्वरको अपने रूपमें पहचानो। एक पद्धति यह है कि पहले सम्पूर्ण विश्व-सृष्टिको परमात्माके रूपमें पहचानो और फिर अपने रूपमें पहचानो। क्योंकि ईश्वरके रूपमें पहचाननेसे राग-द्वेषकी निवृत्ति होती है, अन्तःकरणकी शुद्धि हो जायेगी और फिर उसको अपने रूपसे पहचान लो—

मत्तः सर्वं प्रवर्तते।

जैसे आप देखो यह फूल देख रहे हो, यह मकान देख रहे हो, तो कैसे देख रहे हो? आँखसे देख रहे, रोशनीमें देख रहे और फूलको देख रहे। तो आँखसे फूल दीखता है यह जरूरी है। जो द्रष्टा दृश्यका विवेक करते हैं, वे इसमें-से दृश्यके रूपमें तो फूलको देखते हैं और द्रष्टाके रूपमें यह आँखे पीछे बैठा हुआ है; उसको देखते हैं। लेकिन यह जो बड़ी सारी सूर्यकी रोशनी इसपर आकर पड़ रही है, उसकी ओर जरा नजर कम डालते हैं। वे कहेंगे कि जैसे फूल दृश्य है, वैसे सूर्य भी दृश्य है। एक विवेककी पद्धति यह हुई और दूसरी यह हुई कि जो इस फूलकी समष्टि है समझो, ऐसे-ऐसे फूलके समान विषयोंकी जो समष्टि है, वह जड़ वर्ग है और सूर्य-चन्द्रमादि देवताओंके समष्टिके रूपमें जो प्रकाशक है, वह आधिदैविक ईश्वर है और जो आँखोंके रास्तेसे भीतर झाँक रहा है वह आध्यात्मिक ईश्वर है। तो आध्यात्मिक ईश्वर, आधिदैविक ईश्वर और आधिभौतिक ईश्वर। आधिभौतिक ईश्वर प्रकृति ही है। और आधिदैविक ईश्वर जो है वह सम्पूर्ण इन्द्रियों और मनके जितने देवता हैं, उनकी समष्टि है। और, जीव जो है वह आध्यात्मिक जो भाव है, उनका प्रकाशक है।

आध्यात्मिक भावोंका स्फोटक जीव, आधिदैविक भावोंका स्फोटक ईश्वर और आधिभौतिक भावोंका स्फोटक अधिभूत। अब देखो आनन्दात्मक भावका स्फोटक अधिदैव ज्ञानात्मक भावोंका स्फोटक अध्यात्म और द्रव्यात्मक भावोंका

स्फोटक सत् सदन्त। द्रव्यात्मक भावोंका स्फोटक सत्, ज्ञानात्मक भावोंका स्फोटक चित् और आनन्दात्मक भावोंका स्फोटक अधिदेव।

अब तीनोंमें-से यदि नाम-रूपको हटा दिया जाय तो एक अद्वितीय परमात्मा निकल आयेगा। और फिर उस अद्वितीय परमात्माका ज्ञान होने पर नाम और रूप सत्ताशून्य हो जायेंगे। यह इसकी प्रणाली है। शैली है। जरा बात बढ़ गयी, हमको कहना और कुछ है इसका अभिप्राय यह हुआ कि कण, भीतर, जैसे हम आँखसे देखते हैं और यह कुमुदिनीको देखते हैं और सूर्यकी रोशनीमें देखते हैं, ऐसे समझो हम मनमें किसीको देखते हैं, कुछ देखते हैं कि भाई, हम सुखी हैं, हम दु:खी हैं, हम पापी हैं, हम पुण्यात्मा हैं, हम रागी हैं, हम द्वेषी हैं यह भीतर मालूम पड़ता है। देखनेवाले हम आँखकी जगहपर तो हम हो गये और जो सुखीपना, दु:खीपना दिखता है, वह फूलकी जगहपर हो गया। अब सूर्यकी रोशनीकी जगहपर भीतर कौन है? यह बताओ। बुद्धि है आँख, भीतर हम बुद्धिकी आँखसे देखते हैं और वहाँ अपना-पराया, शत्रु-मित्र दिखता है, पर किसकी रोशनीमें दिखता है? वहाँ सूर्यकी जगहपर कौन है? तो हमारे दिलमें जो सूर्यकी जगहपर बैठकर दिलमें रोशनी फैलाया है, उसी चित्तके अधिदेवको वासुदेव कहते हैं। शास्त्रीय भाषामें उसका नाम ईश्वर है, वह भीतर बैठ करके रोशनी फैला रहा है। तो मनमें, बुद्धिमें चित्तमें, अहंकारमें उसकी रोशनी आती है, तब ये अपना-अपना काम करते हैं।

जैसे यह आपका हाथ है, तो यह अन्नसे बना है, माता-पिताके खाये हुए अन्नसे कुछ और कुछ अपने खाये हुए अन्नसे बना है। अन्न भी पंचभूतात्मक ही होता है, कुछ मिट्टीसे बनता है, कुछ मानीसे, कुछ गर्मीसे, कुछ सूर्यसे, कुछ चन्द्रमासे ऐसे सूर्य उसमें गर्मी डालता है, चन्द्रमा उसमें अमृत डालता है—रस डालता है, मिट्टीमें पौधा उगता है, पानीसे उसकी सिंचाई होती है, देखो तरह-तरहकी खाद डालते हैं। ऐसे ही शरीरमें भी, इसमें जो हड्डी-मांस-चाम-विष्ठा-मूत्र है यह अन्नसे बना तो अन्नमय कोश है। अब इसमें जो समेटनेकी और फैलानेकी और उठानेकी जो ताकत है, सो? इसको प्राण बोलते हैं, प्राणमय कोश। और बोले—इच्छा हो तो मुट्ठी बाँधो और इच्छा हो तो खोल दें, इच्छा क्या है? इच्छा हो तब मुट्ठी बाँधें यह हुआ मनोमय कोश। तो जैसे एक हुआ हाथ, दूसरा हुआ मुट्ठी बाँधना और खोलना और तीसरी हुई ऐसा करनेकी इच्छा। तो हाथ हुआ अन्नमय कोश और हाथको समेटना और खोलना, यह हुआ प्राणमय कोश, और इच्छा हुई

मनोमयकोश, अब इसमें जो अभिमान हो रहा है कि मैं मुट्ठी खोलनेवाला और मैं मुट्ठी बाँधनेवाला, यह मैं कौन है? यह विज्ञानमय कोश है—कर्ता। अच्छा, और इसमें मजा आता है। अपने मनसे हाथ खोलने और बाँधनेमें मजा आता है। बोले—यह क्या हुआ? यह आनन्दमय कोश हुआ। अब तुम कौन हो? देखो अन्नमय, प्राणमय, मनोमय, विज्ञानमय, आनन्दमय--ये कोश हैं और इनको जो जाननेवाला है, वह जीव हुआ ज्ञाता प्रमाता। अन्त:करणसे जाननेवाला जो हुआ, उस अन्त:करणावच्छिन्न चैतन्यको प्रमाता बोलते हैं और जो अन्त:करणके सो जानेपर भी काम करता है, उसको साक्षी बोलते हैं। है तो वह भी चैतन्य, पर अन्त:करणावच्छिन्न चैतन्य है भला! परन्तु; अन्त:करणसे काम करनेकी हालतमें जब प्रमाण वृत्तिको लेकरके वह काम करता है तब हम उसको प्रमाता बोलते हैं। असलमें वह है वही, दूसरा कोई नहीं है, साक्षी है, द्रष्टरि है, चैतन्य है।

प्रमाण वृत्तिके अन्तर्गत देश, काल, वस्तु तीनों होते हैं और यह चैतन्य साक्षी उनसे न्यारा होता है। यह जो साक्षी है यह परब्रह्म परमात्माका स्वरूप है। जब विद्वान् लोग अनुसन्धान करने लगते हैं ईश्वरका और देखते हैं स्त्रीके रूपमें ईश्वर बैठा है, पुरुषके रूपमें ईश्वर बैठा है, बच्चोंके रूपमें ईश्वर बैठा है। वही गुलाब होकर खिल रहा है, चमेली होकर मह-मह-मह महक रहा है। वही फूलोंमें रंग-विरंग लहलहा रहा है, वही समुद्रमें लहराता है, वही सूर्यकी किरणोंमें बिलकुल स्पष्ट रूपसे प्रकाश बनकर दौड़ रहा है, वही—**प्रभास्मि शशि सूर्ययो:**।

एक महात्मा थे, एक आदमी उनके पास आया, बोला—हमको ईश्वरका दर्शन करा दो। तो नहीं बोले। बोला—जबतक ईश्वरका दर्शन नहीं कराओगे, हम भोजन ही नहीं करेंगे। बैठ गया वहीं। एक दिन होगया, दो दिन होगया, तीसरे दिन महात्माको आया गुस्सा और उठाया डण्डा और बोले—देखो ईश्वर तुम्हारे सामने प्रकट हो रहा है और तुम्हें दीखता नहीं है? यह सूर्यमें जो चमक है, चन्द्रमामें जो चाँदनी है—आह्लादिनी है, पृथिवीमें जो दृढ़ता है, गन्ध है, जलमें जो रस है, जो अग्निमें तेज है और जो वायुमें पवित्र स्पर्श है यह कौन है? भगवान् सामने दीख रहे हैं। देखो तो!

एक बारकी आपको बात सुनाऊँ, मुम्बईकी बात है। और अभी थोड़े ही दिनोंकी, बरस दो बरस पहलेकी मैं यहाँ आया तो करीब तीन महीने रहा। फ्रन्टीयर मेलसे जाना था वृन्दावन, तो जाकर चढ़ गया गाड़ीमें। लोगोंको देखनेके लिए, दरवाजेपर जैसे पकड़के खड़े हो जाते हैं, वैसे हम भी खड़े हो गये। सीटी

हुई और गाड़ी चली, देखा एक आदमी हाथमें फूलमाला लिये, चश्मा उसका गिरा फिर भी दौड़ता हुआ आ रहा, बोला—स्वामीजी, स्वामीजी, नमस्कार! आप तो बहुत जल्दी चल पड़े। अब तीन महीने बम्बईमें रहे, तो कुछ नहीं, स्टेशनपर भी जाकर पौन घंटे बैठे रहे तो कुछ नहीं। जब सीटी होगयी, ट्रेन चल पड़ी, तब दौड़कर आये स्वामीजी! आप तो बहुत जल्दी जा रहे हैं। अब क्या करते भाई! तीन महीनेका समय अगर उनको कोई समय नहीं मालूम पड़ा तो और तीन महीने रहते मान लो, तब भी वे जानेके ही दिन आते तो आते, नहीं तो नहीं आते। तो यह जो ईश्वर है, सूर्यके रूपमें, चन्द्रमाके रूपमें पृथिवीके रूपमें—**ॐ भूरसि भूमिरसि** वेदका मन्त्र बोलता है पृथिवीके रूपमें ईश्वर प्रकट है। जलके रूपमें ईश्वर प्रकट है **अग्ने नय सुपथाराये** रोज बोलते हैं **अग्निमीले पुरोहितं**—अग्निके रूपमें ईश्वर है रोज पाठ करते हैं—**वायो त्वमेव प्रत्यक्षं ब्रह्मासि**—हे वायुदेवता तुम प्रत्यक्ष ब्रह्म हो। उपनिषद्‌में पढ़ते हैं—**कं ब्रह्म। खं ब्रह्म**—यह आकाश ब्रह्म है। तुम्हारा सिर ब्रह्म है। **कं ब्रह्म**—सुख जो है तुम्हारे दिमागमें, जो ज्ञान है, जो तुम्हारे दिमागमें सुख है, वह ब्रह्म है। **कं ब्रह्म। खं ब्रह्म।**

ऐसे ब्रह्मको तुमने क्या निहाल कर दिया जो, **स्त्री त्वं पुमानसि। त्वं कुमार उत कुमारी** ऐसे ब्रह्मको तुमने क्या समझा, क्या देखा!

इसमें बुद्धिमानका काम यह है कि ईश्वरको हर जगह देखे, **इति मत्त्वा भजन्ते मां बुधाः भावसमन्विताः**। जब समझदार आदमीको यह बात मालूम पड़ती है जिस दिन तुम बच्चे होकर माँके पेटमें-से निकले, उसी दिन तुमको ईश्वर मिल गया। माँके रूपमें ईश्वर ही तो मिला न! पिताने गोदमें लेकर खिलाया तो ईश्वर ही तो मिला। गुरुने राम-रामका उपदेश किया, तो ईश्वर ही तो मिला न! तुम्हारे मुँहमें जो अन्न डाला गया—**अन्नं ब्रह्म** वह ईश्वर ही तो अन्नके रूपमें तुम्हारे मुँहमें डाला गया। तुम साँस लेते हो वह ईश्वर ही तो है न! परन्तु तुमने ईश्वरसे मेल जोल कहाँ किया? पहचाना नहीं। ईश्वरको संसार समझते रहे। नित्य-शुद्ध-बुद्ध-मुक्त है परमात्मा, उसको संसार समझते रहे। और, विद्वान् लोग क्या करते हैं—**इति मत्त्वा**। वे समझते हैं कि सबका अभिन्न निमित्तोपादान कारण—कुम्हार भी वही, माटी भी वही। **प्रकृतिश्च प्रतिज्ञादृष्टान्ताऽनुपरोधात्**। प्रकृति भी वही है। क्योंकि इसके बिना, एकके ज्ञानसे सर्वके ज्ञानकी प्रतिज्ञा पूरी नहीं हो सकती इसके बिना सोनेका, लोहेका, मिट्टीका जो दृष्टान्त श्रुतिमें दिया गया है, वह पूरा नहीं हो सकता—**वाचा** रंभनं विकारोनाम धेयं मृत्तिके येव सत्यम्। सारे नाम-रूप मिथ्या, एक परमात्मा

सत्य, यह बतानेवाली श्रुति सत्य नहीं हो सकती यदि सब जगह ईश्वर न हो। सब जगह ईश्वर। परन्तु जो सम्झदार होते हैं, यह बात जब समझ लेते हैं तब उनका हृदय भावसे भरपूर हो जाता है और भावसे भरपूर होकर भजन करते हैं बोले— बाबा, ईश्वरका ज्ञान होनेपर भी यह भजन!

एक सन्त थे काशीमें, हमलोग कभी-कभी उनके पास जाते थे, अपनी कोई बहुत श्रद्धा तो नहीं थी, लेकिन उनके पास जानेसे कभी-कभी कोई अच्छी बात मालूम पड़ती थी। यह तो आप जानते ही हो कि अगर पनालेमें-से भी मिले तो हीरेको उठा लेना चाहिए। रोटी अगर पनालेमें गिर जाय तो नहीं उठाना, लेकिन सोना गिर जाय तो उठा लेना। यह बात है शास्त्रमें। तो ब्रह्मज्ञानकी बात अगर पनालेमें-से मिलती हो तो वहाँसे भी लेनेकी होती है। क्योंकि यह तो बिलकुल हीरा है, हीरा जहाँसे मिल जाये वहींसे लेना। एक दिन उनके पास गये हम लोग, बोले—महाराज ईश्वर कहाँ मिले? वे समझते थे कि ये लड़के हैं पढ़े-लिखे, तर्क-वितर्क करेंगे। हमने कहा—महाराज दिखाओ ईश्वर! उन्होंने कहा—मैं ईश्वर हूँ, देखो। आपको ईश्वर कैसे माने? ईश्वर तो वह होता है जो सृष्टि बनावे। बोले— यह तुमने कहींसे सुन रखा है। सृष्टि बनाना ईश्वरका लक्षण नहीं है। लो, अब जो-जो लक्षण बतावें सो काट दें। अच्छा महाराज! अब देखो दूसरी तरह देखो। हमने कहा—अच्छा आप ईश्वर हो, तो आप तो हमको मिल गये, तो अब तो हमारा कोई कर्तव्य नहीं है न! बोले—है, कर्तव्य क्यों नहीं है, ईश्वर मिल गया, तब भी कर्तव्य है। क्या कर्तव्य है? बोले—हमसे प्रेम करो। कोई भी आदमी राह चलते मिल जाय तो मिल जाना काफी नहीं है, उससे प्रेम होना चाहिए। मिलते तो हजारों आदमी रहते हैं; लेकिन उनसे प्रेम कहाँ होता है? मिलना दूसरी बात है और प्रेम करना दूसरी बात है। हमको तुम मिले, तुमको मैं मिला, मैं 'ईश्वर' तुम 'जीव', लेकिन न तो मैंने अभी तुमसे प्रेम किया, न तुमने मुझसे प्रेम किया, तो अभी तो काम बाकी है।

इसमें जो समझनेकी बात है, केवल उसीपर ध्यान दो भाई। ईश्वरसे प्रेम करना बाकी है—**बुधा: भावसमन्विता:**। यदि कदाचित् ऐसा किसीको निकल आवे कि यह सम्पूर्ण नाम-रूपात्मक सृष्टि हमारी आत्माका ही स्वरूप है, सोचो कि प्रेमका वह खजाना होगया, प्रेमका समुद्र होगया, उसके पास प्रेमके सिवाय और क्या रहा? वह ईश्वरको ही प्रेम नहीं देगा, जीवको भी प्रेम देगा। वह जीवको ही प्रेम नहीं देगा, जड़-जगत्‌को भी प्रेम देगा, कितना बड़ा खजाना!

एक बार हमारे मोकलपुरके बाबा बैठे हुए थे, कोई सज्जन आये। आसन तो बिछाते नहीं थे घासपर बैठते थे। वे सज्जन भी आये घास पर बैठ गये और बैठकर घास तोड़ने लगे। किसीकी आदत होती है, बैठकर तिनका तोड़ना, किसीकी आदत होती है बैठकर फूल ही तोड़ना, और न मिले तो जिस कालीन पर बैठे हुए हों उसीको नोचना। हजारों रुपयेके कालीनको बेकार कर देते हैं ये बैठनेवाले। उसी कालीन पर बैठे हुए हैं और उसीमें-से नोंच-नोंचकर फेंक रहे हैं—नष्ट कर रहे हैं उसको—आपने कभी देखा होगा। दूब ही तोड़ रहे हैं। थे एक सज्जन तो बाबाने कहा कि भलेमानुस देखो मिट्टीमें-से कितनी अच्छी हरी-हरी दूब निकली, अगर इसको गाय चरती तो दूध बनता और उसको कोई पीता और उससे फिर वीर्य बनता, वीर्यसे किसी जीवको एक शरीर मिलता और तुम इस माटीसे बनी घासको क्यों तोड़कर फेंक रहे हो? यह ईश्वर माटीसे निकलकर दूर्वाके रूपमें आ रहा है, **मंदं मंदं प्रहोरन्ति**—वेदमें मन्त्र आता है—एक-एक पोरवा, एक-एक पर्व, एक-एक गाँठ करके बढ़ती है यह दूर्वा, इसको तुम तोड़ क्यों रहे हो? ईश्वरकी अगर पहचान हो, तो देखो ईश्वर! हमने उस सिद्ध महापुरुषको देखा कि वह दूबको, घासको तोड़ना पसन्द नहीं करते थे।

अच्छा, कोई फूल तोड़ने जाये पेड़में-से, अरे राम राम राम! बोले—महाराज फूल तोड़कर ईश्वरको चढ़ावेंगे। भलेमानुस! वह ईश्वरको चढ़ रहा है, तुम क्या जानो, वह ईश्वरको चढ़ रहा है, उसकी जो सुगन्ध फैल रही है आकाशमें, उसका जो सौन्दर्य चमक रहा है, जो लोगोंकी आँखोंको तृप्त कर रहा है, वह अपने वृन्तसे-डाँटीसे लगा हुआ ईश्वरकी सेवामें जितना आ रहा है तुम तोड़ लोगे, सूँघ लोगे, मुर्झा जायेगा, गिर जायेगा, कुचल दोगे, क्या उसका आदर हुआ! फूलके रूपमें भी ईश्वरको पहचानना। वह तो ईश्वरपर चढ़ रहा है।

तो जो विद्वान् पुरुष हैं, वे अपने भावमें-भाव समन्विताः—भगवद्भाव हो जाता है सर्वत्र और **इति मत्त्वा मां भजन्ते**। बोले—ईश्वर ही सर्वरूपमें आगया है—ऐसा समझ करके **मां भजन्ते**—मेरा भजन करते हैं।

देखो; यह भजन जो है यह बुद्धि योगकी प्राप्तिके भी पहले है और यह अज्ञानकी निवृत्तिके भी पहले है। क्योंकि इस भजनके फलस्वरूप मिलेगा बुद्धियोग और बुद्धियोगके बाद फिर भगवान् प्रकट होकर देंगे ज्ञान और ज्ञान देनेसे होगी अज्ञानकी निवृत्ति। यह क्रम माना हुआ है। यह ईश्वरका वर्णन है। कैसे भजन करना! आओ भजन की बात सुनावें।

इति मत्त्वा भजन्ते मां—भजन्तेका अर्थ है सेवन्ते। इसमें एक तो भज धातु है। भजका अर्थ है सेवा और इसमें जो प्रत्यय है जैसे भक्तिमें 'ति' है वह धातु ही है, इसमें जो प्रत्यय है वह विश्वास है। विश्वाससे भरकर-प्रेमसे भरकर भजन करते हैं।

हे मनुष्य! तुम्हारे अन्दर वह सामर्थ्य है कि शालग्रामकी शिलामें हाथ-पाँव निकल आवें। वृन्दावनमें एक मूर्ति है राधारमणकी, दर्शन करते हैं उनका। वहाँके गोस्वामी लोग तो हमसे बहुत प्रेम करते हैं, मैं जाता हूँ। वे बारम्बार बुलाते हैं, बारम्बार प्रसाद भेजते हैं। एक शालग्रामकी बटिया थी। एक महात्मा पूजा करते थे। गोपालभट्टके उपास्य हैं वे। तो एक कोई बहुत भावुक भक्त महारानी पधारीं और बोलीं कि महाराज आप ठाकुरजीकी सेवा करते हैं? कि हाँ करते हैं। तो जरा उनकी पोशाक बता दीजिये, कि कैसी पोशाक ले आवें तो उनको पहना दी जायेगी! तो उन्होंने ठाकुरजीके लिए मुकुट बता दिया जो कमरमें पहनते हैं सो बता दिया। बता तो दिया और वह महारानी चली गयीं बनवाने और वे महाराज घरमें बैठकर रोने लग गये। बोले—हे भगवान्! हम तो तुमको हाथ-पाँववाला समझकर ही बोलते हैं और तुम तो हो गोल-मटोल। अब पोशाक आवेगी तो तुमको कैसे पहनावेंगे भला! रोने लगे कि हमारी तो बड़ी बेइज्जती होगी, वह महारानी आवेगी तो क्या कहेगी कि ये महात्मा होकर झूठ बोलते हैं। हमारी इज्जत रखो। तो महाराज डिबियामें रखे हुए शालग्राम बढ़े और वह डिबियाका जो ढक्कन था वह एक ओर हुआ और सिर निकल आया, आँख, मुँह, नाक और वह त्रिभंगललित, पीठपर शालग्रामकी बटिया लगी हुई। अभी वह मूर्ति है, उसीकी सेवा होती है। नारायण! तो यह क्या! देखो ना, यह मनुष्यके भावमें सामर्थ्य है जो जड़को चेतन बना दे। आप अपने सामर्थ्यको समझते नहीं हो। थालीमें रोटी रहती है तब उसको क्या बोलते हैं? कि 'यह रोटी है।' और जब मुँहके भीतर चली जाती है तब उसको आप क्या बोलते हो? यह रोटी है? अरे बोलते हो 'यह मैं हूँ।' जबतक चीज बाहर रहती है तब तक अनात्मा और भीतर आती है तो आत्मा। जब मैं से अलग, तब अनात्मा और जब मैं—रूप तब आत्मा।

अच्छा देखो, दुनियामें गन्दगी कहाँसे आती है? अपवित्रता कहींसे आती नहीं, जो चीज तुमसे बाहर होती है, थूक दिया तो अपवित्र, बाल गिर गया तो अपवित्र, विष्ठा-मूत्र गिर गये तो अपवित्र। जो अपनेसे जुदा होता है, वह अपवित्र हो जाता है। जो अपने भीतर आजाता है, वह अपना 'मैं' हो जाता है, अपना

प्रेमास्पद हो जाता है। यही तो सृष्टिका गुर है। यदि तुम समूची सृष्टिको आत्माके अन्दर ले लो, तो समूची सृष्टि पवित्र होगयी और यदि तुम समूची सृष्टिको अपनेसे बाहर अन्यके रूपमें देखो, तो सारी सृष्टि गन्दी हो गयी।

तो विद्वानों-ज्ञानी पुरुषोंका भाव—

मच्चित्ता मद्‌गत प्राणा बोधयन्तः परस्परम्।

ये तीन बात बताते हैं—'मच्चिता-मयि चित्तं येषां ते मच्चित्ता। मद्‌गतप्राणा येषां ते मद्गतप्राणा। परस्परं बोधयन्तः।'

महात्मा लोग भजन कैसे करते हैं? उनका चित्त भगवान्‌में लगा है। पहले 'चित्त' शब्दका अर्थ बताते हैं। गीतामें चित्त शब्द मन और बुद्धि दोनोंके लिए एक-सत्ताका है। माने जहाँ-जहाँ चित्त शब्दका प्रयोग आवेगा, वहाँ उसका अर्थ होगा मन और बुद्धि दोनों। जैसे आप देखो—

मय्येव मन आधत्स्व(12.8)—एक मन हुआ, **मयि बुद्धिं निवेशय**(12.8)—यह बुद्धि हुई। और

अथ चित्तं समाधातुं न शक्नोषि मयि स्थिरम्। (12.9)

दोनोंके लिए चित्त शब्द आया है। चित्त माने राशि-राशि संस्कार, विशिष्ट ज्ञान—ढेरके-ढेर संस्कार जिसमें लगे हुए हैं, चित् नहीं है यह हलन्त तकारवाला नहीं है, संस्कार रहित ज्ञानको चित् बोलते हैं और संस्कारयुक्त ज्ञानको चित्त बोलते हैं। यह निष्ठा, त्त प्रत्यय होगया है और वह जो चित् है उसमें क्के प्रत्यय है। क्वित् प्रत्यान्त चित् शब्द शुद्ध ज्ञानका वाचक है और त-प्रत्यान्त—निष्ठा प्रत्ययान्त जो 'चित्त' शब्द है वह संस्कार युक्त ज्ञानका वाचक है।

तब मच्चित्ताका अर्थ क्या हुआ कि मुझमें मन भी लगाओ, मुझमें बुद्धि भी लगाओ। कोई-कोई भगत होते हैं जो भगवान्‌में मन लगाते हैं। कैसे? कि क्या मुस्कुरा रहे हैं यह मन लगा। क्या तिरछी चितवन है, क्या बाँकी अदा है। यह क्या है? कि यह भगवान्‌में मनका लगना है। क्या साँवरापन है, क्या पीताम्बर है, क्या भौहोंकी मटकन है, क्या पीताम्बरकी चटकन है, क्या बालोंकी लटकन है। नाचनेमें क्या लटकन है, क्या चटकन है, क्या मटकन है, क्या पाँवोंकी पटकन है। आहा! यह जो कृष्णकी दिलमें खटकन है—खटक गया दिलमें; यह क्या हुआ? कि यह कृष्णमें मन लगना हुआ। यह अभी चित्त नहीं हुआ पूरा।

एक वेदान्ती हैं वे कहते हैं कि निमित्त कारण वह होता है जो कुम्हारकी तरह सृष्टिको बनाता है—आरम्भक। परमाणुओंको पकड़-पकड़ करके जो अणु

बना दे, अणुसे जनित बनावे, जनितसे त्रसरेणु बनावे, जैसे कुम्हार घड़ेको बनाता है, वैसे जो सृष्टिको बनावे सो निमित्त कारण। और, बोले—भाई! जब स्वयं सृष्टि बन जाय, जैसे माटी घड़ा बनी है, वैसे यह ईश्वर स्वयं सृष्टिके रूपमें बना है। सृष्टिको बना कर अलग होजाता तो केवल निमित्त कारण होता कि नहीं? स्वयं उपादान कारण भी है—सृष्टि बन भी गया, अब देखो न! विचार करो। तो बोले—चेतन बनेगा कैसे, चेतन जड़ कैसे हो जायेगा! यह द्रष्टा दृश्य कैसे हो जायेगा? जीवात्माको जब द्रष्टा सिद्ध करते हैं तब तो यह कहते हैं कि अज्ञानसे अपनेको दृश्यके साथ मिला लिया परमेश्वरने, तो अज्ञान होता नहीं वह कैसे चेतनसे जड़ हो गया? बोले—जड़ नहीं हुआ, मायासे अपनेको जड़ दिखा दिया। ऐसे बोलते हैं। यह क्या हुआ? बोले—परमात्मामें यदि परिवर्तन होगा, तो उस परिवर्तनको जाननेवाला चेतन, परिवर्तनसे जुदा हो जायेगा। एक परमात्मा होगा और एक परिवर्तनशील प्रकृति होगी। तब तो दो तत्त्व हो जायेंगे, प्रकृति तो अद्वैतका वर्णन करती है। तब क्या होगा? बोले—यह माया—**इन्द्रो मायाभिः पुरुरूप ईयते।** माया माने जादूका खेल। स्वयं चेतन रहते हुए ही अपनेको जड़रूपमें दिखा देना, यही माया है, असलमें ईश्वर जगत्‌का अभिन्न- निमित्तोपादान कारण है। वह चेतन रहते हुए ही उपादान है अर्थात् उसमें यह कार्य जो हुआ, वह सच्चा नहीं हुआ, कार्याभास है।

यह क्या हुआ? बोले—देखो बुद्धि लगी परमात्मामें। ये वेदान्ती लोग बुद्धि तो लगाते हैं, लेकिन जरा मन लगानेमें आनाकानी करते हैं। मन तो दुकानमें लगाते हैं पट्ठे, है न! बेटीमें लगावेंगे, बेटामें लगावेंगे, दुकानमें लगावेंगे और मनरामको भेज देंगे दुनियामें। और ये जो भगतिये हैं, ये मन तो भगवान्‌में बहुत लगावें, लेकिन अकलसे परहेज, बुद्धिसे इनको परहेज है। जैसे देखो कोई-कोई ऐसे हैं जो गीताको तो बहुत मानते हैं, लेकिन गीतावक्ताका ध्यान नहीं करते। कहते हैं रूपका ध्यान क्या करना! पर गीताको तो बहुत मानते हैं। कई-कई ऐसे हैं जो रूपका ध्यान तो खूब करेंगे, लेकिन बोलेंगे यह गीता तो युद्धभूमिमें बहिरंग भक्त अर्जुनके लिए कही हुई है, हम तो नित्य-निकुंजके सखी हैं राम-राम-राम हम गीता पढ़ेंगे? नित्य-निकुंजकी सखी बनकरके गीताको न पढ़ना, यह मनको लगाना है, बुद्धिसे परहेज करना है। अभिन्न निमित्तोपादानका विचार करना, बुद्धिको लगाना है और मन लगानेसे परहेज करना है। तो, **मच्चित्ता मद्गत प्राणाः** का अर्थ यह है कि ईश्वरसे ही प्रेम करो और ईश्वरके बारेमें ही विचार करो। विचारपूर्वक प्रेम करो

और प्रेमपूर्वक विचार करो, इस तरहसे मन और बुद्धि—दोनोंका समन्वय होकर परमेश्वरमें लगे।

मच्चित्ता मद्गतप्राणा:—भाई, दुनियाका व्यवहार देखें कि ईश्वरसे प्रेम करें? एक सज्जन थे। वे लखनऊमें एक महात्माके पास गये, महात्माओंमें भी लखनऊका कुछ ढंग आ जाता है, लखनवी नजाकत मशहूर है। जाकर एक फूलका गुच्छा दिया। उनके मनमें यह सवाल था कि मनको संसारमें लगावें, कि ईश्वरमें लगावें? तो महात्माने फूल देखना शुरू किया और कौन लेकर आया है—इस ओर कोई ध्यान नहीं दिया, बम्बईके भक्त हों तो अपनी इन्सल्ट मान लें। क्या साधु है, हमारी तरफ देखते ही नहीं और जो बाबाजी लोग गाली देकर बात करते हैं, उनसे तो कभी मिलें ही नहीं। सो वह महात्मा उनकी ओर देखे ही नहीं, देखने लगा उस फूलको। तब वे सज्जन बोले कि महाराज इससे अच्छा होता कि हम आपके पास फल न लाते, तो आप हमारी ओर तो देखते! बोले—कि लो फेंक देते हैं तुम्हारा फल और तुम्हारी ओर देखते हैं अब। ना महाराज फल भी देखो हमारी ओर भी देखो। क्योंकि मैं बड़े प्रेमसे ले आया हूँ। अच्छा, यही तुम चाहते हो कि फूल लानेवाले तुम हो तो तुम्हारी ओर भी देखें और तुम्हारे लाये हुए फूलको भी देखें। यही तो चाहते हो न! तो भाई उसको भी देखो, उसके दिये हुएको भी देखो। बगीचा देखनेमें इतने मत लग जाओ कि कि उसको भूल जाओ और उसकी ओर इतना मत देखो कि उसका बगीचा ही छूट जाय। तो दोनों बात होनी चाहिए। बोले—तुम्हारे प्रश्नका उत्तर यही है कि देनेवालेको भी देखो और दिये हुएको भी देखो। दिये हुएमें भी उसीका प्रेम प्रकट हो रहा है।

तो बुधा भावसमन्विता:। विद्वान् लोग सारी सृष्टिको "आराममस्य पश्यन्ति, पश्य देवस्य काव्यम्। न ममार न जीर्यति।"—देखो यह ईश्वरकी कविता है सृष्टि, ईश्वरका बगीचा है यह सृष्टि, कैसे फल, कैसे फूल, कैसे पौधे, कैसे वृक्ष, कैसा सौन्दर्य, कैसा माधुर्य, पर देखो ईश्वरका है। और, इसके बनानेवालेको भी देखो, कैसी अचिन्त्य रचना करनेवाला है उसको भूलो मत, नहीं तो दु:ख पाओगे।

अब और प्रसंग फिर कल!

☆

अहं सर्वस्य प्रभवो मत्तः सर्वं प्रवर्तते।
इति मत्वा भजन्ते मां बुधा भावसमन्विताः॥ 8॥

मच्चित्ता मद्गतप्राणाः—संस्कृतमें यह जब मच्चिता शब्द बनता है तो इसकी व्युत्पत्ति भिन्न भिन्न प्रकारसे होती है। शब्द तो एक ही है मच्चित्ता, तो देखो **अहं चित्ते येषां ते मच्चित्ताः। मयि चित्तं येषां ते मच्चिताः।** मैं जिनके चित्तमें हूँ उनका नाम है मच्चित्त और मुझमें जिनका चित्त है उनका नाम है मच्चित्त। दोनों व्युत्पत्ति बिल्कुल सीधी है—अहं चित्ते येषाम्—मैं जिनके चित्तमें हूँ। और मयि चित्तं येषाम्—मुझमें जिनका चित्त है।

व्याकरणकी बात तो जहाँ पंडित लोग होते हैं, वहाँ करनेमें मजा आता है। यह मामूली-सी बात है लेकिन इसका क्या गंभीर अर्थ निकलता है। एक तो है जिसने अपने हृदयमें भगवान्‌को बसा लिया—'अहं चित्ते येषाम्'। चित्त आधार है और उसमें स्वयं भगवान् आधेय है। मनमें बस भगवान् ही भगवान् रहते हैं और, दूसरा है—'मयि चित्तं येषां'—मुझमें जिनका चित्त रहता है। माने भगवान्‌में जिनका चित्त रहता है, भगवान् आधार हैं और चित्त आधेय है। सामान्य रूपसे ऐसे देखो कि एक सिपाही है और वह चौराहेपर खड़ा होकर यातायातका नियन्त्रण करता है, किसकी मोटर आगे बढ़े किसकी रुके। तो वह बड़े-बड़े राजा-रईस, सेठ-साहुकार जिसके यहाँ उस सिपाही जैसे हजारों नौकर हैं, उनकी मोटरको भी रोक सकता है। क्यों रोक सकता है? क्योंकि वह पुलिसमें है माने सम्पूर्ण पुलिसकी-सरकारकी शक्ति उसके पीछे है। वह अपने पीछे रहनेवाली सरकारी शक्तिके बलपर बड़े-बड़े राजा-रईसकी मोटरको रोक सकता है।

अच्छा, अब समझो कि एक पुलिसका मंत्री है, मिनिस्टर है, गृहमन्त्री है, होम मिनिस्टर है, सम्पूर्ण पुलिस-शक्ति उसके अन्तर्गत है, वह जिसको जो चाहे सलाह दे सकता है, आज्ञा दे सकता है, सारी पुलिस उसकी आज्ञासे काम करती है। मिनिस्टरमें सम्पूर्ण पुलिसकी शक्ति अन्तर्हित है और एक पुलिसके सिपाहीमें भी सम्पूर्ण पुलिसकी शक्ति अनुगत है। तो देखो एक तो वह है जिसने भगवान्‌को

ही अपने पेटमें ले लिया और एक वह है जिसने अपनेको भगवान्के पेटमें डाल दिया। जो शरणागत है, जिसने आत्मसमर्पण किया, उसने तो अपनेको भगवान्के पेटमें डाल दिया और जिसने ध्यान किया, उसने भगवान्को अपने पेटमें ले लिया।

तो 'मच्चित्ता'का अर्थ देखो कि जो बड़े प्रेमसे निरन्तर भगवान्का ध्यान करता है, वह मच्चित्त है अथवा जिसने 'ब्रह्मसम्बन्धेन' भगवान्से सम्बद्ध किया—मैं भगवान्का हूँ, भगवान्में हूँ, भगवान्से प्रेरित हूँ, भगवान्से नियन्त्रित हूँ, भगवान्के शरणागत हूँ, आगे भी भगवान् पीछे भी भगवान् वह है 'मच्चित्ता'।

अब आप अपने चित्तके बारेमें विचार करो, आपका चित्त कैसा है? भगवान् रूप अधिष्ठानमें आपका चित्त फुरफुरा रहा है, सत्ता-स्फूर्ति प्राप्त कर रहा है कि आपके चित्तमें भगवान् फुरफुरा रहे हैं? आपके मन-मन्दिरमें भगवान् नाचते हैं कि आपका मन भगवान्की सेवामें, उनकी आज्ञापालनमें, उनकी प्रेरणामें है! आपका मन भगवान्के नचाये नाच रहा है कि भगवान् आपके मनमें नाच रहे हैं? मन भगवान्को नचा रहा है—नाचो जरा श्यामसुन्दर नाचो, तुम्हें मक्खनका लोंदा देंगे, नाचो और भगवान् नाच रहे हैं। और भगवान् कह रहे हैं कि ओ मेरे भक्तके मन तू ऐसे नाच।

तो मेरे मनको भगवान् नचा रहे हैं—यह एक दृष्टि हुई, यह शरणागतकी दृष्टि हुई। मुझे भगवान् नचा रहे हैं—यह शरणागतकी दृष्टि हुई और मैं भगवान्को नचा रहा हूँ—यह प्रेमीकी दृष्टि हुई।

अब जरा 'मच्चित्ता' शब्दका और अर्थ देखो! यह 'चित्त' शब्द संज्ञानके अर्थमें होता है। संज्ञान माने ज्ञान—'चिति संज्ञाने'। तो चित्त शब्द दोनों तरहसे बनता है—'चिति चयने'से भी चित्त शब्द बनता है और 'चिति संज्ञाने'से भी चित्त शब्द बनता है। तो, समझो घड़ेका मालूम पड़ना, कपड़ेका मालूम पड़ना, मकानका मालूम पड़ना, यह सब कैसे होता है? चित्तसे होता है और उनका संस्कार इसमें जमता रहता है। उसको चित्त बोलते हैं।

एक बार श्यामसुन्दर मनमें आये, तो कबतक मन पकड़के रखेगा? यह श्यामसुन्दरका नाम मैं ऐसे ही लेता हूँ, आप श्यामसुन्दरको गौर सुन्दर भी कर लो, जगज्जननी जगदम्बा कर लो, निराकार सर्वज्ञ सर्वशक्तिमान कर लो। ईश्वरके बारेमें आपकी जैसी धारणा हो, वैसा ईश्वर। क्योंकि ब्रह्मका एक रूप तो वह है जो जीवकी धारणाके साथ-साथ बदलता नहीं है, एकरस रहता है। उस

रूपको ब्रह्म बोलते हैं। वह कोई काला समझो कोई गोरा समझो, कोई स्त्री समझो, कोई पुरुष समझो, कोई गणेश समझो, कोई मछली समझो, एक रूप तो ईश्वरका वह है जो जीवकी धारणाके साथ-साथ बदल-बदलकर अपना खेल, अपनी लीला दिखाता है।

तो अब देखो कृष्ण, शान्ति, कृष्ण-शान्ति बारम्बार मनमें कृष्ण ही आवें—**शान्तोदितौ तुल्य प्रत्ययौ। उदित प्रत्ययः श्रीकृष्णाकारः।** फिर वृत्ति शान्त हुई तो कृष्णाकार। जैसे हम किसी चीजको सोचते हैं—एक बार माँके बारेमें सोच लिया, तो वह वृत्ति टूट गयी। फिर बापके बारेमें सोचने लगे तो वह वृत्ति टूट गयी। फिर बहनके बारेमें सोचने लगे तो वह वृत्ति टूट गयी। ऐसे होता है। पर वृत्ति टूटे कितनी भी लेकिन आवे वही-का-वही, कृष्ण-शान्ति। कृष्ण-शान्ति। फिर शान्ति, कृष्ण, शान्ति-कृष्ण। तो बारम्बार ईश्वराकार वृत्तिका चित्तमें उदय होना, यह क्या है? यही चित्तका स्वरूप है। भगवान्‌में चित्त होवे। इसको एकाग्रता बोलते हैं, इसको ध्यान बोलते हैं। वृत्ति तो टूटती रहती है, क्षण-क्षणमें वृत्ति टूटती रहती है। जैसे पलक गिरती है, यह इसका नमूना है। तो आप चित्तकी जगहपर एक बार आँखको ले लो! आँखसे एकबार चीजको देखा और पलक गिर गयी फिर दूसरी चीजको देखा फिर पलक गिर गयी फिर तीसरी चीजको देखा फिर आँखकी पलक गिरी। ऐसा होता है न!

नहीं; अब ऐसा करो कि हर बार चीज दीखे एक ही, पलक बीच-बीचमें गिरती रहे। कृष्णकी मूर्तिपर अपनी दृष्टि जमाओ और पलक गिर गयी। फिर उठी तो कृष्ण दिखे। फिर पलक गिर गयी, फिर उठी तो कृष्ण दिखे। जैसे हर बार जब-जब पलक उठे, तब-तब कृष्ण दिखते हैं, बीचमें भले पलक गिरती रहे, लेकिन नजर दूसरेके ऊपर न जाय। अब आँखकी जगह आप चित्तको बैठा लो। मन जब जुगनूकी तरह चमके तब कृष्ण दिखे और जब उसकी पंख आजाय तो भले बन्द हो जाय, लेकिन जब जुगनूकी तरह चित्त खिले तब उसकी रोशनीमें कृष्ण ही दिखे। तो हरबार अपने इष्टदेवको ग्रहण करना। यह एकाग्रता हो गयी—**मच्चित्ता।** जैसे आँखकी पलक गिरती है, वैसे मनकी भी पलक गिरती है भला! पलक गिरे तो गिरे, लेकिन पलक उठनेपर दूसरी चीज न दिखे—वही दिखे। तो यह मनकी आँख अपनी पलक गिराती और उठाती है, इसको ध्यान बोलते हैं। हुआ यह कि मनकी नजरमें कृष्ण आगये। अब चाहे कृष्ण दिखें-चाहे न दिखें, चाहे निराकार हों चाहे साकार हों, हमारी तो पलक उठती-गिरती है, लेकिन

उनकी तो पलक उठती गिरती नहीं है, वह हमें देख रहे हैं। तो **मयि चित्तं येषां।** इसको दूसरा तरहसे भी समझ सकते हैं। भगवान्‌में मनका होना, मनमें भगवान्‌का होना।

अब इसके ऊपर एक स्थिति आवेगी। वह क्या है? कि मन और भगवान् दोनों एक हो जायेंगे। भगवान्‌की आँख खुलना ही हमारा देखना है और भगवान्‌की आँख बन्द होना ही हमारा अन्धा होना है। उन्हींकी नजरसे हम देखते हैं। यह बहुत ऊँची स्थिति है।

एक आदमीने एक सन्तसे कहा कि आप रोकते क्यों नहीं? तो बोले कि भगवान् तो इसको देख रहे हैं, वे क्यों नहीं रोकते हैं? हमारा ही ठेका है रोकनेका? हम कोई यमराज हैं! अरे भाई हमारी नजर भगवान्‌की नजरसे मिली हुई है। जिसको भगवान् जिला रहे हैं, भगवान्‌ने जिसको जन्म दिया, भगवान् जिसको रोटी देता है, भगवान् जिसको देख रहा है और पसन्द करता है, नापसन्द नहीं करता है, उसको हमें नापसन्द करनेका क्या हक है?

कभी सुनाया होगा आपको, ये लोग झूठे ही अपने दिलमें आग जलाते हैं। बनारसमें एक सन्त थे हरिहर बाबा उनका नाम था, वे अस्सीके पास घाट पर नावपर रहते थे। एक ओर कोई रामायणका पाठ कर रहा है, कोई योगवासिष्ठ पढ़ रहा है, कोई उपनिषद् पढ़ रहा है, वे बीचमें बैठे हैं। तो एक पण्डित जी आये, बोले—बाबा! ये सब लोग गलत पढ़ रहे हैं, अशुद्ध उच्चारण कर रहे हैं ये उपनिषद् पढ़नेवाले, योगवासिष्ठ पढ़नेवाले अशुद्ध उच्चारण कर रहे हैं, इनको रोको। तो बाबा बोले कि भाई किसीकी गलती बताना साधुका काम नहीं, किसीकी गलती पर नजर डालना संसारी लोगोंका काम है, यह अपना काम नहीं। अपने तो मस्त हैं, **'स्वयंप्रकाशे-ब्रह्मणि सुखमाघुये'**—हम तो स्वयंप्रकाश चिदात्मा ब्रह्ममें, आनन्दमें बैठे हैं। अरे बच्चे गलत बोलते हैं, बच्चोंकी बोली देखो, हिन्दी, अंग्रेजी, गुजराती, सिंधी बोलते हैं, तो क्या बच्चे शुद्ध बोलते हैं! माँ-बाप तो खुश होते हैं, उनकी गलत बोली सुनकरके माँ-बाप तो खुश होते हैं।

तो अपनी दृष्टिको अपनी नजरको भगवान्‌की नजरसे एक कर दो। ईश्वरकी नजरसे तुम्हारी नजर नहीं मिलती है। ईश्वरकी नजरसे तुम्हारी नजर मिल जाय तो कल्याण हो जाय।

मच्चित्ता का अर्थ है, भगवान् कहते हैं कि—**मम चित्त एव चित्तं येषां ये मच्चित्ता।** अब यह तीसरी व्युत्पत्ति बतायी। हमारा मन ही जिनका मन है।

भगवान्ने सृष्टि बना दी? कि हाँ! बिगाड़ दी? कि हाँ! पालन कर रहे हैं कि ठीक। लड़ाई रहे हैं, कि बहुत बढ़िया। अरे उसके मनसे यह सब हो रहा है!

एक सेठने, एक विज्ञापन छपवाया कि हमको एक छोटे कामके लिए नौकरकी जरूरत है। बहुत लोग आये मिलनेको। एक आया तो बोले—एक गिलास पानी ले आओ। ले आया। बोले—फेंक दो। फेंक दिया। बोले—गिलास भी फेंक दो। फेंक दिया। फिर बोले—क्यों फेंका गिलास? बोला—आपने कहा इसलिए फेंका। उससे कहा—जाओ। दूसरा आया। उससे भी पानी मँगवाया। फेंक दो पानी तो फेंक दिया। गिलास भी फेंक दो। फेंक दिया। क्यों भाई गिलास क्यों फेंक दिया? बोला—गलती हो गयी। इतना ही है गुर।

गुन तुम्हार समुझहिं निज दोषू।

अभिमानमें और विनयमें अन्तर होता है। तो अपने चित्तको भगवान्के चित्तसे एक करना। माने भगवान्की हाँ में हाँ और भगवान्की ना में ना।

अब इसको वेदान्तकी भाषामें समझो, प्रतीतिका चाहे जो भी रूप हो, जो नाम हो, ओम्, ओम्, ओम्। भूतमें प्रतीति कितनी गड़बड़ा गयी और भविष्यमें उसको कितना सुधरना चाहिए इसका कोई ख्याल किये बिना जैसा सिनेमामें भरा हुआ चित्र जैसा सामने प्रकट होता जा रहा है, देखते जा रहे हैं। **मच्चित्ता**—यह भगवान्के चित्तमें, भगवान्की बुद्धिमें भरा हुआ जो संसार है, हिरण्यगर्भके साथ जो समष्टि बुद्धि जुड़ी है, उस समष्टि बुद्धिमें भरा हुआ जैसा संसार है, वैसा प्रकट होता जा रहा है और तुम शुद्ध ब्रह्म स्वयं। देखो वेदान्तकी बात होगयी—**मच्चित्ता**।

गीतामें भगवान् मच्चित्त होनेकी बहुत प्रशंसा करते हैं। अपनी कठिनाइयों पर पार होनेका उपाय क्या है? उड़िया बाबाजी तो कहते थे कि बर्दाश्त करो, 'जो भी कुछ आवे बर्दाश्त करते चलो।' कोई महात्मा कहते—'देखते चलो।' देखते चलो क्या होता है? जो होवे सो ठीक है, वह तो होता जा रहा है। प्रत्येक वर्तमान क्षण-क्षणमें भूत होता जा रहा है। इसपर तो ख्याल करो। प्रत्येक वर्तमान प्रतिक्षण भूत होता जा रहा है। बीतता जा रहा है, यह तो देखो!

श्रीकृष्ण भगवान्ने कहा कि हम तुमको कठिनाइयों पर विजय प्राप्त करनेका उपाय बताते हैं। बोले—महाराज कौन-सी कठिनाई? बोले—यह मत पूछो, जितनी भी कठिनाई आवे सबका एक उपाय।

हे भगवान्! देखो न! यह रामबाण औषधि। यह नहीं कि काम-सम्बन्धी जो कठिनाई आयी सो, क्रोध-सम्बन्धी आयी सो, लोभ-सम्बन्धी आयी सो, मोह-

सम्बन्धी आयी सो। आत्मात्मिक जो पुरुष होते हैं, अध्यात्मज्ञान सम्पन्न, वे कठिनाईको बाहरसे आयी हुई नहीं मानते। वे मानते हैं कि हमारे मनमें कामना थी कि ऐसा हो, ऐसा न हो, इसलिए कठिनाई मालूम पड़ती है। अगर कामना न होती हमारे मनमें तो कोई कठिनाई न आती। हमारे मनमें लोभ था कि यह आवे और यह न आवे, इसलिए कठिनाई आयी। हमारे मनमें क्रोध था कि यह रहे यह न रहे। हमारे मनमें मोह था इसलिए कठिनाई आयी। सम्पूर्ण कठिनाईका कारण बाहर कहीं नहीं है, सम्पूर्ण कठिनाइयोंका कारण अपने मनमें ही है।

मन एव मनुष्याणां कारणं बन्ध मोक्षयोः।

भगवान्ने कहा—जितनी कठिनाई तुम्हारे जीवनमें आती है, उसको पार करनेका एक उपाय है। उपाय एक और कठिनाईयाँ हजारों। यह तो रामबाण महौषधि हुई, यह तो अमृत ही हो गया कि चाहे किसी भी रोगसे मरा हो, लो वह बूटी पिलाते हैं तुम्हारे मुँहमें कि रोग अच्छा हो जाय।

अब देखो गीतामें आयी यह बात—

मच्चित्तः सर्वदुर्गाणि मत्प्रसादात्तरिष्यसि। (18.58)

भगवान् कहते हैं कि तुम अपना मन भर मुझमें लगा दो। नहीं माँगते हम तुम्हारा धन, नहीं माँगते तुम्हारा परिवार, नहीं माँगते तुम्हारा शरीर, नहीं माँगते तुम्हारा वचन, बस हमको तो तुम्हारा वह नन्हा-सा जो दिल है, वही चाहिए, वह हमारे साथ जोड़ दो! वह नन्हा-मुन्ना दिल, चुलबुला। दिल भी बड़ा चुलबुला है बड़ा चुलबुला सलोना, जैसे नन्हा बच्चा खेले, कभी इधर कभी उधर, कभी इसके लिए रोया, कभी उसके लिए रोया, तो यह नन्हा दिल मुझमें लगा दो!

मच्चित्तः सर्वदुर्गाणि मत्प्रसादात्तरिष्यसि। (18.58)

मैं तुम्हारे ऊपर प्रसन्न, निर्मल, हर समय मैं तुमको दिखूँगा और सारी कठिनाइयोंको तुम पार कर जाओगे। सब कठिनाइयोंपर विजय प्राप्त करनेके लिए रामबाण नुस्खा क्या है? मच्चित्त होना।

कि भाई, हम मन लगावेंगे तुममें और कठिनाई पार कर जायेंगे हम, मन तुममें और कठिनाई पार कर जायेंगे हम, मन तुममें लगावें और कठिनाई पार करें हम, यह बात कैसे सम्भव है? बोले—**मत्प्रसादात्तरिष्यसि।**

एक बच्चा अपने बापके साथ कहीं जा रहा था। नन्हा-सा बच्चा, कभी इधर जाय, कभी दाहिने जाय, कभी बाँये कभी सामने जाय, कभी पीछेकी ओर हो जाय और बाप खेलता हुआ उसके साथ चल रहा। बीचमें पड़ गयी बड़ी भारी सड़क,

सैंकड़ों मोटरें उस पर दौड़ती, अब जाना हुआ पार, तो बच्चा तो डरा, इतनी मोटरें आरही हैं, कैसे पार जायेंगे। भगवान्ने कहा—**मत्क्रोडः, सर्वदुर्गाणि मत्प्रसादात्तरिष्यसि**—आजा बेटा, मेरी गोदमें। मत्क्रोडः—मेरी गोदमें आ जा। अब बापकी गोदमें वह चला गया और बापने सड़क पार कर दिया। वह मोटरोंकी जो कठिनाई थी वह बच्चेके लिए कहाँ रही? क्यों नहीं रही, कि वह तो बापकी गोदमें आगया न!

तो कठिनाइयाँ मनको दीखती हैं, परन्तु जब मन भगवान्की गोदमें चला जाता है, तो सारी कठिनाइयाँ पार हो जाती हैं। सब कठिनाईयोंपर विजय प्राप्त करनेका नुस्खा यही है—**मच्चित्तः**—अपने मनको भगवान्में लगाओ।

अब मच्चित्तः शब्दका थोड़ा-सा भगवान् कहते हैं कि **मय्येव मन आधत्स्व मयि बुद्धिं निवेशय** (12.8)—अपने मनको मुझमें ही स्थापित कर दो। माने भगवान्को अपने मनका आधार देखो और भगवान्में अपनी बुद्धिको निविष्ट कर दो। सुला दो। इसीको चित्त बोले।

निवसिष्यसि मय्येव अत ऊर्ध्वं न संशयः। (12.8)

अपना मन और अपनी बुद्धि भगवान्में स्थापित करते ही मेरे अन्दर तुम्हारा निवास हो जायेगा। 'अत ऊर्ध्वं' माने स्थापनाके अनन्तर ही, मन और बुद्धि-दोनोंकी स्थापनाके अनन्तर ही तुम्हारा मुझमें निवास हो जायेगा।

असलमें मनुष्यका जो जीवन है वह मन और बुद्धिके सिवाय और कुछ नहीं है। नाना प्रकारके संकल्प होते हैं, और नाना प्रकारके विचार होते हैं, कभी इसको अच्छा समझा, कभी उसको अच्छा समझा और बुद्धिसे इसकी प्राप्तिका उपाय सोचा, उसकी श्रेष्ठता सोची, मनसे उसका संकल्प किया। यह जो आत्मदेव जीव बने बैठे हैं यह मन और बुद्धिकी उपाधिको अपनेमें आरोपित करके ही तो जीव बने बैठे हैं। स्वयं तो ये असंग द्रष्टा हैं और मन, बुद्धिको दे दिया भगवान्में, समष्टिको अर्पित कर दिया। समष्टि मनमें अपना मन और समष्टि बुद्धिमें अपनी बुद्धि दे दिया और स्वयं? स्वयं तो मन और उस बुद्धिकी उपाधिसे ही आत्मामें जीवत्व है, नहीं तो **निवसिष्यसि मय्येव**—यह तो परमात्मारूप है, परमात्म-स्वरूप है। यह मन ईश्वरसे अलग संकल्प करके और ईश्वरसे अलग विचार करके, उससे अलग मारा-मारा फिरता है। तो क्या करना? बोले—मनमें जितने संकल्प होंवे, सो ईश्वरके बारेमें और बुद्धिमें जितने विचार होवें सो ईश्वरके बारेमें। यह साधनाका मार्ग हुआ।

अब इसको दूसरी तरहसे देखो।

मय्येव मन आधत्स्व मयि बुद्धिं निवेशय। (12.8)

यदि हम अपने मन और बुद्धिको ईश्वरमें लगावें तो कितना भी लगावें, यह वहाँसे हट जाते हैं। हमारे लगाये हुए मन और हमारी लगायी हुई बुद्धि ईश्वरमें से हट जाती है। हम बार-बार लगाते हैं, वह बार बार हटता है। कितना भी अभ्यास करो। तो बोले कि नहीं, हम ऐसा पक्का अभ्यास करेंगे कि बिलकुल न हटे। अच्छा बिलकुल न हटे तो नींद आवेगी कि नहीं? तो नींदमें तो मन हट आवेगा, बुद्धि भी हट आवेगी, सो जायगा मन, सो जायेगी बुद्धि तो सुषुप्तिमें कैसे लगाओगे?

अच्छा तो कभी समाधि लोगे तो निरोध करना पड़ेगा मनका, अन्यमें लगाओगे मनको, विषयमें लगाओगे मनको, विषयमें लगाओगे बुद्धिको तो निरोध ही नहीं होगा, निरोध तो अपने आपमें होता है। तो असलमें यहाँ—**मय्येव मन आधत्स्व मयि बुद्धिं निवेशय**—का अर्थ है प्रत्यक् चैतन्यसे अभिन्न होकर जो परमात्मा बैठा है, उसमें यह मन कल्पित है, उसमें यह बुद्धि कल्पित है। देश, काल, वस्तुसे अपरिच्छिन्न जो अखण्ड ब्रह्मात्मक आत्म चैतन्य है उसमें ये मन बुद्धि खचित हैं। जैसे सोनेके पत्रपर कुछ लकीरें खींच दी जायें, ऐसे हैं ये लकीरें। जैसे सूर्यकी किरणोंसे कोई शक्ल बन जाये वैसे।

एक तारा बहन थी, वह संगीत विद्यामें बड़ी निपुण थीं। वह अबसे कोई पचास बरस पहले फ्रांस गयी थी, वहाँ वह चमत्कार दिखाती थीं, एक तसलेमें पाउडर रख देते थे, और वह वीणापर कोई राग-रागिनी बजाती थी। तो जब शब्दोंका धक्का लगता पाउडरपर, उसपर आकृतियाँ बन जाती थीं। एक दिन भैरवाष्टक गाया, तो भैरवजी और उनका कुत्ता; उसपर चिह्नित हुए। शंकराचार्यजीका बनाया हुआ है भैरवाष्टक। पिछले दिनों सनातनधर्मी पण्डित इसकी बड़ी चर्चा करते थे। वह पाउडरमें जो तस्वीर उभरी, वह पाउडरकी ही है कि कुछ और है? पाउडर ही है न! ऐसे समझो कि बालू अपने सामने हो, और उसमें एक तस्वीर उभर आयी। समझो तुम्हारे घरमें आटा रखा है और उसपर घुन चल गया और उसपर एक तस्वीर उभर आयी। तो आटेके सिवाय वह तस्वीर और क्या है? अच्छा, पानी बहता है, तो कहीं कैसी शक्ल, कहीं कैसी शक्ल मालूम पड़ती है। जहाँ झरने झरते हैं वहाँ जो शक्ल मालूम पड़ती है वह झरनेके सिवाय क्या है?

जंगलमें कोई पेड़ोंकी डालियोंसे, पत्तोंसे ऐसी शक्ल मालूम पड़ती है, जैसे वहाँ कोई आदमी खड़ा हो, भूत खड़ा हो, तो वह पेड़-पौधोंसे जुदा और क्या है? आसमानमें जब देखते हैं आकाश-गंगामें, कि वह ध्रुव है, वे सप्तर्षि हैं और यह अमुक ग्रह है, सब मिलाकर तारोंसे शक्ल बनाते हैं, एक भेंड़ेकी शक्ल है, उसको मेष बोलते हैं। यह बैलकी शक्ल है, उसको वृष बोलते हैं। यह स्त्री-पुरुषकी शक्ल है उसको मिथुन बोलते हैं। ये केकड़ा जो समुद्रके किनारे चलते हैं, उसकी शक्ल बनती है उसको कर्क बोलते हैं। तारोंसे; तारोंके यूथ होते हैं। तो तारोंके सिवाय और क्या है? कि यह सिंह है यह कन्या है, यह तुला है, ये क्या है? ये तारोंके झुंड होते हैं राशि बोलते हैं इसको, मेष राशि, यह क्या है? तारोंके सिवाय कुछ नहीं है। एक धनुषाकार बन गया, एक मकरके समान बन गया, एक घड़ा सरीखा बन गया, एक मछली सरीखा बन गया। वे तारोंके झुंड हैं। नक्षत्रोंकी भी राशि होती है नक्षत्रोंके भी आकार बनते हैं। यह क्या है? तारोंके सिवाय और कुछ नहीं है न! आकाशमें शक्ल बनानेका और क्या उपाय है, क्या कारण है? समझो कि ये हमलोगोंके जो मन हैं, चित्त हैं, बुद्धि है, यह आकृति, जैसे तरंगमें आकृति, आगमें लपटें जब उठती हैं, तो यह औरत बन गयी, यह मर्द बन गया, यह देवता बन गया। होम करते समय जब पलटें उठती हैं, तो यह देवी हो गयी, यह देवता हो गया, कैसा मालूम पड़ता है, वह आगके सिवाय कुछ नहीं है न! ऐसे हमलोगोंका मन और हमलोगोंकी बुद्धि और हमलोगोंका यह जीवन ज्ञानात्मक परमात्मामें खचित है, फुर रहा है। उसके सिवाय और कुछ है नहीं। वही अखण्ड परमात्मा, अनन्त कोटि ब्रह्माण्डके रूपमें प्रकट हो रहा है। उसके सिवाय और कुछ है नहीं। तो.—**मय्येव मन आधत्स्व मयि बुद्धिं निवेशय**—का अर्थ है मनमें किसीका चिन्तन नहीं करना, बुद्धिमें किसीका चिन्तन नहीं करना. यह चिन्तन करना कि हमारा मन और हमारी बुद्धि परमात्मामें कैसे फुर रहे हैं।

अरे बाबा यह तो बड़ा कठिन है!

अथ चित्तं समाधातुं न शक्नोति मयि स्थिरम्। (12.9)

अभ्यासयोगेन ततो

अभ्यास करो। बोले—महाराज! दुकानका बहुत काम है। नौकरीका बहुत काम है। खानेको कहाँसे मिलेगा, रोटी कहाँसे आयेगी?

माँके पेटमें आते हैं तो जो माँके शरीरकी नली अपनी नाभिमें जुड़ती है गर्भमें, उसका बन्दोबस्त तुम्हींने तो किया होगा! तुमने पहले डाक्टरको फीस दी

थी कि देखो हम जब माँके पेटमें आवें, तो माँके पेटवाली नली हमारी नाभिमें जोड़ देना, नहीं तो हम कैसे जिन्दा होंगे, पैदा होंगे! यह तुमने बन्दोबस्त किया था? अच्छा माँकी छातीमें दूध आवे, यह बन्दोबस्त किसने किया था पहले, क्या तुम करके आये थे? विलायत जाते हैं, तो वहाँ पहलेसे होटलमें खाने-पीनेका बन्दोबस्त कराकर जाते हैं। तो यहाँ माँके पेटमें आये तब भी तो बन्दोबस्त कराया होगा न! पहलेसे बन्दोबस्त करके आये हो?

अरे भाई तुम्हारा एक रखवारा है, एक तुम्हारा पहरेदार है। भूलो मत। यह दुनियाँमें व्यक्तिको अभिमान है। समष्टिका तिरस्कार करनेका किसीका सामर्थ्य नहीं है।

बोले—हम स्वतन्त्र हैं। अच्छा स्वतन्त्र हो तो देखो साँस भीतरसे लेना, बाहरसे नहीं लेना। तुम्हारी नन्हीं-मुन्नी यह साँस जो चलती है—प्राण, इसमें समष्टि वायुसे लेनी पड़ती है, बाहरसे हवा लेनी पड़ती है कि नहीं? अच्छा इस शरीरमें जो माटी है उसको बनाये रखनेके लिए अन्न खाना पड़ता है कि नहीं? इसमें जो पानी है उसके लिए पानी पीना पड़ता है कि नहीं? व्यष्टि गर्मीके लिए समष्टि गर्मी, व्यष्टि शरीरके लिए समष्टि अन्न, व्यष्टि जलके लिए समष्टि जल, व्यष्टि हवाके लिए समष्टि हवा, व्यष्टि मनके लिए समष्टि मन, सबसे मन मिला कर चलना पड़ता है। व्यष्टि बुद्धिके लिए समष्टि बुद्धि और व्यष्टि जीवके लिए समष्टि ईश्वर! जब व्यष्टि और समष्टिका भेद जिस ज्ञान-सिद्धान्तमें बाधित है, वहाँ भी जबतक शरीर होता है, वहाँतक व्यष्टि शरीर समष्टिके द्वारा नियन्त्रित ही होता है, अनियन्त्रित नहीं होता है।

तो भाई **मद्गत प्राणाः**—मद्गता प्राणाः येषां ते मद्गतप्राणाः। प्राण कहाँ हैं तुम्हारे? प्राण कौन हैं? हमारे प्राण हमारे जीवन!

मच्चित्ता मद्गतप्राणा बोधयन्तः परस्परम्।
कथयन्तश्च मां नित्यं तुष्यन्ति च रमन्ति च॥ ९॥

हमको बचपनमें भी ऐसे-ऐसे लोग साथ मिले, जिनकी कृपासे अपनी बुद्धि उसमें लग गयी। एक सज्जन ऐसे मिले, अभी जीवित हैं। आँख तो उनकी बेकार होगयी पर मुँह तो उनका चमकता रहता है। हर समय दाँत उनके बिलकुल हीरेकी तरह खिले रहते हैं। वे कहते थे कि पुनर्जन्म होता ही नहीं है। बड़े बुद्धिमान् थे—विज्ञानके पण्डित। अब वे हमको कहें कि पुनर्जन्म होता नहीं और मैं सनातन धर्मी शास्त्रपर विश्वास करनेवाला ब्राह्मण पण्डित। मैं सिद्ध करूँ कि

पुनर्जन्म होता है। वे तरह-तरहकी युक्तिसे खण्डन करें और मैं तरह-तरहकी युक्तिसे सिद्ध करूँ। वे थे हमारे चेले। हमारे पिताजीके शिष्य थे। वैसे बड़े सद्‌भावसे, विनयसे नीचे बैठकर बात करते थे, उनसे बात करनेमें कभी उद्वेग नहीं होता था, पर वे धीरेसे काट देते थे। अब मैं फिरफिर सोचकर आता। अब कभी मिलते हैं तो मैं पूछता हूँ कि अब क्या राय है तुम्हारी? तो बोले कि मैं तो इसलिए आपसे बात करता था कि आपकी बुद्धि बढ़े, आप वेदान्त-चिन्तनमें प्रवीण होवें, ईश्वर-तत्त्वके चिन्तनमें आप प्रवीण होवें। इसलिए महाराज मैं वैसी बात आपसे करता था। अब तो ऐसे बोलते हैं। लेकिन देखो उन्होंने प्रेम करके हमारी बुद्धि बढ़ायी।

एक दूसरी बात सुनाता हूँ इस प्रसंगमें हमारे एक भाई लगते थे, वैसे पाँच-सात पीढ़ीमें तो अपने कोई बाप थे नहीं, दूरके भाई लगते थे। उनकी उम्र बड़ी थी। मैं भागवत पढ़ता, गोपियोंकी चर्चा करता, तो बताता देखो यह कृष्ण ईश्वर है। वे कहते थे यह जैसे आजकलके लड़के-लड़की होते हैं और किसीसे उनका प्रेम हो जाता है, बोलते हैं कि हमारे प्राणेश्वर तो तुम्हीं हो, हमारे हृदयेश्वर हो तुम्हीं हो। यह प्राणेश्वर, हृदयेश्वर शब्द आजकल जैसा प्रेमके बाजारमें जैसा चलता है, उसी तरह गोपियाँ भी श्रीकृष्णको प्राणेश्वर, हृदयेश्वर बोलती थीं, वे तो प्रेमकी अधिकतासे बोलती थीं, कृष्ण कोई ईश्वर थोड़े ही था—ऐसे बोलते थे। यह मैं तबकी बात सुनाता हूँ जब मेरी बारह चौदह बरसकी उम्र थी। अब मैं कहता कि कृष्ण ईश्वर। वह कहें नहीं। तो अब यह बात सहन नहीं होवे। लेकिन अब वे तो बड़े थे, उनके सामने तो दबके बात करनी पड़ती थी, तो डाँट दें। तो मैं प्रमाण ढूँढकर, सोच-विचारकर युक्ति देता कि कृष्ण ईश्वर हैं। और, वह महाराज हँसी-हँसीमें बिलकुल हँसीमें कहें कि देखो तुम भी कोई कृष्ण मत बना लेना। ऐसे बोलते थे। बड़े विचित्र थे।

तो **मद्‌गतप्राणाः**का अर्थ समझो। प्राण माने जिसके बिना आदमी मुर्दा हो जाये। उसको प्राण बोलते हैं। अब प्राण तो मनुष्यके शरीरमें रहते हैं, ये ईश्वरके शरीरमें थोड़े ही रहते हैं। प्राण तो सबके अपनेमें रहते हैं, अपने आपमें, प्राण किसी दूसरेमें थोड़े ही रहते हैं। तो यह वर्णन आता है कि सतयुगमें हड्डीमें प्राण रहते थे। पुराणोंमें ऐसी कथा है कि सतयुग जब था, तब लोगोंके प्राण हड्डीमें निवास करते थे। **प्राणा अस्थिषु शेरते**। जब तपस्या करते थे और हड्डी ही बच रहे तब उससे जिन्दा हो जाते थे ऐसा वर्णन पुराणोंमें आता है।

अब कलियुगमें प्राण कहाँ रहता है? तो **कलौ अन्नगता प्राणाः।** कलियुगमें प्राण अन्नमें निवास करता है।

अरे महाराज, कितना प्रेम हो, कितना नेम हो, कितनी जिद हो, चार दिन अगर रोटी न मिले खानेको, तो दिमाग बिलकुल चक्कर काटने लगता है। एक जनेका एकसे बहुत प्रेम था, बोले—उनके बिना तो हम मर जायेंगे। मैंने कहा बेशक मर जाओ, जब तुम मरनेपर ही तुले हुए हो, तो तुमको कौन रोक सकता है? लेकिन मैं जैसे बताऊँ वैसे मरो। तुम फाँसी मत लगाओ अपने गलेमें, जहर मत खाओ, आगमें मत कूदो, पानीमें मत कूदो, मैं जैसे बताऊँ वैसे मरो। बोले—कैसे? मैंने कहा कि तुम एक-एक रोटी खाकर छह महीनेमें मरो। फिर एक-एक रोटी भी छोड़ दो। बोले—कि ना बाबा यह तो हमसे नहीं होगा!

ये मरनेवाले भी चालाक होते हैं, जैसे तकलीफ न हो वैसे मरना चाहते हैं। माने ये मरते हैं दूसरेका नाम लेकर, लेकिन खुद हमको तकलीफ न हो, ऐसा ख्याल रखते हैं। ये दूसरेके प्रेमी हैं कि अपने प्रेमी हैं। मद्‌गतप्राणा। **न वा अरे पत्युः कामायपतिः प्रियो भवति। आत्मनस्तु कामाय पतिः प्रियो भवति। न वा अरे जायायै कामाय जाया प्रिया भवत्यात्मनस्तु....**बृहदारण्यक उपनिषद्में इसका बड़े विस्तारसे वर्णन है। तो मद्‌गतप्राणाःका अर्थ क्या है?

अपना जीवन अपने प्रियके साथ है और उनके बिना अपनी मृत्यु है। हमारा सच्चा जीवन कौन-सा है? जब हम उनके साथ रहते हैं तब तो जिन्दा रहते हैं, जब उनका ध्यान रहता है तब जिन्दा रहते हैं, जब उनकी सेवा रहती है तब जिन्दा रहते हैं और जब वे भूल जाते हैं, तब तो हम मुर्दे हो जाते हैं हमारा जीवन काल है ही कितना?

एक राजनीतिक संस्था चल रही थी भारतमें, कुछ वर्ष पहलेकी बात है, एक दिन एक पण्डित आये, साहित्यकार थे, वेदान्ताचार्य थे, उस संस्थाके वे प्रचार-मन्त्री थे। तो मैंने पूछा—कैसा है भाई, तुम्हारी संस्था कैसी चल रही है? तो बोले—हमारी संस्थाकी क्या बात पूछते हैं महाराज! हमारी संस्था माने अमुक पुरुषका भाषण-काल। जितनी देर वे सभामें व्याख्यान देते हैं, उतनी देर हमारी संस्था जिन्दा रहती है और जब उनका व्याख्यान बन्द हो जाता है, तब हमारी संस्था मर जाती है। स्वयं प्रचार-मन्त्री होकर उन्होंने अपनी संस्थाका ऐसे परिचय दिया। हमको बहुत आश्चर्य हुआ कि ये क्या प्रचार करेंगे, जब ये अपनी संस्थाके बारेमें ऐसा बोलते हैं।

तो नारायण: **मद्गत प्राणा:** का अर्थ है, महात्मा गाँधीसे आपने सुना होगा— वे कहते थे कि—'राम-राम' तो हमारे जीवनकी खुराक है।

एक प्रसंग है इसका। मैं जब 'कल्याण'के सम्पादन-विभागमें था, तो वहाँ हमारे एक साथी थे, उनका नाम था दादा कृष्णदास। उनको सब दादा दादा बोलते थे। पहले उनका नाम कुछ दूसरा था। तो गाँधीजीके साथ वे रहे थे और 'गाँधीजीके साथ सात वर्ष' नामकी अंग्रेजीमें दो किताब उन्होंने लिखी हैं। तो उनको सपना आया, स्वप्नमें भगवान्‌ने कहा कि अब गाँधीजीकी मृत्यु होनेवाली है, तो उनसे कहो कि वे भजन करें। उन्होंने हनुमान प्रसादजीसे कहा और हनुमान प्रसादजीने गाँधीजीको चिट्ठी लिख दी कि ऐसा स्वप्न भाई कृष्णदासको आया है, तो मैं आपको सूचित कर रहा हूँ। तो गाँधीजीका जवाब आया, वह जवाब बताता हूँ। उन्होंने लिखा कि 'भाई हनुमान! मेरी साँस-साँसमें 'राम-राम' निकलता है। राम राम मेरा प्राण है। 'राम-राम'के बिना मैं जी नहीं सकता। लेकिन यह जो तुमने लिखा आपकी मृत्यु होनेवाली है इसलिए भगवान्‌का भजन करना चाहिए, यह बात हमको नहीं जँची, मौतके डरसे भगवान्‌का भजन क्यों करना? हम डरसे भगवान्‌का भजन नहीं करते हैं, प्रेमसे करते हैं। यह गाँधीकीकी चिट्ठी आयी। बादमें तो घनश्यामदास बिड़लाने 'बापू'के नामसे जो गाँधीजीकी जीवनी लिखी उसमें यह चिट्ठी समूची-की-समूची उद्धृत की।

आपको यह बताते हैं कि हमारे जीवनकी खुराक क्या है! अपने प्यारेसे मिले बिना, उसको देखे बिना, उसको सुने बिना, उसका स्मरण किये बिना, उसकी सेवा किये बिना, उसका ध्यान किये बिना रहा न जाय। **मद्गत प्राणा:**। प्राण माने इन्द्रिय, जीवन, मन, श्वाँस—ये सब प्राण शब्दके अर्थ हैं। 'मद्गत प्राणा'का अर्थ अपना जीवन भगवान्‌के प्रति समर्पित, अपनी इन्द्रियाँ भगवान्‌के प्रति समर्पित, अपना मन भगवान्‌के प्रति समर्पित। अपना प्राण भगवान्‌के समर्पित। यह भगवान्‌से बना, भगवान्‌में रह रहा है, भगवान्‌में समानेवाला है, भगवान्‌के सिवाय अपना प्राण और अपना जीवन दूसरा कुछ नहीं है—**मद्गत प्राणा:**।

अब आगेका प्रसंग फिर कल सुनावेंगे आपको।

☆

अहं सर्वस्य प्रभवो मत्तः सर्वं प्रवर्तते।
इति मत्त्वा भजन्ते मां बुधा भावसमन्विताः॥
मच्चित्ता मद्गत प्राणा बोधयन्तः परस्परम्।
कथयन्तश्च मां नित्यं तुष्यन्ति च रमन्ति च॥ 8-911॥

मच्चित्ता मद्गत प्राणाः। चित्त एक चलने फिरनेवाली मशीन है—**यन्त्रारूढानि मायया।** यह जीव इसी चित्त यन्त्रपर आकर बैठ गया है। ईश्वर आत्माका संचालन नहीं करता, इसी चित्तका संचालन करता है। कर्मानुसार प्रकृतिमें-से चित्तको पैदा करना, चित्तको सत्ता-स्फूर्ति देना-पोषण देना, और फिर अपनेमें चित्तको मिला लेना और ज्ञान दान करके चित्तको भस्म कर देना—ये सब काम अन्तर्यामी रूपसे ईश्वर करता है।

अब जो आत्मा अपनेको ब्रह्म न जानकर इसी चित्तके साथ तादात्म्यापन्न है, इसी चित्तको ही मैं—मेरा समझता है। ईश्वर जब चित्तका संचालन करता है तो उसको यह मालूम पड़ता है कि ईश्वर मेरा संचालन कर रहा है। जब चित्त अपनेको पापी मानता है तो आत्मा भी अपनेको पापी मानता है, जब चित्त अपनेको पुण्यात्मा मानता है तब आत्मा भी अपनेको पुण्यात्मा मानता है। क्योंकि चित्तसे विवेक करके तो रखा हुआ नहीं है। जब चित्त विक्षिप्त होता है, मूढ़ होता है, शान्त होता है, एकाग्र होता है, निरुद्ध होता है, तब यह आत्मदेव भी अपनेको मूढ़, क्षिप्त, विक्षिप्त, एकाग्र, निरुद्ध मान बैठते हैं। तो **मच्चित्ता**का अर्थ यह होता है कि चित्तको तो अन्तर्यामीको समर्पण कर दो कि लो रे बाबा, जैसी तेरी मौज हो वैसे चला। तेरा मन हो खेलनेका तो चित्तके साथ खेल, यह तेरा खिलौना है।

हृद्देशेऽर्जुन तिष्ठति, भ्रामयन् सर्वभूतानि यन्त्रारूढानि मायया। (18.61)

यह जो चित्त-यन्त्र है यह परमात्माके प्रति अर्पित है। इसका निर्माता वही है और इसका संचालक भी वही है। इसका कारीगर भी वही है और इसका ड्राईवर भी वही है और इसको खोलनेवाला भी वही है। चाहे ज्ञानीका चित्त हो, चाहे

अज्ञानीका। यह सम्पूर्ण व्यावहारिक प्रपंच ईश्वरके अधीन है और वही इसका संचालन करता है।

किसी-किसीके चित्तमें ऐसा भी आता है कि ईश्वर नहीं है। तो यह नहीं समझना कि वह कहीं औरसे आया है, चित्तमें ही आता है और ईश्वर उसको ऐसा ही जँचाता है। इसमें उसका अपराध भी नहीं मानना, कोई दोष भी नहीं मानना। कर्मानुसार इसीसे सेवा लेता है ईश्वर अपनी, किसीको विमुख कर देता है। इसको ऐसे समझो कि जैसे यह हाथ है, पाँव है, शरीर है, इसमें तुम बैठे हो, मैं हाथ उठाता हूँ तो उठता है। तुम अपना हाथ उठाते हो एक ही शरीरका न! दूसरे शरीरका हाथ तो नहीं उठाते! कीड़ेका हाथ तो तुम नहीं उठाते, ब्रह्माका हाथ तो तुम नहीं उठाते। तो सब जीव अलग-अलग शरीर धारण करके अपना हाथ उठाते हैं और बैठाते हैं। जीभसे बोलते हैं और चुप होते हैं। पाँवसे चलते हैं और बैठते हैं। और, सबके शरीरमें जिसकी शक्ति काम कर रही है और जिसकी बुद्धि काम कर रही है, उस सर्वज्ञको, उस सर्वशक्तिमानको ईश्वर बोलते हैं। सबमें उसीकी शक्ति काम कर रही है।

चित्तका ज़िम्मेवार अपनेको नहीं मानना। यह बड़ी अद्‌भुत बात है। सांख्यवादी कहते हैं कि चित्तका संचालन प्रकृति करती है और भक्त कहते हैं कि चित्तका संचालन ईश्वर करता है। कर्मवादी कहते हैं कि चित्तका संचालन कर्मके अनुसार होता है। कालवाद कहते हैं चित्तका संचालन काल करता है। स्वभाववादी कहते हैं कि चित्तका संचालन स्वभावसे ही होता है। एक आकस्मिकवादी होते हैं, उनको यदृच्छावादी बोलते हैं—वे कहते हैं ऐसे ही ऊट पटाँग पागलका मन जैसे होता है, वैसे सबका है, इधर-उधर घूमा करता है। तो **मच्चित्ता**का अर्थ है कि भगवान् यह चाह रहे हैं कि आप यह मान लो कि व्यवस्थित रूपसे आपके चित्तका संचालन ईश्वर करता है। वेदान्तकी दृष्टिसे जैसे चित्तका संचालक आत्मा नहीं है, वह तो शुद्ध साक्षी है। तो इन सब मान्यताओंमें भी परिणाम यही निकलेगा कि तुम चित्तसे असंग हो—**मच्चित्ता**।

यह अद्‌भुत लीला है कि कोई भी सिद्धान्त मानो, अपनी असंगता उसमें-से निकल आवेगी। **मच्चित्ताः**। अन्तर्यामी ईश्वरके प्रति अपने चित्तको अर्पित कर दो। मैं जो कुछ था, जो कुछ हूँ, जो कुछ आगे होऊँगा, सो तुम्हारा ही है, तू ही चला, तू ही इसका जिम्मेवार है।

मद्गतप्राणाः—प्राण भी भगवान्‌को अर्पित कर दो। भगवान्‌ने एक जगह बताया और भागवतमें यह प्रसंग आया है—

ये दारागारपुत्राप्तान्प्राणान्वित्तमिमं परम्।
हित्वा मां शरणं याताः कथं तांस्त्यक्तुमुत्सहे॥

बोले—जो अपनी पत्नी, अपना घर, अपना बेटा, अपने गुरुजन, अपना धन, अपना प्राण, अपना लोक अपना परलोक-सब छोड़कर मेरी शरणमें आगये हैं, उनको भला मैं कैसे छोड़ सकता हूँ? जिन्होंने मेरे लिए सब कुछ छोड़ा, उनको मैं कैसे छोड़ सकता हूँ! अपनी बेवसी बताते हैं। यह तो अन्याय होगा, यह तो अधर्म होगा, जिन्होंने मेरे लिए सब कुछ छोड़ा, उसको मैं कैसे छोड़ सकता हूँ! गोपियोंने कृष्णके लिए सब छोड़ा, तो कृष्ण बोले—

न पारयेऽहं निरवद्यसंयुजां स्वसाधुकृत्यं विबुधायुषापि वः।
या मां भजन् दुर्जरगेहशृङ्खलाः संवृश्च्य तद्वः प्रतियातु साधुना॥

गोपियो! यदि मैं अमर जीवन धारण करके कल्प-पर्यन्त तुम लोगोंकी सेवा करूँ तो भी मैं तुमसे उऋण नहीं हो सकता। तुम लोगोंने दुर्जन गेहकी शृंखला तोड़कर मेरा भजन किया, तो मैं तो तुम्हारा ऋणी हूँ। तुम यदि अपने साधु स्वभावसे, मुझे उऋण करो, तो दूसरी बात है। मैं तुम्हारी सेवा करके उऋण नहीं हो सकता।

अपने प्राण भी भगवान्‌के प्रति अर्पित कर दो। कहते हैं कि भक्तलोग यदि एक क्षण भी भगवान्‌को भूलते हैं **तद्विस्मरणे परमव्याकुलता**! फिर याद आते ही उनकी व्याकुलता होती है—हाय-हाय एक क्षण तो भगवान्‌का स्मरण नहीं हुआ! व्यर्थ गया!

सा हानिस्तन्महच्छिद्रं सा चान्धजऽमूढता।
यन्मुहूर्तं क्षणं वापि वासुदेवं न चिन्तयेत्॥

सबसे बड़ी हानि वही है। अपने जीवनमें सबसे बड़ा अपराध वही है, वही अन्धता है, जड़ता है, मूढ़ता है, जिस मुहूर्तमें, जिस क्षणमें भगवान् वासुदेवका चिन्तन नहीं होता। तो कोई भी क्षण ऐसा न जाय जिसमें भगवान्‌का स्मरण न हो। कोई भी कण ऐसा न हो जिसका भगवान्‌के प्रति समर्पण न हो। प्रत्येक कण भगवान्‌के लिए और प्रत्येक क्षण भगवान्‌से सराबोर **मद्गत प्राणाः**।

असलमें कई लोग धन चाहते हैं, वे भगवान्‌को नहीं चाहते। कई लोग भोग चाहते हैं, कई लोग धर्म चाहते हैं, कई लोग मोक्ष चाहते हैं, भगवान्‌को चाहनेवाले,

भगवान्‌से शुद्ध प्रेम हो—ऐसे लोग सृष्टिमें बहुत कम होते हैं। श्रीमद्‌भागवत्‌में आया है—

नैकात्मतां मे स्पृहयन्ति संतः मत्पादसेवाभिरता मदीहाः।
अन्योन्यतो भागवताः प्रसह्य सभाजयन्ते मम पौरुषाणि॥

नारायण, भगवान्‌से एक होना भी नहीं चाहते। यह देखना पड़ता है कि तुम्हारा पुरुपार्थ क्या है, माने तुम अपने परिश्रमसे या अपने धनसे या अपने शरीरसे पाना क्या चाहते हो! **पुरुषार्थ-पुरुषे अर्थ्यते इति।** यह मनुष्य क्या चाहता है! तो कई लोग चाहते हैं कि हमारे पास धन इकट्ठा हो जाय, लेकिन कभी वे पछताते हैं। एक धन इकट्ठा करनेवाले हमसे कहते थे कि महाराज, यह हम कभी नहीं सोचते हैं कि इसका क्या होगा, हमारे बेटा नहीं है, दिनभर कमाते हैं। बीस हजार रुपयेसे व्यापार शुरू किया था, करोड़ रुपये हमारे पास हो गये, इसका क्या होगा यह हम कभी सोचते नहीं हैं, इकट्ठा करते जा रहे हैं। उनको इकट्ठा करनेसे खुशी होती है कि आज इतना बढ़ गया।

तो ऐसे लोग अगर ईश्वरका स्मरण न करना चाहें, तो उनको तुम अपना आदर्श मत मानना। वे कोई भगवान्‌के भक्त थोड़े ही हैं, उन्होंने पैसा कमा लिया तो क्या हुआ। वे धन चाहते हैं, उनका पुरुषार्थ धन है। धनी होनेसे वे धनियोंमें भगवान् हो गये, वे भक्तोंमें भगवान् थोड़े ही हुए। भोग ज्यादा मिलनेसे वे भोगियोंमें भगवान् हो गये। कर्म ज्यादा करनेसे वे कर्मियोंमें भगवान् हो गये, लेकिन भगवान्‌के भक्त नहीं हुए। यदि तुम्हें भगवान्‌की भक्तिके मार्गमें चलना है, तो किसी धनीको धनके कारण अपनेसे श्रेष्ठ मत मानना। यदि धनीको धनके कारण अपनेसे श्रेष्ठ मानोगे, तो तुम्हारी रुचि भी धन कमानेमें हो जायेगी! किसी भोगीको भोगके कारण अपनेसे श्रेष्ठ नहीं मानना। किसी धर्मात्माको धर्मके कारण अपनेसे श्रेष्ठ नहीं मानना। जिसके अन्दर भगवान्‌की भक्ति है, उसीको श्रेष्ठ मानना, तब तुम्हारी भक्ति बढ़ेगी।

तुम्हें चाहिए क्या, देखो तो। कि यह हमारी साँस चल रही है, जिन्दा हैं, किसके लिए? उसके लिए। शरीरमें चेतना है, किसके लिए? कि उसके लिए—**मद्‌गत प्राणाः।** कृष्णके बिना ये दिन व्यर्थ बीत रहे हैं।

ऐसे ही जनम समूह सिराने।
प्राणनाथ रघुनाथ सों पति तजि सेवत पुरुष बिराने।

जन्मपर जन्म बीत गये, युगपर युग बीत गये, वही धन, वही भोग,

वही कर्म सिरपर सवार है। किसने आजतक धनके बलपर सद्गति प्राप्त कर ली?

महाभारतमें एक बहुत बढ़िया कथा आती है। एक ब्राह्मण था। वह किसी यक्षकी भक्ति करता था। यक्ष धनके मलिक होते हैं न! और चाहता था कि यह यक्ष हमको धन दे दे। वह यक्ष बड़ा दयालु था, बड़ा सहृदय था। उसने कहा कि यह मेरा भक्त ब्राह्मण धन चाहता है, परन्तु धन पाकर इसकी सद्गति तो नहीं होगी। अब यह हमारा भक्त धनी हो जाये और सद्गतिसे वंचित हो जाये, तो हमारी भक्तिसे लाभ क्या हुआ? तो एकदिन जब वह ब्राह्मण सोया, तो उसकी जीवात्माको उसने शरीरमें-से निकाल लिया और नरकमें ले गया। नरकमें लेजाकर दिखाया कि जो लोकमें बड़े-बड़े यशस्वी थे, बड़े-बड़े धनी थे, बड़े-बड़े भोगी थे, जिनका बड़ा साम्राज्य था, जिनका बड़ा नाम था, वे लोग नरकमें कीड़ेकी तरह बिलबिला रहे हैं। उसने ब्राह्मणसे पूछा कि ब्राह्मण! इनको पहचानते हो, ये कौन हैं? हाँ महाराज, पहचान गया, ये अमुक राजा हैं। इनको पहचानते हो? कि हाँ महाराज ये अमुक सेठ हैं। हजारोंकी पहचान करवायी, बोले कि देखो ब्राह्मण! तुम हमारे भक्त हो, प्रेमी हो यदि हम तुमको धन द्रे देंगे, तो तुम्हारी भी यही गति होगी, इसलिए तुम मुझसे धन मत चाहो। तो ब्राह्मण बोला कि महाराज अब तो मेरी अन्तरात्मा स्वयं काँप गयी, अब तो मुझे धन नहीं चाहिए। बोले—देखो एक ऐसी चीज है, जिसमें धनकी जरूरत नहीं, भोगकी जरूरत नहीं, बहुत परिश्रम करनेकी जरूरत नहीं और वह वस्तु तुम्हारे हृदयमें ही रहती है, उसकी सेवा करो, तो देखो तुम्हारा कल्याण होगा। तुम्हारी सद्गति होगी।

अबसे तीस बरस पहले यह कथा मैंने पढ़ी महाभारतमें। महाभारत तो मैंने बहुत जल्दी पढ़ लिया था। यह कथा 'शान्तिपर्व'के मोक्षधर्ममें है। पढ़के मैंने हिन्दीमें लिखवा दिया। हमारे एक मित्र थे उन्होंने अंग्रेजीमें उसका अनुवाद किया, 'कल्याणकल्पतरु' निकलता था अंग्रेजीमें, उसमें यह छपा। वह तो जाता है सारे विश्वमें, तो अमेरिकाके 'युनिटी' पत्रने इसको उद्धृत किया। फिर लाखों प्रति इसकी छपी। कहानी तो महाभारतकी है, पर बहुत छपी थी। तो आप देखो कि आपके जीवनका उद्देश्य आध्यात्मिक है कि पारमार्थिक है, आप अपनेको सच्चे रास्तेपर ले चलना चाहते हो तो आपको भगवान्‌के मार्गमें लगना चाहिए न! यह दुनियाका धन, यह दुनियाका भोग, दुनियाका यश, कीर्ति, तारीफ, दुनियाकी

प्रतिष्ठा यह किसी काम आनेवाली नहीं है। यह चामके साथ गल जायेगी, यह हड्डीके साथ बिखर जायेगी, कौन किसको जानता है सृष्टिमें?

तो अपना समय कैसे बिताना? **बोधयन्तः परस्परम्**। जितनी देरतक ध्यान होवे, भगवान्‌का ध्यान करना। ध्यान न हो, तो जप करो, जप न हो तो पाठ करो, पूजा करो। यह कहो कि सबलोग इस काममें लग जायेंगे, तो दुनिया कैसे चलेगी? तो मतलब इसका यह हुआ कि ईश्वरने दुनिया चलानेकी सारी जिम्मेवारी तुम्हारे सिरपर डाल दी है। माने दुनियाकी फिक्र है कि यदि सब लोग ऐसे हो जायेंगे तो दुनिया कैसे चलेगी? अरे सब लोग ऐसे होंगे ही नहीं भाई, तुम तो ऐसे बनकर दिखाओ। सब लोग ऐसे नहीं होंगे, तुम इसकी फिक्र मत करो। कालबा देवीके बाजारमें कोई एक आदमीकी गिनती भी पूरी नहीं होगी। अगर तुम भजन करने लग जाओगे, एक आदमीकी गिनती भी पूरी नहीं होगी, वह ज्यों-का-त्यों चलता रहेगा, ऐसे ही बच्चा पैदा होंगे। तुम अपनेको तो परमात्माके मार्गमें ले चलो, दूसरेका ठेका क्यों लेते हो? दूसरेको पकड़ कर ले चलनेमें तुम स्वयं भी रह जाते हो। क्योंकि उनका संसारमें जितना प्रेम है, उतना भी ईश्वरमें प्रेम तुम्हारा है नहीं जब तुम उनसे कहते हो कि तुम चलो ईश्वरके मार्गमें, तो वे कहते हैं तुम चलो संसारके मार्गमें। अब उनकी संसारमें निष्ठा ज्यादा है, तुम्हारी ईश्वरमें निष्ठा कम है, तो उनसे मिलनेपर तुम उनकी ओर खिंच जाते हो, तुम अपनी ओर नहीं चल पाते। इसीलिए **परस्परं बोधयन्तः**। नारायण, जो भगवान्‌के रास्तेपर चलते हैं उनसे ही बात करो। एकने कहा कि हमको यहाँ किसीसे बात करनेकी जरूरत नहीं है, हम तो सीधे चीन जायेंगे और वहाँके प्रधानमन्त्रीसे बात करके उनका दिल-दिमाग छुड़ावेंगे। बोले—नहीं, अब यहाँ हिन्दुस्तानमें तो समझानेके लिए कोई नहीं है, अब हम भुट्टोको समझानेके लिए जा रहे हैं तो बाबा, अपनी अकल मत खराब करो, **बोधयन्तः परस्परम्** एक दूसरेसे कन्धेसे कन्धा भिड़ा करके, कदमसे कदम मिला करके, मन-से-मन मिला करके परमात्माके मार्गमें चलो—बोधयन्तः परस्परम्—परस्पर एक दूसरेको और उसमें **नित्यम्** जो है आगे **कथयन्तः च मां नित्यं**, उस नित्यंको और जोड़ो। **परस्परम् नित्यं बोधयन्तः**। रोज-रोज परस्पर एक-दूसरेको समझाओ।

परस्पर माने जो समान शीलवाले हों, समान व्यसनवाले हों। कुछ सदाचारी लोग थे काशीमें, उन्होंने कहा कि यह वेश्या नहीं होनी चाहिए दुनियामें। बोले—हमलोग वेश्याओंके मोहल्लेमें जायेंगे और पहले उन्हींको समझाकर ठीक करेंगे

भला! तो वेश्याओंको समझानेके लिए गये फिर लौटकर नहीं आये, वहीं रह गये। तो आप बात क्या करते हैं—परस्पर! जिनकी रुचि है इसमें, उनसे बात करो। वेदान्ती लोग इसको साधन मानते हैं, ब्रह्माभ्यास मानते हैं। पंचदशीमें एक श्लोक ही है—

तच्चिन्तनं तत्कथनमन्योन्यं तत्प्रबोधनम्।
एतदेकपरत्वं च ब्रह्माभ्यासं विदुर्बुधाः॥

विद्यारण्य स्वामी कहते हैं—'तच्चिन्तनं'—परमात्माका चिन्तन करो। 'तत् कथनं'—परमात्माका वर्णन करो। 'अन्योन्यं तत्प्रबोधनम्'—एक दूसरेसे परमात्माकी बात समझाओ और 'एकदेक परत्वं च'—एकमात्र उसीके परायण हो जाओ। 'ब्रह्माभ्यासं विदुर्बुधाः'—विद्वान् लोग इसीको ब्रह्माभ्यास कहते हैं। अभ्यास माने दोहराना। एक चीजको दोहरा-दोहराके वैसी आदत अपने जीवनमें डालना।

एक आदमी माला फेरता है और कहता है कि हे महाराज! कब भगवान्का दर्शन होगा और कब माला छूटेगी, यह तो गले पड़ गयी! उसको ईश्वर मिलेगा कभी! उसको ईश्वर नहीं मिलेगा। एक आदमी कहता है ईश्वर मिले चाहे नहीं मिले, हम तो अभी माला फेरनेका अभ्यास कर रहे हैं, ऐसी आदत हो जाय हमारे जीवनमें, बिना प्रयत्नके माला फिरती रहे भगवान्का नाम निकलता रहे, मरते समय भी भगवान्का नाम निकलता रहे, अगले जन्ममें भी हमारे मुँहसे भगवान्का नाम निकलता रहे, ईश्वरको जब मिलना हो मिले चाहे मत मिले, हम तो अपनी आदत ऐसी बनाना चाहते हैं कि हमारे मुँहसे भगवान्का नाम निकले। अभ्यासमें महत्त्वबुद्धि न होना, माने इस अभ्यासका फल तो कुछ और मिलेगा, यह तो बीचमें दलालकी तरह है दो पैसा लेकर बाजारमें गये, काहेके लिए? कि चाट खानेके लिए, बोले—दो पैसा तो इसलिए ले रखा है भाई, ढो रहे हैं इसे कि चाट इससे खायेंगे तो दो पैसेकी कोई कीमत नहीं है, चाट खाना लक्ष्य हो जाता है। यह जो आध्यात्मिक साधना है, यह फलप्राप्तिके लिए नहीं होती यह तो यदि ऐसा ही जीवन तुमको पसन्द हो कि जिन्दगी भर हमको माला ही फेरना है, जिन्दगी भर हमको सत्संग ही करना है, जिन्दगी भर हमको भगवान्का ध्यान ही करना है। यह नहीं समझना कि पहले भगवान्का ध्यान कर लें, माला फेर लें, सत्संग करलें फिर लड्डू मिलेंगे तो खायेंगे। ऐसे इन सब मालावालोंको समुद्रमें फेंक देंगे। नारायण, ऐसे नहीं होता भजन! अभ्यास माने होता ही यही है कि बार-बार किया

जाय, अभ्यास माने दोहराना। किसलिए दोहराना? इसलिए कि वह हमारे जीवनमें एक स्वाभाविक आदत बन जाय, वैसा हमारा स्वभाव बन जाय।

बोले—थोड़े दिन अभ्यास करके ईश्वरको प्राप्त करलें, फिर क्या करेंगे? कि दुकान करेंगे। नहीं भाई, ध्यान करनेका अर्थ यह है कि हम ध्यानस्थ हो जायें और यह कभी न छूटे अभ्यासके माने यह होता है। तो अपने जीवनमें **बोधयन्तः परस्परम्। तच्चिन्तनम्। तत्कथनं। अन्योन्यं। तत्प्रबोधनम्। एतदेकपरत्वं च ब्रह्माभ्यासं विदुर्बुधाः।** विद्यारण्य स्वामीने कहा कि एक दूसरेको समझाओ।

श्रीमद्भागवतमें ऐसा प्रसंग आता है—**अन्योन्यतो भागवता प्रसज्य सभाजयन्ते मम पौरुषाणि** दूर-दूरसे दीवाने लोग इकट्ठे होते हैं और फिर आपसमें भगवान्‌की चर्चा करते हैं।

सनत, सनातन, सनत्कुमार, सनन्दन—ये चारों भाई इकट्ठे होते हैं तो आपसमें ईश्वरकी चर्चा करते हैं।

श्रीमद्भागवतमें बताया कि भक्तलोग जब इकट्ठे होते हैं तब क्या करते हैं?

परस्परानुकथनं पावनं भगवद्यशः
मिथोरतिर्मिथस्तुष्टिर्निवृत्तिर्मिथआत्मनः ।
स्मरन्तः स्मारयन्तश्च मिथोऽघौघहरं हरिं
भक्त्या सञ्जातया भक्त्या बिभ्रदुत्पुलकां तनुम्॥

परस्परानुकथनं पावनं भगवद् यशः—जब बैठो तो उनकी बेटी ऐसी, उनकी बहू ऐसी, उनका भाई ऐसा, उन्होंने यह बुराई की, इसकी चर्चा क्यों करते हो? अपना दिल खराब करनेके लिए? किसीकी अच्छाईकी चर्चा करो तो उससे राग होता है, किसीकी बुराईकी चर्चा करो तो उससे द्वेष होता है। संसारमें राग-द्वेष हो जाये, तो संसार ही पकड़में आता है, ईश्वर पकड़में नहीं आता है, इसलिए **परस्परानुकथनं पावनं भगवद् यशः।** अपने हृदयको पवित्र करनेवाला जो भगवान्‌का यश है उसीका परस्पर वर्णन करना चाहिए। अनुकथन करना चाहिए।

मिथोरतिः। देखो भाई हमारा प्रेम तो भगवान्‌में बढ़ रहा है, तुम्हारा बढ़ता है कि नहीं? बोले हमारा भी बढ़ रहा है। अच्छा देखें इस प्रेमके रास्तेमें हम आगे बढ़ते हैं कि तुम! पाँव पकड़कर गिरानेका रास्ता नहीं है, पीछे ढकेलनेका रास्ता नहीं है। आओ हम भी चलें तुम भी चलो! भगवत्प्रेमके मार्गमें कोई चले तो उसको साथ लेकर चलना होता है, उसको पीछे धकेलना नहीं होता। वह तो संसारका मार्ग है जहाँ किसीको पीछे ढकेलनेका मार्ग होता है, अपना दिल रागसे,

द्वेषसे, जलनसे, ईर्ष्यासे, असूयासे, स्पर्धासे कलुषित कर लेनेवाला भगवान्के मार्गमें चलने योग्य नहीं होता। **परस्परानुकथनं पावनम्।** पावनं माने जिससे दिलका मैल धुल जाय। वासना मिट जाय, उसको पावन बोलते हैं। **मिथोरतिः मिथः तुष्टिः।** एक दूसरेको देखकर खुश हो रहे हैं, आहा, भाई यह देखो, यह भक्त तो आगे बढ़ गया, आपसमें ऐसी चर्चा करते हैं। यह भक्त तो हमसे आगे बढ़ गया। हम तो एक ही बार मन्दिरमें जाते हैं, यह दो बार जाता है। हम तो छहः माला फेरते हैं, यह तो बारह माला फेरता है। हम तो एक ही माला भगवान्को चढ़ाते हैं, यह दो माला चढ़ाता है। एक जलनका रास्ता संसारका रास्ता है और, **तुष्टिः** माने आनन्द लेना। दूसरेको प्रेम करते देखकर भगवान्से आनन्द आना चाहिए। **निवृत्तिर्मिथ आत्मनः।** इसने देखो इतना त्याग कर दिया, इसने खीर खाना छोड़ दिया, इसने गद्देपर सोना छोड़ दिया, हम भी छोड़ेंगे। इसने इतनेसे अधिक पैसा रखना छोड़ दिया, हम भी इससे सीखें। यह हजार रुपया अपने पास रखता है, उससे ज्यादा नहीं, तो हम पाँच ही सौ रखेंगे।

एक दूसरेको देखकर निवृत्तिकी शिक्षा लोगे तब सीधे रास्ते चलोगे भाई! सीधे रास्ते अपने मनसे कोई नहीं चल सकता, बताना पड़ता है।

स्मरन्तः स्मारयन्तश्च मिथोऽघौघहरं हरिम्।

एक दूसरेको भगवान्की याद दिलाओ। खुद याद करो, दूसरेको याद दिलाओ। भगवान्का स्मरण कराओ इससे क्या होता है? कि हृदयमें जो जन्म-जन्मके पाप इकट्ठे हुए हैं वे धुल जाते हैं।

भक्त्या सञ्जातया भक्त्या बिभ्रदुत्पुलकां तनुम्।

तो 'परस्परं बोधयन्तः'—एक दूसरेको समझा-बुझाकर इस रास्तेमें ले चलो। किसीको इस रास्तेमें-से हटानेकी कोशिश नहीं करना, आगे बढ़ानेकी कोशिश करना।

बोधयन्तः परस्परम्।

कथयन्तश्च मां नित्यं तुष्यन्ति च रमन्ति च।

अच्छा भाई कोई बात करनेवाला न मिले, श्रोता ही मिले तो! कथयन्तश्च। निकालो भागवत और बाँचकर सुनाओ।

वाणी गुणानुकथने श्रवणौ कथायाम्। हमारी वाणी भगवान्के गुणका वर्णन करे। और हमारे कान भगवत्कथाका श्रवण करें। अगर यह बात आपकी समझमें नहीं आती तो संसारकी कथा हृदयमें राग-द्वेष देकर संसारमें फँसाती है। और

भगवान्‌की कथा संसारके राग-द्वेष छुड़ाकर भगवान्‌में बाँधती है। अगर यह अन्तर आपकी समझमें नहीं आता तो हम कहेंगे अभी आप एक-दो कदम भी भगवान्‌के मार्गमें नहीं चले। यह तो

वासुदेवकथा प्रश्नः पुरुषांस्त्रीन्पुनाति हि।

भगवत्कथा सम्बन्धी प्रश्न आ जाय, तो तीन-तीन पीढ़ी तर जाती है। सत्संगमें जो शक्ति है, तीर्थ-यात्रामें वह शक्ति नहीं है। हृदयको पवित्र भगवत्कथा जितनी कर सकती है, तीर्थयात्रा उतनी नहीं कर सकती। एकान्तमें बैठकर माला फेरना श्रेष्ठ है कि कथा सुनना श्रेष्ठ है? माला फेरनेसे दिलमें उतनी बातें आयेंगी जितनी हमको मालूम हैं और कथा सुननेसे ऐसी बातें मनमें आयेंगी जितनी हमको नहीं मालूम हैं, नयी-नयी बात, नया-नया रस आवेगा। यह कथाका रस है न—*हरि कथा कथा।* श्रीआनन्दमयी माँ कहती हैं—*हरि कथा कथा और सब वृथा व्यथा।* बंगलामें बोलती हैं—भगवान्‌की कथा कथा है और सब वृथा है, व्यथा है। पीड़ा देनेवाली चीज है और व्यर्थ है।

रसना साँपिनी बदन बिल जो न जपै हरि नाम।

यह मुँह एक बिल है और इसमें जीभ एक साँपिनकी तरह रहती है। यदि भगवान्‌का नाम न होवे, तो यह विषैली साँपिन किसी-न-किसीको डँसेगी। यदि भगवान्‌की चर्चा इसमें नहीं आवे, तो यह किसी-न-किसीको दुःख पहुँचावेगी, किसी-न-किसीको डँसेगी। ऐसी बात बोलेगी धीरेसे, ऊपरसे मीठी भीतरसे डँसनेवाली बात बोलती है और ऐसी बातें बोलते-बोलते लोगोंकी आदत बिगड़ जाती है।

तो **कथयन्तश्च**। इसीसे ऐसा वर्णन आया भागवतमें कि और तो और जो ज्ञानी महात्मा हैं, जिनका कोई प्रयोजन दुनियामें नहीं है, वे कहते हैं भाई जीभ है, मुँह है, तो इसको पकड़कर कब तक रखेंगे, यह कुछ-न-कुछ तो बोलेगी, तो यह ऐसी मर्यादा बना लो, एक ऐसा कायदा बना लो कि भगवान् ही के बारेमें बोलो।

आत्मारामाश्च मुनयो निर्ग्रन्था अप्युरुक्रमे।
कुर्वन्त्यहैतुकीं भक्तिमित्थं भूतगुणो हरिः॥

भगवान्‌के कैसे गुणानुवाद हैं? आत्माराम, बोलते हैं तो भगवत्कथा। क्योंकि भगवत्कथा आकर्षक है। तत्पदार्थका शोधन करनेमें सबसे बड़ी सहायक भगवत्कथा है। भगवान्‌के रूपका वर्णन, भगवान्‌के चरित्रका वर्णन, भगवान्‌की

चेष्टाका वर्णन, भगवान्के गुणानुवादका वर्णन, भगवान्के शील-स्वभावका वर्णन, भगवान्के स्वरूपका वर्णन।

आजतक जिसको भगवत्सम्बन्धी कुछ लाभ मिला है वह भगवत्कथासे मिला है। धनसे आजतक भगवान् किसीको नहीं मिले हैं, भोगसे भगवान् किसीको नहीं मिले हैं। भगवत्कथा श्रवण करनेसे हजारों लाखोंको भगवान्की प्राप्ति हुई है।

बिनु सत्संग न हरिकथा तेही बिनु मोह न भाग।
मोह गए बिनु रामपद होई न दृढ़ अनुराग॥

सत्संगके बिना भगवत्कथा नहीं और कथाके बिना मोह दूर नहीं होता और जबतक संसारका मोह दूर नहीं हुआ, तबतक भगवान्के चरणोंमें दृढ़ अनुराग नहीं होता।

मिलहि न रघुपति बिनु अनुरागा।

बिना अनुरागके भगवान्की प्राप्ति नहीं होती।

किएं कोटि जपतप अनुरागा।

बिना अनुरागके भगवान् नहीं मिलते। और,

बिन देखे रघुवीरपद जिय की जरनि न जाय।

जबतक भगवान्के चरणारविन्दके दर्शन नहीं होंगे, तबतक हृदयकी जलन मिट नहीं सकती। इसलिए **कथयन्तश्च मां नित्यं।** भगवान्की चर्चा करो, भगवान्की कथा करो। बोले **नैमित्तिकं**, पूर्णिमाके दिन सत्यनारायणकी कथा सुन लो, संक्रान्तिके दिन सत्संग कर लो। कभी-कभी कर लो, रोज-रोज क्या! कई लोग ऐसे हैं, वे कहते हैं कभी-कभी कर लो, रोज रोज क्या? तो असलमें उनका रास्ता ईश्वरका रास्ता नहीं है, यह बात समझ लेनी चाहिए। जिनको कभी-कभी ईश्वरकी बात सुहाती है, जैसे शौक पूरा करते हैं। जिनको कभी-कभी भगवत्कथा सुहाती है वे ईश्वरके मार्गमें नहीं जा रहे हैं वे तो जैसे कभी दान कर दिया कभी पुण्य कर दिया, गरीबको दो आना पैसा फेंक दिया, तो अपने महीने भरके तीस दिनके समयमें-से एकाध घण्टा समय कथाके लिए भी फेंक दिया उन्होंने। अब एक दिनका समझो बीसवाँ हिस्सा और तीस दिनमें एक घण्टा भर कथा सुन आये, बोले—हाँ भाई इतना! गरीबको दो पैसा दे आये। करोड़ रुपया कमाया दो पैसा गरीबको भी दे आये और बड़ा सन्तोष हुआ। **तुष्यन्ति च रमन्ति च।** अपना सन्तोष, अपना आनन्द और अपना रमण भगवान्में लगाओ। तो **नित्यं चित्तः।** **नित्यं**

मद्‌गत प्राणाः। नित्यं परस्परं बोधयन्तः। नित्यं मां कथयन्तश्च। नित्यं तुष्यन्ति च। नित्य रमन्ते च। चौबीस घण्टा।

अगर तुमको कोई आनन्दका झरना मिल गया कि अमृत है, यह पीनेकी वस्तु है, अमृतका झरना मिल गया, जिसको पानेके बाद किसी चीजके पानेकी जरूरत नहीं। पेट भी भर जाता है इससे। यह नहीं समझना कि पेट न भरता हो। श्री उड़ियाबाबाजी महाराजका शरीर पूरा हो गया, तो हरिबाबाजीने कहा—आओ अब बारह महीना वृन्दावनमें ही रहेंगे, यहाँसे कहीं नहीं जायेंगे। यह हुआ कि बारह महीना यहाँ रहेंगे तो खाने-पीनेका बन्दोबस्त भी तो करना पड़ेगा! हम लोग रहेंगे तो सैंकड़ों आदमी आकर रह जायेंगे यहाँ। अब भी हम वहाँ रहते हैं तो सैंकड़ों आदमी रहते हैं। कई सौ आदमी रहते हैं। सौ आदमी हरिबाबा जीके साथ रहते हैं, सौ आदमी मेरे साथ रहते हैं, दो-सौ तीन-सौ आदमी रहते हैं। सबके खाने-पीनेका बन्दोबस्त भी तो करना पड़ेगा न! यह काम तो बड़ा भारी। तो बोले कि देखो, आओ बैठ जायें नियम करके। तुम श्रीमद्भागवत पूरा सुनाओ बारह महीनेमें और मैं रोज सुनूँगा नियमसे और रोज अखण्ड कीर्तन होगा, रोज सत्संग होगा हमलोग भगवान्‌के लिए इतना करेंगे, तो भगवान् क्या हमारे खाने-पीनेकी भी व्यवस्था नहीं करेंगे? **योऽसौ विश्वम्भरो देवः स भक्तान् किमुपेक्षते?** जो सम्पूर्ण विश्वको भोजन दे रहा है, वह अपनी कथा करनेवालेको, सुननेवालेको, कीर्तन करनेवालेको क्या भोजन नहीं देगा? यह मनमें झूठी निराशा होती है। सट्टा करनेवाले अपनेको व्यापारी समझते हैं। देखो, ठनठनपाल, माल बिलकुल नहीं, जबानी जमाखर्च करके सट्टा कर लेते हैं और अपनेको समझते हैं व्यापारी, हमने बड़ा भारी व्यापारका काम किया और हमलोग भगवान्‌की चर्चा करें तो यह कोई काम नहीं है?

तो खानेकी, पीनेकी, पहननेकी, रहनेकी चिन्ता भक्तलोग नहीं करते हैं—

भोजनाच्छदने चिन्तां वृथा कुर्वन्ति वैष्णवाः।

जो भगवान्‌के भक्त हैं, वे हम क्या खायेंगे—इसकी फिक्र झूठमूठ करते हैं।

वह एक सबको रोटी देनेवाला है। हमको ऐसे-ऐसे जंगलमें रोटी मिली है जहाँ कोई आदमी मिलनेवाला नहीं। एक बार हमलोग दिनभर तीस मील चलते-चलते थक गये कहीं कोई रहनेकी जगह नहीं मिली। मैं था और साथमें सुदर्शन सिंह 'चक्र' थे हम दोनों बिहारमें घूम रहे थे। रातमें ग्यारह बजे दो बालक आये हमारे पास, बहुत सुन्दर, अति स्वच्छ वस्त्र धारण किये, मोहक उनकी आँखें, सुन्दर नाक, बोले—कुछ खाओगे? भूख लगी है? अरे रातको इस समय कहाँ

मिलेगा? दिनभरके भूखे हैं। मिलेगा क्या इस समय! बोले—देखो, हम लाते् हैं और लाकर भोजन कराया। ग्यारह बजे रातको दो छोटे-छोटे बालक!

एक बार एक महात्मासे मैंने कहा—भूख लगी है, दोपहर एक-दो बजे। बोले—आजा! ऐसे, आश्चर्य आगया। तो आसमाननें-से नहीं आया, पाँच मिनटके भीतर। पीछेसे एक आदमी दौड़ता हुआ आया, महाराज, ठहरो, ठहरो; कि क्या बात है? कि भोजन करके जाओ। महात्माने कहा—आज एकादशी है, हम फलाहार करते हैं। बोला—हमारे यहाँ फलाहार ही बना है महाराज, किसीको निमन्त्रण दिया गया था कि आकर भोजन कर जाना, वे लोग तो आये नहीं, उनके यहाँ कोई सूतक-पातक होगया, अब आप लोग भोजन कर लें। पाँच मिनटके भीतर ही!

यह जो लोग समझते हैं कि हम इतना झूठ बोलेंगे, तब हमारे आमदनी होगी, इतना लोगोंको ठगेंगे तब हमारे पैसा होगा। अरे यह ठगा हुआ, यह झूठ बोलकर लिया हुआ पैसा, समय पर काम नहीं देता है। और, भगवान्‌की भक्ति करते हैं और भगवान् जो भेजते हैं, वह पहनना, वह खाना, वह वस्तु सचमुच काम आती है और आनन्द देती है। **तुष्यन्ति च रमन्ति च।** विचार तो करो कि तुमने अपने सन्तोषको कहाँ फेंक दिया है। अपने सुखको कहाँ फेंक दिया है! सत्यपर तो विश्वास रहा नहीं, झूठपर विश्वास है कि झूठ हमको भोजन देगा। धर्मसे तो रोटी नहीं चल सकती, अब अधर्म करेंगे तब खानेको मिलेगा। धर्म पर विश्वास नहीं, अधर्मपर विश्वास है, सत्यपर विश्वास नहीं झूठपर विश्वास है, ईश्वरपर विश्वास नहीं, जीवपर विश्वास है और जीव पर विश्वास नहीं अपनी चालाकीपर विश्वास है। यह मनुष्यका कितना बड़ा पतन होगया, इसपर विचार करके देखो!

तो सन्तोष कहाँ मानना? कि जिस दिन भगवान्‌की चर्चा सुननेको मिले, समझना कि आज बस करोड़ोंकी सम्पत्ति मिल गयी। **रमन्ति च।** आज बड़ा मजा आया। मजा कब आया? मजा तब आया जब भगवच्चरित्र सुननेको मिला बोलनेको आया, तब मजा आया। भोजनसे मजा नहीं आया। **रमन्ति च। तुष्यन्ति च रमन्ति च।** आदमी धनकी प्राप्तिसे खुश होता है और स्त्री-पुरुषका मिलन होवे तो रमण होता है। और, यहाँ बोले—भगवान्‌का प्रबोधन और भगवान्‌का अनुकथन—**तुष्यन्ति च रमन्ति।** एक लोभीको धन मिलनेपर जैसा सन्तोष होता है और एक कामीको स्त्री-पुरुषकी प्राप्ति होनेपर जैसा रमण होता है, वैसा रमण भगवान्‌के भजनसे होता है।

बोले—भाई यह तो तुम भक्तके लिए, जीवके लिए बता रहे, यह करो वह करो, कुछ भगवान् भी करते हैं? बोले—भगवान् देखते रहते हैं।

भगवान्‌का एक नाम भी अगर किसीके मुँहसे निकलता है तो भगवान्‌को मालूम रहता है कि इसने हमारा नाम लिया। एक बार भी अगर भगवान्‌के प्रति प्रेमकी वृत्ति आती है तो भगवान्‌को मालूम पड़ता है कि यह हमारा प्रेमी है।

तेषां सततयुक्तानां भजतां प्रीतिपूर्वकम्।
ददामि बुद्धियोगं तं येन मामुपयान्ति ते॥ 10॥

प्रेमसे भजो। भजन माने सेवा। कमल जब खिलता है, तब यह नहीं विचारता कि हमारी सुन्दरताको देखकर कौन खुश होगा? चाँदनी जब छिटकती है तो चन्द्रमा यह नहीं देखता कि हमारी चाँदनी किसके ऊपर पड़ेगी? ऐसे जब हृदयमें प्रेम उमड़ता है, तो वह आदमी देख-देखकर कि इनके ऊपर प्रेम बरसो इनके ऊपर मत बरसो, यहाँसे समेट लो, ऐसा करता है? नहीं, यह तो बाँटनेका जिन लोगोंको अभ्यास नहीं है, वे लोग ऐसा करते हैं। जिस समय रोटी देनेके लिए बैठते हैं, उस समय जब कोई आदमी सामने आजाता है, तो यह सोचना कि इसको रोटी दो और इसको मत दो; चार आदमी पंक्तिमें खड़े हों, बड़ा कठिन पड़ता है, जानते हो कि नहीं! आपको कभी ऐसा काम पड़ा हो। आप कोई चीज बाँट रहे हो और जब सामनेसे लोग निकलते हैं, तो एकको गाली देना और एकको वस्तु देना, यह कितना कठिन पड़ता है। तो जिसके हृदयमें प्रेम उमड़ता है भाई, और ईश्वरके प्रति उमड़ता है; ईश्वरके प्रति प्रेम माने सबके प्रति प्रेम।

चैतन्य महाप्रभुके हृदयमें जब प्रेम आता था, तो पेड़को आलिंगन देते थे, शेरको अपने गलेसे लगा लेते थे, साँपको उठाकर गले लगा लेते थे। क्योंकि प्रेम जब उमड़ता है, तो उसको सबमें अपने प्रियतमका ही दर्शन होता है। क्षण-क्षण और कण-कण प्रेमसे पूर्ण हो जाता है। **भजतां प्रीतिपूर्वकम्।**

जो प्रेमपूर्वक भगवान्‌का भजन करते हैं, प्रेमपूर्वक भगवान्‌का भजन करना अर्थात् हमेशा भगवान्‌के साथ युक्त रहना, हमेशा जुड़े रहना।

अब देखो भगवान् क्या करते हैं! कल सुनावेंगे।

अन्तर्मुख होनेके लिए दो आलम्बन बताये। एक तो कार्य-दृष्टि न होवे कारण-दृष्टि होवे—**अहं सर्वस्य प्रभवः** यह कारण-दृष्टि है। और **मत्त सर्वं प्रवर्तते**— यह अन्तर्यामी प्रेरक दृष्टि है। यह जो कार्य-सृष्टि दिखायी पड़ रही है, जिसके पीछे कोई चलानेवाला है, जैसे हाथ दिखता है हिलता हुआ, तो हाथ ही हाथ तो नहीं है, इसके पीछे कोई हिलानेवाला है। इसीको प्रेरक कहेंगे। जिसके होनेकी वजहसे हाथ हिल रहा है। और, यह सृष्टि जो दिखायी पड़ रही है, इसके पीछे रहकर जो इसको हिला है, उसकी तरफ ध्यान ले जाओ। सारी सृष्टि, कोटि-कोटि ब्रह्माण्ड। दूसरी बात बतायी कि यह जो पंचभूतसे बनी हुई सृष्टि है, तो हजार चीजें दिख रही हैं लेकिन इसके पीछे पंचभूत है। और पंचभूतके पीछे? बोले—अव्यक्त परमात्मा है। जिसमें-से ये पंचभूत निकले हैं, वह है।

ईश्वरका भजन करनेके लिए बहिर्मुखसे अन्तर्मुख होना जरूरी है और उसमें कारण-दृष्टि और प्रेरक दृष्टि होनी चाहिए। जो लोग ऐसा मानते हैं कि इन्द्रियोंसे जितना दिखायी पड़ता है, उतना ही सत्य है, उनसे पूछो कि इन्द्रियाँ कैसे दिखाई पड़ती हैं? किसी इन्द्रियका इन्द्रियसे साक्षात्कार नहीं होता। इन्द्रियका इन्द्रियसे दर्शन नहीं होता। आँखसे कान नहीं दिखते। आँखसे नाक भी नहीं दिखती, दूसरेकी भी नहीं अपनी भी नहीं। जो गन्ध-ग्रहणकी शक्ति है, ऐन्द्रियक नहीं है। इन्द्रियाँ ऐन्द्रियक नहीं होती। विषयोंका दर्शन इन्द्रियोंसे होता है, पर इन्द्रियोंका दर्शन इन्द्रियोंसे नहीं होता। यहाँ तक कि मनका दर्शन भी मनसे नहीं होता। यहाँतक कि ज्ञानका दर्शन भी ज्ञानसे नहीं होता। तो जितना दिखता है उतना ही सत्य मानने पर, ज्ञान-विज्ञानका बिलकुल बंटाढार ही हो जायेगा। जो मशीनसे दिखे सो सच्चा, जो इन्द्रियोंसे दिखे सो सच्चा, तो यह भीतर बैठकर जो चला रहा है सो कौन है? यह करणोंका प्रेरक कौन है? करणोंका मूल उपादान कौन है? ये किससे बने हैं? तो विद्वान् लोगोंकी दृष्टि उसपर जाती है। **इति मत्वा भजन्ते मां बुधा भाव समन्विता।** यह बड़ी अद्‌भुत बात है कि जिसको पहननेके लिए मोती चाहिए, वह एक दृष्टि है। और पीनेके लिए पानी चाहिए, वह दृष्टि दूसरी है।

लेकिन जो यह तलाश करना चाहते हैं कि यह पानी कैसे बना और यह मोती कैसे बना; यह आश्चर्य है कि ये दोनों चीजें कैसे बनीं; यह आश्चर्य है कि ये दोनों चीज एक ही उपादान कारणसे बनीं। जो पानी आप अपने घरमें लोटे-के-लोटे गिरा देते हैं, बाल्टियों खर्च कर देते हैं नहाते समय, वह पानी और ये जो पहने जाते हैं कानमें, नाकमें, छातीपर ये मोती; ये दोनों बिल्कुल एक ही उपादानसे, एक ही मसालेसे ये दोनों बने हुए हैं, दोनों पानी है।

तब मोतीसे राग नहीं होगा और पानीसे द्वेष नहीं होगा, जब कारणपर दृष्टि जायेगी, तब चित्त शुद्ध हो जायेगा।

चोरके शरीरमें जो माटी है सो और साहुकारके शरीरमें जो माटी है सो, दोनोंमें फर्क नहीं होता। जब चोरको देखोगे तब द्वेष होगा और साहुकारको देखोगे तो राग होगा और दोनोंमें मौजूद जो माटी है, पानी है, आग है, हवा है, आकाश है, जो उसमें सबका मूल मसाला परमात्मा है, जो उसमें सबका प्रेरक परमात्मा है, उसको देखोगे, संसारका राग-द्वेष मिट जायेगा। क्षुद्र वस्तुओंको देखते हैं इसलिए चित्त अशुद्ध होता है।

इति मत्त्वा भजन्ते मां बुधाः भावसमन्विताः।

ये बुधभावसे युक्त होकर भजन करते हैं, एक ओर बुध हैं और एक ओर भावयुक्त हैं। ये अभावी बुध नहीं हैं, ये भावी बुध हैं—भावुक बुद्ध हैं। भावुक बुध होना माने अपने दिलको तर रखना। हमारे एक महात्मा बोला करते थे—

रक्षत रक्षत कोषानामपि कोषं हृदयम्।
यस्मिन्सुरक्षिते सर्वं सुरक्षितं स्यात्॥

तुम्हारे पास एक खजानोंका खजाना है उसका नाम है दिल, उसको सुरक्षित रक्खो। उसमें दुनियाका कूड़ा-कर्कट मत घुसने दो। अगर वह साफ रहेगा, वह स्वच्छ रहेगा, वह निर्मल रहेगा, तो तुम्हारे लिए सारी दुनियाँ निर्मल रहेगी, स्वच्छ रहेगी। और, यदि तुमने अपने दिलको बिगाड़ लिया, तो तुमको बचानेवाला कोई नहीं है।

तो कैसे बचावें अपने दिलको यह सवाल पैदा हुआ। तो इसपर बोलते हैं— **मच्चित्ता मद्गतप्राणाः।** मनसे छोटी-मोटी बातपर विचार मत करो। कई लोग होते हैं बड़े, पर छोटी बातपर उनका दिल-दिमाग ज्यादा जम जाता है। एक बार बड़ी सभा जुड़ी थी। मैं तो उस समय छोटा ही था, लेकिन उत्साह बहुत था चित्तमें! काशीमें महाब्राह्मण सम्मेलन हुआ, बहुत बड़ा। लोगोंने बताया कि पाँचों

सम्प्रदायके आचार्य—अद्वैती, द्वैती, विशिष्टाद्वैती, विशुद्धाद्वैती, शुद्धाद्वैती, जैसे उस सम्मेलनमें इकट्ठे हुए, उसके पहले उस तरहसे कहीं इकट्ठे नहीं हुए थे, चारों मठके शंकराचार्य। मैं था स्वयंसेवक तो सब बात हमारे कानमें आ जाती थी। अब यह प्रश्न वहाँ हुआ कि दाहिने कौन बैठेगा, बाँये कौन बैठेगा। अब इतने बड़े आचार्य, ब्रह्मका विचार करें, ईश्वरका विचार करें। उनकी नजर कहाँ फँसी? कि दाहिने-बाँयेंमें। हमको आश्चर्य होता था। मैं बच्चा था पर आश्चर्य होता था कि यह क्या बात हुई कि दाहिने कौन बैठे, बाँयें कौन बैठे! फिर यह तय हुआ कि दाहिने बाँयें कोई नहीं रहेगा, गोलगोल सबको बैठाया जायेगा। चारों तरफ, जनता बीचमें, गोल-गोल सब बैठाये जायेंगे। फिर यह हुआ कि सिंहासन सब अपना-अपना लेकर आये हैं, तो कोई-कोई तो अपने पलंगको ही सिंहासन बनाके लाये। तो किसीका सिंहासन ऊँचा रहेगा, किसीका छत्र ऊँचा रहेगा; बोले—नहीं बैठेंगे। मना कर दिया, आखिरमें आचार्योंने मना कर दिया। तो नापनेका फीता लेकर, नीचे छोटी-छोटी लकड़ी लगाकर, सम किया गया। वह हमको याद आता है। ये द्वैती, अद्वैती, विशिष्टाद्वैती नारायण कहो इतने बड़े-बड़े लोग और एक इंच किसीका सिंहासन ऊँचा न हो जाय। इसीको कहते हैं—'नाम बड़े और दर्शन छोटे।' छोटी-छोटी बात हो! एक जन सत्संगमें नहीं आते, क्यों? बोले कि महाराज गन्दे-गन्दे लोग आकर बीचमें बैठ जाते हैं। हमसे एकने कहा मुम्बईमें; एक बड़े घरकी माता हैं, उसने बात हुई कि तुम सत्संगमें क्यों नहीं आतीं बोलीं कि छोटी-छोटी किस्मके लोग आकर बीचमें कहीं आगे बैठ जाते हैं, कहीं बीचमें, कहीं बाँयें, कहीं दाँयें, कहीं धक्का देते हैं, उनके ऊपर हमारी नजर पड़ जाती है। बोले—भलेमानुस, तुम उनके ऊपर नजर पड़नेके कारण सत्संग छोड़ रही हो, यह तो देखो! तुम किसको छोड़ रही हो?

असलमें छोटी-छोटी बातपर अपनी नजर नहीं ले जानी चाहिए। सबसे बड़ेपर अपनी दृष्टि जानी चाहिए। ईश्वरपर अपनी दृष्टि डालनी चाहिए। इसीका नाम है **मच्चित्ता**।

क्या देखते हो किसकी नाक चिपटी है और किसकी लम्बी है। किसकी आँख मुचमुची है और किसकी बड़ी-बड़ी है। यह सब देखनेसे क्या फायदा! यह देखो, दोनोंके भीतर ईश्वर है। दोनोंके दिलमें तुम्हारा प्यारा बैठा है। तुम्हारी नजर इतनी तेज होनी चाहिए कि सबमें उसीको देखो, खोल मत देखो, चाम मत देखो, हड्डी मत देखो, मांस मत देखो, शक्ल-सूरत मत देखो। अगर तुम उससे दुश्मनी

करते हो जिसके दिलमें तुम्हारा प्यारा बैठा है, तो तुम्हारी दुश्मनी तुम्हारे प्यारेको ही तो तकलीफ देगी न! संसारमें किसीसे द्वेष करना माने ईश्वरसे द्वेष करना, किसीसे ईर्ष्या करना माने ईश्वरसे ईर्ष्या करना। किसीसे स्पर्धा करना, असूया करना, किसीको गाली देना माने ईश्वरको गाली देना। तो, हमको कितना सावधान जीवन व्यतीत करना चाहिए। कण-कणमें ईश्वर, क्षण-क्षणमें ईश्वर—**मच्चित्ता**। जहाँ देखो बस वही-वही। उसीको चुन लो!

यह देखो चींटी होती है, अगर बालूपर कण-कण-कणपर शक्कर डाल दो, तो चींटी बालू अपने मुँहनें कभी नहीं उठावेगी, शक्कर उठायेगी। चींटीको इतनी अकल है। और, तुम्हें इतनी अक्ल है कि तुम बस बालू ही भरो अपने मुँहमें, शक्कर छोड़ दो, यह तुम्हारी अकल? बोले—बड़े भारी आदमी हैं, हमारे सरीखा बुद्धिमान्, हमारे सरीखा धनी, हमारे सरीखा सुन्दर कोई नहीं है, शक्कर छोड़कर बालू भर रहे हैं अपने दिलमें और बोल रहे हैं कि हम बहुत बड़े आदमी हैं।

तो **मच्चित्ताः** का अर्थ है जहाँ देखो वहाँ परमात्माको देखो उसके अन्दर अपने परम प्रियतम प्रभुको देखो। यही हृदयशुद्धिका उपाय है। श्रीमद्भागवतमें बताया कि—

नरेष्वभीक्ष्णं मद्भावं पुंसो भावयतोचिरात्।
स्पर्धाऽसूयातिरस्काराः साहंकारा वियन्ति हि॥ (11.29.15)

यदि तुम अपनी अन्तर्भेदिनी अन्तर्दर्शिनी दृष्टिसे सबके अन्दर पहुँचकर यह देखोगे कि इसके हृदयमें जगमग-जगमग हमारा प्रभु जगमगा रहा है। सबके दिलमें एक हीरा रखा है, वह चमक रहा है। एक सरीखा है, बड़ा-छोटा नहीं है, बड़े दिलमें बड़ा छोटे दिलमें छोटा नहीं। तुम्हारी नजर उस हीरेपर पहुँचे। पिटारी मत देखो हीरा देखो!

ये विक्रेता लोग जो होते हैं, दुकानदार लोग, ऊपरसे ऐसा बढ़िया चमकदार पेश करते हैं और भीतर माल ठनठनपाल। जो ऊपर-ही-ऊपर देखकर रह जायेगा, उसको क्या मिलेगा? अरे माल देख लो भाई, बिलकुल सच्चा ईश्वर है दिलमें; तुम्हारे दिलमें भी है, उसके दिलमें भी है। यही तो एक रत्न है—

सर्वभूतेषु मद्भावं पुंसो भावयतोऽचिरात्।

जैसे सूर्य चमक रहा है, ऐसे सबके हृदयमें वह सूर्य चमक रहा है। वह जुगनूकी तरह भी चमक रहा है सबके हृदयमें और वह कोटि-कोटि सूर्यके रूपमें भी चमक रहा है। वह तरंगोंमें पानीकी तरह, वह मिट्टीमें कणोंकी तरह, वह

चिंगारियोंमें आगकी तरह, सबके भीतर भरा हुआ है। यह भावना आने दो अपने जीवनमें।

यदि ईश्वरको देखोगे तो इसकी पहचान है कि तुम्हारे हृदयमें किसीसे स्पर्धा नहीं होगी। स्पर्धा माने होड़ नहीं लगाओगे। असूया—किसीके गुणमें दोष नहीं दिखेंगे। किसीका तिरस्कार नहीं करोगे और अपनेमें जो अहंकार है बड़प्पनका, वह दूर हो जायेगा।

इतने दोष हृदयसे मिटानेके लिए, सबके अन्दर ईश्वरको देखना।

अच्छा एक सनातन धर्मकी महिमा देखो। पत्थर नर्मदामें-से आया कि गंडकमें-से! और काला है कि गोरा! मूर्ति जो है वह टाँकी लगाकर गोरी बनायी गयी कि काली; सफेद पत्थरमें कि काले पत्थरमें! स्त्रीके रूपमें बनायी गयी कि पुरुषके रूपमें! इसपर ख्याल नहीं करना है कि मूर्ति देवीकी है कि देवताकी है! यह नहीं देखना है, वह गंडकीकी शिला शालिग्राम है कि नर्मदाका पत्थर नर्मदा शंकर है? यह नहीं देखना। गोल-गोल है कि लम्बा-लम्बा है, औरतकी शक्लमें कि मर्दकी शक्लमें कि गणेशकी शक्लमें! यह नहीं देखना।

यह देखना कि उस चीजको देखकर तुम्हारे हृदयमें ईश्वर-बुद्धिका उदय होता है कि नहीं! बनाना मूर्ति नहीं है, बनाना बुद्धि है। यह जो पूजा-पत्री की जाती है, मूर्ति कितनी बढ़िया बनायी जाती है, यह नहीं देखी जाती बात। यह तो आजकलके लोग हैं कि बिजलीकी रोशनी जिस मन्दिरमें ज्यादा हो, उसमें दर्शन करने जाते हैं भला! पहलेके मन्दिरोंको देखो; रोशनी ही नहीं रखते थे। वैद्यनाथ मन्दिरमें जाकर देखो, मूर्ति मिलना ही मुश्किल है महाराज वह तो सब पानी पड़ते-पड़ते छोटे-छोटे पत्थरके टुकड़े हो गये हैं। भुवनेश्वरके मन्दिरमें जाकर देखो क्या दशा है। जगन्नाथजीके मन्दिरमें कौन-सी बढ़िया मूर्ति रखी है कि देखकर नयन तृप्त हो जाय! अरे आँख सेंकनेके लिए मन्दिरमें नहीं जाया जाता है भाई, आँख सेंकनेके लिए मन्दिर नहीं होता, मन्दिर होता है बुद्धिका निर्माण करनेके लिए। भुवनेश्वर-मन्दिरमें जाकर, बैद्यनाथ-मन्दिरमें जाकर शंकरजीके मन्दिरमें जाकर, शालिग्रामके मन्दिरमें जाकर, चार भुजावाले, दो भुजावाले सूर्यके रूपमें, हाथीके रूपमें, किसी भी मन्दिरमें जाकर वह मूर्ति गढ़ना नहीं होता है, अपने दिलमें बुद्धि गढ़नी होती है, ईश्वर-बुद्धि करनी पड़ती है।

अगर समुद्रको देखकर हृदयमें ईश्वर-बुद्धि जगती है तो उस बुद्धिको जगाओ। मन्दिरमें जानेका अभिप्राय मन्दिर बनाना नहीं है, मन्दिरमें जानेका

अभिप्राय दिल बनाना है। कि नहीं, चलो किसी सर्राफके घर चलें, सुनारके घरमें चलें, वह छैनी और हथौड़ी लेकर हमारा दिल गढ़ेगा। इसकी उम्मीद नहीं करना, हथौड़ेसे ठोंककर दिल नहीं गढ़ा जाता। यह मैं जिस ईश्वरका वर्णन कर रहा हूँ, इस ईश्वरमें ध्यान लगाओगे तब तुम्हारे हृदयका निर्माण होगा। दिल बढ़ईके घरमें, लुहारके घरमें, सुनारके घरमें नहीं गढ़ा जाता, दिल सत्संगमें गढ़ा जाता है। जैसे अपने चित्तमें ईश्वर-बुद्धि आवे।

तुमको पहले बताया था, तुम भूल गये। माँ-बापको देखकर ईश्वरका भाव मनमें आवे। तुमको पहले बताया था पतिको देखकर ईश्वरका भाव मनमें आवे। तुमको पहले बताया था बेटेको देखकर ईश्वरका भाव मनमें आवे। लड़कीको देखकरके यह जगज्जननी जगदम्बा ईश्वर हमारे घरमें आयी है—यह भाव हमारे मनमें आवे। ब्राह्मणको देखकर आवे, गायको देखकर आवे। संन्यासीको देखकर आवे, समुद्रको, सूर्यको देखकर आवे। इतनी युक्ति रची गयी थी कि किसी तरहसे तुम्हारे हृदयमें ईश्वर-बुद्धि आकर बसे। सनातन धर्मकी यह रीति है। उसमें आकार पर दृष्टि नहीं है कि वह कैसा है, मूर्ति कैसी है, काली है कि गोरी, गोल है कि लम्बी और सुन्दर है कि असुन्दर—इसपर नजर नहीं डालना है। यह देखना है कि उससे हमारे दिलमें ईश्वरका ध्यान आता है कि नहीं! ईश्वराकारवृत्ति बनती है कि नहीं! **मच्चिताः**।

अगर भाई तुमने किसी मन्दिरमें जाकर किसी तीर्थमें जाकर किसी सन्तका दर्शन करके कोई धर्म कर्म करके अपने दिलमें फेर-बदल कर लिया और उसमें ईश्वरका आकार आगया तो तुम्हारा धर्म-कर्म, तीर्थ-दर्शन सब सफल हो गया। यह अपनी चित्तवृत्तिको ईश्वराकार बनानेके लिए है—

मच्चिता मद्गतप्राणा बोधयन्तः परस्परम्।

एक बालक मुम्बईका मेरे साथ एक सन्तके पास गया, सन् इकतीस-बत्तीसकी बात है। उन सन्तकी चाँद बड़ी चिकनी थी, बिलकुल एक बाल नहीं सिरपर और चमचम शीशेकी तरह चमकें। जब दर्शन करके लौटा तो उस बालकसे पूछा—तुम्हें कैसे लगे महात्मा? बोला—क्या बताऊँ पंडितजी उनको देख-देखकर मेरे मनमें आता था कि अगर यह धूल उठाकर उनके सिरपर डालूँ तो ये कैसे लगेंगे?

गये सन्तका दर्शन करने और धूल ही डालनेका मन आया। तो बताओ सन्तका दर्शन करके क्या ले आये! जैसे तुम दूकानमें अपने लाभके लिए सावधान

रहते हो, जैसे नौकरीमें अपने लाभके लिए सावधान रहते हो, आफिसमें अपने लाभके लिए सावधान रहते हो, वैसे सत्संगमें भी अपने लाभके लिए सावधान होना चाहिए। तो दुकानमें, नौकरीमें, व्यापारमें, आफिसमें दुनियाका—संसारका लाभ होता है और सत्संगमें परमार्थका लाभ होता है। और, वह परमार्थका लाभ क्या है? अपने हृदयका निर्माण। तो सत्संग तो इसीके लिए है **मच्चिता:**। अपने हृदयमें बनाओ।

भक्तमालमें एक कथा आयी है कि एक सेठ सोनेका मन्दिर बनवा रहे थे और वहीं पास ही एक पेड़के नीचे एक साधु बैठा था। उसने कहा कि सेठ तो सोनेका मन्दिर बनवा रहा है, चलो हम भी ध्यान करेंगे, ध्यानमें मन्दिर बनायेंगे। जितनी सोनेकी ईंट सेठके मन्दिरमें रखी जायें, उतनी ही वह अपने हृदयमें सोनेकी ईंट रखे और मन्दिर बनावे और उसीका दिनभर ध्यान करे। मन्दिर बना, शिखर बना, दरवाजा बना, सब वह देखता गया और ध्यान करता गया, मन्दिर बन गया। सेठके मूर्ति आगयी तो उसके भी मूर्ति आगयी। वह तो बैठकर देखता था। अब मुहूर्त निकल गया कि प्राण प्रतिष्ठा होगी। अब पंडित आये जब प्राण-प्रतिष्ठा कराने लगे तो वह सब 'कं खं गं' किया उन लोगोंने, बोले कि सेठजी भगवान् तो आते ही नहीं हैं तुम्हारे प्राण प्रतिष्ठा तो होती नहीं। और वह उधर जो साधु बैठा था, उसके भी मूर्ति आगयी और वह भी 'कं खं गं' बोल रहा है और प्राण प्रतिष्ठा हो रही है। सेठजी आये, बोले—क्यों नहीं आये भगवान् ध्यान करके बताओ। तो ध्यान करके पण्डितजीने बताया कि यह जो साधु है तुम्हारे मन्दिरके पास, इसने अपने दिलमें सोनेका मन्दिर बनाया है और मूर्ति मँगाया है और ज़ो मुहूर्त तुम्हारा है प्राण प्रतिष्ठाका, वही उसका भी है। तो भगवान् उसके मन्दिरमें चले गये, तुम्हारे मन्दिरमें आते ही नहीं हैं। सेठजीने कहा—चुप महाराज, आप लोग मन्त्र बोलते रहो उसको यही मालूम पड़े कि सेठजीके प्राण-प्रतिष्ठा हो रही है, हो जाने दो। पहले उसके मन्दिरमें हो जाने दो भगवान्‌की प्राण-प्रतिष्ठा तब अपने करेंगे।

अपने मनमें सोनेका मन्दिर बनाया, अपने मनमें सोनेकी मूर्ति बनायी, अपने मनमें पण्डित आये, अपने मनमें मन्त्र बोले जा रहे हैं और अपने मनमें प्राण प्रतिष्ठा हो रही है, ईश्वरको अपने दिलमें ऐसे बसाया जाता है।

ये लोग कहते हैं कि हम बुद्धिकी दूरबीन लगाकर ईश्वरको देखेंगे। अरे, बुद्धिकी दूरबीन लगाकर देखोगे तो दूरबीनके सामने जो आवेगा, सो दूसरा और जो तुम देखोगे सो दूसरा, असली ईश्वर कहाँ दूरबीनसे दिखेगा? बोले—बुद्धिकी

खुर्दबीन लगाकर देखेंगे, महीन-से-महीन। कि उसमें देखनेवाला नहीं दिखता है। उसमें अन्य दिखता है, संसार दिखता है। जबतक भक्ति भावके संस्कारसे अपने अन्त:करणको संस्कृत नहीं करेंगे, अपने दिलको भगवदाकार नहीं बनावेंगे, तबतक भगवान्‌का दर्शन कहाँ होगा? **मद्गत प्राणा:**—जीना भगवान्‌के लिए और मरना भगवान्‌के लिए। प्राण भगवान्‌में मिला दो। आज ले-ले तो कोई उलाहना नहीं है।

आप एक बार सोचो कि जो सारी दुनियाका मालिक है और तुम्हारा भी मालिक है, वह इसी समय कह दे कि छोड़ो इस दुनियाको, आजाओ हमारे पास। तो क्या तुम बोलोगे कि जरा ठहरो, हम अपनी दुकान संभालकर आवें! यह कहोगे, अभी जरा बच्चेको स्कूलसे आजाने दो! एक बार मिल लें, फिर चलेंगे। कि नहीं, जरा दुकान सँभालके आवें, इन्कमटैक्स आफिसमें जाना है, अभी।

नारायण! ईश्वरसे ऐसे ही बोलोगे! तो मनुष्यको हर क्षण ईश्वरकी आज्ञाकी प्रतीक्षा करनी चाहिए। यह बात हो कि वह कब इशारा करता है—**मद्गत प्राणा:**।

जैसे भोजनके बिना जी नहीं सकते, वैसे ईश्वरके ध्यानके बिना, ईश्वरके भजनके बिना, ईश्वरके स्मरणके बिना जीना न होय!

बोधयन्त: परस्परम्। एक दूसरेको वही बात बताओ। एक दूसरेके दिलमें ईश्वर बैठाओ। चोर मत बैठाओ। यह मत कहो कि यह चोर है। यह मत कहो कि यह बदमाश है। यह मत कहो यह दुश्मन है। सबके दिलमें ईश्वरको बैठाओ कि जिससे उसको सुख मिले, उसके दिलमें शान्ति मिले, उसके दिलमें कड़वाहट क्यों भरते हो? तुम्हारे घरमें कोई अच्छा मेहमान आजाये, तो तुम्हारे घरमें बढ़िया जो चीज होती है वह उसके सामने रखोगे कि जो कड़वी चीज होगी घरमें, वह उसके सामने रखोगे। मीठा शर्बत पिलाओ, जिससे उसके दिलमें आराम मिले, शान्ति मिले, विश्राम मिले। तुम यह दुनियाकी कड़वाहट उसके कानमें, उसके दिलमें क्यों डालते हो? उसके दिलमें मिठास डालो—**बोधयन्त: परस्परम्**'

कथयन्तश्च मां नित्यं—ये जितने आख्यान-व्याख्यान होते हैं उस पर भी लोग बोलते हैं, देखो एक दादी है, वृद्धा सिन्धी माँ है जो आती है कभी-कभी व्याख्यानमें, जब कभी वेदान्तकी बात होती है तो कहती है—'स्वामीजी! तुम तो लेक्चर देते हो कथा कहो तब आवेंगे।' लेक्चर तो ठीक नहीं बोलती, उसके लिए कुछ और शब्द 'लीचर' या 'लैचर' बोलती है।

कथा कहनेका मतलब क्या होता है? कथा माने भगवान्‌की चर्चा। उसका

भाव देखो। अब वर्णन करने लग गये एक चमार था और उसके घर इतनी सूअरें थीं। तो यह सुनकर आपके मनमें चमाराकार वृत्ति और शूकराकार वृत्ति बनी। तो यह 'लीचर' लेकर आप क्या करेंगे। यह तो कीचड़ है। बोले—जब ऐसा वर्णन किया जमुनाजी बह रही हैं, श्रीगिरिराज हैं, वृन्दावन है, गौएँ चर रही हैं, और श्रीकृष्ण भगवान् पीताम्बरधारी, मुरली मनोहर, श्याम सुन्दर बुला रहे हैं। मन्द मन्द मुस्कुराते हुए ठुमुक-ठुमुक जा रहे हैं। हृदयमें ईश्वर आया, एक सौन्दर्यकी वृत्ति हो गयी। सुन्दर वृत्तिमें जो सौन्दर्य है, सौरभ्य है, सौरस्य है, सौकुमार्य है, सौष्वर्य है वह ईश्वर है। वेदमें वर्णन आया है—

स सर्वरसः सर्वगन्धः सर्वकामः।

सारा रस, सारा गन्ध ईश्वरमें भरपूर है। अपनी दृष्टि व्यक्तिपर न जाय, ईश्वर पर जाय तो कथा होवे। यही कथा करो यह अकार है, उकार है, मकार है, अर्धमात्रा है। यह विश्व है, तैजस है, प्राज्ञ है, तुरीय है। जाग्रदवस्था छोड़ो, स्वप्नावस्था छोड़ो, तुरीयावस्था छोड़ो, सुषुप्ति-अवस्था छोड़ो, जो साक्षी मात्र अवस्था है, द्रष्टा है, वह ब्रह्म है। अन्नमय कोशको हटाओ, प्राणमय कोशको हटाओ, मनोमय कोशको हटाओ, विज्ञानमय कोशको हटाओ, आनन्दमय कोशको हटाओ, जो साक्षी है सो तो ब्रह्म ही है। देश, काल, वस्तुसे अपरिच्छिन्न, सजातीय-विजातीय-स्वगत-भेद-शून्य सर्वाधिष्ठान, स्वयंप्रकाश, सर्वावभासक आत्मचैतन्यका नाम ब्रह्म है।

देखो न, संसारका अपवाद करना और परमात्माका हृदयमें स्थापित होना—**कथयन्तश्च**—यह भगवान्‌की कथा है।

सन्त उसको कहते है जो मनुष्यकी मनोवृत्तिको परमात्मामें ले जाय। स्वयं सत्‌से एक होकर बैठा है और दूसरोंको भी सत्‌से एक कर रहा है। और, जो वृत्तिको असत् कर दे और असत्‌में ले जाय वह सन्त कैसा?

तुष्यन्ति च रमन्ति च। तो देखो दो चीज है। एक हम खेलते हैं और एक तुष्ट होते हैं। खेलें किससे? कि अपने आपसे, ईश्वरसे खेलें। उससे हाथापाई करनेमें कोई हर्ज नहीं है। उससे दो-दो बात कर लो, लड़ लो, रूठ लो, मना लो, लेकिन दूसरेके साथ नहीं, उसीके साथ क्रीड़ा करो और तोष मनमें होवे। देखो तोष कैसे आता है? चलो भाई हमारे पास इतना धन है, जिन्दगी तो कट ही जायेगी, फिक्र करनेकी क्या जरूरत है? तो किससे सन्तोष आया यह? पैसेसे। महाराज, रोटीकी कमी तो कभी होनेवाली नहीं है। तो सन्तोष कैसे हुआ? कि पैसेसे।

बोले—हमारे एक दर्जन बेटे हैं, दो दर्जन बेटे हैं। इसका भी अभिमान होता है। कोई-न-कोई तो ऐसा निकलेगा, तो जिन्दगी भर निभा देगा, फिक्र करनेकी क्या जरूरत है ? यह देखो यह बेटेका सन्तोष है, पर किससे है ? धनसे है, बेटेसे है। कि हमारे इतने मकान हैं, किराया आता है।

नारायण, ये सारी चीजें जो हैं झूठी हैं और टिकाऊ नहीं हैं। हमने तीस वर्षके भीतर करोड़पतिको भीख माँगते देखा है और भिखारीको करोड़पति होते देखा है। और, जिनके घरमें दस जन थे, उनके घरमें कोई पानी-देवा नहीं है। ऐसा भी देखा है। यह संसारका भरोसा झूठा है। आत्मतुष्टि जो अपने मनमें होवे वह इस तरहसे होवे कि ईश्वर मेरा है, मैं ईश्वरका हूँ। इस प्रकारका सन्तोष मनमें होवे।

तुम किसका भरोसा रखते हो ? किसके बलपर तुम्हारे मनमें सन्तोष है ? अच्छा रातको सोते हो, तो यह सोच सकते हो कि हम बन्द मकानमें सो रहे हैं, तो कोई बाहरका नहीं आवेगा और बहुत स्वच्छ मकान है तो इसमें साँप-बिच्छूका कोई काम नहीं है ? नौकर-चाकर पहरा देनेवाले हैं, बड़े आनन्दसे निश्चिन्त होकर सोये। किसके भरोसेपर सोये ? कि नौकर-चाकरके भरोसेपर, लेकिन आप एक बात पर ध्यान दो कि जब एक बार जब सुषुप्तिमें मन डूब जाता है, लय हो जाता है, हम बेहोश हो जाते हैं, उसके बाद हमारा मन जगे कि नहीं जगे ! कि यह मकान जगावेगा ? नौकर जगायेंगे ? ये परिवारवाले जगायेंगे ? ये रुपयेवाले जगायेंगे ? किसपर भरोसा करके तुम सोते हो ? किसपर तुम्हें भरोसा है कि जैसे हम कल सोकर उठ गये थे, वैसे आज सोवेंगे तो उठ जायेंगे, इसके बारेमें किसपर तुम्हारा भरोसा है ? जो दिलमें बैठा है वही सिर कुरेद कर जगाये तो जगावे और न जगावे तो न जगावे। है कुछ भरोसा ? तो अगर ईश्वरके बारेमें सोचकर तुमको सन्तोष है—तो हम उससे लगे हैं।

'मच्चित्ता'से प्रज्ञा, बुद्धि ईश्वरमें और 'मद्‌गतप्राणाः'से प्राण और इन्द्रियाँ ईश्वरमें और 'बोधयन्तः'से वाणी ईश्वरमें और 'कथयन्तः' जिनसे बोलते हैं वे लोग भी ईश्वरमें लगे हुए, साथी भी ईश्वर-परायण। क्योंकि जैसे लोगोंके बीचमें आदमी बैठता है, वैसा बनता है।

हमने देखा है एक दिन कुसंगमें चले जाओ, अरे महाराज वह कई दिनके सत्संगमें पानी फेर देता है, क्योंकि भीतर तो कुसंगके संस्कार भरे हुए हैं, उमड़ जाते हैं। तो—

तुष्यन्ति च रमन्ति च। अपने ईश्वरके साथ खेलो और ईश्वरमें सन्तुष्ट मानो

और **चरमन्ति च,** माने चरम अवस्थाको प्राप्त होते हैं। इससे ऊँची कोई अवस्था नहीं है, इसमें स्थित हो जाओ। अब इस तरहसे रहो सतत युक्त और प्रेम पूर्वक भजन करो।

संस्कृत भाषामें यह भजन शब्द बड़ा मजेदार है। जब बेटा अपने माँ-बापकी सेवा करता है, तो उसको भी बोलते हैं भजन! उसके लिए भी भजन शब्दका प्रयोग होता है। बेटा माँ-बापका भजन करता है। और पति पत्नी जब आपसमें प्रेम करते हैं, तो उसके लिए भी भजन शब्दका प्रयोग हो जाता है। पति-पत्नी आपसमें एक दूसरेका भजन करते हैं, सेवन करते हैं। जैसे कोई कहता है—हम आजकल 'मकरध्वज'का सेवन करते हैं, आजकल 'चन्द्रोदय'का सेवन करते हैं। कोई औषधि लेते हैं बोले आजकल हम उसका सेवन कर रहे हैं। संस्कृतमें सेवन शब्द बहुत मजेदार है, वह खानेके लिए काम भी आवे, पीनेके काम भी आवे। आजकल खाट ही का सेवन करते हैं। बीमार पड़ जाते हैं न! तो कहते हैं वे आजकल खाटका सेवन कर रहे हैं। तो यह जो भजन शब्द है यह संस्कृत भाषामें बहुत ही मजेदार है। पीनेके लिए भजन, खानेके लिए भजन, सोनेके लिए भजन, किसीकी सेवा करें तो भजन। तो अब ईश्वरकी ओर देखो **भजतां प्रीतिपूर्वकं**। उसीको सूँघो, ईश्वरको सूँघो। महाराज ईश्वर कहाँ मिले सूँघनेको! बोले—तुलसी शालग्राम पर चढ़ा लो, थोड़ी-सी गन्ध आजायेगी शालग्रामकी तुलसीमें, फिर देखो!

ईश्वरको चखो। चखें कैसे? कि ईश्वरको भोग लगाओ, उसका स्वाद आजायेगा भोगमें, बड़ी पवित्रता आती है। जो नेगचारके लिए भोग लगाते हैं उनकी बात दूसरी है। दिखावेके लिए जो लगाते हैं, उनकी बात दूसरी है। दिलसे जो भोग लगाते हैं, उसमें स्वाद आजाता है। दर्शनका सेवन करो। रूपका सेवन करो—रूप-माधुरी। यह भगवान्के भजनमें रस-माधुरी, शब्द-माधुरी, ध्यान-माधुरी जुदा होती है, लीला-माधुरी जुदा होती है—**प्रीतिपूर्वकं भजतां**—भगवान्का भजन करो सेवन करो रस लो, स्वाद लो।

एक आदमी बहुत भजन करते थे, खूब माला फेरते थे। उनको तो जब हँसी आवे तब हँसी ही आवे। जब रोने लगें तब रोने ही लगें, झर-झर आँखसे आँसू गिरें, शरीरमें रोमांच होवे। मैंने उनसे पूछा तुम्हें भजनके समय मजा आता है? बोले—आता है। तो मैंने उनसे पूछा—अच्छा गुड़ खाते समय जीभको जितना स्वाद आता है, भजन करते समय उतना आता है कि नहीं आता? तो बोले कि

अच्छा मैं सोचके बताऊँगा। फिर गुड़ खाया। बोले कि गुड़ खाते समय मजा तो ज्यादा आता है, भजनसे ज्यादा मजा गुड़ खाते समय आता है, लेकिन उसमें कुछ मलिनता मालूम पड़ती है और भजन करते समय जो मजा आता है, उसमें निर्मलता, स्वच्छता मालूम पड़ती है।

भजन करते समय विषय और इन्द्रियोंका संयोग नहीं है, इसलिए गन्दगी नहीं है। भजन करते समय आनन्द तो ऐसा आता है जैसे कोई ग्लेशियर हो दिलमें, जैसे हिमानी गंगाजी निकलती हैं, गीला-गीला जो बर्फ होता है, उसमें-से टप्-टप् पानी निकला इधरसे उधरसे, नालीकी तरह बहने लगा, ऐसे यह दिल है, यह सात्त्विक जो हृदय है वह सफेद बर्फकी तरह हिमानी है, ग्लेशियर है, और उसमें-से अमृतकी धारा निकलती है, अमृतकी गंगा बहती है। ऐसा शीतल है और ऐसा स्वादु है। सन्त लोग पहले पीते थे इसको।

रस गगन गुफा में अजिर झरे।

कबीरदास कहते कि आकाशकी गुफामें निरन्तर रस-प्रस्रवण होता रहता है, एक झरना बहता है हृदयमें, अमृतकी गंगा बहती है और वह ज्योतिर्मय शिवपर आकर गिरती है। देखो, क्या आनन्द आता है! उसमें निर्मल आनन्द होगा, उसकी गन्ध, उसका रस, उसका रूप, उसका स्पर्श, उसकी ध्वनि निर्मल होगी। और, यह संसारमें जो मजा आता है खाकर मुँह धोना पड़ता है। अब आजकल तो बाबू लोग धोते नहीं हैं। यह मैंने देखा है। कई लोगोंके घरमें देखा। काँटे छुरी चम्मचसे तो खाया, हाथमें तो उनके कुछ लगा ही नहीं था, रही बात मुँहकी, तो रुमालसे पोंछ लिया। जो लोग आपदस्तमें ही पानीका प्रयोग नहीं करते, वे खानेके बाद न करें तो उनका तो दोनों बराबर है। बिल्कुल गन्दा! संसारमें भोजन-पान करनेके बाद मुँह धोना पड़ता है। अगर गन्दगी न पैदा होती तो कैसा होता, भला! क्यों धोना पड़ता, क्यों पोंछना पड़ता। संसारमें विषय-भोगके अनन्तर स्वच्छता चाहिए। कोई भी विषय-भोग करें, उसमें गन्दगी आती है। सभी विषयोंके भोगमें।

एक बार इत्र लगा लेते हैं शरीरमें, लेकिन दूसरे दिन साबुन न लगावें, तो थोड़े दिनोंके बाद मैला हो जायेगा शरीर। लगाते जाओ इत्र, पर मलिनता है न! संसारके भोगोंमें मलिनता है। और ईश्वरका जो आनन्द है उसमें निर्मलता है। तो अपनी प्रीतिको ईश्वरमें जोड़ो—**भजतां प्रीतिपूर्वकम्** प्रेमसे हृदयमें ईश्वरका सेवन करो।

कहते हैं इसके बाद भगवान् देते हैं क्या? **ददामि बुद्धियोगं तं भजतां प्रीतिपूर्वकम्।** प्रीतिकी रीति विलक्षण होती है। यह पवित्रताकी जो रीति है उसीको प्रीति बोलते हैं। यह प्रीतिमें जो 'प' है ना, वह पवित्रताका समझो और 'रीति' तो ज्यों-की-त्यों है प्रीति माने पवित्र होनेकी रीति—प्रीतिपूर्वकम्। पहले हृदयमें प्रेम, फिर भजन और फिर जुड़ जाना।

आपको एक बात शंकराचार्यकी सुनावेंगे। इस प्रसंगमें ऐसी अद्भुत बात शंकराचार्य भगवान्ने कही है जो ज्ञानदीप देते हैं, उसका पूरा रूपक बाँधकर बताया है।

ज्ञानदीपेन विवेक प्रत्ययरूपेण—विवेकका जो प्रत्यय है वही दीपक है, भक्तिप्रसादका उसमें तेल है—

भक्तिप्रसाद स्नेहादिसिक्तेन, यह शंकराचार्यका वचन है। और **मद्भावनादि निवेश वातरीतेन** भगवद्भावनाका जो अभिनिवेश है वही दीपकके लिए वायु है जो उसको जलनेके लिए चाहिए। बिल्कुल वायु न रहे, तो दीपक नहीं जलेगा, बुझ जायेगा। तो भावनाका जो अभिनिवेश है वह उसके भोजनके लिए वायु है और ब्रह्मचर्यादि साधनके संस्कारसे युक्त जो प्रज्ञा है वह बत्ती है। और विरक्त अन्तःकरण आधार है—पात्र है। और विषयसे रहित जो चित्त है और उसमें राग-द्वेषादिका बिल्कुल न होना है, यह आँधी स्थानका न होना है। शान्त है चित्त। और ध्यानजन्य जो सम्यक् दर्शन है यह उसका प्रकाश है।

आप जरा देखो ज्ञान दीपकके रूपक पर; भगवान् ज्ञान दीपक दे देते हैं। ज्ञान दीपकमें लौ किस चीजकी है? तेल किसका है? और वहाँ उसको जलनेके लिए हवा कहाँसे मिलती है? और बत्ती काहेकी है? और आधार पात्र काहेका है? और वहाँ जो आँधी-तूफानका असर नहीं पड़ता है, उसका क्या कारण है? और उसमें रोशनी किस चीजकी है?

ऐसा ज्ञान दीपक स्वयं भगवान् देते हैं जिसमें भगवान् दिखायी पड़ें। बोले—तुम्हारे पास जो रोशनी है उसमें तो मैं नहीं दिखूँगा, क्योंकि वह तो अपनेसे मोटी चीजको देखती है, अपनेसे महीन चीजको नहीं देखती। जिससे तुम महीन चीजको देख सको, मुझको देख सको, ऐसा एक दीपक मैं तुमको दूँगा। और वह और भगवान् देते हैं।

तो उसका प्रसंग अब आपको कल सुनावेंगे।

☆

तेषां सततयुक्तानां भजतां प्रीतिपूर्वकम्।

तेषां—उनके लिए मैं बुद्धियोग देता हूँ। तो भगवान् बुद्धि देते हैं कि बुद्धियोग देते हैं? देखो, दोनोंमें फर्क है। बुद्धि तो भगवान् सबको ही देते हैं, कीट-पतंगसे लेकर ब्रह्मा तक जिसको जैसी जो कुछ बुद्धि मिली है, वह सब भगवान्‌रूप उपादानमें और भगवान्‌रूप निमित्तसे है। निमित्त कारण भी भगवान् और उपादान कारण भी भगवान् और जीवका जैसा संस्कार, जैसा विकार जैसा आकार, उसके अनुसार उसको बुद्धि दे दी। पर बुद्धिको बुद्धियोग नहीं बोलते हैं। जो बुद्धि भगवान्‌से जुड़नेवाली बुद्धि है, उसको बुद्धियोग बोलते हैं। वह बुद्धि जो भगवान्‌से जुड़े। नास्तिकके पास जो बुद्धि है वह बुद्धि भी भगवान्‌की दी हुई है। कीड़ेको पतिंगेको विपरीत करनेवाली बुद्धि भी भगवान् देते हैं। भक्तोंको बड़ा मजा आता है, देखो श्रीमद्भागवतमें एक जगह आया है—

यच्छक्तयो वदतां वादिनां वै विवादसंवादभुवो भवन्ति। 6.4.31

दो आदमी आपसमें शास्त्रार्थ करने बैठे। दोनोंमें बहस-मुबाहिसा चल गया। तो एकके बुद्धि फुरती है कि ईश्वर नहीं है और एकके बुद्धि फुरती है कि ईश्वर है। तो दोनोंके दिलमें बैठा हुआ ईश्वर ही दोनोंको बुद्धि दे रहा है। तो जब भक्त यह देखता है कि नास्तिकको नास्तिकताकी बात बैठकरके वही सिखा रहा है और आस्तिकको आस्तिकताकी बात बैठकर वही सिखा रहा है, तो भक्तको दोनोंकी बात सुननेमें मजा आता है; क्योंकि यह दोनोंकी बात उनकी नहीं है, यह तो बतानेवालेकी है।

काशीमें देखता था पहले शास्त्रार्थ होता था पंडितोंका, व्याकरणका, न्यायका, वेदान्तका, मीमांसाका, सांगवेद विद्यालयमें, जितने दिन शास्त्रार्थ होता था, मैं रोज जाकर बैठता था। भाद्र शुक्ल चतुर्थीके गणेशोत्सवके उपलक्ष्यमें वहाँ सात-आठ दिनों तक सब विषयों पर शास्त्रार्थ होता था। लक्ष्मण शास्त्री द्राविड़ तो चुपचाप बैठते थे, वही उस विद्यालयके कर्ता-धर्ता थे। और, राजेश्वर शास्त्री द्राविड़ जो उनके पुत्र हैं, वे बीचमें बैठते थे—मध्यस्थ। पूर्वपक्षी यदि अपना पक्ष

करनेमें चूक करता, तो उसको राजेश्वर शास्त्री सुझते थे कि तुमको अपनी बात ऐसे कहनी चाहिए और जब उत्तर देनेवाला उत्तर देनेमें चूकता तो उसको सुझाते थे कि तुमको ऐसे उत्तर देना चाहिए, तुम भूल कर रहे हो।

तो लक्ष्मणशास्त्री द्राविड़ तो ब्रह्मकी तरह बैठते थे और राजेश्वर शास्त्रीजी ईश्वरकी तरह बैठते थे।

तो दोनोंको बुद्धि देना, लेकिन दोनोंमें एक ऐसा हो गया कि वह **मच्चित्ता मद्गतप्राणा बोधयन्तः परस्परम्** बिल्कुल अपना हो गया, तो कभी-कभी पक्षपात भी कर लिया। उसको फुर ही नहीं रहा है कि इसका क्या उत्तर देना चाहिए। उत्तर देनेमें चूक हो रही हो और बता देना, यह दूसरी बात है। और बिल्कुल उत्तर सूझ न रहा हो, तब तो वह पराजित हो गया, हार गया न! तो ऐसा इशारा कर देते उसको कि तुम यह कहना चाहते हो? यों बोल देते कि अच्छा तुम यों कहना चाहते हो! क्यों? क्योंकि अपने विद्यालयका अपना पढ़ाया हुआ विद्यार्थी होता तो ऐसा इशारा करते कि मजा आजाता। अब देखो यह क्या हुआ? कि **मच्चित्ता मद्गतप्राणाः** हुआ। उसको तो उनके सिवाय दूसरा कोई सहारा ही नहीं।

तो ब्रह्म किसीका पक्षपात नहीं करता है और ईश्वर भक्तका पक्षपात करता है। बुद्धि दोनोंको देता है, शत्रुको भी बुद्धि देता है, मित्रको भी बुद्धि देता है। लेकिन जब मित्र गिरने लगता है तब उठा लेता है। शत्रु गिरता है तो नहीं उठाता और मित्र गिरता है तो उसको उठा लेता है। बोले—भाई तब तो ईश्वरमें भी पक्षपात आगया। बोले—यह पक्षपात ईश्वरका नहीं है यह भजनका पक्षपात है। यह भजनकी महिमा है।

मच्चित्ता मद्गतप्राणाः बोधयन्तः परस्परम्।

तो मन लगाओ परमेश्वरमें। उसीके बारेमें उधेड़बुन करो। जैसे तुम्हारा कोई प्रिय व्यक्ति परदेश चला जाता है तो उसके बारेमें तुम्हारा मन कितना सोचता है, ऐसे ईश्वरके बारेमें सोचो। जैसे बुद्धि उससे मिलनेकी युक्ति सोचती है, वैसे उससे मिलनेकी युक्ति सोचो और अपनी जीवनचर्याको, अपनी इन्द्रियोंको उसके लिए लगाओ; उसके लिए व्रत करो। विष्णुप्रियाजोका वर्णन आता है कि जब चैतन्य महाप्रभु संन्यासी हो गये तब वे क्या करतीं! कैसे दर्शन होवे! तो एक व्रत लिया उन्होंने, एक बार बोलतीं—

हरे राम हरे राम राम राम हरे हरे।
हरे कृष्ण हरे कृष्ण कृष्ण कृष्ण हरे हरे॥

और एक चावल निकालतीं। इसी तरह इस मन्त्र से जितने चावल रोज उठा सकतीं, उतने चावलका भात बनाकर खातीं। यह एक व्रत हो गया मद्गत प्राणासे चैतन्य महाप्रभुकी प्राप्तिके लिए जीना भी जरूरी है और यदि भोगविलासमें लग जायँ तो उनके लिए जीना कहाँ रहा? तो क्या नियन्त्रण सोचा। ईश्वरकी प्राप्तिके लिए अपनी इन्द्रियोंको भी, अपने कर्मको भी काबूमें लेना—मद्गतप्राणाः।

और, परस्पर मिल जायँ तो आपसमें बातचीत करना। उन्होंने पूछा तुमने बताया, तुमने पूछा उन्होंने बताया, बराबरीके लोग। और यदि कोई ऐसा मिल जाय जिसको इस विषयका ज्ञान नहीं है तो **कथयन्तश्च** उसको उपदेश भी किया। तो कथयन्तश्चके अर्थमें दो मत हैं। एक तो यह है कि भगवान्‌का गुणानुवाद कहे। और दूसरा यह कि जब कोई न होवे तो 'हरे कृष्ण गोविन्द माधव'—मन-ही-मन गुनगुनाता रहे। और इतनेमें ही सन्तोष माने कि आज हमारे मुँहसे भगवान्‌का नाम निकल रहा है। आज देखो हम लोगोंने भगवान्‌की चर्चा की। आज हमने भगवान्‌के लिए यह व्रत किया। आज हमारा मन, हमारी बुद्धि भगवान्‌में लगे। तो इसमें सन्तोष मानें और **रमन्ति च** इसीमें लगे रहें।

उन्हींको यहाँ बताया तेषां यह 'तेषां' पदका अर्थ हुआ। ऐसे जो लोग हैं—कैसे? कि **सततयुक्तानां सततं युक्तानाम्**। यह छिपानेकी बात नहीं है, नगाड़ा बजाकर अपने प्रियतमका नाम लेते हैं। वीणा बजती है और—'राम राम राम राम राम राम राम'। यह नहीं कि गुप्त-गुप्त। गुप्त-गुप्तमें विघ्न ज्यादा आते हैं। जब आदमी जान जाते हैं कि यह आदमी निन्दा भी सुन सकता है, तो निन्दा करनेवाले इकट्ठे हो जाते हैं। अगर लोगोंको मालूम हो जाय कि यह आदमी ईश्वरका विरोध सुन सकता है, इसको भोगकी महिमा सुनावें, इसको कर्मकी महिमा सुनावें, इसको धनकी महिमा सुनावें और यह खूब प्रेमसे सुन लेगा। और, इसको कहें क्या रखा है ईश्वरके भजनमें? अगर लोगोंको मालूम हो जाय कि यह सुन लेगा, तो तुम्हारे चारों ओर इकट्ठे हो जायेंगे और भोगका सुख बतावेंगे और ईश्वर-भजनकी निन्दा करेंगे और तुमको विमुख करनेकी कोशिश करेंगे। इसलिए अपनेको ऐसा बना लो कि ईश्वरके खिलाफ अगर हमारे सामने कोई कुछ कहेगा तो हम सुनेंगे ही नहीं। यह निष्ठाका अभिप्राय है।

अच्छा कहो कि वाद-विवाद करके सामनेवालोंको हरा दें, तो अनादिकालसे तो चार्वाक्‌मत है और अनादि कालसे शून्य मत है और अनादि

कालसे पुद्गल-मत है। ये अनादिकालसे अब तक हारे नहीं, हरानेवाले इनको रोक नहीं सके, तो अब तुम क्या हरा दोगे! तो आपसमें वाद-विवादका जो शौक है, वह तो जो आचार्य लोग हैं उनके जिम्मे कर देना चाहिए कि बाबा शास्त्रार्थ करना हो तो हमारे गुरुजीके पास जाओ। सबको अखाड़ेमें नहीं उतरना चाहिए। यह अखाड़ेमें उतरना बड़ा खतरनाक काम है। क्योंकि अगर जीत जायँ तो अभिमान हो जाय कि हम जीत गये और हार जायँ तो यह हो कि हमारे गुरुजीने हमारी रक्षा नहीं की, हमारे ईश्वरने हमारी रक्षा नहीं की! कैसा है जो हमको हार जाने दिया! तो सबको अखाड़ेमें नहीं उतरना चाहिए, सबको वाद-विवाद नहीं करना चाहिए—**वादो नावलम्ब्यः बाहुल्यावकाशात्**। वाद-विवाद नहीं करना चाहिए, क्योंकि उसका अन्त नहीं है। वह बढ़ता जाता है और उससे भजन छूट जाता है।

तो बोले—बाबा, वाद-विवाद करना हो तो हम काशीके किसी पंडितके पास भेज देते हैं। शास्त्रार्थ करनेवाला कोई हो तो हम उसको ऐसे पंडितका पता बतावेंगे कि जानेपर उसको बिलकुल पटापट जवाब मिले। और पण्डितजी ऐसे जवाब देनेको तैयार नहीं होंगे तो पाँच दस रुपया हम पण्डितजीको दे देंगे कि इनको जवाब दे देना भला! ऐसा है। तब तो वे अपना समय निकालेंगे न!

साधुको अखाड़ेमें नहीं उतरना चाहिए।

रज्जब रोष न कीजिये कोई कहे क्यों ही।
हँस के उत्तर दीजिये हाँ बाबा यों ही॥

आपको मालूम होगा, तुलसीदासजीसे किसीने कहा कि कृष्णमें सोलह कलाएँ हैं और राममें बारह ही कलाएँ हैं। तो तुम रामको छोड़कर कृष्णको क्यों नहीं भजते? कृष्णको छोड़कर रामका भजन क्यों करते हो? तुलसीदासजी बोले कि भाई तुम्हारे मुँहमें घी-शक्कर। हम तो रामचन्द्रका भजन करते थे, उनको राजा दशरथका बेटा समझकर, राजकुमार समझकर हम तो उनसे प्रेम करते थे, उनके ऊपर लुभा गये थे। अब तुमने तो आज बता दिया कि उनमें बारह कलाएँ ईश्वरकी भी हैं, तो हमारी तो श्रद्धा और बढ़ गयी। उनके अन्दर एक कला भी न होती तब भी हम उन्हींका भजन करते, अब यह तो बारह कलाएँ और हो गयीं, तब हम उनको कैसे छोड़नेवाले हैं!

जो चीज तुम पाना चाहते हो, सीखना चाहते हो, वह तुमको मिलती है कि नहीं, देखो! तुम परब्रह्म परमात्माका स्वरूप जानना चाहते हो कि नहीं? तुम

ईश्वरकी भक्ति करना चाहते हो कि नहीं? तुम अपने दिलको स्वच्छ निर्मल बनाना चाहते हो कि नहीं? तो अपने लक्ष्यपर विचार करके, जो तुम्हारे लक्ष्यके अनुरूप होवे, उसको ग्रहण करना और जो तुम्हारे लक्ष्यके अनुरूप न हो उसको छोड़ देना। यह उपनिषद्का वचन स्वर्णाक्षरमें लिखने योग्य है—

यान्यस्माकं सुचरितानि तानि तपोपास्यानि। नो इतराणि।

हमारा ज्ञान तुमको पसन्द है तो लो, हमारी भक्ति तुमको पसन्द है लो, हमारी आँख जरा मुचमुची देखती है, यह तुमको नापसन्द है! तो हमारी आँखकी नकल मत करो, हमारे सरीखे मत देखो। भाई हमारे बाल बढ़े रहते हैं, यह तुमको पसन्द नहीं है! तो तुम अपने बाल मत बढ़ाओ। जो बात हमारी अच्छी है उसको तुम लो! अपना हृदय निर्मल करो, स्वच्छ करो, शुद्ध करो और जो तुमको पसन्द नहीं है वह मत लो, तुम्हारे अन्दर कौन ठूँसता है?

हमेशा अपने लक्ष्यके साथ जुड़ो, अगर अपना हृदय शुद्ध रखना है। सबसे बड़ी चीज आध्यात्मिकके मार्गमें यही है कि हमारा दिल निर्मल रहे। स्वच्छ रहे। प्रेमसे भरपूर रहे। अपने दिलको ठीक रास्तेपर ले चलना है। तो **सततयुक्तानां।**

अब 'सततयुक्तानां' माने हम तो बाबा नगाड़ा बजाकर, सिंहा बजाकर, धौंसा बजाकर इस रास्तेपर चलनेवाले हैं। लगे रहो हमेशा। तो कीर्तन करके लगे रहो, समझा-बुझाकर लगे रहो, इन्द्रियोंसे व्रत लेकर लगे रहो, मनसे संकल्प करके लगे रहो, बुद्धिसे विचार करके लगे रहो और उसीमें रमो और उसीमें आनन्द मानो। ऐसे लगे रहो। सतत। इस तरहसे हो गया चौबीस घण्टे भगवान्में लगे रहना। **सततयुक्तानां।**

भक्तिके मार्गमें ऐसा आता है कि यदि किसीको स्नान करना हो, दातुन करनी हो, लघुशंका करनी हो, शौच जाना हो, बोले—इसमें भी क्या लक्ष्य रखना चाहिए? कि यह लक्ष्य रखना चाहिए कि हम लघुशंका करके भजन करनेके लिए बैठेंगे, तो मन एकाग्र होगा, नहीं तो विक्षिप्त होगा। तो पहले लघुशंका कर लो! शौच हो लो, दातुन कर लो, स्नान कर लो, बिल्कुल निस्संकल्प होकर बैठो।

एक जगहकी बात सुनावें। एक सत्संगी हैं उनके साथ आठ हजार सत्संगी हैं। वह कहते हैं कि थोड़ा पहले खा लो फिर भजन करो। उनके यहाँ यह नियम है कि सबेरे एक चौथाई कोकी, (मोटी रोटी समझो) पहले खा लो, जरा मुँह तर हो जाय, दिमाग तर हो जाय, तब भजन करनेके लिए बैठो, तो मन ज्यादा लगेगा। उनके यहाँ ऐसा नियम है।

अब ज्यादातर जो धर्मात्मा हैं, सनातन धर्मी हैं, उनके यहाँ यह नियम है कि पहले भजन कर लो, फिर खाओ-पीओ। क्यों? बोले—भाई, पेट खाली रहता है तो विक्षेप कम होता है। तो सतत युक्तानां का अर्थ है हमेशा अपनेको भगवान्से जोड़ करके रखो।

हरि से लगा रहु रे भाई तेरी बनत बनत बनि जाई।

अब यह बात हुई कि समाधान दशामें तो हमेशा रहा नहीं जा सकता। कोई कहे कि हम चौबीसों घण्टे समाधि लगाकर रहेंगे, तो युक्त शब्दका अर्थ तो यह नहीं होता है। यह श्लोकके अर्थपर तो मैं विचार कर रहा हूँ, लेकिन वह बात मैं इतनी मामूली भाषामें बोल रहा हूँ जिससे ठीक-ठीक आप उसे हृदयंगम कर सकें। कोई कहे कि हम निरन्तर तदाकार-वृत्ति करके तद्वृत रहेंगे, भगवान्में स्थित, तो यह अशक्यानुष्ठान है। अशक्यानुष्ठानकी जो विधि होती है वह मान्य नहीं होती, जो काम कोई कर ही न सके। अच्छा, निरन्तर यदि समाधिमें नहीं रह सकते तो क्या करें? बोले—अच्छा, निरन्तर यदि समाधिमें नहीं रह सकते तो क्या करें? बोले—अच्छा, रोज-रोज भगवान्में लगे, दो घण्टे, तीन घण्टे, चार घण्टे युक्त रहे। तो **सतत् युक्तानां**का यह अर्थ भी ठीक नहीं बनता है। बात ही छोटी हो जाती है कि घण्टे-दो-घण्टे भजन करो। वह तो ऐसे ही हुआ जैसे सेठ लोग सौ रुपयेमें एक आना धर्मके लिए निकालते हैं। पहले यह रिवाज थी, अब नहीं है कि किसीके घरमें आमदनी होवे तो रुपयेमें एक पैसा, रुपयेमें दो पैसा, रुपयेमें नहीं बना तो दस रुपयेमें, सौ रुपयेमें एक आना दो आना धर्मके लिए जरूर निकालते थे। तो वे कोई धर्मात्मा नहीं थे, परन्तु अपने धनका एक अंश ईश्वरके लिए लगाते थे। तो यदि चौबीस घण्टेमें-से किसीने एक घण्टा ईश्वरके लिए निकाला, तो अपने जीवनका चौबीसवाँ हिस्सा ईश्वरके लिए निकाला न! तो **सतत युक्तानां** उस आदमीके लिए होवे, जो चौबीस घण्टेमें-से सिर्फ एक घण्टा रोज ईश्वरके लिए निकालता है, तो उसके लिए भी यह शब्द ठीक नहीं बैठता है।

यहाँ तो **सततं युक्तानां** है। तो सारे जीवन लगे रहो ईश्वरमें—यह बात अशक्य है और दिनमें घण्टे-दो-घण्टे लगा दो ईश्वरमें और बाकी संसारके लिए, तो ईश्वरके लिए जब थोड़ा रहेगा तो अपने मनको भी सन्तोष नहीं होगा। संस्कृत भाषामें बड़ी शक्ति होती है, बड़ा सामर्थ्य होता है। आपको वेदान्तकी एक-दो बात दृष्टान्तके रूपमें बताता हूँ—

वृक्ष इव तिष्ठासेत रिवद्धयमानो न क्रुद्धयेत् न कंपेत्।

ज्ञान हो जानेके बाद जीवन्मुक्त पुरुष वृक्षकी तरह रहे और काटने पर भी काटे नहीं, काँपे नहीं और क्रोध न करे।

अब यह प्रश्न हुआ, कैसे एक आदमी जिसके शरीरमें साँस चलती है और जिसका मन जागता है और जिसकी बुद्धि काम कर रही है, वह पेड़की तरह और पत्थरकी तरह कैसे रह सकता है? बात नहीं समझमें आती है। तो उस तिष्ठासेत्में जो 'से' है उसपर विचार करना। 'तिष्ठेत्' नहीं है, रहे—ऐसा नहीं है। **तिष्ठासेत्**—रहनेकी आशंसा करे। माने हर परिस्थितिमें उसका निश्चय यही रहे, वह इसी निष्ठामें दृढ़ रहे कि जैसे पेड़ है, वैसे शरीर है, आगे जो भी कष्ट आवेगा, सो सह लेंगे, उसके लिए फिकर करनेकी जरूरत नहीं है। तिष्ठासेत्‌का अर्थ हुआ स्थातुं इच्छेत्—**उपनैव स्थातुं इच्छेत्।**

अब देखो आपको दूसरा शब्द बताते हैं। आपका बहुत परिचित शब्द है—**निदिध्यासन।** तो निदिध्यासन और ध्यानमें क्या फर्क है? ध्यानका अर्थ है तदाकार वृत्ति हो करके रहना और निदिध्यासनका अर्थ है तदाकारवृत्ति करनेकी चेष्टा करना।

ध्यातुमिच्छेत्। नितरां ध्यातुनिच्छेत्। निदिध्यासेत्।

क्या मतलब हुआ कि हर समय हमको ब्रह्म-ही-ब्रह्म दिखायी पड़े, ब्रह्मज्ञान बना रहे।

यह जो संकल्प है मनमें, सो काम करता रहे। हर समय ब्रह्म ही मालूम पड़े, सो नहीं, परन्तु जब कभी ब्रह्मके अतिरिक्त कुछ मालूम पड़ जाय, तो अरे यह तो ब्रह्म ही है, यह नहीं कि ब्रह्मके सिवाय मालूम न पड़े। तो **सतत युक्तानां** का अर्थ है **सततं योगं शंसभानानाम्।** ऐसी लालसा मनमें बनी रहे कि वह समय हमारे जीवनमें कब आवेगा जब हम भगवान्‌के साथ निरन्तर जुड़े रहेंगे!

यह लालसा मनमें होना, यह **सतत युक्त** है। या तो कहो ईश्वरकी प्राप्ति हो गयी है, ईश्वरकी प्राप्ति होनेपर ईश्वर फिर बिछुड़ता नहीं। ईश्वरका साक्षात्कार हो जाय, तो ईश्वर फिर कभी बिछुड़ता नहीं। लेकिन यहाँ तो अभी ईश्वरकी प्राप्ति हुई नहीं है, तब सततयुक्त—हमेशा जुड़े रहो—इसका मतलब क्या है? हमेशा जुड़े रहोका मतलब यह हो कि हम और किसीके साथ न जुड़े, जब जुड़े तब उसीके साथ जुड़ें। अपने मनमें यह लालसा बनी रहे।

देखो अपने मनमें यह रहे कि हम उस गाँवमें पहुँच जायँ और फिर रास्तेमें कहीं पाँव लड़खड़ा जाय, कहीं पाँव फिसल जायँ, कहीं गिर जायँ, कहीं सिपाही

रोक ले कि आगे मत जाओ तब भी मनमें लालसा यही रहे कि जहाँ हम उठेंगे, जहाँ चलेंगे, जहाँ सिपाही रास्ता छोड़ेगा हम वहीं पहुँचेंगे। कोई प्रतिबन्ध आगया, कोई रुकावट आगयी, तब भी वहीं पहुँचनेकी लालसा बनी हुई है कि हमें पहुँचना तो वहीं है।

एक सज्जन रामेश्वरजीकी यात्रा कर रहे थे, जब रामनाद गाँव पहुँच गये, तो तूफान आगया, पुल टूट गया और वह धनुष कोटिवाली गाड़ी उलट गयी और बड़ा हल्ला हुआ कि वह तो रास्ता ही बन्द हो गया, रामेश्वरजी डूब गये। तो वे वहाँसे हट गये, बोले—भाई ऐसे अफवाह पर हम विश्वास नहीं करते। एक दो-दिन यहाँ रहेंगे, देखेंगे कि क्या होता है। फिर मालूम हुआ कि नहीं रामेश्वरजीका कोई नुकसान नहीं हुआ, वह तो बिल्कुल ठीक हैं। बोले कि आखिर रास्ता खुलेगा, मदद करनेवाले जायेंगे, सहायता करनेवाले जायेंगे, यह मशीनसे चलनेवाली बोट जायेगी कि नहीं, जहाज जायेगा कि नहीं जायेगा, तो हम तो बाबा इतनी दूरसे आये हैं रामेश्वरका दर्शन करनेके लिए, अब बिना दर्शन किये नहीं लौटेंगे। पाँच-दिन, सात-दिन वहाँ ठहर गये, और बोट पर चढ़कर गये, रामेश्वरजीका दर्शन किया, पूजा की और फिर लौटे।

हिम्मत न हारिये, बिसारिये न हरि नाम।

हिम्मत मत हारिये, कोई विघ्न आजाय, कोई प्रतिबन्ध आजाय, तब भी संकल्प यही रखिये कि हमारा लक्ष्य संसार नहीं है, कभी भोग जीवनमें आगया और घण्टे भरके लिए भोगमें फँस गये, कोई कर्म आगया, चार दिन उसमें लग गये, कोई सम्बन्धी आगये उनकी वजहसे एक दिन माला नहीं फ़ेर सके, कोई हर्ज नहीं, लेकिन आगे बढ़ते चलो, आगे बढ़ते चलो—**सतत युक्तानां**।

श्रीरामानुजाचार्यजी महाराजने सततयुक्तानांका अर्थ **सततं योगं आसंशमानानां**—ऐसा अर्थ किया है। अब देखो—**भजतां प्रीतिपूर्वकं ददामि बुद्धियोगं तं**। बात यह है भाई, जिनको ईश्वरसे मिलनेकी कोई लालसा ही नहीं है, उनके लिए तो यह सब व्यर्थ है। उनके लिए तो लालसा सुनते-सुनते लालसा उत्पन्न हो जाय, यही उसकी सफलता है। लेकिन जिसके चित्तमें ईश्वर-प्राप्तिकी लालसा जग गयी, बड़े भारी पुण्यसे, ईश्वरकी कृपासे, गुरुकी कृपासे, जन्म-जन्मके पुण्यसे, उस अनदेखे अनमिले साजनकी प्राप्तिके लिए मनमें लालसा होती है। नहीं तो लोग संसारके भोगमें ही फँस जाते हैं।

मैं बौरी ढूँढन चली रही किनारे बैठ।

देखो, तुम्हारे दिलमें कभी हूल उठती है कि नहीं? दिलमें कभी टीस उठती है कि नहीं? इतने युग बीत गये, इतने जन्म बीत गये, यह उम्र—*उमरिया गँवा दई रे प्रभु नहीं चीन्हा।* सारी उम्र बिता दी और प्रभुको नहीं पहचाना। तुम हीरा पहचानते हो, ठीक है, तुम मोती पहचानते हो, तुम सोना पहचानते हो, तुम कपड़ेकी गाँठ पहचानते हो, तुम दोस्त-दुश्मन पहचानते हो, तुम बड़े बुद्धिमान हो, हम तुम्हारी बुद्धिकी दाद देते हैं, लेकिन दोस्त-दुश्मन—दोनोंमें रहनेवाला जो ईश्वर है, उसको तुम नहीं पहचानते हो। वह पहचाननेकी चीज है और उसकी पहचान कैसे होती है—

भजतां प्रीतिपूर्वकं ददामि बुद्धियोगं तं।

अब देखो यह **प्रीतिपूर्वकम्** का मजा देखो। इसको *देहरी दीपक न्याय* बोलते हैं। यह क्या होता है कि जैसे दीया जलाकर दरवाजेकी देहली पर रख दें, तो—

तुलसी भीतर बाहरहि जौं चाहसि उजियार

घरमें भी उसकी रोशनी जायेगी और बाहर भी जायेगी, दीया एक और रोशनी दोनों ओर। तो यह भगवान्‌ने यहाँ 'प्रीतिपूर्वकम्' जो रखा, तो यह एक तो है **प्रीतिपूर्वकं भजतां** और एक है **प्रीतिपूर्वकं बुद्धियोगं ददामि। अहं प्रीतिपूर्वकं ददामि। केषां? प्रीतिपूर्वकं भजतां।** यह प्रीतिपूर्वकम् दोनों ओर जुड़ता है। **भजन** का अर्थ है सेवन-सेवा। तो लोग लाभके लिए किसीकी सेवा करते हैं। जैसे समझो किसी सेठकी सेवा, किसी ओहदाधारीकी सेवा। हमने एक बार देखा था, कभी-कभी बात दिख जाती है, सेठ जयदयालजी गीताप्रेसके संस्थापक थे और मालिक थे। उन्हींकी चलती थी। उनका व्याख्यान होता था। वैसे तो उनके पास जाकर कहना कि गीताप्रेसमें हमको नौकर रख लो; नहीं रखते ऐसे। तो क्या करते लोग कि फाउन्टेन पेन और कापी लेकर उनके व्याख्यानमें आते और आगे बैठ जाते और खूब प्रेमसे उनके व्याख्यानको लिखते और फिर ले जाते, 'सेठजी! मैंने आपका व्याख्यान लिखा है, जरा देखिये कोई गलती तो नहीं है!' अब सेठजी उसको देखते बोले—अरे भाई तुमने तो बहुत बढ़िया लिखा, तुम्हारी योग्यता ऐसी है! व्याख्यान इतना ग्रहण कर लेते हो! अरे सेठजी! आपकी कृपा है, मैं तो आपका ही नाम जपता हूँ, आपका ही ध्यान करता हूँ, आपके सत्संगमें हमारी रुचि है, हम तो ईश्वरसे रोज प्रार्थना करते हैं कि आपका सत्संग न छूटे। अब रोज-रोज सुनाने लग गये, महीने-दो-महीनेके बाद अब

एक दिन जाकर रोने लग गये, कि घरसे जो खर्च लेकर आया था सो तो खत्म होगया अब पाँच ही रुपया है हमारे पास, तो अब सेठजी मैं लौट जाता हूँ घर। दु:ख यह है आपका सत्संग छूट रहा है।

सेठजी पूछते कि भाई घरमें तुम्हारे क्या हालत है? तो बताते कोई काम-धन्धा नहीं है। अब सत्संगमें बड़ी रुचि है। तो सेठजी बोलते 'ऐसा सत्संगी तो भाई प्रेसमें रखने योग्य है।' एक महीने सेवा करनेके बाद उसको प्रेसमें काम मिल जाता था भला! तो कई लोग नौकरी मिलनेके लिए, स्वार्थके लिए, कई लोग कि हमारा 'कल्याण'में नाम छपने लग जाय, ख्यातिके लिए, कई लोग इसके लिए कि लोग कहें कि बड़ा भारी सत्संगी है, इस दृष्टिसे आते थे।

तो यह तो आपको दृष्टान्तके लिए बताया, अपनी देखी हुई बात बतायी, इसमें झूठ कोई नहीं, कुल-की-कुल सच्ची है। पर देखी हुई है। तो ईश्वरका जो भजन करना है, वह लाभके लिए, ख्यातिके लिए, सम्मान प्राप्त करनेके लिए, यश प्राप्तिके लिए नहीं और एक और होता है कि जिसका भजन करें वह हमारे मनके अनुसार करने लग जाय। सेवा करते हैं क्यों? कि वे हमारे मनके अनुसार चले। हम उसके मनके अनुसार चलें—इसके लिए सेवा नहीं करते हैं, वह हमारे मनके अनुसार चले, इसके लिए सेवा करते हैं। तो **प्रीतिपूर्वकं भजतां** का अर्थ क्या हुआ? लाभके लिए नहीं, ख्यातिके लिए नहीं, प्रतिष्ठाके लिए नहीं, पूजाके लिए नहीं, यशके लिए नहीं, संसारी स्वार्थके लिए नहीं, अपने प्रभुत्वके लिए नहीं, अपनी कामना पूर्तिके लिए नहीं, **प्रीतिपूर्वकं भजतां**, केवल ईश्वर प्रसन्न होवे, ईश्वरको तृप्ति मिले। हमारे इस भजनको देखकर, ईश्वर प्रसन्न हो जाये। भस्म रमाया अपने शरीरमें, ईश्वरने देखा, बोले—अरे मेरे लिए इसने भस्म रमा लिया भाई, मेरे लिए मृगछाला पहन ली, मेरे लिए इसने हाथमें माला उठा ली, 'मेरे लिए'—'मेरे लिए' ईश्वर देखे। **प्रीतिपूर्वकं भजतां**। संसारके लिए ईश्वरका भजन मत करो, ईश्वरकी प्रसन्नताके लिए ईश्वरका भजन करो।

अब आपको यह तो याद ही होगा कि ईश्वर प्रसन्न है—यह बात हम कैसे समझें। एक महात्मासे किसीने पूछा कि ईश्वर मेरे ऊपर खुश है, यह बात हम कैसे समझें? तो उन्होंने कहा—पहले तुम यह बताओ कि तुम अपने ऊपर खुश हो कि नहीं? अपने कर्मसे, अपने भोगसे, अपनी रहनीसे, अपनी इन्द्रियोंसे, अपने मनसे, अपने तनसे, तुम अपने ऊपर प्रसन्न हो कि नहीं? यदि तुम्हें पूरा सन्तोष है कि हमारा कर्म, हमारा भोग, हमारा शरीर, हमारी इन्द्रिय, हमारा प्राण,

हमारा जीवन बिलकुल ठीक है, यह तुमको सन्तोष है? तो ईश्वर तुम्हारे ऊपर सन्तुष्ट है, खुश है।

बोले—नहीं महाराज, मेरी नजरमें तो मेरे अन्दर यह गलती है, मेरे अन्दर यह गलती है, तो बोले—तुम्हारी नजरमें जो गलती है, वह ईश्वरकी नजरमें भी गलती है। क्योंकि ईश्वरने तुम्हारे बारेमें अपना अलग कोई नजरिया नहीं बनाया है। अगर ऐसा ईश्वर करे तो पागल हो जायेगा भला! अगर हर आदमीके बारेमें अलग-अलग ईश्वरका आइडिया होवे, तो या तो रजिस्टरमें लिखकर रक्खे, या तो अपने अन्त:करणमें लिखकर रक्खे। कोटि-कोटि कीट-पतंगोंके बारेमें और अनादिकालसे नित्य इतिहासके बारेमें अगर ईश्वर यही सोचता रहे कि किसने कब क्या किया और कौन कैसा है, कौन कैसा है, यही सोचता रहे तो ईश्वर विक्षिप्त हो जायेगा, पागल हो जायेगा। ईश्वर किसीके बारेमें अपना आइडिया अलग नहीं बनाता। स्वयं मनुष्य अपने अन्त:करणमें अपने बारेमें जैसा सोचता है, ईश्वर कहता है—हाँ भाई मंजूर! तुमने अपने बारेमें जो सोच रक्खा है, तुमने सोच रक्खा है कि मैं पापी हूँ बस, बिलकुल ठीक बेटा! बोले—तुमने अपने मनमें रक्खा है, मैं पुण्यात्मा हूँ, हाँ ठीक। **भजतां प्रीतिपूर्वकम्**। तो जो खुश हो-हो कर सेवा करते हैं। एक बेगारमें सेवा करते हैं। क्या करें भाई, करना ही पड़ता है। बोले—भाई अब इनकी बात कैसे टालें! इनके मुँहसे निकल गयी, कैसे टालें!

यह बोझा ढोकर जो ईश्वरकी सेवा करते हैं, तो बोझ ढोकर ईश्वरकी सेवा नहीं करना। प्रीतिपूर्वकम्। अहो भाग्यम्। अहो भाग्यम्। ईश्वरने हमको यह संकेत दिया, ईश्वरने हमको यह इशारा दिया, ईश्वरने हमको यह सेवा दी, ईश्वरने हमारा यह तन, हमारा यह मन, हमारी यह संपत्ति अपनायी, अपना समझा। **प्रीतिपूर्वकम्**। ईश्वरके होनेसे ही प्रीतिका बढ़ना। **भजतां प्रीतिपूर्वकम्**। भगवान् बोले—तुम हमको प्रीतिसे सेवा दो, तो हम भी तुमको प्रीतिसे कोई चीज देंगे। प्रीतिके बदले प्रीति लो। तुम हमसे प्रीति करते हो, हम तुमसे प्रीति करते हैं। तुम हमसे शंका करते हो, हम तुमसे शंका करते हैं। तुम्हारे पास आनेमें डर लगता है। ईश्वरने एक दिन एक आदमीको सपनेमें कहा कि तुम्हारे पास आनेमें डर लगता है। बोले—क्यों? कि तुमको जो हमारे पास आनेमें शंका है, डर है, हमारे-तुम्हारे बीचमें बस वही बाधा है। वह शंका तो बीचमें है, डर तो बीचमें है, एक ओर तुम एक ओर मैं, तो एकबार उसको मैं अपना समझता हूँ एक बार तुम उसको अपना समझते हो। बाबा, प्रीति बड़ी विलक्षण वस्तु है। यह तो मक्खन है, यह तो नवनीत है, यह तो दिलकी पिघलाहट

है, इसमें संसारमें कहीं बन्धन नहीं है। यह तो अपने प्रियके लिए है। अभिमानकी कठोरता छोड़ करके यह प्रीति ईश्वरके साथ जुड़नी चाहिए। प्रीति माने महाविश्वास। गला हाथमें दे देना। काट दो! यदि हमारे शरीरके चामका जूता बन जानेसे उसके पाँवपर धूल न पड़ती हो, उसको आराम मिलता हो, तो मैं अपने शरीरके चामका जूता बना दूँ। उसके पाँवपर धूल न पड़े। **प्रीतिपूर्वकं भजताम्।**

अब देखो **अहं प्रीतिपूर्वकं तं बुद्धियोगं ददामि।** भगवान्‌को भी बड़ी प्रीति होती है। भगवान्‌का ऐश्वर्य तो है निरंकुश। निरंकुश मानें जिसे कोई रोक न सके, जिसपर कंट्रोल न लगाया जा सके कि तुम्हारी हुकूमत इस पहाड़ तक है, इस नदी तक है, आकाश तक है, महत्तत्त्व तक है, प्रकृति तक है। जिसपर कोई अंकुश न लगाया जा सके, कंट्रोल नहीं होवे, नियन्त्रण नहीं होवे कि भगवान्‌का ऐश्वर्य कितना, हुकूमत कितनी? इतना बड़ा तो वह मालिक, ऐश्वर्य है निरंकुश। लेकिन महाराज सौशील्य, सौन्दर्य, सौस्वर्य, वात्सल्यादि कल्याण गुणगणोंका आकर है; सुशील है। किसीका बुरा नहीं चाहता है। सुन्दर है। जैसे माँ अपने बच्चेसे प्यार करती है, इससे करोड़ गुणा प्यार करता है ईश्वर। देखो, चलो उसकी ओर— **प्रीतिपूर्वकम्।** बड़ा प्रेम करता है। यह बात आपको ध्यानमें होवे न होवे!

आपने ईश्वरको कभी अपनी गोदमें नहीं लिया। पर आप किसकी गोदमें रहते हैं, यह आपको मालूम भी नहीं है। आप ईश्वरकी गोदमें रहते हैं, शरीरधारीके रूपमें। आपके जीवनमें रस बनकर कौन आता है, आप उसको नहीं पहचानते हैं। आपने कभी एक गिलास रस उसको नहीं पिलाया, पर उसने जन्म-जन्म आपको रस पिलाया। आपको जब जड़ता सताती है, तब गर्मी देनेवाला वही है। आपकी आँखोंको देखनेके लिए सूरज और चन्द्रमाकी रोशनी कौन दे रहा है? आपको साँस लेनेके लिए हवा कौन दे रहा है? आपको घूमने-फिरनेके लिए अवकाश कौन दे रहा है? आपके भीतर मन और बुद्धि कौन दे रहा है? जरा देखो तो उसकी ओर देखो! यह तो निरन्तर आपको अपनी छातीसे लगाये रखता है और अपनी साँससे साँस देता है।

यह अभिमानमें चूर हो जाना, बलका अभिमान, बुद्धिका अभिमान, तपस्याका अभिमान, यह अभिमान ही ईश्वरसे अलग करता है। किसीको गुणका अभिमान होता है, किसीको तपस्याका, किसीको सदाचारका अभिमान होता है। इसके साधन-सम्बन्धी बड़े-बड़े रहस्य हैं, साधारण लोग इसको पहचानते नहीं हैं।

तो भगवान् प्रीतिपूर्वक बुद्धियोग देते हैं। इसको यों समझो कि आपने एक

दिन अपने छोटे बच्चेको गुनगुने पानीके टबमें बैठाया, उसको गर्म लगा और रोना शुरू कर दिया और फिर उसके शरीरमें आपने साबुन लगाया, तो और जोरसे रोया, और फिर उसको पोंछ दिया तो और रोया, उसके बाद जब शान्त हुआ, तब आपने उसे समझाया कि बेटा, गुनगुने पानीमें रखनेसे, तुम्हारे शरीरका जो मैल है, वह छूट जाता है, साबुनसे मैल छूट ज़ाता है। तो धीरे-धीरे जब बच्चेको अभ्यास हो गया और बात समझने लगा, तब वह खुशीसे ही गरमाये हुए पानीको टबमें बैठ जाता है और अपने हाथसे ही लेकर (डेढ़-डेढ़ बरसके बच्चोंको मैंने देखा) साबुन लगा रहे हैं, गर्मपानीके टबमें बैठे हुए हैं और अपने हाथसे साबुन लगा रहे हैं। तौलिया लेकर अपना शरीर पोंछ रहे हैं। यह बात कहाँसे आयी? क्योंकि पहले देखते हैं तो पहले दिन जिस कामसे रोते थे, चिल्लाते थे, उसी काममें गुण समझमें आ गया ना। क्योंकि उसमें माँका वात्सल्य है, स्नेह है।

यह जो संसारका पिता है, माता है **अहं सर्वस्य प्रभवो मत्तः सर्वं प्रवर्तते**। यह जो संसारका संचालक है, सम्पूर्ण भूतोंका, यह विवेकी लोग अपनेको जिस दृश्यका द्रष्टा मानते हैं, सम्पूर्ण अनात्मा दृश्य है, और मैं द्रष्टा आत्मा हूँ तो वह जो दृश्य है उसकी कारणावस्थासे उपहित जो चैतन्य है, कारणवस्था माने माया, कारणावस्था माने प्रकृति, उससे उपहित चैतन्य, जिसके तुम द्रष्टा हो, उस दृश्यका कारण, उस दृश्यका अन्तर्यामी, उस दृश्यमें बैठा हुआ चेतन उसको, दृश्यको उससे अभिन्न होना पड़ेगा और 'वह' ओर 'मैं'को एक होना पड़ेगा, यही आगे ज्ञानके सम्बन्धमें बताया, तो **ददामि बुद्धियोगं तम्**—भगवान् वह समझ देते हैं—**बुद्धियोगं**।

यह संसारमें जो मृत्यु होती है उसमें भी भगवान्की प्रीति है। विघ्न होते हैं उसमें भी भगवान्की प्रीति है, शोधन होता है इसमें। सोनेको जब आगमें तपाते हैं और पीटते हैं तो क्या होता है? कुन्दन हो जाता है। उस सोनेका नाम कुन्दन हो जाता है। भगवान् जो दुःख देते हैं इसमें भी शोधन है।

भगवान् कभी गन्दगीमें डाल देते हैं यह जो बर्तनमें मैल लग जाता है, वैसे नहीं छूटता है तो उसको गन्दगीमें डालते हैं। शरीरमें उबटन लगाते हैं, क्या चीज है? उबटन लगाकर मैलमें मैल मिल गयी और दोनों छुड़ा दिया। तो कभी-कभी भगवान् मैलमें मैल भी मिलाते हैं। ऐसा समझो कि ऐसी कोई अवस्था जीवकी नहीं है जहाँ भगवान्की कृपा, भगवान्का प्रेम, भगवान्का स्नेह शोधन करनेकी रासायनिक प्रक्रिया न कर रहा हो।

जब कोई हमको गाली देता है और दुःख होता है, तो देखो दुःख तो वे हमारे

भीतर बैठा हुआ था, हम उसको पहचानते नहीं थे कि वह बैठा हुआ है। एकसे भगवान्‌ने गाली दिलवा दी, तो उभड़ आया। अरे, अभी तो हमारे हृदयमें दुःख है। किसीसे भगवान्‌ने तिरस्कार करवाया। तो हम समझते थे कि हमारे हृदयमें तो अब कोई अभिमान ही नहीं है, अब तिरस्कार होते ही अभिमान उभड़ आया। बोले— देखो बेटा अभी तुम्हारे भीतर यह बैठा है भला! यह शोधनकी जो प्रक्रिया है, ईश्वरके द्वारा शोधनकी प्रक्रिया होती है। जिसको भगवान् अपना समझते हैं, उसको बुद्धियोग देते हैं। तब वह समझता है कि यह तो भगवान् हमें अपने पास खींच रहे हैं, अपना बना रहे हैं। और जिसको बुद्धियोग नहीं देता, वह उलटा समझता है कि ये तो हमको मार रहे हैं, ये तो हमको वियोग दे रहे हैं।

गोपियोंसे कहा कि हम तुमको शरीरसे वियोग देते हैं और मनसे संयोग देते हैं। अब देखो ध्यान तुम्हारा बना रहेगा। तो स्थूल शरीरसे वियोग हुआ और सूक्ष्म शरीरमें संयोग हुआ। तुमको बड़ी-चीज दे रहे हैं, फिर तुम जहाँ चाहोगी वहाँ हमको देख सकोगी, स्थूल शरीरसे जहाँ मैं चाहूँगा, वहाँ मैं तुमको मिलूँगा और जहाँ नहीं चाहूँगा वहाँ नहीं मिलूँगा। और, जो मैं ध्यान देता हूँ, उससे तो तुम जब चाहोगी, जहाँ चाहोगी तब-तहाँ मैं मिलूँगा, यह मैं तुमको ध्यान दे रहा हूँ। तो यह ईश्वर एक ऐसे नये ढंगसे, नयी प्रक्रियासे अपने विशेष रहस्यके रूपमें यह सृष्टिका संचालन कर रहा है, परन्तु इसको समझनेकी शक्ति सबमें नहीं है।

प्रभवके रूपमें और प्रवर्तकके रूपमें, **अहं सर्वस्य प्रभवः मत्तः सर्वं प्रवर्तते।**

सबके उपादान कारणके रूपमें और सबके संचालकके रूपमें ईश्वरको समझनेकी जो शक्ति है, उसको बुद्धियोग बोलते हैं। जब सब जगह समझ लोगे, पहले बताया—

एतां विभूतिं योगं च मम यो वेत्ति तत्त्वतः।
सोऽविकम्पेन योगने युज्यते नात्र संशयः॥ 7॥

कि अगर समझ लोगे तो अविकम्प योग होगा। अब कहते हैं कि जब तुम प्रेमसे भजन करोगे तो मैं प्रेमसे ऐसा बुद्धियोग तुमको दूँगा कि हर जगह तुम हमको पहचानोगे मार-धाड़में, साँपमें, बिच्छूमें, रणमें, वनमें, भोगमें, योगमें, सुखमें, दुःखमें, पापमें, पुण्यमें, हर जगह तुम हमें पहचान सकोगे और सच्चे सतत युक्त बन जाओगे—**येन मामुपयान्ति ते।**

अब यह प्रसंग फिर कल सुनायेंगे।

☆

प्रीतिपूर्वकं भजतां। प्रीतिपूर्वकं बुद्धियोगं ददामि।

जो प्रेमसे मेरा भजन करते हैं, उन्हें मैं बड़े प्रेमसे बुद्धियोग देता हूँ। इसमें ईश्वरकी जब बड़ी कृपा होती है तब मनुष्यके हृदयमें ईश्वरकी ओर चलनेकी इच्छा जाग्रत् होती है। नहीं तो वह धनकी ओर चलता है, वह भोगकी ओर चलता है, वह यश-प्रतिष्ठाकी ओर चलता है। अन्तर्मुख होना विपरीत दिशामें चलना है, जिधर लोकका प्रवाह है, उसके विपरीत दिशामें चलना, यह भोगसे नहीं मिलता है। देखो, गंगाजी बहती हैं, तो ज्यादातर तैराक जब तैरनेके लिए गंगाजीमें उतरते हैं, तो जिधरको पानी जाता है, उधरको ही तैरते हैं, जिधरसे आता है, उधरको नहीं तैरते हैं। कोई-कोई ऐसे होते हैं जो बिलकुल नाकके सीधे पार करते हैं। बड़े बहादुर होते हैं और कोई ऐसे होते हैं कि जिधरसे प्रवाह आ रहा है, बिलकुल प्रवाहके विपरीत तैरते हैं। तो तैरनेमें बहादुर कौन है? कि जो प्रवाहके विपरीत तैरते हैं। परन्तु ऐसे बहुत थोड़े लोग होते हैं। ज्यादा लोग ऐसे नहीं मिलेंगे।

प्रवाह क्या है? देखो भीतर एक ज्ञानका उत्स है, उद्‌गम है। जैसे-झरना निकलनेकी एक जगह होती है, वैसे ज्ञानकी धारा निकलनेकी एक जगह है भीतर। वहाँसे ज्ञानकी धारा बहती है वह थोड़ी कानमें जाती है, थोड़ी आँखमें जाती है, थोड़ी जीभमें आती है, थोड़ी नाकमें आती है, पाँच तरहसे ज्ञान संसारका होता है। इसीको वेदमें पञ्चनदी सरस्वती बताया है—**पञ्चनद्याः सरस्वतीः अपीयन्ती तत् स्रोतस**। ये पाँच नदी बहती हैं। कहाँ बहती हैं? कि भीतरसे निकलती हैं बाहर जाती हैं। कानमें-से जो निकलती है वह शब्दमें जाकर लीन हो जाती है, आँखमें-से जो निकलती है वह रूपमें जाकर लीन हो जाती है। नाकमें-से निकलती है गन्धमें मिल जाती है। जीभमें-से निकलती है स्वादमें मिल जाती है। यह पाँच नदियोंका प्रवाह बाहरकी ओर बह रहा है। अब यह जो जीवात्मा है, इन्हीं नदियोंके वेगमें बह करके इनके साथ बाहर चला जाता है।

पराञ्चि खानि यत्रिन् स्वयंभू तस्मात् पराङ्पश्यन्ति नाऽन्तरात्मन्

अब उसको यह ख्याल ही नहीं होता कि यह ज्ञानकी गंगा कहाँसे निकलती है, यह ज्ञानकी सरस्वती कहाँसे निकलती है, यह ज्ञानकी धारा कहाँसे आती है! भीतर एक ऐसा बिन्दु है जहाँसे ये सब ज्ञानके स्रोत निकलते हैं। तो

कश्चिद् धीरः प्रत्यगात्मानमैक्षत् आवृत्य चक्षुः अमृततत्वमिच्छन्।

संसारमें कोई-कोई ऐसे धीर पुरुष होते हैं जो आँखका सहारा लेकर कि यह कहाँसे आँखमें रोशनी आती है? यह नाकमें गन्ध पकड़नेकी रोशनी कहाँसे आती है? जीभमें स्वाद लेनेकी रोशनी कहाँसे आती है? कानमें आवाज कहाँसे आती है? उस ज्ञानकी खोज करते-करते प्रत्यगात्माके पास पहुँचते हैं। भीतर जो अपनी अन्तरात्मा है ज्ञान स्वरूप, 'अहं अहं इति साक्षात् ब्रह्मरूपेणभाति'—कोई अपने उस हृदयमें बैठे हुए परमेश्वरकी ओर प्रवाहके उल्टे तैरकरके जाते हैं। इसको मध्यकालके सन्त ऐसे बोलते थे, कि सुरतसे शब्दको पकड़ो और शब्द जहाँसे आता है, वहाँ पहुँचो। जैसे हम बोलते हैं—घड़ा, कपड़ा, मकान। तो यह आवाज कहाँसे निकलती है? हम बोलते हैं कृष्ण, कृष्ण, कृष्ण, तो यह आवाज कहाँसे निकलती है?

तो अपनी सुरतको, माने अपने ध्यानको, अपनी तवज्जुहको, अपने ख्यालको उस ओर लगाओ कि यह आवाज कहाँसे आती है! तो जहाँसे आवाज निकलती है, वहाँ परमेश्वर बैठा है। जहाँसे आँखमें रोशनी आती है, वहाँ परमेश्वर बैठा है—ज्ञानका खजाना।

जब हम ध्यान करके, विवेक करके और प्रेम करके, उसीकी चर्चा करके, उसीका संकीर्तन करके, उसीमें सन्तुष्ट होकर, उसीमें रमके, जब प्रेमपूर्वक उसीका भजन करते हैं जो हमारा दिलदार है, हमारे दिलमें बैठा हुआ है। यह जन्म-जन्मके पुण्योंका फल है, अन्तर्मुखताकी प्राप्ति। संसारमें जो कुछ मिलता है वह नष्ट हो जाता है।

जो फरा सो झरा जो बरा सो बुताना।

जो फल पेड़में लगता है वह झड़ जाता है। जो दीपक जलाया जाता है, वह बुझ जाता है। संसारमें **यद्दृष्टं तन्नष्टम्**। जो देखा गया वह नष्ट होगया। **यत्कृत्यं तदनित्यम्**—जो बनाया जाता है वह एकदिन बिगड़ जाता है। सच्ची चीज है वही अपना हृदयेश्वर वही अपना दिलदार, अपना परम प्रियतम, वही ज्ञानका स्वामी।

आपको मालूम है? जो शक्ल-सूरत आज दिखायी पड़ रहो, गोरी-गोरी,

साँवरी-साँवरी, सुन्दर-सुन्दर, ये दाँत चमकते हैं, यह आँखमें-से रोशनी निकलती है, यह शक्ल-सूरत कहाँसे निकलती है? जो आदि सच है, ये आकृति कहाँसे निकली हैं? हमारी, तुम्हारी, उनकी, सबकी, उसीका नाम आदि सच है, जिसमें-से ये सब आकृतियाँ निकलती हैं। उसीका नाम आदि ज्ञान है जिसमें-से सबकी बुद्धियाँ निकली हैं, जिसमें-से सब इन्द्रियोंकी धाराएँ निकली हैं और उसीका नाम आदि आनन्द है जहाँसे सब सुख निकलते हैं। वह तुम्हारे हृदयमें है।

जब प्रेमसे मनुष्य उसकी ओर चलता है, तब भगवान् भी कहता है इसने हमें अपना प्रेम दिया, तो हम इसको अपनी बुद्धि दें। प्रेम और बुद्धि दोनोंका मेल करवा दें। प्रीति स्त्री है तो बोध पुरुष है और प्रेम पुरुष है तो बुद्धि स्त्री है। यह प्रेम और बुद्धिका जब समरस योग होता है तब परमात्माका आनन्द प्रकट होता है। इसको सामरस्य बोलते हैं।

जैसे लौकिक व्यवहारमें स्त्री और पुरुषके मिलनको सुख मानते हैं, वैसे परमार्थमें हित और आनन्द इनका जो मिलन है—बुद्धि, सद्बुद्धि और आनन्द, अविनाशी आनन्द और अविनाशी ज्ञान—इनकी एकताको जानना, इसको बोलते हैं सामरस्य ऐसा अखण्ड पदार्थ प्राप्त होवे—**भजतां प्रीतिपूर्वकम्**।

बुद्धि और प्रेम, देखो ऐसा है कि अगर हम किसीसे प्रेम करें, तो वह अपनेको कबतक छिपावेगा हमसे! जब वह समझ जायेगा कि इससे हमारा कोई अनिष्ट नहीं होनेवाला है, वही सेवा होनेवाली है तो वह अपनेको गुप्त नहीं रख सकता। प्रेमके सामने दुराव-छिपाव टिकता नहीं यदि ईश्वरसे कोई प्रेम करे तो ईश्वर उसके सामने अपनेको छिपा नहीं सकता और यदि हम किसी भलेमानुसके बारेमें कोई जानकारी प्राप्त करें कि यह बहुत भला है, तो न चाहने पर भी उससे प्रेम हो जायेगा। तो सच्ची जानकारीमें प्रेम रहता है और सच्चे प्रेममें जानकारी रहती है। **भक्तौ तु या पराकाष्ठा तद्धि ज्ञानं प्रकीर्तितम्**—भक्तिकी जो पराकाष्ठा है, उसको ही ज्ञान कहते हैं। **ज्ञानस्य या पराकाष्ठा सैव भक्तिः प्रकीर्तिता**—ज्ञानकी जो पराकाष्ठा है उसको भक्ति कहते हैं। ईश्वरके प्रति किया हुआ प्रेम **भक्तिर्ज्ञानाय कल्पते** ज्ञानके रूपमें बदल जाता है और ईश्वरका जाना हुआ स्वरूप प्रेमके रूपमें बदल जाता है। परम प्रेमास्पद आत्माके रूपमें हो जाता है। इसलिए जो लोग भक्ति प्रेमके मार्गमें चलते हैं, भगवान् कहते हैं भाई, इसने हमको अपना प्रेम दिया, तो अब हम अपनेको इससे छिपाकर नहीं रखेंगे, निरावरण कर देंगे। प्रेम द्वैतका भंजक होता है। द्वैत-'डाऊट' (doubt) जिसको बोलते हैं, द्वैत, दुविधा, संशय वह

प्रेममें नहीं होता। प्रेम संशयका शत्रु है। प्रेम तो आवरणको—पर्देको हटानेवाली चीज है। लोकमें भी यह देखनेमें आता है कि जिससे जिसका प्रेम हो जाता है, उससे वह किसी प्रकारका पर्दा नहीं रखता। प्रेम पर्देको हटा देता है। निरवगुंठन कर देता है। निरावरण कर देता है। लोकमें प्रेम पर्देको हटा देता है और जब यह प्रेम ईश्वरसे होता है, तो ईश्वरके पर्दे भी हटते हैं। जब ईश्वर कभी आवे, मिले खूब प्रेम होवे, तो ईश्वरकी छातीसे छाती लग गयी उसने अपने हृदयसे लगाया, तो ईश्वरने कहा—नहीं, अभी तृप्ति नहीं हुई, तुम हृदयसे अपने प्राणको मिला दो। जब अन्नमयसे अन्नमय मिलता है, तब प्राणमयसे प्राणमय मिल जाता है। अन्नमय कोश माने शरीरका जब पर्दा फटता है, तो प्राणमय कोशका भी पर्दा फट जाता है और जब प्राणमय कोशका पर्दा फटता है तब मनोमय कोशका भी पर्दा फट जाता है। आत्मा और परमात्माके बीचमें तब विज्ञानमयका भी पर्दा नहीं रहता और तब आनन्दमयका भी पर्दा नहीं रहता और तब अज्ञानका भी पर्दा नहीं रहता। यह प्रेम ऐसा है जो आत्मा और परमात्माके बीचमें दूसरी किसी भी वस्तुको सहन नहीं करता। यह प्रेमकी प्रकृति है। यह प्रेमका स्वभाव है।

हारो नारोऽर्पितः कण्ठे मया विश्लेषभीरुणा

एक गोपी बोलती है—''श्रीकृष्ण! हमने गलेमें-से हार निकालकर अलग रख दिया। क्योंकि हमारे और तुम्हारे बीचमें अगर हार रह जायेगा तो वह बाधक बनेगा। लेकिन अब तुम रहते हो द्वारकामें और हम वृन्दावनमें, तो इस समय हमारे और तुम्हारे बीचमें समुद्र है, पहाड़ है, जंगल हैं, जहाँ हम फूलका हार पसन्द नहीं करते थे हमारे और तुम्हारे बीचमें, वहाँ समुद्र है, पहाड़ है, जंगल है और इतनी दूरीमें भी हम जिन्दा हैं।''

'प्रेमकी जो प्रकृति है वह आत्मा और परमात्माके बीचमें, प्रेमी और प्रियतमके बीचमें कोई आवरण, कोई पर्दा रहनेका नहीं है।

इस प्रसंगमें—'भजतां प्रीतिपूर्वकम्' आ गया, प्रीतिकी चर्चा आगयी। श्रीराधारानीका वचन है। प्रेमकुटीरमें तो ऐसे प्रसंग कम आते हैं कि गोपीकी बात यहाँ सुनावें। पहले स्वामी प्रेमपुरीजी महाराज थे, जब मैंने एक बार गोपीगीत सुनाया था भला! वे बड़े प्रसन्न होते थे। क्योंकि जिनको वेदान्तके विचारमें प्रयोजन शेष है, वेदान्ती दो तरहके होते हैं—एक सकल अनर्थकी निवृत्ति होकरके परमानन्दकी प्राप्ति जो है, यह वेदान्त-विचारका प्रयोजन है। जिसका प्रयोजन सिद्ध नहीं हुआ है, वह तो अनात्माकार प्रत्ययका तिरस्कार करके आत्माकार प्रत्यय

करता है। वह दृश्यसे विवेक करके अपने द्रष्टाके स्वरूपमें स्थित होनेकी कोशिश करता है, वह तो आत्मासे अभिन्न जो ब्रह्म है, उसके अज्ञानको मिटाकर अपनेको ब्रह्म होना चाहता है, जानना चाहता है। क्योंकि उसका प्रयोजन शेष है। तो उसके सामने जब कोई ऐसी बात कहते हैं कि अनात्मा भी परमात्माका स्वरूप ही है या दृश्य भी परमात्माका स्वरूप ही है, तो वह उसकी साधनामें बाधक हो जाता है। और यहींसे इसीसे सिद्ध होता है कि अभी उसका प्रयोजन सिद्ध नहीं हुआ है, अविद्या ग्रन्थिका सम्पूर्ण भेदन नहीं हुआ है, उस भेदनके लिए वह बेचारा व्याकुल है, वह उसकी अच्छाई है, बुराई नहीं है। हम उसकी तारीफ करते हैं, लेकिन जिसका प्रयोजन पूर्ण हो जाता है, अविद्या निवृत्त हो गयी, भेदभ्रम दूर होगया, अब उसको आत्मा-परमात्माकी एकताका विचार करनेकी क्या जरूरत है? जब ऐसे महापुरुषके सामने, जैसे श्रीउड़ियाबाबाजी महाराज थे, या स्वामी प्रेमपुरीजी महाराज थे, उनके सामने जब कभी गोपीगीतका या ऐसे गोपी प्रेमका प्रसंग आता था, तो उनकी आँखोंसे; उड़िया बाबाजीकी आँखसे तो कभी आँसू नहीं गिरते थे, देखा नहीं था मैंने। श्रीप्रेमपुरीजी महाराजकी आँखोंसे तो आँसू खूब गिरने लगते थे।

यह जो प्रेमका प्रसंग है, बड़ा अद्भुत है। यह ईश्वरको हाथसे पकड़ लेने सरीखा है। यह ईश्वरको आँखसे पी लेने सरीखा है। यह ईश्वरको जीभसे चाटने सरीखा है। यह ईश्वरको नाकसे सूँघने सरीखा है। यह ईश्वर कोई सातवें आसमानमें रहता है और हाथ जोड़कर सिर झुका लो, उसकी चर्चा नहीं है। यह तो खाने-पीने-हँसने-खेलनेमें जो ईश्वर आता है, उसकी चर्चा है। तो श्रीराधारानी बोलती हैं—

अहं कान्ता कान्तस्त्वमिति न तदानीं मतिरभूत्।
मनोवृर्त्तिलुप्ता त्वमहमिति नौ धीरपिहिता॥
भवान् भर्ता भार्याऽहमिति यदिदानीं व्यवसितिः।
तथापि प्राणानां स्थितिरिति विचित्रं किमपरम्॥

बोलीं—'हमारे और तुम्हारे बीचमें ऐसा प्रेम, ऐसी एकता, ऐसा मिलन! थोड़ी देर पहले, तुम प्यारे हो और मैं प्यारी हूँ—यह वृत्ति लुप्त हो गयी थी। मनोवृत्तिका लोप हो गया था। यह तुम हो, यह मैं हूँ—यह भेदबुद्धि विनष्ट हो गयी थी। अब तो मालूम पड़ता है कि तुम पति हो और मैं पत्नी हूँ, तुम प्रियतम हो और मैं प्रेयसी हूँ—ऐसा मालूम पड़ता है, पहले तो नहीं मालूम पड़ता था। इतना भेद बुद्धिमें होनेपर भी और हमारी साँस अलग चल रही है। यह साँस इस शरीरमें-से

निकल करके तुम्हारी साँसमें मिल नहीं गयी! ये हमारे प्राण अलग जी रहे हैं, इससे बढ़कर आश्चर्य और क्या होगा?'

कहनेका अभिप्राय यह है कि अन्त:करणावच्छिन्न चैतन्यका विषयावच्छिन्न चैतन्यसे एक होना—यही ज्ञानकी प्रकृति है। जबतक अन्त:करणावच्छिन्न घटावच्छिन्न चैतन्यसे एक नहीं होगा, तबतक घटज्ञान नहीं होगा। प्रमा, अन्त:करणावच्छिन्न चैतन्य चक्षुर्वृत्तिमें आरूढ़ होकर जब घटावच्छिन्न चैतन्यसे जाकर एक होगा तब घटज्ञान होगा। माने अन्त:करण जिस चैतन्यदेशमें कल्पित है, उसी चैतन्य-देशमें जब घट होगा, चैतन्य तो एक है। उसमें तो जाना-आना नहीं है। जो अन्त:करणमें है, वही घटमें है। माने अन्त:करण और घट—ये दो देशमें नहीं है। जैसे आपको दृष्टान्तके रूपमें बतावें कि किसीको रस्सीमें साँप दिखा। तो रस्सीमें साँपका ज्ञान जो है, तदाकारवृत्ति तो अन्त:करणमें है और सर्प क्या रज्जुमें है? नहीं, जहाँ सर्पाकार वृत्ति है वहीं सर्प है। देखो, सर्पाकारवृत्ति-अवच्छिन्न चैतन्य और सर्पावच्छिन्न चैतन्य—दोनों, अन्त:करणमें एक है कि नहीं है? अब सर्प बाधित होगया और चैतन्य रह गया। सर्प और वृत्ति—दोनों बाधित हो गये और चैतन्य रह गया। इसी प्रकार यह जो दुनिया दिखायी पड़ रही है, जो यह अनन्तकोटि ब्रह्माण्ड दिखायी पड़ रहे हैं ये रज्जूपहित चैतन्यमें सर्पवत्, मायोपहित चैतन्यमें ये कोटि-कोटि ब्रह्माण्ड दिख रहे हैं। तो ब्रह्माण्डाकार वृत्ति जिस प्रत्यक्‌देशमें भास रही है, ये अनन्त-कोटि ब्रह्माण्ड भी उसी प्रत्यक् चैतन्य देशमें भास रहे हैं।

कहनेका अभिप्राय यह हुआ कि वृत्ति और ब्रह्माण्ड दोनों मिथ्या हैं और यह जो प्रत्यक् चैतन्य है यह ब्रह्म है भला! यह वेदान्तका सिद्धान्त है।

भजन करनेवालेको बुद्धियोग मिलता है। प्रेम करनेवालेको समझ मिलती है। दूरी मिट जाती है, देरी मिट जाती है, परायापन मिट जाता है।

देखो, किसी साहबके दरवाजेपर जाओ कि हम मिलनेके लिए आये हैं, चपरासी बाहर रोक देगा, नहीं तो बैंचपर बैठना पड़े घण्टेभर। भले कार्ड अपना भेज दो। और, वे आलतू-फालतू बैठे रहते हैं, मिलने नहीं देते हैं। हमने साधुओंके यहाँ ऐसा देखा है। हमारे शंकराचार्य थे, ज्योतिष्पीठाधीश्वर, तो उनके यहाँ कोई बाहरका आदमी आवे मिलनेको तो दो-तीन बार तो वापिस करते थे, बाहरसे ही आदमी वापिस कर देता था कि अभी नहीं मिलेंगे। और, जाये भी तो घण्टे दो-घण्टे बाहर बैंचपर बैठना पड़ता। गोपीनाथ कविराज जाते तो घण्टे भर उनको

बैठना पड़ता और हम जाते तो! बिलकुल चपरासी हमारी ओर देखता ही न था। हम तो बिलकुल सीधे जाते और वे लेटे होते, हम जाकर उनका पाँव भी दबाने लगते, उनसे गप्प हाँकते और बाहर जो आदमी होता, वह बैठा होता। तो कहनेका अभिप्राय यह हुआ कि ये सारे जो प्रतिबन्ध हैं, सारी जो अड़चने हैं—वह तो उसीके लिए हैं जिसके हृदयमें प्रेम नहीं है। प्रेम होवे तो बुद्धियोग देते हैं।

मैंने एक महात्माके यहाँ देखा, दो दरवाजे थे उनके कमरेमें। जो सामनेवाला था, वह सार्वजनिक था, वह बन्द रहता था और पीछेवाला खुला रहता था। जो जानकार प्रेमी थे, पीछेवाले दरवाजेसे उनके पास पहुँच जाते भला, और जो अनजान थे वे आकर सामने बैठकर इन्तजार करते रहते। तो ईश्वरमें न देरी है, इन्तजार नहीं करवाता और दूरी भी नहीं है, बिलकुल तुम्हारे दिलमें बैठा हुआ है।

आवरण काहेका है? अज्ञानका ज्ञान नहीं हुआ। पहचानते नहीं हो तुम। तो बोले—पहचानेगे कैसे? कि प्रेम हो जायेगा तब यह पहचान हो जायेगी। **ददामि बुद्धियोगं तम्।**

देखो, बुद्धिसे अन्तरंग ईश्वर है और जो उपाधियुक्त ईश्वर है—ऐश्वर्य युक्त जो ईश्वर है, उससे भी अन्तरंग अपना आत्मा है। उपाधिसे युक्त सोनेका मुकुट बाँधे, पीठकी रीढ़ सीधी करके बैठा दरबारमें, दरबारमें बैठे हुए ईश्वरसे घरेलू ईश्वर श्रेष्ठ होता है। भला देखो न मिनिस्टरके घरमें जाओ, उनकी लड़की आवेगी, सीधे घुस जायेगी, उनकी पत्नी आवेगी, सीधे घुस जायेगी, उनका बेटा आयेगा सीधे घुस जायेगा और बाहरवाले बेचारे बैठकर देखते ही रह जायेंगे। इसीको बोलते हैं कि प्रेमसे, प्रीतिपूर्वक भजनसे, प्रीतिपूर्वक सेवासे बुद्धियोगकी प्राप्ति होती है। भगवान् बुद्धियोग देते हैं।

अब जरा बुद्धियोगकी बात देखो। बुद्धियोग क्या है? कि एक तो बुद्धि होती है! देखो जजके पास बुद्धि होती है, बैरिस्टरके पास बुद्धि होती है। ये बड़े-बड़े जो राजनीतिके और समाजनीतिके और बड़े-बड़े शास्त्रोंके विद्वान् होते हैं उनके पास बुद्धि होती है। पर बुद्धि होना—दूसरी चीज और बुद्धियोग होना दूसरी चीज। बुद्धियोग क्या है—आपको बतावें। कर्म तो सब करते हैं, परन्तु कर्मयोग कौन करता है? अच्छा दुकानमें सब जाते हैं, कर्म करते हैं। रास्तेपर झाड़ू लगाते हैं—कर्म करते हैं। पर कर्मयोग कौन करता है? देखो झाड़ू भंगी लगाता है, सड़कपर—यह कर्म है। और शबरी भी झाड़ू लगाती थी रास्तेपर, उसका नाम कर्मयोग था। क्यों? कि वह कर्म करती थी, झाड़ू लगाती थी, पर रामचन्द्रके लिए,

ईश्वरके लिए। जब ईश्वरके लिए कर्म होता है तब उसका नाम कर्मयोग हो जाता है।

अच्छा देखो, देशभक्ति है कि नहीं? देशकी भक्ति-भक्ति है। माताकी भक्ति-भक्ति है। पिताकी भक्ति-भक्ति है। जातिकी भक्ति भक्ति है। उसको भक्तियोग कौन बोलता है? भक्ति जब ईश्वरके लिए होगी, तब उसका नाम भक्तियोग होगा। सब धनियोंके घरमें धन है, धनी हैं। पर उनका द्रव्ययोग नहीं है। द्रव्ययोग माने द्रव्य ईश्वरके लिए होना, धन ईश्वरकी सेवाके लिए होना, उसका नाम द्रव्ययोग होगा। तो बुद्धि सबके हृदयमें होती है—यह बात समझानेके लिए कही। ये इतने दृष्टान्त दिये कि बात मनमें आजाय। बुद्धि सबके होती है, सब अपनेको चतुर समझते हैं। दूसरेके धनको लोग बड़ा बताते हैं और अपनी बुद्धिको बड़ा बताते हैं, लोग कभी अपनी गरीबीका भी वर्णन करेंगे तो ऐसे करेंगे कि 'हमने जानबूझकर यह धन छोड़ दिया।' 'मैंने कहा जाने दो, दुश्मनको ही दे दो।' 'बड़ी बुद्धिमानीसे मैंने अपने धनका परित्याग किया'—ऐसे।

लोग दूसरेके धनको और अपनी बुद्धिको छोटी नहीं बताते, अपनी बुद्धिको बड़ी बताते हैं। सबके पास बुद्धि है। अच्छा किसीसे कहें कि तुम्हारा हाथ तो कुछ छोटा है, तो मान लेगा भला! आँख कुछ छोटी है—मान लेगा। पाँव छोटी है—मान लेगा। यदि कहो—भाई तुम्हारे शरीरमें कुछ खराबी है—मान लेगा। पर उससे कहो कि तुम्हारे दिमागमें कुछ खराबी है, तो माननेको बिलकुल राजी नहीं होगा।

अपनेको बुद्धिहीन माननेको कोई राजी नहीं है, सब अपनेको बुद्धिका धनी, सब अपनेको बुद्धिका राजा मानते हैं। लेकिन इसका नाम बुद्धि-योग तो नहीं है। बुद्धियोग तो तब है, जब बुद्धि भगवान्‌के लिए जुड़े। और, देखो यह बहुत मुश्किल नहीं है।

कल-परसों एक आदमीने जब हमसे कहा कि हमारी समझमें तो जन्मभरमें भी नहीं आयेगा, तो अपना मन तिलमिला गया। ईश्वरको समझनेके लिए बुद्धि मिलना मुश्किल! राम-राम-राम। हम तो कहते हैं पैसा कमानेकी बुद्धि बड़ी मुश्किल है, परिवारको सँभालनेमें जितनी बुद्धि लगानी पड़ती है, जिन्दगी नष्ट हो जाती है परिवार सँभालते-सँभालते। बच्चेको ऐसे सम्भालो और बहूको ऐसे सम्भालो और बेटीको ऐसे सम्भालो, चेलेको ऐसे सम्भालो, चेलीको ऐसे सम्भालो ये रोज उपद्रव ही तो करते रहते हैं! इनको सँभालनेमें जितनी अकल लगानी पड़ती है, ईश्वरको पानेके लिए उतनी अकलकी जरूरत

नहीं, उससे थोड़ी अकलमें ईश्वर मिल जाय। ईश्वर तो बड़ा भोला-भाला है। वह तो थोड़ी ही अकल लगानेसे मिल जाय।

अकल क्या है उसकी! देखो वह भी बता देते हैं, आपसे छिपाते हुए नहीं!

चौदह कोटि ग्यान तोहि भाखौं—

कबीर दासने कहा कि मैं छिपाता हूँ भला।

चौदह कोटि ग्यान तोहि भाखौं। सार सबद बाहर करि राखौं।

चौंदह कोटि ज्ञानका उपदेश करता हूँ, लेकिन सार शब्द अभी छिपाकर रखा है भला!

धरमदास तोहे लाख दोहाई। सार सबद बाहिर नहिं जाई॥

अपने चेलेसे कहते हैं—

दूजा होय तब लेहु छिपाई। आपन होय तब देऊ बताई॥

आपना चेला हो तो बताना और पराया हो तो नहीं बताना। आपको बुद्धि बताते हैं, सीधी बुद्धि इसके सम्बन्धमें है कि आपकी अन्तरात्मा जिसको ईश्वर स्वीकार न करती हो, वहाँसे अपनी बुद्धिको हटा लें। और आपकी अन्तरात्मा जिसको ईश्वर स्वीकार करती हो, उसमें अपनी बुद्धिको लगाओ।

स्वामी शरणानन्दजी आते हैं, एक बार अभी आये थे हालमें, प्रज्ञाचक्षु हैं। वे कहते हैं कि अपने विवेकके प्रकाशमें जाने हुए असत्‌का परित्याग करो। बस बुद्धि इतनी चाहिए। जैसे तुम समझते हो कि झूठ नहीं बोलना चाहिए। तुम्हारी बुद्धि बताती है? तुम्हारे विवेकके प्रकाशमें यह बात है? हाँ है! अच्छा, तब इसको छोड़ो। बस ईश्वरकी प्राप्तिके लिए इतना ही काम करना। बुद्धियोग माने क्या? वेदान्ती यही बोलते हैं न! और क्या बोलते हैं? अपने विवेकके प्रकाशमें माने अपनेको ही जो चीज असत् मालूम पड़ती है तुम जिसको गलत समझते हो. उसको छोड़ो। यही बुद्धियोग है।

ददामि बुद्धियोगं तं। बुद्धि ईश्वरके लिए होवे। जैसे कर्म ईश्वरके लिए, तब ऐसा कर्म-कर्मयोग। अच्छा सुतीक्षणकी भक्ति ईश्वरके लिए-भक्तियोग। प्रह्लादकी भक्ति, ध्रुवकी भक्ति ईश्वरके लिए-भक्तियोग। वैसे तुम्हारी जो अकल है, वह ईश्वरकी ओर चलनेमें तुम्हारी मदद करे। जब तुम्हारी बुद्धि सीधे घुस जाय। मैंने एक मुसलमानके मुँहसे सुना था, बनारसमें वह व्याख्यान दे रहे थे। बोले कि देखो बरसा हो रही है, तो साईंसदाने क्या कहा कि धुँआ, आग, हवा, पानी मिलकर बरस रहा है, बल्कि पानी बादल बनकर बरस रहा है। एक देवतावादीने क्या

कहा—कि इन्द्रदेवता बैठे हैं, उन्होंने मेघोंको हुकुम दे दिया कि वर्षा करो तो बरस रहा है। और एकने जब वर्षा होते देखा तो उसने कहा कि यह खुदाकी कुदरत है, ईश्वर पानी बरस रहा है।

येन मामुपयान्ति ते तेन बुद्धियोगेन।

जिस बुद्धियोगके द्वारा मामुपयान्ति—मेरे पास आते हैं। थोड़ा और पास खिसक आओ। किसके? कि ईश्वरके। ऐसी मदद करेगा वह तुम्हारी। ऐसा सहारा। यह समझो कि लोग दो हजार दस हजार, लाख दो लाख रुपये इकट्ठा करके रखते हैं। काहेके लिए? कि यह संकटमें हमको काम देगा। रुपया इकट्ठा करनेका क्या अभिप्राय है? यही न कि कोई विपत्ति पड़ेगी, कोई संकट पड़ेगा तो हमको काम देगा।

हम आपको सीधी बात कहते हैं कि यदि आप विपत्तिमें सहायताके लिए ईश्वरसे प्रेम करके रखो, तो ऐसी मदद मिलेगी जो पैसेसे नहीं मिलती है। देखो जीवनमें कोई बिछुड़ता है कि नहीं बिछुड़ता है? कभी कोई मरता है कि नहीं मरता है? कभी धनकी कमी होती है कि नहीं होती है? कभी शरीरमें रोग होता है कि नहीं होता है? यह विपत्ति आती है न! अगर आप ईश्वरसे प्रेम करके रखोगे तो आपको कोई दुःख-दुःख नहीं मालूम पड़ेगा, पैसा इकट्ठा किया हुआ आपकी उतनी मदद नहीं कर सकता, ईश्वरकी भक्ति इकट्ठी की हुई विपत्तिके समय, संकटके समय आपकी जितनी मदद कर सकती है। तो भगवान्‌के पास खिसक आना है—**मामुपयान्ति**। भगवान् कहते हैं मेरे पास आ जाता है। उप माने पास। यान्ति माने जाना और माम् माने मेरे। बुद्धियोगी कौन है? बुद्धियोगी वह है जो ईश्वरके पास खिसक गया।

ईश्वरके कितने पास खिसक गया? अब देखो यहीं मतभेद होगा। श्रीरामानुजाचार्य कहेंगे कि उनका सेवक होकर उनके पास पहुँच गया। श्रीशंकराचार्य कहेंगे कि इतने पास पहुँचा, इतने पास पहुँचा कि उसके और ईश्वरके बीचमें कोई फोंफर नहीं रह गया, अवकाश नहीं रह गया, पोल नहीं रह गया। जैसे दो अंगुलीके बीचमें पोल है न! तो शंकराचार्य कहते हैं कि इतने पास पहुँच गया कि दोनोंके बीचमें कोई पोल नहीं रही। रामानुजाचार्यजी कहते हैं कि इतने पास पहुँच गया कि उनको चन्दन लगा सके, उनके बालमें कंघी कर सके, उनके गलेमें माला पहना सके, उनका पाँव दबा सके, इतने पास पहुँच गया। **येन मामुपयान्ति ते**। यह उनके पास पहुँचना है।

अब बोले कि भगवान् कहते हैं कि हम इतना ही नहीं करते हैं और भी कुछ करते हैं।

तेषामेवानुकम्पार्थमहमज्ञानजं तमः।
नाशयाम्यात्मभावस्थो ज्ञानदीपेन भास्वता॥ 11॥

भक्ति-सिद्धान्तमें बड़ी विचित्र बात है। वे कहते हैं कि जब कोई भक्त भगवान्की ओर चलता है तो भगवान् आश्रयण सौकर्यापालन करते हैं कि उनके पास आजाय, मशाल लेकर पहुँच जाते हैं कि भाई अँधेरेमें इसको कहीं ठोकर न लग जाय। और जब ऊँचे सिंहासन पर बैठे होते हैं और कोई नन्हा-मुन्ना भक्त आता है तो झट अपना हाथ लटका देते हैं कि पकड़कर ऊपर आजाय—आश्रयण सौकर्या पालन। और, आश्रित-कार्य निर्वाहक। जो उसका काम है सो बना देते हैं। पहले भक्तिकी, भक्ति योगीको बुद्धि योग दिया।

भगवान् कहते हैं कि जब कोई भगत आता है हमारे सामने। बुद्धियोगी होकर आता है और देखते हैं कि अभी मैं इसको नहीं मिला तो बोले कि उसके दिलकी कँपकपी देख करके मेरा दिल भी काँपने लगता है। आप कभी अनुभव करना, आप देखो किसीको, जाड़ेमें बिलकुल थरथर काँप रहा हो, उसके पास ओढ़नेको कपड़ा न हो, आप देखोगे तो ऐसी दया आवेगी आपके हृदयमें कि आपका दिल भी थर-थर काँप जायेगा। जब ईश्वर देखता है कि इसने मुझसे प्रेम किया और जो अपनी अकल लगाकर मेरे पास आरहा है, तो उसके दिलके कम्पनको देखकर ईश्वरका दिल भी काँपने लगता है। अनुकम्पा—इसको बोलते हैं।

कापि किंचित् चलने। यह '**कपि**' धातु किंचित् विचलित होनेके अर्थमें है। **कम्पनं कम्पा** और **कंपनं अनुकम्पनं अनुकम्पा।** एकको काँपते देखकर दूसरेका काँपने लगना यह अनुकम्पा है।

ईश्वरका दिल प्रेमीके दिलको उछलते जब देखता है, तो ईश्वरका दिल भी उछलने लगता है। और ईश्वर जब देखता है कि हमारा प्रेमी सुस्त है तो वह भी सुस्त पड़ जाता है।

तुम्हारे दिलसे ही ईश्वरका दिल बनता है। असलमें ईश्वरका दिल और तुम्हारा दिल अलग-अलग नहीं है, तुम्हारे ही दिलसे ईश्वर दिलवाला है।

तो करता क्या है? बोले अज्ञानतमको दूर करता है। कि काहेसे? एक भासवान् दीपके प्रकाशसे। अब बड़ी अद्भुत बात है। देखो ज्ञानमें और अज्ञानमें

कौन कमजोर है और कौन जोरदार है। जो लोग वेदान्ती प्रक्रिया जानते हैं, उनकी समझमें यह बात बहुत जल्दी आवेगी। एक तो ज्ञानस्वरूप आत्मा होता है, तो आत्मा तो ज्ञानस्वरूप है ही है। वह तो न कभी पैदा हुआ न कभी मरता है—

वेदाविनाशिनं नित्यं य एनमजमव्ययम्।
कथं स पुरुषः पार्थ कं घातयति हन्ति कम्॥ 2.21

वह आत्मदेव तो अजर-अमर-अविनाशी-अखण्ड-परिपूर्ण-अद्वितीय-एकरस हैं ही हैं। लेकिन यह जो वृत्तिरूप ज्ञान होता है, यह उदय होता है और नष्ट होता है। तो इस वृत्तिका क्या बल है और जो अज्ञान है उसका क्या बल है! आओ बलाबलका विचार करें। अज्ञानको अपने विषयका बल नहीं होता। जिसके बारेमें अज्ञान होता है, उससे अज्ञानको कोई मदद नहीं मिलती। अज्ञानको केवल अपने आश्रयका बल रहता है, जिसको अज्ञान है वह अपने अज्ञानको पकड़कर बैठा रहता है **अहं अज्ञः अहं अज्ञः**। जिसके बारेमें अज्ञान है वह अज्ञानको कोई बल नहीं देता। वह अज्ञानके बलको मिटानेकी ही कोशिश करेगा, अज्ञानके बलको बढ़ावा कैसे देगा? पर ज्ञानकी क्या तारीफ है? कि वह जिसका ज्ञान होता है उसका भी बल उसको मिलता है और जिसमें रहता है उसको भी बल मिलता है। ज्ञानवृत्तिको अपने आश्रयसे और अपने विषयसे—दोनोंसे बल मिलता है।

इसीसे दोनोंके बीचमें पड़कर वृत्ति कहती है हमारे रहनेकी कोई जरूरत ही नहीं है, तुम्हीं दोनों रहो। तुम दोनों दो इसलिए हो कि बीचमें मैं हूँ। अब मैं निकल गयी बीचमें-से, तो तुम दोनों एक हो। ज्ञानवृत्तिके एक ओर उसके आत्मा-ज्ञाता और एक ओर ज्ञेय ब्रह्म। ज्ञेयकी यथार्थ वस्तु भी वृत्तिको बल देती है कि देखो मेरा यथार्थ स्वरूप यह है और आश्रय भी बल देता है कि मैं असंग द्रष्टा यों हूँ। ब्रह्म देश, काल, वस्तुसे अपरिच्छिन्न सजातीय, विजातीय, स्वगत-भेदसे रहित, अविनाशी; अविनाशी माने काल-परिच्छेदसे रहित, परिपूर्ण माने देश-परिच्छेदसे रहित, अद्वितीय माने विषय-परिच्छेदसे रहित और तुम्हारे प्रत्यक् चैतन्यसे अभिन्न सर्वाधिष्ठान स्वयं प्रकाश ब्रह्ममय; ब्रह्म भी वृत्तिको बल दे रहा है क्योंकि ज्ञान वस्तु तन्त्र होता है और इधर प्रत्यक् चैतन्य कहता है—मैं कभी मरनेवाला नहीं। मैं कभी अज्ञ होनेवाला नहीं। मैं कभी अप्रिय होनेवाला नहीं मैं सदा परमानन्दस्वरूप ज्ञानस्वरूप हूँ। इधर आत्मा भी बोल रहा है, परमात्मा भी बोल रहा है, बोले—दोनों तो एक ही बात बोल रहे हो! वृत्ति कहती है अरे बाबा, हमारे बीचमें आनेसे तुम अलग क्यों बोलते हो? लो हम

हट जाते हैं बीचमेंसे। वृत्ति बाधित हो जाती है और दोनों एक हो जाते हैं। तो **अज्ञानजं तमः**। यह तम जो है हम उसको कहते हैं—तमस् चित्तमें बढ़ गया—यह बात कब मानना! लौकिक बात एक सुनाता हूँ—तमस् शब्दका अर्थ है संस्कृत भाषामें *तमु ग्लानौ। ताम्यति ग्लायति अनेन इति तमः।* जिससे मनुष्यके मनमें ग्लानि बनी रहती है कि हमसे यह गलती हुई, हमसे यह गलती हुई, हमारे अन्दर यह कमी है, हमारे अन्दर यह कमी है, आदमी अपनी कमी-कमीको ही जब देखने लगता है और अपने अन्दर मौजूद ईश्वरको नहीं देख पाता, अपने अन्दर मौजूद सत्-चित्-आनन्दको नहीं देख पाता, तो उसका नाम होता है तमस्। यह मोह है। यह अन्धेरा है। यह कहाँसे आया? कि अज्ञानजं। परमात्माको न पहचाननेसे आया। तो अब कैसे दूर होवे? तो परमात्मा कहते हैं—**ज्ञान दीपेन भास्वता**। मैं एक ज्ञानका दीपक जलाकर देता हूँ। कि भाई, उस दीपकका स्वरूप क्या है? कि विवेक-प्रत्यय! यह उसका स्वरूप है। आत्मा अनात्माका विवेक करके, सत् और असत्का विवेक करके, चित् और अचित्का विवेक करके, प्रिय और अप्रिय, दुःख और सुखका विवेक करके, सुखस्वरूप, चित्स्वरूप, सत्स्वरूप आत्मा है। और अन्य जो है वह दुःखस्वरूप है, अचित्स्वरूप है और असत्स्वरूप है, मिथ्या है। यह विवेक प्रत्यय ही इस ज्ञानदीपका स्वरूप है। यह उसकी लौ है भला! तो बोले उसमें तेल काहेका है? वही जो भगवान्‌के प्रति भक्तिका स्नेह है, वही उसका तेल है। और उसमें जलती हवा कौन-सी है? कि—**मद्भावना विनिवेशः**, निरन्तर भगवच्चिन्तन रहे, इस भावनाका जो विनिवेश है यही उसमें हवा बनकर लौको ऊपर ले जाती है। और, उसमें बत्ती काहेकी है? कि प्रज्ञाकी। ब्रह्मचर्यादि साधन सम्पत्तिसे युक्त, संस्कारसे युक्त जो प्रज्ञा है, यह उसमें बत्ती है। कि दीया काहेका है? कि विरक्त अन्तःकरण उसका आधार है। और, विषय बाहरके घुस न जायँ ऐसा अपने अन्तःकरणको निर्मल बनाना, निर्विषय करना यही कमरा है और नित्य प्रवृत्त जो एकाग्र्य ध्यान जनित जो सम्यक् दर्शन है यह उसमें ज्योति प्रभा है। उसका प्रकाश है। ऐसा ज्ञान दीपक लेकर मैं आता हूँ और मैं कहता हूँ—अरे बाबा, मैं और तुम दोनों दो जगह नहीं ठहरेंगे कि तुम दाहिने रहो हम बाँये। दाहिने बाँये तो पति-पत्नी रहते हैं। आओ हम आमने-सामने रहें, यह आमने-सामने तो माँ-बेटे रहते हैं, गोदमें लेकर बेटेको माँ बैठती है, वह नहीं, हम वैसे नहीं रहेंगे, हम पति-पत्नीकी तरह नहीं रहेंगे, हम मित्र-मित्रकी तरह नहीं रहेंगे,

हम स्वामी-सेवककी तरह नहीं रहेंगे। कैसे रहेंगे? बोले—जो तुम सो ही मैं। आत्मभावस्थ-ऐसा होकरके मैं वह प्रकाशमय ज्ञानदीप प्रकट करता हूँ। तुमसे अलग मैं नहीं और मुझसे अलग तुम नहीं।

'आजकल तो वह भाव छूट गया. हमारे पितामहकी मृत्यु होगयी थी, हमारे एक बड़े मित्र थे, पूरे दोस्त थे उन दिनों, तो वे आये। हम लोगोंके यहाँ ऐसा होता है कि जब सूतक-पातक होता है, तो किसीको घरमें खिलाते नहीं हैं। बच्चा होवे घरमें तब भी नहीं खिलाते हैं और मर जाये तब भी नहीं खिलाते हैं। वे ब्राह्मण थे। हमारे मित्र थे, पण्डित थे; जब वे आगये, उन पातकके दिनोंमें, तो मैंने उनके लिए भोजनकी व्यवस्था अलग कर दी। एक दिन तो खा लिया उन्होंने, तो बोले—अगर हमारे बाबा मर जाते तो हम अपने घरमें खाते कि नहीं खाते? खाते। अपने घरमें ही खाते। बोले कि तुम्हारे बाबा मर गये, तो वे तो हमारे ही बाबा थे। तुम जैसे खाते हो वैसे हम भी खा लेंगे।

जहाँ प्रेम होता है, वहाँ वह दूरीको मिटाता है, पर्देको हटा देता है, परायेपनको मिटा देता है। ईश्वर जब आता है हमसे मिलनेके लिए या हम जब जाते हैं ईश्वरसे मिलनेके लिए, तो न हम जाते हैं, न वह आता है, वह तो पहलेसे दोनों एक जगह हैं। लेकिन मिलनेके लिए ईश्वरका मिनट दूसरा है और हमारा मिनट दूसरा है, तो मिलेंगे कैसे? तो मिनट तो दो होंगे नहीं।

अच्छा ईश्वरकी शकल-सूरत दूसरी और हमारी शकल-सूरत दूसरी! अच्छा, ईश्वरका स्थान अलग, वह दाहिने खड़ा और हम बाँयें! वह सामने खड़ा और हम उसके सामने! इस तरह ईश्वरसे नहीं मिल जाता है भला! ईश्वर परिपूर्ण होता है, परिपूर्णसे मिलनेका जो ढंग होता है वह ईश्वरसे मिलनेका ढंग है। आत्मा भी देश, काल, वस्तुके परिच्छेदनसे रहित। तो परिच्छेदसामान्याभाव, परिच्छेद सामान्य और उसका अत्यन्ताभाव—दोनोंका जो अधिष्ठान है वह बिलकुल एक होता है स्वयं-प्रकाश चेतन। यह परमात्माके मिलनेकी पद्धति है।

अच्छा, अब फिर इसकी थोड़ी चर्चा कल करेंगे।

☆

अहं सर्वस्य प्रभवो मत्तः सर्वं प्रवर्तते।
इति मत्वा भजन्ते मां बुधा भावसमन्विताः॥ 8 ॥
मच्चिता मद्गत प्राणा बोधयन्तः परस्परम्।
कथयन्तश्च मां नित्यं तुष्यन्ति च रमन्ति च॥ 9 ॥
तेषां सततयुक्तानां भजतां प्रीतिपूर्वकम्।
ददामि बुद्धियोगं तं येन मामुपयान्ति ते॥ 10॥
तेषामेवानुकम्पार्थमहमज्ञानजं तमः।
नाशयाम्यात्मभावस्थो ज्ञानदीपेन भास्वता॥ 11॥

तेषामेवानुकम्पार्थं अहं अज्ञानजं तमः—

अब भगवान् स्वयं अपने मुँहसे अपने भक्तपर जो विशेष कृपा करते हैं, उसका वर्णन कर रहे हैं। शिष्टाचार तो ऐसा है कि अगर किसीका कोई उपकार करे, उसके ऊपर कृपा करे, तो अपने मुँहसे न बतावे कि हमने तुम्हारे ऊपर यह कृपा की है। किसीसे प्रेम करे, तो उसके ऊपर दबाव न डाले कि हम तुमसे प्रेम करते हैं और तुम्हारी यह सेवा करते हैं, तुमको यह देते हैं। जिससे प्रेम किया जाता है, उसपर बोझ न बढ़ावे। प्रेमीका काम बोझ घटाना है, बोझ बढ़ाना तो नहीं है। वह अपने प्रीतमके ऊपर एहसानका बोझ न डाले कि हमने तुम्हारी यह सेवा की। परन्तु यह एक ऐसी बात है कि भगवान् जो कृपा जीव पर कर रहे हैं और भक्तपर जो प्रेम कर रहे हैं, वह संसारी जीवोंकी समझमें, भक्तोंकी समझमें जल्दी आती नहीं है।

अच्छा भाई न आवे? नहीं, जबतक आवेगा नहीं समझमें, तबतक उनका कल्याण नहीं होगा।

तो यह भी कृपापर कृपा है, माने डबल कृपा है—**ददामि बुद्धियोगं तं येन मामुपयान्ति ये।** यह एक कृपा है। और **तेषामेवानुकम्पार्थमहमज्ञानजं तमः।** इस बातको बता देना—यह दूसरी कृपा है। क्योंकि जो कृपाको समझे नहीं, स्नेहको समझे नहीं, प्रेमको समझे नहीं, उसके ऊपर किया हुआ प्रेम, किया हुआ स्नेह, की हुई कृपा भी अपना फल नहीं दिखाती है। क्योंकि उसके हृदयकी जो रुक्षता है,

जो कठोरता है हृदयमें, वह दूर नहीं होती है। इसलिए भगवान् कृपा करके यह बात भी बताते हैं—तो **तेषामेवानुकम्पार्थं**—उनके ऊपर कृपा करनेके लिए। देखो 'तेषामेव' में जो 'एव' है, उसका अर्थ है उन्हींपर कृपा करनेके लिए।

कृपाका दो भाव पहले अपने ध्यानमें लें आपलोग। भगवान् देखते हैं ये जो हमारे भक्त हैं ये तो हमारे लिए ही नाचते हैं, हमारे लिए ही गाते हैं, हमारे लिए ही बजाते हैं, हमारे लिए ही गाते हैं, हमारे लिए ही बजाते हैं, हमारे अन्दर अपना मन लगाते हैं, अपनी बुद्धि लगाते हैं **मच्चित्ता मद्गत प्राणाः बोधयन्तः परस्परम्**। मेरी बात करते हैं मुझमें लगे रहते हैं, तो इनको प्रयत्न करके कर्तृत्व पूर्वक लगे रहना पड़ता है। इन्हें जोर लगाकर हमको पकड़ना पड़ता है। अब इनके ऊपर ऐसी कृपा करें कि जिससे इनको जोर न लगाना पड़े। अभी इनको मन लगानेके लिए कोशिश करनी पड़ती है, बुद्धिसे विचार करनेके लिए कोशिश करनी पड़ती है, नाम लेना पड़ता है, चर्चा करनी पड़ती है, मेरे लिए बहुत प्रयत्न मेरे भक्तोंको, मेरे प्रेमियोंको करना पड़ता है। तो अब इनके ऊपर ऐसी कृपा की जाय कि इनको कोई परिश्रम न करना पड़े और मैं मिलता रहूँ। यह ज्ञानकी विशेषता हो गयी। भक्तिकी विशेषता यह है कि भक्त दोनों हाथसे भगवान्को पकड़े हुए है, मनसे, बुद्धिसे, प्राणसे, वाणीसे, कर्मसे भक्त अपने प्यारे भगवान्को पकड़े हुए है। यह भक्तिकी बात रही। अब भगवान्के हृदयमें कृपाका जब समुद्र उमड़ा तब उन्होंने कहा कि अब ऐसा कर दें कि किसीको पकड़ना न पड़े। तो—

तेषामेवानुकम्पार्थं—उनके ऊपर कृपा करनेके लिए कि जिससे वे साधनके परिश्रमसे मुक्त हो जाँय। साधन और साध्यभावकी निवृत्तिके लिए प्राप्त और प्राप्यका जो भाव होता है, उसकी निवृत्तिके लिए अप्राप्तपनेका भाव ही काट देते हैं। यह कृपा है देखो। अब यह ज्ञानकी बात आगयी न! साध्य-साधनका भ्रम काट देते हैं भगवान्। एक कृपा तो यह हुई।

अब दूसरी कृपा देखो। अरे कोई बहुत बढ़िया सम्पत्ति हो अपने पास और अपनेसे कोई प्रेम करे। तो हम कहें कि भाई यह सम्पत्ति ले ले और वह कहे कि हम नहीं लेंगे। तो क्या उसके ना करनेसे ही नहीं देना चाहिए? यह एक प्रेमकी बात है। जैसे वह कहता है कि हम नहीं लेंगे और देनेवाला कहता है कि हम देंगे तो क्या देनेवालेको चुप हो जाना चाहिए कि यह तो नहीं लेता है। कि नहीं, जिसके मनमें देनेकी उमंग होती है, वह तो मना करनेपर और बढ़ती है। यह प्रीतिकी रीति उलटी है। यह नहीं कि हम कहें कि आओ तुम हमारी सेवा करो और सेवा करनेवाला कहे

कि हमको अभी अवकाश नहीं है। गुरुजी कहें कि हे चेलाजी, जरा हमारा पाँव तो दबा दो! तो कहे—महाराज अभी हमको बहुत जरूरी काम है। यह तो नहीं बनेगा। देंगे कब? कि जब लेनेवालेको जरूरत होगी। वैसे देना हो तो तुम किसी गरीबको देना, किसी अस्पतालमें जाकर देना। प्रेममें तो देना तब बनता है जब तक लेनेवाला बोले ना, और देनेवाला बोले हाँ। तब प्रेममें बनता है! अब देनेवाला ना बोले और लेनेवाला हाँ बोले तो वह प्रेमकी जो रीति है, वह बदल जाती है।

तो भक्त कहता है हम मोक्ष नहीं लेंगे **तेषामेवानुकम्पार्थं**—क्यों भाई भक्तजी, मोक्ष क्यों नहीं लेना चाहते? तो मोक्षमें बहुत-से दोष लिखे हैं। मोक्ष माने पेंशन लेना। भक्त लोग ऐसा समझते हैं। जैसे जन्म भर किसीकी सेवा की और सेवा करनेके बाद बोले—अब अलग रहेंगे, तो हमारे खाने-पीनेका बन्दोबस्त कर दीजिये। तो भक्ति-सेवा छोड़कर अब हम कैवल्य ब्रह्ममें—एकान्तमें रहना चाहते हैं। महाराज बहुत वर्ष होगये—पच्चीस वर्ष आपकी सेवा करते हो गये, अब हमारा मन एकान्त सेवनका है, वहाँ बिलकुल विरक्त होकर तपस्या करते हुए निवास करेंगे।

तो यदि भक्तका मन ही सेवासे ऊब गया और अपने स्वामीसे अलग होकर वह मोक्ष पद प्राप्त करना चाहता है तो चलो भाई क्या पूछना है? मालिक कहेगा—अच्छा बाबा जाओ अब तुम एकान्तमें रहो, अब तपस्या करो, हम तुम्हारे लिए सौ-पचास रुपये महीने दे दिया करेंगे, वहाँ मजेसे रहना।

यह मोक्ष भक्तिका, सेवाका मानो पुरस्कार है। पर कोई-कोई भक्त ऐसे हो जाते हैं कि उनसे कहो अब हम तुमको पेंशन देते हैं, बुड्ढे हो गये, घर जाकर रहो, तो भी कहते हैं—ना, हम सेवा ही करेंगे। हमको एक राजा मिले बिहारके, उनका नाम राजा राधिकारमणप्रसाद सिंह है, जब मैं उधर पटना जाता हूँ, कई बार आते हैं। तो बोले—हमारे पिताजीका एक सेवक था, तो जब अन्धा होगया, तब मैंने उससे कहा कि भाई अब तुम अपने घर रहो, हम तुम्हारे खाने-पीनेकी, रहनेकी व्यवस्था कर देते हैं अपने घरमें रहो। तो वह बोला—बाबू तुमको अपनी गोदमें लेकर मैंने खिलाया और तुम्हारा ब्याह अपनी आँखसे देखा, अब मैं बुड्ढा होगया, अन्धा होगया, अब कोई तुम्हारी सेवा नहीं कर सकता, तो अब मैं तुमको छोड़कर घर चला जाऊँ, हमारा दिल नहीं मानता है, अब हम देखते तो नहीं हैं आँखसे, लेकिन तुम्हारी बोली सुने बिना हमसे नहीं रहा जाता है। हमको कोई ऐसी सेवा दो कि मृत्यु पर्यन्त करें। बोले—उसको यह सेवा दी कि

ये पंखे नहीं थे जब—वहाँ बिजली नहीं थी, वह बैठकर बरामदेमें पंखा खींचता रहता था और खुश था। थोड़े दिनों बाद बिजली आगयी गाँवमें, घरोंमें लग गयी, पंखा घूमने लगा, तो वह पंखा खींचनेकी सेवा उसकी छूट गयी। फिर राजा साहबने कहा कि भाई अब तो तुम अपने गाँव चले जाओ, अब तो पंखा खींचनेकी सेवा नहीं है। उसने कहा कि नहीं बाबू! यह बिजलीके पंखेकी हवा कैसी होती है, हमको मालूम नहीं है, हम तो बस जीयेंगे जबतक, तो तुम्हारे लिए पंखा खींचेंगे। तो बोले कि बिजलीका पंखा लग गया, तब भी उसके लिए यह सेवा रही कि वह पंखा खींच-खींचकर सेवा करता रहा, फिर वहीं मरा। उन्होंने अपने सेवककी बात, नौकरी करनेवालेकी बात बतायी।

अब कोई भगवान्‌का भजन करे और भक्तिका फल मुक्ति लेकर चला जाय, तो यह प्रेम कहाँ हुआ? तो प्रेमी लोग कहते हैं—**न नाकपृष्ठं न च पारमेष्ठ्यं**—हमको ब्रह्माका पद नहीं चाहिए, हमको स्वर्ग नहीं चाहिए, हमको बादशाही नहीं चाहिए **न योग सिद्धि अपुनर्भवं वा** हमको मोक्ष भी नहीं चाहिए, हम तो तुम्हींको चाहते हैं।

प्रेमी लोगोंका यह स्वभाव होता है, वे अपने सुखकी वस्तु नहीं चाहते हैं, अपने प्रियतमके सुखकी वस्तु चाहते हैं। बोले—जो तुम्हारे चरणारविन्दपर हाथ फिराते समय हमको मजा आता है, वह हमको ब्रह्मका ध्यान करते समय भी नहीं आता। श्रीमद्‌भागवतमें ऐसी बात आयी है—

या निर्वृत्तिस्तनुभृतां तव पाद पद्मध्यानात्भवज्जनकथा श्रवणेन वा स्यात्। 4.9.10

हमको तुम्हारी कथा सुननेमें जो मज़ा आता है, वह 'मैं ब्रह्म हूँ'—ऐसी वृत्ति होनेपर नहीं आता। भक्तलोग तो मना कर देते हैं कि हमको मोक्ष नहीं चाहिए। लेकिन भगवान् उनको मोक्ष दें कि नहीं? तो भक्तलोग जितना-जितना मना करते हैं, उतनी-उतनी कृपा भगवान्‌के मनमें आती है, उनकी निस्वार्थता देखकर, उनकी निष्कामता देखकर, उनकी निष्काम प्रीति देखकर।

कहते हैं—आओ भगतजी, तुमने हमारी बड़ी सेवा की, बड़ा सुख दिया, हम जरा आज एक तमाशा दिखाना चाहते हैं तुमको, हमारे पास एक ऐसी रोशनी है, एक ऐसा दीपक जलाते हैं कि उसकी रोशनीमें देखो क्या चीज है। बोले—महाराज! जब आप वह दीया जलाओगे, वह रोशनी जलाओगे, तो हमको ही हमको मजा आवेगा कि तुमको भी आवेगा? बोले—अरे भाई हमको भी मजा आ जावेगा भला! तुमको तो आवेगा ही, हमको भी बड़ा मजा आवेगा।

अच्छा, फिर तो जला दो महाराज। तो बोले—**ज्ञानदीपेन भास्वता**—भगवान्‌ने कहा कि मैं दीपक जलाता हूँ।

यह ज्ञानदीपक जलानेका अभिप्राय क्या है? पहले एक बात इसकी देखो। दीपक जलानेसे घरमें कोई चीज पैदा नहीं होती है जो होती है वही दीखती है। जैसे आपका बल्ब बन्द हो तो स्विच दबाया और बल्ब जल गया। बल्ब जल गया तो घरमें जो चीज पहलेसे मौजूद रहती है, वही दिखती है कि नयी चीज पैदा हो जाती है? तो अब बल्ब जला, तब अन्धेरा मिट गया। बल्ब जलानेका फल अन्धेरेका मिटना है, कोई घरमें फर्नीचर पैदा हो जाय बल्ब जलनेसे-ऐसा नहीं होता। अन्धेरा मिटता है।

ज्ञानका दीपक जलते ही जो यह मालूम पड़ने लगता है कि मैं नित्य-शुद्ध-मुक्त ब्रह्म हूँ—यह केवल अज्ञान और अज्ञानके कार्यकी, मिथ्या प्रत्ययकी निवृत्ति हुई, कोई नयी चीज पैदा नहीं हुई। अज्ञान होनेसे जो चीज नहीं मालूम पड़ती, वह चीज खोयी हुई नहीं होती।

देखो, तुम्हारे घरमें कोई चीज होवे और तुम्हारी पहचानमें न आती हो कि यही है, तो सिर्फ पहचानमें न आनेसे जो चीज खोयी हुई है, वह पहलसे घरमें मौजूद है, उसको लाना नहीं पड़ता और जो चीज सिर्फ मालूम पड़ जानेसे ही मिल जाती है, वह खोई हुई चीज ही नहीं, वह तो मालूम पड़नेसे ही मिल गयी।

ज्ञानसे मोक्ष मिलता है, इसका अभिप्राय क्या है? मोक्ष तो तुम्हारा पहलेसे ही है, न जाननेके कारण तुमको ऐसा मालूम पड़ता था कि मुझे मोक्ष नहीं है। इसलिए भगवान्‌ने यह नहीं कहा कि मैं मोक्ष देता हूँ।

किसीके पास लाख रुपया रखा हो और उसको मालूम न हो, कोई बाहरका आदमी आया बोला—देखो हम तुमको लाख रुपया देते हैं और एक पर्दा हटा दिया और घरमें लाख रुपया निकल आया। तो उसने लाख रुपया दिया नहीं, पहलेसे मौजूद लाख रुपयेको बताया। यह गुरुका काम हुआ। तो केवल अपने स्वरूपके अज्ञानके कारण, माने अपनेको न जाननेके कारण हम अपनेको समझते थे गरीब, हम अपनेको समझते थे दु:खी, हम अपनेको समझते थे बेवकूफ, हम अपनेको समझते थे जन्मने-मरनेवाला। पर थे कैसे? अजर-अमर-ज्ञानस्वरूप-सच्चिदानन्दघन, परमानन्दघन, परन्तु जानते नहीं थे। तो ज्ञानका दीपक जलाना—जला देना-माने, जो हमारी भूल थी, उसको मिटा देना। हमारी गरीबी मिट गयी, हमारी बेवकूफी मिट गयी, हमारे जन्म-मरण मिट गये, हमारा दु:ख मिट गया।

कहींसे कुछ आया? कि नहीं; आया नहीं, वह तो पहलेसे ही मौजूद था, हम पहचानते नहीं थे।

न खुदा न बन्दा था, मुझे मालूम न था।
दोनों इल्लतसे जुदा था, मुझे मालूम न था।

इल्लत माने जिसे वेदान्ती लोग उपाधि बोलते हैं। माया ईश्वरत्वकी उपाधि और अज्ञान जीवत्वकी उपाधि। जीवत्व कहाँसे आया? अज्ञानसे। ईश्वरत्व कहाँसे आया? मायासे। दोनों इल्लतसे जुदा था, न मुझमें अज्ञान था, न उसमें माया थी, परन्तु मुझे मालूम न था। तो भगवान्‌ने दीया जलाया और अज्ञानान्धकार दूर हुआ। अज्ञानान्धकार दूर होते ही मालूम हुआ कि अरे मैं कौन?

कहते हैं, एक राजाके घरमें बच्चा पैदा हुआ। थोड़े ही दिनोंके भीतर कोई डाकू उसको उठा ले गया। डाकूओंने उसको पाला-पोसा, बड़ा किया, डाकू बना दिया। वह समझता था कि मैं डाकू हूँ, मैं दस्युराजका पुत्र हूँ। एक दिन एक महात्माने उसको देखा और देखा कि इसके अन्दर तो बादशाहके लक्षण हैं, उसको याद आयी कि जितने वर्ष इसकी उम्र है, उतने वर्ष पहले अपने बादशाहके यहाँ बेटा हुआ था, वह चोरी चला गया था, कहीं यह वही तो नहीं है। अब महाराज पता लगाया, पहचानका पता लगाया, वह जो बालक हुआ था, उसके बाल ऐसे थे, वह जो बालक हुआ था, उसके शरीरपर ऐसा दाग था, ऐसा निशान था। पता लगाकर देखा कि है तो वही। अब महाराज, उसको समझाने लग गये कि अरे भाई तुम काहेको अपनेको डाकू समझते हो? काहे डाकूका काम करते हो? तुम तो महाराजके पुत्र हो, महाराज हो, उनके उत्तराधिकारी हो। जब बात उसकी समझमें आ गयी, तो जो डाकू होनेका अभिमान था, वह निवृत्त होगया, वह अपनेको राजकुमार समझने लगा।

यह जो जीव होनेका अभिमान है अपने अन्दर, मैं पापी हूँ, मैं पुण्यात्मा हूँ, मैं सुखी हूँ, मैं दु:खी हूँ, मैं लोक-परलोकमें आने-जानेवाला हूँ और मैं परिच्छिन्न हूँ, यह तो जैसे अपनेको डाकूका बेटा समझना, ऐसा हो गया है।

है शुद्ध ब्रह्म, लेकिन अपने आपको न जानकरके, मिथ्या प्रत्यय हैं सब-के-सब अपने स्वरूपके अज्ञानसे, अपने ब्रह्मपनेके अज्ञानसे, यह सबकी सब मिथ्या प्रतीति है। यह झूठ-मूठ मालूम पड़ता है कि मैं ऐसा हूँ। अपनेको वैसा न जानना और अपनेको ऐसा मानना। अपनेको ब्रह्म न जानना और अपनेको जीव मानना। यह मिथ्या प्रत्यय है। अपने अन्दर जो जीवत्व है, यह हमारा स्थूल शरीर

जब चलता है तब मैं चलता हूँ, जब यह करता है, तब मैं करता हूँ। जब सूक्ष्म शरीर सोचता विचारता है, तब मैं सोचता विचारता हूँ, और सूक्ष्म शरीर जब नरकमें जाता है तो मैं जाता-आता हूँ—ये सब भ्रान्त विचार है। यह क्यों है? यह यों है कि अपने आपका जो असली स्वरूप है, उसको नहीं जानते हैं।

तो भगवान् क्या करते हैं? कि—

भास्वता ज्ञान-दीपेन अहं अज्ञानजनं तमः नाशयामि।

भगवान् कहते हैं कि ज्ञानका तीव्र प्रकाशवाला दीपक प्रज्ज्वलित करके मैं उनके अज्ञानजन्य तमको दूर कर देता हूँ। मैं ही वह अन्धेरा मिटाता हूँ क्योंकि भाई, उन्होंने अपनी वाणी मुझमें लगायी, उन्होंने कर्म मेरे लिए किया, वे जिन्दा रहे मेरे लिए, अपना मन मुझमें लगाया, अपनी समझदारी मुझमें लगायी, अपना सब कुछ उन्होंने मेरे लिए लगा दिया, तो क्या मैं एक बार उनके अन्तःकरणमें उजेला भी न कर दूँ?

देखो ऐसा देखनेमें आता है कि जो बड़े धनी होते हैं, बड़े लोग होते हैं, उनका नौकर अगर मैला कपड़ा पहने, फटा कपड़ा पहने और बाल ठीक न रखे और दूसरेके घरमें पाँच रुपया उधार लेने जाये, तो लोग क्या कहेंगे! यही कि वह बड़ा आदमी अपने नौकरका ख्याल नहीं रखता है। नौकरकी बदरहनीसे मालिककी भी बदनामी होती है।

हमने सुना कि अमेरिकामें काम करते समय भी, जितमी देर काम करते हैं, उतनी देर तक नौकर और जो काम लेता है सो मालिक, और जब उसका वेतन मिल गया और दोनों होटलमें भोजन करने जब पहुँचे, तो एक ही मेजपर बिलकुल बराबरीसे बैठकरके भोजन करते हैं।

हमारे एक मित्र जर्मनी गये थे अबसे तीस-पैंतीस वर्ष पहले। उनको अपना कपड़ा धोनेका अभ्यास नहीं था, वहाँका उनको भोजन नहीं करना था और वे पानी भी अपने हाथसे लेकर नहीं पीते थे, तो वह नौकर यहाँसे अपने साथ लेगये, अंग्रेज राज्य था जब की बात है। अब वहाँके लोग देखकर आश्चर्यचकित होंये, यह देखो कैसे बड़े आदमी, नौकर लेकर आये हैं। धीरे-धीरे वहाँकी बात समझकर उन्होंने अपनेको बदला। फिर अपने नौकरकी पोशाक बदल दी और घरमें तो नौकर सब काम करे उनका। लेकिन जब खाना-पीना हो तब वे नौकरको अपने साथ ले जावें, अपने मेजपर बैठावें। कभी-कभी वह उनके कन्धेपर हाथ रख दे। अभी वह मालिक भी हैं, नौकर भी है, दोनों जिन्दा हैं और उसी

मालिकके पास वह नौकर जो बर्तन माँजनेका काम करता था, रहता है। लेकिन जब दोनों एक साथ चलते हैं मोटरमें, तो एक आँखसे देखकर कोई नहीं पहचान सकता कि यह मालिक है और यह नौकर है। अभी पैंतीस वर्ष होगये उनके पास रहता है। हमसे मिलते हैं कभी-कभी। वह नौकर भी मिलता है, मालिक भी।

वह मालिक क्या कि जिसका नौकर हमेशा नौकर ही रहे। आखिर वह नौकरी करने आया तो इसलिए, कि हम भी कभी मालिक बनें। इसीलिए तो वह आया है। तो बड़े आदमीकी शोभा इसमें होती है कि वह अपने सेवकको श्रेष्ठ पदपर पहुँचावे।

ईश्वरकी कोई सेवा करे और ईश्वर उसको श्रेष्ठ पदपर न पहुँचावे, तो इसमें फिर ईश्वरकी सेवा कौन करेगा? तो बोले—भाई, सेवकने हमारी सेवा की, भक्तने हमारी भक्ति की, और हमने ज्ञानका भासमान दीपक-प्रकाशवान दीपक जला करके उसके अज्ञान-जनित तमका, माने जितने ये झूठे ख्याल हैं, मिथ्या प्रत्यय हैं मिटा देता हूँ। यह अन्त:करण ऐसा होता है, जैसे फिल्म भरी हो। और जब बिजलीके प्रकाशका उसमें संयोग होता है, तो जैसे तस्वीर दिखती है पर्देपर, ऐसे संसारमें ये सब तस्वीर दिखती है। जो-जो हमारे अन्त:करणमें तस्वीर भरी है, वही दिखती है। जो इस रहस्यको नहीं समझता, वह पर्देमें दिखनेवाली तस्वीरको सच्ची समझ लेता है। भ्रान्तिमें है वह। जितना यह पाप है, पुण्य है, स्वर्ग है, नरक है, सुख है, दु:ख है, आना है, जाना है, भला है, बुरा है, ये अन्त:करणमें कोई लोकसे और कोई शास्त्रसे भरे हुए संस्कार हैं भला! यह ज्ञानस्वरूप जो आत्मा है, वह उस फिल्ममें-से जब अपनेको बाहर फेकता है संसार देखनेके लिए, तो अपने ही अन्त:करणमें जो तस्वीरें भरी हुई हैं, वे संसारमें दिखती हैं। उनको समझना चाहिए कि यह बाहर कोई चीज नहीं है, ये हमारे अन्त:करणमें जो संस्कार हैं सो दिख रहे हैं और मैं तो ज्ञान-स्वरूप हूँ—यह बात समझमें आनी चाहिए।

भगवान् क्या कहते हैं? कि सम्पूर्ण तमका उपादान कारण है अज्ञान—ऐसे देखो! यह संसारमें जितना मोह है, जितनी ममता है, जितना मेरा-तेरा है, जितना अपना-पराया है, इसका मूल कारण क्या है? अज्ञान। इस नासमझीका मूल कारण अज्ञान है। इन झूठे ख्यालोंका जो तरह-तरहके हैं इनका मूल कारण है अपने स्वरूपको न जानना, अपने आपको ब्रह्म न जानना रूप अज्ञान। उसीको भगवान् दूर कर देते हैं।

तो, अब दूर कैसे करते हैं? इसकी एक पद्धति देखो, दूर करनेका ढंग भी

बहुत बढ़िया है। आप समझो कि आप ईश्वरके दिलमें हो कि नहीं? यह जितनी सृष्टि है यह ईश्वरके संकल्पमें है। जैसे आपके संकल्प हैं। जुदा-जुदा सृष्टि होती है। देखो आपके घरमें एक स्त्री है। तो उस स्त्रीको माँ कहती है कि यह मेरी बेटी है, भाई कहता है मेरी बहन है। उसका बेटा कहता है माँ है। भतीजा बोलता है यह मेरी बुआ है। तो वह लड़की बुआ है, बहन है, कि माँ है, बेटी है? तो बुआपना, बहनपना, माँपना, बेटीपना यह तो निकला मनसे।

तो दुःख और सुखमें क्या फर्क होता है, आपको कल सुनाया था। झूठ जो होता है उसमें केवल बोलनेवालेका बल होता है और सचमें बोलनेवालेका भी बल होता है और वैसी चीज है, तो उस चीजका भी बल होता है। एकने कहा कि एक गोला रखा है मेजपर। एकने कहा कि घड़ी रखी है। तो जिसने घड़ीको घड़ी बताया, उसको अपने बोलनेका भी बल है, देखनेका भी बल है और जरूरत पड़ेगी तो आकर दिखा देगा कि देखो यह घड़ी रखी है। घड़ीका भी बल है, क्योंकि घड़ी तो वहाँ मौजूद है और जिसने झूठ बोल दिया कि यह लोहेका गोला रखा है, उसको अपने बोलनेका, अपने जिदका बल है लेकिन वह जाकर किसीको गोला दिखा तो नहीं सकता। उसको विषयका बल नहीं होता है। सत्य वह होता है, ज्ञान वह होता है जिसमें ज्ञाताका अपना बल भी होता है और ज्ञेय वस्तुका भी बल होता है। जो चीज जानी जाती है उसका भी बल होता है और अज्ञान जो होता है उसमें केवल अपना ही बल होता है, वस्तुका बल नहीं होता है, दिखा कुछ नहीं सकते। बिलकुल ठनठनपाल। केवल जिद कर सकते हैं कि यह चीज ऐसी है। झूठमें वस्तुका बल नहीं है, सिर्फ बोलनेवालेकी अपनी हिम्मत है। वह जितनी हिम्मत करे और जितनी तेजी उसमें लावे और उससे लोगोंको बरगलानेकी कोशिश करे, उसके अन्दर जितनी बुद्धि होगी, जितनी शक्ति होगी जितनी वाणी होगी, उसके द्वारा वह झूठको सच सिद्ध करनेकी कोशिश करेगा।

तो झूठमें वस्तुका बल नहीं होता और सचमें वस्तुका बल होता है। इसलिए आप देखो कि यह जो परमात्माका ज्ञान है, आत्माका ज्ञान है, इसमें वस्तुका बल है।

असलमें संसारमें दुःखी कौन है? यह वेदमें एक 'सचि' शब्दका प्रयोग है, पंजाबमें तो नाम होता है लोगोंका सचिदेव, सचदेव नाम होता है, ऋग्वेदमें एक मन्त्रमें 'सचि' शब्दका प्रयोग है—

इतिवाद सचि इदं सखायं। न तस्य वाचि भागो अस्ति।

बोले कि अपने हृदयमें जो सच्चा दोस्त है, जो सखा है अपना, प्यारा आत्मा है उसको जिसने छोड़ दिया, उसको तो किताब पढ़नेका भी हक नहीं है। शास्त्रमें उसका कोई हिस्सा नहीं है। शास्त्रकी कोई बात वह नहीं समझ सकता, बहिर्मुख होनेके कारण। भीतर रहनेवाले दोस्तको ही छोड़ दिया, सच्चे दोस्तको छोड़ दिया उसका वाणीमें—शास्त्रका अर्थ समझनेमें उसका कोई हिस्सा नहीं है। जो उस दोस्तसे अपना रिश्ता जोड़े रहता है, वही अन्तर्मुख पुरुष शास्त्रके अर्थको समझ सकता है बहिर्मुख पुरुष उसको नहीं समझ सकता।

तो अब आओ, एक बात आप देखो। जहाँ तक आप अपनेको देहधारी समझते हो, मनुष्य, मनस्वी, बुद्धिमान अपनेको जहाँ तक समझते हो, वहाँतक आप अपनेको छोटा समझते हो, ज्यादासे ज्यादा सौ-सवासौ वर्ष उम्र, साढ़े तीन हाथकी लम्बाई-चौड़ाई और डेढ़ दो, ढाई, तीन मनका वजन; बस इतना ही हो न तुम। यह जो इतनी बड़ी चीज होती है, यह किसीकी गोदमें होती है।

देखो सौ वर्ष हजार वर्षकी गोदमें है कि नहीं? और तीन मन सौ मनकी गोदमें है कि नहीं? अच्छा और यह साढ़े तीन हाथ जो है वह एक मकानकी गोदमें है कि नहीं? पचास फुटकी गोदमें है कि नहीं है? जो साढ़े तीन हाथ है वह मकानकी गोदमें है। जो सौ वर्ष है वह हजार वर्षकी गोदमें है, जो ढाई मन है, दो मन है, डेढ़मन है, वह सौ मनकी गोदमें है, धरतीकी गोदमें है। जो छोटा होता है, वह बड़ेकी गोदमें होता है।

जैसे हमारे शरीरमें जितनी मिट्टी है, वह पृथिवीकी गोदमें है और जितना पानी है वह जलकी गोदमें है और जितनी गर्मी है वह सूर्य और तेजकी गोदीमें है। जितनी बुद्धि है इस शरीरमें वह सर्वज्ञकी बुद्धिमें है। और जितनी इसमें शक्ति है वह सर्वशक्तिमानकी गोदमें है। जबतक तुम अपनेको परिच्छिन्न मानोगे, तबतक अपना आधार भी तो होगा। जहाँतक अपनेको परिच्छिन्न मानोगे, निराधार हो नहीं हो सकते। एक चिड़िया उड़ती है तो आसमानमें उड़ती है। एक माटीका कण होता है तो वह धरतीमें-मिट्टीमें होता है। इसी प्रकार ये नन्हें-मुन्ने पशु हैं, पक्षी हैं, मनुष्य हैं, ये सब, सबसे बड़ी जो वस्तु है उसकी गोदमें ये रह रहे हैं। ईश्वरकी गोदमें जीव है। लेकिन ईश्वरकी गोदमें यह रहनेपर भी जो फायदा होना चाहिए वह इसको नहीं हो रहा है। यही आश्चर्य है! क्या आश्चर्य है कि ईश्वर तो हमेशासे इसको अपनी गोदमें ढो रहा है, अनन्तकोटि ब्रह्माण्डको और जुँएको भी अपनी गोदमें ही रखता है। जुँएको भी अपनी गोदमें ही रखता है। जुँए भी, खटमल भी, कीड़े भी,

मकोड़े भी, पशु भी, पक्षी भी, समूची सृष्टि ब्रह्माकी गोदमें रहती है। और ब्रह्माण्डोंके सभी ब्रह्म उसकी गोदमें।

ईश्वरके संकल्पमें, ईश्वरके भावमें ही सबकी स्थिति है। सर्वाधारमें यह सृष्टि आधेय है तो तुम्हारा शरीर भी आधेय है। सर्वशक्तिमानमें तुम्हारी शक्ति एक अंश है और वह ईश्वरमें कल्पित है और सर्व प्रज्ञाओंकी-बुद्धियोंकी जो समष्टि है, उस बुद्धिका मालिक वह ईश्वर है। आप ईश्वरको समझनेकी कभी कोशिश करें। जैसे आपका यह साढ़े तीन हाथका शरीर है, इसमें कितने जीव हैं, आपको मालूम है? कभी जाकर लेबोरेटरीमें खूनकी जाँचके समय माइक्रोस्कोपमें देखें अरबों कीड़े आपके शरीरमें हैं, अनगिनत हैं। लैबमें तो खूनके एक कतरेकी जाँच करके बताते हैं कि इसमें कितने लाख कोशिकाएँ हैं। कितने लाख सफेद हैं और कितने लाख भूरे हैं। यह सारा शरीर कीटाणुओंका है।

आप यों समझो कि आपका शरीर एक ब्रह्माण्ड है और इसमें जो कीटाणु हैं, वे जीव हैं। इनका ईश्वर कौन है? कि आप। यह जो जीव हैं, यह शरीर इनका ईश्वर है। इनको पीनेके लिए दूध देता है। इनकी सृष्टि करता है अपने शरीरमें इनकी स्थिति करता है और जब कोई बढ़-घट जाते हैं, प्रलय करना होता है, तो वह कुनैनकी गोली खाता है महाराज, वह क्या है? वह चिरायता और वह पितपापड़ा और वे सफेद कीड़े जो हैं वे सबके सब मर जायँ और भूरे कीड़े पैदा हो जायँ। यह सफेद कीड़ोंको मारना क्या है? प्रलय करना है। आप इस शरीरमें जब जीवरूपसे बैठे हैं ना, तो इसके ईश्वर हैं। और इसमें जो कीटाणु हैं उनको जिलाना, उनको मारना, उनको विश्राम देना, उनसे काम लेना, यह सब आप करते हैं। जैसे इस देहका अभिमानी इस देहमें रहनेवाले जीवोंका मालिक है, वैसे जो यह ब्रह्माण्ड है, यह किसीका देह है और उस ब्रह्माण्डमें रहनेवाला जो है वह ब्रह्माण्डमें रहनेवाले जीवोंका मालिक है। जैसे शरीरमें भी हिन्दुस्तान और पाकिस्तान हैं और उनमें भी हिन्दुस्तान और पाकिस्तानकी लड़ाई होती है। वैसे ही ब्रह्माण्डमें भी हिन्दुस्तान और पाकिस्तानकी लड़ाई होती है। उसमें भी कुछ दाढ़ीवाले होते हैं और कुछ चोटीवाले होते हैं। उसमें भी कुछ निराकार और कुछ साकारको माननेवाले होते हैं। उसमें भी उनके गुरु अलग-अलग होते हैं, उनमें भी उनके इष्टदेव अलग-अलग होते हैं। उनके भी सम्प्रदाय होते हैं, उनके भी गुट होते हैं, उनके भी खाने-पीनेका नियम होता हैं, मर्यादा होती है, एक शरीरके भीतर। ऐसा होता है एक ब्रह्माण्डमें और ऐसा होता है अनन्तकोटि ब्रह्माण्डमें।

जो कोटि -कोटि ब्रह्माण्डको अपना शरीर समझता है, उसके शरीरमें ये जो ब्रह्माण्ड हैं ये ग्रन्थि सरीखे हैं और एक-एक ग्रन्थिमें जैसे बहुतसे जीव होते हैं, वैसे ये मनुष्य-पशु-पक्षी आदिके शरीर उसमें होते हैं।

जब सृष्टिके आधारका और आधेयका विवेक करते हैं, जब कार्य और कारणका विवेक करते हैं, जब सर्वज्ञ और अल्पज्ञका विवेक करते हैं जब सर्वशक्ति और अल्पशक्तिका विवेक करते हैं, जब सर्वशक्ति और अल्पशक्तिका विवेक करते हैं, तब देखनेमें आता है कि यह जीव ईश्वरके एक अंशमें है, यह सर्वज्ञ ईश्वरके एक अंशमें अल्पज्ञ है। वह सर्वाधार परमेश्वरके भीतर एक छोटेसे आधारमें बैठा हुआ है, ऐसा मालूम पड़ता है।

तो ईश्वरके संकल्पमें यह ब्रह्माण्ड भी है और यह जीव भी है। लेकिन इससे तो कल्याण होता नहीं, ईश्वरमें तो सब है। तब कल्याण कैसे होवे? जैसे ईश्वर अपनेमें हमको देखता है, उसका तो बड़ा प्रेम; वैसे जब हम अपनेमें ईश्वरको देखने लग जायँ; ईश्वरके संकल्पमें जैसे हम हैं वैसे जब हमारे संकल्पमें ईश्वर दिखे, जैसे ईश्वरमें जीव रूपसे हम मौजूद हैं, यह बात अज्ञान कालमें मालूम पड़ती है, ईश्वरके एक संकल्पमें कल्पित रूपसे ये अनन्त कोटि ब्रह्माण्ड और इनमें रहनेवाले पशु-पक्षी-जीव मालूम पड़ते हैं, होंगे; वैसे जब ईश्वर **आत्मभावस्थः**—हमारे भावमें आकर ईश्वर बैठ जाय। अनन्तकोटि ब्रह्माण्डोंकी संकल्पना-विकल्पना करनेवाला परमेश्वर, जब आकर हमारे भावके एक कोनेमें बैठ जाय तब क्या होगा?

नाशयाम्यात्मभावस्थो ज्ञानदीपेन भास्वता।

वह अनन्तकोटि ब्रह्माण्ड नायक, वह त्रिलोकीनाथ, वह कारणोपाधिक परमात्मा, वह मायोपाधिक परमात्मा जिसके कल्पित संकल्पके एक अंशमें यह समूची सृष्टि है, जब वह परमात्मा आकर तुम्हारे भावमें बैठ जाय। भाई बराबरीका काम तो तब बनेगा न! वह तो हमें अपने संकल्पमें रखे और हम उसको अपने संकल्पमें न रख सकें तो अज्ञानकी निवृत्ति होगी कहाँसे? इसीलिए उन्होंने बताया—

तेषामेवानुकम्पार्थमहमज्ञानजं तमः।
नाशयाम्यात्मभावस्थो ज्ञानदीपेन भास्वता॥

कि यह अज्ञानकी निवृत्ति कैसे करते हो महाराज? बोले कि जब उसके संकल्पके एक कोनेमें आकर बैठ जाता हूँ बस देर इतनी है कि ईश्वरने तुमको अपने संकल्पमें बिठा रखा है इतनी देरसे कि जिसकी गिनती नहीं और तुमने

अपने भावके किसी अंशमें उसको नहीं बैठाया? तो **आत्मभावस्थः** का अर्थ है कि ब्रह्माकार वृत्ति, तदाकार वृत्ति—वृत्ति ज्ञान हो करके आत्मभावस्थः आभास सहित जो वृत्ति है, निराभास वृत्ति नहीं, आभास सहित बृत्तिमें जब आकर ईश्वर बैठता है तो वृत्तिके छोटेपनका जो पर्दा है और वृत्तिमानके छोटेपनका-परिच्छिन्नताका जो पर्दा है वह टूक-टूक हो जाता है।

यह वृत्तिका पर्दा फटता कैसे है? जब जो चीज वृत्तिसे बड़ी है, वह वस्तु वृत्तिका विषय बन करके वृत्तिके अन्दर आवे। फिर अकल्पित जो वस्तु है वह आकर कल्पनाके पर्देको फाड़ दे, तब यह फटता है।

आत्मभावस्थः का अर्थ है—

मच्चित्ता मद्गतप्राणा बोधयन्तः परस्परम्—होकरके भजन करते हैं, उनके भावमें आकर मैं बैठ जाता हूँ—**आत्मभावस्थः** और जब अपने भावमें बैठे हुए ईश्वरको देखते हैं कि यह कौन ईश्वर है वह इसमें पूर्व-पश्चिम, उत्तर-दक्खिन, ऊपर-नीचे, दायें-बायें—दसों दिशाओंकी कल्पना जिसमें है वह अवकाश जिसके संकल्पमें है, वह ईश्वर देखो मेरे मनमें और भूत-भविष्य-वर्तमान काल जिसके संकल्पमें है वह ईश्वर मेरे मनमें। और अनन्तकोटि ब्रह्माण्डकी कल्पना जिसमें है वह ईश्वर मेरे मनमें। जब वह मानस रूपमें दीखने लगता है, तब मानसरूपमें बैठकर क्या करता है? ऐसा दीपक जलाता है—**ज्ञानदीपेन भास्वता।** ऐसा दीपक जलाया कि अज्ञानान्धकारका ही नाश हो गया। और जहाँ अज्ञानान्धकारका नाश हुआ, वहाँ देश-काल-वस्तु, सजातीय-विजातीय, अपना-पराया—भेद-भाव, पाप-पुण्य, सुख-दुःख, आना-जाना, कार्य-कारण, जड़-चेतन, सत्-असत् जितना भेद था; वह सब-का-सब उस रोशनीमें एक बार ही बाधित हो गया—ऐसी रोशनी जली।

तो यह बात कौन करता है? कि वह हृदयमें बैठकरके **आत्मभावस्थः** जैसे ईश्वर हमसे तादात्म्यापन्न है, ईश्वर जैसे हमारी कल्पना करके बैठा है, अज्ञानकालमें यह सोचो कि ईश्वर हमारी कल्पना करके और हमसे तादात्म्यापन्न होकरके बैठा है, और अब हम ईश्वरसे तादात्म्यापन्न होकरके बैठे हैं और समूची सृष्टि कल्पनामें फुर रही है।

तब ऐसे ज्ञानका प्रकाश होगा कि अज्ञानान्धकार भस्म हो जायेगा।

अब इस प्रसंगको फिर कल लेंगे।

☆

तेषामेवानुकम्पार्थमहमज्ञानजं तमः।

भगवान्‌ने यह बताया कि जिसके अज्ञान जनित तमको दूर करना होता है, उसके आत्मभावमें मैं स्थित हो जाता हूँ और फिर भासमान ज्ञानदीपकसे उसके अन्धकारको दूर करता हूँ। माने भगवान्‌को भी जब किसीका अज्ञान मिटाना होता है तो एक प्रक्रिया द्वारा अज्ञानको मिटाते हैं। ऐसे नहीं कि जहाँ बैठे हैं वहाँ बैठे-बैठे कह दिया कि जा, हे अज्ञान मिट जा। जैसे खुदा हुकुम दे दे—हे सृष्टि बन जा, और बन गयी। फिर कह दिया कि हे सृष्टि मिट जा, मिट गयी। तो यह बनाना और मिटाना रूप भी जो सृष्टि है वह खुदाके साथ लगी रही, वह तो फिरसे बनावेगा और फिरसे मिटावेगा। और यह जो संसार मिटानेकी प्रक्रिया है, यह तम मिटानेकी प्रक्रिया है, अन्धकार मिटानेकी प्रक्रिया है। तो भगवान् कहाँ बैठकर यह अज्ञानान्धकार मिटाता है? बोले—आत्मभावमें बैठकर—**आत्मभावस्थः।** आत्मभाव शब्दका अर्थ श्रीशंकराचार्यने भी और श्रीरामानुजाचार्यने भी दोनोंने करीब-करीब एक ही किया है।

शंकराचार्य कहते हैं—**आत्मनो भावोऽन्तःकरणाशय-स्तस्मिन्नेव स्थितः।** आत्मभाव माने अन्तःकरणका आशय, उसमें स्थित होकर तब अज्ञानको मिटाता हूँ।

श्रीरामानुजाचार्य महाराज कहते हैं कि—

मनोवृत्त्या विषयतया रक्षिता

मनोवृत्तिमें विषयके रूपसे, माने मनोवृत्तिमें साफ-साफ मालूम पड़ता है कि यह ईश्वर है। ऐसे बैठकर मैं अज्ञानतमको नष्ट करता हूँ।

तो पहले ईश्वरको बैठाने लायक अन्तःकरण चाहिए, यह बात आप पहले ध्यानमें रखो कि जब ईश्वरको अपने घरमें बुलाना हो तो घरकी सफाई करते हैं कि नहीं? राजाको बुलाना हो, गुरुको बुलाना हो, अपने माननीय अतिथिको अपने घर बुलाना हो, तो घरको साफ करते हैं, स्वच्छ बनाते हैं। अगर लिपाई-पुताई न भी करावें तो जो कूड़ा-कचरा होता है, उसको तो अलग कर देते हैं न! जब संसारमें

छोटा-मोटा मेहमान भी अपने घरमें आनेवाला होता है, तो उसके लिए घरकी सफाई करते हैं, और स्वयं परमेश्वर अपने हृदयमें आनेवाला हो और घरकी दिलकी सफाई न करें तो इससे बढ़कर बेवकूफी और क्या होगी?

आपको पहले कई बार सुनाया होगा, जब पंचम जार्ज आनेवाले थे काशीमें, तो काशीनरेश जो थे उन दिनोंमें, ईश्वर नारायण सिंह जी। ये फ्लश सिस्टमके शौचालय उन दिनों भारतवर्षमें नहीं थे। तो उन्होंने पंचम जार्जके लिए जो शौचालय था, उसको इत्रसे धुलवाया था, यह बात काशीमें प्रसिद्ध है। माने अपने मेहमानको दुर्गन्ध नहीं लगे, कोई अरुचिकर वस्तु उनकी आँखोंके सामने नहीं जाय, यह ध्यान मेजबानको रखना पड़ता है। सबसे पहली बात है कि तुम्हारे दिलमें आकर भगवान् क्रीड़ा करनेवाले हैं, खेलनेवाले हैं, तो पहले अपने दिलमें स्वच्छता आनी चाहिए। तो भगवान् आते हैं कहाँ? अपने भावमें, अपने हृदयमें आकर स्थित होते हैं।

आप देखो आपके हृदयमें भगवान् स्थित कैसे हों? जब आपका हृदय शुद्ध हो। अब शुद्धका अर्थ समझो कि हृदयका शुद्ध होना क्या है? उसको थोड़ा एकान्त चाहिए। एकान्त माने उसमें दूसरा न रहे, निकालो उसको बाहर। दूसरेको अपने हृदयमें-से निकाल दो। ये जो संसारके विषय हैं जड़; इनको अपने हृदयमें-से निकालो, शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध, संसारके दुःख-सुख घट-पट-मठ, धरती-पानी-हवा, यह जो दिलमें मालूम पड़ता है, इसको जरा जुदा करो, खाली करो ईश्वरके लिए जगह। यह बहुत मजेदार बात है कि यदि सम्पूर्ण जड़ताको अलग कर दिया जाये ना; एक अनजानमें भी बड़ी मजेदार बात होती है वह साधकको पता नहीं चलता, जड़ हटा देनेसे, जड़के साथ लगे हुए जो देश और काल हैं, वे भी हट जाते हैं।

देश माने होता है लम्बाई-चौड़ाई और काल माने होता है बापके बाद बेटा, बेटेके बाद फिर बेटा, रातके बाद दिन, दिनके बाद रात, सेकेण्डके बाद सेकेण्ड, सेकेण्डके बाद सेकेण्ड, ये सब चीजें कबतक मालूम पड़ती हैं? जबतक जड़ता—जड़ चीज मालूम पड़ती है। जिसमें परिवर्तन हैं, परिणाम हैं वे जड़में ही होते हैं और जितने परिमाण हैं वे भी जड़में ही होते हैं।

जड़में दो चीजें रहती हैं, परिमाण और परिमाण। परिणाम माने बदलना और परिणाम माने नाप-तौल। माने लम्बाई-चौड़ाई और उम्र वाली चीजें हैं नाशवान, उनको अलग कर दो, उम्र भी निकल जाये। और जितनी लम्बाई-चौड़ाई है वह

भी निकल जाये, तो तुम्हारा अन्त:करण देश, विषय और काल इन तीनोंकी कल्पनासे खाली हो जाय, इनकी कल्पना नहीं आवे।

अब तुम्हारे अन्त:करणमें वह आ रहा है जिसकी लम्बाई चौड़ाईकी माप नहीं है, जिसकी उम्रकी कोई हद नहीं है, न जन्म है न मृत्यु है। जिसकी उम्रकी हद नहीं, वह आ रहा है और जिसकी लम्बाई चौड़ाईकी माप नहीं वह तुम्हारे दिलमें आ रहा है और जो धरती, पानी, आग, हवा, आसमान नहीं, वह तुम्हारे हृदयमें आ रहा है। जरा अपने हृदयको देखो, ईश्वरको धारण करनेवाला हृदय, अद्भुत हृदय है यह। ऐसा विलक्षण हृदय है तुम्हारा कि उसमें वह ईश्वर जो सम्पूर्ण जगत्का अभिन्न निमित्तोपादान कारण है वह तुम्हारे हृदयमें आकर बैठता है। देखो जैसे हम सबलोगोंके शरीर है, मकान है, उन सबका उपादान कारण है पंचभूत—धरती, पानी, आग, हवा, आकाश।

अच्छा और उसके आगे, आकाशसे भी बड़ा ईश्वरका मन और उससे भी बड़ी ईश्वरकी बुद्धि और उससे भी बड़ी अव्यक्त अवस्था, अव्याकृत अवस्था। सम्पूर्ण जगत्की उत्पत्ति, स्थिति और प्रलयका निमित्त कारण चैतन्य भी है और उपादान कारण मसाला भी है,जो वस्तु है, वह तुम्हारे दिलमें आकर बैठती है। अब तुम अपने दिलका नाप ईश्वरसे बड़ा बनाओ, अपने दिलको छोटा मत करो! जिस दिलके भीतर अपनी बनायी हुई सृष्टिके साथ, अपनेमें बनी हुई सृष्टिके साथ, अपने संकल्पित देश, काल और प्राकृतके साथ ईश्वर आकर बैठे ऐसा स्वच्छ, ऐसा निर्मल, ऐसा विशाल अपना दिल बनाओ—**आत्मभावस्थो**।

अब देखो एक तुम, एक तुम्हारा दिल और एक तुम्हारे दिलमें ईश्वर! अब ईश्वरने क्या किया **ज्ञानदीपेन भास्वता**—एक प्रकाशमान ब्रह्माकारतासे देदीप्यमान, ऐसा ज्ञानका दीपक प्रज्ज्वलित किया कि जो अज्ञानजन्य तम था, माने अपने और परमात्माके बीचमें, यह जो एक वृत्तिकी दीवार थी, वह तमस्, वह छिन्न-भिन्न होगया, वह कट गया, वह बाधित हो गया। असलमें वृत्तिने लिया अपने अन्दर ईश्वरको और वृत्ति है तुम्हारे अन्दर और वृत्तिके अन्दर आया हुआ चैतन्य और वृत्तिके परे रहनेवाला चैतन्य, ये चैतन्य दोनों एक है, अलग-अलग नहीं हैं, एक ही परमात्मा दोनों रूपोंमें, वृत्तिके कारण दो रूपमें मालूम पड़ रहा था। भगवान्ने उस तमस्को दूर कर दिया। समझो कि कोई किसीको मार रहा हो, किसी कारणसे मार रहा हो, तो बोले अमुक डाकूका बेटा है इसलिए इसको मारेंगे। उस डाकूका बेटा होनेके कारण कोई किसीको मार रहा

हो और बीचमें डाकू ही मिल जाय, वही डाकू जिसका वह बेटा है, तो क्या वह डाकूको छोड़ देगा?

यह चित्तमें जो तमस् है, अन्धकार है, यह अज्ञानका बेटा है, यह क्या है? कि आवरण है, यह भ्रान्ति है, यह अध्यास है।

ऐसे समझो कि मोहनको न पहचानना एक बात हुई कि भाई मोहनको नहीं पहचानते हैं और दूसरे यह कि हम उसको सोहन समझने लग जायँ। तो अज्ञान डबल हुआ कि नहीं? एक मोहनको मोहन न पहचानना—यह तो अज्ञान हुआ और उसको सोहन समझना, उसको दूसरा समझ लेना यह भ्रान्ति हुई। इसको भ्रान्ति बोलते हैं। अपनेको ब्रह्म न जानना—यह अज्ञान है और अपनेको जीव मान बैठना—यह भ्रान्ति है। अपनेको जीव जान लेना—इसका नाम भ्रान्ति है।

भगवान् क्या करते हैं कि उपादान सहित भ्रान्तिको माने अज्ञान-सहित भ्रान्तिको मिटा देते हैं। कैसे मिटते हैं? कि हमारे हृदयमें आकर। यह ज्ञानका प्रकाश क्या है? पहले प्रकाश करनेकी पद्धति थी, वह जरा दूसरे ढंगकी थी। जैसे दीया जलानेके लिए एक मिट्टीका या काँच का बना हुआ एक पात्र चाहिए। यह ज्ञान रूपी दीपक जलानेके लिए पात्र क्या है? बोले—अन्तःकरणके पात्रमें। उसमें यह दीया प्रज्ज्वलित होता है। यह दीपक प्रज्ज्वलित किया जाता है, यह लौ जलाई जाती है! लौ संजोई जाती है, कहाँ? किस बर्तनमें? हृदयके बर्तनमें। वह कैसा हृदय हो कि उसमें यह दीप जले? बोले—विरक्त होना चाहिए। विरक्त अन्तःकरण इसका आधार है। अच्छा, दीयेमें तो तेल डालते हैं, इसमें तेल काहेका है? बोले—यह जो भगवान्‌की भक्ति है भगवान्‌की कृपा है, यही तेल है। साधनोंके संस्कार शम, दमादिके, ब्रह्मचर्यादिके, उन संस्कारोंसे युक्त जो प्रज्ञा है, वह बत्ती है। अच्छा, दीया रखा कहाँ जाना चाहिए? जहाँ जोरसे हवा न लगे, चलती हुई हवा न लगे। राग-द्वेषका न होना यही दुनियाकी हवाका न लगना है। राग-द्वेष हो गया चित्तमें तो दुनियकी हवा लग गयी। अब बोले—दीया जलनेके लिए भी तो हवा चाहिए! बारम्बार-बारम्बार भावनाका उदय है, अभ्यास है और उसमें अभिनिवेश है, यही उसको शक्ति देनेवाली हवा है। दीयेसे होनेवाली रोशनी क्या है? एकाग्रता और ध्यानसे जनित जो सम्यक् दर्शन है, वही उसकी रोशनी है। उसका रूप क्या है? विवेक-प्रत्यय उसका रूप है।

आप देखो, आप संसारके विषयोंसे न्यारे हो। शब्द-स्पर्श-रूप-रस-गन्ध—इनसे न्यारे हो। अन्नमय, प्राणमय, मनोमय, विज्ञानमय, आनन्दमय—इन

कोशोंसे न्यारे हो। जाग्रद्‌वस्था, स्वप्नावस्था, सुषुप्ति अवस्था—इनसे आप न्यारे हो। आपकी दृष्टिमें जो यह जड़ कार्य वर्ग है, यह आ गया है। आप कार्यवर्गका विभाग करो? अव्याकृत कारणभूत सच्चिदानन्द और तुम उसको देख रहे हो। कार्यावस्थाको देखना छोड़कर कारणावस्थाको देखो। कारणावस्था दृश्य है और तुम स्वयं द्रष्टा हो। अब उस कारणावस्थामें देशकी लम्बाई चौड़ाई और कालकी उम्र भी बीजरूपसे विद्यमान है और तुम उसके द्रष्टा हो। तब तुम कितने बड़े हो! देश-काल-वस्तुसे अपरिच्छिन्न, उसके द्रष्टा स्वयंप्रकाश। जो सर्वाधिष्ठान है वह स्वयं प्रकाश तुम हो—जब इस प्रकारका ध्यान भगवान् देते हैं तब मनुष्य इस अज्ञानान्धकारसे पार हो जाता है।

अब अर्जुनको तो यह बात बहुत अच्छी लगी एक तो परब्रह्म परमात्मा कृपा करके ज्ञान दे देता है, अनुकम्पा करके, यही उसकी कृपा है। ईश्वरकी कृपा कैसी? कि हम उसको भले भूल जायँ; लेकिन हमको वह नहीं भूलता। हम यह समझें कि ईश्वरसे दूर हैं, लेकिन ईश्वर कभी दूर होता नहीं। हम समझते हैं कि हमने ईश्वरको छोड़ दिया, परन्तु ईश्वर कभी हमको छोड़ता नहीं। ईश्वर रोटी-दाल बनकर हमारे मुँहके रास्ते भीतर घुसता है और शरीरको पोषण देता है। यह रोटी-दाल ईश्वर ही है और कोई नहीं है **अन्नं ब्रह्म**। वही पोषण देता है। वह पानी बनकर हमारे भीतर प्रवेश करता है, घी बनकर, दूध-दही-मट्ठा बनकर वही हमें पोषण देता है। जो गर्मी है शरीरमें, जिससे भाप पैदा होती है शरीरके भीतर, गैस पैदा होती है, खून चलता है, बाल बढ़ते हैं, साँस चलती है, उस उष्माके रूप ईश्वर ही शरीरमें प्रविष्ट है। कहो कि ईश्वरसे अलग है हमारी साँस तो कर लो अलग, जैसे भाईसे बँटवारा कर लेते हो, वैसे ईश्वरकी साँसमें-से अपनी साँस अलग तो कर लो जरा! हवामें-से अपनी साँस अलग करो, ईश्वरकी गर्मीमें-से अपनी गर्मी अलग करो, ईश्वरके पानीमें-से अपना पानी अलग करो! ईश्वरके अन्नमें-से अपना अन्न अलग करो।

कहाँ है तुम्हारा अलगाव? सबके शरीरमें एक ही साँस चल रही है। सबके शरीरमें एक ही गर्मी भर रही है। सबके शरीरमें एक ही रस, एक ही अन्न है। यह कटाव शरीरका, नाक चिपकी और ऊँची, कान जरा छोटा और बड़ा, गर्दन जरा ऊँची और छोटी—यही तो फर्क है, मसाला तो सब एक ही है। ढूँढो, इस शरीरके भीतर, बड़े अद्‌भुत ढंगसे *"खूब जाना है कि अनजाना बने बैठे हैं।"* वे ही, यहाँ अनजान बने हुए बैठे हैं। वही—

वायो त्वमेव प्रत्यक्षं ब्रह्मासि। कं ब्रह्म। खं ब्रह्म।

हमारे शरीरमें जो अवकाश है, वह परमात्मा ही अवकाश बनकर बैठा है। हमारे मनमें जो सुख है, वह परमात्मा ही बनकर आता है सुख। हमारे मनमें संकल्प करनेकी जो शक्ति है, हमारी बुद्धिमें जाननेकी जो शक्ति है वह वह परमात्मा ही बन कर आया हुआ है। और सबके भीतर वही है, यहाँ तक कि सब नहीं है. और वही वह है। इतना निकट परमात्मा है आपके—

"आपमें आप छिपे पर्दा ढके बैठे हैं। खूब जाना है कि अनजाना बने बैठे हैं।"

देखो, कैसा पर्दा है। हम समझते हैं कि हम साढ़े तीन ही हाथके हैं, हम पचास सौ ही वर्षके हैं। अपनेको मन दो मनका समझना—यह पर्दा है। अपनेको परमात्मासे जुदा समझना पर्दा है।

आपमें आप छिपे पर्दा ढके बैठे हैं।
यह कहूँ वह कहूँ तू कहूँ मैं कहूँ॥

अब **अनुकम्पार्थ**में एक बात आयी, तुम्हें परिश्रम करना भी नहीं पड़ेगा, सारे श्रमोंसे छुटकारा देता है। सारे दु:खोंसे छुड़ा देता है ईश्वर। यह कहता है कि हममें और तुममें दूरी नहीं है, हमारे और तुम्हारे मिलनमें देरी नहीं है, हम तुम दो जुदा-जुदा नहीं हैं। हमारी प्राप्तिमें कोई परिश्रम नहीं, देरी नहीं, दूरी नहीं, जुदा करनेवाली कोई चीज नहीं। मिलते हैं, अनायास। बोले--अच्छा तुम ऐसे मिलते हो! थोड़ी अपने बारेमें और बात बताओ।

अर्जुन उवाच—अर्जुन माने जो ज्ञानार्जन करे। जैसे धनार्जन करते हैं। कोई धनका, कोई भोगका, कोई यशका, कोई धर्मका उपार्जन करता है, लेकिन सच्चाई क्या है अगर यह मालूम न हो अन्धेरेमें ही आदमी भटक रहा हो। भोग तो मिले परन्तु उसको यह मालूम न हो कि कहीं यह भोग करके हम मर तो नहीं जायेंगे, बहुत बढ़िया भोजन सामने रखा हुआ हो और मालूम न हो कि इसके खानेका क्या नतीजा होगा, खूब काम करे लेकिन मालूम न हो कि इसका अन्त क्या है? ज्ञान न हो। बढ़िया-से-बढ़िया चीज सच्चा सुख और सच्ची शान्ति नहीं दे सकती। एक आदमीके साथ चल रहे हों और संशय हो कि यह दुश्मन तो नहीं तो उसके साथ चलनेमें मजा आवेगा? यह पता नहीं हो कि यह हमको लेकर कहाँ चला जायेगा!

शास्त्रोंमें वर्णन है कि एक मन्त्रका जप कर रहे हों, अगर उस मन्त्रके बारेमें सन्देह हो, यह सच्चा है कि झूठा, तो उस जपका फल नहीं मिलता है।

संदिग्धो हि हतो मन्त्रः।

क्योंकि पूर्ण निष्ठा, पूर्ण विश्वासके साथ हम जप नहीं करते। जिसके साथ

चल रहे हों वह आगे चलकर हमको गड्ढेमें तो नहीं धकेल देगा, यह संशय हो मनमें, तो उसके साथ चलनेका मजा नहीं आवेगा। हर समय जहाँ चौकन्ना रहना पड़े, हर समय सावधान रहना पड़े, यह हमको ठग न ले, यह हमको धोखा न दे दे, तो उसका साथ कैसे निभ सकता है? इसीसे गीतामें संशयको सबसे बड़ा पाप बताया है—

संशयात्मा विनश्यति। नायं लोकोऽस्ति न परो न सुखं संशयात्मनः। 4.40

यह लोक भी नहीं, परलोक भी नहीं, सुख भी नहीं, शान्ति भी नहीं अगर मनमें संशय बैठ गया। इसीसे भगवान् कहते हैं कि अर्जुन! तुम्हें संशयको काटना पड़ेगा।

तस्मादज्ञानसंभूतं हृत्स्थं ज्ञानासिनात्मनः।
छित्त्वैनं संशयं योगमातिष्ठोत्तिष्ठ भारत॥ 4.42

उठो, खड़े हो जाओ। उपाय करो। साधन करो। तपस्या करो। अज्ञानके कारण तुम्हारे चित्तमें यह संशय है। ज्ञान यही सबसे बढ़िया काम करता है कि हमको निःसंशय बना देता है। मित्रपर विश्वास होता है और शत्रुपर संशय होता है।

अब लो—यह ज्ञान यह बतावेगा कि जहाँ शत्रु ले जायेगा वहाँ भी मैं ही हूँ। जहाँ मित्र ले जायेगा वहाँ भी मैं ही हूँ। बबा! तुम अपने हृदयसे संशयको निकाल दो।

यह कहता है मरोगे तो भी मैं ही हूँ, जिन्दा रहोगे तो भी मैं ही हूँ। जब मैं तुमसे छूटता ही नहीं हूँ, तो तुम अपने दिलमें यह संशयका साँप क्यों पालते हो? सुखमें, दुःखमें, रणमें-वनमें, शत्रुमें-मित्रमें, नरकमें, स्वर्गमें वही एक अखण्ड सत्ता परिपूर्ण हो रही है उससे छूटकर कहीं जा तो नहीं सकते। तो डर काहेका? पापका, पुण्यका, लोकका, परलोकका, सुखका, दुःखका? यह तत्त्वज्ञान जो है इन दुविधाओंको भस्म कर देता है। हम जहाँ हैं, जैसे हैं, जो हैं, जब हैं, वही, वैसे ही वहीं, तभी परमात्मासे एक हैं। इतना बड़ा सुख-सौभाग्य, इतनी बड़ी शान्ति, यह ज्ञान देता है कि मनसे अज्ञानका अन्धकार मिट जाय! जीवनको सुखी करनेवाली इससे बड़ी कोई वस्तु है ही नहीं। इसलिए अर्जुन बनो। अर्जुन माने ज्ञान अर्जन करनेवाले। परमात्माके स्वरूपको समझो, ज्ञानार्जन करो।

ज्ञानीका जीवन सरल होता है। अर्जुन माने ऋजु। ऋजु माने सरल सीधा। अच्छा भाई, यह एक कौआ है, कहते हैं यह बहुत शंकित रहता है। जहाँ जहाँ

शंकाका वर्णन आता है, संशयात्मा पक्षी काक है। बाहर भी काला और भीतर भी काला और हंस सरल पक्षी है। ऋजु है। एक महात्मा थे, सिन्धमें। सिन्धमें बहुत अच्छे-अच्छे महात्मा हुए हैं। सीधे-सादे वे शास्त्र ज्ञानी नहीं थे। यह नहीं कि वे वेद, उपनिषद्, ब्रह्मसूत्र पढ़कर महात्मा हुए हों। बिना पढ़े एक महात्मा साधु ढंगसे रहते थे। एक दिन कोई बहुत बढ़िया भोजन लेकर उनके पास आया, भोजन कराया, बोले—बड़ी तृप्ति हुई, आज तो बड़ा स्वाद आया, क्या है भाई, आज इतना बढ़िया भोजन कैसे ले आये? बोले—महाराज आज घरमें श्राद्ध था, कि अच्छा जब श्राद्ध होता है तब इतना बढ़िया भोजन बनता है! इसके लिए तो रोज-रोज श्राद्ध हो। भोले-भाले थे। अब महाराज गाँवमें लोग मरने लगे रोज-रोज किसी-न-किसीके श्राद्ध हो।

जब गाँवके मुखियाको मालूम हुआ, तो उसने सोचा—यह क्या हुआ! एकके बच्चा हुआ। जब उसका सूतक निवृत्त होगया तो बहुत बढ़िया भोजन बनाकर ले गये। उस दिनसे भी ज्यादा बढ़िया। बोले—महाराज, यह खाओ। अरे भाई! आज तो बड़ा स्वाद बना है, आजका बहुत बढ़िया कैसे बना? बोले—महाराज वृद्धि हुई है, बढ़ती हुई है, घरमें बच्चा हुआ है। बोले—आहा! बच्चा होनेपर ऐसा भोजन बनता है! रोज-रोज बच्चा होये!

तो ऋजु जीवन, सरल जीवन, उनको पता ही नहीं सूतक क्या होता है, पातक क्या होता है, वृद्धि क्या होती है, हानि क्या होती है, बालककी तरह अपना जीवन व्यतीत कर रहे हैं।

अब जो लोग, बहुत चतुर, बहुत चंट होते हैं, वे ऐसे सोचते हैं कि जल्दीसे जल्दी हमको ब्रह्मज्ञान हो जाय। क्यों? कि जब ब्रह्मज्ञान हो जायेगा तब पाप नहीं लगेगा, पुण्य नहीं लगेगा। चाहे जो मौज होगी सो करेंगे। झूठ बोलनेके लिए, बेईमानी करनेके लिए, छल करनेके लिए, कपट करनेके लिए ब्रह्मज्ञान जल्दी चाहते हैं, बोले—छुट्टी हो जाती है।

नहीं, अर्जुनका अर्थ है जीवनमें सरलता आनी चाहिए।

अब अर्जुन श्रीकृष्णका वर्णन करते हैं, बड़े-बड़े ऋषि तुमको ब्रह्म बताते हैं **आहुस्त्वां ऋषयः सर्वे**। जितने ऋषि हैं, ऋषि माने ज्ञानी महापुरुष, **धर्मशास्त्रप्रणेतारो महिम्नः सर्वदास्यवै। ततः प्रकर्षस्तु महान् येषां ते ऋषयः स्मृताः।** ऋषि किनको बोलते हैं? जो दुनियाकी मर्यादाको बनावें, जिनकी महिमा सब जगह भरपूर हो, जो बड़े तपस्वी हों, उनको ऋषि कहते हैं।

वे ऋषि लोग तुमको ब्रह्म बोलते हैं। अब देखो, यह सामने कृष्ण है, उनको बोलते हैं—

परं ब्रह्म परं धाम पवित्रं परमं भवान्।
पुरुषं शाश्वतं दिव्यमादिदेवमजं विभुम्॥ 12॥

यह 'ब्रह्म' शब्द और 'परं ब्रह्म' शब्द, 'धाम' शब्द और 'परं धाम' शब्द, 'पवित्र' शब्द और 'परमपवित्र' शब्द, आप देखो इन तीनोंका मजा लो। बहुत बढ़िया यह ईश्वरका निरूपण है। परमात्माका उत्तमसे उत्तम निरूपण है यह— 'परं ब्रह्म'।

'ब्रह्म' कहते हैं, जिससे बड़ा दूसरा कोई न हो। ब्रह्म शब्दका अर्थ होता है निरतिशय बृहत्ताशालित्व , जिससे उम्रमें, लम्बाई-चौड़ाईमें, अनन्ततामें बड़ा कोई न हो उसको ब्रह्म बोलते हैं। अब आप अगर ब्रह्मको समझनेके शौकीन हो, तब इसमें मन लगेगा। आप देखो कभी आपकी खिड़कीमें जब बाहरसे धूप आती है, सबेरे-सबेरे, तो उसमें छोटे-छोटे कण उड़ते हुए दीखते हैं, उनको शास्त्रकी भाषामें त्रसरेणु बोलते हैं। वे क्यों दिखायी पड़ते हैं? देखो, एक तो उनके वहाँ घूमनेकी, उड़नेकी जगह है—अवकाश है, दूसरे वहाँ हवा है और दिखते क्यों हैं? रोशनी है इसलिए दिखते हैं और जगह है, अवकाश है इसलिए इधर-से-उधर उड़ते हैं। यह जो धरती दिखती है, इसके आस-पास घूमनेवाले भी हैं। यह चन्द्रमा धरतीके चारों ओर घूमता है और धरती सूर्यके चारों ओर घूमती है और सूर्य ध्रुवके चारों ओर घूमता है। तो पृथिवी-मण्डल, सौर-मण्डल, ध्रुव-मण्डल, ब्रह्माण्ड-मण्डल, अब ये आकाशका कितना हिस्सा घेरते हैं, विचार करके देखो तो मालूम पड़ेगा। आकाशमें देखो तो जैसे तुम्हारे खिड़कीके भीतर धूलिकण घूमते हैं, ऐसे-ऐसे कोटि-कोटि ब्रह्माण्ड धूलिकणके समान आकाशमें घूमते हैं। पूर्व-पश्चिम, उत्तर-दक्षिण, ऊपर-नीचे, ये सब तो उस आकाशमें, उस अवकाशमें, उस दिक्‌में कल्पित हैं। द्रव्यकी अभिव्यक्तिकी दृष्टिसे उसको आकाश बोलते हैं और विस्तारकी अभिव्यक्तिकी दृष्टिसे दिक् बोलते हैं और सबका सब उसीमें भरपूर है।

यह जो लम्बाई-चौड़ाई मालूम पड़ती है, इसका आधार; यह कभी मालूम पड़ता है कभी नहीं। यह किसमें मालूम पड़ता है? कि ब्रह्ममें; परंब्रह्म।

ब्रह्म शब्दका अर्थ है जिसमें-से आकाश निकलता है जिसमें-से काल निकलता है, जिसमें-से बुद्धि निकलती है, जिसमें-से मन निकलता है, जिसमें-से देश निकलता है और जिसमें समा जाता है—

यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते।

येन जातानि जीवन्ति।

यत् प्रयन्ति अभिसंविशन्ति तद् ब्रह्म।

तद् विजिजिज्ञासस्व। उसकी जिज्ञासा करो। तो अर्जुनने इनको कहा ब्रह्म। अब ब्रह्मको परब्रह्म कब कहते हैं? परं ब्रह्म तब कहते हैं उसको जब उसमें-से कारणताका बाध कर देते हैं, अपवाद कर देते हैं।

एक ब्रह्म होता है, तो **यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते येन जानाति जीवन्ति** उसको ब्रह्म बोलते हैं। ब्रह्ममें यह सृष्टि हुई, ब्रह्मसे यह सृष्टि हुई, ब्रह्ममें यह सृष्टि रह रही है और ब्रह्ममें ही यह सृष्टि लीन हो जाती है। सृष्टि माने आपकी आँखसे जितना दिखता है उतना ही नहीं। जो कुछ परोक्ष-अपरोक्ष है, अन्यके रूपमें जो कुछ-कभी-कहीं-कैसे भी परोक्ष, अपरोक्ष-अन्यके रूपमें मौजूद है, उस सबको सृष्टि कहते हैं। अनन्त-कोटि ब्रह्माण्ड और उनकी अव्यक्तावस्था—व्यक्तावस्था, जिसमें डूबती-उतराती रहती है, उसका नाम ब्रह्म। और उस डूबने-उतरानेकी क्रियासे बिलकुल अछूता, जिसमें दुनियाकी डूबने-उतरानेकी क्रिया बिलकुल कल्पित, प्रतीति मात्र, उसको बोलते हैं परंब्रह्म। **ब्रह्मविदाप्रोति परं।** जो उस परं ब्रह्मको जान लेता है, उसको अनुभव कर लेता है, उसको परमतत्त्वकी प्राप्ति होती है।

स यो ह वै तत् परं ब्रह्म वेद, सब ब्रह्मैव भवति।

उस परं ब्रह्मको जो जान लेता है, वह परब्रह्म ही हो जाता है।

'धाम' शब्दका क्या अर्थ है? धाम शब्दका अर्थ है प्रकाश। **धाम शब्दो ज्योतिर्वचनः। अथ यदतः परः ज्योतिर्दृष्यते।** परंधाम-अब धामका अर्थ क्या होता है? संस्कृत भाषामें 'धाम' का अर्थ होता है ज्योति। आकाशसे परे एक ऐसा प्रकाश है, सुषुप्तिके परे एक ऐसा प्रकाश है कि जो सुषुप्तिको भी प्रकाशित करता है। व्यक्तिमें देखो, यह सुषुप्ति जो है यह कारणावस्था नहीं है। सुषुप्ति भी एक कार्यावस्था है। यह अवस्था तो बदलती रहती है, जिसका प्रतियोगी कोई हो गया, स्वप्न है, जाग्रत है। ये जाग्रत्के बाद आती हैं। यह कारणावस्था नहीं हैं, प्रलय भी कारणावस्था नहीं है भला! प्रलय भी कार्यावस्था ही है। क्योंकि वह होती है और मिटती है, वह पैदा भी होती है और मिटती भी है। जैसे मनुष्यके शरीरमें सुषुप्ति कार्यावस्था है, वैसे समष्टिके जीवमें प्रलय भी एक कार्यावस्था है। यह जो जाग्रत्, स्वप्न, सुषुप्ति अथवा सृष्टि, स्थिति, प्रलय—ये कार्यके रूपमें जितने मालूम पड़ते हैं

और जिस कारणमें ये लीन हो जाते हैं, वे लीन जिसमें होते हैं उसका नाम परं ब्रह्म नहीं है, उसमें तो मायाका सम्बन्ध है और उस मायाके सम्बन्धसे जो विलक्षण है, उसको परं ब्रह्म बोलते हैं। परं धाम बोलते हैं। परमधाम माने परम ज्योति।

परं ज्योतिरूपं सम्पद्य स्वेन रूपेण अभिसंपद्यते।

तं देवाः ज्योतिषां ज्योतिः।

ऐसे गिनते हैं इसको कि जैसे सूर्य, चन्द्रमा बिजलीकी रोशनी ये सब बाहर मालूम पड़ती हैं, ये कैसे मालूम पड़ती हैं? आँख हो तो मालूम पड़ें और आँख न हो तो न मालूम पड़ें। और, आँख कब मालूम पड़ती है? कि मन हो तो आँख मालूम पड़े और मन न होये तो आँख ही न मालूम पड़े। और मन कैसे मालूम पड़ता है? आत्मासे मन मालूम पड़ता है। मैं-से मन मालूम पड़ता है। मनका होना और न होना—दोनों आत्मासे मालूम पड़ता है। मनका होना साक्षी भास्य है और मनका न होना भी साक्षी भास्य है। मनका सो जाना भी साक्षी भास्य है।

तो स्वयं ज्योति कौन है? कि स्वयं ज्योति इधर है—**परं धाम**। आओ कृष्ण तो ढूँढें। परं धाम-परंब्रह्मसे भिन्न जो ज्योति है यही जो हमारे दिलके भिन्न बैठकर प्रकाशित करने वाली है, यह है तो कहाँ? ज्योति है, परन्तु जब ब्रह्मसे अभिन्न है तब परं धाम है और ब्रह्म जब आत्मासे अभिन्न है तब वह परं ब्रह्म है—**परं ब्रह्म परं धाम**।

अब पवित्र—**पवित्रं परमं भवान्**। पवित्र कौन-सी वस्तु है? एक चीजमें दूसरी चीज मिल गयी हो, जैसे देखो आपको कहें कि खालिस गेहूँ ले आओ। उसमें जौ मिला हो तो वह खालिस होगा? नहीं होगा। अच्छा बोले—भाई शुद्ध चावल ले आओ। तो चावलमें दाल मिला हो तो चावल शुद्ध होगा? नहीं होगा। अच्छा, शुद्ध पानी ले आओ, पर उसमें शर्बत मिला हो, तो वह शुद्ध पानी होगा? नहीं होगा। एकमें दूसरी चीज जब मिल जाती है तब वह गन्दी हो जाती है। पवित्र वस्तुका होना माने बिलकुल शुद्ध, दूसरी चीज मिली न हो ऐसी वस्तु तो दुनियाको अलग कर दो और परमात्माको अलग कर दो। तो संसारसे विविक्त जो परमात्मा है, शुद्ध परमात्मा, उसको पवित्र बोलेंगे।

बोले—हाँ अलग कर देनेपर पवित्र तो हो गया, लेकिन यहाँ तो **पवित्रं परमं** लिखा है, परम पवित्र क्यों कहते हैं? परम पवित्र यों कहते हैं कि वह जो दूसरी चीज अलग की गयी ना, उसका अस्तित्व मिट गया, बाधित होगया, इसलिए वह परम पवित्र है। द्रष्टा होकर पवित्र है, अधिष्ठान होकर पवित्र है। लेकिन जब

अधिष्ठानमें अध्यस्तकी सत्ताका बाध हो गया, जब द्रष्टामें दृश्यका बाध हो गया, जब द्वैत रहा ही नहीं, तब उसका नाम परम पवित्र हो गया।

अब देखो इसमें बात क्या कही गयी? परम ब्रह्म कहकर कालसे अछूता बताया, परमधाम कहकर देशसे अछूता बताया और परमपवित्र कहकर विषयसे अछूता बताया। जिसमें देश नहीं, जिसमें काल नहीं, जिसमें दूसरी वस्तु नहीं, ऐसा जो परमब्रह्म है वह कौन? बोले—तुम।

अच्छा अर्जुन तुम ऐसे ब्रह्मको जानते हो कि मैं हूँ! देखो अब मैं भी कहनेवाला हूँ कि ऐसे ब्रह्म तुम हो। जहाँ चेलेने गुरुसे कहा कि तुम ब्रह्म, हम पहचानते हैं तुम देश, काल, वस्तुसे अपरिच्छिन्न, सजातीय, विजातीय स्वगत-भेदसे रहित ब्रह्म तुम हो, पहले चेला बोलेगा। जब चेला गुरुको बोलेगा कि तुम ब्रह्म, तब गुरुजीको मजबूर होकर बोलना पड़ेगा कि भाई जो ब्रह्म मैं सो ही तुम। जब भक्त भगवान्‌को कहता है कि तुम ब्रह्म तो वही प्रतिध्वनि, जो चेलेने बोला, अपने ही बोले हुए की प्रतिध्वनि आती है। भगवान् बोलेंगे—'तू ब्रह्म'। भक्त कहेगा तू ब्रह्म, भगवान् कहेंगे तू ब्रह्म। शिष्य कहेगा तू ब्रह्म, गुरु कहेगा तू ब्रह्म। और जबतक शिष्यने विवेक नहीं किया कि ब्रह्म क्या होता है, ब्रह्म कैसा होता है, तबतक वे उसका नाम ब्रह्म बता देंगे, तो शरीरका नाम ब्रह्म रख लेगा। वह तो यही कहेगा कि यह शरीर हमारा ब्रह्म है इसलिए पहले चेला ब्रह्मको पहचानता है, तब गुरु पहचनवाता है। पहले भक्त ब्रह्मके रूपमें परमात्माको पहचानता है, तब परमात्मा ब्रह्मकी पहचान करवाता है।

अच्छा अब आगेका प्रसंग अर्जुनका प्रश्न, बहुत बढ़िया है वह कल सुनावेंगे।

अर्जुन उवाच—

परं ब्रह्म परं धाम पवित्रं परमं भवान्।
पुरुषं शाश्वतं दिव्यमादिदेवमजं विभुम्॥ 12॥

एक भक्तकी दृष्टिसे यह बात कही गयी। अर्जुनके सामने सगुण साकार श्रीकृष्ण सारथिके रूपमें विद्यमान हैं। उस समय यदि अर्जुनकी श्रद्धा ऐसी होती कि देखनेमें तो ये भी मनुष्याकार ही हैं, इनके भी शरीर है, इनके भी हाथ-पाँव नाक-कानादि हैं, आओ मशीन लगाकर जाँच करें, ये ब्रह्म हैं कि नहीं! ब्रह्मकी जाँच मशीन लगाकर या इन्द्रियोंसे देखकर नहीं होती। दीख रहा है मनुष्यका आकार और सो भी ऊँचे पदपर नहीं, अपनेसे छोटे पदपर, अर्जुन रथी हैं रथके मालिक हैं और श्रीकृष्ण सारथि हैं। जैसे ड्राइवर हो मोटरमें और मोटरका मालिक हो तो ड्राइवरको ईश्वरका रूप समझना, यह कोई साधारण बात नहीं है। जिन लोगोंके मोटर है वे ड्राइवरको हुकुम ही देते हैं—ऐ, कम रफ्तारसे चलाओ, तेज रफ्तारसे चलाओ, बचाके चलाओ, ऐसे चलाओ, वैसे चलाओ, और यहाँ श्रीकृष्णने ड्राइवरोंकी जातिको भी कृतार्थ कर दिया स्वयं ड्राइवर ही बन गये।

महाभारतमें कथा आती है कि जब दिन भरकी लड़ाई हो चुकी और सब लोग लड़ाई बन्द करके विश्राम करने लगते, स्नान करते, सन्ध्या-वन्दन करते, भजन करते, उस समय श्रीकृष्ण घोड़ोंकी मालिश करते अपने हाथसे। और उनको जो चोट लगी होती उसपर मरहम-पट्टी करते। और ऐसी दवा करते कि कल सुबह तक वे घोड़े बिलकुल ताजे हो जायँ और आजकी तरह कल भी लड़ाईमें काम दें। ईश्वर तो ऐसा चाहिए भाई! बिलकुल काम दें। सईसका जो काम होता है, वह ड्राईवरका नहीं क्लीनरका काम होता है, जो भगवान् करते हैं।

ऐसे भगवान्को अर्जुन क्या कहते हैं? यह नहीं कहते हैं कि ये वसुदेवके बेटे हैं, यह नहीं कहते ये मनुष्य-शरीरधारी हैं, यह नहीं कहते कि ऐसा इनका कर्म, ऐसा इनका धर्म, ऐसी इनकी अवस्था, मानो शरीरपर बिलकुल दृष्टि न रखते हुए, पैनी नजरसे, तीक्ष्ण दृष्टिसे, जैसे किसीको शालग्राममें चतुर्भुज नारायण दीख रहा हो, ऐसे, जैसे किसीको नर्मदेश्वरमें गौरी शंकर साक्षात् भगवान् गौरवर्ण ज्योति स्वरूप दिख रहे हों, ज्योतिर्लिंग; वैसे अर्जुनको अपने सारथिमें भगवान्का दर्शन

हो रहा है। बिलकुल निराकार और सगुण साकार—परमात्माका दोनों रूप, परमात्माका ध्येयरूप और परमात्माका ज्ञेय रूप मन एकाग्र करनेके लिए परमात्माका एक परम सुन्दर, परम मधुर रूप और जाननेके लिए भगवान्‌का एक तात्त्विक रूप—दोनोंको श्रीकृष्णमें अर्जुन एक साथ देख रहे हैं।

पद्म पुराणमें एक कथा आयी है—एक बार नारायण भगवान्‌के पास शंकर जी आये और उन्होंने प्रार्थना की कि हमको आप अपने निर्गुण-निराकार-निर्धर्मक, निर्विकल्प वास्तविक स्वरूपका दर्शन कराइये।

तो नारायण भगवान्‌ने कहा—अभी तो नहीं, जब मैं वृन्दावनमें प्रगट होकरके रहूँ, तब वहाँ मेरे पास आना। एक दिन शंकर भगवान् वृन्दावनमें पधारे। वृन्दावनमें क्या देखते हैं कि राधाकृष्ण युगल मूर्ति; आकारकी बात नहीं है, कभी श्रीकृष्ण गौराङ्गी राधा हो जायँ और कभी गौराङ्गी राधा श्यामाङ्ग कृष्ण हो जायँ और गौर-श्यामकी जोड़ी क्रीड़ा कर रही है वृन्दावनमें। आकर शंकरजीने नमस्कार किया।

श्रीकृष्ण भगवान्‌ने पूछा कि कैसे पधारे महाराज! आपने हमको निमन्त्रण दिया था कि वृन्दावन आना, अपने निर्गुण-निराकार रूपका, आपको दर्शन करायेंगे, ऐसा कहके आपने बुलाया था। अब आप अपने निर्गुण-निराकार रूपका दर्शन कराइये।

तो श्रीकृष्ण हँसे और हँसकर बोले—सो तो यही है, जो तुम देख रहे हो, यही निर्गुण और निराकार रूप है। शंकरजीने कहा कि महाराज, जिसको मैं आँखसे देख रहा हूँ, वह भला निराकार कैसे? जो इन्द्रियोंसे हमारे अनुभवमें आरहा है, वह निर्गुण कैसे? क्योंकि जो इन्द्रियोंसे अनुभव होता है उसमें तो शब्द-स्पर्श-रूप-रसादि गुण होते हैं और यह पुरुषकी जो आकृति है आपके शरीरमें और स्त्रीकी आकृति श्रीराधारानीके शरीरमें, बिलकुल स्पष्ट दिख रही है। स्त्रीकी आकृति दीखते हुए, पुरुषकी आकृति दीखते हुए, शब्द-स्पर्श-रूप-रस-गन्ध ये जो गुण हैं, इनके देखते हुए आँख, कान, नाक आदि जो इन्द्रियाँ हैं इनके देखते हुए हम यह कैसे मानें कि आपका निर्गुण-निराकार स्वरूप यही है?

पद्मपुराणके पाताल खण्डमें यह प्रसंग है।

भगवान् बोले कि अच्छा तुम ब्रह्मका लक्षण बताओ! शंकरजीने कहा कि ब्रह्म निर्गुण होता है। निर्गुण माने सत्त्व-रज-तम—इन तीन गुणोंके बाहर जो हो उसे निर्गुण कहते हैं। माने जिसमें जाग्रत्, स्वप्न, सुषुप्ति—ये तीन अवस्था न हों, जो

विश्व, तैजस, प्राज्ञ न हो, जिसमें मूढ़ता, विक्षिप्तता और समाधि न हो, विक्षेप न हो, मोह न हो, उसीको तो निर्गुण बोलते हैं।

बोले—हाँ महाराज!

बोले—यह जो मेरा शरीर तुम देख रहे हो, यह न तम है न तमका कार्य है, यह न रज है न रजका कार्य है, यह न सत्त्व है न सत्त्वका कार्य है, यह न विश्व है न तैजस है, न प्राज्ञ है, यही निर्गुण है जो तुम मुझे देख रहे हो।

बोले—वह तो निराकार हुआ करता है। तो उत्तर दिया कि आकार कौन-सा? जो प्रकृतिमें आकार है उसका निषेध है, यह प्राकृत आकार न होनेसे मेरे इस रूपको ही निराकार कहते हैं।

अब भगवान्‌ने बताया कि मेरे इसी रूपका नाम निर्गुण है, इसीका नाम निराकार है और प्रकृतिमें जो सामान्य विशेष होता है, जैसे एक गाय है, वह विशेष है और गोत्व सामान्य है। सबमें जो गायपना है वह सामान्य है—जाति है। हमारे अन्दर न जाति है, न व्यक्ति है, न विशेष है, न सामान्य है, इसलिए हम निर्विशेष हैं।

जितने-जितने लक्षण ब्रह्मके शंकरजीने बताये वे सब भगवान् घटाते गये कि मेरे इसी रूपमें हैं। ब्रह्मका दर्शन करना हो तो यह निर्गुण, यह निराकार, यह निर्विकार, यह निर्विशेष, यह निर्धर्मक, माने गुणपरसे, आकारपरसे, विशेषपरसे, अवस्थापरसे, यह जो संसारमें दिखायी पड़ रहा है इसपरसे जब नजर हटाओगे तब परमात्माका दर्शन होगा। यह संसारी वस्तु नहीं है, यह संसारसे विलक्षण है। इसलिए गीतामें यहाँ कहते हैं भवान्! देखनेमें आप मनुष्य! देखनेमें शालग्रामकी गोल-मटोल बटिया। देखनेमें नर्मदेश्वर। 'भवान्' आप, देखनेमें मनुष्य, पर हैं कौन? बोले—परं ब्रह्म। भवान्। परं ब्रह्म। आप परंब्रह्म हैं।

आप और परं ब्रह्म? देखो यह विचित्र बात! देखनेमें आप मनुष्याकार, वही परं ब्रह्म। अगर इस तरहसे कोई अनुसन्धान करने लग जाय। यह देखनेमें जो चाम है, जो हड्डी है, जो मांस है, यह जो पार्ट-अंग विकार है, आप्य विकार हैं, तैजस विकार है, वायव्य विकार है, आकाशीय विकार हैं, मानस विकार है, इनमें, इनसे परे परमात्माका दर्शन हो जाय। इस परमात्माकी झाँकी होनेमें जो विलम्ब है, उसमें अपने मनमें ही रुचिकी कमी है और अपनी बुद्धिमें ही रुचिकी कमी है और अपनी बुद्धिमें यदि ग्रहणकी योग्यता होवे और मनमें यदि रुचि होवे, तो तुरन्त परमात्माका, माने परम सत्यका दर्शन हो सकता है। तो **भवान् परं ब्रह्म**—आप परमब्रह्म हैं।

एकबार नारदजीको इच्छा हुई कि हमको परमब्रह्म परमात्माका दर्शन होवे। तो द्वारकामें श्रीकृष्णके पास गये। अब देखो जरा दूसरे ढंगकी बात सुनाता हूँ। कृष्णने पूछा—कैसे आये? बोले—महाराज आपका दर्शन करनेके लिए आये। बोले—आपका दर्शन करना होगया? बोले—हाँ महाराज हो रहा है हम आपको देख रहे हैं।

कृष्णने कहा—नहीं, अभी आपको मेरा दर्शन नहीं हो रहा है। ऐसा दर्शन तो कंसको भी हुआ, ऐसा दर्शन तो शिशुपालको भी हुआ, ऐसा दर्शन तो जरासन्धको भी हुआ। समझो कि हम चलते हैं कालबा देवी रोडपर, तो भीड़ हमको देखती है। कैसे देखती है? कि एक मनुष्यके रूपमें देखती है एक भक्तने भी ऐसे ही भीड़में देखा, बोले—एक भक्त है यह, उसने हमको भक्त देखा। भीड़की दृष्टिसे, जो मनुष्य है एक भक्तकी दृष्टिसे वही भक्त है, एक जिज्ञासुकी दृष्टिसे वही ज्ञानी है और एक ज्ञानीकी दृष्टिसे वही सच्चिदानन्द घन ब्रह्म है। यह अद्‌भुत लीला है। तुम असलमें देखते क्या हो? वस्तुका निदर्शन यह नहीं है कि तुम उसको क्या देखते हो? अपना निदर्शन है यह। अपने मनको ही जाहिर करके आदमी उसको दूसरेमें देखता है। तुम्हारे हृदयमें ब्रह्म है तो सब ब्रह्म दिखे, तुम्हारे हृदयमें ईश्वर है तो सब ईश्वर दिखे, तुम्हारे हृदयमें चोर हो तो सब चोर दिखे। यह अपने हृदयका ही नमूना है। इसलिए जैसे कोई ब्राह्मण हो न सामने तो पहली बात यह है कि यह बताना पड़ेगा कि **मनुष्योऽयं ब्राह्मणः**। यह आदमी ब्राह्मण है। क्योंकि ब्राह्मणपना तो आँखसे नहीं दिखेगा। जैसे सब मनुष्य होते हैं वैसे ब्राह्मण भी मनुष्य होता है। फिर बताना हुआ—**ब्राह्मणोऽयं विद्वान्**—यह ब्राह्मण विद्वान् है।

तो आँखने केवल मनुष्य बताया था, वाणीने उसको ब्राह्मण बताया और मनने उसको केवल ब्राह्मण माना था, अब वाणीने उसको विद्वान् बताया और बुद्धिने केवल उसको विद्वान् माना था, जिज्ञासुने बताया कि यह ब्रह्मज्ञानी है। तो बोले—देखो श्रद्धा और बुद्धि—दोनोंके मेलसे उसको ब्रह्मज्ञानी देखा। अब आत्मानुभवीने बताया—**अहं ब्रह्म**—मैं ब्रह्म हूँ तो एक ही चीजको कितने ढंगसे देखते हैं। तुम उस चीजको कैसे देख रहे हो, कहाँसे देख रहे हो, यह बात जुदा है। और, तुम अपने दिलको पनालेमें रखकर देख रहे हो कि अपने दिलको ब्रह्मलोकमें रखकर देख रहे हो, कि अपने दिलको ब्रह्ममें स्थापित करके देख रहे हो? फोटो वैसी आती है कैमरेका कोण जैसा होता है। नीचेसे फोटो लो तो लम्बी आवे और ऊपरसे फोटो लो तो छोटी आवे। जब कैमरेकी स्थितिका फोटो पर

प्रभाव पड़ता है, तो तुम्हारे अन्त:करणकी स्थितिका परब्रह्म परमात्माकी फोटो लेनेमें असर पड़ता है। इसीसे अन्त:करणकी स्थिति ठीक बनानी पड़ती है।

अर्जुनके अन्त:करणकी स्थिति ठीक बनी, तो उनको कृष्ण ब्रह्मरूप दीखने लग गये।

परं ब्रह्म परं धाम पवित्रं परमं भवान्।

यह धन बनानेका, पैसा बनानेका मार्ग नहीं है, यह मकान बनानेकी इन्जीनियरिंग शास्त्र नहीं है, यह शरीरको सँवारनेका ढंग नहीं है, हम पहचानते हैं कि कौन साधक, कौन अपना अन्त:करण निर्माण करनेके लिए इस मार्गमें चल रहा है। यह अन्त:करणका निर्माण करनेका मार्ग है, यह शरीर सँवारनेका मार्ग नहीं है। अगर इस रास्तेमें चलते हुए तुम्हारा दिल ठीक बन रहा है तो तुम ठीक चल रहे हो। अगर तुम्हारा दिल बिगड़ रहा है तो तुम गलत ढंगसे चल रहे हो, गलत काम कर रहे हो, गलत रास्तेपर चल रहे हो। अपने हृदयकी जो सरलता है, पवित्रता है, समता है उसको सुरक्षित रखकरके ही इस मार्गपर चला जा सकता है, और कोई पद्धति नहीं है। तो अब यह श्रीकृष्णको अर्जुन जैसे कहते हैं—

भवान् परं ब्रह्म! अरे आप मनुष्य नहीं हैं। आपका शरीर गोरा है कि काला, यह नहीं देखना, आपका वंश नहीं देखना, आप करते क्या हैं—यह नहीं देखना, आप सोचते क्या हैं—यह नहीं देखना, आपको तो हम ब्रह्मरूपसे देख रहे हैं। **परं ब्रह्म।** श्रीकृष्ण! आप तो परं ब्रह्म हो।

अब देखो परं ब्रह्म पहचाननेका मार्ग खुल गया। परं ब्रह्मको पहचाननेका जो रास्ता है, वह यहाँ खुलता है कि हमारे सामने चाहे कोई रंग हो, चाहे कोई रूप हो, चाहे कोई आकृति हो, चाहे कैसा कर्म हो, चाहे कैसा धर्म हो, वहाँ जो अधिष्ठानरूपसे ब्रह्म बैठा हुआ है, उसपर हमारी नजर पहुँच जाय, यह ब्रह्म प्राप्तिका, ब्रह्म साक्षात्कार मार्ग है। **परं ब्रह्म।** कल आपको ब्रह्म शब्दका अर्थ सुनाया था ब्रह्म जो है वह अविनाशी है, कालसे भी लम्बा है। **परं ब्रह्म।** इसको शास्त्रकी भाषामें ऐसे बोलते हैं कि जितनी टुकड़े-टुकड़े दुनिया भरमें चीजें हैं, आपके ख्यालमें नहीं आ सकती, आपको बहुत करके एक फर्लांग दो फर्लांग, एक मील दो मील तक कितनी चीजें हैं, दृष्टिमें आ सकती हैं। आप यह जो कमरा देख रहे हैं, जिस हालमें आप बैठे हुए हैं, इस हालमें कितने कण हैं और कितने कीटाणु हैं, इसकी खोज करनेका काम यदि आपको दिया जाये तो बड़े-बड़े गणितज्ञको यही कहना पड़ेगा कि वह एक इंचके सौवें हिस्सेमें या हजारवें हिस्सेमें या लाखवें

हिस्सेमें इतने कण हैं और इतने कीटाणु हैं, नाप करके गणित लगावें और फिर उसका कितना गुणा यह हाल है और इसमें उसके कितने गुने कण और कीटाणु हो सकते हैं और वे भी बढ़ते-घटते रहते हैं कभी इधर-से-उधर हो जाते हैं, कभी उधर-से इधर हो जाते हैं, कभी बढ़ जाते हैं, कभी घट जाते हैं, उनको गिन लेना कोई आसान नहीं है। और गिननेमें कोई अरब-खरबमें उनकी गिनती आवे सो बात नहीं है, अरब-अरब गिनना पड़ेगा, खरब-खरब गिनना पड़ेगा, ऐसे उसकी गिनती लगानी पड़ेगी, तो अब आप देखो सम्पूर्ण विश्व सृष्टिमें कितने परिच्छेद, कितने टुकड़े होंगे, देशके टुकड़े, कालके टुकड़े, वस्तुके टुकड़े, उन सब टुकड़ोंका जो सामान्य है, जो उनकी जाति है, किस्म-किस्मके जो टुकड़े हैं, उनके अत्यन्ताभावके जो उपलक्षित है उनका अत्यन्ताभाव जिसका इशारा करता है, काल परिच्छेद सामान्य और फिर उसमें भी तरह-तरहके भेद-विभेद, जितने भी भेद बुद्धिमें कभी किसीके आ सकते थे, जितने हैं और जितने आगे कभी आ सकते हैं, उन सब भेदोंके अत्यन्ताभावसे उपलक्षित जो अधिष्ठान सत्ता है, उस अधिष्ठान सत्ताको ब्रह्म बोलते हैं। और, वह जब प्रत्यक् चैतन्यसे एक होकरके भासती है तब उसका नाम परं ब्रह्म होता है **पिपर्ति इति परः**। ऐसा ब्रह्म। **परं धाम**— और परम ज्योतिस्वरूप, जो सबको प्रकाशित करता है। कहते हैं कि आकाशको जिसने नाप लिया हो कि कितना लम्बा-चौड़ा है। श्वेताश्वर उपनिषद्में आया—

यदा चर्मवदाकाशं वेष्टयिष्यन्ति मानवाः।
तदा देवमविज्ञाय दुःखस्यान्तो भविष्यति॥ श्वे. 6.20

जैसे कोई मृगछालाको लपेट करके काँखके नीचे दबा लेता है, आपने देखा होगा साधु लोग चलते हैं, तो जैसे मृगछालाको लपेटकर काँखके नीचे दबाना शक्य है, वैसे क्या आकाशको मृगछालाकी तरह लपेटकर काँखके नीचे दबाना शक्य है? जैसे आकाशको मृगछालेकी तरह लपेटकर काँखके नीचे दबाना शक्य नहीं है, इसी प्रकार परब्रह्म परमात्माको जाने बिना दुःखकी आत्यन्तिक निवृत्ति शक्य नहीं है—

बारि मथे बरु होई घृत सिकता ते बरु तेल।
बिनु हरि भजन न भव तरिये यह सिद्धान्त अपेल॥

बिना परमात्माकी प्राप्तिके दुःखकी निवृत्ति नहीं हो सकती, वह परम ज्योतिस्वरूप, परम प्रकाशस्वरूप है। यहाँ तक कि यदि कभी कृपा करके ईश्वर दर्शन देनेके लिए आपके लिए आवे, तो जैसे एक स्त्री दिखती है एक पुरुष

दिखता है, आँखसे दिखता है, और रोशनीमें दिखता है; तो पुरुषका रूप हुआ अधिभूत, सूर्यकी रोशनी है अधिदैव और आँख है अध्यात्म। यह अध्यात्म, अधिभूत और अधिदैव तीनों मिलकरके एक चीजको देखते हैं।

अब आओ परमात्माको खोजना हो, तो एक ओर खोजो कि यह रूप कहाँसे निकला, यह आदमी कहाँसे पैदा हुआ, यह पेड़ कहाँसे निकला, यह धरती कहाँसे निकली? अधिभूतका उदगम खोजो। लोग ईश्वरको ढूँढनेके मार्गमें चलते हैं और विचारसे कतराते हैं, बड़ी भारी गलतीमें हैं। यह देखो कि मिट्टी, पानी आग—ये कहाँसे पैदा हुए? इनके मूलको ढूँढो और एक ओर यह देखो कि ये सूर्य, चन्द्रमा, ये ब्रह्मा, वासुदेव जो अधिदैव हैं—ये कहाँसे प्रकट हुए? और, तीसरी ओर यह देखो कि हमारे ये आँख कान नाक—ये कहाँसे प्रकट होते हैं! तो जबतक तीनोंका मूल अलग-अलग मिले कि देवता कहीं औरसे प्रकट हुए, देवता ब्रह्मासे प्रकट हुए और ये मिट्टी-पानी-आग—बोले ये सब तामस अहंकारसे पैदा हुए और ये मन, बुद्धि, अहंकार—ये सब कहाँसे पैदा हुए? बोले ये सात्त्विक अहंकारसे पैदा हुए। तबतक आप समझो कि जबतक तीन जड़ मिलें, तबतक इनकी जड़ नहीं मिली, जब तीनों एक बीजमें-से निकलते हुए मालूम पड़ें, ब्रह्मा-विष्णु-महेश सब और सत्त्व-रज-तम, विश्व-तैजस-प्राज्ञ, जाग्रत् स्वप्नसुषुप्ति, सृष्टि-स्थिति प्रलय और इन्द्रियाँ, देवता और विषय—ये तीनों-तीनों जब एक मूलसे प्रकट होते हुए दिखायी पड़े, तब उसका नाम होगा ऊर्ध्वमूलं, ईश्वर। और, जब आत्माके रूपमें उस ईश्वर पद लक्ष्यार्थ और आत्मापद लक्ष्यार्थ दोनोंकी एकताका बोध होवे, एकताका बोध होनेसे जीवत्व और ईश्वर बाधित हो जाय, कार्य कारणभाव बाधित हो जाय, तब उसके लिए शास्त्रमें परं ब्रह्मका इशारा है। यह भी कल्पित नाम है। ब्रह्म नाम भी उतना ही कल्पित है जितना ऋतु, सत्य, आत्मा आदि संज्ञा कल्पित है। कल्पित कहनेका अर्थ है कि इसका पर्यायवाची कोई शब्द नहीं है, परिभाषा करके ही इसको समझाना पड़ेगा। जैसे किसीने नाम रखा अगैस है; स गैस है, ब गैस तो अ,ब,स, गैस तीन तरहकी गैस है एक 'अ' गैस है, एक 'ब' गैस है, एक 'स' गैस है, अब नाम सुनकर आपकी समझमें क्या आवेगा? जब उसका विवरण पढ़ेंगे कि 'अ' गैस इस गैसको कहते हैं, 'ब' गैस इस गैसको कहते हैं और 'स' गैस इस गैसको कहते हैं, ए-बी-सी—इस ढंगसे उनके कल्पित नाम जो होते हैं, उनका अर्थ बिना परिभाषाके ज्ञात नहीं होता। कल्पित नाम होनेका अर्थ यह है कि जितने भी कल्पित नाम होते हैं, इन्द्रियोंके द्वारा, मनके द्वारा उनके अर्थका ज्ञान नहीं होता

उसकी संज्ञा तो कल्पित है, इसलिए परिभाषाके द्वारा, प्रमाणके द्वारा उसका ज्ञान नहीं होगा, लक्षणके द्वारा उसका ज्ञान होगा। और, लक्षण जो है, उस लक्षणसे युक्त वस्तु वाक्य द्वारा लखायी जायेगी। इसलिए परं ब्रह्म, परं धाम। यह परमात्मा क्या है? कि परं धाम।

परं धामका अर्थ कबीर आदि कैसे वर्णन करते हैं! बोले कि वह अपने साईंका लोक है ऐसे बड़े प्रिय ढंगसे वर्णन करते हैं। वह कहते हैं कि यह जो आत्मा है, जीवात्मा है यह तो एक कुमारी कन्या है और यह संसारके विषयोंके चक्करमें, डाकुओंके चक्करमें, चोरोंके चक्करमें पड़ गयी है। अब इसको अपने पतिदेवके घर पहुँचना है। अपने पतिको वरण करे, अपने पतिके धाममें पहुँच जाय। अपने पतिके घर पहुँचे, इसको साईंका घर बोलते हैं।

सूरत बिरहुलिया छाई निज देस।
जहाँ न सूरत, जहाँ न मूरत, पूरन धनी धनेस।

यह विरहिणी सुरत-नायिका अपने पतिके घर पहुँच गयी। वहाँ कोई दूसरी मूरत नहीं है वहाँ पूरन धनी धनेस, वहाँ सूर्यवत् स्वयं प्रकाश परमात्मा है और वहाँ यह हमारी आत्मा पहुँच गयी।

इसीलिए उसको धाम होनेके कारण ही **यद्गत्वा निवर्तन्ते तद्धाम परमं मम्।** वर्णन होता है कि वह सबका धाम है। धाम माने घर। तन्मात्र जो ब्रह्म है वही सबका घर है और वहीं जाकर सच्ची स्थिति होती है। जबतक दूसरेके घरमें मेहमान बनकर रहोगे, वहाँसे निकलना पड़ेगा। होटलमें कबतक रहोगे?

यह दुनिया दुरंगी है, जंगी सराय,
कहीं खूब खूबी, कहीं हाय-हाय।

यह स्वर्ग एक होटल है। यह मर्त्यलोक भी एक होटल है, इसमें कबतक रहना मिलता है? जबतक जमा करवायी हुई पूँजी अपने पास है। वह भी कहीं तुम्हारी पूँजी प्राइवेट रूपसे रखी हुई हो तो वह काम नहीं देगी। जमा करवायी हुई पूँजी ही इस लोकके होटलमें भी काम देती है और परलोकके होटलमें भी काम देती है। जबतक पुण्यकी पूँजी है तबतक भोग कर लो और पुण्यकी पूँजी गयी और नारायण, बस, निकलो यहाँसे।

वह जिनको मेरा-मेरा बोलते हैं, मेरा पुत्र, मेरा पति, मेरी पत्नी, मेरी माँ, मेरा बाप, जिनको बोलते हैं, वे लोग इस सृष्टिमें घरमें दो घड़ी भी नहीं रहने देते हैं, निकालकर बाहर कर देते हैं—

चार जना मिलि खाट उठाइन,
रोवत लैं चले डगर डगरिया।
कहै कबीर सुनो भई साधो,
संग चलीं साथ चार सूखि लकरिया॥

वही तुम्हारी पूँजी अन्तमें बनेगी। न यह मकान जायेगा, न यह बेटा जायेगा, न तो ये पति पत्नी जायेंगे, न ये माँ बाप जायेंगे, न रुपया पैसा, न यह सोनेका सा शरीर जायेगा। यह सबका सब यहीं छूट जायेगा। यह अपना असली धाम नहीं है। यह अपने रहनेका मकान नहीं है, यह तो भ्रमवश तुम समझते हो कि इस दुनियामें यह हमारा मकान हमेशा बना रहेगा। सम्बन्धी हमेशा बने रहेंगे, या हम पुण्य करके स्वर्ग लोकमें जायेंगे, वहाँ हमेशा बने रहेंगे। जबतक अपने घर नहीं पहुँच जाओगे, तबतक यहाँसे निकाला जाना है, बिल्कुल पक्का ही निकलना है। यहाँ कोई रह नहीं सकता।

तो **परंधाम**का अर्थ यह हुआ कि अपना असली निवासस्थान परमात्माका स्वरूप है। वही हमारा परमधाम है। परमधाम वह, कि जहाँ पहुँचनेपर फिर कोई निकालनेवाला न हो—अपना घर।

तो परमब्रह्म सबसे बड़ी जो चीज है वही अपना निवास-स्थान है। बोले—भाई, वहाँ कोई तकलीफ होवे तो? वहाँ तकलीफ कोई नहीं है **पवित्रं परमं**—परम पवित्र है वह। पवित्रं परमंका एक अर्थ है कि यदि इन्द्र नाराज होकर अपना वज्र मारे, 'पवि' माने वज्र होता है तो 'पवेः वज्रात् त्रायते इति पवित्रं'। ऐसा महल बना है वह कि यदि वहाँ इन्द्र वज्र मारे, विष्णु अपना चक्र चलावें, शिव अपना त्रिशूल चलावे, तो इनका त्रिशूल, चक्र और वज्र—ये भी वहाँ नहीं लगता है, वह परम पवित्र है। वहाँ सुखकी कोई शंका ही नहीं है। जबतक तुम इस पराये घरमें फँसे हुए हो, तभी तक तुम्हें चार ताना रोज सुनना पड़ता है, चार जनोंका रोज ख्याल रखना पड़ता है।

देखो भाई किसीको बुरा न लग जाय। देखो कोई कुछ कह न दे, किसीसे लड़ाई न हो जाय। जबतक पराये घरको अपना करके बैठे हो, तबतक ही डर लगता है कि कहीं इसमें रोग न हो जाय, कहीं इसमें शोक न आजाय। अपने साईंके घरको यदि पहचान लो और उसमें जाकर निवास करो, तो वहाँ कोई डर नहीं, निर्भय स्थान है। उससे बढ़िया कोई धाम नहीं, उससे बड़ी कोई चीज नहीं और दुःखकी आत्यन्तिक निवृत्ति करनेवाली वैसी कोई दूसरी वस्तु नहीं। वह

अविनाशी है, वह परिपूर्ण चेतन है और वह दु:ख और दु:खके कारणोंसे सर्वथा रहित, उनके अत्यन्ताभावसे उपलक्षित प्रत्यक् चैतन्याभिन्न ब्रह्म है। दिव्य स्थिति उसकी है यह। इस व्यवहारमें उसको हम कैसे ढूँढें?

कुछ लोग पीपलके पेड़की पूजा कर रहे थे। तो एक सज्जनने श्रीउड़ियाबाबाजी महाराजसे आकर पूछा कि महाराज यह देखो बेवकूफ लोग पीपलके पेड़की पूजा कर रहे हैं। तो बाबा हँसने लग गये। बोले—आप हँसते क्यों हैं? महाराज ये देखो जड़की पूजा कर रहे हैं तो हमको हँसी आती है। बोले—वे जड़की पूजा तो नहीं कर रहे हैं। उनकी नजरसे वे जड़की पूजा कर रहे हैं कि तुम्हारी नजरसे जड़की पूजा कर रहे हैं कि हमारी नजरसे जड़की पूजा कर रहे हैं? बोले—महाराज बताओ आप! बोले—अपनी नजरसे तो वे साक्षात् वासुदेवकी पूजा कर रहे हैं। श्रद्धालुकी दृष्टिसे तो पीपलका वृक्ष साक्षात् वासुदेव है। क्या वासुदेवकी पूजा करनेके लिए वे गोलोक जायेंगे? पहले मर लें, तब पूजा करें? उनको तो यहीं चाहिए—वासुदेव! तो देखो पीपलके वृक्षमें उनको वासुदेव मिल रहा है। बोले कि महाराज आपकी नजरमें वे क्या कर रहे हैं? तो बोले—हमारी नजरमें तो वे हमारी पूजा कर रहे हैं; क्योंकि पीपलके रूपमें हम ही हैं। यदि कोई बोले कि हमको तो लगता है कि जड़की पूजा कर रहे हैं। तो बोले—देखो श्रद्धाकी नजरसे वे वासुदेव भगवान्‌की पूजा कर रहे हैं और चेतनकी नजरसे वे चेतनकी पूजा कर रहे हैं और जड़की नजरसे वे जड़की पूजा कर रहे हैं।

तो जिज्ञासुमें जो श्रद्धाका भाव है और तत्त्वज्ञानीकी जो दृष्टि है वह बड़ी विलक्षण है। आप देखो भगवान्‌का स्वरूप क्या है!

श्रीरमण महर्षिसे किसीने पूछा कि महाराज यह ईश्वर साकार कैसे? उनका श्लोक ही प्रसिद्ध है। बोले—तुम साकार कैसे! तुम बताओ जब तुम कहते हो कि आत्मा द्रष्टा है, असंग है, स्वयंप्रकाश है, साक्षी है, चैतन्य है। अपने आत्माके बारेमें तुम यह बोलते हो कि नहीं? हम ईश्वरके बारेमें बोलते हैं, वह स्वयं प्रकाश है, वह सर्वसाक्षी है, वह चैतन्य है, तो उसके बारेमें तुम प्रश्न करते हो कि वह स्वयं-प्रकाश, साक्षी, चैतन्य, वह साकार कैसे? हम तुमसे यह प्रश्न करते हैं कि तुम भी तो स्वयंप्रकाश, द्रष्टा, असंग, साक्षी, चैतन्य हो, तुम साकार कैसे?

तो ईश्वर साकार कबतक? जबतक तुम स्वं पदके अर्थको साकार अनुभव कर रहे हो, तबतक तुम्हारे पास ऐसी कौन-सी अकल है जिससे तुम तत्पदार्थको साकाररूपमें अनुभव नहीं करते? कौन-सी बुद्धि है वह! तो **स रूप धीरात्मनि**

यावदस्ति—जबतक अपनेमें रूपवत्ताका प्रत्यय है कि मैं यह साढ़े तीन हाथ वाला, मैं यह मनुष्य, मैं यह कर्ता, मैं भोक्ता, मैं यह संसारी, मैं यह परिच्छिन्न अपनेको रोज स्वयं प्रकाश चेतन करते हुए भी, तुम इस शरीरके ऊपरके हाथ वाले, आँखवाले, पाँववाले, मुँहवाले बने हुए हो **तस्य पुरुष विधतः** ब्रह्म तीतरका पक्षी क्यों? आप तैत्तिरीयोपनिषद् पढ़ो तो उसमें तित्तरीजी क्या बोलते हैं? यही बोलते हैं कि पुरुष जैसा होता है वैसा ही ईश्वर होता है। ईश्वरकी पहचान क्या है? पुरुष माने स्त्री भी पुरुष भी, नर मादा दोनों पक्षीमें नर-मादा दोनों, पशुमें, नर-मादा दोनों, कीट पक्षीमें नर-मादा दोनों, लतावृक्षमें नर-मादा दोनों। जैसा स्वयं है। बात क्या है? कि यह हमारे ही आकारमें तो ईश्वर उतर आया है। इसीको 'पुरुषविधतः' बोलते हैं।

पुरुषविधोऽन्वयोत्र चरमोऽन्नमयादिषु यः।

उपनिषद्‌में इस परमात्माका नाम **पुरुषविधः** करके आता है। 'पुरुषस्य विधा इव विधा यस्य'—जैसा यह मनुष्य है, हाथ-पाँव-नाक-मुँह सिर वाला, इसी शक्ल इसके भीतर वह घुसा हुआ है।

अब बोले कि चाहे जैसी मूर्ति बनावाओ, स्त्रीकी मूर्ति बनवाओ और पुरुषकी, बोले—सोना कहाँ है? बोले—पुरुषविध है, माने जो स्त्रीकी शकल बनवायी, शकलके रूपमें कौन है? कि सोना है, ऐसे बोलो—सर्पविध है। रज्जु कहाँ है? कि रज्जु सर्पविध है। रस्सी क्या है? कि साँपके आकारमें है। माने साँप रस्सीमें लिपटा हुआ नहीं है, रस्सीमें लिपटा हुआ साँप नहीं है कि उसमें विवेक करके साँपको अलग निकालोगे, फेंककर और रस्सीको अलग फेंकोगे, अरे वह तो रस्सी ही साँपके रूपमें है।

'ईश्वरकी क्या बढ़िया पहचान है! पुरुषको पहचानो पुरुष माने अपनी आत्माको पहचानो, इसको पुरुषविध बोलते हैं। यह अन्नमय कोशमें अन्नमय पुरुषके रूपमें वही है। प्राणमय कोशमें प्राणमय पुरुषके रूपमें, मनोमय कोशमें मनोमय पुरुषके रूपमें, विज्ञानमय कोशमें विज्ञानमय पुरुषके रूपमें, आनन्दमय कोशमें आनन्दमय पुरुषके रूपमें और कोशातीत होनेपर आकृतिके अत्यन्ताभावके उपलक्षित रूपमें। इसीको बोलते हैं पुरुष।

पुरुषं। पुरुष उसको कहते हैं—पूर्णत्वात्—सबमें वह परिपूर्ण है।

☆

पुरुषं शाश्वतं दिव्यमादिदेवमजं विभुम्।
आहुस्त्वामृषयः सर्वे देवर्षिर्नारदस्तथा॥

सब ऋषि—सब मन्त्र और सब महात्मा। ऋषि माने मन्त्र भी होता है, ऋषि माने महात्मा भी होता है, यही कहते हैं कि श्रीकृष्ण परं ब्रह्म हैं। श्रीकृष्ण परं धाम हैं। श्रीकृष्ण परम पवित्र हैं। श्रीकृष्ण शाश्वत पुरुष हैं। श्रीकृष्ण दिव्य हैं। श्रीकृष्ण आदिदेव हैं। श्रीकृष्ण अज हैं। श्रीकृष्ण विभु हैं। सब यही कहते हैं—**परं ब्रह्म परं धाम पवित्रं परमं भवान्।** भवान् माने आप।

पुरुषं शाश्वतं—और पुरुष जो होते हैं वे अशाश्वत होते हैं, कभी पैदा हुए और कभी मर गये। और, एक कृष्ण ऐसा पुरुष है जो शाश्वत पुरुष है। अनादि अनन्त। **पुरुषं शाश्वतं दिव्यं**—पुरुषका अर्थ मछलीमें पुरुष, कछुआमें पुरुष, वराहमें पुरुष, सिंहमें पुरुष, अश्वमें पुरुष, ब्राह्मणमें पुरुष, क्षत्रियमें-पुरुष, वैश्यमें पुरुष, ब्रह्मचारीमें पुरुष, गृहस्थमें पुरुष, वानप्रस्थमें पुरुष—यह पुरुष है। माने जहाँ जहाँ उपलब्धित्व है, भोक्तृत्व है। पुरुषका लक्षण क्या है? भोक्तृत्व, उपलब्धृत्व। जितनी चीजें मालूम पड़ती हैं, उनको मालूम करनेवाला यही है। दूसरे तो अन्धे हैं, आँखवाला सिर्फ यही है। पुरुष कहनेका अभिप्राय है—**निर्गुणं गुणभोक्तृ च।** सम्पूर्ण विषयोंकी उपलब्धि इसी पुरुषको होती है। यही अन्नमय पुरुषके रूपमें, मनोमय पुरुषके रूपमें, विज्ञानमय पुरुषके रूपमें, भा-रूप, यही प्रकाशस्वरूप है।

अब आओ 'पुरुष' शब्दके बारेमें थोड़ा विचार करें। उपनिषद्में **दिव्यो ह्यमूर्तः पुरुषः स बाह्याभ्यन्तरो ह्यजः।** ऐसे पुरुषका वर्णन आया है। यहाँ देखो 'दिव्यः' के लिए 'दिव्यं' आया ही है। पुरुषका विवेचन दिया। और 'अमूर्तः' के लिए 'विभु' है। और 'स बाह्याभ्यन्तरो ह्यजः' 'अजः' के लिए 'अज' है। 'स बाह्याभ्यन्तरो' के लिए 'दिव्यं' और 'आदिदेव' है। माने श्रुतिमें पुरुषका जिस रूपसे निरूपण है, यहाँ उसका अनुवाद कर दिया।

'पुरुष' माने जो सबमें भरपूर—पूर्णत्वात् पुरुषः। जो परिपूर्ण है उसको पुरुष कहते हैं।

पुरि शयत्वात् वा पुरुषः। सबके हृदय मन्दिरमें वह शयन करता है, सोता है, इसलिए उसको पुरुष कहते हैं। **पूरूणि स्यति इति पुरुषः**। जो बहुत्वमें एकत्वके रूपमें रहता है, जो बहुतोंमें एक है उसको पुरुष कहते हैं। सबके हृदयमें एक-एक पुरुष बैठा है, वही जानता है, वही भोगता है। आँखसे वही देखता है। आँख तो झरोखा है, इसके भीतरसे झाँकनेवाला कौन है? कि वही पुरुष। कान झरोखे हैं, इनके भीतर बैठकर सुननेवाला कौन है? कि वही पुरुष। तो जो अपनी जगहपर बैठे ही बैठे कानसे सुन लेता है—श्रोता, जो आँखसे देख लेता है, द्रष्टा, जो नाकसे सूँघ लेता है—घ्राता, जो त्वचासे स्पर्श करता है स्प्रष्टा, जो चीजसे रस लेता है रसयिता, यह सब श्रुतिमें वर्णन है। श्रोता, स्प्रष्टा, घ्राता, द्रष्टा—यह जो भीतर बैठा हुआ है, इन्द्रियाँ तो उसकी औजार हैं, करण हैं और वह सबके भीतरसे झाँकता है। उसको पुरुष बोलते हैं। सबके दिलमें वही बैठा है—**पुरुषं**।

और कबसे बैठा है? बोले—**शाश्वतम्**। काल जो है वह गत्यात्मक है, कालमें गति है। क्षण पर क्षण, मिनट पर मिनट, घड़ी पर घड़ी, रात दिन पर रात दिन, जन्म पर जन्म, मृत्यु पर मृत्यु, इस कालमें सब चलते रहते हैं। और, शाश्वत कौन है? कि इनके चलनेपर भी जो चलता नहीं, एकरस बैठा रहता है। दिन बीत गये, रात बीत गयी, सेकेण्ड बीत गया, मिनट बीत गया और वह ज्यों-का-त्यों। सृष्टि-पर-सृष्टि हुई और प्रलय-पर-प्रलय हुआ। कितने ब्रह्मा बने कितनी बार सृष्टि हुई।

एक हमारे वृन्दावनमें पल्टू बाबा थे, बोलते थे—*कोटि कलप ब्रह्मा भये*—करोड़ों कल्प ब्रह्मा हुए, परन्तु पुरुष एक ही है। ब्रह्मा पुरुष नहीं होता, ब्रह्मा होता है।

सपने होय होय मिट गये रह्यो सारको सारा।

सपने हो-होकर मिट गये और वह सारका सार जो पुरुष है, वह रह गया। शाश्वत है—माने कालचक्रका उसके ऊपर प्रभाव नहीं है।

दिव्यः—वह दिव्य है दिव्यो ह्यमूर्तः पुरुषः। दिव्यका अर्थ आप ऐसे समझो, जैसे यह मनुष्यका जो शरीर होता है, यह भौतिक होता है। यदि कोई ऐसा शरीर हो जिसमें पंचभूत नहीं है, चेतन-ही-चेतन है, आनन्द-ही-आनन्द है, अविनाशी

है, तब उसको दिव्य पुरुष कहेंगे **अशरीरं शरीरेषु**। सब शरीरधारियोंमें वह बिना शरीरके रहता है—**अनवस्थेऽवस्थितम्**। सब बदलनेवालोंमें वह बिना बदले रहता है। वह अल्प नहीं है, महान् है। वह परिच्छिन्न नहीं है, वह व्यापक है। वह वर नहीं, आत्मा है।

महान्तं विभुमात्मानं मत्वा धीरो न शोचति।

अगर ज्ञानी पुरुष उसको पहचान लेता है तो फिर उसके हर्ष और शोककी निवृत्ति हो जाती है—ऐसा वह दिव्य पुरुष है।

अब **दिव्य**—शब्दका अर्थ क्या है? कि **दिवि भवः**। जो ऐसे आकाशमें प्रकट हो जावे। माँ नहीं, बाप नहीं, जाति नहीं, कुल नहीं, गोत्र नहीं, भाई नहीं और ऐसे ही आकर सामने आकाशमें प्रकट हो जाय—**दिवि भवः दिव्यः**। ऐसे एकाएक आकर सामने झट प्रकट हो गया, उसका नाम हुआ दिव्य।

एक न्यायशास्त्रके ग्रन्थमें यह प्रश्न उठाया है कि जब भक्तोंको भगवान् दर्शन देते हैं, तो किसी लोकमें उसी रूपमें रहते हैं और वहाँसे चलकर आते हैं तब दर्शन देते हैं कि वहीं जहाँ दर्शन देते हैं वहीं प्रकट हो जाते हैं?

तो बोले कि अगर ऐसा मानेंगे कि ईश्वर कहीं एक जगह रहता है, तो दूसरी जगह नहीं रहता है ईश्वर, यह बात होगी। और फिर उसको चलकर आनेमें एक सेकेण्ड, दो सेकेण्डका विलम्ब तो होगा! स्थान भी अलग हो गया, काल भी अलग हो गया और फिर यहाँ नहीं है, अब नहीं है, यह नहीं है।

बोले कि नहीं ईश्वर जो है, वह है हर जगह और हर समय है और जितने रूप हमको दीख रहे हैं, उसीमें वह छिपा हुआ है। तब क्या होता है कि जब किसी भक्तको दर्शन होता है, तो जहाँ दर्शन होता है, उसी जगह पर्देको हटा देता है। है वही और उस समय है, आता-जाता नहीं है—वहीं है। एक पर्दा पड़ा हुआ है। पर्दा कहाँ है? ईश्वरपर? कि पर्दा ईश्वरपर नहीं पड़ा हुआ है, यह आदमीकी अकलपर पर्दा पड़ा हुआ है। जैसे आकाशमें सूर्य चमक रहा हो और बीचमें बादल आजाय तो हमको नहीं दिखता है। तो वह बादलका जो पर्दा पड़ा वह सूर्यपर पड़ा कि आँखपर पड़ा? वह सूर्यपर नहीं पड़ा, सूर्य तो इतना बड़ा है कि कहीं-न-कहीं चमक रहा है। पर्दा तो आँखपर पड़ा। आवरण ईश्वरपर नहीं होता आवरण अन्तःकरणमें होता है, जीवकी बुद्धि पर पर्दा पड़ जाता है जिससे वह ईश्वरको नहीं देख सकता।

यथा गगन घन पटल निहारी।
झांपेऊ भानु कहहिं अविचारी॥
निरखहिं लोचन अंगुलि लाए।
प्रगट जुगल ससि तिन कहँ भाए॥
उमा राम विषयक अस मोहा।
नभ तम धूम धूरि जिमि सोहा॥

घनच्छन्नदृष्टिः घनच्छन्नमर्कं यथा निष्प्रभं मन्यते चातिमूढः।

बादलसे अपनी आँख ढँकती है, लेकिन मूर्ख आदमी यह मानता हैं कि सूर्य ढँक गया। कहाँ है? सूर्यकी चमक कहीं चली गयी? सूर्यकी चमक कहीं नहीं गयी, तुम्हारी आँखपर पर्दा पड़ गया।

तो यह ईश्वर हर जगह, हर क्षणमें, हर अणुमें, हर परमाणुमें रहता है। मूढ़ता है यह मनकी, तुलसीदासजी कहते हैं—

ऐसी मूढ़ता या मन की।
परिहरि रामभगति सुर सरिता आस करत ओसवन की।

भगवान्‌की भक्तिको छोड़ करके यह ओस कणकी आशा करता है।

यह ईश्वर दिव्य है। दिव्य शब्दका एक अभिप्राय तो यह हुआ कि अभी यहीं प्रगट हो जाये, दूसरा दिव्य शब्दका अर्थ है कि हमारे हृदयमें ही है।

दिवि द्योतनात्मके हृदि वर्तमानः।

सब महात्माओंका कहना यही है कि परमेश्वर तो अपने हृदयमें ही है। दिव्यं—वह दिव्य है। तो दिव्य शब्दके संस्कृतमें अनेक अर्थ होते हैं। 'दिव्य' शब्दका अर्थ होता है खिलाड़ी। जो यह संसारका खेल-खेल रहा है उसको दिव्य कहते हैं।

आपुहि खेल, आपु खिलौना, ज्ञानी मूढ़ न कोय।
जेहि जब रचि पचि करैं, सो तब तेहिं छन होय।

स्वच्छन्द क्रीड़ा कर रहा है, रंकको राजा बनावे, राजाको रंक बनावे, ज्ञानीको मूढ़ बना दे, मूढ़को ज्ञानी बना दे।

क्या पण्डित और क्या मूढ़, खेल रहा है। पण्डितको मूर्ख बना रहा है मूर्खको पण्डित बना रहा है, धनीको गरीब बना रहा है, गरीबको धनी बना रहा है, सुन्दरको कुरूप बना देता है, कुरूपको सुन्दर बना देता है—यह क्रीड़ा है उसकी।

एक बात और है इसके अन्दर। दिव्य माने और क्या होता है? जीत उसीकी होती है, कभी देवता जीतते हैं कभी असुर जीतते हैं। आप देखते हैं, कभी बुराई अपने मनपर कब्जा पा लेती है और कभी भलाई अपने मनपर कब्जा प्राप्त कर लेती है। लेकिन भलाई पर बुराई और बुराईपर भलाई तो लगे रहते हैं—दोनों, परन्तु वह ज्यों-का-त्यों रहता है। वह कभी हारनेवाला नहीं है, वह एक-रस है।

देखो तुम्हारे जीवनमें कितनी बार मृत्यु आयी, कितनी बार जन्म आये, कितनी बार रोग आये, कितनी बार शोक और मोह आये और कितनी परिस्थितियाँ बदलती रहीं, पर आत्मदेव तो ज्यों-के-त्यों हैं! यह मान लो कि तुम्हारी आत्मा अमर है। वह सब कुछ देखती भी जायेगी और बनी रहेगी भला! सारा व्यवहार उसीसे सिद्ध होता है। सबमें वही चमक रही है। स्तुति करने योग्य केवल वही है। वही परमानन्द है। तो उसी पुरुषको दिव्य पुरुष कहते हैं।

अच्छा, उसको ढूँढ़ें कहाँसे? बोले—आदिदेवं—आदिदेव है। ये ब्रह्मा, विष्णु, महेश जब प्रकट हुए, सत्त्वगुणमें विष्णु, रजोगुणमें ब्रह्मा और तमोगुणमें रुद्र—ये सब देवता हुए। और—आदिदेवका अर्थ क्या हुआ कि जिसमें-से ये सब प्रकट हुए उसका नाम आदिदेव है। जैसे तुम्हारे कुटुम्बमें कई शाखा होवें, तो जहाँसे सब शाखाएँ अलग-अलग हुई होंगी, उसका जो मूलपुरुष होगा उसको आदिपुरुष कहेंगे।

तो देखो कीड़ेकी शाखा अलग, पतंगेकी शाखा अलग, चिड़ियाकी शाखा अलग, पशुकी शाखा अलग, मनुष्यकी शाखा अलग, देवताकी अलग, सूर्यकी शाखा अलग, चन्द्रमाकी शाखा अलग, आँखकी अलग, कानकी अलग, नाककी अलग, मुँहकी अलग। जहाँसे सब शाखाएँ निकलती हैं उस मूल-स्रोतको आदिदेव बोलते हैं। उसीको ढूँढ़ना पड़ता है। ऐसे आता है जैसे किसी चीजकी नोंक पकड़ते हैं फिर ढूँढ़ते-ढूँढ़ते उसकी जड़ तक पहुँच जाते हैं। नदीको पहले देखते हैं और उसके किनारे-किनारे वहाँ पहुँच जाते हैं जहाँ वह पहाड़में-से निकलती है। ऐसे ये जो नदियाँ बह रही हैं, ढूँढ़ते-ढूँढ़ते इनके मूलमें पहुँचो आदिदेव वहाँ बैठा है।

अब फर्क बताते हैं—आदिदेवमजं विभुम्। और जितने देवता हैं वे जायमान हैं—पैदा होते हैं और वह अजन्मा है। अच्छा यदि उसका जन्म होवे, तो उस जन्मको कोई देखेगा कि नहीं देखेगा? परमात्माका जब जन्म हुआ तो किससे

हुआ? किसने देखा? और किसने उसको बनाया? देखो आप सब देवताओंके बारेमें सोच लो, अमुक अवतार जब प्रकट हुआ तो किससे हुआ? किसने देखा और किसने नगाड़ा बजाया? नगाड़ा बजता है न! तो जिससे हुआ उसको सत् बोलते हैं। जिसने देखा उसको चित् बोलते हैं और जिसने नगाड़ा बजाया, उसको आनन्द बोलते हैं। बोले—बाबा, सबसे पहले तो वही था और सबको देखनेवाला वही है और परमानन्द स्वरूप वही है।

आदिदेवं अजं विभुम्। वह अजन्मा है। अजन्माका अर्थ है, उसका जन्म नहीं है। जन्म कैसे होता है? देखो माँके पेटमें जब बच्चा आता है, तो एक बूँद पानी होता है। वह एक बूँद पानीमें न जाने क्या चमत्कार होता है, कौन-सी चीज वह छिपी होती है, देखो कि बुलबुला पैदा होता है, फिर उसमें एक डिम्ब—एक गोली बन जाती है, वह गोली फिर बढ़ती है उस बढ़ी हुई गोलीमें सिर निकलता है, उसमें पाँव निकलता है, उसमें हाथ निकलते हैं, उसमें पेट-पीठ निकलते हैं। सब पैदा होते हैं, परन्तु उस एक बूँद पानीमें कौन-सी चीज छिपी हुई है। तो बोले—भाई गेहूँमें-से निकली है कि अंगूरमें-से निकली है, कि अनारमें-से निकली है, कि शराबमें-से निकली है कि मांसमें-से निकली है, वह कहाँ छिपी थी? वह उसमें कौन-सी चीज छिपी हुई है, जो चीज पैदा नहीं होती और मौजूद रहती है? अजन्मा। पैदा नहीं होती, अजन्मा है। पहलेसे मौजूद है। तो उसको अजन्मा क्यों बोलते हैं? उसको अजन्मा इसलिए नहीं बोलते कि 'अज' नामकी कोई चीज नहीं है भला! 'अज' इसलिए उसको बोलते हैं कि संसारमें सब चीजें पैदा होनेवाली दिखायी पड़ती हैं। जो देखो वही पैदा हुआ। पेड़ पैदा हुआ, ये सब तो पैदा होते हैं। तो क्या ईश्वर भी ऐसा होगा जो कभी-न-कभी पैदा हुआ होगा। तो बोले—नहीं, नहीं, वह पैदा होनेवाला नहीं है। तब वह कहाँ रहता है?

वह विभु है। जो सब जगह रहे उसे 'विभु' कहते हैं। व्यापकको विभु बोलते हैं। वह अजन्मा कहाँ रहता है? तो असलमें जायमानका—पैदा हुएका निषेध करके उसका स्वरूप समझानेके लिए उसको अजन्मा कहते हैं। परमार्थकी दृष्टिसे तो उसमें जायमान और अजन्मा—दोनों नहीं हैं। उसमें कार्य भी नहीं है और कारणपना भी नहीं है। ऐसा है तो वह है कहाँ? बोले विभु है। तो विभु माने क्या होता है! बोले—जो सब जगह रहे सो विभु। ऐसे मत कहो, ऐसे बोलो कि जिसमें सब जगहकी कल्पना होती है उसका नाम विभु। यह उससे सूक्ष्म बात है। जैसे आकाशमें हवा तैरती है, तो बोले—भाई आकाशमें—'यथाऽकाशी-

स्थितोनित्यं वायु सर्वत्रगो महान्'—आकाशमें वायु तैरती है, या आकाशमें रोशनी तैरती है। तो क्या वायु विभु है? क्या रोशनी विभु है? बोले—नहीं, यह बात बताना चाहते हैं कि जिसमें वायु बहती है वह आकाश है, जिसमें रोशनी तैरती है वह आकाश है। तो चिदाकाश क्या है? चिदाकाश वह है, जिसमें प्रकृति तैरती है, जिसमें महत्तत्त्व तैरता है, जिसमें अहंकार तैरता है, जिसमें पंचतन्मात्रा तैरती है, जिसमें इन्द्रियाँ, देवता और पंचभूत तैरते हैं, उसका नाम विभु होता है।

अच्छा, वह विभु जब आत्मासे अभिन्न होकरके चेतनके रूपमें अनुभव होता है, तब ये सब-के सब द्वैत पदार्थ बाधित हो जाते हैं। तो—**पुरुषं शाश्वतं दिव्यमादिदेवमजं विभुम्।** विभु हैं। यह कृष्णकी महिमा बताते हैं, ऐसा कृष्ण!

जो परमात्माके स्वरूपको समझना चाहते हैं उनके लिए तो यह परमात्माके स्वरूपको समझनेमें मददगार है और जो श्रीकृष्णसे प्रेम करते हैं उनके लिए? अरे हमारे कृष्ण ऐसे! यह देखो रमण महर्षि थे, तो वे वेदान्तका उपदेश करते थे—कोऽहम्! कोहऽम्! मैं कौन हूँ। तो उनके पास जो जिज्ञासु जाते थे, वे यह अनुभव करते थे कि ये हमारे स्वरूपका निरूपण कर रहे हैं। अपने दिलमें यह सवाल करो कि मैं कौन हूँ! और देखो कि तुम कौन हो! और, जो उनके पास प्रेमी भक्त रहते थे, वे कहते थे कि यह रमण भगवान् ऐसे हैं, ऐसे हैं, इनका ध्यान करो और इनकी पूजा करो।

श्रीउड़िया बाबाजी महाराजके पास एक वैद्यजी रहते थे, तो जब बाबा कभी वेदान्तका वर्णन करते तो बहुत खुला करते। ऐसा खुला करते कि एक-एक ब्रह्माण्डमें अलग-अलग ब्रह्मा, अलग-अलग महेश तो जितने ब्रह्माण्ड उतने ब्रह्मा, उतने विष्णु, उतने महेश और ये ब्रह्माण्ड कैसे हैं? तो बोले कि हमारे एक-एक रोम कूपमें अनन्त कोटि ब्रह्माण्ड हैं। इतना बड़ा मेरा स्वरूप है कि मेरे एक-एक रोमकूपमें कोटि-कोटि ब्रह्माण्ड हैं। कोटि-कोटि ब्रह्मा, विष्णु एक-एक ब्रह्माण्डमें और एक-एक रोमकूपमें कोटि-कोटि ब्रह्माण्ड और कोटि-कोटि रोमकूप शरीरमें। तो जैसे आगमें-से चिनगारी निकलती है, वैसे हमारे स्वरूपमें केवल कल्पनासे, केवल अध्यारोपसे, केवल प्रतीतिसे कोटि-कोटि रोमकूपमें कोटि-कोटि ब्रह्माण्ड और एक-एक ब्रह्माण्डमें एक-एक ब्रह्मा, एक-एक विष्णु, एक-एक शिव। जैसे आगमें, परिपूर्ण व्यापक अग्नितत्त्वकी एक-एक चिनगारीमें अनन्तकोटि ब्रह्माण्ड और ब्रह्मा, विष्णु, शिव रहते हैं वैसे ये हमारे स्वरूपमें चमक रहे हैं। ये अनन्त कोटि ब्रह्माण्ड हमारे स्वरूपकी चमक-दमक हैं। ऐसे बोलते थे।

जब बाबा बोल चुकते ना, तब वह वैद्यजी बोलते कि वेदान्तियो! देखलो, क्या ढूँढते हो तुम लोग? वह तो बैटा है यहाँ और तुमलोग जिज्ञासा करते हो ब्रह्म कैसा होता है! देखते नहीं उसको! बस तो यह तुम्हारे सामने बैठा है। ब्रह्मा, विष्णु, महेश्वरका जो बाप है, जिसके एक-एक रोंयेंमें अनन्तकोटि ब्रह्माण्ड, सो तो यह रहा तुम्हारे सामने। अरे इससे प्रेम करो, इसकी सेवा करो, इसको ढूँढ़ते क्या हो? देखो, यह भक्ति और वेदान्त दोनों इकट्ठे हो गये न! माने वही जो है अपने सामने है। तो उपास्य रूप होगया और वही अपना आत्मा है तो बेरूप हो गया, इतना ही तो फर्क है।

यह जो श्रीकृष्ण है, यह वासुदेव, देवकीनन्दन, देवकीनन्दन माने शुद्ध बुद्धिके द्वारा इनका ग्रहण होता है। वासुदेव माने शुद्ध अन्तःकरणमें ये प्रकाशित होते हैं। शुद्ध सत्त्वात्मक वासुदेव है और तत्त्वमस्यादि महावाक्यजन्य शुद्ध प्रज्ञा देवकी है और उसमें श्रीकृष्ण वृत्तिज्ञानके रूपमें प्रकाशित करते हैं और वही अविद्या-पूतनादिका ध्वंस करते हैं। यह जो पौराणिक प्रक्रिया है इसको न समझनेके कारण लोगोंके मनमें शंका होती है, यह तो साक्षात् परब्रह्म परमात्मा है। तो—

आहुस्त्वामृषयः सर्वे देवर्षिर्नारदस्तथा।
असितो देवलो व्यासः स्वयं चैव ब्रवीषि मे॥ 10.13

आहुस्त्वामृषयः सर्वे—बोले सब ऋषि ऐसा कहते हैं। देवर्षि नारद ऐसा कहते हैं। असित, देवल, व्यास ऐसा कहते हैं और तुम खुद ऐसा कहते हो। एक महात्माका नाम अभी सुना—खुदखुदा।

तो अब यहाँ यह भी विचारणीय है, इसपर ध्यान देने लायक है कि इतने प्रमाण क्यों दिये? तो वेदके जो एक-एक मन्त्र हैं वे एक-एक ऋषि हैं—**ऋषन्ति अवगच्छन्ति इति ऋषयः मन्त्रः**। वे परमात्माको जानते हैं। इसका अर्थ है कि सारे वेद परमात्माके स्वरूपका निरूपण करते हैं। **आहुः त्वां ऋषयः सर्वे**।

अब इधर यह भी है कि युधिष्ठिरको, अर्जुनको जितने ऋषि मिले, भीमसेनको, नकुलको, सहदेवको, द्रौपदीको, कुन्तीको, जितने ऋषि-महर्षि मिलते थे, सब यही बताते थे कि ये श्रीकृष्ण साक्षात् ब्रह्म हैं। तो सबने कहा, उसके बाद भी नाम बताते हैं—**देवर्षिर्नारदस्तथा**—देवर्षि नारद ऐसे ही कहते हैं। तो 'ऋषयः' से वेदकी प्रमाणरूपता सिद्ध करते हैं, माने वेद प्रमाण हैं। और 'देवर्षिर्नारदस्तथा'का अर्थ है पांचरात्र भी इस विषयमें प्रमाण है। पांचरात्रके वक्ता

देवर्षिनारद हैं। और **असित** माने यह जो द्रष्टा है, जो कहीं नहीं बँधता, किसीसे राग-द्वेष नहीं करता, सित नहीं होता माने वश नहीं होता; यह भी यही कहता है। और, यह जो **देवल** है, देवल माने सम्पूर्ण जो इन्द्रिय-रूप देवता है, वह भी यही कहता है। और **व्यास** भी यही कहते हैं माने वाक्का जो देवता है—वाणी भी यही कहती है। और तो और वेदको प्रमाण बनानेवाले, पांचरात्रको प्रमाण बनानेवाले, द्रष्टामें आत्मारूपसे रहनेवाले, मन-इन्द्रियोंको प्रकाशित करनेवाले, वाणीको प्रेरणा देनेवाले जो तुम **स्वयं** हो, स्वयं भी ऐसा ही कहते हो।

भाई, सब कहें और सुननेवालेको विश्वास ही न हो; कहनेवाले तो कहें, लेकिन सुननेवाला माने ही नहीं, तो न माने तो सबका कहा बेकार हो जाता है, एक सनातनधर्मी पण्डितजी थे, उन्होंने अखबारमें छपवा दिया कि अगर हमको कोई हरा दे, तो हम अपनी पत्नी उसकी सेवामें दे देंगे। अब जब घरमें लौटे, तो पण्डितानी तो आगबबूला, यह क्या छपा है! तुम हमको दे दोगे! बोले—भाई, अरे तुम विश्वास करो, हम हारेंगे ही नहीं। भला तुमसे बड़ा कोई पण्डित आजाये, कोई विद्वान् आ जाये और कहीं हार गये, पाँव जैसे ऊँचे-नीचे पड़ जाता है, जबान कहीं ऊँचे-नीचे पड़ जाये, तो हमको जूएपर लगा दिया तुमने! तो बोले कि अगर मैं मानूँगा कि मैं हार गया, तब हमारी हार होगी। मैं मानूँगा ही नहीं, तो हमारी हार कैसे होगी? जबतक हार स्वीकार नहीं करें तबतक हार कैसे? जबतक मनुष्य स्वीकृति न दे, स्वयं माने नहीं, तबतक लोगोंका कहना क्या काम देगा, गुरु धरे रह जाते हैं, ईश्वर धरे रह जाते हैं, कह दिया हम नहीं मानते।

एक बार शास्त्रार्थ हुआ एक जगह आर्य-समाज और सनातनधर्मीका। सनातनधर्मीकी ओरसे पढ़े-लिखे नहीं थे! यह है कि आर्यसमाजी लोग वेदका नाम ज्यादा लेते हैं। पढ़ते तो वे कम हैं वेदको, लेकिन नाम ज्यादा लेते हैं। क्योंकि वेदका अर्थ लगानेके लिए जो ग्रन्थ हैं, जो ब्राह्मण हैं, जो आरण्यक हैं, जो निरुक्त है, जिसके द्वारा वेदार्थका ज्ञान होता है, वैसे ग्रन्थोंको पढ़नेवाले कम लोग होते हैं। बहुत लोग ऐसे ही होते हैं जो सुन-सुनाकर और इधर-उधरकी पुस्तकें पढ़कर वेदका नाम लेते हैं।

आर्यसमाजी तो पढ़े-लिखे थे, लेकिन सनातनधर्मकी ओरसे कोई नहीं था। सब सनातनधर्मी इकट्ठे हुए, मन्दिरमें, सभा हुई, पुजारीजीसे पूछा गया—क्या किया जाये महाराज, अब तो मूर्तिका खण्डन होनेवाला है। तो बोले कि तुम ललकार दो सबको, जिसको शास्त्रार्थ करना हो, सो सब आजायँ, हमारे भगवान्

ही सब सम्भाल लेंगे। बोले कि अरे भगवान् क्या बोलकर शास्त्रार्थ करेंगे? बोले—डरो मत, भगवान् सब सम्भाल लेंगे। भगवान् जिसकी रक्षा करते हैं, उसका कोई बाल भी बाँका नहीं कर सकता, हमको कोई नहीं हरा सकता, हम शास्त्रार्थ करेंगे। सबको हरा देंगे बिलकुल पक्का मान लो।

अब लोगोंको विश्वास हो गया कि बाबा पुजारी है, कहीं भगवान् इससे बातचीत करते हों, मिलते जुलते हों, आशीर्वाद देते हों, जीत जाये, क्या पता है? सभा जुड़ी मंचपर, आर्यसमाजकी तरफसे भी लोग आये और सनातन धर्मकी तरफसे भी लोग आये। अब आर्यसमाजी पण्डितसे कहा गया कि तुम मूर्तिपूजाका खण्डन करो। वे खण्डन करनेके लिए खड़े हुए तो पुजारीजीने चुपचाप बैठकर सब सुन लिया—**न तस्य प्रतिमा अस्ति**। कृष्णका खण्डन सुन लिया, रामका खण्डन सुन लिया, शिवजीका खण्डन सुन लिया, फिर उठकर खड़े हुए, बोले—अब हम बोलेंगे। तो बोले—देखो भाई, बात बहुत बनानेसे कोई फायदा नहीं है। वह तो जुबान है अपनी, चाहे जो उससे फर-फर बोलते जाओ। मैं अपने ठाकुरजीको ले आया हूँ यहाँ तुम अपने ठाकुरजीको ले आये हो कि नहीं लाये! तो आर्य समाजियोंने कहा कि हमारे तो निराकार हैं, वे आवेंगे कैसे? पण्डितजी बोले—हमारे तो साकार हैं और हम लेकर आये हैं। तो आओ हम तुम काहेको लड़ते हैं, आओ ठाकुरोंको ही लड़ावें। तुम अपने निराकार ईश्वरसे कहो कि वे हमारा सिर फोड़ें, अगर हम झूठ बोलते हैं तो! और अगर तुम्हारे न आवें तो यह देखो हम शिवजीकी पिण्डी अपने कपड़ोंमें बाँधकर ले आये हैं, हम निकालते हैं और हम अपने ठाकुरजीसे कहते हैं कि तुम्हारा सिर फोड़ें। देखो तुम्हारे ठाकुरजी सिर फोड़ते हैं, हमारा कि हमारे ठाकुरजी सिर फोड़ते हैं तुम्हारा! शास्त्रार्थमें जय-पराजय तो बिलकुल,प्रत्यक्ष होवे, जिसका सिर फूट गया वह हार गया। अब तो महाराज आर्य समाजी लोगोंने कहा—बाबा, तुम जीते हम हार गये, सब लोग लौट गये। यह हार-जीत जो होती है, जब स्वीकार करोगे, तब न! बिना माने तो कोई काम बनता नहीं।

अच्छा देखो इसे इतना युक्तियुक्त और इतना तर्कयुक्त माना जाता है और है भी, अनुभवकी वस्तु है, परन्तु उपनिषद्-प्रमाण—यह अपौरुषेय वचन है वेदान्तमें यही प्रमाण मान्य है। अच्छा, उपनिषद् न हो तो वेदान्त काहेका, लोगोंकी जबाँदराजीका नाम वेदान्त? व्याख्यानबाजीका नाम तो वेदान्त नहीं होगा! उपनिषद्को वेदान्त कहते हैं। उपनिषद्को प्रमाण मानना और ब्रह्मानुभवी गुरुको

प्रमाण मानना और फिर उससे जिज्ञासा करना—यह श्रद्धा ही तो है। यह मान्यता है कि यह ब्रह्मानुभवी गुरु है। क्या तुमने देखा?

देखो, एक आदमी घड़ेको जाने और फिर किसीके बारेमें बतावे कि ये घड़ेको जानते हैं। हमने घड़ा देखा है और उसी घड़ेको उन्होंने देखा है, हम दोनों घड़ेको जानते हैं, तब तो बात बनेगी। और, जिसने घड़ा देखा ही नहीं वह कहे कि ये घड़ेको जानते हैं, तो केवल विश्वासपर ही तो कहेगा न! जिसने ब्रह्मको नहीं जाना है, वह जब किसीको ब्रह्मनिष्ठ, ब्रह्मज्ञानी मानता है तो श्रद्धासे ही तो मानता है। जबतक ब्रह्मानुभूति नहीं हुई है तबतक तत्त्वमस्यादि महावाक्यको यदि ब्रह्मानुभूतिमें प्रमाण मानता है, तो श्रद्धासे ही मानता है। बिना स्वीकृतिके, बिना मान्यताके बिना श्रद्धाके एक कदम भी कैसे आगे चल सकते हो?

अच्छा नारायण! एक हमारे मित्र थे वे भरी सभामें कहते थे 'देखोजी गुरु मत बनाना', 'यह सब गुरुडम हमको पसन्द नहीं है।' फिर बोलते कि 'वेद-शास्त्र मत मानना! ऐसे ही 'देवता नहीं मानना, लोक-परलोक नहीं मानना,'।

फिर कोई पूछता कि महाराज फिर मानें क्या? बोले—'हम जो कहें सो मानो।'

अब ये गुरु बन गये खुद, वेद बन गये खुद। बोलें—हम कहें सो मानो। हे भगवान्! वेद न मानें, वेदान्त न मानें, ईश्वर न मानें। बोले—श्रद्धा किसीपर मत करो। पर हमारी बात मानो। तो तुम्हारे ऊपर श्रद्धा करें न! यही मतलब हुआ न? यह तो कितनी उलटी बात है, आदमीकी समझमें यह नहीं आता है, जो सबके ऊपर श्रद्धाका खण्डन करता है, कहता है हमारी बात मानो तो वह यही कहता है कि हमको गुरु बताओ। बोले—भाई तुम खुद गुरु बनना चाहते हो, गुरुडम तुम फैलाना चाहते हो!

बोले—नहीं, हम गुरु नहीं, हम मित्र बनते हैं। अरे भाई, जब मन्त्र बताओगे, जब इष्ट बताओगे, जब परमात्माका स्वरूप बताओगे, जब सत्य बताओगे, तो उसका नाम तुमने मित्र रखा और पुरानी भाषामें इसका नाम गुरु है। अब नयी भाषामें तुमने उसका नाम मित्र रख लिया। तो ऐसे नहीं बनता है। आप देखो जहाँतक ब्रह्मानुभूति नहीं है वहाँतक अन्त:करण श्रद्धासे शून्य; जब अन्त:करण बाधित होगा, तब श्रद्धा बाधित होगी, जहाँतक अन्त:करण बाधित नहीं होगा, वहाँतक श्रद्धा बाधित नहीं होगी, वहाँतक श्रद्धा रहेगी। तो,

आहुस्त्वामृषयः सर्वे देवर्षिर्नारदस्तथा।

महाभारतमें ऐसे-ऐसे प्रसंग हैं एक प्रसंगमें कहते हैं—

एष नारायणः श्रीमान् क्षीरार्णवनिकेतनः।

यह कृष्ण जो तुम देखते हो साँवरे, अर्जुनके रथपर बैठे हुए, एक हाथसे घोड़ेकी बागडोर और चाबुक पकड़े हुए, दूसरे हाथसे ज्ञानमुद्रामें उपदेश करनेवाले ये कृष्ण कौन हैं?

यही क्षीरसागर शायी श्रीमान् नारायण हैं।

नाग पर्यङ्कतमुत्सृज्य आगतोमधुरां पुरीम्।

ये शेष शैय्या छोड़कर मथुरा पुरीमें आये हैं

पुण्या द्वारवती तत्र यत्रास्ते मधुसूदनः।

ये भगवान् द्वारकामें निवास करते हैं।

साक्षाद् देवो पुराणोऽसौ सहिधर्मः सनातनः।

यही प्राचीन देव हैं और यही सनातन धर्म हैं।

एष वेदविदो विप्रः एषाऽध्यात्मविदो जनाः।
ते वदन्ति महात्मानं कृष्णं धर्मं सनातनम्॥

जो वेदवेत्ता ब्राह्मण हैं और जो अध्यात्मनिष्ठ यहाँ पुरुष हैं वे महात्मा श्रीकृष्णको सनातनधर्मके रूपमें मानते हैं।

पवित्राणां हि गोविन्दः पवित्रपर मुच्यते।
पुण्यान्नामपि पुण्योऽसौ मङ्गलानां च मङ्गलम्।

ये गोविन्द पवित्रोंमें पवित्र हैं और ये पुण्योंमें पुण्य हैं। ये मंगलोंमें मंगल हैं, यही त्रिलोकीमें प्रत्यक्ष परमेश्वर हैं।

यत्र नारायणो देवः परमात्मा सनातनः।
तत्र श्रीकृष्णं जगत् पार्थ तीर्थान्यायतनानि च॥

जहाँ ये कृष्ण हैं वही तीर्थ है, वहीं मन्दिर है।

तत्पुण्यं तत्परं ब्रह्म तत्तीर्थं तत्तपोवनम्।

वही पुण्य है वही परब्रह्म है, वही तीर्थ है, वही तपोवन है।

तत्परमं देवं भूतानां परमेश्वरम्।

सब तपोधन, सब देवर्षि, इन्हीं पुण्यातिपुण्य श्रीकृष्णकी आराधना करते हैं।

भीष्म पितामहने कहा—

कृष्ण एव हि लोकानां उत्पत्तिरपि चाप्ययः।

ये श्रीकृष्ण ही सम्पूर्ण प्राणियोंके आदि कारण और प्रलयके स्थान हैं और इन्हींमें

कृष्णस्य हि कृते भूतमिदं विश्वं चराचरम्।

यह सम्पूर्ण चराचर विश्व श्रीकृष्ण है—गीतामें भगवान् ने बताया है।

अहं सर्वस्य प्रभवो मत्तः सर्वं प्रवर्तते॥ 10.8

अहं कृत्स्नस्य जगतः प्रभव प्रलयस्तथा॥ 7.6

मत्तः परतरं नान्यत्किं चिदस्ति धनञ्जय॥ 7.7

मत्स्थानि सर्वभूतानि न चाहं तेष्ववस्थितः॥ 9.4

न च मत्स्थानि भूतानि पश्य मे योगमैश्वरम्॥ 9.5

स्वयं ऐसा बोलते हैं। सम्पूर्ण वेदोंमें, सम्पूर्ण पाञ्चरात्रमें असित, देवल, व्यास और स्वयं भगवान् यह बात बताते हैं कि मैं ही परंब्रह्म, मैं ही परं धाम, मैं ही परम पवित्र हूँ और मैं ही शाश्वत दिव्य पुरुष हूँ मैं ही आदिदेव अज विभु हूँ।

ये श्रीकृष्ण साक्षाद् परब्रह्म परमात्मा हैं। अर्जुन कहते हैं कि मैं सब मानता हूँ। **सर्वमेतदृतं मन्ये,** इस सत्यको मैं बिलकुल मानता हूँ। मुझे कोई शंका नहीं है—**संशयात्मा विनश्यति**—जिसके मनमें शंका आती है, उसको दुःख होता है। यह संशय जो है यह दुःखका पूर्णरूप है। जिसके जीवनमें दुःखदायी प्रारब्ध उदय होनेवाला होता है, उसके अन्तःकरणमें संशयका जागरण होता है। संशय दूसरी चीज है और जिज्ञासा दूसरी चीज है। जिज्ञासा तो यथार्थको जाननेकी तीव्र इच्छा है और संशय तो मटियामेट कर देनेवाला—

नायं लोकोऽस्ति न परो न सुखं संशयात्मनः। 4.40

अर्जुन कहते हैं—'मेरे हृदयमें संशय नहीं है, श्रद्धा है। तुमपर श्रद्धा है। असित, देवल, व्यासपर श्रद्धा है। देवर्षि नारदपर श्रद्धा है और सब ऋषियों पर श्रद्धा है। मैं मानता हूँ कि तुम साक्षाद् परं ब्रह्म परमात्मा हो।'

अर्जुन कहते हैं कि सब ऋषि हमको बतला गये हैं कि तुम परं ब्रह्म हो, परं धाम हो, परम पवित्र हो। तुम्हीं शाश्वत, दिव्य, आदिदेव, अजन्मा, विभु, परमपुरुष हो। जो ऋषि हमसे पहले हुए वे भी कहते हैं, जो हमारे जीवन कालमें हैं वे भी कहते हैं। तो नाम गिना दिया—ऋषयः—देवर्षि नारदने कहा, असित, देवल, व्यासने कहा, और फिर बोले—**स्वयं चैव ब्रवीषि**—स्वयं अपने श्रीमुखसे ही मुझसे कह रहे हो, किसी औरके कहनेकी तो बात ही क्या हुई?

अब देखो इस प्रसंगको यदि गम्भीरतासे लें, तो अर्जुन यह कह रहे हैं कि श्रीकृष्णके ब्रह्म होनेमें प्रमाण क्या है! तो बोले—वेदोंका और ऋषियोंका वचन।

यह भला वचन प्रामाण्य भी कोई प्रामाण्य है? लोगोंके सामने जब अमेरिकामें, लन्दनमें, रूसमें हमारे महात्मा लोग ब्रह्मका निरूपण करनेके लिए जाते हैं, तो यह बात थोड़ी हल्की पड़ती है कि यह वेदोंने कहा, यह महात्माओंने कहा, इसलिए प्रमाण है, क्योंकि नये लोग तो चाहते हैं कि जिस वस्तुका वर्णन किया जाये, वह वस्तु इन्द्रियोंसे सिद्ध हो, मशीनोंसे सिद्ध हो और नहीं तो मनमें उसकी ठीक-ठीक युक्तियुक्त कल्पना बने, वह बौद्ध-अनुभवका विषय हो। और नहीं तो साक्षी उसको देखे कि यह चीज ऐसी है, कोई तो उसका गवाह होना चाहिए न! जबतक चीज देखी न जाये, चाहे इन्द्रियोंसे देखी जाये, चाहे मनसे देखी जाय, चाहे बुद्धिसे देखी जाय, चाहे हम उसको खुद देखें, लेकिन देखे बिना, उस वस्तुका प्रत्यक्ष अनुभव हुए बिना, अनुभवका विषय हुए बिना उसको क्यों माना जाय?

हमारा ऐसा ख्याल है कि इस बातको आजकल जो बहुत मशहूर-मशहूर वेदान्ती हैं और विदेशोंमें खूब प्रचार करके आते हैं, उनमें-से भी एक-दो प्रतिशत वेदान्ती ही वेदान्तकी इस बातको समझते हैं। एक प्रतिशत दो प्रतिशत भी मैं इसलिए कहता हूँ कि उनके प्रति आदर या श्रद्धाका जो भाव है वह बना रहे, उनका किसी तरहसे अनादर नहीं हो।

वेदान्तमें यह प्रसंग उठाया है कि शास्त्रको प्रमाणके रूपमें कहाँ उद्धृत करना चाहिए!

देखो अब इस प्रसंगमें शास्त्र और महात्माओंके वचन-प्रामाण्यको उद्धृत कर रहे हैं। इसका बड़ा भारी-विवेक है कि किसीकी बातको प्रमाण कहाँ मानना! जैसे कोई बतावे कि यह रूमाल है। तो यह रूमाल है किसीने तुमको बताया, तो इसमें वचन प्रमाण हुआ कि तुम्हारी आँख प्रमाण हुई? इसमें वचन प्रमाण नहीं हुआ, इसमें तुम्हारी आँख प्रमाण हुई। आँखसे दीखती हुई जो चीज है, उसका नाम किसीने बता दिया कि यह रूमाल है। तो प्रमाणान्तरसे अधिगत जो वस्तु होती है और प्रमाणान्तरसे बाधित भी हो जाती है, उस वस्तुका निरूपण करनेमें शास्त्रकी कोई प्रमाणिकता नहीं है। जैसे आपको घड़ा आँखसे दिखता है, तो अब वेदमें लिखा हो कि इसका नाम घड़ा है तब आप मानेंगे उसको? या कोई आकर आपको बतावे कि इसका नाम घड़ा है, तब आप मानेंगे उसको?

नारायण, घड़ा तो आपको आँखसे मालूम पड़ता है और नहीं होगा, तो आँखसे ही मालूम पड़ जायेगा कि नहीं है, घड़ेका होना और न होना दोनों आँखसे दिखता है। इसलिए उसमें वचनकी प्रधानता कहाँ हुई?

तो जब अपने मनमें गुस्सा आवेगा, तब उसके लिए भले ऐसे न कोई बतावे, कि गुस्सा आया तो कोई ऐसी मशीन लगा देंगे कि नाड़ी कितनी बढ़ गयी है, खूनकी गति कितनी बढ़ गयी है, पता चल जायेगा, वह भी यन्त्रगम्य हो सकता है और साक्षी भास्य तो है ही। अब मैं सुखी हूँ कि दु:खी हूँ, यह बात मशीनसे थोड़े ही मालूम पड़ेगी। मैं सो गया था कि जाग रहा था—यह बात साक्षी भास्य है, मालूम पड़ती है। लेकिन यदि कोई कहे कि तुम सो गये थे, तब मैं कहूँ कि हाँ मैं सो गया था। इसमें क्या वचनकी जरूरत है कि तुम सो गये थे? अरे तुमने सपना देखा, तो इसमें किसीके बतानेकी जरूरत है? तो ये सब जो बातें होती हैं, इसके लिए ही अगर शास्त्रवचन होवे, माने जो हो रहा है उसीको बतानेके लिए अगर शास्त्र होवे, तो शास्त्र अनुवाद हुआ। अनुवाद माने इन्द्रियोंसे जो अनुभव होता है, उसीको शास्त्र बताता है। जैसे दुनियामें लोग कहानी लिखते हैं; घरोंमें जैसी घटना होते देखते हैं, वैसा लिख देते हैं। मशीनोंसे जैसे बात मालूम पड़ती है, वैसा लिख देते हैं।

शास्त्र क्या बताता है? एक ऐसी बात बताता है, जो न तो आँखसे दिखे, अगर निर्गुण निराकार परमात्मा आँखसे मालूम पड़े, नाकसे मालूम पड़े, जीभसे मालूम पड़े, त्वचासे मालूम पड़े अरे इससे तो छोटी-छोटी चीजें, थोड़ी-थोड़ी मालूम पड़ती हैं। अखण्ड वस्तु उनसे नहीं मालूम पड़ती है। मनमें इसकी कल्पना

होती है और बुद्धिसे अखण्ड वस्तु मालूम भी पड़े तो वह शून्य है कि चेतन ब्रह्म है, जड़ है कि सत् है कि शून्य है—यह कैसे मालूम पड़ेगा? बुद्धिसे यदि वस्तुकी अखण्डता मालूम भी पड़े, तो क्या निश्चय करेंगे?

असलमें शास्त्र-वचन इसमें प्रमाण है, यह कहनेका अभिप्राय क्या है—यह भी समझनेकी जरूरत है। नहीं तो वेदान्त ही कट जायेगा। वेदान्त माने उपनिषद्, ब्रह्म विद्या। यदि वह मशीनसे चरितार्थ हो जाय, यदि वह इन्द्रियोंके ज्ञानसे ही प्राप्त हो जाय, तो उसमें उपनिषद्की—ब्रह्मविद्याकी कोई जरूरत नहीं रहती है।

देखो 'मैं हूँ'—समझो, तो यह बात आँखसे तो नहीं देखी जाती, क्योंकि आँखको जो देखता है सो मैं है। जो कानसे सुनता है सो मैं है। अच्छा, यह मनसे तो नहीं जाना जाता, जो मनको जानता है सो यह है। और यह बुद्धिसे नहीं जाना जाता, जो बुद्धिको जानता है सो यह है। इस 'मैं' की बात देखो! कौन-सी मशीन अपनेमें लगाकर देखोगे? मशीन लगानेवाला मैं है। तो—

प्रमाता च प्रमाणं च प्रमेयं प्रमितिस्तथा।
यस्य प्रसादात् सिद्ध्यन्ति तत्सिद्धौ किमपेक्ष्यते॥

किसकी सत्तासे प्रमाताकी सिद्धि होती है? प्रमाणकी सिद्धि होती है? प्रमेयकी सिद्धि होती है? प्रमाकी सिद्धि होती है? उसकी सिद्धिके लिए किसी प्रमाणकी जरूरत नहीं है। बोले—'मैं हूँ'—इसमें क्या प्रमाण है? यह प्रश्न जो तुम्हारे मनमें उठता है, यही प्रमाण है। अगर तुम होते नहीं, तो यह प्रश्न कहाँसे उठता?

अच्छा देखो, तो तुम हो—यह बात ठीक है और तुम जानते हो, यह बात भी ठीक है। यह बिना आँखके, बिना कानके, बिना नाकके, बिना जीभके, बिना मशीनके और बिना मनके, सम्भावनाके और बिना बुद्धिके विचार किये यह बात सिद्ध है कि मैं हूँ। यह साक्षी है। सम्पूर्ण करणोंका भी साक्षी है और सम्पूर्ण प्रमाणोंका भी साक्षी है। लेकिन अब यह देखो कि साक्षी तो स्वतः सिद्ध है। साक्षीकी 'अस्ति, पर कोई आवरण नहीं है और साक्षीके 'भाति' पर भी कोई आवरण नहीं है और साक्षीके 'प्रिय' होनेपर भी कोई आवरण नहीं है। मैं हूँ, मैं जानता हूँ और मैं प्यारा हूँ। इसपर कोई पर्दा नहीं है। बिलकुल निरावरण सत्य है यह सृष्टिमें, थोड़ा-सा अन्तर्मुख होकर विचार करो, तो यह बात मालूम पड़ जायेगी। इसमें भी वचन-प्रमाणकी कोई जरूरत नहीं है। एक ओर तो यह बात

मालूम पड़ती है कि मैं हूँ, मैं साक्षी हूँ, मैं जानता हूँ, मैं चेतन हूँ, मैं प्रिय हूँ। अब दूसरी ओर बात यह है कि जिसका मैं साक्षी हूँ, जिसको मैं जानता हूँ वह क्या चीज है? कोई-कोई भाग्यवान् ऐसे होते हैं, जो पहलेसे ही साक्षीका इतना तीक्ष्ण विवेक करते हैं कि यह साक्षी देश-कल्पना, काल-कल्पना, वस्तु-कल्पना, सब कल्पनाओंका साक्षी होनेके कारण, देश, काल, वस्तु कल्पनाके अतिरिक्त हैं नहीं और मैं कल्पनाका साक्षी हूँ, इसलिए देश, काल, वस्तु मुझमें कल्पित हैं। इसको एक जीववादकी प्रक्रिया बोलते हैं और दूसरी प्रक्रिया यह है कि जो स्पर्श, रूप, रस, गन्ध हमको बाहर मालूम पड़ते हैं—ये पंचभूतमें हैं और पंचभूत तामस अहंकारमें हैं और इन्द्रियाँ, मन सात्त्विक अहंकारमें हैं, कर्म प्रक्रिया आदि राजस अहंकारमें हैं और अहंकार महत्तत्त्वमें है, महत्तत्त्व अव्याकृत है और समूची सृष्टिका एक आधार है परमात्मा।

अब इधर न तो साक्षी यन्त्रोंसे मालूम पड़ता, करणोंसे, जो चीज करणोंसे मालूम पड़ती है, वही यन्त्रसे मालूम पड़ती है। जो आँखसे मालूम पड़ेगी वही दूरबीन-खुर्दबीनसे मालूम पड़ेगी। अगर आँख न हो तो दूरबीन लगानेसे कुछ मालूम पड़ेगा? जो चीज अन्तःकरणसे मालूम पड़ती है, वही मशीन लगाकर भी मालूम पड़ती है। इसलिए यह समूची सृष्टिका जो आधार है वह अखण्ड है, वह अपरिच्छिन्न है, वह परिपूर्ण है, वह अविनाशी है।

देखो इधर न साक्षी दूरबीन, खुर्दबीनसे मालूम होता है और न तो अखण्ड वस्तु जो सृष्टिके मूलमें है, वह खुर्दबीन-दूरबीनसे मालूम पड़ती है। न यहाँ मनस् तत्त्वका प्रवेश है न वहाँ, न यहाँ बुद्धितत्त्वका प्रवेश है न वहाँ, वह बुद्धिका विषय नहीं है और यह भी बुद्धिका विषय नहीं है।

जब सब प्रमाण हार जाते हैं आँख, कान, नाक, त्वचा, जिह्वा, मन, बुद्धि—ये सब जिसको जाननेमें हार जाते हैं, उस अपने साक्षीको ब्रह्म बतानेके लिए कौन-सा प्रमाण उपयोगी हो सकता है? उसके लिए बोले कि—तुम अपनेको नहीं जानते हो, यह किस प्रमाणसे सिद्ध है! कोई प्रमाण है इसमें? आँख प्रमाण है अपनेको न जाननेमें, कान प्रमाण है? त्वचा प्रमाण है? रसना प्रमाण है? नासिका प्रमाण है? अज्ञानमें क्या प्रमाण है? अरे 'अहं अज्ञः' यह कल्पना ही तो प्रमाण है न! इस कल्पित परिच्छिन्नताको दूर करनेके लिए 'दशमस्त्वमसि'—इस वाक्यके समान वचन-प्रमाण होता है।

दशमस्त्वमसि क्या होता है? वह आपको मालूम है। एक बार दस आदमी

नदी पार करनेके लिए चले। पहले गिन लिया कि भाई नदी लम्बी-चौड़ी है, कहीं कोई पीछे बह न जाये—डूब न जाये, गिन लो। तो गिन लिया लोगोंने दस थे। अब जब नदी पार कर ली और गिना, तो नौ ही हुए, दस होवे ही नहीं। अब रोने लग गये कि हाय-हाय एक आदमी तो खो गया, दसवाँ आदमी खो गया। सब गिनें और कहें कि दसवाँ आदमी खो गया। हम नौ ही हैं। तो एक जानकार आदमीने पूछा कि क्या बात है? बोले—दसवाँ खो गया। बोला—कै आदमी चले थे वहाँसे? कि दस चले थे, कि अब कितने हैं? कि नौ हैं। उसने देखा, बोला—हैं तो दस! बोले—अरे दसवाँ है भाई, वह बहा नहीं, वह मरा नहीं। बोले—सचमुच है? बड़ी खुशीकी बात है। जो सिर पीट रहे थे, रो रहे थे, वह रोना बन्द हुआ, कि कहाँ है? तुमने देखा है! कहीं पीछे रह गया है? बोला—नहीं, यहीं है। अरे राम-राम यहीं है? कि हाँ, यहीं है। कैसे है? अच्छा गिनो। एक-दो- तीन-चार····नौ हुए। बोले—अब दसवाँ! तुमने अपनेको छोड़ दिया है न! दसवें तुम हो। अब जो गिने महाराज, तो वही दसवाँ निकले।

अब देखो यह जो दसवाँ खो गया था यदि असलमें वह खो गया होता, आँखसे दस देखे गये थे और खो जानेपर केवल वचन प्रमाणसे नहीं मिलता। आँख प्रमाणसे यदि दस थे न, और आँख ही के प्रमाणसे वह खो जाता, तो असलमें वचन प्रमाणसे नहीं मिलता। वह कैसे मिला? कि भ्रमसे खो गया था।

भ्रमसे जो वस्तु खो जाती है, वह वाक्य-प्रमाणसे मिल जाती है। खोयी नहीं थी, खोयी मालूम पड़ रही थी। तो असलमें अपनी ब्रह्मता, अपनी आत्मा ब्रह्म है। इसका ब्रह्मपना किसी दूसरे प्रमाणसे मालूम नहीं पड़ता, भ्रमसे ही अपना ब्रह्मपना भूला हुआ है और वाक्यप्रमाणसे ही यह भ्रम निवृत्त हो जाता है।

वाक्य किसका होना चाहिए? वक्ता कौन हो? बोले—बस इस बातमें यही तारीफ है कि यदि विश्वास करना हो तब तो वक्ता कौन है—इसकी खोज करनी पड़ती है, इस बातपर विश्वास करें कि नहीं करें! यह आप्त-पुरुष है कि नहीं, यह महात्मा है कि नहीं, यह गुरु है कि नहीं! लेकिन यदि वस्तु प्रमाण होवे न; एक वक्ताकी प्रामाणिकता और एक वस्तुकी प्रामाणिकता, अगर कहने भरसे चीज मिल जाय, तो कहनेवाला कौन है, यह कहनेकी जरूरत? अगर कहने भरसे चीज मिलती हो।

वक्ताको यदि प्रतिष्ठित करके, सिंहासनपर बैठाकर कि यह सच्चा है और उसका वचन सुनोगे तो वक्ता प्रधान वचन हो जायेगा और यह जो ज्ञान होता है,

यह वक्ताकी प्रधानतासे नहीं, वस्तुकी प्रधानतासे ज्ञान होता है। इसीलिए वेदका वक्ता कौन है, यह बात बतानेकी जरूरत नहीं है। वेदमें क्या कहा गया है, वेदान्तमें क्या कहा गया है—यह देखनेकी जरूरत है। नहीं तो वक्तापनका अभिमान वेदसे बाधित नहीं होगा। वेद यथार्थ वस्तुको बताता है, वक्ता कौन है—इसपर वेदका जोर नहीं है। इसीसे अपौरुषेय वाणी बोलते हैं। जहाँ कोई आदमी बोलता है, वहाँ भ्रम हो सकता है, प्रमाद हो सकता है, ठगी हो सकती है, उसकी इन्द्रियोंसे कम मालूम पड़ सकता है। भ्रम, प्रमाद, विप्रलिप्सा, करणापाटव दोष हो सकता है, परन्तु यह वचन वक्ताके अन्तःकरणका कोई दोष लिये बिना, वस्तुका निरूपण करता है। इसलिए 'तत्त्वमस्यादि' जो महावाक्य हैं, वही आत्मा और परमात्माकी एकता बतानेमें परम प्रमाण होते हैं। इसलिए यह मत सोचो कि किसने कहा, यह सोचो कि किसने कहा, यह सोचो कि क्या कहा!

अब जैसे सगुण ब्रह्मविद्या हो, गोलोकमें ईश्वर रहता है, उसका वर्णन हो, तो किसने कहा—यह ढूँढ़ो। उसमें वक्ताकी प्रामाणिकता मालूम पड़ जायेगी कि बोलनेवालोंमें वक्ता प्रामाणिक है कि नहीं! यदि चीज ही ऐसी बता दी गयी कि बिलकुल तुम्हीं हो, तो बच्चेने कहा कि जवानने कहा कि बूढ़ेने कहा यह देखनेकी कोई जरूरत नहीं। देखो चीज सच्ची है कि नहीं!

तो 'मैं ब्रह्म हूँ'—यह बात दूसरे प्रमाणसे मालूम भी नहीं पड़ती और दूसरे प्रमाणसे कटती भी नहीं। अब वही प्रत्यक्षके विरुद्ध बोले, शंकराचार्य भगवान्ने एक जगह लिखा—

नहि श्रुतिशतैरपि घटं पटयितुं शक्यते।

यदि हजार वेदका मन्त्र उद्धृत करके कोई वर्णन करे कि यह घड़ा नहीं, कपड़ा है, तो देखनेवाला जो घड़ेको देख रहा है, वह उसको कपड़ा कैसे मानेगा! तो यदि किसी भी प्रमाणसे यह बात दीख रही है कि मैं कौन हूँ। दुनियाके किसी भी प्रमाणसे यह बात नहीं दिख रही है और किसी भी प्रमाणसे नहीं काटी जा सकती। इसलिए यह आत्मा, कोई यन्त्र, कोई मन्त्र, कोई वैज्ञानिक, कोई साईंसदाँ, न तो अपने अन्तर-मन्तरसे आत्माको देख सकते हैं और न तो आत्मानुभूतिको काट सकते हैं। इसलिए 'आत्मा है'—यह तो बिना वेदके ही सिद्ध है, 'आत्मा जानता है'—'आत्मा प्रिय' है। परन्तु आत्मा अद्वितीय ब्रह्म है—यह बात बिना वेदके सिद्ध नहीं है, इसलिए यह बात अपौरुषेय वचन वेदान्तके द्वारा ही सिद्ध होती है। अतः परमात्माके सम्बन्धमें मशीनी औजार प्रमाण नहीं

होते! खुर्दबीन, दूरबीन और यह मशीनी औजार माने आँख-कान-नाक, जीभ दिल और दिमाग। ये परमात्माको देखनेमें कामयाब नहीं होते। इनको जो देखनेवाला है, इनका जो द्रष्टा है, इनका जो साक्षी है, वह अनुभव स्वरूप है, वह अनुभव-सिद्ध है और उसकी ब्रह्मता श्रुति सिद्ध है।

श्रुतिके द्वारा भ्रान्ति, आवरण-भंग कर दिये जाने पर वह स्वयंका स्वयं है। तो—

आहुस्त्वामृषयः सर्वे देवर्षिर्नारदस्तथा।
असितो देवलो व्यासः स्वयं चैव ब्रवीषि मे॥ 13॥

जितने वेद मन्त्र हैं उनका परम तात्पर्य इसीमें है कि ये श्रीकृष्ण परब्रह्म परमात्मस्वरूप हैं।

'ऋषयः' माने वेदके-मन्त्र। 'सर्वे'का अर्थ है सर्वे वेदा यत्पदमामनन्ति। **वेदैश्च सर्वैः अहमेव वेद्यः**। और, **देवर्षिर्नारदस्तथा**—भक्ति भजनके जो आचार्य हैं—देवर्षि नारद, पांचरात्र आगमके जो आचार्य हैं वे भी यही कहते हैं। और, **असितो देवलो व्यासः** और असित जो हैं, कहीं बद्ध न होनेवाले असंग, आत्मानुभूतिसे भी यही सिद्ध है जिनके देवर्षि भी मननसे यही बताते हैं, एक तो व्यासजी जो पुराणाचार्य हैं, वह भी अपने प्रवचनसे—वाणीसे यही बताते हैं। वाणीसे बतावे सो ज्ञानी, मननसे बतावे सो देवल और समाधिसे बतावे सो असित और भक्तिसे बतावे सो नारद और वेद मन्त्रसे बतावे सो ऋषि। **स्वयं चैव,** माने प्रत्यक्ष अनुभवके विषय होकर, अनुभवरूप होकरके **स्वयं च तत्त्वं, स्वयमेव बुद्धं**—स्वयं तुम्हीं बता रहे हो। तो—

सर्वमेतदृतं मन्ये यन्मां वदसि केशव।
न हि ते भगवन्व्यक्तिं विदुर्देवा न दानवाः॥ 14॥

हे केशव! भगवान्‌का नाम है केशव। केशव माने जो बालोंका खूब शौकीन हो, उसको केशव बोलते हैं। केश जिसके सुन्दर हों। शौकीन तो बहुत लोग होते हैं, लेकिन शौकीन होनेपर भी बाल तो जिसके जैसे हैं वैसे ही रहेंगे, किसीके मोटे-मोटे होते हैं, तो मोटे-मोटे बाल अच्छे नहीं माने जाते। किसीके बाल दूर-दूर होते हैं—विरल, तो वह भी अच्छे नहीं माने जाते। किसीके बाल बहुत रूखे होते हैं, वो भी अच्छे नहीं माने जाते। किसीके बाल खड़े होते हैं, खड़े बाल भी अच्छे नहीं माने जाते। बालका भी एक हिसाब होता है। बाल काले हों, घने हों, घुँघराले हों, चिकने हों, स्निग्ध हों।

श्रीकृष्णके बाल कैसे हैं? बड़े सुन्दर। बोले—यह कृष्णके साथ बालका क्या सम्बन्ध है? परमात्माका वर्णन कर रहे, उसमें फिर बालोंका वर्णन आगया। महाभारतमें जहाँ भगवान्‌के बालका वर्णन है, वहाँ बताया है—**अंशवो ये प्रकाशन्ते। अंशवः केशसंज्ञिता:।** भगवान्‌के मुखमण्डलसे जो ज्योति निकलती है, जो प्रकाश निकलता है, जैसे सूर्यमें-से किरणें निकलती हैं, चन्द्रमामें-से किरणें निकलती हैं, चमकदार, वे बालकी तरह लम्बी-लम्बी जाती हैं, इसीलिए भगवान्‌के बालका भी वर्णन आता है, दाढ़ी-मूँछका भी वर्णन आता है। 'अंशु' माने किरण, प्रकाशके रेशे, ज्योतिर्मय, भगवान्‌के मुखके चारों ओर जो ज्योतिर्मण्डल है, उसको केश बोलते हैं। **प्रशस्ता केशा अस्य**—जिनका ज्योतिर्मय मुखमण्डल अत्यन्त प्रशस्त है।

अब यह ध्यान करनेवालोंके कामका हो गया केशव। अब प्रेमियोंके कामका आपको बताते हैं। उनके बाल बड़े सुन्दर हैं। वृन्दावनी लोग कहते हैं कि वे बाल सँवारनेमें बड़े निपुण हैं। *वेणी गूंथ कहाँ को जानै!* वे वेणी गूँथने भी बहुत निपुण हैं।

अब शरणागतोंका भाव देखो। केशव माने क्या होता है? **कश्च अश्च ईशश्च केशा:। तान् वयते प्रशास्ति।** **क**=प्रजापति माने ब्रह्मा। **अ**=अज माने विष्णु और **श**=ईश्च माने शंकरजी। इन तीनों पर जो शासन करे माने जो सर्वान्तर्यामी सर्वेश्वर है, उसको केशव कहते हैं। महाभारतमें 'केशव' शब्दकी व्युत्पत्ति यह दी हुई है। यह उद्योगपर्वमें है। एक ब्रह्माण्डमें ये तीन होते हैं—एक ब्रह्माण्डमें ये तीन होते हैं—एक-एक। और अनन्तकोटि ब्रह्माण्डमें ये भी अनन्तकोटि हो गये। अनन्त कोटि ब्रह्मा, विष्णु और शिवको जो अपने शासनमें रखता है उसका नाम केशव! परमेश्वर, सर्वेश्वर, सर्वान्तर्यामी परम पुरुष केशव है।

अर्जुन कहते हैं हे केशव! **यन्मां वदसि अहं एतद् ऋतं मन्ये।** तुम मुझसे जो कुछ कह रहे हो उसको मैं बिलकुल ऋत समझता हूँ। 'ऋत' वेदका वचन है—**ऋतं च, सत्यं च।** ऋत कहते हैं वेदके मन्त्रको।

मैं मानता हूँ कि जो तुम कहते हो, वही वेदका परम तात्पर्य है। सम्पूर्ण वेद यही निरूपण करते हैं जो तुम कह रहे हो और मेरा पूरा विश्वास है।

श्रद्धावित्तो भूत्वा आत्मन्येवात्मानं पश्येत्।

परमार्थके मार्गमें चलना हो, तो श्रद्धाकी पूँजी लेकर चलना। जैसे किसीको यहाँसे विदेश यात्रा करना हो, तो पहलेसे व्यवस्था कर लेता है, हमको डालर

मिल जाये, पौण्ड मिल जाय तब विदेश जाता है। ऐसे ही अनजाने और अनदेखे साजनसे मिलनेके लिए जब चलना होता है, तो श्रद्धाकी बहुत बड़ी पूँजी लेकर चलना पड़ता है। इसमें पग-पगपर संशय आता है। अविश्वास आता है, विघ्न आता है। यदि श्रद्धाकी पूँजी न हो, तो इन विघ्नोंका सामना नहीं किया जा सकता।

श्रद्धावान्लभते ज्ञानं तत्परः संयतेन्द्रियः।

जो श्रद्धावान् होता है उसको ज्ञानकी प्राप्ति होती है। जिसके हृदयमें श्रद्धाका सम्बल नहीं है, **अरे वा श्रद्धावित्तो भृत्वा**। श्रद्धा क्या है? कि वित्त है। वित्त है माने पूँजी है—धन है। इसमें गला काट रहा हो कोई और मनमें श्रद्धा बनी होवे कि इसमें हमारा कल्याण है। ईश्वर रोग दे, वियोग दे, मौत दे, तब भी मालूम पड़े कि ईश्वर हमारा भला ही कर रहा है। ऐसी श्रद्धा हो हृदयमें तब मनुष्य इस मार्गपर चल सकता है—

जे श्रद्धा संबल रहित नहि संतन कर साथ।
तिन कहँ मारग अगम अति जिनहिं न प्रिय रघुनाथ॥

परमात्मासे प्रेम हो, संतोंका संग हो और श्रद्धाकी खुराक अपने साथ हो। श्रद्धाकी खुराक, सत्संग और परमात्माके प्रति प्रीति—ये तीनों बातें हों, तब इस रास्तेमें आगे बढ़ना। तब परमात्माकी अनुभूति उनको हो सकती है। तो श्रद्धा चाहिए।

अर्जुन कहते हैं—हमारे हृदयमें पूरी श्रद्धा है। जैसा कहते हो बिलकुल वैसा ही है।

श्रद्धाको कैसे समझें? एक बड़े तार्किक महात्मा थे, उनकी बात मैं बता रहा हूँ, बोले कि एक गुरु थे, उनके सामने एक पीतलका लोटा आया। गुरुजीने उठाकर देखा, बेचारे भोले-भाले थे, उन्होंने कहा—यह सोनेका है क्या? चमक रहा था। गुरुजीके मुँहसे निकल गया। एकने कहा—नहीं, महाराज यह सोना नहीं है, पीतल है। दूसरेने कहा—आपकी नजरसे यह सोनेका दिखता है, तो सोनेका होगा, जरूर सोनेका ही है। लेकिन हमारी दुनियाबी नजरसे यह पीतलका दिखता है। आपको जब यह सोनेका दिखता है तो यह सोनेका ही है। तीसरेने कहा—महाराज यह बिलकुल सोनेका है। आपके मुँहसे निकल गया कि यह सोनेका है तो आपके मुँहसे निकली हुई बात झूठी कैसे होगी? चौथेने लोटा उठाया और ले गया बाजारमें। और बाजारमें सर्राफके सामने उसने रखा, तो वह लोटा सोना हो गया!

गुरुजीने संकल्प नहीं किया 'यह सोना हो जाय' और सर्राफने भी

संकल्प नहीं किया कि यह पीतलसे सोना हो जाय। वह जो श्रद्धालुकी दृष्टि थी, श्रद्धालुकी जो श्रद्धासे सिक्त दृष्टि थी, उस दृष्टिने पीतलको सोना बना दिया। श्रद्धामें बड़ी भारी शक्ति होती है। या तो सिद्धके संकल्पमें शक्ति होती है या तो साधककी श्रद्धामें शक्ति होती है। इन दोनोंसे ही वस्तुके स्वरूपमें परिवर्तन होता है।

यह बात हमको एक बहुत बड़े तार्किक महात्माने सच्ची घटनाके रूपमें नहीं, श्रद्धाका तारतम्य समझानेके लिए बतायी थी कि शिष्यकी श्रद्धा कैसी होनी चाहिए, श्रद्धाका स्वरूप क्या है? श्रत्‌को धारण करना। वेदान्तके वचनको, गुरुके वचनको, सत्यके रूपमें धारण करना, यही बिलकुल सत्‌ है। उसमें यदि दुविधा आवे मनमें तो उसको अन्तःकरणकी अशुद्धि समझना। इसीलिए उपनिषद्‌में आता है—**श्रद्धस्व सौम्य**। श्रद्धा करो बेटा!

परमहंस रामकृष्णसे किसीने पूछा—महाराज परमार्थके मार्गमें श्रद्धाकी जरूरत है कि नहीं है? हम तो किसीपर श्रद्धा नहीं करते। बोले—नाईपर तो करते हो! उसके सामने अपना सिर झुका देते हो, उस्तरा गलेपर लगा दे तो? क्यों नहीं शंका होती? डाक्टरपर तो करते हो न कि दवामें कहीं जहर न दे दे! श्रद्धा करते हो डाक्टरपर! अरे भाई घरमें कोई भोजन बनानेवाला है तुम्हारे! नौकर है कि घरवाली है। श्रद्धा करते हो कि ठीक बनाया होगा! यह तो नहीं सोचते कि जहर डाल दिया होगा!

सारे व्यवहारमें श्रद्धा-ही-श्रद्धा करते फिरते हो, एक दूसरेपर विश्वास करते हो और परमार्थके मार्गपर चलना चाहते हो और कहते हो कि श्रद्धा नहीं करेंगे! यह बात जरूर है कि इसमें मनन है, निदिध्यासन है, इसमें विचार है, इसमें श्रवणके अनुकूल, देखो कितना फर्क तुम्हारे मनमें आता है, कितनी युक्ति तुम्हारे मनमें आती है, तत्त्वमस्यादि महावाक्यका समर्थन करनेके लिए यह कितना युक्तियुक्त, कितना तर्क-संगत सिद्धान्त है, यह तो देखनेसे मालूम पड़ेगा, लेकिन श्रद्धा तो चाहिए न! कृष्णने कहा कि मैं ऐसा हूँ। अर्जुनने कहा—मैं मानता हूँ, जैसा तुम कहते हो, वैसा ही मैं मानता हूँ। मेरी मान्यतामें कोई दोष नहीं है।

अब आगेका जो विचार है, वह कल करेंगे।

☆

यह अर्जुनका प्रश्न 'परं ब्रह्म'से प्रारम्भ होता है और 'अमृतं' पर समाप्त होता है—'शृण्वतो नास्ति मेऽमृतम्'। यह 'परं ब्रह्म' अमृत है। अर्जुनका प्रश्न ही ब्रह्माऽमृत हो गया है। इसका नाम 'ब्रह्मामृत-प्रश्नोपनिषद्' है।

अर्जुन यह तो कह ही रहे हैं कि देवता भी आपको नहीं जानते तो दानव कहाँसे जानेंगे? पर साथ-ही-साथ उनके वचनकी जो अभिव्यक्ति है वह विलक्षण है। उसमें किसी भूमिककी आवश्यकता नहीं है—

स्वयमेवात्मनात्मानं वेत्थ त्वं पुरुषोत्तम। (10.15)

हे पुरुषोत्तम! तुम स्वयं ही अपने आपसे ही, अपने आपको ही जानते हो। 'एव' है 'स्वयमेव'में, यह 'एव' 'आत्मना'के साथ भी जुड़ेगा और 'आत्मानं'के साथ भी जुड़ेगा। 'आत्मना एव। आत्मानं एव वेत्थ। स्वयमेव। आत्मना एव। आत्मानं एव। वेत्थ एव।' वहाँ भी एव। यह अवधारण जो है एव माने ही होता है संस्कृतमें, हि बोलते हैं। आप स्वयं ही, अपने आपसे ही, अपने आपको ही जानते ही हैं। यह वाक्यमें अवधारणका एक बार प्रयोग कर देते हैं तो सभी पदोंके साथ उसका सम्बन्ध हो जाता है।

अब एक-एक बातपर विचार करें। पहले तो श्रीकृष्ण पुरुषोत्तम हैं। पुरुषोत्तम कहनेका अभिप्राय, गीतामें जितना स्पष्ट है, उतना अन्यत्र कठिन है। गीतामें कहते हैं कि तीन पुरुष हैं—क्षरपुरुष, अक्षर पुरुष और पुरुषोत्तम। तो क्षर पुरुष है यह विनाशी विश्व, विश्व-पुरुष जिसे बोलते हैं। तो स्त्रीकी दृष्टिसे बोलें तो विश्व-प्रकृति बोलेंगे और पुरुषकी दृष्टिसे बोलें तो विश्व-पुरुष बोलेंगे। इसमें 'विश्व-पुरुष' कहनेमें या 'विश्व-प्रकृति' कहनेमें कोई फर्क नहीं है। क्योंकि देखो जिस **भूमिरापोऽनलो वायुः खं मनो बुद्धिरेव च।** (7.4) सातवें अध्यायमें **अपरेयं**—अपरा प्रकृति कहा गया है उसीको पन्द्रहवें अध्यायमें—**क्षरः सर्वाणि भूतानि कूटस्थोऽक्षर उच्यते।** (15.16)

अक्षर पुरुष कहा गया है। माने वही पुरुष विवक्षासे क्षर पुरुष है, वही स्त्रीत्व विवक्षासे स्त्री है। माने यह प्रकृतिका जो कार्य दिख रहा है संसारमें इसमें क्या पुरुष है और क्या स्त्री है, स्त्री-पुरुषका भेद करनेकी जरूरत नहीं है। एक ही तो वस्तु है, वह कहीं स्त्रीके रूपमें प्रकट हो रही है और कहीं पुरुषके रूपमें प्रकट हो रही है। स्त्री और पुरुषके मसालेमें कोई फर्क नहीं है।

एक जगह भगवान्ने उसको 'अपरा प्रकृति' कहा और एक जगह उसको 'पर पुरुष' कहा और एक जगह 'क्षेत्र' कह दिया। तेरहवें अध्यायमें—

इदं शरीरं कौन्तेय क्षेत्रमित्यभिधीयते। (13.1)
महाभूतान्यहंकारो बुद्धिरव्यक्तमेव च॥ (13.5)
एतत्क्षेत्रं समासेन सविकारमुदाहृतम्। (13.6)

एक तो है क्षर पुरुष! क्षर पुरुष माने जैसे नमक क्षार होता है। क्षरसे ही क्षार शब्द बनता है। जैसे नमक अपने आप गल जाता है, वैसे यह क्षर-पुरुष अपने आप गलता है, कभी जमता है और कभी पिघल जाता है, इसलिए इसको क्षर बोलते हैं। और इसमें एक पुरुष है कूटस्थ। कूटस्थका मतलब है ज्यों-का-त्यों। जैसे सुनारके घरमें एक निहाय—ऐरन होता है, उसके ऊपर वह कितने गहने तोड़ता है और कितने गहने बनाता है और लोहेका वह तो निहाय है—ऐरन है, वह ज्यों-का-त्यों रहता है। ऐसे एक कूटस्थ पुरुष है कारणात्मा, उसको चैतन्यकी प्रधानतासे पुरुष कहते हैं और कारणकी प्रधानतासे उसको 'परा प्रकृति' भी बोलते हैं। वह जीव है कि ईश्वर है, वह जड़ है कि चेतन है इस बातको लेकर टीकाकारोंमें बहुत मतभेद है, परन्तु वह कूटस्थ ज्यों-का-त्यों रहता है। जैसे आकाशमें बादल आते हैं और जाते हैं, परन्तु आकाश ज्यों-का-त्यों रहता है। जैसे आकाशमें रातका अन्धकार आता है और जाता है, दिनका प्रकाश आता है और जाता है। प्रकाश आता और जाता है, अन्धकार आता और जाता है, परन्तु आकाश ज्यों-का-त्यों रहता है। इसी प्रकार यह 'कूटस्थ पुरुष' चेतनकी दृष्टिसे इसे ईश्वर कहो, जड़की दृष्टिसे 'परा प्रकृति' कहो, क्षेत्रज्ञकी दृष्टिसे जीव कहो, इसे 'कूटस्थ पुरुष' बोलते हैं। यह 'अक्षर पुरुष' है।

अब परमात्मा इस अक्षर पुरुषसे भी विलक्षण होता है—**अक्षरात्परतः परः**। कठोपनिषद्में यह प्रसंग आया कि सबसे परे जो अक्षर-पुरुष है, उसके भी परे परमात्मा होता है।

इन दो पुरुषोंसे उत्तमका अर्थ क्या हुआ? **क्षराक्षराभ्यां पुरुषाभ्यामुत्तमः-पुरुषोत्तमः**। जो क्षर और अक्षर, कार्य और कारण दोनों अवस्थापन्न चैतन्य अथवा उभयावस्थापन्न प्रकृतिसे विलक्षण है, उस वस्तुको पुरुषोत्तम कहते हैं।

तो श्रीकृष्ण कौन हैं? श्रीकृष्ण पुरुषोत्तम हैं। यह न कूटस्थ हैं, न विनाशी हैं, ये कौन हैं? ये विनाशी और कूटस्थ दोनोंसे विलक्षण हैं। दिखते हैं विनाशीके रूपमें, व्यक्ति, शरीरधारीके रूपमें और वस्तुतः हैं कूटस्थ। वस्तुतः हैं दोनोंसे न्यारे। तो ऐसे जो श्रीकृष्ण हैं, पुरुषोत्तम हैं—

यस्मात्क्षरमतीतोऽहं अक्षरादपि चोत्तमः।
अतोऽस्मि लोके वेदे च प्रथितः पुरुषोत्तमः॥ (15.18)

भगवान्‌की संज्ञा लोकमें भी पुरुषोत्तम है—पुरुषोत्तम श्रीकृष्ण और वेदमें भी उत्तम पुरुषके रूपमें इनका वर्णन है।

उत्तम पुरुषके रूपमें कैसे वर्णन है? पुरुषोत्तम नाम वेदमें ढूँढ़ने लग जाओ, तो मुश्किलसे मिलेगा। श्रीकृष्ण नाम भी वेदोंमें किसी दूसरे अर्थोंमें आया है। उपनिषद्‌में देवकीनन्दनके अर्थमें छान्दोग्योपनिषद्‌में एक बार कृष्ण शब्दका प्रयोग हुआ है। महानारायणोपनिषद् आदिमें नारायण शब्दका प्रयोग हुआ है, जो मूल संहिताएँ हैं, उनमें नारायण शब्दका भी प्रयोग नहीं है। तो फिर ये कृष्ण जो हैं स्वयं कहते हैं कि, **अतोऽस्मि लोके वेदे च प्रथितः पुरुषोत्तमः।**

वेदमें भी मेरा नाम पुरुषोत्तम है।

तो वेद ढूँढो, उसमें पुरुषोत्तम नाम कहाँ है! ब्रह्म नाम तो है वेदमें—तदेव सौम्य, तत् नाम भी है ॐ नाम भी है, आत्मा नाम भी है। तो पुरुषोत्तम नाम वेदमें कहाँ है? कृष्ण तो कहते हैं कि है।

असलमें उत्तम पुरुषके रूपमें, पुरुषोत्तम माने उत्तम पुरुष क्या होता है? वह कौन है? प्रथम पुरुष है भला। और 'रो' मध्यम पुरुष है। और 'अहं' उत्तम पुरुष। उत्तम पुरुष है। वह, तुम और मैं। तो 'मैं'के रूपमें परमात्माका जितना निरूपण आता है, जैसे, अहं ब्रह्मास्मि। **अहमेवाधस्तात्। अहमेव उपरिष्टात्।** अहंके रूपमें जितना वर्णन आता है वह किसका वर्णन है? वह श्रीकृष्णका ही वर्णन है। श्रीकृष्णके स्वरूपका वर्णन है। सबके अहं-अहं-अहं।

देखो क्षेत्र प्राकृत है, क्षेत्रज्ञ सबमें अलग-अलग मालूम पड़ता है, परन्तु सब क्षेत्रज्ञोंमें जो एक अखण्ड चैतन्य है, उसको पुरुषोत्तम कहते हैं। और वही श्रीकृष्ण है। **पुरुषोत्तम**—तो यह सम्बोधन हुआ।

अब कहते हैं भाई पुरुषोत्तमको देवता, दानव, ऋषि, सिद्ध कोई नहीं जानते—

न मे विदुः सुरगणाः प्रभवं न महर्षयः।
अहं आदिर्हि देवानां महर्षीणां च सर्वशः॥ (10.2)

सम्पूर्ण देवताओंके आदि कृष्ण और सम्पूर्ण महर्षियोंके आदि कृष्ण, ऋषियोंके आदि कृष्ण। ये हमारे शरीरमें ऋषि बैठे हुए हैं। एक देखो नेत्रर्षि हैं, नेत्र ऋषि हैं। ऋषिका काम क्या है? कि ज्ञान देना। ये किसका ज्ञान देते हैं? कि रूपका। रूप, एक रूप, अनेक रूप, रूपोंका अभाव, ये नेत्रर्षि हैं।

ये श्रोत्रर्षि हैं, ये शब्दका ज्ञान देते हैं। ये त्वक् ऋषि हैं, ये स्पर्शका ज्ञान देते हैं। ये घ्राण ऋषि हैं, ये गन्धका ज्ञान देते हैं। ये रसर्षि हैं, ये रसका ज्ञान देते हैं। यह मन भी ऋषि है। यह मन्तव्यका ज्ञान देता है, ये बुद्धि ऋषि हैं, ये बोद्धव्यका ज्ञान देते हैं। तो—**अहं आदिर्हि देवानां महर्षीणां च सर्वशः।**

इन सब इन्द्रियों, मन और बुद्धियोंके आदिमें जो बैठे हुए हैं—

अहं आदिर्हि देवानां—सबकों रोशनी देनेवाले, सबको प्रकाश देनेवाले, अपने हृदयमें बैठे हुए ये पुरुषोत्तम। बोले—ये सब जो तुम्हारी रोशनीमें चमकते हैं, आप जानते ही हैं कि आँख रूपको जानती है, परन्तु रूप आँखको नहीं जानता, कान शब्दको जानता है, परन्तु शब्द कानको नहीं जानता, नाक गन्धको जानती है परन्तु गन्ध नाकको नहीं जानता। इसी प्रकार ये आत्मदेव मन, बुद्धि और इन्द्रियोंको, इन ऋषियोंको और इन मन्त्रोंको और इनके द्वारा प्रकाशित विषयोंको जानते हैं, परन्तु इनके द्वारा प्रकाशित रोशनीमें मौजूद वे इनको नहीं जानते। *पिता क जनम कि जानै पूत?* एक बच्चेने अपने बापसे कहा कि पिताजी, पिताजी हम अपनी वर्ष गाँठके दिन आपको नहीं बुलावेंगे। बोले—क्यों बेटा, क्यों नहीं बुलाओगे? बोला कि तुमने अपनी वर्ष गाँठ, अपने जन्मके दिन हमको अपने घर क्यों नहीं बुलाया? हम अपने ब्याहके दिन तुमको नहीं बुलावेंगे। क्यों? कि अपने ब्याहके दिन तुमने हमको नहीं बुलाया। तो यह बात कैसे चलेगी?

ईश्वरके प्रकाशमें जो चीजें दिख रही हैं, वे ईश्वरको कैसे देखेंगी? देखनेका ढंग होना चाहिए। तब बोले कि दूसरोंके देखनेका ढंग दूसरा है और परमात्मा अपने आपको जानता है, उसका ढंग दूसरा है। यह अद्भुत प्रक्रिया बतायी है यहाँ—

स्वयमेवात्मनात्मानं वेत्थ त्वं पुरुषोत्तम।

स्वयमेव देखना, हम अपने आपको खुद ही जानते हैं, माने दूसरा कोई जाननेवाला तुमको नहीं है। यह तो दृश्यताका खण्डन हो गया। संसारके जो विषय होते हैं, जो जाने जाते हैं वे दूसरे होते हैं और जो उनको जानने वाला होता है, वह दूसरा होता है। जैसे हम रूमालको जानते हैं, तो रूमाल दूसरी चीज है और हम दूसरी चीज हैं।

अब यहाँ यह बात बतायी कि 'स्वयमेव'—जाननेवाला और जाना जानेवाला दुनियामें दो होता है। विषय जाना जाता है और विषयी-आत्मा उसको जानता है। अब स्वयमेवका अर्थ हुआ कि तुम्हारे अन्दर विषय और विषयीका विभाग नहीं है। निर्विषय हो तुम। इसका मतलब हुआ निर्विषय।

अब देखो दूसरी बात क्या है? **आत्मना वेत्थ**—अपने आपसे जानते हो। तो महात्मा लोग परमात्माको जानते हैं। कैसे जानते हैं? बोले—तत्त्वमस्यादि महावाक्य-जन्य ब्रह्माकार वृत्तिके द्वारा जानते हैं, माने वृत्तिज्ञानसे जानते हैं। वह वृत्ति महावाक्य द्वारा उत्पादित है। उससे जानते हैं। सगुण ईश्वरके जाननेका प्रसंग हो तो भक्ति-संस्कार द्वारा संस्कृत जो माहात्म्यज्ञान-रूपा वृत्ति है, उसके द्वारा जानते हैं। तब जाननेका एक औजार है। महात्माओंको भी जब परमात्माको जानना पड़ता है वे महावाक्यके द्वारा उत्पादित वृत्तिज्ञानके द्वारा परमात्माको जानते हैं। जानते ही अविद्या निवृत्त हो जाती है और वृत्ति भी निवृत्त हो जाती है। महात्मा परमात्मा होकर रह जाता है। यह परमात्माको जाननेकी प्रक्रिया है। अब यह कहते हैं कि हे भगवान्! तुम जो अपनेको जानते हो, उसमें महावाक्य द्वारा उत्पादित वृत्तिज्ञानकी जरूरत नहीं पड़ती—'आत्मना वेत्थ'का यह अर्थ है।

यह परमात्माका वर्णन है, इसलिए 'आत्मनावेत्थ'—हमेशासे जानते-ही-जानते हो अपनेको। देखो यह जो जीवात्मा है—यह परमात्माको जाननेके पहले जिस दशामें रहता है, उसमें वृत्तिज्ञानका प्रागभाव रहता है। ब्रह्माकार वृत्ति उसके अन्दर नहीं रहती है—**अहं अज्ञः**। यह अनुभव रहता है कि मैं '**अज्ञ**' हूँ—**अहं ब्रह्म न जानामि**—मैं ब्रह्मको नहीं जानता! यह बात जीवके अन्तःकरणमें रहती है और जब महावाक्यके अहं **ब्रह्मास्मि**-यह वृत्ति उत्पन होती है, तब अविद्याका नाश होकर वृत्ति भी बाधित होती है।

तो पहले अज्ञान था और वृत्तिज्ञानसे अविद्याका नाश हुआ, परन्तु यह जो परमात्मा है इसको तो 'अहं अज्ञः'—यह अनुभव था ही नहीं। जब यह अनुभव था ही नहीं, तो पैदा हुई वृत्तिके द्वारा इनका अज्ञान मिटना नहीं है। इसलिए **आत्मनाका** अर्थ है कि एक तो परमात्मा स्वयं माने निर्विषय है और दूसरी बात है कि निर्वृत्तिक है। उससे कोई वृत्ति उठती नहीं है। जैसे रूमाल भी नहीं और आँख भी नहीं।

अब देखो **आत्मानं वेत्ति**। **आत्मनं इव वेत्ति**। परमात्माके ज्ञानकी बड़ी विलक्षणता है। एक बाबा नगीना सिंह हुए हैं, उन्होंने एक पुस्तक लिखी है, लिखी तो उन्होंने मूलतः पारसीमें थी—उर्दूमें, 'भगवद्ज्ञानके विचित्र रहस्य' हिन्दीमें उसका अनुवाद हुआ बादमें, अद्भुत है, पुस्तक बड़ी विलक्षण है।

अब देखो, जीवके ज्ञानमें और परमात्माके ज्ञान-स्वरूपमें क्या फर्क है? अज्ञान मिट जानेपर महात्मा-परमात्मा एक ही है। जो महात्मा सो परमात्मा और

जबतक अज्ञान नहीं मिटा तबतक महात्मा जीव है और परमात्मा परमात्मा ही है, क्योंकि अज्ञानके साथ उसका सम्बन्ध नहीं है। अब 'आत्मानं वेत्थ'की क्या महिमा है? **स्वयमेवात्मनात्मानं वेत्थ त्वम् पुरुषोत्तम। आत्मानं वेत्थ। आत्मानं एव वेत्थ।** दूसरे लोग जब जानते हैं किसीको—देखो, संसारमें जाननेकी प्रक्रिया है। स्त्रीको जाना, पुरुषको जाना, रूमालको जाना, घड़ीको जाना, घड़ेको जाना, तो जाननेके बाद एक आभास, फलवृत्तिका उदय होता है कि मैं रूमालको जानता हूँ। जब कहेंगे यह रूमाल है, फिर कहेंगे मैं रूमालको जानता हूँ। अयं घटः, अहं घटं जानामि। 'अयं घटः', इसको वृत्ति ज्ञाप्ति बोलते हैं और मैं घटको जान गया, इसको फलव्याप्ति बोलते हैं। यह वेदान्तियोंका पारिभाषिक शब्द है। इस ढंगसे बोलते हैं। मैं रूमालको जान गया। तो देखो 'स्वयमेव'का अर्थ है कि रूमाल तो बिल्कुल है नहीं और 'आत्मानं वेत्थ'का अर्थ है कि मैं जान गया—यह अभिमान उत्पन्न नहीं होता।

परमात्माका ज्ञान कैसा है? कि यह रूमाल है, आँखसे देखी गयी और मैंने देखा—यह जो लौकिक ज्ञान है, हम लोगोंको संसारका ज्ञान होता है, मैंने देखा, आँखसे देखा, रूमालको देखा, तो एक छोटा मैं है, एक आँख है, एक रूमाल है। और परमात्माका ज्ञान कैसा है? कि न उसमें रूमाल है, न उसमें आँख है, न उसमें मैं है।

पहले बार-बार इन बातोंको आपने सुना है, अभी सुन रहे हैं बार-बार, तो बात याद आयी। सत्संग इसलिए होता है कि केवल जानी हुई बातको दोहराते रहें, सो नहीं, कुछ ऐसी बात भी होनी चाहिए जो पहलेसे जानी हुई न हो, कोई नयी बात आवे, तो आपका ज्ञान भी बढ़ेगा। बात दुहरानेसे सुख मिलता है और नयी बात आनेसे नयी जानकारी होती है, ज्ञान बढ़ता है। तो अगर कोई ऐसी बात मालूम पड़े कि यह तो हम नहीं समझते हैं। नहीं समझते हैं तो समझनेकी कोशिश करो। नहीं सुनो है, तो अच्छा, सुन लो! नहीं सुनी है तो नयी बात है और नहीं समझी है तो समझनेकी कोशिश करो और पुरानी बात है तो सुनी हुई बात याद आयी मजा लो उसका।

बात यह है कि देखो जैसे हम आपके सामने बैठे हैं, तो आप लगते हो हमको पश्चिम दिशामें और ऐसा लगता है कि हम आपसे पूरब दिशामें बैठे हैं और यह पीठ जो है यह हमारी पूरब दिशामें है। हम किस दिशामें बैठे हैं? आप निर्णय करो। जो हमारे सामने-सामने बैठे हैं वे कहते हैं कि पूर्व दिशामें हमसे बैठे हैं, जो

बाँये बैठे हैं वे कहते हैं पश्चिम दिशामें बैठे हैं, जो दक्षिण दिशामें बैठे हैं वे कहते हैं उत्तर दिशामें बैठे हैं। परन्तु जो भीत है, वह कहती है कि दक्षिण दिशामें बैठे हैं। तख्त कहता है कि ऊपर बैठे हैं, और छत क्या कहता है? कि नीचे बैठे हैं। तो मैं असलमें बैठा कहाँ हूँ? मैं ऊपर हूँ कि नीचे हूँ, पूर्व हूँ कि पश्चिम हूँ, उत्तर हूँ कि दक्षिण हूँ, मैं हूँ कहा?

अब इसमें एक बात यह भी कही जायेगी कि दृष्टि-भेदसे, एक दृष्टिसे आप उत्तर हैं, एक दृष्टिसे दक्षिण हैं, एक दृष्टिसे पश्चिम हैं, एक दृष्टिसे पूर्व हैं। यह भी एक निरूपणकी प्रक्रिया है। इसका नाम शास्त्रीय भाषामें अनेकान्त है। ऐसा क्यों हुआ? कोई कहींसे बैठा देख रहा है, कोई कहींसे बैठा देख रहा है, इसलिए यह ऊपर-नीचे, दाहिने-बायें द्रष्टाकी स्थिति-भेदके कारण यह भेद मालूम पड़ता है। देखनेवाला अलग-अलग बैठा है।

अब ऐसी कल्पना करो कि एक ऐसा तत्त्व है जो सब जगह भरपूर है। वह दाहिनेवालोंमें भी है, बायें वालोंमें भी है, सामनेवालोंमें भी है, पीछेवालोंमें भी है, नीचेवालोंमें भी है, ऊपर वालोंमें भी है। उसकी नजरसे मैं कहाँ बैठा हूँ। उसकी दृष्टिसे मैं कहाँ हूँ, सामने कि बायें, सामने कि पीछे, ऊपर कि नीचे? उसकी नजरसे मैं कहाँ हूँ? आप ईश्वरकी दृष्टि अगर समझना चाहते हैं, ईश्वरको मैं कैसा दिखता हूँ!

उड़ियाबाबाजी कहते थे कि ईश्वर अगर अपनेसे जुदा हमको देखता है, तो अज्ञानी है और अगर मैं अपनेसे जुदा ईश्वरको देखता हूँ, तो मैं अज्ञानी हूँ। पूर्ण दृष्टि क्या होती है? इसीका नाम 'पूर्ण-दृष्टि' हुआ। पूर्ण-दृष्टिमें मैं ऊपर नहीं हूँ, नीचेवालोंकी दृष्टिमें मैं ऊपर हूँ। पूर्ण-दृष्टिमें मैं नीचे नहीं हूँ, ऊपरवालोंकी दृष्टिमें मैं नीचे हूँ। पूर्ण दृष्टिमें मैं पूर्वमें नहीं हूँ। पश्चिमवालोंकी दृष्टिमें मैं पूर्व हूँ। पूर्ण-दृष्टिमें मैं पश्चिम नहीं हूँ, पूर्ववालोंकी दृष्टिमें मैं पश्चिम हूँ। इसका अभिप्राय है कि जो अपनेको परिच्छिन्न मानकर फिर संसारको देखता है, उसको संसार जुदा ढंगसे दिखता है और जिसको पूर्णताकी प्रत्यभिज्ञा हो गयी है, जो अपनी शुद्ध पूर्णताको जान गया है, उसको यह दुनिया दूसरे ही ढंगकी दिखती है। वही तो पूर्णताकी दृष्टि है।

स एवाधस्तात्। स एव उपरिष्टात्।

वही नीचे है, वही ऊपर है। वही दाहिने है, वही बायें है। आत्मा ही दाहिने और बायें है। मैं ही दाहिने और बायें हूँ। ब्रह्म ही दाहिने और बायें है। यह श्रुतिमें

'स'के नामसे, आत्माके नामसे, ब्रह्मके नामसे और अहंके नामसे—चार प्रकारसे एक ही बात, एक ही मन्त्र चार शब्दोंके प्रयोग द्वारा दोहराया गया—आत्मा, ब्रह्म, स और अहं।

अब जरा ईश्वरकी नजरसे नजर मिलाओ कि वह तुम्हारा शरीर कहाँ है! ऊपर कि नीचे। फिर अपने शरीरको ही नहीं, सारी धरतीको ले लो और अनन्तकोटि ब्रह्माण्डको ले लो कि वह परमात्माके स्वरूपमें ऊपर है कि नीचे! यह इसलिए आपको बताया कि यह जो हम अपनेको परिच्छिन्न शरीरमें अहं करके मानते-जानते हैं, तो दुनिया दूसरे ढंगकी मालूम पड़ती है और अपनेको अपरिच्छिन्न ब्रह्मके रूपमें जब जानते हैं, तब यह दुनिया दूसरे ढंगकी हो जाती है।

ईश्वरकी नजरमें यह दुनिया क्या? अद्भुत है। एक बार बैठे थे गंगा किनारे हरिबाबाजी महाराजके बाँधपर। हरिबाबाजी तो केवल सत्संगके समय ही आकर लोगोंमें बैठते थे, वैसे उनको बैठनेका समय कहाँ मिलता था, श्रीउड़ियाबाबाजी महाराज और श्रीआनन्दमयी माँ दोनों बैठे थे। तो एक माँके भक्तने आकर पूछा कि बाबा! आप माँको क्या मानते हैं? तो देखो, जो ज्ञानी पुरुष होते हैं वे किसीको कुछ मानते-वानते नहीं हैं जो मनवाना चाहते हैं कि हमको यह मानो, यह मानो, जो जानते नहीं हैं वे मानते हैं। जो जानते हैं उनको माननेकी जरूरत क्या है?

तो उड़ियाबाबाजीने कहा कि बेटा जो मैं हूँ सो माँ है, जो माँ है सो मैं हूँ। मुझमें और माँमें क्या फर्क है! माँ वहीं बैठी थीं। तो बोले कि न बाबा, तुमने तो यह वेदान्तकी बात कह दी, हमको तो सच्ची, असली बात बताओ! अब ये पट्ठे, वेदान्तकी असली बात नहीं मानते, सच्ची बात नहीं मानते। बोले कि नहीं, नहीं, हमको सच्ची बात बताओ असली बात बताओ कि माँ क्या है? बोले कि देखो यदि माँ अपनेको मुझसे अलग मानती है तो माँ बेकूफ है। और माँ अगर मुझसे अलग है तो बिल्कुल आकाशकी नीलिमाके समान, बन्ध्यापुत्रके समान, रज्जुमें सर्पके समान, बिल्कुल नितान्त कल्पित है। माँकी कोई सत्ता ही नहीं है। अब असली बात अगर तुम सुनना चाहते हो तो जहाँ मैं और माँ एक है, वहाँ तो जो माँ सो मैं, जो मैं सो माँ। और, जहाँ माँ मुझसे अलग, अपनेको मानती है तो अज्ञानी और मैं अगर माँसे अलग अपनको देखता हूँ तो मेरे लिए बन्ध्यापुत्रवत्, रज्जुसर्पवत्, सूक्ति-रजतवत् माँ केवल प्रतिभास मात्र। यह संवाद हुआ था हमारे सामने।

ईश्वरके बारेमें बड़ा विचित्र ज्ञान होता है। हरिबाबाजी महाराजके बाँधपर एक बार एक महाशयजी आये। महाशयजी बोले कि ईश्वर साकार नहीं है,

निराकार ही निराकार है। मैंने उनसे पूछा कि निराकार ईश्वरका कभी किसीको, किसीरूपमें अनुभव होता है कि नहीं? वह अनुभवका विषय बनता है कि नहीं? तो क्या मतलब है तुम्हारा? मतलब समझे बिना कुछ नहीं बोल सकते! मतलब यह है कि यदि अनुभवका विषय होता है ईश्वर, तब तो साकार है, कोई-न-कोई आकृति ही तो अनुभवके सामने आवेगी। और यदि कहो कि अनुभवका विषय ईश्वर कभी नहीं होता, किसीको नहीं होता, ब्रह्मा, विष्णु, महेशको भी नहीं होता, कपिल, दत्तात्रय, व्यासादिको भी नहीं होता, हमको भी नहीं होता, तो ऐसा ईश्वर तो नितान्त कल्पित हुआ न!

तो बोले—फिर तुम कैसा ईश्वर मानते हो? हम अनुभवका विषय भी ईश्वरको नहीं मानते हैं और अनुभवका अविषय भी नहीं मानते। अनुभवका अविषय होवे तो कल्पित है और अनुभवका विषय होवे तो साकार है, दृश्य है। ईश्वरको अनुभव स्वरूप ही मानते हैं। हमारी स्वयंता जो है, उसीका नाम ईश्वर है। तुमने स्वयं यह काम किया उसने स्वयं यह काम किया। मैंने स्वयं यह काम किया। यह मैंमें, उसमें, तुममें जो स्वयं है, यह 'स्वयं' क्या है? यह स्वयं जो है, यह सामान्य चेतन है और यह देश, काल, वस्तुसे अपरिच्छिन्न जातीय, विजातीय, स्वगत-भेदसे शून्य परमात्मा है।

स्वयमेवात्मनात्मानं वेत्थ त्वं पुरुषोत्तम।

अब आओ 'वेत्थ त्वं पुरुषोत्तम'—जो अभी यह बात आपको सुनायी यह जो पूर्व-पश्चिम, उत्तर-दक्षिण मालूम पड़ता है, यह परमात्मा पूर्ण है, इसलिए परमात्मामें दिशा-विभाग नहीं है। न वह अपनेमें दिशा-विभाग देखता है, न दूसरेमें दिशा विभाग देखता है।

पूर्णतामें विषय क्या है! न अपनेमें विषय देखता है, न दूसरेमें विषय देखता है। यह काल-कलना है—दिन रात, यह धरती और सूर्यमें दूरी है, इसलिए दिन-रात होता है। जो परिपूर्ण वस्तु है उसमें दिन-रात नहीं है, उसमें पक्ष-मास नहीं है, उसमें वर्ष-मन्वन्तर, कल्प-महाकल्प नहीं है, उसमें सृष्टि-प्रलय नहीं है। वह जो परमात्माका स्वरूपके सम्बन्धमें जो ज्ञान है वह स्वरूपज्ञान नहीं है, वह ज्ञान स्वरूप है। स्वरूपका ज्ञान होना, स्वरूप जुदा होना, उसका ज्ञान होना—यह दूसरी चीज है और परमात्माका ज्ञानस्वरूप होना—अखण्ड ज्ञान-स्वरूप होना—यह जुदा चीज है।

अच्छा अब आगे फिर। ☆

अर्जुन भगवान् श्रीकृष्णसे कह रहे हैं कि तुम साक्षात् परं ब्रह्म परमात्मा हो, स्वतः सिद्ध ज्ञानवान् हो।

इस प्रसंगमें जीवके ज्ञानमें और ईश्वरके ज्ञानमें क्या अन्तर होता है, माने एक परिच्छिन्न शरीरका जो अभिमानी है, उसके ज्ञानमें और जो सम्पूर्णका नियन्ता अन्तर्यामी अपनेको अद्वितीय-अखण्ड जाननेवाला—उसके ज्ञानमें क्या फर्क है।

ज्ञानकी प्रक्रियामें भेद बताते हैं—

स्वयमेवात्मनाऽऽत्मानं वेत्थ त्वं पुरुषोत्तम।

और सब पुरुष हैं और श्रीकृष्ण पुरुषोत्तम हैं। क्योंकि जो भौतिक शक्तियोंके द्वारा अपनेको महान् समझते हैं, वे तो अधम पुरुष हैं। और जो आदिदैविक शक्तियोंके द्वारा अपनेको उत्तम समझते हैं, वे मध्यम पुरुष हैं। और जो आध्यात्मिक ज्ञानके द्वारा अपने स्वरूपको जानता है, उसको पुरुषोत्तम कहते हैं।

पुराणोंमें ऐसा भी वर्णन आता है कि—

राजानो यं प्रशंसन्ति यं प्रशंसन्ति पण्डिताः।
साधवो यं प्रशंसन्ति स पार्थ पुरुषोत्तमः॥

भौतिक शक्तिके अधिष्ठान राजा हैं और दैवी शक्तिके, वाक्के, दैवी विद्याके अधिष्ठान पण्डित हैं और आध्यात्मिक शक्ति—अध्यात्मविद्याके अधिष्ठान साधु हैं।

तीनोंको जाननेवाले जिसकी प्रशंसा करें, तीनों कहें कि हम तो अधिदैवमें, अधिभूतमें अध्यात्ममें लगे हुए हैं और ये तो तीनोंसे अतीत हैं, इनमें तो त्रैविद्य है ही नहीं। ये विश्व तैजस, प्राज्ञ नहीं हैं। विश्व राजा हुआ, तैजस पण्डित हुआ और प्राज्ञ योगी हुआ। और तुरीय जो है, वह न राजा है, न पण्डित है और न योगी है।

वह तो तुरीयं त्रिषु सन्ततम्—तीनोंके घरमें खाता है। तीनोंके घरमें रहता है। उसका नाम तुरीय है। वह तो एक-एक घर जो अपना बनाकर बैठते हैं वे तो विश्व, तैजस, प्राज्ञ और जिसने अपने लिए घर ही नहीं बनाया, सबका घर अपना घर, उसका नाम तुरीय, उसीको तुरीयाश्रम बोलते हैं। तो,

स्वयमेवात्मनाऽऽत्मानं वेत्थ त्वं पुरुषोत्तम।

हे पुरुषोत्तम, तुम स्वयं ही, अपने आपसे, अपने आपको जानते हो।

अब देखो, फिर एक नजर इस पर डालते हैं। 'स्वयं ही' का अर्थ देखो। संसारमें प्रक्रिया यह है कि जिज्ञासुको जब ज्ञान होता है, तो उसको स्वयं ही ज्ञान नहीं होता, गुरुकी जरूरत पड़ती है। गुरुके बिना लोकमें ज्ञान कैसे हो! एक बारकी जानी हुई चीज हो, तो हम दुबारा उसको जान सकते हैं, लेकिन अगर बिलकुल अनजानी चीज हो, तो बिना किसीके बताये, वह अपने आप समझमें आनेवाली नहीं है। तो एक अनजानी चीजका आप नाम ही बता दें। एक अनजाने नामका अर्थ ही बता दें, स्वयं एक भी शब्द, कोई भी शब्द होवे, उस शब्दको सुन करके यदि आपने कभी उसका अर्थ जाना नहीं है, तो उसका अर्थ बताइये क्या होता है! अच्छा, हम एक चीज आपके सामने कर देते हैं आप उसका नाम बता दीजिये। अच्छा, आपने कोई भी अक्षर कागज पर बिना किसीके बताये समझ लिया है कि यह अमुक अक्षर है! एक अक्षर भी, क ख ग, बिना पहले पहल किसीके बताये, माँने बताया, बापने बताया, अड़ोसी-पड़ोसीने बताया, किसी भी एक अक्षरकी आकृति आपने बिना किसीके बताये समझी है?

अच्छा, यह नाक है, कि आँख है, यह कान है, जन्मसे आपके साथ आये थे, परन्तु बिना बताये इसकी पहचान हुई? आप ईश्वरको ही इतना सस्ता समझते हैं कि आपको कोई ईश्वर शब्दका और ईश्वर अर्थका सम्बन्ध बताकर, आवरण-भंग न करे और आप ईश्वरको पहचान जायँ, ईश्वर ही ऐसी मामूली चीज है?

तो नारायण, यह बिल्कुल साफ-साफ सीधी बात मैं करता हूँ, कोई बहुत भारी इसमें तर्क, कोई बहुत बड़ी इसमें युक्ति नहीं है, देखो आपके जीवनका अनुभव है कि आप नाकको नाक और आँखको आँख, इसका नाम नाक है और इसका नाम आँख है—यह बात भी किसीके बताने पर जान सके हैं। और, अमुक नामवाली चीज यह है—यह भी बतानेपर जान सके हैं। अ आ इ ई, क ख ग घ—यह भी बतानेपर ही जान सके हैं। तब? बोले—देखना है ईश्वरको, जो भिन्न-भिन्न धर्मोंमें एक है, भिन्न-भिन्न भौतिक पदार्थोंमें एक है, भिन्न-भिन्न इन्द्रियोंमें एक है,

भिन्न-भिन्न अवस्थाओंमें एक हैं, भिन्न-भिन्न वृत्तियोंमें एक है, भिन्न-भिन्न व्यक्तियोंमें एक है! अवस्था, गुण, धर्म, व्यक्ति, स्वभाव—अलग-अलग होनेपर भी जो उसमें एक अद्वितीय रूपसे व्याप्त है, उस वस्तुको क्या आप बिना किसीके बताये, बिना समझाये, बिना लखाये, उसको पहचान सकेंगे? कठोपनिषद्का कहना है—

न नरेणावरेण प्रोक्त एष सुविज्ञेयो बहुधा चिन्त्यमानः।
अनन्य प्रोक्ते गतिरत्र नास्त्यणीयान् ह्यतर्क्यमणुप्रमाणात्॥

कठ. 2.8

यह वस्तु बड़ी सूक्ष्म है, किसी मामूली आदमीके लखानेपर यह आपकी समझमें नहीं आवेगी **न नरेण अवरेण प्रोक्त एष**—कोई अवर मनुष्यके बतलाने पर यह वस्तु आपकी समझमें नहीं आवेगी। इसके लिए तो कोई वर मनुष्य चाहिए। वह ही जगत्पतिका जो परम कृपापात्र है, जगत्पतिसे जो एक हो गया है, वह!

तो इसीसे कहते हैं—

आचार्यात् हि विदिता विद्या साधिष्ठं प्रापन्।

आचार्यसे जानी हुई विद्या ही लक्ष्यको प्राप्त कराती है। **आचार्यवान् पुरुषो वेद**—जो गुरुवाला पुरुष होता है वही इसको जानता है।

अब जीवोंके लिए तो यह प्रणाली है कि बिना किसी मददगारके तो जान नहीं सकते। अच्छा तो ईश्वरका गुरु कौन है, कृष्णका गुरु कौन है? तो बोलते हैं—**स्वयमेव।**

स्वयमेवका अभिप्राय क्या हुआ? यह परमेश्वर है, इनको कभी अज्ञान हुआ ही नहीं। अज्ञान हुआ नहीं, तो स्वतःसिद्ध ज्ञानी हैं ये। इनको गुरु बनानेकी जरूरत नहीं है। श्रीकृष्ण ईश्वर है। श्रीकृष्ण जीव नहीं है, श्रीकृष्ण मनुष्य नहीं है। यह बात 'स्वयमेव' कहकर प्रकट की गयी है—

स्वयमेवात्मनाऽऽत्मानं वेत्थ त्वं पुरुषोत्तम।

अब 'स्वयमेव' लो। आपको सुनाया था, ईश्वरके ज्ञानमें और जीवके ज्ञानमें क्या फर्क हो सकता है! जो एक माटीके ढेलेको 'मैं' बनाकर देखता है वह पूर्व, पश्चिम, उत्तर, दक्खिन, ऊपर, नीचे देखता है। और, जिसने इस माटीके डलेमें 'मैं' नहीं डाला, उसको पूर्व-पश्चिम, उत्तर-दक्खिन मालूम ही नहीं पड़ सकता।

क्या ज्ञान है! पहले और पीछे किसको होगा? जो माटीके डलेमें मैं करके बैठेगा। ईश्वरको तो कभी देहाभिमान ही नहीं हुआ, तो उसको यहाँ और वहाँ, अब

और तब, यह और वह—यह अन्त:करणके द्वारा जो भेद मालूम पड़ता है वह भेद-भ्रान्ति ईश्वरको है ही नहीं।

अब दूसरी बात देखो—जीवके ज्ञानमें और ईश्वरके ज्ञानमें क्या फर्क है?

स्वयमेवात्मनात्मानं वेत्थ त्वं पुरुषोत्तम।

आत्मनैव—किसीको ज्ञान होता है तो शास्त्रजन्य वृत्तिके द्वारा ज्ञान होता है, ज्ञान किताबमें नहीं होता। कई लोग चाहते हैं कि हम किताब निचोड़ेंगे तो उसमें-से ज्ञान निकलेगा। उसमें-से तो काले-काले अक्षरोंका रंग निकल आवे, निचोड़नेपर तो निकल आवे, और ज्ञान कोई निकलने वाली वस्तु नहीं है।

सुनते हैं किसीके माँ-बाप बिलकुल अनपढ़ थे, उनका बेटा किताब लेकर स्कूल पढ़नेके लिए जाता था, तो उन्होंने कहा—बेटा, यह क्या रोज-रोज एक ही किताब पढ़ना, आओ हम सारी किताब ही तुम्हारे भीतर पहुँचा देते हैं। तो दियासलाई लगायी, गिलास लाकर उसकी राखका शर्बत बनाया और बच्चेके गलेके नीचे उतार दिया। तो क्या किताबका ज्ञान आजायेगा उसमें?

लोग समझते हैं ऐसा, कि किताबमें-से ज्ञान आता है। किताबमें-से ज्ञान नहीं आता। ज्ञान दिशामें-से नहीं आता कि वह पूर्वसे आवे कि पश्चिमसे आवे। ज्ञान कालमें-से नहीं निकलता ज्ञान घट-पटादि वस्तुमें-से नहीं निकलता। ज्ञान हृदयकी वस्तु है भला, वह अपने भीतर रहता है। बाहरकी चीजें सिर्फ उसको जगा सकती हैं। अगर तुम स्वयं ज्ञानका अनादर करते हो, तो तुम्हारे भीतर रहकर भी ज्ञान चुप पड़ा रहेगा और जब ज्ञानका आदर करोगे, तब वह जाहिर हो जायेगा।

ज्ञानका अनादर क्या है? आपका ज्ञान कहता है कि झूठ मत बोलो, आपका ज्ञान कहता है चोरी मत करो, आपका ज्ञान कहता है दूसरेको मत सताओ—यह ज्ञानकी आवाज है और आपने अनुसनी कर दी, जाओ हम तुम्हारी बात नहीं मानते, हम तुम्हारी बात नहीं सुनते; तो ज्ञानने कहा कि यह तो ऊसरमें बीज बोना हुआ, यह तो राखमें घीकी आहुति डालनी हुई, इसको बताकर हम क्या करेंगे? तो वहाँ ज्ञान चुप हो जाता है और जहाँ ज्ञानके बताये हुए मार्गपर चलते हैं, उसके बताये हुए कर्मका आचरण करते हैं, वहाँ ज्ञान खुश होता है। यह तो हमारा चेला है, यह तो हमारा सेवक है, यह तो हमारा भक्त है और उसके हृदयमें भीतरसे जो छिपा हुआ ज्ञान है वह प्रकट हो जाता है। ज्ञान उधार नहीं लिया जाता।

बोले—भाई, शान्तिपाठ करो। शान्ति पाठ किसलिए करो? ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः। भौतिक शान्ति, दैविक शान्ति, आध्यात्मिक शान्तिके लिए। स्थूल

शरीरमें शान्ति, सूक्ष्म शरीरमें शान्ति, कारण शरीरमें शान्तिके लिए। और शान्ति पाठ करते समय बोलते रहें, हल्ला करते रहें, घूमते रहें, चलते रहें, खड़े हो जायँ, तो शान्ति पाठ अपना असर नहीं देगा, अपना प्रभाव नहीं डालेगा, क्योंकि जानता है कि ये लोग शान्तिमें अशान्ति मचानेवाले हैं, ये लोग शान्ति चाहते ही नहीं हैं। बोले—मौनके समय बोलने लग गये या वक्ताकी ओर पीठ करके बैठ गये। तो यह ज्ञानका अनादर है।

जो सूर्योदयके समय पूर्वाभिमुख होकर अर्घ्यदान करता है, उसको सूर्य सात्त्विक प्रकाश देता है। और जो सूर्योदयके समय शयन करता रहता है उसको सूर्य तामसिक प्रकाश देता है। सूर्य एक होनेपर भी, तुम्हारे जीवनमें उसका प्रकाश उतरते समय सात्त्विक और तामसिक हो जायेगा। क्यों? यह ग्रहण करनेवाले अन्त:करणके भेदसे ऐसी स्थिति होती है।

यह जो ज्ञान है, ब्रह्म विद्या है, यह मनुष्यके हृदयमें निवास करती है। तो **आत्मना**का अर्थ है गुरुकी मददसे तत्त्वमस्यादि उल्लेख युक्त अहं **ब्रह्मास्मि,** उल्लेखवती जो वृत्ति है, देश-काल-वस्तुसे अपरिच्छिन्न, सजातीय, विजातीय, स्वगत-भेदसे शून्य जो अद्वितीय ब्रह्म है वह हमारा प्रत्यक् चैतन्य ही है। ऐसी वृत्तिका जब अन्त:करणमें उदय होता है तब अविद्याकी निवृत्ति होती है। जीवके लिए ब्रह्मविद्यात्मिका वृत्ति चाहिए हृदयमें! तब परिच्छिन्नताकी भ्रान्ति निवृत्त होती है।

अब यह वृत्ति श्रीकृष्णके अन्त:करणमें कभी पैदा हुई और उसने ज्ञानका नाश किया? बोले—नारायण! वे तो परमात्मा हैं, यह वृत्ति उदय होनेके पहले वे अज्ञानी थे और वृत्ति उदय होनेके बाद वे ज्ञानी हुए—यह कल्पना कृष्णके बारेमें है ही नहीं। अच्छा भाई! दुनियामें हम किसीको जानते हैं, तो जाननेवाले हम और जाना जानेवाला दूसरा? आत्मानन्दका अर्थ संस्कृत भाषामें बड़ा विलक्षण है।

आप्नोति इति आत्मा। आपत्ते इति आत्मा। अत्ति इति आत्मा। व्याप्रोति इति आत्मा। यच्चाप्नोति यदा दत्ते यच्चात्ति विषयानुभव:। यच्चास्य सन्ततो भावा; तस्मात् आत्मेति कथ्यते।

आत्माको आत्मा क्यों कहते हैं? आत्माको आत्मा यों कहते हैं कि यही उपलब्ध करता है—यह स्त्री है, यह पुरुष है, यह घड़ा है, यह कपड़ा है, यह मकान है, यह पाप है, यह पुण्य है, यह सुख है, यह दु:ख है—यह किसको मालूम पड़ता है? आँखसे कौन देखता है? कानसे कौन सुनता है? नाकसे कौन

सूँघता है? जीभसे कौन जानता है? इसका नाम आत्मा है? इसीका नाम है जो दृष्टिका द्रष्टा है, जो कानसे श्रोता है, जो नाकसे घ्राता है, जो जीभसे रसयिता है, जो मनसे मन्ता है, आप्ता है। जो कुछ प्राप्त होता है, जो कुछ ज्ञात होता है, इसीको ज्ञात होता है और जो कुछ लेता है, ग्रहण करता है, पाप-पुण्य, सुख-दु:ख; आदान यही करता है।

अच्छा, और सुख-दु:ख किसको मिलता है? मैं सुखी हूँ, मैं दु:खी हूँ—इसीका नाम आत्मा है और यह हमेशा रहता है। जो मैं कल जाग रहा था, वही मैं रातको सोया, वही मैंने सपना देखा, वही आज मैं हूँ यह युग-युग, जन्म-जन्म यही रहता है और इसको थकान कभी नहीं होती। यह ताम्यति-तमस इसमें नहीं है, 'तमा' नहीं है इसमें। बोलते हैं कि इनके बड़ी 'तमा' है। तो यह 'तमा' नहीं है 'अतमा' बोलते हैं इसको। अतमा बोल दिया। सबके भीतर है लेकिन जाहिर नहीं होता। कभी श्रान्त नहीं, कभी थकान नहीं, कभी सोता नहीं, यह तो बुद्धि सोती है और बुद्धि जागती है। अपनेसे बुद्धिको एक करके अपनेमें जागना और अपनेमें सोना—इसका आरोप कर लेते हैं। पर आत्मदेव न सोते हैं न जागते हैं। बड़े अद्भुत हैं। इनकी आँख कभी झपती ही नहीं—

नहिदृष्टुर्दृष्टेर्विपरिलोपो विद्यते। अविनाशित्वात्।

द्रष्टाकी दृष्टिका लोप कभी होता नहीं। जागते देखा, सपनेमें देखा, सोते समय देखा और ऐसे ही सृष्टि देखी, स्थिति देखी, प्रलय देखी। देखना ही इनका स्वभाव, प्रकाशना ही इनका स्वभाव। इसको त्वं पदार्थ बोलते हैं—**त्वं पदलक्ष्यार्थ-साक्षी आत्मा।** और जिनका यह साक्षी है, वे दृष्टिके ही विलास हैं, वस्तुत: नहीं हैं।

यह एक जीववादकी प्रक्रिया है और जिनका यह साक्षी है, उनमें शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध इन विषयोंके आश्रय पाँच भूत जो हैं, वे मिट्टी पानीमें, पानी आगमें, आग हवामें, हवा आकाशमें, आकाश परमात्माके संकल्पमें और संकल्पवाला परमात्मा माया विशिष्ट; और मायाकी उपाधिका तिरस्कार जब कर दिया, तो शुद्ध जो चैतन्य है उसमें यह मायाका खेल बिलकुल नहीं, बाध है और वह जो शुद्ध चैतन्य है वह अपने प्रत्यक् चैतन्यसे अभिन्न है, प्रत्यक् चैतन्य ही अद्वितीय चैतन्य है। यही ब्रह्म चैतन्य है, इसके सिवाय और कोई नहीं। तो यह प्रक्रिया जीवको अपनानी पड़ती है। भगवान्के लिए न लय-प्रक्रियाकी जरूरत है और न बाध-प्रक्रियाकी।

बाध-प्रक्रिया यह होती है कि पहले ही सोचो कि मैं ब्रह्म हूँ और हमारे कल्पित रूपमें माया, मायासे महत्, महत्से अहंकार है। अहंकार तीन तरहका वैकारित, राजस, तामस और उसमें यह समूची सृष्टि कल्पित हुई। मुझमें माया ही नहीं है तो मायाका कार्य कहाँसे होगा? मुझ अनन्तब्रह्ममें यह माया और मायाका कार्य बाधित है। इसको बाध-प्रक्रिया बोलते हैं।

लय-प्रक्रिया बोलते हैं उसे ये जितने शरीर बने हुए हैं, जितने कण-कण हैं ये सब पंचभूतमें, पंचभूत तन्मात्रामें, तन्मात्रा अहंकारमें, अहंकार महत्में, महत् मायामें, माया परमात्मामें और परमात्माके स्वरूपकी दृष्टिसे माया नामकी कोई चीज नहीं, न देश, न काल, न वस्तु। इसको लय-प्रक्रिया बोलते हैं। मोटेसे महीनकी ओर ले जाना—इसको लय-प्रक्रिया बोलते हैं और अपने आपको परमात्मा जानकर सबको मिथ्या कर देना—इसको बाध-प्रक्रिया बोलते हैं। यह ज्ञानकी दो प्रक्रियाएँ मुख्य हैं—एक लय-प्रक्रिया और एक बाध-प्रक्रिया।

अच्छा अब आओ, कृष्ण किस प्रक्रियासे अपनेको ब्रह्म जानते हैं? बाध-प्रक्रियासे कि लय-प्रक्रियासे? अरे भाई असली बात इसमें कुछ ऐसी है, यह जो बात कही जाती है, इनको ज्ञान हो गया और इनको अविद्याकी निवृत्ति हो गयी और ये मुक्त होगये और ये ब्रह्म हो गये, यह बात जिज्ञासुओंकी दृष्टिसे ही कही जाती है। जो अपनेको ब्रह्म जानता है, वह यह नहीं जानता कि पहले हमको अज्ञान था, फिर वह ज्ञानसे निवृत्त हुआ। पहले मैं बद्ध था फिर मुक्त हुआ—ऐसा नहीं। वह तो नित्य-शुद्ध-बुद्ध-मुक्त-स्वरूप ही अपनेको जानता है। जिज्ञासुके द्वारा कल्पित जो अविद्या और अविद्याका सम्बन्ध है, वह स्वदृष्टिमें बिलकुल नहीं है। तो,—

भूतभावन भूतेश देवदेव जगत्पते।

अरे यह तो कोई मन्त्र ही मालूम पड़ता है। **भूतभावन**—यह श्रीकृष्णका एक नाम है। भूत शब्दका तीन अर्थ ध्यानमें लो, एक तो भूत माने प्राणी। कीड़ा-मकोड़ासे लेकर ब्रह्मातक, तृणसे लेकर प्रकृतितक, जितना चर-अचर प्राणि-समुदाय है पदार्थ-समुदाय है, उसके 'भावन' हैं भगवान्। भावनाका अर्थ क्या है? जैसे तुम अपने मनमें कभी मनोराज्य करते हो, कि हम ऐसा लोक बसावेंगे जहाँ हम ही हम रहेंगे!

बचपनमें हमलोग मनोराज्य करते थे। हमने मनोराज्य अपना बनाया था कि अंग्रेजोंको हिन्दुस्तानसे निकालना है तो कैसे निकालेंगे? पहले हमारा परगना हमारे

प्रभावमें आ जाय, फिर जिला आवे, फिर प्रान्त आवे, फिर कैसे संगठन करें और कैसे अंग्रेजोंको निकालें। फिर उसके बाद कैसे रहेंगे—इसका भी। भावनामें एक गाँव बसा, एक अपना घर बसा, अपने एक ढंगसे रहने लगे। अब वह आँख बन्द करें तो वैसा गाँव, वैसा मकान दीखने लगे। तो वह सब कहाँ था भाई! वे सब हमारी भावनामें था।

आप अपनी भावना समझ लो। सबके मनमें कुछ-न-कुछ भावना रहती है। हमारे एक मित्र हैं, वियोगी हरि उनका नाम है, अभी जीवित हैं भला, श्रीकृष्ण जन्मभूमि ट्रस्ट है मथुराका, हम लोग उसमें ट्रस्टी हैं, कभी-कभी मिलते हैं। डालमियाने इक्कीस लाख रुपया दे दिया है उसके लिए, आगया है ट्रस्टके हाथमें। वहाँ संगमरमरपर श्रीमद्भागवत लिखा जायेगा और उसका मन्दिर बनेगा। उसका काम प्रारम्भ होगया, नींव ऊपर आगयी छब्बीस फुट नींव उसमें पड़ी है।

हमलोग जब इकट्ठे होते थे तो वियोगी हरिजी कहते थे, हम तो बस प्रेमकी सृष्टि जहाँ होगी, वहीं रहेंगे। उनकी यह कल्पना थी कि —

जहाँ ऊँच और नीचका भेद न हो,
जहाँ जाति या पाँति की बात न हो।
जहाँ मन्दिर मस्जिद चर्च न हो,
जहाँ पूजा नमाज में भेद न हो॥
जहाँ सत्य ही सार हो जीवन का,
रिजवार सिंगार हो त्याग नहीं।
जहाँ प्रेम ही प्रेमकी सृष्टि मिले,
चलो नावको ले चलें खेके वहीं॥

तो ऐसा लगता आँख बन्द करनेपर कि कोई प्रेमकी नदी बह रही है, उसमें प्रेमकी नाव है, उसमें प्रेमकी पतवार है, उसमें प्रेमकी डाँढ़ है, उसमें प्रेमसे बैठे हुए हैं और प्रेमकी सृष्टिमें बहे जा रहे हैं।

वह सब कहाँ था? कि भावनामें! ऐसी भावना सबके मनमें होती होगी, भिन्न-भिन्न प्रकारकी। तो बोले—हम लोग जो भावना करते हैं न, वह ठोस नहीं होती, मनमें आया और खत्म। और ईश्वर तो बड़ा भारी है, अनन्त! देश, काल, वस्तुके परिच्छेदसे शून्य और उसमें आरोपित माया, कल्पित माया और उस कल्पित मायासे युक्त जो अनन्त चैतन्यका भाव है, उसमें भावना होती है। क्या भावना होती है कि अरे सृष्टि तू ऐसी बन, तू ऐसी बन; स्त्री ऐसी बने, पुरुष ऐसा

बने, बगीचा ऐसा बने, कश्मीर ऐसा बने, सूर्य ऐसा बने, चन्द्रमा ऐसा बने, ता ऐसा बने। एक ईश्वरकी जो भावना होती है। जो-जो भाव ईश्वरके लिए मनमें होत है, सो बनता जाता है। और ये सब ईश्वरके, दूसरा कोई उपादान नहीं है।

निरुपादानसंरम्भं अभित्तावेव तन्वते।
जगच्चित्रं नमस्तस्मै कलाश्लाघ्याय शूलिने॥

इसकी कोई भीत नहीं है, इसका कोई रंग नहीं है, कोई तूलिका नहीं है और इसका कोई दूसरा मसाला नहीं है। ईश्वर ही मसाला, ईश्वर ही इसकी भावन करनेवाला अपने आपमें, अपने आपको ही जगत्के रूपमें ईश्वर देख रहा है इसका अर्थ है—**भूतभावन।**

शून्य भित्तिपर चित्र रंग नहिं, तनु बिनु लिखा चितेरे।

गोस्वामी तुलसीदास जी महाराज वर्णन करते हैं—शून्यकी तो भीत है, रंग बिलकुल नहीं है, चित्रकारके हाथ ही नहीं है और फिर भी यह तस्वीर बन गयी, न मसाला न भीत। माने न तो पर्दा-कागज और न तो स्याही और न बनानेवालेके हाथ और महाराज ऐसी तस्वीर बनी कि जिसमें हम बोल रहे हैं, हँस रहे हैं, खेल रहे हैं। इस तस्वीरका रंग क्या है, इस तस्वीरका कागज क्या है? वही कागज है, वही रंग है, वही रेखा है, यह वही तस्वीर, 'कलाश्लघ्याय'—कलाकार हो तो ऐसा। कलाकार माने जादूगर। यह कलाकार नहीं है, यह जादूगर है। ऐसा जादूगर है कि किसीको हँसा रहा, किसीको रुला रहा, किसीको खिला रहा। इसका नाम **भूतभावन** है। श्रुतियोंमें बड़े-बड़े रूपक देकर इनका वर्णन किया गया है। एक वेदमें वर्णन है कि परमात्मा तो अकेला ही था उसके दाहिने-बाँयें, ऊपर-नीचे, भीतर-बाहर कुछ नहीं, अकेला, बिलकुल, कैवल्य। तो अकेला आदमी अपना समय कैसे काटे? न उसके बाप, ईश्वरके बाप तो कोई है नहीं। आपको मालूम है? ईश्वरके बापका नाम? कोई बाप नहीं, माँ नहीं, कोई घरवाली नहीं, कोई बेटा नहीं, कोई दोस्त नहीं, कोई दुश्मन नहीं, कोई पड़ोसी नहीं, कोई बाहर नही, कोई भीतर नहीं, तो अकेला बेचारा अपना मनोरंजन कैसे करे? बोर होने लगा। देखो श्रुति कहती है—

स एकाकी न रमते ततो द्वितीयमसृजत्।

उसको अकेले अच्छा नहीं लगा, न रमत—बोर हुआ। तब क्या किया? कि बोले भाई! जैसे अकेला आदमी, कोई काम-धन्धा न हो, तो बैठकर कविता ही लिखने लगे, वैसे ईश्वरने कविता बनाना शुरू किया। तो **पश्य देवस्य काव्यम्**—

यह कविताका चमत्कार कि उसने लिखी तो कविता और बन गयी दुनिया। उसकी जो कविता है वह सृष्टि बनती गयी, उसका काव्य ही सृष्टि बन गया। क्या बढ़िया काव्य है! सूर्य क्या उदय हो रहा है! चन्द्रमा क्या चाँदनी बिखेर रहा है! समुद्र क्या तरंगायमान हो रहा है! पहाड़ क्या छाती ऊँची किये आनन्द कर रहे हैं! पेड़ क्या खिल रहे हैं! चिड़िया क्या बोल रही हैं! क्या संगीत है, क्या नृत्य है, क्या देवलोक है! क्या युद्ध है! क्या शान्ति है! ये सब परमात्माका खेल। उसके काव्यमें जैसा-जैसा होता गया, जो-जो चीज काव्यमें बनती गयी कवितामें और जो-जो घटना घटती गयी और सो-सो दीखती गयी।

भूतभावन—ये जितने भूत हैं, ये सब ईश्वरकी भावनामें है। **भूतानि भाव्यति इति भूतभावनः**। अपने संकल्प मात्रसे, अपने शब्दमात्रसे, काव्य मात्रसे, अपने जादूके खेलसे जो सारी दुनियाको प्रकट कर दे, उसको बोलते हैं भूत भावन।

भूत माने चराचर सृष्टि और इसकी भावना करनेवाला, कौन? कृष्णके सामने अर्जुन बोल रहे हैं, तो भूतभावन कौन है? भूतभावन तो कृष्ण हैं।

भूतभावन—अब देखो धर्मात्मा लोग इसका अर्थ कैसे बोलते हैं, सुनाते हैं आपको। यह जो अर्थ मैंने बताया, यह भक्तिनिष्ठ ज्ञानकी सृष्टिसे है। अब धर्मात्मा लोग क्या बोलते हैं? भगवान् भूतभावन हैं। अनादि कालसे जीव संसारमें है—**निम्मज्जोन्मज्जतां घोरे भवाब्धौ परमायनं**। इस संसार सागरमें जीव कभी डूब जाते हैं, कभी उतरा जाते हैं। कभी बाहर निकल जाते हैं। ये मेंढक, बरसात आती है तो चाहे देख लो जहाँ टर्रटर्र, और बरसात गयी-गायब!

मैंने एक इन्द्रजालकी पुस्तकमें पढ़ा था। यह इन्द्रजाल शब्द श्रौत है—

इन्द्रो मायाभिः पूरुरूप ईयते।

यह इन्द्रजाल, जैसे मछुआ जाल फैलाता है, ऐसा मानो परमात्माने जाल बिछा रखा है। जाल माने माया और इन्द्र माने परमात्मा। परमात्माकी मायाको ही इन्द्रजाल कहते हैं।

मैंने इन्द्रजालकी पुस्तकमें पढ़ा था कि ये जादूगर जब गर्मी आने लगती है और मेंढ़क मरने लगते हैं, तो उन मेंढ़कोंको इकट्ठा करके सुखा लेते हैं। सुखाकर उनका चूरा बना लेते हैं। और, चूरा बनानेके बाद जब पहली वर्षा होती है, तब वे किसी भलेमानुसके यहाँ पहुँचते हैं, बोले—देखो जादूका खेल दिखावें। वर्षा जहाँ हो रही हो, ताजा-ताजा पानी गिरा हो, वे मेंढकका चूरा छिड़क देते हैं। अरे पाँच ही मिनटके भीतर वहाँ छोटे-छोटे मेंढक उछलने लगते हैं। ऐसा मैंने पढ़ा था, मैंने

कभी किया नहीं हैं, कभी देखा नहीं हैं। पर इन्द्रजालकी पुस्तकमें यह बात पढ़ी थी कि छोटे-छोटे मेंढक तुरन्त उछलने लगते हैं।

तो **भूतभावन**का अर्थ यह है कि प्रलय कालमें जीवोंकी जो उपाधि, जो स्थूल उपाधि थी शरीर, वह तो पंचभूतमें लीन होगयी थी और जो सूक्ष्म उपाधि थी वह अपने संस्कारसे युक्त होकर चुपचाप पड़ी हुई थी। सृष्टिके प्रारम्भमें परमेश्वरने क्या किया कि वही जो 'भूत' हैं, पूर्वकालके संस्कार-विशिष्ट अन्तःकरण वाले जीव हैं, उनको भावित किया, बोले—ये बेचारे कबतक पँचभूतमें लीन रहेंगे, इनका अन्तःकरण कबतक चुप रहेगा, इनको अपने कर्म-पाप-पुण्यका फल भोगनेका अवसर दिया जाय। इनको फिर नया कर्म करनेका अवसर दिया जाय! बेचारे सत्संग करें और इस जन्म-मरणके चक्करसे छूटें, इसलिए परमेश्वरने सृष्टि बनायी—यह धर्म है।

कर्मवादी कहते हैं परमेश्वरने जब देखा कि सबके-सब जीव प्रलयके समय अपने स्थूल शरीरसे रहित होगये और सूक्ष्म शरीर उनका निष्क्रिय होगया और बेचारे न सत्संग कर पावें, न सुखी हो पावें, न दुःखी हो पावें, न पाप कर पावें, न पुण्य कर पावें, तो करुणा करके परमेश्वरने सोते हुए जीवोंको जगाया और उनको कर्मानुसार शरीर दिया, तो वह शरीर देनेवाला जो परमात्मा है उसको **भूतभावन** बोलते हैं।

अब देखो तीसरी बात **भूतभावन**की सुनाता हूँ, एक तो भगवान्‌का यह संकल्प है और एक कर्मानुसार जीवोंको जगानेकी कृति है, तीसरा देखो **भूतभावन**—एक था तांत्रिक। वह श्मशान साध रहा था, यह दृष्टान्त मैंने, "सच्चिदानन्द-अनुभव" नामकी एक पुस्तकमें पढ़ा है। कोई स्वामी बड़े वृद्ध सच्चिदानन्द नामके हुए हैं। मेरठके आसपास रहते थे। उन्होंने लिखी है। उसमें दूसरे ढंगसे लिखा है, जरा मैं उसको दूसरे ढंगसे बोलता हूँ, क्योंकि बोलनेका ढंग तो अपना-अपना होता है। एक तन्त्रिक श्मशान साध रहा था, वह गंगाजीके तटपर एक मुर्दा देखा। मुर्देकी छाती पर बैठ गया और मन्त्र-जप करने लगा। उस मुर्देमें जैसे प्राण आगया हो, उसका मुँह खुले, तो उसमें वह लोहेका चना डाल दे। लोहेका चना लेगया था। एक थोड़ी देर बाद श्मशानेश्वर सिद्ध हो गये, सजग हुए। वहाँ हजार-हजार भूत-प्रेत-पिशाच प्रकट हो गये, कोई औरत है कोई मर्द है, कोई बच्चा है, किसीके घरमें कोई मर गया है तो रो रहे हैं। किसीके घरमें ब्याह है किसीके घरमें बेटा हो रहा, कहीं नगाड़े बज रहे कहीं उत्सव मनाया जा रहा, कहीं

छाती पीट-पीटकर रो रहे। अब वह छाती पर बैठकर डरे नहीं, देखे यह क्या हो रहा? कि यह श्मशान सिद्धि हो रही, श्मशानका जागरण हो रहा।

यह विश्वसृष्टि क्या है? यह शंकर जीका महाश्मशान है—**महाश्मशाने त्रिकंटक विराजिते**—संकल्प बोलते हैं, पता नहीं यहाँ बोलते हैं कि नहीं, काशीमें कोई सत्कर्म जब कोई करते हैं तो वहाँ 'महाश्मशाने' जरूर बोलते हैं। क्योंकि काशीको महाश्मशान मानते हैं। जिस श्मशानमें जलने-मरनेके बाद आदमी फिर लौट आवे, उसको श्मशान बोलते हैं। और जहाँ मरने-जलनेके बाद फिर लौटना न हो, महामुक्ति हो जाय उसका नाम महाश्मशान है।

यह महाश्मशान क्या है? कि यह जो ब्रह्म चैतन्य है, अखण्ड चैतन्य, यह महाश्मशान है। इसमें भगवान् क्या करते हैं? कि **भूतभावन**। जैसे श्मशानमें न होनेपर भी हजारों भूत जाग जाते हैं और उनके यहाँ जन्म होता है, उनके यहाँ ब्याह होता है, उनके यहाँ मृत्यु होती है, उनके यहाँ संयोग होता है, उनके यहाँ वियोग होता है और जब मन्त्र-साधना बन्द की, कहीं कोई नहीं। न वहाँ ब्याह है, न बेटा है, न मृत्यु है, न जन्म है, न भीड़ है न नगाड़ा है, न रोशनी है, कुछ नहीं। एक मिनटमें मन्त्र बन्द कर दिया, तो कुछ नहीं और एक मिनटमें मन्त्र जप करने लगे तो सब हो गया।

यह क्या हुआ? यह महाश्मशानमें भूतोंका प्रकट होना, भूतोंका ब्याह होना, भूतोंके बेटा होना, भूतोंका संयोग होना, भूतोंका वियोग होना, भूतोंका मर जाना—यह सब क्या है? यह शंकरजीका महाश्मशान चेत रहा है। इसी प्रकार महाश्मशानमें—अद्वैत ब्रह्ममें यह किसी जादूगरके जादूका खेल दिखायी पड़ रहा है, अनन्त कोटि ब्रह्माण्डके रूपमें। वह जादूगर कौन है? तो, अर्जुन कहते हैं—कृष्ण! तुम्हीं हो वह जादूगर।

भूतभावन! भूतेश! देवदेव! जगत्पते!

भूतभावन भूतेश देवदेव जगत्पते।

'हे पुरुषोत्तम! तुम भूतभावन हो, तुम भूतेश हो, तुम देवदेव हो, तुम जगत्पति हो। तुम अपने आपको, अपने आपसे, अपने आप ही जानते हो।'

यह अर्जुन श्रीकृष्ण भगवान्‌से कुछ पूछना चाहते हैं। तो पूछनेवालेको तारीफ भी करनी पड़ती है। अगर वह वक्ताको प्रसन्न करके न पूछे, डंडा, दिखाकर पूछे कि यह बात तुमको बतानी पड़ेगी, तो पहले तो ठीक बतावे ही नहीं और बतावे भी तो बेमनसे बतावेगा। जानकारी प्राप्त करनेमें किसीका हक नहीं हुआ करता। वक्ता प्रसन्न हो तो बता दे और न प्रसन्न हो तो न बतावे।

अब ये जो चार सम्बोधन हैं—हे भूतभावन, हे भूतेश, हे देवदेव, हे जगत्पते और पाँचवाँ पुरुषोत्तम तो सबके सिरपर है ही; इन सम्बोधनोंका भी अभिप्राय बताते हैं। कल आपको 'भूतभावन' शब्दका अर्थ बताया था। भूतभावनका अर्थ होता है चराचर सृष्टिको उत्पन्न करनेवाला। तो धर्म-कर्मके अनुसार प्रकृतिसे बनानेवाला, अपने संकल्पसे ही सृष्टि कर देनेवाला और जैसे महाश्मशानमें बिना हुए ही भूत-प्रेत दिखायी पड़ रहे हों, वैसे केवल प्रतीति मात्र सृष्टिका अधिष्ठान स्वयं प्रकाश।

अब आओ लौकिक दृष्टिसे भी इसका अर्थ बताते हैं। भूतभावनका अर्थ हुआ दुनियाका बाप। वैसे ब्रह्मा बोलो तो चलेगा। **भूतेश**का अर्थ होता है सबका नियामक, भूत-प्रेतोंका भी स्वामी-रुद्र। और, **देवदेव** माने विष्णु! बड़े सुन्दर हैं, बड़े मलूक हैं। देवताओंके भी देवता—देवदेव। और, **जगत्पते** माने परमेश्वर—ईश्वर। और **पुरुषोत्तम** माने ब्रह्म। क्षर और अक्षरसे अतीत पुरुषोत्तम तत्त्व। तो **भूतभावन** माने ब्रह्मा तुम्हीं हो, **भूतेश** माने रुद्र तुम्हीं हो, **देवदेव** माने विष्णु **तुम्हीं** हो और **जगत्पति** माने ईश्वर तुम्हीं हो और **पुरुषोत्तम** माने **शुद्ध ब्रह्म तुम्हीं हो**। ये पंचदेव।

विष्णु-पुराण सुनते समय आप लोगोंने देखा होगा, वहाँ पाँच पाँचकी प्रक्रियासे ईश्वरका निरूपण है। सृष्टिका देवता, प्रलयका देवता, पालनका देवता, तिरोधानका देवता और नारायण ये पाँच हुए।

अब **भूतभावन** माने बच्चा पैदा करनेवाला सीधे समझो। ईश्वरको बच्चे पैदा करनेका भी शौक है, पलटनकी पलटन खड़ी कर दी। यह ब्राह्मण, यह क्षत्रिय, यह वैश्य और ये शूद्र। बहुत बेटी पैदा करनेमें भी ईश्वरको कोई संकोच नहीं है, क्योंकि दहेज देना ही नहीं पड़ता। तो, **भूतभावन**का अर्थ हुआ—सारी प्रजाके पिता। परन्तु पिता होना आसान है, बच्चे पैदा कर देना झुण्ड-के-झुण्ड, तो आसान है, परन्तु उनको नियन्त्रणमें रखना, अपने काबूमें रखना, उनको अपने धर्मकी, अपने कर्मकी शिक्षा देना, उनको मर्यादामें चलाना यह तो सब बापोंके हाथकी बात नहीं है, दुनियामें तो ऐसे बाप होते हैं कि बच्चे तो बहुत होगये, लेकिन बात कोई नहीं मानते, आवारा हो जाते हैं। 'आवारे' उनको कहते हैं कि जो वारण करनेपर भी न माने—आवारे। पिता-माँने कहा—यह काम मत करो, तो वारणको नहीं माना। तो कौन हुए? कि 'अवारे' हुए। जो रोकनेसे न रुके उसको आवारा बोलते हैं। आवार। आवारित। आवारण। बोले—ईश्वर ऐसा नहीं है बाप। **भूतेश**—काबूमें रखता है। बोले—अच्छा बापने पैदा भी किया और काबूमें भी रखता है, अन्तर्यामी भी है, नियन्ता भी है **भूतेश** माने अन्तर्यामी नियन्ता। लेकिन वेदोंकी श्रद्धा नहीं, आराध्य नहीं, पूजा भी नहीं रहे; तो बताते हैं—**देवदेव**—वही एकमात्र आराध्य है।

पैदा करनेवाला भी वही है, नियन्ता भी वही और अपनी संततिका—संतानका आराध्य भी वही है।

अब बोले—अच्छा आराध्य भी होवे, बेटा मानता भी होवे; पैदा भी हुआ, काबूमें भी रहता है, लेकिन पिता उसका पालन-पोषण न कर सकता हो तो बेकार गयी न बात! बच्चे तो पैदा किये बहुत, परन्तु दूधका, रोटीका, कपड़ेका बन्दोवस्त नहीं। तो बोले—**जगत्पते** सारी दुनियाका पालन-पोषण करनेमें समर्थ है—पति है। '**पाति इति पतिः**'। जो पालन करे उसका नाम पति। तो बच्चे पैदा भी किये, उनको काबूमें भी रखा, उनके द्वारा आराधित भी हुआ और उनका पालन-पोषण भी किया। ऐसा जो बाप हो, उसको **पुरुषोत्तम** बाप बोलते हैं। बाकी सब बाप पुरुषोत्तम नहीं हैं। उनके लिए दूसरा शब्द इसीसे मिलता-जुलता है, परन्तु वह भरी सभामें कहना ठीक हैं। आप लोग भलेमानुस यहाँ बैठे हैं सत्संगमें। तो **पुरुषोत्तम**।

श्रीकृष्णके लिए यह क्या शब्द हुआ? **भूतभावन भूतेश देवदेव जगत्पते।**

अब देखो **भूतभावन** माने एक-एक ब्रह्माण्डके ब्रह्मा। **भूतेश** माने एक-एक ब्रह्माण्डके रुद्र। **देवदेव** माने सम्पूर्ण इन्द्रियों और देवताओंके आराध्य-हिरण्यगर्भ। **जगत्पते** माने परमेश्वर, और **पुरुषोत्तम** माने सिद्ध ब्रह्म। यह सब श्रीकृष्णके लिए कहा जा रहा है, ये श्रीकृष्णके रूप हैं। सब-के-सब। ये भक्तलोग इस बातको ज्यादा पकड़ते हैं। जो कृष्णका भक्त होता है, वह कहता है श्रीकृष्ण ही ब्रह्मा हैं, श्रीकृष्ण ही रुद्र है, श्रीकृष्ण ही विष्णु है, श्रीकृष्ण ही ईश्वर है, श्रीकृष्ण ही पुरुषोत्तम ब्रह्म है। **कृष्णात्परं किमपि तत्त्वमहं न जाने।** कृष्णसे परे कोई तत्त्व हम नहीं जानते, सब तत्त्वोंसे परे यह श्रीकृष्ण तत्त्व है।

अब **भूतभावन** माने विश्वात्मा—विश्वसृष्टिका उत्पादक। विश्वमें ही सृष्टि होती है चराचर-सृष्टि। और, **भूतेश-एष सर्वेश्वर। एष सर्वज्ञः।** प्राज्ञ। व्यक्तिमें प्राज्ञ और समष्टिमें ईश्वर। और, **देवदेव**—तैजस-हिरण्यगर्भ-सूत्रात्मा। और **जगत्पते**—जगत्‌की जिसमें सत्ता-स्फूर्ति हो रही है वह जगत्पत्ति। तो 'भूतेश' और 'देवदेव'—इसपर थोड़ा और ध्यान दें।

नारायण यह जो देवदेव है, तो देवता कौन है? इसको जब बाहर देखते हैं, तो एक आदिभौतिक दृष्टि यह है कि **विद्वाँसौहि देवाः** जो विद्वान् है सो देवता है। स्वामी दयानन्दजीने इसी श्रुत्यंशको ग्रहण किया। वेदके मन्त्रका यही हिस्सा उन्होंने पकड़ा और बोले कि जो विद्वान् है—जो ज्ञानी पुरुष है, उसीका नाम देवता है। ऐसे भी समझो कि स्त्रीके लिए पुरुष देवता है, पुरुषके लिए स्त्री देवता है। ऐसा भी वर्णन शास्त्रमें आया है। पति देवता है—यह तो बहुत प्रसिद्ध है—**यत्र नार्यस्तु पूज्यन्ते रमन्ते तत्र देवताः।** स्त्रीका जहाँ आदर होता है वहाँ देवता निवास करते हैं। स्त्री साक्षात् लक्ष्मी है, वह भी देवता हुई।

तो पिता देवता है। माता देवता है।

मातृदेवो भव। पितृदेवो भव। आचार्य देवो भव।

आचार्य भी देवता है। और, वैष्णवोंमें पुत्रको भी देवता मानते हैं। उसके रूपमें भी एक देवता ही आया है। कैसे? कि जो पतिकी आत्मा है वही रूपान्तरित होकरके पुत्रके रूपमें आया है। तो **पतिर्जायां विशत्यादौ गर्भो भूत्वा स्वमातरम्।** उपनिषद्‌में यह बात आयी कि पतिकी आत्मा ही पत्नीके गर्भमें प्रविष्ट हुई, उसीका एक अंश पुत्रके रूपमें प्रविष्ट हुआ—प्रकट हुआ, तो पति देवता है, तो पुत्र भी देवता है। उसका भी आदर करना चाहिए। पुत्रका भी तिरस्कार नहीं

करना चाहिए। पतिका तिरस्कार नहीं करना। माता-पिताका, आचार्यका तिरस्कार नहीं करना। फिर ब्राह्मणका, साधुका, गायका तिरस्कार नहीं करना। अरे चराचर प्राणीके रूपमें ईश्वर ही प्रकट है, उसका तिरस्कार नहीं करना।

तो **भूरसि। भूमिरसि।** धरतीके रूपमें ईश्वर है। **सलिलमसि।** जलके रूपमें ईश्वर है। **अग्निमीले पुरोहितं।** अग्निके रूपमें ईश्वर है। **वायो त्वमेव प्रत्यक्षं ब्रह्मासि।** वायुके रूपमें ईश्वर है। **कं ब्रह्म। खं ब्रह्म।** आकाशके रूपमें ईश्वर है। **मनो ब्रह्म इत्युपासीत।**

श्रुतिमें ऐसा वर्णन आता है—**अन्नं ब्रह्म।** जो भीतर जाकर हमको शक्ति देता है, प्राण धारण करता है, वह अन्न भी ब्रह्म है। मन भी ब्रह्म है।

ऐसा भी वर्णन आता है कि जब मन ब्रह्म है, तो मन तो संकल्पके रूपमें दिखायी पड़ता है, जो-जो संकल्प अपने मनमें उठे, ऐसा सोचते जाओ कि यह भी ब्रह्म है, यह भी ब्रह्म है। प्रत्येक संकल्पमें उसके ब्रह्मत्वका आधान करो। आप बैठ जाओ कभी और रोको मत कि क्या संकल्प आता है, लड़ो मत। क्योंकि संकल्प बुलानेसे नहीं आता है, रोकनेसे रुकता भी नहीं! अपने आप आजाता है, जब सामने आवे तो बोलो—**त्वमेव प्रत्यक्षं ब्रह्मासि। मनो ब्रह्म।** अच्छा संकल्पजी! तुम ब्रह्म हो। अब संकल्पजी तो गये, ब्रह्म रह गया। फिर दूसरा संकल्प आवे, बोलो—तुम ब्रह्म हो। संकल्प अपना नाम-रूप भूलेगा, ब्रह्म रह जावेगा। **विज्ञानं ब्रह्म**—विज्ञान जो होता है वह ब्रह्म है। **आनन्दं ब्रह्म इति व्यजानात्।** लो ब्रह्म-ही-ब्रह्म। अन्न ब्रह्म, बेटा ब्रह्म, स्त्री ब्रह्म, पति ब्रह्म, पिता ब्रह्म, माता ब्रह्म, गुरु ब्रह्म, चराचर सृष्टि ब्रह्म, गर्मी ब्रह्म, जल ब्रह्म, अग्नि ब्रह्म। वायु ब्रह्म। आकाश ब्रह्म। मन ब्रह्म। विज्ञान ब्रह्म। आनन्द ब्रह्म।

इनमें तद्-तद् व्यक्तित्वको छोड़ दो, उसके ब्रह्मत्वको देखो। क्या आनन्ददायक है! तो भौतिक रूपसे यह बोलते हैं—**देवदेव।** विद्वान् देवता है। ज्ञानी देवता है। यह देवता क्यों हैं? देवदेव। देवताका देवता कौन है? कि सबके अन्दर जो ब्रह्म है, परमात्मा है, वह देवताका देवता है।

'**सूर्यो देवता। अग्निर्देवता। वातो देवता।**' सूर्य देवता है, अग्नि देवता है, वायु देवता है। तो **देवदेव**—सूर्यके सूर्यत्वमें, वायुके वायुत्वमें, अग्निके अग्नित्वमें जो अधिष्ठान सत्ताके रूपमें और स्वयंप्रकाश चेतनके रूपमें विराजमान है, उसका नाम देवदेव हुआ।

एक तो भौतिकरूपसे मनुष्य देवता है, यह बात आयी, पशु देवता है, पक्षी देवता है, आप जानते हो। हंसकी पूजा करते हैं, गरुड़की पूजा करते हैं।

मत्स्यावतार भगवान्‌की पूजा करते हैं। वाराहावतार भगवान्‌की पूजा करते हैं। एक महात्मा थे। वे कहीं रास्तेमें चलते होते, बन्दर दिख जाते, बोलते—'जय हनुमानजीकी'। सूअर दिख गया, बोले—'ॐ वराहाय नमः' और मछली लिए कोई निकला, बोले—'ॐमत्स्याय नमः'। घोड़ा-छकड़ा कोई निकला, बोले—'ॐ हयग्रीवाय नमः।' देवदेव। अब आध्यात्मिक रूपसे जब देवदेवका विचार करते हैं, तो कृष्णको ढूँढ़नेके लिए इधरको नहीं जाना पड़ता, इधर लौटना पड़ता है। कुछ देवता स्वभावसे ही तुम्हारे भीतर निवास करते हैं। नाकमें अश्विनीकुमार रहते हैं। स्वाद लेनेवाली जीभमें वरुण रहते हैं। बोलनेवाली जिह्वामें अग्नि देवता रहते हैं। नेत्रमें सूर्य रहते हैं। कानमें दिग्देवता रहते हैं। त्वचामें वायु देवता रहते हैं। यह जो अध्यात्म है, इसमें भी देवता रहते हैं। यह मैं सुना रहा हूँ, आपको, पंडिताई करनेके लिए नहीं। जो सुनकर पंडिताई करने जाता है, वह अधूरा हो जाता है। बिना अनुभवके पंडिताई अधूरी होती है, जो लोग किताबमें पढ़कर, व्याख्यानमें सुनकर और रटकर व्याख्यान दे आते हैं, उनके भीतर बात टिकती नहीं है।

देवदेव—हाथमें भी एक देवता है—इन्द्र। पाँवमें भी एक देवता है—विष्णु। गुदामें भी एक देवता है—निऋति। मूत्रेन्द्रियमें भी एक देवता है—प्रजापति। तो आपके शरीरमें देवताके देवताका निवास स्थान है। देवदेवको ढूँढो इसमें, ईश्वर मिलेगा।

पाँवमें विष्णुको शक्ति किससे मिलती है? विष्णु देवता है, उसका देवता भी, देवदेव; देवता है विष्णु और उसका देव है तुम्हारे भीतर। हाथमें है इन्द्र, उसका भी देवता है तुम्हारे भीतर। जीभमें देवता है, उसका भी देवता है तुम्हारे भीतर। तुम्हारे हृदयमें सम्पूर्ण देवताओंका देवता निवास करता है। यह वासुदेव हृदयमें बैठा हुआ है। यह श्रीकृष्ण तुम्हारे हृदयमें बैठा हुआ है। जब तुम्हारे दिलमें बैठता है और उसकी चमक तुम्हारे शरीरमें फैलती है, तो उसकी एक किरण आँखमें आती है और वह देवता बनकर रूपको प्रकाशित करती है। कृष्ण! हृदयेश्वर कृष्ण। प्राणेश्वर कृष्ण। देवेश्वर कृष्ण। हमारी सम्पूर्ण इन्द्रियोंका स्वामी कृष्ण। हमारे सम्पूर्ण संकल्पोंका स्वामी कृष्ण। हमारे सम्पूर्ण प्राणोंका स्वामी कृष्ण। हमारे हृदयका स्वामी कृष्ण, हृदयमें बैठा है।

हमको क्या तू ढूँढे बंदे, हम तो तेरे पासमें।

इसीको बोलते है 'दहरोपासना'। वेदमें इसको 'दहर विद्या' बोलते हैं।

हृदयं पुण्डरीकं वेश्म। हृदयमें एक कमल है, वह परमात्माका निवासस्थान है। वहाँ बैठ करके वह जादूगर, एक सूत कानकी ओर फेंक दिया, एक सूत आँखकी तरफ फेंक दिया, एक नाककी ओर, एक जीभकी ओर, सारी इन्द्रियोंकी ओर अपने प्रकाशकी एक-एक रेखा फेंकी, एक-एक किरण फेंक दिया और वह **देवदेव** भीतर बैठा हुआ। सबके हृदयमें अलग-अलग बैठा है, यह उसका नटवर रूप है। नटवर रूप क्या है? कि सबके दिलमें अलग-अलग होना, इतना फुर्तीला है।

आपने अभी पाठ किया होगा ईशावास्योपनिषद्में—**अनेजदेकं मनसो जवीयो नैनं देवा आप्नुवन्पूर्वमर्षत्।** आँख पैदा होनेके पहले मौजूद, कान पैदा होनेके पहले मौजूद, हाथ-पाँव पैदा होनेके पहले मौजूद यह देवता, ये इन्द्रियाँ उसको छू नहीं सकतीं—**नैनं देवा आप्नुवन्।** ये जहाँ जाते हैं शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध ग्रहण करनेके लिए संसारमें, वहाँ भी पहलेसे मौजूद। जहाँ रहते हैं, वहाँ भी पहलेसे मौजूद। जब ये जहाँ पैदा नहीं है, जब पैदा नहीं हुए रहते हैं और जहाँ पैदा नहीं हैं, जहाँ इन इन्द्रियोंका भेद नहीं है, वहाँ भी वही बैठा है भला! वह दिलदार दिलमें बैठा है। उसकी साँवरी ज्योति, अरे शरीर झिलमिल-झिलमिल, जगमग-जगमग हो जाता है।

साँवरी ज्योति माने दुनियाका कोई रंग नहीं है उसमें। दुनियाका कोई रंग उसमें नहीं चढ़ा और वह साँवरी ज्योति भीतर बैठकर सबको प्रकाशित कर रही है। बोले—सबके दिलमें अलग-अलग क्यों? बोले—इसीका नाम नट है। हो एक और हजार दिखे। नट विद्या तो इसीका नाम है।

जथा अनेकन रूप धरि नृत्य करै नट कोइ।
सोइ सोइ भाव दिखावै आपुन होइ न सोइ॥

देखो, सबके हृदयमें एक-एक नट जादूके सूत उड़ा रहा है और सारा व्यवहार हो रहा है। सबके हृदयमें वह एक कैसे? बोले—असलमें एक है और अनेक मालूम पड़ता है। इसीसे उस एक रूपको बोलते हैं जगत्पते। वह जगत्पति है। **गच्छति इति जगत्।** जो चलता है उसको जगत् बोलते हैं। जैसे अणु उड़ रहे हैं, परमाणु उड़ रहे हैं, शक्ति गतिशील हो रही है।

देखो, जगत्के मूलमें परमाणुको मानो तो वह भी चल है और जगत्के मूलमें शक्तिको मानें तो वह भी चल है, जगत्के मूलमें प्रकृतिको मानें तो वह भी परिणामी है। जगत्के मूलमें चित्को मानें तो वह भी परिणामी है, वह भी बदलता

है। इसीको जगत् बोलते हैं। और 'जगच्च,' जगच्च, जगच्च जगन्ति तेषां जगतां पतिः जगत्पतिः।'

एक जगत् नहीं, हजार जगत्; ऐसी-ऐसी दुनिया है, यह इन्द्रियोंका जो साथ हो जाता है! देहात्मबुद्धि माने, देहको मैं समझना माने इन्द्रियोंका दास हो जाना, मैं मनुष्य हूँ, मैं ब्राह्मण हूँ, यह क्या है? कि अपनेको हड्डी, मांस, चामके घेरेमें मान लेना, इसीको मैं मान लेना, इन्द्रियोंका दास हो जाना है। जो इन्द्रियोंके दास हो जाते हैं, ये इन्द्रियाँ जितनी बताती हैं उतनी बात मानते हैं। जैसे कोई अपनी स्त्रीका दास हो जाय, वह सिर्फ उतनी ही बात मानता है, जितनी उसकी स्त्री मनवाये और मना कर दे तो नहीं माने।

कहते हैं एक बहुत बड़ी सभा जुड़ी, तो उसमें कहा गया कि आजकल सब लोग अपनी स्त्रीकी सलाह मानते हैं। फिर कहा कि अच्छा जो न मानते हों वे एक तरफ बैठे रहें और जो माननेवाले हैं सो एक तरफ हो जायँ। सब लोग उठकर एक तरफ हो गये, उसका मतलब था कि हम अपनी स्त्रीकी बात मानते हैं। स्त्रियाँ भी देख रही थीं कि बाबा हमारे पति तो बड़े आज्ञाकारी हैं, और देखो ये भी मानते हैं, ये भी मानते हैं। एक सज्जन अपनी जगहपर बैठे रहे। जाकर उनसे पूछा कि भाई, तुम्हारे अन्दर ऐसी क्या शक्ति है कि तुम अपनी स्त्रीकी बात नहीं मानते, तुम उठे क्यों नहीं यहाँसे? बोले—जब मैं घरसे चला तब मेरी स्त्रीने कह दिया था कि सभामें जहाँ जाकर बैठना, वहीं बैठे रहना, इधर-उधर नहीं करना।

देखो, इन्द्रियोंका दास कहनेका अर्थ क्या हुआ? हमारा कहना तो यह है कि जैसे जो जिसका दास होता है वह, उसकी बात मानता है· ऐसे आदमी इन्द्रियोंका दास हो गया। जितना वे बतावें दुनियाको यह सुन्दर है, यह कुरूप है, यह शब्द है, यह स्पर्श है, यह रूप है, यह रस है, यह गन्ध है। इन्द्रियाँ जितना दुनियाको बताती हैं उतना ही मानते हैं। लेकिन इन्द्रियाँ क्या हैं—इनके बारेमें उनकी जानकारी नहीं है। और, इन्द्रियोंसे परे क्या है, इसके बारेमें कभी सोचते ही नहीं हैं। कुछ ऐसी भी तो बात हो सकती है दुनियामें, जो इन्द्रियोंसे परे हो। जिस समय आध्यात्मिक साधनामें लगते हैं और वृत्तियाँ जब अन्तर्मुख होती हैं न! आपको क्या सुनावें, यह जैसे प्रकाशका वक्रीभवन होता है; प्रकाशका वक्रीभवन एक प्रक्रिया है। जैसे सूर्यकी जो किरणें चलती हैं सूर्यसे, तो वह जहाँ पानीकी धारा उनको मिलती है, इन्द्रधनुष जहाँ बनता है, बादलकी रेखा होती है, तो कहीं

लाल हो गयीं, हरी हो गयीं, पीली हो गयीं। सूर्यकी किरणें लाल-हरी-पीली क्यों होती हैं? वहाँ टेढ़ी हो जाती हैं। सूर्य किरणके वक्रीभवनसे तरह-तरहके रंग आसमानमें दिखायी पड़ने लगते हैं। ये जो फूलोंके पौधे हैं, यह सूर्यकी किरण तो एक ही है, कोई लाल क्यों दिखती है? कोई पीली क्यों दिखती है? कोई हरी क्यों दिखती है? तो वहाँ आकर उस वस्तुसे टकरानेपर सूर्यकी किरणें टेढ़ी हो जाती हैं। इसको सूर्यकी किरणोंका वक्रीभवन—टेढ़ा होना बोलते हैं। टेढ़ा होनेपर वे नया-नया दृश्य दिखाती हैं। इसी प्रकार जब हम लोग बैठकर भजन करते हैं, और अपने इन्द्रिय वृत्तियोंको बाहरसे भीतर खींचते हैं, मनकी वृत्तियोंका वक्रीभवन होता है, वे टेढ़ी होती हैं, तो जहाँ-जहाँ टेढ़ी होती हैं, वहाँ-वहाँ वे उनके स्थान हैं, कहीं भूत-प्रेत दिखाती हैं, कहीं शाकिनी, डाकिनी, हाकिनी दिखाती हैं, कहीं संत-महात्मा दिखाती हैं, कहीं देवता दिखाती हैं, कहीं स्वर्ग तो कहीं नरक, कहीं बैकुण्ठ तो कहीं ब्रह्मलोक, ऐसे-ऐसे दृश्य दिखाती हैं। इन वृत्तिकिरणोंके वक्रीभवनमें ही गोलोक, साकेतलोक, ब्रह्मलोक, वैकुण्ठलोक—ये सब दिखायी पड़ता है। इन वृत्तियोंके वक्रीभवनमें ही समाधि दिखती हैं। ये जितनी समाधि, जितना ध्यान और जितने रूप होते हैं, ये सब-के-सब मनोवृत्तियोंके वक्रीभवनमें दिखायी पड़ते हैं।

ऐसी-ऐसी अजब झाँकी देखनेको मिलती है, ये कबीर साहबसे पूछो, रैदाससे पूछो, चरणदाससे पूछो, दादूदयालसे पूछो, जोगियोंसे पूछो, कि यहाँ बंकनाल है, यहाँ भँवर गुफा है, यहाँ त्रिपुटी है, यहाँ शून्य शिखर है। तो व्यष्टिमें—पिंडमें भी, ब्रह्माण्डमें भी और शुद्ध देशमें भी जितने दृश्य दिखायी पड़ते हैं, **जगच्च-जगच्च**। जगत् पर जगत्—भौतिक जगत्, दैविक जगत्, आत्मिक जगत्।

अब यह तो इन्द्रियोंका दास होगया आदमी, घरवाली कान भरे, वही बात माने, दूसरेकी बात सुने नहीं, ये इन्द्रियाँ जितना बतावे उतनी सृष्टि माने, उसके परे जो सृष्टिका खेल है, उसको समझे ही नहीं। जाग्रत्को तो माने और सपना कैसे आता है—इसका पता ही नहीं। सपना कैसे आता है—इसका तो कुछ सोच ले, लेकिन सुषुप्ति कैसे होती है, इसका पता ही नहीं।

जैसे एक अवस्थाको, सत्यका निरूपण करनेके लिए चले, सत्यकी खोज करनेके लिए चले और जाग्रत्के सत्यको सत्य मान लिया और स्वप्नके सत्यपर विचार नहीं किया, सुषुप्तिके सत्यपर विचार नहीं किया, समाधिके सत्यपर विचार

नहीं किया और गोलोक, ब्रह्मलोक, वैकुण्ठलोक, हिरण्यगर्भके सत्यपर विचार नहीं किया, तो तुम्हें सत्यका आंशिक ज्ञान होगा, पूरा ज्ञान कैसे होगा? इसीलिए जब परमेश्वरके मार्गमें चलते हैं, तो इन्द्रियोंका दासत्व छोड़ना पड़ता है। इन्द्रियाँ जो कान भरती रहती हैं कि यह सच्चा, यह सच्चा, यह सच्चा; इनको अनसुनी करना पड़ता है। इनको अनसुनी करना ही वैराग्य है। पर-प्रत्यय बुद्धि होगया। पर-प्रत्यय बुद्धिका अर्थ हो गया, कालिदासने बहुत बढ़िया लिखा है—**पुराणमित्येव न साधुसर्वं**—यह बात पुरानी है, इसीलिए सब कुछ सच्चा नहीं हो जाता। दो बात पुरानी होनेसे सच्ची नहीं होती। **न चापि सर्वं नवमित्यवद्यम्**। —कोई आविष्कार नया है, इसीलिए वह बात दोषपूर्ण नहीं हो जाती। **सन्तः रीक्ष्यान्यनरद् भजन्ते**। सन्त पुराने और नये दोनोंकी परीक्षा करते हैं और जो दोनोंमें-से ठीक होता है, उसको स्वीकार करते हैं, और , **मूढाः परप्रत्ययनेयबुद्धिः**। जो मूढ़ होता है वह विवेकके प्रकाशमें वस्तुको नहीं देखता है। यह तो कोई कान भर गया—उस बातपर चलता है। 'मूढः पर प्रत्यय'—दूसरेका विश्वास जिसकी बुद्धिका संचालन कर रहा है। यह इन्द्रियोंपर विश्वास! आपको बतावें, खण्ड-खण्ड हो जाता है विश्वास, जब हम आँखसे देखते हैं कि खूनकी बूँदका एक जरा-सा कतरा है और जब जाँच होती है अस्पतालमें खूनकी, वहाँ मशीन लगाकर देखते हैं तो उस एक कतरेमें—एक फुहियामें खूनके, दस हजार कीड़े सफेद और दस हजार कीड़े भूरे-लाल हैं, तो आँखपर विश्वास खण्डित हो जाता है। अरे आँखने तो बताया था कि यह कतरा है—एक बूँद है। गिलासका जो पानी हम लेते हैं हाथमें, आँखें बताती हैं यह एक है, मशीनसे देखो, वह तो बिलकुल अलग-अलग बूँद-ही-बूँद है। पानी एक नहीं होता कभी। पानी खण्ड-खण्ड, बूँद-बूँद होता है। बस आँखका दोष है कि जहाँ वे बूँदें अलग होती हैं, उस अलगावको देख नहीं पाती हैं। आँखें सलाह देती हैं एक गिलास पानी एक और जब यन्त्रसे देखते हैं—मशीनसे देखते हैं; तो आँखोंके द्वारा बतायी हुई वह चीज बिलकुल खण्डित हो जाती है।

यह दुनिया, इन्द्रियाँ जैसा बताती हैं, वैसी नहीं है, वैसा संसार नहीं है यह। इसके पीछे एक यथार्थ है, एक सत्य है। यह तो ऊपर-ऊपर इन्द्रकी माया है—इन्द्रियोंकी माया है। इन्द्रजालका खेल है। तो देवता! इन्द्रियोंके चक्करमें मत पड़ो। इनको प्रकाशित करनेवाला भीतर जो अपना हृदयेश्वर है—प्राणेश्वर है, जो दिलदार है और जो एक दिलका नहीं, सबके दिलका मालिक है, वह देवदेव है और एक जगत नहीं, हजार-हजार जगत्का वह पति है।

कहते हैं यह पिता और पतिमें केवल प्रत्ययका भेद होता है। प्रत्ययके भेदसे पिता और पतिका भेद होता है, धातुके भेदसे नहीं। भावके भेदसे पिता, प्रत्यय मानो भाव समझो। दोनों शरीर पाँचभौतिक हैं। पिता, पति, पुत्र—सबका शरीर पंचभूतसे ही तो बना है, मसालेमें तो पंचभूत है न, केवल भावका ही तो भेद है।

बाबा! जगत् जगत् जगत्, स्थूल जगत्, सूक्ष्म जगत्, कारण जगत्। सृष्टि, स्थिति और प्रलय। और ये कौन? कि जगत्का पति है। सबको सत्ता, स्फूर्ति देनेवाला है। यह वह पर्दा है जिसपर दुनियाका सिनेमा दीखता है। यह वह रोशनी है, संस्कार जिसमें रखे हुए हैं, भरे हुए हैं, ऐसे चित्तरूपी फिल्मको जब पार करता है, तो उसमें भरी हुई तस्वीरोंको दिखाता है। यह **देवदेव,** यह **जगत्पति,** यह स्वयंप्रकाश परमात्मा है। यह सर्वाधिष्ठान परमात्मा है, यह सम्पूर्ण भूतोंका नियन्ता है, सम्पूर्ण भूतोंका उत्पादक है। और यह **पुरुषोत्तम** है। यह अर्जुनके रथपर सारथि बनकर बैठा है।

देखो जिसका परिच्छिन्नमें मैं है, उसको जीव कहते हैं। जीव माने टुकड़ेको, कतरेको मैं समझना। अपनेको एक कतरा, एक टुकड़ा समझने वाला जीव है। समझका नाम जीव है। और अपनेको टुकड़ा, कतरा न समझना ईश्वर है।

आपको अच्छा लगे, न लगे, एक बार शास्त्रार्थ हुआ कि हिन्दू कौन है? आप लोग कभी सोचना। बड़े-बड़े लक्षण बनाये गये, बड़े-बड़े प्रमाण इकट्ठे किये गये, आप जानते हो सृष्टि तो अनिर्वचनीय है। इसमें किसी चीजकी पहचान बना लेना बड़ा मुश्किल है। बोले—जिसका भारतमें जन्म हो सो हिन्दू है। जो वैष्णव धर्मको माने सो हिन्दू है। तो कई कहाँ जायेंगे पट्ठे! और कोई हिन्दू विलायतमें पैदा होकर आये तो क्या हिन्दू नहीं रहेगा?

जो भारतीय आचार्य द्वारा प्रवर्तित धर्मको माने सो हिन्दू! चलेगी यह बात? बहुत लोग ऐसे हैं जो धर्मको मानते ही नहीं हैं, कम्युनिस्ट हैं। हिन्दू कम्युनिस्ट हो सकता है कि नहीं? जो किसी आचार्य द्वारा प्रवर्तित धर्मको नहीं मानता। भारतके द्वारा प्रवर्तित श्रम सिद्धान्तको मानता है, धर्म सिद्धान्तको मानता ही नहीं, तो क्या हिन्दू नहीं रहेगा? कि भारतमें जन्म हुआ हो तो हिन्दू। जिसके पूर्व पुरुष हिन्दू रहे हों, भारतीय ही रहे हों, वह हिन्दू। आदि सृष्टि कहाँ हुई? कहाँ-कहाँ गये? अभी तो इसीमें सन्देह है।

एक हिन्दूकी बात आपको सुनाते हैं। उसका देखो निचोड़ बताता हूँ!

निचोड़ क्या है, कि जिसके मनमें यह भाव है कि मैं हिन्दू हूँ, वह हिन्दू है। तो जीव कौन है? कि जिसके मनमें यह भाव है कि मैं कतरा हूँ, मैं टुकड़ा हूँ, मैं परिच्छिन्न हूँ, ईश्वरको नहीं जानता, मायाको नहीं जानता, अपने आपको नहीं जानता, इसका नाम जीव—**माया ईस न आपुको जानै!** न मायाको जानता, न ईश्वरको जानता, न अपनेको जानता, उसको जीव बोलते हैं। जीव माने न जाननेवाला, अपनेको पूर्ण न जाननेवाला, अज्ञानीका नाम जीव!

जो अपनेको कतरा नहीं जानता, बिन्दु नहीं जानता, जो अपनेको परिच्छिन्न नहीं जानता, जो अपनेको टुकड़ा नहीं जानता। जहाँ अपरिच्छिन्नता आगयी वहाँ शिवता आ गयी। वह शिव है, वह ब्रह्म है। आप जानते हो कि श्रीकृष्ण एक शरीरको 'मैं' नहीं जानते, जैसे मनुष्य साधारण रूपसे एक शरीरको मैं बोलते हैं वैसे श्रीकृष्ण एक शरीरको मैं नहीं जानते, नहीं मानते तो परमात्मा हैं। द्रौपदीने कहा कि आज नाश हुआ पाण्डव-कुलका। दुर्वासा दस हजार शिष्योंके साथ आमन्त्रित किये गये हैं और हमारे घरमें भूजी भाँग नहीं, रोटीका एक टुकड़ा नहीं, पाण्डव-वंशका नाश हो जायेगा। कृष्णने कहा कि ऐसा! विचार करेंगे इस समस्यापर। मैं द्वारकासे चलकर आया हूँ, कुछ तनिक खिला दो, तब बात करो। देवीजी! वे अतिथि तो अभी घण्टे-दो-घण्टे बाद आयेंगे और यह अतिथि तो तुम्हारे सामने, यह तुम्हारा देवर तुम्हारे सामने खड़ा है, पहले इसको तो कुछ खिलाओ।

बोलीं—कुछ नहीं है, कि नहीं हम तलाशी लेंगे, तुम्हारे घरमें, कुछ छिपाकर रखा होगा। अब वह अनाजवाली, जिसमें भात बनता था, वह बटलोही, एक कण मिल गया शाकका, **शाकान्नं शिष्टं** और कृष्णने डाला मुँहमें—**अनेन विश्वात्मा तृप्यताम्**—यह सागका एक कण, अरे मैं शरीरधारी कृष्ण नहीं हूँ, मैं विश्वात्मा कृष्ण हूँ। वह साग मुँहमें डाला।

कृष्ण माने एक शरीरको मैं माने सो कृष्ण नहीं, वह तो जीव है। जो सम्पूर्ण विश्वको अपने शरीरके रूपमें देख रहा है, वह कृष्ण हुआ! वह कृष्ण है।

धृतराष्ट्रने कहा कि हमारे बेटे मार डालेंगे पाण्डवोंको। कृष्णने कहा कि हमारी ओर भी तो देखो! बोले—अन्धे हैं, कैसे देखें? लो मैं तुमको आँख देता हूँ, देखलो! धृतराष्ट्रने भरी सभामें देखा कि कृष्णके शरीरमें सम्पूर्ण विश्व।

महाभारत-युद्धके अन्तमें जब कृष्ण द्वारका लौटने लगे! प्रभु मैंने तुमको पहचाना नहीं।

युद्धके आरम्भमें अर्जुनने कहा मैं नहीं मारूँगा। बोले—तुम क्या समझते हो? देखो ये भीष्म और ये द्रोण, हमारे कलेवा बन रहे हैं, खा रहा हूँ—

भीष्मं च द्रोणं च जयद्रथं च कर्णं तथान्यानपि योधवीरान्।
मया हतांस्त्वं जहि मा व्यथिष्ठा युध्यस्व जेतासि रणे सपत्नान्॥

मरे हुए हैं। मुर्देके रूपमें श्रीकृष्णने अपने शरीरमें दिखाया। तो कृष्ण एक शरीरको—स्थूल, सूक्ष्म, कारणको, परिच्छिन्नको मैं नहीं बोलता, परिच्छिन्नको जो मैं नहीं मानता है, परिच्छिन्नको जो मैं नहीं जानता है, जिसमें ध्यानका अभाव कभी हुआ नहीं, था नहीं, है नहीं, होगा नहीं, उस ज्ञानस्वरूप परमात्माको ही कृष्ण बोलते हैं। इसलिए **पुरुषोत्तम** है, क्षर अक्षरसे विलक्षण। इसीसे बताया—**स्वयमेवात्मनात्मानं वेत्थ त्वं**। तुमको और कौन जाने? **स्वयं** तुम खुद अपनेको जानते हो। **आत्मना** और किससे जाने? वेदसे, महावाक्यसे, वृत्तिसे! वह है ही नहीं। न वेद न वृत्ति। किसको जाने? तुम्हारे सिवाय कोई है ही नहीं। तुम अपने आपको, अपने आपसे, स्वयं जानते हो और तुम्हारे सिवाय कोई है नहीं।

अर्जुनने श्रीकृष्णकी स्तुति की। बोले—अब बताओ। कि बाबा! अब बतानेको क्या रह गया? सब तो जान गये तुम। नहीं, अब बताओ! **मोहोऽयं विगतो मम**। देखो अगले अध्यायमें है—हमारा मोह छूट गया।

अच्छा अब आज इतना ही।

स्वयमेवात्मनात्मानं वेत्थ त्वं पुरुषोत्तम।

अर्जुन अपने साधन और साध्यके ज्ञानमें थोड़में सन्तुष्ट होनेवाले नहीं हैं, क्योंकि इसमें अधिक-से-अधिक विस्तार है और अधिक-से-अधिक जानने योग्य है। जो लोग समझते हैं कि हमलोग अकेलेमें बैठेंगे और ध्यान करेंगे और सब कुछ जान लेंगे, वे कभी-कभी ध्यानके चक्करमें ही फँस जाते हैं। ध्यान कोई अन्तिम सत्य नहीं है। ध्यानसे लक्ष्य वस्तुकी जानकारी नहीं बढ़ती, ध्यानसे विक्षेपकी निवृत्ति होती है।

श्रवण भक्ति सिद्धान्तमें भी मुख्य है और वेदान्त सिद्धान्तमें भी, यदि कोई श्रवण पर हँसता है, तो हम उसके बारेमें यह समझते हैं कि उसकी आध्यात्मिक जिज्ञासा ठण्डी पड़ गयी है, वह गर्मा नहीं रहा है, गर्मी नहीं आ रही है। क्योंकि किसी भी इन्द्रियको, दुनियाको देखकर, चाहे आँखसे, कानसे, नाकसे, जीभसे, त्वचासे, मनसे, किसी भी वासनावासित इन्द्रियके द्वारा अथवा निर्वासन इन्द्रियके द्वारा केवल संसार ही देखा-जाना जा सकता है, परमात्मा देखा और जाना नहीं जा सकता।

इसीसे बोलते हैं कि गुरुकी कृपाके बिना, वेदान्त-श्रवणके बिना परमात्माका दर्शन, परमात्माका साक्षात्कार नहीं होता। ऐसा वर्णन करते हैं कि जब आदमी अन्तर्मुख होने लगता है, अन्तर्मुख होना तो आप समझते ही हैं, यह इन्द्रियोंसे हम जो बाहरके विषयोंका ग्रहण करते हैं—इस ग्रहणको छोड़ देना। जब अन्तर्मुख होने लगते हैं, तो हमारी दृष्टियाँ मुड़ती हैं। एक मुरासुर होता है और एक भौमासुर होता है। भौमासुर तो होता है बाह्य विषय और मुरासुर जो होता है, जिसके कारण भगवान्‌का नाम 'मुरारि' पड़ा है—मुरके अरि। तो जब वृत्तियाँ मुरति हैं, उसका अर्थ भी मुड़ना ही है, मुड़े हुए तार जो लगाते हैं, किलेके चारों तरफ ये काँटेदार तार उसीको मुर बोलते हैं। हे भगवान्, केवल वृत्तियोंके मुड़नेसे ही यथार्थ वस्तुका दर्शन नहीं होता।

आप इसको ऐसे समझो कि दुनियामें आँखसे आपको जितने रंग दिखते हैं, यह क्या होता है कि सूर्यकी किरणें जबतक सीधी चलती हैं, तबतक कोई रंग नहीं दीखता. जब कहीं जाकर टकराती हैं और मुड़ती हैं तब रंग दिखता है। तो हम किसी भी वस्तुके यथार्थ रंगको नहीं देखते, सूर्यकी किरणोंका ही रंग दिखायी

पड़ता है। यह समझो कि शक्ल-सूरत जितनी दिखती है यह उपादानमें—मसालेमें जो मोड़ होते हैं, जो रेखाएँ खिंचती हैं, उनसे यह नाक, ये आँख-हमारे शंकरजीको भस्मसे ऐसा श्रृंगार करते हैं कि भस्मका चन्द्रमा, भस्मकी आँख, भस्मकी नाक, भस्मका मुँह और शंकरजीका लिंग मालूम पड़ता है कि मूर्ति है तो यह भस्मरूप उपादानकी जो रेखाएँ हैं, वही आकृति बना देती हैं।

सत्तामें जो मोड़ है, उससे आकृतियाँ मालूम पड़ती हैं। सूर्यकी किरणोंमें जो मोड़ है, उससे रूप-रंग मालूम पड़ता है और वृत्तियोंमें जो मोड़ होता है, उससे मनुष्यके अन्त:करणमें दिव्य गन्ध, दिव्य रस, दिव्य रूप—राम, कृष्ण, शिव आदिके रूप, दिव्य स्पर्श और दिव्य शब्द—वंशीध्वनि, शंखध्वनि, नगाड़ेकी ध्वनि, मेघध्वनि ये सब जो सुनायी पड़ते हैं; जितने नाद, जितने स्पर्श, ऐसा लगता है किसीने आकर गुलगुला दिया, कोई स्वाद आने लग गया, कोई गन्ध उठने लग गयी।

हमारे कई ऐसे श्रोता हैं यहाँ जो आकर बताते हैं कि हमको बहुत रसका अनुभव होता है, हमको बहुत गन्धका अनुभव होता है भजन करते समय हमको दिव्य झाँकी दिखायी पड़ती है।

ये सब क्या हैं कि जब वृत्तियाँ अन्तर्मुख होने लगती हैं, तो वृत्तियाँ ही आन्तर विषयोंका रूप बनाती हैं। जब सत्यके साक्षात्कारमें सच्ची रुचि हो, सच्ची जिज्ञासा हो, हमको रूप नहीं चाहिए, हमको सत्य चाहिए, हमको आकृतियाँ नहीं चाहिए, वह सत्य चाहिए, हमको मनकी बनावट नहीं चाहिए, जो असली भगवान् हैं वे चाहिए! यदि भगवान्के चरणोंमें सच्ची भक्ति हो, तब ये सब जो जाल हैं, ये मिट जाते हैं। ये सब मनके जाल हैं।

एक हमारे मित्र भजन कर रहे थे, उनको ऐसा लगा कि हमारे सामने एक बिलकुल उज्ज्वल वर्ण—गौर वर्ण देवता प्रकट हुआ, न दाढ़ी, न मूँछ, बाल बड़े सुन्दर और शरीर बिलकुल सोनेका, चमचंम-चमचम आकर प्रकट होगया, बोला कि 'मैं भगवान् हूँ।' दण्डवत् किया इन्होंने। ऐसा रूप कभी देखा नहीं था और, एक बात यह भी आपको बतावें कि जितना सत्य ये जाग्रत्के पदार्थ मालूम पड़ते हैं, स्वप्नमें जितने सत्य स्वप्नके पदार्थ मालूम पड़ते हैं, जाग्रत्में उतने ही सत्य जाग्रत्के पदार्थ मालूम पड़ते हैं, जब सच्चा ध्यान लग जाता है तो उतने ही सत्य, जितने स्वप्नके और जितने जाग्रत्के, उतने ही सत्य ध्यानके पदार्थ भी मालूम पड़ते हैं।

वह बोला मैं भगवान् हूँ। बोले—अच्छा भगवान् हो! आपकी बड़ी कृपा। बोले महाराज, हमारी छोटी-सी प्रार्थना थी, बोले—चलो हम तुमको एक खजाना

बताते हैं—निधि, अमुक पेड़के नीचे, इतनी दूरीपर इस दिशामें, इतना गड्ढा खोदनेपर एक खजाना मिलेगा। अब महाराज, वह ध्यान तो हो गया, वह मूर्ति चली गयी। अब वे सज्जन अपने गुरुजीके पास आये, खुश होकर आये कि आज हमको भगवान्‌का दर्शन हुआ और खजाना देनेको बताया कि खजाना अमुक जगहपर है। गुरुजी तो हँसने लगे। बोले कि वे भगवान् नहीं थे। वह तो कोई यक्ष था, वह कुबेरका कोई सेवक था। वह तो तुम्हारे भजनमें विघ्न आया था। यदि तुम वह धन स्वीकार कर लोगे और उसी सुनहले रूपको भगवान्‌का रूप स्वीकार कर लोगे, तो तुम भगवत्तत्त्व-ज्ञानसे वंचित हो जाओगे।

तो पहली बात यह है कि वृत्तियोंमें बड़ी शक्ति है।

हमारे एक मित्र हैं, वे जिन्दा आदमियोंकी आत्मा भी बुला लेते हैं। बहुत लोग मुर्दा बुलाते हैं, तो उसको झूठा सिद्ध करनेके लिए कि वह करनेवालेकी मानसिक शक्ति होती है, उन्होंने यह अभ्यास किया। बोले—हमने शंकराचार्यकी आत्मा बुलायी, हमने उड़ियाबाबाकी आत्मा बुलायी, हमने फलाना किया, ढिकाना किया। बहुत लोग ऐसे आकर बताते हैं। तो यह प्रश्न हुआ कि क्या उनमें-से कोई मुक्त नहीं हुए, शंकराचार्य मुक्त नहीं हुए, उड़िया बाबाजी मुक्त नहीं हुए, उनकी आत्मा कहाँसे पकड़कर मँगायी जाती है? तो उन्होंने कहा—देखो असलमें जो बुलानेवाला होता है और उसके चक्रमें बैठे हुए जितने लोग होते हैं, उनका मन बड़ा शक्तिशाली होता है, एकमें मिल जाता है और सबके मनमें जितनी बातें मालूम होती हैं, सब मालूम पड़ जाती हैं। और मन इन्द्र बन सकता है, मन ब्रह्मा बन सकता है, मन विष्णु बन सकता है।

मनो नाम मनुष्यस्य गिरिशाकार धारिणा।

—मन बनता है ब्रह्मा, विष्णु, रुद्र, इन्द्र, चन्द्र, वरुण, कुबेर, आत्मा और वह-वह जानकारियाँ, वह-वह दिव्य रहस्य प्रकट करता है कि साधारण आदमी तो भूल जाय।

बोले—हमको रेखा नहीं चाहिए, हमको वस्तु चाहिए। हमको रूप-रंग नहीं चाहिए, हमको वस्तु चाहिए। इसीसे आप देखो हमारे एक बहुत बड़े महापुरुषने कहा कि कर्मके द्वारा कर्मवासनाको मिटाओ। कर्म कर्मवासनाकी पूर्तिके लिए नहीं है। कर्मकी जो तुम्हारे अन्दर वासना है, उसको मिटानेके लिए, नियन्त्रित करनेके लिए है। भक्तिके द्वारा अपने हृदयमें जो विषय-वासना है उसका प्रक्षालन करो! देखो, शीशामें यह सहज शक्ति होती है कि उसमें आदमीकी परछाईं दिखे। शीशेमें

सहज शक्ति होती है, सामने जाकर खड़े हो जाओ, परछाईं दिखने लगेगी। परन्तु जबतक उसमें मैल लगी होगी, तबतक परछाईं ठीक नहीं दिखेगी। तो कर्मके द्वारा कर्म, वासना, भक्तिके द्वारा भोगवासना, योगके द्वारा उसकी चंचलता हटा देनेपर जब शीशा स्वच्छ होता है, तब उसमें अपनी सच्ची परछाईं स्वयं दीखने लगती है।

अच्छा, शीशेमें भी एक बात है। अगर शीशेके पीछे मसाला न लगाया हो, तो अपनी परछाईं उसमें नहीं दीखती। यह क्या बात है? देखो वह मसाला लगे होनेसे ही अपनी परछाईं उलटी दीखती है। हम पूर्व मुँहसे हों तो शीशेमें पश्चिम मुँहसे दीखेंगे। अब उस शीशेकी गहराईमें तो कुछ नहीं है, बिना हुए ही वहाँ दिखता है। तो शीशा जब बिलकुल स्वच्छ हो जाता है, तब वह अपने स्वरूपसे जुदा रहता ही नहीं है। इसलिए परमात्माके साक्षात्कारकी शक्ति-लगन होना और वृत्तियोंके वक्रीभवनसे अथवा प्रतिबन्धसे उदित होनेवाले जितने भी शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध और समाधि है, वक्रीभवन जब अन्तिम सीमापर पहुँचता है, वृत्तिका प्रतिलोम गमन जब पराकाष्ठापर पहुँचता है तब समाधि हो जाती है। उस समाधिमें भी जिसकी आसक्ति नहीं है, वह परमात्माके सच्चे स्वरूपको ही जानना चाहता है, उसके सामने परमात्माका सच्चा स्वरूप प्रकट होता है।

तुम स्वयं ज्ञानस्वरूप हो, लेकिन ये वृत्तियाँ जो स्वरूप-ध्यानका वक्रीभवन करती हैं, उनका निवारण करना पड़ेगा, प्रतिबन्धकी निवृत्ति होते, स्वयं परमात्माका स्वरूप प्रकट होता है।

यह जो भगवान्‌की विभूति है और भगवान्‌का योग है, इसको सुननेमें अर्जुनकी तृप्ति नहीं है—**भूयः कथय तृप्तिर्हि शृण्वतो नास्ति मेऽमृतम्**। यह तो अमृत है, इसका अपच नहीं होता। मुँहसे चीज खायी जाये तो अपच होता है। बोलनेवाला थक जायेगा और यह कान तो अहसास है, यह भरता नहीं है—शृण्वतो नास्ति। तृप्ति कैसे होती है? कि भाई एक तो पेट छोटा-सा है, वह भर जाये तो तृप्ति होती है। बोले—बस, अब इच्छा नहीं है। यह जो भगवद् ज्ञान है यह तो कोई ऐसी जगह नहीं जाता है जहाँ पेट भरता हो। पेट भरा नहीं तो तृप्ति कहाँसे होगी? एक ही चीज बारम्बार खानेको मिले, तब भी तृप्ति हो जाती है कि बस भाई; और यह भगवद् ज्ञान तो नित्य नूतन है। जितनी बार यह वाणीमें-से निकलता है, जितनी बार वृत्तिमें-से निकलता है, नित्य नया मालूम पड़ता है और जिससे प्रेम होता है वह भी नित्य नया मालूम पड़ता है।

और कहो कि वस्तुमें कोई दोष हो, तब तृप्ति हो जायेगी कि आगे चलकर

यह अपच कर देगा, कि कोई नुकसान कर देगा या तकलीफ दे देगा, तो वस्तुमें कोई दोष नहीं है। वस्तुमें बोर करनेकी कोई सामग्री नहीं है और पेट भरनेवाला नहीं है। तो यह अमृत-श्रवणामृत इसको बोलते हैं। यह तो प्राणोंकी खुराक है, यह तो बुद्धिकी खुराक है, यह तो मनकी खुराक है। यह इन्द्रियोंमें जो रोज-रोज गन्दगी आती है, प्रक्षालन है उसका गंगाजलसे। गंगाजलसे उसको धो देने जैसा है।

तो अर्जुनने बड़े अनुनय-विनयसे भगवान्‌से प्रार्थना की—

भूतभावन भूतेश देवदेव जगत्पते।
वक्तुमर्हस्यशेषेण दिव्या ह्यात्मविभूतयः॥

अब श्लोकके ढंगपर ध्यान दो।

स्वयमेवात्मनात्मानं वेत्थ त्वं पुरुषोत्तम—इस वाक्यको यदि यहीं समाप्त न करें, तो ये सब सम्बोधन वहीं जायेंगे। "हे पुरुषोत्तम! हे भूतभावन! हे भूतेश! हे देवदेव! हे जगत्पते! त्वं स्वयमेव आत्मना एव आत्मानं एव वेत्थ।" दो-तीन दिनसे यह प्रसंग आपको सुनाया है।

अब यदि 'पुरुषोत्तम'पर ही वाक्यको पूरा कर दें—'हे पुरुषोत्तम स्वयमेवात्मना एव आत्मानं एव त्वं वेत्थ', तो अगला वाक्य शुरू होता है।

"हे भूतभावन, हे भूतेश, हे देवदेव, हे जगत्पते वक्तुमर्हस्य शेषेण दिव्या ह्यात्मविभूतयः। इस आधे श्लोकको अगले श्लोकके साथ जोड़ दो।"

तो भगवान्‌का भूतभावन और भूतेश होना भी विलक्षण है। इसके लिए आपको कल बताया था, सुनाया था कल—उत्तंकके सामने भगवान्‌ने अपना विराट् रूप प्रकट किया, धृतराष्टके सामने किया, अर्जुनके सामने किया, जसोदा मैय्याके सामने किया। अब एक श्रीकृष्ण-लीलाका दृष्टान्त इसमें दूसरा ले लो। क्योंकि अभिन्न निमित्तोपादान कारण भगवान् हैं—इसका दृष्टान्त भौतिक पदार्थोंमें नहीं मिलता। भौतिक पदार्थोंमें क्यों नहीं मिलता कि वे तो जड़ हैं, वे किसी शक्ल-सूरतके उपादान तो बन सकते हैं—मसाले तो बन सकते हैं, लेकिन बनानेवाले तो नहीं बन सकते। माटी कुम्हार नहीं बन सकती। घड़ेमें माटी-माटी है, यह तो ठीक है, परन्तु माटी कुम्हार तो नहीं हो सकती। और कुम्हार माटी नहीं हो सकता। कुम्हारने माटीसे घड़ेको बनाया। कुम्हार अलग, माटी अलग और उससे बनाया हुआ घड़ा अलग। लेकिन यह जो भगवान् सृष्टि बनाते हैं, वे खूद—

आपै अमृत आपु अमृतघट आपै पीवनहारी।

खुद बनानेवाले, खुद बननेवाले और खुद बनाये जानेवाले

आपै ढूँढ़े आपु ढुँढ़ावें आपै ढूँढ़न हारी।

एक दिन श्रीकृष्ण साँवरी सखी बनकर आये। गोपियोंसे बोले कि सखियो! आज कृष्ण बनमें गये हैं, ग्वाल-बालोंसे बिछुड़ गये हैं, अकेले खेल रहे हैं, आओ चलो, हम लोग घेरें उनको और घेरकर पकड़ें और फिर अपने मनसे उनको नाच नचावें। अब महाराज, तैयार हो गयीं गोपियाँ। अब बनमें गयीं तो ढूँढ़ें, इधर गये, उधर गये, कहाँ गये? कि देखो यह चरणचिह्न है, ऐसे बतावें—देखो यह चरण चिह्न है। जब गोपियाँ इधर-उधर देखने लगें तो झटसे अपनी बाँसुरी पीं कर दें घूँघटमें-से, बोले—देखो बस यहीं कहीं है, पकड़ो-पकड़ो। घण्टोंतक गोपियोंको ग्वालिनोंको जंगलमें टहलाया—***आपै ढूँढ़े, आपु ढुँढ़ावें, आपै ढूँढ़न हारी।*** अन्तमें गोपियोंने पकड़ लिया कि यही मायावी है, यही छलिया है।

बहुत अद्भुत-अद्भुत लीलाएँ होती हैं। एक दृष्टान्त आता है भगवान्के संयोगमें वियोग और वियोगमें संयोग। एक दिन श्रीराधा-रानी और श्रीकृष्ण दोनों नित्य निकुंजमें बैठे। भँवरा आया तो राधा-रानी डर गयीं। डरकर श्रीकृष्णसे चिपक गयी। बहुत डरी देखा कृष्णने! तो बोले—प्रियाजू, मार दिया, उसको भगाया, तो भौंरा भाग गया, तो बोले कि मधुसूदन गया। क्या मधुसूदन गया? अरे मधुसूदन माने तो कृष्ण होता है, तो बोलीं—हा मधुसूदन! हा मधुसूदन! संयोगमें भी वियोगका भ्रम हो गया। प्रेम-वैचित्त्य इसको बोलते हैं।

अब वे लगे पुकारने—राधे! प्रिये! स्वामिनी! किशोरी! मैं तो यहीं हूँ, उठो, उठो। तो नहीं उठीं। तो राधाजीका यह प्रेम देखकर कृष्ण बेहोश होकर गिर पड़े और राधे-राधे चिल्लाने लगे, बेहोशीमें। तब राधारानी जग गयीं, बोलीं मैं तो यहीं हूँ।

अंकस्थितेऽपि दयिते किमपि प्रलापम्?

यह देखो यह जगत्में भगवान् और भगवान्में जगत् बिलकुल ओत-प्रेत भावसे विराजमान हैं। केवल पहचानने भरकी देर है, भगवान् कहीं गये नहीं। यहीं हैं।

श्रीमद्भागवतमें क्या बढ़िया इसका उदाहरण है, ब्रह्माजीने बछड़ोंको चुरा लिया, क्योंकि वे कृष्णकी ओर पीठकर जंगलमें घास चरने चले गये। यह बछड़ोंका काम नहीं है, यह आदमियोंका भी काम है, ये भगवान्की ओर पीठकर घास चरने गये। अरे घास ही है न! आजकल तो महाराज भोजनके समय घास भी होता है, वे पत्ते-वत्ते सब जमाकर-सलाद बोलते हैं, बिलकुल घास ही की तरह

होता है। एक बार दस-पन्द्रह बरस पहले मैं एक सेठके घरमें गया, तो डाक्टरने कह रखा था कि घी मत खाना, दूध मत पीना, सब्जी खाना। अब बस सुना उन्होंने! बोले—महाराज आप भी क्या यह घास-पात खाते हैं, पशुओंका खाना? इसमें कोई तत्त्व है? अरे इतना घी खाओ कि पेटमें कुछ अटके नहीं, सब निकल जाय। नस-नाड़ी सब साफ हो जायँ। बड़े भारी-सेठ। लेकिन अब इस साल उनसे जब भेंट हुई, उनके घरमें खाना-पीना हुआ, तब उन्होंने सलाह दी कि महाराज आँवला रोज खाया करो और घी मत खाया करो। घी जहर है, इससे चर्बी बढ़ जाती है। इससे यह होता है, वह होता है—ऐसे बताया उन्होंने। मनुष्य तो अपनी स्थितिके अनुरूप सोचता है। अपनी गति-मतिके अनुरूप ही सोचता है और उसीके अनुसार दूसरेको चलाना चाहता है। अगर आदमी अपने मनके अनुसार दूसरेको चलाना न चाहे, तो उसके जीवनमें कोई दुःख न हो। दुनियामें दुःख है तो केवल इसी बातका है कि आदमी दूसरेको अपने मनके अनुसार चलाना चाहता है। वह तो ईश्वर चला रहा है, तुम क्या चलाओगे?

तो बछड़े गये घास चरने, कृष्णकी ओर हो गयी पीठ! जंगलमें चले गये। अब ब्रह्मा जो हैं—विधि विधान, हरण कर ले गये। ग्वाल-बाल खानेमें मगन हो गये, भोजनका लोभ उनको बहुत हुआ, कृष्ण उनसे दूर हो गये, बछड़ोंको ढूँढ़ने चले गये, तो ब्रह्मा उनको चुरा ले गये, अब अकेले रह गये कृष्ण।

इससे बढ़िया दृष्टान्त सृष्टिमें मिलना मुश्किल है। उस समय लाखों बछड़े और लाखों ग्वाल और उनके हाथोंमें जो छींका था, जो छड़ी थी, जो उनका भोजन था, जो उनका बाजा था, जो उनका कपड़ा था, वे जैसे काने थे, लँगड़े थे, लूले थे, जैसे छाँगुर थे, काले थे, गोरे थे, नाटे थे, लम्बे थे, कृष्णको हँसानेके लिए तरह-तरहके सखा थे, ग्वालबाल थे; देखो जीव कोई नहीं, जड़ उपादान कोई नहीं और पूर्व जन्म कोई नहीं, कर्म-संस्कार कोई नहीं और माँ-बाप कोई नहीं, अलग जीव नहीं थे। और पंचभूतोंका उपादान नहीं था, अन्तःकरण नहीं थे और पैदा होकर दस वर्षकी उम्र होनेमें काल नहीं लगा और श्रीकृष्णने अपने आपको ही सब ग्वाल-बालोंके रूपमें, बछड़ोंके रूपमें, बछड़ोंके गलेमें जो घंटी थी रस्सी थी उसके रूपमें, जो छड़ी थी उसके रूपमें जो भोजन था उसके रूपमें, लाखों-लाखोंके रूपमें प्रकट होगये। इसका नाम है **भूतभावन**।

सचमुच चैतन्य जो श्रीकृष्ण हैं, ये नानारूपमें बन गये? जो बनता है सो चैतन्य नहीं होता और जो चैतन्य होता है सो बनता नहीं। एक नियम है, चैतन्य

हमेशा साक्षी होता है, बननेवालेका साक्षी, बनानेवालेका साक्षी, बिगड़नेवालेका साक्षी, बिगाड़नेवालेका साक्षी। चैतन्यमें तो बनना-बनाना बनता नहीं और दूसरी कोई चीज है नहीं। वहाँ जीव है नहीं, मसाला है नहीं, कर्म है नहीं, संस्कार है नहीं, अन्त:करण है नहीं, पूर्व जन्म है नहीं और माता-पिता है नहीं और समय है नहीं। तो यह सब हुआ क्या? एक चैतन्य बिना बने, बिना बनाये, सर्वात्माके रूपमें स्फुरित हो रहा है। इसीको 'चित्-कचन' कहते हैं—चित्-स्फुरण। इसका नाम है ब्राह्मी स्फूर्ति। यह प्रपंच क्या है? यह ब्रह्म स्फुरण है—आत्मस्फुरण है।

स्वयमेवात्मनात्मानं वेत्थ त्वं पुरुषोत्तम।

अच्छा, देखो फिर क्या हुआ कि उन्हीं ग्वाल-बालोंको अपने काबूमें किया, सबको शामको घेरा, इतनी गाय इस घरमें जायँ, इतनी इस घरमें जायँ, इतने बछड़े इस घरमें जायँ—**भूतेश**—यह ग्वाल इस घरमें जायँ, यह ग्वाल इस घरमें जायें। 'भूतेश' है यह—सबका नियन्ता है। अब सब ग्वाले अपने घरमें पहुँचे, तो माताओंने उनका स्वागत-सत्कार किया, उनको नहलाया-धुलाया, उनको टीका लगाया, उनको माला पहनायी, बोले—बेटा भगवान्‌का भजन करो, थोड़ा भगवान्‌का नाम तो ले लो, तुम्हारा कल्याण होगा। **देवदेव। जगत्पते।**

अब क्या हुआ कि जितना गोपियोंका जगत् था, पौर्णमासी देवीने अफवाह फैलायी गाँवमें कि देखो इस साल जिनको अपनी बेटी-बेटेका विवाह करना हो, कर लो, नहीं तो अब बारह बरस तक विवाहका मुहूर्त ही नहीं है। जितनी गोपकुमारी थीं, सबका ब्याह यह गोप कुमार बने हुए श्रीकृष्णके साथ हो गया। क्योंकि रासलीलामें नाचना है। तो **जगत्पति** होगये।

यह श्रीकृष्णकी लीला बड़ी विचित्र है! बोले—महाराज, आपकी जो विभूति है, आपका जो वैभव है इसका प्रवचन भी दूसरा कोई नहीं कर सकता। जो उससे एक न हो जायगा। बस उसकी लीलाको, उसके रहस्यको, उसके स्वरूपको समझ ही नहीं सकता।

वक्तुमर्हस्यशेषेण दिव्या ह्यात्मविभूतयः।

हे भूतभावन! हे भूतेश। हे देवदेव! हे जगत्पते! अब देवदेव होगये न! ब्रह्माके भी स्वामी हो गये और फिर आगे तो यह दिखाया कि जब ब्रह्माजीने आकर देखा कि यह तो सब ज्यों-का-त्यों चल रहा है, तो जितने ग्वाल थे, सब कृष्ण और जितने बछड़े थे, सब कृष्ण और उनके साथ चार मुँहके ब्रह्मा, पाँच मुँहके ब्रह्मा, सोलह मुँहके ब्रह्मा, बत्तीस मुँहके ब्रह्मा, चौंसठ मुँहके ब्रह्मा।

अब ब्रह्माजीने देखा कि जगत्पते, बोले कि मैं तो एक ब्रह्माण्डका ब्रह्मा हूँ और यहाँ तो कोटि-कोटि ब्रह्माण्डके ब्रह्मा, एक-एक कृष्णकी स्तुतिमें लगे हुए हैं, यही देवदेव हैं और यही जगत्पति हैं। तो उनकी दिव्य विभूतिका वर्णन कौन कर सकता है? तो, **वक्तुमर्हस्यशेषेण दिव्या ह्यात्मविभूतयः।**

भगवान्का वैभव, विभूति माने विविध भूति, भूति माने होना, उद्भवमें जैसे है। यह जो विविध भवन है भगवान्का, विविध रूपमें प्राकट्य; यह वैभव है। भगवान्के स्वयं प्रकाश रूपमें जो विविधता है यह उनका वैभव है, इसका नाम विभूति है। तिहत्तर विभूतियोंका वर्णन आगे आनेवाला है। उनका वर्णन भगवान् नाम मात्रसे करेंगे! यह जो विविध भवन है, भगवान्में मायाका प्रकट होना, फिर मायामें देशका प्रकट होना, कालका प्रकट होना, वस्तुका प्रकट होना, फिर उस वस्तुमें कोटि-कोटि ब्रह्माण्ड बनना, फिर कोटि-कोटि ब्रह्माण्डमें कोटि-कोटि ब्रह्मा, विष्णु बनना, फिर उसमें कोटि-कोटि स्वर्ग बनना, कोटि-कोटि नरक बनना, कोटि-कोटि मर्त्यलोक बनना! यह राग-द्वेष करके मरना जो है, यह तो अपने लिए दुःखका निमन्त्रण है। संसारमें कहीं भी किसीसे भी, एक तृणसे भी यदि मनुष्यका राग-द्वेष है, तो वह सुखी नहीं हो सकता। सुखका सबसे बड़ा दुश्मन राग-द्वेष है। दुःखका सबसे बड़ा निमन्त्रण राग-द्वेष है।

एक आदमीने कहा—महाराज, हमारा किसीसे राग-द्वेष नहीं है और हम दुःखी रहते हैं, भला बताओ आश्चर्य है न! अगर किसीको तुम हटाना नहीं चाहते, तो तुमको दुःख क्यों होगा? अगर किसीको तुम सटाना नहीं चाहते, तो दुःख क्यों होगा? यह तो जिसको सटाना चाहते हो, वे न मिले तो दुःख होगा और जिसको हटाना चाहते हो वह न हटे तो दुःख होगा। यह सटाने और हटानेकी वासनाके बिना; हटानेकी वासनाका नाम द्वेष है और सटानेकी वासनाका नाम राग है। हट! तो द्वेष हो गया, सट! राग हो गया।

अरे जो मौतका भी स्वागत करता है और अमृतका भी स्वागत करता है, जिसके लिए दोनों एक रूप हैं, मरनेपर भी वही और जिन्दा रहनेपर भी वही, बस राग-द्वेषसे मुक्त और सच्चा सुखी होता है।

तो विभूति माने क्या है? विविध-भवन; भवन माने होना, विविध होना। यह भगवान्का विविध रूपमें होना—यह विभूति है। और योग क्या है? विविधतामें एकताको देखना ही योग है। अनेकतामें एकता। एकतामें अनेकताको देखना—वैभव है। यह विभूति है।

विभूति विज्ञान है और एकता ज्ञान है।

ज्ञानं तेऽहं सविज्ञानमिदं वक्ष्याम्यशेषतः । 7.2

यह जो भगवान्‌का शिल्प-कौशल है, धातु एक और नामरूप इतने, यह शिल्प-कौशल है। इसका नाम विज्ञान है, साइंस है। विभूति विज्ञान है और अनेकमें जो एक भरा हुआ है, उसका दर्शन ज्ञान है। बोले—हे भगवान्!

अशेषेण वक्तुमर्हसि

कुछ बाकी मत रखना, छिपाना मत। यह अर्जुनको मालूम है कि ये कभी-कभी छिपा लेते हैं।

सुनावें आपको, सुनाया होगा कभी,

मामेवैष्यसि सत्यं ते प्रतिजाने प्रियोऽसि मे । 18.65

विश्वनाथ चक्रवर्तीने इस श्लोकपर टीका लिखी, भाषा संस्कृत है और लिपि बंगला है। भगवान्‌ने कहा—अर्जुन! अरे तू क्या साधन-साधन, भजन-भजन करेगा, कहता है योग करेंगे, समाधि लगायेंगे, भक्ति करेंगे, ध्यान करेंगे, यह करेंगे, वह करेंगे, क्या करोगे? **माँ नमस्कुरु**। बहुत करना हो तो एक बार हाथ जोड़ ले हमको—**मामेवैश्यसि**—मैं मिल जाऊँगा तुमको, तुम मेरे पास आ जाओगे।

तो अर्जुनने कहा कि क्या पता बाबा, तुम्हारी बात सच्ची न निकले, मैंने तुमको हाथ भी जोड़ा और अन्तमें तुम मिले भी नहीं। बोले—**सत्यं प्रतिजाने** मैं प्रतिज्ञा करता हूँ। कहा—ये ब्रजवासी झूठ-मूठकी सौगन्ध भी खा जाते हैं। 'तेरी कसम' तो उनके मुँहपर रहता है। कृष्ण भी सौगन्ध खाते थे—ऐसा ब्रजवासी लोग कहते हैं—

वेणीगूँथि कहा कोई जाने तेरी सौं तेरी सौं।

मैं तुम्हारी सौगन्ध खाकर कहता हूँ मेरे समान वेणी गूँथना कोई क्या जाने, तेरी सौं—तेरी कसम। यह बढ़िया तरीका है कि किसकी कसम खाये उसीकी कसम खाये जो सामने है कि तुम्हारी कसम। तेरी सौं!

अब वह क्या कहे? सामने वाला क्या कहे? मैं तुम्हारा प्यारा नहीं हूँ! तो बोले—बाबा क्या पता तुम सौगन्ध भी झूठी खाते हो या सच्ची! जो झूठ बोलता है वह झूठी सौगन्ध भी खा सकता है। तो भगवान्‌ने कहा—**प्रियोऽसि मे**—तुम मेरे प्यारे हो भाई। दुश्मनके साथ झूठी बात कही जाती है, झूठी सौगन्ध खायी जाती है, तुम तो मेरे प्यारे हो!

यह विश्वनाथ चक्रवर्तीने मजाक उड़ाया है। हँसी उड़ायी है।

तो बोले—बाबा कृष्ण! तुम बचपनसे तो रहे अहीरोंमें, गँवारोंमें, और तुम कोई बात बोलो और कोई बात छिपा लो, इसलिए मैं पहलेसे ही सावधान कर देता हूँ—**वक्तुमर्हस्यशेषेण**—कुछ छिपके मत रखना, सब बताना।

क्योंकि परमात्माकी सम्पूर्ण विभूतिका वर्णन परमात्मा भी नहीं कर सकता। इसमें परमात्मा कोई अज्ञानी हो, सो बात नहीं, परमात्मा अशक्त होय—ऐसी बात नहीं; जिस चीजका अन्त ही न हो, अगर उसको अन्तका कोई वर्णन करे तो वही झूठ। इसीसे अन्तमें भगवान्‌ने कहा कि—**नान्तोऽस्ति मम दिव्यानां विभूतीनां परंतप,** 10.49 अन्त तो है ही नहीं, अशेषेण वर्णन कहाँसे करें? 'अशेषेण' कहते हो पूरा-पूरा बताओ। और, पूरापन तो उसमें कभी आता ही नहीं। तो कैसी हैं भगवान्‌की विभूतियाँ? बोले—दिव्य हैं। यह 'दिव्य' शब्द भी बहुत मजेदार है।

एक बार किसीकी प्रशंसा करनी थी तो गर्देजीने कहा—ये विलक्षण व्यक्ति हैं। उस समय तो मैं चुप रहा। (गर्दे जी माने पं० लक्ष्मण नारायण गर्दे) बादमें मैंने उनसे पूछा—यह जो भरी सभामें आपने तारीफ की कि ये विलक्षण व्यक्ति हैं तो इसका क्या अर्थ है? बोले कि ठनठनपाल, कुछ नहीं। आपने अच्छा कहा कि बुरा कहा? बोले—न अच्छा कहा, न बुरा कहा, उनका कोई लक्षण ही नहीं है न अच्छाईका लक्षण है, न बुराईका लक्षण है। कोई लक्षण उनके अन्दर है नहीं, इसलिए मैंने विलक्षण कहा। ये विलक्षण व्यक्ति हैं। यह कैसा हुआ? यह जगत् है कि नहीं है? तो बोले—अनिर्वचनीय है। तो **आत्मविभूतयः**—आत्मविभूति दिव्य है। दिव्य कहनेका अभिप्राय क्या है? कि यह साधकोंको परमात्मातक पहुँचनेके लिए साधन सोपान तो है; परन्तु नित्य-शुद्ध-बुद्ध-मुक्त, देश-काल-वस्तुसे अपरिच्छिन्न, सजातीय-विजातीय-स्वगत-भेद-शून्य, प्रत्यक् चैतन्याभिन्न ब्रह्ममें नहीं है। 'विभूति' को दिव्य कहनेका अभिप्राय क्या है? दिव्य माने अनिर्वचनीय।

अनिर्वचनीयका अर्थ क्या है? कि व्यवहार-दृष्टिसे है और परमार्थ-दृष्टिसे नहीं है। यदि तुम्हें परमात्म-तत्त्वका ज्ञान करना है तो ये विभूतियाँ तुम्हारी बहुत मदद करेंगी। और जब तुम्हें परमात्माका ज्ञान हो जायेगा, तब यह अपनेको स्वतन्त्र रखकर कुछ भेदभाव नहीं बनावेंगी, बिलकुल मटियामेट। **वक्तुमर्हस्यशेषेण दिव्या ह्यात्मविभूतयः** भगवान्‌की यह विभूति दिव्य विभूति है। इन विभूतियों-से भगवान् क्या करते हैं? जगह-जगह—**याभिर्विभूतिभिर्लोकानिमांस्त्वं व्याप्य तिष्ठसि।** इन विभूतियोंसे इन लोकोंमें व्याप्त होकर भगवान् रहते हैं। असलमें ईश्वर सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमान, सर्वान्तरयामी है—इसका पता कैसे चले? ये विभूतियाँ

साधक हैं। कैसे साधक हैं? देखो एक कोयला बेचते हैं और एक शीशा बेचते हैं दोनों चीजें हमारी आँखके सामने आती है। तो कोयलेपर सूर्यकी रोशनी पड़ती है तो कोयला ही हो जाती है और शीशेपर जब सूर्यकी रोशनी पड़ती है तो वहाँसे लौटकर दूसरी चीजको प्रकाशित करती है। इसका मतलब हुआ कि कोयलेमें कोई चमक नहीं है और शीशेमें कोई चमक है।

देखो एक ऊसर धरती होती है उसमें बीज बोओ तो बीज भी जल जाय, एक नोना मिट्टी होती है—नमकीन, जिसमें सोडा बनाते हैं। नोना मिट्टीसे सोडा बनाते हैं और ईथर मिट्टीसे सज्जी बनाते हैं, उसमें बीज डालो तो बीज भी जल जाय और एक धरती ऐसी होती हे, वह करैली मिट्टी है, पीली मिट्टी है जिसमें एक बीज डालो तो पचास निकले। तो धरतीमें फर्क है कि नहीं है?

देखो, एक पानी है गोरखपुरमें, एक बाल्टीमें पानी लेकर रखो तो दो तीन घण्टेके बाद किरासिनका तेल उसपर छा जाता है और गंगाजल लेकर घरमें रख दो वर्ष-दो-वर्ष रखो तो, फर्क हुआ न! इसका मतलब हुआ कि गोरखपुरके कुँएका पानी विभूति नहीं है, गंगाजल विभूति है। वह ऊपरकी जो मिट्टी है, वह तो ब्रह्महत्यासे दग्ध है और गंगाजीकी पवित्र मिट्टीमें एक बीज डालो और पचास निकाले, उसमें-से। यह विभूति हुई। इसका नाम विभूति है।

ज्योत्सनावत्यः क्वचित् भुवः।

उपनिषद्का एक वाक्य एक महात्माके सामने रखो, वह उसका अर्थ न समझे, उल्टा समझे, ज्यों-का-त्यों अनुवाद कर दे, उसकी गंभीरताको—रहस्यको न समझे और किसी-किसीकी बुद्धि उस वाक्यमें परमात्माको देखती है तो फर्क हुआ। कहनेका मतलब कि बुद्धियोंमें फर्क होता है।

तो बुद्धियोंमें फर्क है, मिट्टीयोंमें फर्क है, पानियोंमें फर्क है। इससे क्या हुआ? कि एक ओर अल्पज्ञ है, तो जो निरतिशय ज्ञानवान है वह सर्वज्ञ है। जो निरतिशय शक्तिमान है, वह सर्वशक्तिमान है। तो **ज्योत्सनावत्यः क्वचित् भुवः** ये जो विभूतियाँ हैं इन विभूतियोंके द्वारा सामान्य विशेषकी सिद्धि होती है और सामान्य विशेषकी सिद्धि होनेपर ईश्वरकी सिद्धि होती है। और ईश्वरकी सिद्धि होनेपर ईश्वरके ज्ञानसे अपना ज्ञान मिला दो, सब अपना स्वरूप हो जाये। तो परमात्मा तक पहुँचनेकी एक सीढ़ी है इसलिए इसका पूर्णरूपसे वर्णन करो—ऐसा अर्जुन कहते हैं।

अब आगेका प्रसंग कल। ☆

स्वयमेवात्मनात्मानं वेत्थ त्वं पुरुषोत्तम।
भूतभावन भूतेष देवदेव जगत्पते॥ 15॥

अर्जुन कहते हैं कि हे भगवन्! क्योंकि आपकी स्वरूप भूत जो विभूतियाँ हैं, वे दिव्य हैं, अप्राकृत हैं, असाधारण हैं, अनिर्वचनीय हैं, आपके सिवाय दूसरा कोई उनका वर्णन नहीं कर सकता, इसलिए आप ही सम्पूर्ण रूपसे उनका वर्णन कीजिए जिन विभूतियोंके द्वारा, आप सब लोकोंमें होकर विराजमान हैं। **दिव्या हि आत्मविभूतयः**। क्योंकि भगवान्‌की आत्म विभूतियाँ दिव्य हैं।

अब आपको फिर एक बार याद दिलाते हैं कि अध्यायके प्रारम्भमें योग और विभूति दोनोंके निरूपणकी प्रतिज्ञा की गयी और **एतां विभूतिं योगं च मम यो वेत्ति तत्त्वतः** मेरी इस विभूतिको, योगको जो भली भाँति जानता है—तत्त्वतः जानता है। और, दो विभाग ही करते गये, देवता-विभाग और महर्षि-विभाग। योगके ज्ञाता महर्षि और विभूतिके ज्ञाता देवता, विभूतिरूप देवता।

अब यहाँ **दिव्या ह्यात्मविभूतयः** जब वर्णन करते हैं, तो एक बात स्वभावसे ही समझमें आती है। एक तो असंभूति है, और एक संभूति है पर यह विभूति है। जब ईशावास्य-उपनिषद्‌का पाठ करते हैं, उसमें संभूति और असंभूति—दोनोंका ही वर्णन आता है। संभूति और असंभूतिमें क्या फर्क है? जो कारणावस्था है उसको संभूति बोलते हैं, जैसे समाधि लगाकर और जहाँ नाम-रूपका बिलकुल स्फुरण नहीं हो रहा है ऐसे चित्तके निरोधकी दशामें, योगमें जो अवस्थान है, उस्को असंभूति बोलते हैं। और संसार दिखता रहे, समुद्र उमड़ता रहे, सूर्य चमकता रहे, धरती दृढ़ रहे, हवा चलती रहे ग्रह-नक्षत्र तारे दिखते रहें, स्त्री होवें, पुरुष होवें यह सब परमात्माका जो कार्य रूप है, उसको संभूति बोलते हैं। कारण ब्रह्मका नाम असंभूति है और कार्य ब्रह्मका नाम संभूति है। माने सम्पूर्ण जगत् रूप जो ब्रह्म है, उसको संभूति बोलते हैं और नाम रूपकी जो अव्याकृत दशा, स्थिति है, जहाँ प्रकट नहीं हुए हैं नाम-रूप, बीजात्मक जो अवस्था है उसको असंभूति कहते हैं।

संसारमें कोई ऐसे होते हैं जो कारण ब्रह्मकी उपासना करते हैं, कार्य ब्रह्मकी नहीं। और, कई ऐसे होते हैं जो कार्य ब्रह्मकी उपासना करते हैं, कारण ब्रह्मकी नहीं। तो यह ब्रह्मज्ञान नहीं है। इसमें ब्रह्मकी पहचान नहीं है। ब्रह्मकी पहचान होवे, तो कार्य और कारण—दोनों बाधित हो जायें। न तो समाधि लगाकर ब्रह्मका ध्यान करनेकी जरूरत रहे और न तो कार्य ब्रह्मकी सेवा करनेकी जरूरत रहे, जैसे मौज हो वैसे रहे। रहने-रहानेका कोई सवाल नहीं रहा।

अब आप देखो, वहाँ एक-एककी निन्दा की गयी है। यदि कोई दिनभर काम-धन्धा छोड़कर आँख बन्द करके समाधि ही लगाता रहे तो उसको भी आधा ही ब्रह्म मिलेगा, पूरा ब्रह्म नहीं मिलेगा। क्योंकि आँख बन्द करने पर जो चीज है, उसको तो वह ब्रह्म मानता है और खुली आँखमें जो चीज है, उसको वह ब्रह्म नहीं मानता है। इसलिए ईश्वरकी ओरसे मिली हुई आँख बन्द करके, हाथ-पाँव बाँधकर अपने कर्मकी शक्तिका निरोध करके, जो केवल समाधिमें ही लगा है, वह कार्य-ब्रह्मका तिरस्कार कर रहा है। जिसने ध्यान, समाधि भजन, भक्ति, ज्ञान सब छोड़ दिया और केवल नोन-तेल-लकड़ी, वही काम, वही धन्धा तो उसने कारणब्रह्मको छोड़ दिया तो उसको भी अधूरे ही ब्रह्मकी प्राप्ति हुई। उपनिषद्में यह बात बतायी गयी थी कि जो असंभूतिकी उपासनामें लग जाता है, उसको भी अन्धतमकी प्राप्ति होती है और जो संभूतिकी उपासनामें लग जाता है, उसको भी अन्धतमकी प्राप्ति होती है।

असंभूतिं च विनाशं च यत् तद् वेदो वयं स्व-
विनाशेन मृत्युं तीर्त्वा संभूतयामृतमश्नुते।

जो कार्य ब्रह्मकी उपासना करता है, सेवा करता है और जो ध्यान, धारण, समाधि भी करता है, कारणको भी ब्रह्मके रूपमें देखता है और कार्यको भी ब्रह्मके रूपमें देखता है, विरोधको भी ब्रह्मके रूपमें देखता है और विक्षेपको भी ब्रह्मके रूपमें देखता है; दोनोंमें ब्रह्म-भावना करके जो उपासना करता है, वह कार्य-ब्रह्मकी उपासना करनेसे तो मृत्युसे तर गया और असंभूतिकी उपासना करनेसे वह अमृतत्वको प्राप्त होगया। तो मनुष्यको एकांगी नहीं होना चाहिए। काम-धन्धा भी करना और ध्यान भी लगाना; ध्यान भी लगाना और काम धन्धा भी करना, और जो एकमें लग जाता है उसका ब्रह्म अधूरा। और असली ब्रह्म जो है, वह कार्य-ब्रह्म, कारण-ब्रह्मकी उपासनासे जब अन्तःकरण शुद्ध होता है, तब महावाक्यसे उसली ब्रह्मका साक्षात्कार करता है। और, उन्हींमें-से एकमें फँस गये, तो फँस गये।

तो, यह हुई बात असंभूतिकी और संभूतिकी, अब यह विभूति क्या है! तो असंभूति तो है—कारणावस्था और संभूति है कार्यावस्था। तो यह जो कार्यावस्थापन्न ब्रह्म है, माने जगत्‌रूप ब्रह्म है इसमें चींटी भी ब्रह्म और ब्रह्मा भी ब्रह्म। ब्रह्मा, विष्णु, महेश भी ब्रह्म और ब्रह्मा भी ब्रह्म। ब्रह्मा, विष्णु, महेश भी ब्रह्म और कीड़ा मकोड़ा चींटी भी ब्रह्म। एक एक तिनका भी ब्रह्म और सम्पूर्ण प्रकृति भी ब्रह्म। तो बोले कि यह सबमें समतासे जो संभूतिकी कार्य ब्रह्मकी उपासना है, यह बड़ी कठिन उपासना है। तब उसको सुगम बनानेके लिए विभूतिकी जरूरत पड़ती है। यह विभूति क्या है? बस समूचे कार्यब्रह्मकी उपासना नहीं, पेड़में ब्रह्मको देखना हो तो यह नहीं कि झरबेरी भी ब्रह्म और पीपल भी ब्रह्म। पहले पीपलकी ब्रह्मके रूपमें उपासना कर लो, वह विभूति है, तब झरबेरीको बादमें ब्रह्मके रूपमें जानना। संभूतिरूप तो झरबेरी भी ब्रह्म, पीपल भी ब्रह्म, लेकिन विभूति रूपसे पीपल ब्रह्म और झरबेरी ब्रह्म नहीं। यह उपास्यकी दृष्टिसे जो कार्य ब्रह्ममें विभाजन है उसको संभूति और विभूतिका विभाग है।

देखो, सब मनुष्य ब्रह्मरूप ही हैं, सबकी उपासना करो, कि पहले अपने पतिकी तो कर लो। सबमें समता करनेसे पहले; पति है वह विभूति है और सर्व पुरुष ब्रह्म है, यह संभूति है। सब पशुकी उपासना करो, बिल्ली, बकरी, कुत्तेकी उपासना करो; बोले—नहीं पहले गायकी तो कर लो। गाय विभूति ब्रह्म है।

समाधिमें असंभूति ब्रह्म है और सब प्राणियोंमें संभूति ब्रह्म है और ब्राह्मणमें, संन्यासीमें गुरुमें, विशेष-विशेष रूपमें, विशेषवालेकी जो उपासना है, यह विभूतिकी उपासना है। विभूतिकी उपासना करनेसे संभूतिका ज्ञान होता है, संभूति ब्रह्मकी उपासना और असंभूति ब्रह्मकी उपासना मिलाकर करनी चाहिए और परमात्मा दोनोंसे परे।

देखो, एक तो राख है उसमें कर रहे 'इन्द्राय स्वाहा', और एक अग्निमें कर रहे 'इन्द्राय स्वाहा'। तत्त्व दृष्टिसे देखो तो राख भी ब्रह्म और आग भी ब्रह्म, लेकिन हवन जो होगा वह विभूति ब्रह्ममें होगा, अग्नि ब्रह्ममें होगा, राख ब्रह्ममें होम नहीं होगा।

इसी तरहसे समझो भगवान् विशेष-विशेष अनुभूति है, सोलहों धान बाईस पसेरीकी साधनामें यह बात नहीं चलती है। जैसे श्राद्ध करते हैं, तो श्राद्ध होता है इसलिए कि जो मृत व्यक्ति है, उसकी सद्‌गति हो, ईश्वरकी प्राप्ति हो। मृत व्यक्तिकी आत्मा है, यह बात तो कोई प्रत्यक्ष प्रमाणसे देखनेमें नहीं आती।

अच्छा, स्वर्ग है—यह बात भी प्रत्यक्ष प्रमाणमें देखनेमें नहीं आती। तो शास्त्रसे ही यह बात मानी गयी कि मृत आत्मा है और शास्त्रमें ही यह बात मानी गयी कि स्वर्ग है। उसको स्वर्गमें जानेके लिए जो साधन किया जायेगा, वह शास्त्रकी रीतिसे किया जायेगा, तब स्वर्ग प्राप्तिका हेतु होगा। और मनमाने ढंगसे करोगे तो स्वर्ग-प्राप्तिका हेतु नहीं होगा; क्योंकि मनमाने ढंगमें मृतात्माका अस्तित्व नहीं है। जिस प्रमाणसे मृतात्मा है, जिस प्रमाणसे स्वर्ग है उसी प्रमाणसे उसके लिए श्राद्ध करना पड़ेगा, माने उसके लिए ब्राह्मण बुलाना पड़ेगा।

कोढ़ीको, रोगीको पैसेकी जरूरत है, गरीबको पैसेकी जरूरत है, जिनको शिक्षाकी सुविधा नहीं है, उनको भी पैसेकी जरूरत है, अस्पतालके लिए दूध चाहिए, कपड़ा चाहिए, सब चाहिए, लेकिन मृत व्यक्तिका अस्तित्व लौकिक नहीं है, पारलौकिक है। पारलौकिककी प्राप्तिके लिए शास्त्रीय ढंगसे संकल्प करना पड़ेगा, श्राद्ध करना पड़ेगा तब उसको उसकी प्राप्ति होगी, मनमाने ढंगसे नहीं होगी। इसकी शास्त्रकी मर्यादा बोलते हैं। तो पितर भी विभूति है और श्राद्ध भी विभूति है। उसमें जो ब्राह्मण बुलाया गया, सो भी विभूति है। उसमें जो मन्त्र पढ़ा गया, सो भी विभूति है। विशेषके लिए विशेषकी जरूरत पड़ती है।

देखो, अब एक आदमी ईश्वरको प्रसन्न करनेके लिए मूर्तिपूजा करना चाहता है। ईश्वरकी मूर्ति होती है, यह तो लौकिक प्रत्यक्षादि प्रमाणसे मालूम ही नहीं पड़ सकता। यह तो शास्त्रसे ही मालूम पड़ेगा कि ईश्वरकी मूर्ति होती है। तो चौराहे पर नुमाइशके लिए एक मूर्ति लगा दी गयी और बोले कि जाओ इसपर चन्दन फेंको, अक्षत चढ़ाओ, फूल चढ़ाओ, मूर्तिकी पूजा करो।

अब जयपुरमें तो दुकान-दुकानमें शिव, दुकान-दुकानमें राधाकृष्ण दुकान-दुकानमें सीता-राम, अब जाकर दुकानमें लगाओगे चन्दन और पहनाओगे माला? वह शास्त्रोक्त रीतिसे मूर्ति-पूजा नहीं होगी। शास्त्रीय पद्धतिसे जब मूर्तिपूजा की जायेगी, तब उससे उपासनाका फल मिलेगा। उसमें जब प्राण प्रतिष्ठा होगी, मन्त्र पढ़े जायेंगे, ब्राह्मण आवेंगे और कायदेसे जैसे शास्त्रमें बताया है, वैसे जब मूर्ति उपास्य बनेगी, विभूतिपना तब आवेगा।

तो संभूतिरूपसे तो ब्रह्म वह मूर्ति दुकानमें भी है। संभूतिरूपसे तो वह मूर्ति जब मूर्ति नहीं बनी थी, तब पत्थरका टुकड़ा था, तब भी संभूति रूपसे ब्रह्म है और असंभूतिरूपसे तो जब यह सृष्टि नहीं बनी थी, तब भी वह ब्रह्म है और तत्त्वरूपसे तो ब्रह्मके सिवाय दूसरी कोई वस्तु नहीं है, पर तत्त्वरूपसे ब्रह्म होने पर भी

असंभूति रूपमें ब्रह्म होनेपर भी, कारणरूपसे ब्रह्म होनेपर भी उपासना जब विभूतिरूपमें उसकी की जायेगी, तब वह फलप्रद होगी।

इसलिए विभूतिका वर्णन तो शंकराचार्य भगवान्ने दिव्याह्यात्म विभूतयः आत्मनो विभूतयो यास्ता वक्तुमर्हसि। श्रीरामानुजाचार्यजी महाराजने आत्मविभूतयः में आत्मना शब्द जो है इसका अर्थ किया है—**स्वगत त्वासाधारण्यो ह्यात्मविभूतयः।** जो तुम्हारी असाधारण विभूति है, माने सारी सृष्टि तो तुम्हारी साधारणरूप है और यह जो विभूति है वह असाधारण रूप है।

अब आप देखो दुनियाभरमें बहुत-से साधु हैं, गेरुआ पहननेवालोंकी तो कोई कमी नहीं, तो एक दृष्टि यह हुई कि सब सन्त हैं, वेषका आदर करते हैं। वेष-भगवान्को हाथ जोड़ लिया। दूसरे यह हुआ कि नहीं भाई, सब साधु नहीं, यह त्यागी है, यह तपस्वी है, यह ज्ञानी है इसका आदर करो। अच्छा, अब सब सन्त हो गये। अब उसमें-से एक सन्त छाँट लिया—यह अपना सन्त, प्राईवेट सन्त हो गया। वह गुरु हो गया। तो वेषधारी सन्त दूसरे; त्यागी, तपस्वी, ज्ञानी सन्त दूसरे और अपना गुरु दूसरा।

अब एक बात देखो, पत्थरकी गोली बहुत सारी, काली-काली, काली-गोली बहुत-सी, उनमें शालग्रामका जो पत्थर है गोली है; वह दूसरी चीज है। वह और पत्थरों-सरीखा नहीं है। और शालग्राममें भी छाँटकर यह नारायण-शिला, यह दामोदर-शिला, यह मधुसूदन-शिला, उनके लक्षण होते हैं। एक चक्र, द्वि चक्र, त्रिचक्र, द्वादशचक्र—ऐसे। अब वह शालग्रामकी शिलामें-से भी छाँटके ले आये कि यह हमारा उपास्य-मूर्ति, वह दूसरी हो गयी।

संभूतिरूपसे तो सारे पत्थर भगवान्के स्वरूप हैं और विभूति-रूपसे शालग्रामका पत्थर उपास्य है और विभूति रूपसे जो अपने लिए ले आये, उसको बदलते रहना नहीं चाहिए। यह नहीं कि चार दिन पूजा की और फिर चार दिनके लिए किसीको दे दिया। ऐसे नहीं पूजा होती। अब आत्मविभूतयःका अर्थ है कि तत्त्वदृष्टिसे तो वह आत्मा ही है, परन्तु उपासकोंके कल्याणके लिए विभूति है और वह दिव्य है। तत्त्व-दृष्टिसे देखनेपर भी पीपलका पेड़ और सब पेड़ एक सरीखा नहीं है। तत्त्व दृष्टिसे सब ब्रह्म होनेपर भी अपना आराध्य देव-इष्ट देव और अन्य कंकड़-पत्थर एक नहीं हैं। सब मनुष्य, मनुष्य-दृष्टिसे सब मनुष्य होने पर भी अपना गुरु और मनुष्य एक नहीं है। यह काहेके लिए हैं? यह ज्ञान करनेके लिए हैं, यह उपासना करनेके लिए हैं। यह आराधना करनेके लिए हैं। तो

आत्मविभूति-माने परमात्माकी जिसमें विशेष अभिव्यक्ति है, हमारे लिए भगवान्‌की विशेष अभिव्यक्ति हुई है, इस विशेष भवनको विभूति बोलते हैं।

एक अविद्या होती है और एक विद्या होती है। अविद्या क्या होती है? यह पाँव जो है, यह अविद्यावान् है, अविद्वान् है। क्यों? इसको दीखता नहीं है, अन्धा है, इसको अविद्या बोलते हैं। यह हाथ अविद्या है, क्यों? इसको दिखता नहीं है। यह मूत्रेन्द्रिय है, गुदा है यह अविद्या है। इनसे जो कर्म होता है, वह अविद्यात्मक कर्म होता है। और, आँख है, कान है, त्वचा है, नाक है, जीभ है ये विद्यात्मक इन्द्रियाँ हैं, ज्ञान है इनको। आँख रूपको जानती है, कान शब्दको जानता है, नाक गन्धको जानती है, त्वचा स्पर्शको जानती है, रसना स्वाद लेनेवाली जीभ रसको जानती है, तो ये ज्ञानात्मक हैं, विद्या है।

अब देखो, आप रोज पढ़ते हैं—

विद्याञ्चविद्याञ्च यत् तत् वेदो वयः स।

एक आदमी ऐसा है जो अपनी कर्मेन्द्रियोंसे, हाथसे मशीन चलाता है, झाड़ू लगाता है, खूब सेवा करता है, लेकिन ज्ञानेन्द्रियोंको संसारमें लगाता है। बोले— आधा हुआ। और एक आदमी ज्ञानेन्द्रियोंको ब्रह्ममें लगावे, सुने खूब, दर्शन खूब करे, प्रसाद खूब खाये, तुलसीकी गन्ध खूब सूँघे, लेकिन कर्म संसारी करे। जो अविद्याकी उपासना करता है, वह 'अन्धतम'में जाता है और जो विद्याकी उपासना करता है, वह 'और अन्धं तम'में जाता है, तो दोनोंको मिलाकर काम करना चाहिए, माने ज्ञानसे भी परमात्माका ध्यान करना और कर्मसे भी परमात्माकी सेवा करना। केवल कर्मसे करे और ज्ञानसे न करे तो अधूरा और केवल ज्ञानसे करे और कर्मसे न करे तो अधूरा। और, दोनोंको मिलाकरके ईश्वरके लिए करे, तो ईश्वरकी सेवा पूरी बनती है। परमात्मा इधर प्रत्यग्रूपसे विद्या-अविद्या दोनोंका साक्षी है और उधर ईश्वरकी ओर देखो तो विद्या अविद्या—दोनोंका विवर्ती अभिन्ननिमित्तोपादान कारण परमात्मा है। परन्तु इधर और उधर क्या है? बोले इधर और उधर औपाधिक है, अन्तःकरणकी उपाधिसे न इधर न उधर, दोनों ओर वही है।

दोनों ओर वही है तो अखण्ड है, विद्या-अविद्या दोनों बाधित हैं। संभूति-असंभूति दोनों बाधित हैं, परमात्माके तत्त्वज्ञानमें। जब परमात्माके रास्तेमें चलना है तो सृष्टिको भी ब्रह्म देखना, समाधिको भी ब्रह्म देखना। उपासना विशेषकी करना, विभूति की करना। विद्याका उपयोग भी परमात्माके लिए करना, अविद्याका

उपयोग भी परमात्माके लिए करना और दोनोंसे न्यारा जो आत्मतत्त्व है उसको भी जानना और विद्या-अविद्याके क्षेत्रमें जो विशेष है उसको भी जानना।

यह बात कौन बतावे? यह भगवान्की विभूति तो दिव्य है, यह तो कृष्णके सिवाय और कोई नहीं बता सकता, क्योंकि कृष्णकी जितनी चीज होती है, वह दिव्य होती है। आप समझो—**जन्म कर्म च मे दिव्यं।** भगवानका जन्म कैसा है? कि दिव्य है। दिव्य है माने कर्मके फलस्वरूप नहीं है, जीवका जन्म कर्मके फलस्वरूप होता है, प्रारब्धके अनुसार होता है, जाति मिलती है।

अब भगवान् मछली हो गये तो क्या प्रारब्धसे? कछुआ बने तो क्या प्रारब्धसे? नहीं। भगवान् जो काम करेंगे, उसमें पाप-पुण्यकी उत्पत्ति होगी? नरक-स्वर्गमें जाना पड़ेगा? तो उनका जो जन्म हुआ है, वह प्रारब्धसे नहीं हुआ है और वह जो कर्म कर रहे हैं, उससे प्रारब्ध नहीं बनेगा। उनको जो जन्म मिला है वह भोग नहीं है, उसके वे भोक्ता नहीं हैं, और जो कर्म कर रहे हैं उसके कर्ता नहीं हैं। वे कर्तृत्त्व और भोक्तृत्त्वसे शून्य हैं, पाप-पुण्यसे शून्य, कर्तापन-भोक्तापन कृष्णमें नहीं है और वे पापी-पुण्यात्मा नहीं हैं, और वे कर्मके फलस्वरूप सुखी-दु:खी नहीं हैं। तो—

जन्म कर्म च मे दिव्यम्। यह उनका जन्म-कर्म दिव्य है। **दिव्या ह्यात्मविभूतयः।** उनकी विभूति भी दिव्य है। समझो कि एक राजाके पास बड़ा भारी वैभव है, परन्तु वह तो उसके पूर्व कर्मसे मिला है, और उसने शत्रु पर विजय प्राप्त करके वैभव प्राप्त किया है तो कर्मसे मिला। पूर्व कर्मसे मिला, इस जन्मके कर्मसे मिला तो वह कर्ता है। उससे उसको अभिमान हो रहा है कि हमारे बराबर और कौन! तब वह भोक्ता है। उसमें जो अच्छाई-बुराई है. उससे वह पापी है—पुण्यात्मा है, सुखी है दु:खी है। वैभव आये तो सुखी, जाये तो दु:खी। श्रीकृष्णका वैभव, न तो प्रारब्धजन है, न तो वर्तमान कर्मजन्य है और न तो आगेके जन्मका हेतु है, तब? दिव्य है यह। दिव्यका अर्थ यह हुआ, पहले तो श्रीकृष्णकी दृष्टिसे बताया। इस वैभवके कर्ता-भोक्ता कृष्ण नहीं हैं। इस वैभवमें कृष्णका पाप-पुण्य नहीं है इस वैभवमें कृष्णका सुखीपना, दु:खीपन नहीं है, इसलिए यह दिव्य है।

अब जीवकी दृष्टिसे देखो। जीवकी दृष्टिसे दिव्यता क्या है? जीवकी दृष्टिसे दिव्यता यह है कि संसारके वैभवका जब कोई ध्यान करेगा, तब उसको राग हो जायगा। और राग होगा तब वासना होगी और वासना होगी तो बन्धन होगा। आसक्ति, बन्धन है।

श्रीकृष्णके वैभवका कोई ध्यान करे तो उसमें राग द्वेष नहीं होगा, वासना नहीं होगी, बन्धन नहीं होगा। बल्कि संसारके बन्धनमें वैराग्य हो जायेगा। कृष्णके वैभवके सामने यह संसारका वैभव क्या होता है?

एकने कहा—महाराज देखो हमारे घरमें यह हीरा है, कि कितनेका है भाई? दस लाखका हीरा है। मैंने कहा—भाई जहाँ तक देखनेका सवाल है, मैंने तो एक करोड़का हीरा देखा है, तो दस लाखका कम हो गया, छोटा हो गया कि नहीं? एक बड़ी प्रसिद्ध कथा है यह। एक पाठशालामें एक निरीक्षक जाँच करनेके लिए आया। उसने काले बोर्ड पर एक छोटी- सी लकीर खींची, बोले है कोई ऐसा बालक यहाँ जो इस लकीरको छुए नहीं और छोटी कर दे! सब बालक भौंचक्केसे देखते रह गये कि अगर लकीरको छूयेंगे नहीं, मिटावेंगे नहीं तो यह छोटी कैसे होगी? स्वामी रामतीर्थ उसी स्कूलमें पढ़ते थे, वे उठे, खड़िया ली और उस लकीरके नीचे एक बड़ी लकीर खींच दी। अब बड़ी लकीर खींची तो पहलेवाली अपने-आप छोटी हो गयी। छूना तो पड़ा नहीं।

इस संसारके प्राणी छोटे-छोटे वैभवमें आसक्त हैं। आप जिनको गरीब समझते हो, उनकी स्थिति मैं जानता हूँ। जो आपके यहाँ दरबानका काम करते हैं, भैय्या हैं, ड्राइवर हैं, बाजारसे सौदा लानेका काम करते हैं, सब्जीकी दूकान करते हैं, तो आप समझते हो कि वे कितने गरीब हैं, लेकिन हम उस देशके रहनेवाले हैं जहाँ उनकी जन्मभूमि है, जब वे मुम्बईसे लौटकर जाते हैं तो वे ठाटसे अपनी मूँछ खड़ी करके, बढ़िया कपड़ा पहनकर पलंगपर बैठते हैं और वहाँ गाँवके आसपासके लोग आते हैं मिलनेके लिए बोलते हैं ये मुम्बईमें कमाते हैं भाई! उनकी अपनी जन्मभूमिके जो सबसे बड़े धनी होते हैं, उनमें वे सबसे बड़े धनी होते हैं। वहाँ गाँवमें खेती करनेवाले लोगोंके पास पैसा नहीं होता है और वे मुम्बईसे जाते हैं, तो उनके पास पाँच सौ रुपया होता है, उनके पास हजार रुपया होता है और गाँववालोंके पास दस रुपया भी नहीं है तो वे धनी हो गये न!

अच्छा, अब आप लोगोंकी बात सुनाते हैं, ये हमारे यहाँके जो बड़े-बड़े सेठ हैं करोड़पति लोग, और महाराज क्या पूछना लाखों रुपयेकी मोटरपर चलते हैं और समझते हैं कि हमारे बराबर तो कोई है ही नहीं, यह अभिमान होता है। ये ही लोग जब अमेरिका जाते हैं, नारायण ठनठनपाल। कहते हैं हमारे पास क्या है! जब अमेरिका जाकर वहाँका वैभव देखते हैं, वहाँकी मोटर देखते हैं, वहाँकी रेलगाड़ी देखते हैं, वहाँके मकान देखते हैं, वहाँके लोगोंकी रहनी-

सहनी देखते हैं, तो उनका सारा अभिमान चूर हो जाता है। इसका मतलब यह हुआ कि अपने बड़प्पनका जो अभिमान है वह तब चूर होता है जब अपनेसे बड़ेको देखते हैं।

तो श्रीकृष्णके वैभवपर जिसकी दृष्टि जाती है उसके लिए यह संसारका जो वैभव है, यह धूर धूर हो जाता है। यह छाती ताने जो लोग चलते हैं, और दूसरे गरीबोंके सामने अपनेको बहुत बड़ा दिखाते हैं, यहाँकी सुन्दरी जो हैं मिस इंडिया, क्या पूछना है! जब मिस इंडिया पैरिसमें जाती हैं तब उनका अभिमान चूर हो जाता है। तो यह श्रीकृष्णके राज्यमें जाना, उनके वैभव और विलासको देखना यह संसारके भोगमें जो राग है और संसारके वैभवसे अपनेमें जो बड़प्पनका अभिमान है, इसको मिटानेका उपाय है श्रीकृष्णके वैभवका दर्शन। वह संसारसे तो वैराग्य करावे, अपनी चित्तवृत्तिको यहाँसे उठाकर ऊपर लगावे और अन्तमें यह किसका है उस विभूतिके मालिकसे राग करवावे, उस विभूतिके मालिककी भक्ति चित्तमें लावे। उसकी खोज होवे कि इस वैभवका मालिक कौन है!

यह बगीचा किसका है! आपने सुना होगा मैंने ही सुनाया होगा कई बार। एक सज्जनने श्रीअच्युत मुनिजी महाराजसे प्रश्न किया कि महाराज पहले जब लोग तपस्या करते थे, योग करते थे, भजन करते थे, तब स्वर्गसे अप्सरायें आती थीं मोहित करनेके लिए, आजकल क्यों नहीं आतीं? तो अच्युत मुनिजीने कहा कि जब इसी लोककी अप्सराओंपर तुम होश खो देते हो, तो बेचारी स्वर्गवाली क्यों तकलीफ उठावें। क्यों तकलीफ करें, तुम्हारे पास आनेकी! देखो जिसको श्रीकृष्णकी एक बार झाँकी दिख गयी, जिसके सामने उनका एक बार सौन्दर्य दिखायी पड़ गया, जिसको एक बार उनके वैभवकी झाँकी मिल गयी, संसारका वैभव उसको फँसा नहीं सकता। उसको तो वह जादू मालूम हो गया, वह मन्त्र मालूम हो गया कि संसारमें अब कोई भी उससे बढ़िया चीज उसको दिखा नहीं सकता, तो वह कैसे लुभायेगा संसारकी वस्तुपर? यह भगवान्‌का वैभव, भगवान्‌की विभूति दिव्य है और उनके सिवाय इसको और कोई नहीं दिखा सकता, बता नहीं सकता, जीभपर भी नहीं ला सकता। क्योंकि इसका रहस्य तो वही जानते हैं।

एक बारकी बात है मैं वृन्दावनमें था, किसी बात पर दु:खी हो गया, तो मैंने कहा—चलो वृन्दावन छोड़ दें। कभी नहीं आवेंगे वृन्दावनमें क्या रखा है! गुस्सा आया और अपना दंड, कमण्डलु उठाया, बायें हाथमें कमण्डलु और दाँयें हाथमें

दंड और निकल पड़ा वहाँसे कि अब वृन्दावनसे जाते हैं। कोई पोटली तो अपने पास थी नहीं, कहाँ जायेंगे यह भी नहीं मालूम था, किराया भी नहीं था। लेकिन जब वृन्दावनसे बाहर निकलने लगे, लुटेरिया हनुमानसे जरा आगे बढ़े, वहाँ एक नाला पड़ता है, पुल बना हुआ है और चारों ओर उसके वृक्ष हैं। तो दृष्टि पड़ी वृक्षोंपर, ऐसा लगे कि ये वृक्ष, पेड़ पौधे नहीं हैं, बिलकुल सुनहले पत्ते, डाली सुनहली चमके बिलकुल सुनहले दिखें। उनकी डाल जो दिखे, वह मालूम पड़े कि गुलाल है, ऐसा मालूम पड़े कि मना रहे हों कि कहाँ जा रहे हो! यह श्रीकृष्णका वैभव!

एक बार रातमें चार बजे सो रहा था मैं वृन्दावनमें, रमणरेतीमें सो रहा था। उन दिनों मैं समझता हूँ कि श्रीउड़ियाबाबाजी महाराज वृन्दावनमें रहते भी नहीं थे और आश्रम भी बना नहीं था। वे कर्णवास रामघाट, गंगाजीकी तरफ रहते थे। तो सुबह चार बजे आकर एक साधुने उठाया कि उठो, चलो तुम्हें वृन्दावनकी झाँकी दिखायें। चलो, महाराज! चार बजे रातको चाँदनी छिटक रही थी, मैं उनके साथ रमणरेतीसे निकला छटीकरेकी तरफ, बाहर, देखा सफेद-सफेद सैंकड़ों हजारों गउएँ, वे बड़ी-बड़ी, तगड़ी तगड़ी, चर रही थीं। उससे पहले मैंने देखी नहीं थीं, वैसी गाएँ। बोले—देखते हो! कि हाँ देखता हूँ, गाय भगवान्‌की विभूति है। बोले—अच्छा यह जो हजारों गउएँ दिख रही हैं इनका कोई चरवाहा दिख रहा है तुमको? कि चरवाहा तो नहीं दिख रहा, वे जंगली थीं। पहले जंगली गउएँ होती थीं, अब तो सरकारने पकड़वा दिया प्राय: और लोगोंने पकड़-पकड़ कर अपने घरोंमें बाँध लिया। पहले वे बिलकुल छुट्‌टी रहती थीं, उनके बच्चे भी जंगलमें ही होते और दूध भी बच्चोंको ही पिलातीं, मनुष्य उनके पास जा नहीं सकता था। यह बात मैं सन् चौंतीस-पैंतीसकी बता रहा हूँ।

उड़ियाबाबाजी महाराजका आश्रम सन् अड़तालीसमें बना और मैं गीताप्रेससे सन् इकतालीसमें आया। यह बात मैं और पहलेकी बता रहा हूँ। तो उस समय वृन्दावनने अपना वैभव प्रकट कर दिया और फिर मैं लौट आया, यह नहीं समझना कि चला गया। क्योंकि किसीको मालूम तो हुआ ही नहीं कि मेरा मन खिन्न हुआ है, कि मैं किसी पर गुस्सा हूँ कि किसी पर नाराज हूँ, यह बात तो किसीको बतायी नहीं थी, किसीको मालूम ही नहीं थी कि मैं जा रहा हूँ। अब उसने जब वृन्दावनमें मना लिया, तो फिर लौटकर आगया। यह भगवान्‌की विभूति इसी सृष्टिमें देखनेको मिलती है। कभी ऐसे महात्मा मिलते हैं दिव्य रूप,

कभी ऐसे देवता मिलते हैं दिव्यरूप, हिमालयमें, गंगाजीके किनारे, व्रजभूमिमें ऐसी-ऐसी दिव्य विभूतियोंका दर्शन होता है,

ज्योत्सनावत्यः क्वचित् भुवः।

ऐसा लगता है कि इनके शरीरसे चाँदनीकी वर्षा हो रही है, चाँदनी छिटक रही है इनके शरीरसे।

अच्छा, बोले—ऐसे कहाँ रहते हैं भगवान्? तो—**याभिर्विभूति-लोकानिमांस्त्वं व्याप्य तिष्ठसि**—ये जो लोक हैं, जो आलोकमें दिखे सो लोक, जो इन्द्रियोंके आलोकमें दिखे, उसका नाम लोक। लोकयन्ते, दृष्यन्ते इति लोकाः। जो इन्द्रियोंके आलोकमें दिखायी पड़े, उसका नाम होता है लोक। ये जितने लोक हैं, इनमें भगवान् अपनी विभूतियोंके द्वारा व्याप्त होकर विराजमान हैं। जहाँ देखो वहाँ भगवान्, जहाँ देखो वहाँ भगवान्की विभूति। यह हमारी नजरकी कमी है, आँखकी कमी है। हम लोग तो कभी-कभी ऐसे कहते हैं कि हे भगवान्! तुम्हें हमारी गर्ज हो तो हमारे पास आओ। हमको तुम्हारी गर्ज नहीं है, हम तो हजारों-लाखों वर्षसे, अनादि कालसे तुमको छोड़े बैठे हैं और जैसे अबतक रहे हैं वैसे आगे भी रह लेंगे, लेकिन तुमको हमारी जरूरत हो, तो हमारे पास आना।

एक सच्ची घटना है, बिलकुल। हाथरसका सेठ! उसने कहा कि बिहारीजी, मेरा अमुक काम है, कर दो, तब तो मैं तुम्हारा दर्शन करनेके लिए आऊँगा और अगर हमारा काम नहीं करोगे, तो हम तुम्हारा दर्शन करनेके लिए कभी नहीं आयेंगे।

अब लो भला, बिहारीजीको उस सेठकी मानो इतनी जरूरत हो कि उसकी बेगार करके, उसका काम पूरा करके भी उसको अपने पास बुलावें। माने सेठजीको तो बिहारीजीकी जरूरत नहीं है, बिहारीजीको ही उस सेठकी जरूरत है। बुद्धिका विपर्यय देखो! इसको बोलते हैं बुद्धिका विपर्यय। अरे ईश्वर तो दोनों हाथसे बुलाये, जैसे कोई टीले पर खड़ा हो, कभी बाँसुरी बजाता है, कभी आँख मटकाता है, अपनी ओर बुलाता है, ढेला मार-मारकर भी बुलाता है, चपत लगा-लगाकर भी बुलाता है और बाँसुरी बजाकर भी बुलाता है, आओ, हमारी ओर आओ। अनादिकालसे ईश्वर इन्तजार कर रहा है, बल्कि इच्छा कर रहा है कि हमारी ओर आओ। और यह जीव उसकी ओर पीठ करके संसारके विषयोंका उपभोग कर रहा है। संसारमें फँसा हुआ है।

ईश्वरने अपनी विभूतियाँ प्रकट कीं। ये विभूतियाँ काहेके लिए हैं?

लोगोंकी आँखको पकड़-पकड़ कर, लोगोंके दिलको पकड़-पकड़कर, लोगोंके दिमागको पकड़-पकड़कर ईश्वरको दिखानेके लिए है, इसीलिए उसने अपनेको जगह-जगह बैठा लिया।

कहो तो यहाँ उनकी विभूति आपको दिखा दें। यहाँ कोई विभूति भगवान्‌की है कि नहीं? आपके शरीरमें कोई भगवान्‌की विभूति है कि नहीं है? अरे तुम्हारे दिलमें है। **इन्द्रियाणां मनश्चास्मि।** इन्द्रियोंमें मन हैं भगवान्। बैठे हैं, भीतर ही तो बैठे हैं भगवान्। यह जो मनमें फुरफुराती है बात, यह अच्छा है, यह बुरा है, यह प्यारा है, यह अप्रिय है, यह भला बताओ वह कौन-सी रोशनी है जिसमें ये फुर-फुराती हैं बातें मनके भीतर? मनमें वासना और प्रकाश दोनों है। वासनाको अलग करके प्रकाशको देखो, वह कौन-सी रोशनी है जो वासनासे मिलकर इस दुनियाका सिनेमा दिखा रही है। मनमें दो चीज हैं एक रोशनी और एक वासना। वह कौन-सी रोशनी है जो वासनाके साथ मिलती है तो वासनासे रँगा हुआ यह संसार दिखायी पड़ता है। वह कौन-सी रोशनी है?

अहमात्मा गुडाकेश सर्वभूताशयस्थितः।
अहमादिश्च मध्यं च भूतानामन्त एव च॥ 20॥

देखो, तुम्हारे दिलमें बैठे हैं भगवान्। अपनी विभूतियोंके द्वारा भगवान् समूची सृष्टिमें व्याप्त होकर विराजमान हैं, वे कहते हैं हम तुम्हारी आँखोंको भी दर्शन देंगे। **वाक् च** वाणी बनकर कानमें प्रवेश करते हैं। वे कहते हैं हम तुम्हारी नाकको भी दर्शन देंगे। **पुण्योगन्धः पृथिव्यां च**—पृथिवीमें गन्ध कौन है? **रसोऽहमप्सु कौन्तेय**—आपने पहले पढ़ा सातवें अध्यायमें पृथिवीमें गन्ध हैं वो। आपकी नाकमें घुसते हैं वे गन्ध बनकर। जलमें रस हैं वे, अग्निमें तेज हैं वे, सूर्य चन्द्रमामें प्रभा हैं वे। यह सब आप पढ़ चुके हैं। वायुमें पवित्र करनेकी शक्ति हैं वे। आकाशमें शब्द हैं। अरे अपने विभूतियोंके द्वारा तो आपके अन्दर घुसते जा रहे हैं वे। और, तुम आँख बन्द करके उनसे भागना चाहते हो। है कोई ऐसा सृष्टिमें जो उनके बाणोंके भीतरसे निकल जाये! है ऐसा कोई सृष्टिमें जो उनको छोड़कर अलग निकल जाये? अरे आँख बन्द कर लेना—यह बात दूसरी है।

☆

असलमें असंभूति सुषुप्तिवत् है, विभूति स्वप्नवत् है और संभूति जाग्रत्वत् है। और इन तीनोंका जो द्रष्टा है, साक्षी है, अधिष्ठान है स्वयं प्रकाश है, देश, काल, वस्तुसे अपरिच्छिन्न है सजातीय, विजातीय, स्वगत-भेदसे शून्य है, अपना ही आत्मा है, उस अद्वितीय स्वयंप्रकाश चैतन्यको ब्रह्म कहते हैं।

इसलिए असंभूतिके सम्बन्धमें अर्जुनका जो प्रश्न है, उसपर विचार करें।

कथं विद्यामहं योगिंस्त्वां सदा परिचिंतयन्।
केषु केषु च भावेषु चिन्त्योऽसि भगवन्मया॥ 17॥
विस्तरेणात्मनो योगं विभूतिं च जनार्दन।
भूयः कथय तृप्तिर्हि शृण्वतो नास्ति मेऽमृतम्॥ 18॥

हे योगिन्! हे भगवान्! हे जनार्दन! यह भगवान्‌के लिए सम्बोधन है। 'हे योगिन्! त्वां सदा परिचिन्त्यन् अहं त्वां कथं विद्याम् सदा परिचिन्त्यन अहं त्वां कथं विद्याम्।' अर्जुन कहते हैं कि मैं तो दिनरात चारों ओर विभिन्न देखता रहता हूँ। सदा माने सर्वकालमें, सदा माने सर्वदा और परिचिन्तयन्‌में 'परि' माने सब जगह, 'सदा' माने सब समय 'त्वामेव चिन्त्यन् अहं', तुम्हारे ही चिन्तनमें संलग्न मैं 'त्वां कथं विद्याम्', तुमको मैं कैसे जानूँ, कैसे पहचानूँ!

तो भगवान्‌को 'योगिन्' कहनेका अभिप्राय क्या है? यह 'योगिन्' और 'त्वां' जब एक साथ होता है, जब योगिन् पहले और त्वां बादमें आता है तब बीचमें 'स्' आजाता है। यह व्याकरणकी सन्धिका नियम है। योगिन्+त्वां= योगिंस्त्वां, तो सन्धिके नियमानुसार 'स्' आगया, 'योगिन् त्वां', 'न' का चन्द्रबिन्दु हो गया और 'स' बीचमें आगया, योगिंस्त्वां। तब आप योग जानते हैं। योग माने होता है मिलन। भगवान् योगी हैं, माने नित्य मिलन है उनका। ऐसा कोई है ही नहीं, जिसके दिलमें भगवान् न हों, सबके दिलमें हैं। कोई चाहे कि हम उनको छोड़ देंगे, तो नहीं छोड़ सकता। भगवान् चाहें कि किसीको छोड़ दें तो भगवान् भी नहीं छोड़ सकते। यह नित्य योग है। योगीमें योगके साथ जो इन् प्रत्यय जुड़ा है, उसका अर्थ है नित्य योग। सोते-जागते, चलते-फिरते, उठते-बैठते ईश्वर हमारे अन्दर मौजूद है। इसीको 'योगिन्' बोलते हैं।

गीतामें योगेश्वर शब्दका प्रयोग भी आया ही है—

योगेश्वर ततो मे त्वं दर्शयात्मानमव्ययम्। 11.4

अच्छा योगी और योगेश्वरमें क्या फर्क होता है? योगी स्वयं तो अपने अन्दर योग रखता है, परन्तु दूसरा कोई अभ्यास करे तब उसके अन्दर आवे। और,

योगेश्वर वह होता है, जो चाहे तो दूसरेको योग दे दे, तुरन्त योगी बना दे। योगी माने योगवाला और योगेश्वर माने योगका मालिक। जैसे देखो ये सेठ लोग होते हैं, तो ये दो तरहके होते हैं। एक धनी और एक धनेश्वर। धनी कौन होते हैं? जो अपनी मुट्ठीमें धन रखे वे धनी होते हैं और धनेश्वर वह होता है जो दूसरेको धनी बना दे। जिसके दिये दूसरेके घरमें धन चला जाये और दूसरेको धनी बना दे, उसका नाम धनेश्वर होता है। एक धनका दास हुआ और एक धनका मालिक हुआ। मालिक वह होता है जो देता है। जो जिसका मालिक होता है वह उसको दे भी सकता है। तो भगवान् श्रीकृष्ण योगेश्वर हैं, माने योगके मालिक हैं। उनके संकल्पसे दूसरेके हृदयमें योगका संचार हो सकता है। यह संकल्पकी बड़ी शक्ति है। योगीमें भी संकल्पकी शक्ति होती है, पर सीमित होती है। और, ईश्वरमें संकल्पकी शक्ति असीम होती है, वह जिसको चाहे उसको योगी बना सकता है।

अर्जुन बोले—हर समय और हर जगह मैं तो तुमको ही ढूँढ़ता रहता हूँ, अत: जरा अपनी पहचान तो बता दो कि कैसे रहते हो तुम?

केषु केषु च भावेषु चिन्त्योऽसि भगवन्मया।

हे भगवान्! किन-किन वस्तुओंमें मुझे आपका चिन्तन करना चाहिए? माने अपने ही मनमें जो चीज गन्दी मालूम पड़ती हो, उसमें भगवान्का चिन्तन कैसे करेंगे? या तो ऐसा मालूम पड़े कि यह सत्ता अखण्ड है, तब उसमें ईश्वरका चिन्तन करें। या ऐसा मालूम पड़े कि यह अखण्ड ज्ञान है, इसमें ईश्वरका चिन्तन करें और यह मालूम पड़े कि यह अखण्ड आनन्द है, अखण्ड रस है तो उसमें परमात्माका चिन्तन करें। जहाँ सत्ता, ज्ञान और आनन्दकी अखण्डता मालूम नहीं पड़ती वहाँ ईश्वरका चिन्तन कैसे करेंगे? तो प्राण प्रतिष्ठा करके चिन्तन करेंगे। शास्त्रकी विधिसे, मन्त्रसे, भावसे और खण्डमें अखण्डकी प्रतिष्ठा करके उसका चिन्तन करेंगे। सामने होगा खण्ड और उसमें भाव करेंगे अखण्ड।

अच्छा आप देखो, आपके गुरुजी हैं, तो आप बोलते होओगे—

अखण्ड मण्डलाकारं व्याप्तं चेन चराचरम्।

अब गुरुजी बेचारे तो साढ़े तीन हाथके और इस चौकीपर बैठे हुए और इस कपड़ेमें लिपटे हुए पाँवसे सिरतक उनकी नाप-जोख कुलकी कुल मौजूद और आप बोलते क्या हो? कि

व्याप्तं येन चराचरम् तत्पदं दर्शितं येन तस्मै श्रीगुरुवे नमः।

नारायण, क्या हुआ? तो शालिग्रामको बोलते हो—हे ईश्वर! हे व्यापक! हे अनन्त! हे अखण्ड!

तो दीखती है एक बटिया, दीखता है एक आदमी, दीखती हैं एक मूर्ति, दीखती है एक वस्तु। वह तो रह जाती है बाहर आँखसे। उसको देखकर आँख बन्द करते हैं और याद किसकी करते हैं? परमात्माकी। वह वस्तु तो केवल परमात्माके स्मरणमें निमित्त बन गयी। तब अर्जुन पूछते हैं कि कौन-कौनसे ऐसे भाव हैं, कौन-कौनसे ऐसे पदार्थ हैं जिनमें हे भगवान्! हम तुम्हारा चिन्तन करें!

केषु केषु च भावेषु चिन्त्योऽसि भगवन्मया।

आपका चिन्तन कहाँ-कहाँ करें?

उस दिन आप लोग माधोबागमें होंगे, तब आपने सुना होगा न, कैसे-कैसे भगवान्‌की उपासना होती है? एक प्रतीक उपासना होती है। देखो यह जो विराट् है, यह भगवान्‌का रूप है। समूचे विराट्‌को तो नहीं पकड़ सकते। बोले—शालिग्रामकी मूर्ति रख ली। जो ब्रह्माण्डमें, अण्डाकार ब्रह्माण्डमें है, अण्डाकार शालिग्राममें भी वही है।

अब यह क्या हुआ? विराट्‌के एक अंगका चिन्तन किया और समग्र विराट्‌की आराधना हुई। एक प्रतिरूप उपासना होती है। चित्र बनाया, राम, कृष्ण, शिव; ये कौन हैं? कि ये नारायण हैं, ये शिव हैं और नारायण, शिव कौन हैं? कि ईश्वर हैं। कि ईश्वर क्या है? मायाकी उपाधि हटाओ तो ब्रह्म है। तो ब्रह्मबुद्धिसे चित्रके रूपमें, मूर्तिके रूपमें बैठे हुए जो भगवान् हैं उनकी उपासना। जैसे बापकी उंगली पकड़ ली, बोले बापको पकड़ लिया। अब समूचे बापको कहाँ पकड़ा? एक उंगली तो पकड़ी न!

बोले—गुरुजीकी सेवा कर रहे हैं। कर क्या रहे हैं? कि गुरुजीके पाँव दबा रहे हैं। बोले—एक पाँवका नाम गुरुजी नहीं है। बोले—आखिर तो गुरुजीका ही पाँव है। दबाया पाँव और गुरुजीकी पूरी सेवा हो गयी। तो इसको क्या बोलते हैं? इसको बोलते हैं प्रतीक उपासना और प्रतिरूप उपासना।

एक उपासना होती है निदान उपासना। यह जितनी प्रतीक उपासना होती है वह द्रव्यात्मक उपासना होती है और जो प्रतिरूप उपासना होती है वह रेखात्मक उपासना होती है और भावमें बैठकरके, भावस्थ ब्रह्मके द्वारा भावातीतका चिन्तन करना। यह उपासना बड़ी विचित्र होती है। देखो आप, प्रत्यक्ष है शालग्राम और उसके द्वारा परोक्ष नारायणका चिन्तन, इसका नाम

उपासना है। पत्थरकी बनी है मूर्ति अधिभूत है, उसके द्वारा अधिदैव नारायणका चिन्तन, इसका नाम उपासना है।

अक्षर है निराकार और कागजपर उसकी एक शक्ल बना दी, पढ़ रहे हैं, उपासना हो गयी, इसका नाम उपासना है। और अक्षरात्मक उपासना होती है— अकार, उकार, मकार, निदान उपासना। विश्व, तैजस्, प्राज्ञ, तुरीय; इसका नाम निदान उपासना है और फिर निदानोपासनामें 'अहं ब्रह्म'—ऐसी उपासना और त्वं ब्रह्म-ऐसी उपासना। तत् पदार्थ प्रधान उपासना, त्वं पदार्थ प्रधान उपासना। सगुण उपासना-निर्गुण उपासना, सब इसमें आजाता है। सत्यको जानकर उसकी उपासना करना, उसके एक अंगकी उपासना करना, अन्यकी उपासना करना।

उपासनाका रहस्य बड़ा विलक्षण है यह तर्कसे नहीं होती। यदि कोई तर्क लगाने लगे और युक्ति लगाने लगे, तो उपासना नहीं होगी। उपासना श्रद्धासे होती है, विश्वाससे होती है। कोई कहे हम मशीन लगाकर जाँच करेंगे कि शालिग्राममें नारायण हैं कि नहीं, मूर्तिमें कृष्ण हैं कि नहीं? गुरुमें ब्रह्म है कि नहीं तो मशीनकी जाँचमें थोड़े ही आवेगा! उपासना कर्त्ताके अन्तःकरणके निर्माणके लिए होती है। उपासना श्रद्धा-भक्ति करनेसे हृदय शुद्ध बनेगा, भावपूर्ण बनेगा, रसपूर्ण बनेगा। जो तर्क-वितर्कके चक्करमें पड़कर छोड़ देगा, वह ठनठनपाल! वासनाकी निवृत्ति के लिए आवश्यक है उसमें भी, उपासनाका एक खास रहस्य है। एक होती है दुष्कर्मकी निवृत्ति, एक होती है दुर्वासनाकी निवृत्ति और एक होती है विक्षेपकी निवृत्ति। धर्मका आश्रय लिये बिना दुष्कर्मकी निवृत्ति नहीं होती और उपासनाका आश्रय लिए बिना दुर्वासनाकी निवृत्ति नहीं होती और योगका आश्रय लिये बिना विक्षेपकी निवृत्ति नहीं होती। यह दुष्कर्म और दुर्वासना, और विक्षेप बारम्बार आते रहते हैं तो बारम्बार योग करो। जब ये थोड़े रह जाते हैं, तत्त्वज्ञान इन्हें बाधित कर देता है, माने स्वप्नवत् कर देता है। जब जाग्रतावस्था सद्वासना हो जाये तो दुर्वासना स्वप्नवत् हो जायेगी। जब जाग्रतावस्था समाधि हो जाये तो विक्षेप स्वप्नवत् हो जायेगा। और, जब अपना स्वरूप ही ब्रह्म है यह ज्ञान हो जाये, तो ये तीनों जोड़े, माने छहों बातें स्वप्नवत् हो जाती हैं—दुष्कर्म-सत्कर्म, सद्वासना-दुर्वासना, विक्षेप-समाधि ये सबके सब स्वप्नवत् हो जाते हैं अपने स्वरूपके ज्ञानसे। इसलिए मनुष्यके जीवनमें उपासनाकी भी जरूरत रहती है। यह नहीं समझना कि गये सत्संगमें और सुन आये कि तुम ब्रह्म हो, अब वह अन्तःकरण तो शुद्ध है नहीं, ग्रहण हुआ नहीं, अपरोक्ष साक्षात्कार हुआ नहीं, कैसे होगा ब्रह्मज्ञान?

ब्रह्मग्यान जान्यौ नहिं और कर्म दियौ छिटकाय।

नहीं, धर्म छोड़ना नहीं, उपासना छोड़ना नहीं, वे ज्ञानमें क्या बाधा डालते हैं? अपने मन्त्रका जप नहीं छोड़ना, अपना इष्टदेव नहीं छोड़ना, गुरु नहीं छोड़ना, पाठ नहीं छोड़ना और ब्रह्मको समझनेकी कोशिश करते जाओ, देखो एक दिन जब समझमें आजायेगा, तो ये सब छूटेंगे नहीं, ये सब ब्रह्म हो जायेंगे। तो,

केषु केषु च भावेषु चिन्त्योऽसि भगवन्मया।

हे भगवान् किन-किन पदार्थोंमें हम आपका चिन्तन करें? बोले—हे जनार्दन!

विस्तरेणात्मनो योगं विभूतिं च जनार्दन।
भूयः कथय तृप्तिर्हि शृण्वतो नास्ति मेऽमृतम्॥ 18॥

'हे जनार्दन!' यह भगवान् जनार्दन हैं। जनार्दनका सीधा-सीधा अर्थ अगर आपको बतावें तो बहुत मजा नहीं आवेगा, क्योंकि लोग अपना सुख और अपना स्वार्थ ज्यादा चाहते हैं।

एक दिन आये घरमें मेहमान। तो घरके लोगोंको भूखा रख दिया मेहमानोंको खिला दिया। चलो बाबा चुपचाप गुस्सेमें घरवालोंने भूखको एक दिन सह लिया; लेकिन दूसरे दिन बस लड़ाई छिड़ी, बोले—तुम्हारे वे ज्यादा प्यारे हैं, उनको खिलाया और हम लोगोंको भूखा रखा! देखो अब यह जो प्रेम है, अपनापन है, इसको वे नहीं समझ सकते।

एक आदमी अपने पास रोज आता है और एक आदमी पन्द्रह दिनमें, महीने भरमें एक दिन आया। जो महीनेभरमें, पन्द्रह दिनमें आया उसकी ओर ज्यादा ध्यान देना, ज्यादा बात करना और जो रोज आता है उससे आज बात नहीं की, कल कर लेंगे, इसमें क्या बात है! लेकिन वह जो रोज आनेवाला है, वह लड़ने लगा, उसने कहा—'वाह ये तुम्हारे ज्यादा अपने हैं, उनसे बात करते हो, हमसे नहीं करते हो!'

वह जो आत्मीयता है, अपनापन है उसको वह नहीं समझता है। इसलिए जनार्दन शब्दका असली अर्थ आपको नहीं बताता हूँ, नकली अर्थ बताता हूँ। नकली अर्थ क्या है जनार्दनका **जनान् दुष्टजनान् अर्दयति**। जन माने दुष्टजन। जो दैत्य हैं, अधर्मी हैं, बुरे लोग हैं उनको जो रौंदे, उसका नाम 'जनार्दन'। उसको जो कुचल दे उसका नाम जनार्दन। पर यह तो नकली अर्थ हुआ। आप जानते हो, जनार्दन, मधुसूदन।

अब इसका असली अर्थ सुनो। जन माने जगत्। अपने स्वजनको तकलीफ दे करके भी परायेजनको जो सुख पहुँचावे, उसका नाम जनार्दन। स्वजन-निष्ठुर। अपने भक्तको गरीब रखेगा और पराये भक्तको धनी कर देगा। क्यों भाई? यह नारायणका स्वभाव है। यह कृष्णका स्वभाव है। अपने भक्तको भरपेट खाना नहीं दिया और शंकरजीके भक्तको खूब खिलाया, वाह वाह! यह तो एक दिनके लिए आया है। इसको बोलते हैं स्वजन-निष्ठुर। स्वजन-निष्ठुरका अभिप्राय क्या होता है? वह तो अपना ही है न! सुखमें-दु:खमें, रातमें-दिनमें, संयोगमें-वियोगमें, अनन्तकाल तकका साथी है। तो उसकी वासनाको दबा देना, उसमें तपस्याका अभ्यास लाना, तितिक्षाका अभ्यास लाना, उसमें समताका अभ्यास लाना, उसमें मौनका अभ्यास लाना, उसके अन्त:करणमें सद्गुणका विकास होवे, इसका ज्यादा ख्याल रखना, हमेशा अपने लोगोंकी अपेक्षा पराये लोगोंका ज्यादा आदर करना, इसको बोलते हैं **जनार्दन**। एक अपना आदमी और एक पराया आदमी लड़ने लगे, तो आया मालिक। वह यदि अपने आदमीका पक्ष लेगा तो सामनेवाला उसको भी भला-बुरा कहेगा, उससे भी लड़ जायेगा और अपनेवालेको दबा दे, तो लड़ाई खत्म हो जायेगी। इसको बोलते हैं—जनार्दन!

अब 'जनार्दन' शब्दका तीसरा वास्तविक तात्त्विक अर्थ क्या है? कि **जना** माने माया-अविद्या, **जनयति जगत् इति जना:। जायते जगत् अनया इति जना। अविद्या। जनां अविद्यां अर्दयति इति जनार्दन:।** जो अविद्याको, मायाको नष्ट कर दे, उसका नाम होता है जनार्दन।

तो दुष्टजनको मारनेवाले—दुष्ट दैत्योंको मारना—यह उसका बाहरी अर्थ, मामूली अर्थ हुआ। यह धार्मिक सम्प्रदायका अर्थ हुआ।

स्वजनको तप करानेवाले, अपने स्वजनको दबा करके अन्य जनको सुख-सुविधा देनेवाले! ऐ! तुम एक ही कपड़ेमें काम चलाओ, तुम घरके आदमी हो, यह पराया नंगा है, भूखा है न, इसे दूसरा दे दो! तो यह क्या हुआ? यह जनार्दन! जो अपने आदमीको दबा ले वह जनार्दन, यह भक्तिभावका अर्थ हुआ। उसके ऊपर अगर विश्वास न होता, यह दबानेपर भी हमारा ही रहेगा तो कैसे दबाता उसको!

जना अविद्या। जना माया। जो अविद्या-मायाको मार दे सो जनार्दन, यह क्या अर्थ हुआ? यह ज्ञानका अर्थ हुआ।

अर्जुन कहते हैं कि हे जनार्दन! **विस्तरेणात्मनो योगं विभूतिं च** आप विस्तारसे

आत्मयोग और विभूतिका फिरसे वर्णन कीजिये—**भूयः कथय** और संक्षेपसे नहीं, विस्तारसे कहिये।

एक जगह कथा कहने गये और श्रोताने कहा—बस महाराज संक्षेप ही में कह देना। मतलब उसकी सुननेमें रुचि नहीं है और अवकाश नहीं है।

हम पहले देहातमें ब्याह करानेके लिए जाते थे तो लोग कहते थे, महाराज बारातको खिलानेमें देर न हो जाये, ब्याह तो आप संक्षेपमें ही करा दें, माने कर्मकाण्डमें कोई रुचि नहीं है।

एक आदमीसे कहा—आज तो तुम बहुत दिनके बाद आये भाई। वह बोले—'वाह अभी पन्द्रह ही दिन तो हुआ है, मैं आया था तुम्हारे पास, भूल गये!' अब वह भूल नहीं गये, हमारे प्रेमपर तो उसने सौ घड़ा पानी डाल दिया। हमको तो उसको पन्द्रह दिनमें आना देर मालूम पड़ती थी, माने हमारा तो इतना प्रेम कि हम चाहते कि जल्दी-जल्दी आवे और उसने पानी क्या डाला कि हम तो जल्दी आये थे अभी। उसको तो पन्द्रह दिन जल्दी मालूम पड़ता है और हमको पन्द्रह दिन देर मालूम पड़ती है, तो हम हुए प्रेमी, हम हुए प्यासे और वह तो हुआ तृप्त! इसीको बेवकूफी बोलते हैं, बेवकूफी और कुछ नहीं होती इसीका नाम बेवकूफी होता है। माने बात उसकी समझमें ही नहीं आयी, भाव उसकी समझमें ही नहीं आया।

एक आदमी बोला—'महाराज! अभी जाते हैं, कृपा करो!' मैंने कहा—भाई अभी तो आये हो, अभी क्यों जा रहे हो? उसने कहा—वाह हमें आये पन्द्रह मिनट हो गया, घड़ी देख लो। हे भगवान्! दिखा दी घड़ी कि पन्द्रह मिनट हो गया हमें आये। तो हमको लगता है पन्द्रह मिनट कुछ नहीं हैं और उसको लगता है कि पन्द्रह मिनट बहुत ज्यादा हैं।

एक बात आपको बताता हूँ। अर्जुनने विभूतिका वर्णन सुन लिया, योगका वर्णन सुन लिया, अब 'विस्तरेण कथय', 'भूयः कथय'—दो बात बोलता है। विस्तारसे कहो और फिरसे वही बात अगर तुम कहो तो हमें सुननेमें मजा आवेगा।

एकने कहा—महाराज कथामें क्या कहते हो—सो बात तो हमारी समझमें नहीं आती, हमारी समझ नहीं है उतनी, लेकिन आपकी आवाज कानमें पड़ती है और आप सामने बैठे रहते हो, हमको तो इसीमें खुशी होती है।

देखो यह एक प्रेमकी बात हुई कि नहीं? भले दुबारा कहना पड़े, तिबारा कहना पड़े; एकने कहा—'वही पीसेको पीसते रहते हो, बारम्बार वही कहते हो!

राम राम राम।' तो वह श्रवणका प्रेमी नहीं है। उसको अभी श्रवणामृतका स्वाद नहीं आया।

एक बैल था। तो भूसा तो समझो गेहूँका, जौ का वही रहता है रोज-रोज, तो जब वही भूसा उसके सामने परस दिया जाये तो न खाये। उसको रोज नयी तरहकी खली चाहिए, उसमें चावल मिलाओ, दाल मिलाओ, रोटी मिलाओ तब तो खाये और नहीं तो बोले—वही भूसा, रोज-रोज वही भूसा?

अरे बाबा, जिसको भूख रहती है, जिसको प्यास रहती है, उसको रूखी रोटी भी अमृतसे ज्यादा स्वादकी लगती है। यह प्रेमकी लीला विलक्षण है। अर्जुन कहते हैं—'भूयः कथय। विस्तरेण कथय।' फिरसे कहो, सुननेको हमारे कान व्याकुल हैं। बड़ी प्यास है। और, विस्तारसे कहो।

एक आदमीका किसीसे बड़ा प्रेम था। बोले कि रोज-रोज उन्हींके पास क्या जाना, क्या देखना। 'विस्तरेण'—विस्तार चाहिए और फिर-फिर चाहिए। **द्विर्बद्धं सुबद्धं भवति**। जब गाँठ लगाते हैं, तो एक गाँठकी जगह जब दो गाँठ लगा देते हैं, तो वह पक्की हो जाती है। इस तरहसे एक बातको कई तरहसे सुन लो, तो वह बिलकुल ठीक-ठीक समझमें आ जाती है। **नास्ति जानता मंत्राणां**—शंकराचार्य भगवान् कहते हैं कि मंत्रोंमें आलस्य नहीं होता। आलसी लोगोंका लक्षण बताया है अमर कोशमें, आलसीका एक नाम है **अलसः तुण्डपरिमृडा**—अपनी तोंदपर जो हमेशा हाथ फेरता रहे। हाथ काम करनेमें न लगे, पेट ही पेट, तोंद ही पर हाथ फेरनेमें लगे, तो उसका नाम **तुण्डमृज** होता है। **तुण्डपरिमृज**।

तो मन्त्र जो हैं वे तुण्डपरिमृज नहीं होते, वह एक बातको बारम्बार कहते हैं।

देखो श्रीमद्‌भागवतमें राजा परीक्षितने श्रीशुकदेव जी महाराजसे कहा कि महाराज हमको तो भूख नहीं और प्यास नहीं।

नैषातिदुःसहा क्षुन्मां त्यक्तोदमपि बाधते।
पिबन्तं त्वन्मुखाम्भोजच्युतं हरिकथामृतम्॥ भा० 10.1.13

वे बोले कि महाराज भूख और प्यास बड़ी असह्य है, यह बात मैं राजा-महाराजा होते हुए भी जानता हूँ। वैसे प्रायः जो सम्पन्न लोग होते हैं, उनको भूख-प्यास लगनेपर कितनी तकलीफ होती है यह बात मालूम नहीं रहती है। क्योंकि वह तो एक पर एक, एक पर एक, कोठीको भरते ही जाते हैं, तो उनको क्या पता लगे कि कोठी खाली होनेपर कैसा लगता है, जब चूहे पेटमें दण्ड पेलने लगते हैं

तो कैसे लगता है, यह सम्पन्न लोगोंको क्या मालूम! लेकिन जिसको भूख-प्यास लगती है महाराज उसको कितना कष्ट होता है राजा परीक्षितने देखा कि उनको जब प्यास लगी तो एक समाधिस्थ महात्माके गलेमें ले जाकर साँप पहना दिया। प्यास सहन नहीं हो रही थी, बोले—हम प्यासे मरे जा रहे हैं और यह समाधि लगाता है! पर वही परीक्षित जब श्रीमद्भागवतका श्रवण करने लगे, तब बोले—हे शुकदेव जी महाराज! आपके मुखारविन्दसे यह जो हरिकथामृत पीनेको मिल रहा है, अब तो न भूखकी याद है न प्यासकी याद है, इससे तृप्ति होती ही नहीं है। और कहो। और कहो। और कहो।

प्रेमका लक्षण प्यास है। प्रेमका लक्षण उपेक्षा नहीं है। प्रेमका लक्षण तृप्ति भी नहीं है। अब बहुत हो गया, बस, बस, यह भी प्रेमका लक्षण नहीं है। और उपेक्षा भी प्रेमका लक्षण नहीं है। अर्जुन कहते हैं **अमृतं शृण्वतां**—यह जो तुम्हारा वचनामृत है इसको श्रवणपुटके द्वारा पान करते-करते मुझे तृप्ति नहीं होती है, फिरसे कहो।

कल ऋग्वेदके कोई मन्त्र देख रहा था, यह जो 'आनन्दवाणी'का विजय अंक छपना है, मैंने सोचा ऋग्वेदमें जो युद्ध सम्बन्धी मन्त्र हैं, उनमें-से कुछ निकालें। तो देख रहा था तो उसमें अकस्मात् 'कथा' शब्द आगया। कथा माने तो कथन होता है लेकिन उस मन्त्रमें हमको कथनके अर्थमें कथा शब्द नहीं मालूम पड़ा। तो भाष्य देखा, तो कथा शब्दका अर्थ लिखा हुआ था **केन प्रकारेण**। आप देखो 'यथा' माने क्या होता है? येन प्रकारेण—जिस प्रकार। 'तथा' माने तेन प्रकारेण। सर्वथा माने सर्व प्रकारेण। तो जैसे यथा, तथा, सर्वथा शब्द बनते हैं, वैसे ऋग्वेदमें 'कथा' शब्दका प्रयोग है। केन प्रकारेण इति कथा। यह कैसे हुआ महाराज! आकर किसीने पूछा अरे यह कैसे हुआ महाराज? तो ऐसे हुआ, यह बतानेके लिए जो बात कही जाती है, उसका नाम कथा होता है। कथा माने **केन प्रकारेण**? किस प्रकार!

भूयः कथय। कथं विद्यामहं योगिन! लौकिक व्याकरणसे कथं जिस अर्थमें बनता है, वैदिक व्याकरणसे उसी अर्थमें बनता है कथा। लौकिक व्याकरणमें कथं और वैदिक व्याकरणमें कथा।

भूयः कथय। अब यह तृप्ति न होना। बोले कि जब इसमें कभी पेट ही नहीं भरता है तो कबतक पीते जायेंगे! हमारे पास एक श्रोता आये, बोले—महाराज! बता दो कि प्रेमकुटीमें आकर और टाट पर बैठकर कबतक हमको यह प्रवचन

सुनना पड़ेगा। क्या जिन्दगी भर हम यही काम करें? टाट गड़ रहा और कोई आराम नहीं वहाँ।

नहीं भाई, जहाँ अच्छी जिन्दगी हो वह काम करना चाहिए। यह घण्टेभरका जो अमृत है वह तो चौबीस घण्टेके लिए खजाना है। अब कहो कि रोज-रोज चौकेमें बैठकर दालभात खाना पड़ेगा! राम राम यह कबतक खाना पड़ेगा? बोले—रोज वही कपड़ा शरीरमें लपेटना! वह दिन कब आवेगा जब बिना कपड़ेके नंगे रहेंगे! वह दिन कब आवेगा, जब बिना भोजनके रहेंगे! अरे भाई। यह तो जैसे शरीरकी खुराक होती है, वैसे यह मनकी खुराक है। यह मनको पुष्ट करनेवाली है, यह बुद्धिको पुष्ट करनेवाली है, यह आत्मदेवको संपुष्ट करनेवाली है। यह तो जैसे प्रतिदिनका स्नान है, आत्मिक भोजन है! यह अमृत है, इसमें तृप्ति नहीं होती और फिर जिससे प्रीति हो जाती है, उससे तृप्ति नहीं है।

योगमें भी तृप्ति नहीं है। क्यों? कि समाधि लगाया, बड़े जोरसे मनको धक्का दिया और जाकर आसमानमें बैठ गया। फिर धीरे-धीरे ढीला हुआ, जब बहिर्मुख हुआ, तो फिर धक्का लगा। बारम्बार धक्का लगाकर उसको आत्माके पास भेजते रहो। कर्ममें भी तृप्ति नहीं है कि बस अब हो गया, धर्मका काम पूरा, इसके बाद कुछ करना नहीं है। केवल ज्ञानमें तृप्ति मानी जाती है कि हमने आत्माको ब्रह्मके रूपसे जान लिया। बस! लेकिन जहाँ प्रेम है, वहाँ तो, *जनम अवधि हम रूप निहरलीं, नयन न तिर्पित भइलँ* हमने जन्म-जन्म तुम्हारे रूपका दर्शन किया, परन्तु आँखें तृप्त नहीं हुई।

क्षणे क्षणे नवतामुपैति तदेव रूपं रमणीयतायाः।

सौन्दर्यका रूप ही वह है कि वह क्षण-क्षणमें नया मालूम पड़े। तो श्रीकृष्णके वचनको यहाँ अमृत कहा हुआ है, केवल देश विवर्ती रूपक कहा जाता है काव्यमें। वचन अमृत है। और यह कानके रास्ते पिया जाता है और यह प्रेमीको अमर बना देता है।

तो उस अमृत और इस अमृतमें बड़ा फर्क है। यह बात तो भागवतमें अमृतका रूपक दे करके, यह तो इतना ज्यादा है कि इसमें नहा सकते हैं, पीनेकी तो बात ही क्या? ऐसा वर्णन आया है कि महात्मा लोग इस वचनामृतमें तैरा करते हैं। तैरनेका वर्णन है। स्नानका वर्णन आया है श्रीमद्भागवतमें—

इति तव सूरयस्त्र्यधिपतेऽखिल लोकमलक्षपण
कथामृताब्धिमवगाह्य तपांसि जहुः। 1087.16

बड़े-बड़े ज्ञानी पुरुष रस कथामृतके समुद्रमें स्नान करते हैं और यह कैसा है? कि **अखिल लोकमलक्षपण**—अगर तीनों लोक एक साथ इस कथामृतके समुद्रमें स्नान करे, तो उसका मल पच जाये। माने तीनों लोकके मनमें जो मैल है, नहानेपर मैल छूटती है, और नदीमें अगर पचानेकी शक्ति नहीं है तो नदी गँदली हो जाती है। तो यह कहते हैं कि कथामृतका समुद्र इतना बड़ा है कि इसमें तीनों लोक एक साथ स्नान करें, तो उसके दुर्वासनाओंका मैल छूट जाये और वह मैल इस कथामृतमें पच जाये उसका पता न लगे।

महात्मा लोग कहाँ तैरते हैं? बोले—वे गंगा-जमुनामें नहीं तैरते, वे तो कथामृतके समुद्र में तैरते हैं।

दुरवगमात्मतत्त्वनिगमाय तवात्ततनो:
चरितमहामृताब्धि परिवर्तपरिश्रमणा:। भा. 10.87.21

जब कथामृतके समुद्रमें तैरते हैं तो ऐसा मजा आता है कि बोलते हैं कि बाबा मुक्त हो जायेंगे तो कथा सुननेको मिलेगी कि नहीं? बोले—जीवन्मुक्तिमें तो मिलेगी पर देहमुक्तिमें तो नहीं मिलेगी। बोले कि तब हमको देहमुक्ति नहीं चाहिए।

जीवनमुक्त ब्रह्मपर चरित सुनहिं तजि ध्यान।

तो इसमें तृप्तिके बाद प्यास, प्यासके बाद तृप्ति, यह ऐसा श्रीकृष्णका वचनामृत अर्जुन श्रवण कर रहे हैं।

अब यह प्रसंग हुआ कि अर्जुन अधिकारी सिद्ध हो गये। तो वह विस्तारसे सुनना चाहते हैं। विस्तारसे सुननेमें दुबारा सुनना पड़े, तो उसमें भी उनको खुशी है और दुबारा सुननेमें, विस्तारसे सुननेमें उनको तृप्ति नहीं है। और, उनको यह बिलकुल रसीला मालूम पड़ता है। तो, यह जो वर्णन है, असलमें इसकी आगे चलकर बड़ी भारी प्रशंसा की गयी है। अर्जुनने कहा—

मदनुग्रहाय परमं गुह्यमध्यात्मसंज्ञितम्।
यत्त्वयोक्तं वचस्तेन मोहोऽयं विगतो मम॥ 11.1

यह जो दसवाँ अध्याय है, इसके सुननेका क्या प्रभाव पड़ा अर्जुनके ऊपर? बोले—मदनुग्रहाय प्रभो! आपने यह दसवाँ अध्याय सुनाया, यह तो मेरे ऊपर अनुग्रह किया।

अनुग्रहका मतलब यह होता है—पकड़नेवालेको पकड़ लेना। एक तो होता है ग्रह। एकने दूसरेको पकड़ा, उसका नाम क्या हुआ? ग्रह। जिसको पकड़ा

उसने और उसने भी पकड़ लिया, तो हुआ अनुग्रह। माने भक्तने भगवान्‌को पकड़ा, भगवान्‌का हाथ भक्तने पकड़ा, तो यह ग्रह हुआ, वह तो कभी छूट जाये तो गिर जायेगा। तो 'अनुग्रह' क्या हुआ? कि भगवान्‌ने भी अपने हाथसे उसका हाथ पकड़ लिया। डबल हो गया। डबल पकड़ हो गयी, इसका नाम होता है अनुग्रह। बोले मैंने आपके चरणारविन्दको पकड़ रखा था, परन्तु आपने यह अनुग्रह किया—**मदनुग्रहाय**, मुझे पकड़ लिया। ऐसी बात समझायी, ऐसा अध्यात्म संज्ञित योग हमको बताया कि हम भी तुम्हारी पकड़में आगये। मैंने तुमको पकड़ा और तुमने मुझे पकड़ा, यह सामरस्य, यह परमप्रेम होगया।

मोहोऽयं विगतो मम। इसका फल क्या हुआ कि जो हमारा मोह था, वह मोह दूर हो गया। असलमें मनुष्यको मोह दुःख देता है। संसारमें जितना दुःख है, देखो कोई न कोई ऐसी चीज होगी दुनियामें, हम तुम्हें विचार करनेके लिए बताते हैं, जब-जब दुःख होता है मनमें, तब-तब कोई-न-कोई ऐसी चीज अपने मनमें आकर अटक जाती है कि उसको हम छोड़ना नहीं चाहते हैं। जिस चीजको हम छोड़कर जा सकते हैं, वह चीज हमको दुःख नहीं दे सकती। जैसे रास्तेमें चलते हैं, बढ़िया-बढ़िया मकान पड़ते हैं तो कहाँ दुःख देते हैं? बढ़िया-बढ़िया लड़के मिलते हैं, बढ़िया लड़कियाँ मिलती हैं, स्त्री-पुरुष; नोटोंके ढेर मिलते हैं, बण्डल मिलते हैं वे हमको तकलीफ कहाँ देते हैं? जिस मकानको छोड़नेमें, जिस बच्चेको छोड़नेमें जिस स्त्रीको छोड़नेमें, जिस नोटके बण्डलके छोड़नेमें हमको तकलीफ होती है, जिससे मोह है यह मैं, यह मेरा। लोगोंके मरनेसे तकलीफ कहाँ होती है? कितने ही मरते रहते हैं। जहाँ मोह है वहीं दुःख है, मोहके सिवाय और कहीं भी दुःख नहीं है। भगवान् यह जो वचनामृत पिला रहे हैं, वह मोह-निवारक है।

मोहोऽयं विगतो मम। दसवाँ अध्याय सुनकर अर्जुन कहेंगे—'हमारा मोह दूर हो गया।' मोह दूर हो गया तो दुःख दूर हो गया। वह छुट्टा-छड़िंगा हो गया। मोह दूर होना ही मुक्त होना है।

अब यह कहो कि एक महात्मा हैं, किसीका मोह छुड़ाना चाहते हैं। आये तो थे हाथ जोड़कर कि महाराज हमारा दुःख मिटा दो। महात्माने कहा—भाई! दुःख तो तब मिटेगा जब तुम्हारा मोह मिटेगा।

आश्चर्यं मोक्षकामस्य मोक्षादेव........

बोले—जरा चाहो तो जो तुम्हारे पास है, उसको छोड़ना यह जो पर्स लेकर

बैठे हो, जरा इसको अपनेसे दूर जाने दो! बोलेंगे नहीं महाराज, यह तो नहीं छोड़ेंगे। फिर क्या छोड़ना चाहते हो? दु:ख छोड़ना चाहते हैं। भाई, यह पर्सकी जो पकड़ है, इसमें दु:ख है। **मोहोऽयं विगतो मम।** अर्जुनका मोह ही छूट गया। अगर मोह नहीं हो तो दु:ख कहाँसे आवेगा? इसलिए अब भगवान् श्रीकृष्ण अर्जुनको वह अमृत दे रहे हैं, जिस अमृतके पीनेसे यह मोह छूट जाता है। कहीं-न-कहीं डर है, पकड़ है दुनियामें कि कहीं हमारी यह चीज न छूट जाये। एक आदमी आया बोले—महाराज, संसारमें हमारी बिलकुल रुचि नहीं है, अब हम तो संसारसे छूटना चाहते हैं, मुक्त होना चाहते हैं।

बोले—है कुछ?

बोला—पाँच रुपये हैं महाराज।

—पहले निकालो।

महाराज! हम संसारसे छूटना चाहते हैं पाँच रुपयेसे थोड़े छूटना चाहते हैं।

बेवकूफ! आप लोग बुरा नहीं मानना, जिस चीजको तुम छोड़ना चाहते हो, यदि उसीको छोड़नेमें कष्ट होता है, तो फिरसे विचार करो कि तुम क्या छोड़ना चाहते हो और क्या पाना चाहते हो? जिसका तुम त्याग करना चाहते हो, जिससे तुम्हें वैराग्य है, जिससे पिण्ड छुड़ाना चाहते हो, गाँवमें लोग, यहाँ तो बाथरूम होते हैं शौचालयमें जाते हैं, गाँवमें तो खेतमें जाते हैं। जब एकबार शौच छोड़ आते हैं, तो आकर कोई उसकी निन्दा करे कि अच्छा है कि बुरा है कि उसको सूअर खा गया कि उसमें कोई कीड़े लग गये, उसका कोई दु:ख होता है?

यदि तुम संसारको छोड़नेको राजी हो और उस संसारकी निन्दा हो, या स्तुति हो उसमें यश हो, उसमें अपयश हो उससे क्या लेना-देना तुम तो परमात्माके आनन्दको लेना चाहते हो, उसको पकड़ना चाहते हो, अब उधर नजर डालनेकी क्या जरूरत!

ये अमृत वचन भगवान् श्रीकृष्ण सुना रहे हैं—

हन्त ते कथयिष्यामि दिव्या ह्यात्मविभूतयः।

अब यह प्रसंग आपको कल सुनावेंगे।

श्रीभगवानुवाच

हन्त ते कथयिष्यामि दिव्या ह्यात्मविभूतयः।
प्राधान्यतः कुरुश्रेष्ठ नास्त्यन्तो विस्तरस्य मे॥ 19॥

अर्जुनने भगवान्‌की विभूतिका ज्ञान प्राप्त करनेके लिए प्रश्न किया। अब अर्जुन एकाग्रचित होकर भगवद्वचन श्रवण करे, इसके लिए भगवान् कहते हैं— श्रीभगवानुवाच।

वैसे भगवान्‌का वचन भी नित्य होता है। अर्जुनका प्रश्न भी नित्य होता है और भगवान् और अर्जुन—दोनों नित्य होते हैं। जैसे यह पृथिवी, जल, अग्नि, वायु, आकाश—सत्य हैं, जैसे अव्याकृत माया सत्य है और सब चेतनके आभाससे हमेशा क्रियान्वित रहते हैं। प्रलय भी एक क्रिया होती है। सृष्टि भी एक क्रिया होती है और स्थिति भी एक क्रिया होती है। ये अनादि कालसे चले रहे हैं, प्रवाह-रूपसे नित्य हैं, इसमें ये साँचे भी नित्य हैं, जैसे मछलीका साँचा, आदमीका साँचा, औरतका, चिड़ियाका, पशुका—साँचे भी नित्य होते हैं।

नित्य होना दूसरी बात है और अबाधित सत्य होना दूसरी बात है। अबाधित सत्य होना माने, कालकी कल्पनाका जो स्वयं-प्रकाश अधिष्ठान है, वह अबाधित सत्य है और माया नित्य है, अबाधित सत्य नहीं है, क्योंकि सत्य ज्ञान होनेपर माया बाधित हो जाती है।

अच्छा, काल नित्य है कि नहीं? कोई ऐसा अनुभव बताओ जिसमें काल न हो! माया, काल, तेज, सृष्टिका बीज, जीव, ईश्वर—ये सब अनादि और प्रवाह रूपसे नित्य होते हैं और अधिष्ठान ज्ञानसे इनका बाध होता है। इनका व्यवहार जैसा बाध कालमें होता है, वैसा ही अबाध कालमें होता है। यह व्यवहार अपने आप चलता ही रहता है। जो लोग समझते हैं कि सत्य ज्ञान होने पर सृष्टिका लोप ही हो जाता है, वे गलत समझते हैं। सृष्टिका लोप हो जाये तो ज्ञानी गुरु कहाँसे मिले? जिज्ञासु शिष्य कहाँसे मिले? उपनिषद् कहाँसे रहे? यह अपौरुषेय ज्ञान रूप जो वेद है, इन सबको कल्पित सत्य बोलते हैं। इनकी अनादिता भी कल्पित

हैं इनकी नित्यता भी कल्पित है। यह जो जीव और ईश्वररूप आभास है—यह भी नित्य है। इसमें भगवद्वचन भी नित्य है।

यह वेदान्तकी प्रक्रिया-अद्वैत वेदान्तकी, औपनिषद् वेदान्तकी; इसीसे शंकराचार्य एक ओर आत्माके ब्रह्म होनेका निरूपण करते हैं और दूसरी ओर वर्णाश्रम-व्यवस्थाकी स्थापना करते हैं। धर्मकी स्थापना, वेदकी स्थापना, नीतिकी स्थापना। तो यह भगवान्‌का वचन है, यह नित्य है। यह कब प्रकट होता है? जब अर्जुनरूप निमित्त सामने हो। ऐसा समझो कि श्रीकृष्ण ही वेद ज्ञान है। श्रीकृष्ण वेद हैं, ज्ञान हैं, गाय हैं। जब अर्जुनरूप बछड़ा पैदा होता है, तब यह वचनामृत स्वयं प्रकट हो जाता है। अर्जुनरूप बछड़ेके निमित्तसे यह श्रीकृष्णरूप गायका यह ज्ञानामृत दुग्ध; बोले—भाई, श्रीकृष्णने स्वतन्त्र तो नहीं कहा, कि वैसे बोलो कि उपनिषद् गाय है और श्रीकृष्ण **दोग्धा गोपालनन्दनः**। यह अभिप्राय हुआ कि यह जो वचन है **यथापूर्वं अकल्पयत्**। पूर्व-पूर्व सृष्टिमें अर्जुनको जैसा निमित्त बनाकर श्रीकृष्ण भगवद्गीता बोलते हैं, वैसा ही इस समय भी बोलते हैं।

अच्छा किसीका अन्तःकरण अर्जुनाकार हो जाये तो श्रीकृष्णका वचन उसको सुनायी पड़ेगा। कुरुक्षेत्रका मैदान प्रकट हो जायेगा, श्रीकृष्ण प्रकट हो जायेंगे, उनका वचन सुनायी पड़ेगा, यदि कोई तदाकार हो जाये। यह सृष्टि संकल्पकी दृढ़तासे भासती है। योगवासिष्ठ पढ़ो तो ऐसी-ऐसी कथा मिलेगी, संकल्पकी दृढ़ताका ऐसा-ऐसा उदाहरण मिलेगा, उसमें भी गीता मिलेगी—**हन्त ते कथयिष्यामि दिव्या ह्यात्मविभूतयः। प्राधान्यतः कुरुश्रेष्ठ नास्त्यन्तो विस्तरस्यमे—मम याः दिव्या आत्मविभूतयः ताः प्राधान्यतः शेष कथयिष्यामि।—हन्त-वाच्यारम्भेण।**

अब भगवान् अपने वचनका प्रारम्भ करते हैं। कण्ठ, ताल्वादिपर आघात हुआ। हन्त माने मनमें संकल्प उठा और तालु पर दबाव पड़ा तो हन्त, एक चोट लगी नगाड़ेपर, जैसे नगाड़ा बोलता है, ऐसे जीभ बोलती है। तो हन्त माने नगाड़ेपर एक चोट पड़ी।

अब भगवान् कहते हैं कि मेरी दिव्य आत्मविभूतियाँ हैं। दिव्यका अर्थ है **दिवि भवा**—भगवान्‌के चिदाभास स्वरूपमें ये प्रकट होती हैं। प्राकृत-अप्राकृत सब। भगवान्‌की विभूतिको देखो, मर्त्यलोक भी विभूति है और स्वर्गलोक भी विभूति है। आप सिनेमा कभी देखते हैं, तो उसमें एक नायक होता है, उसका भी चरित्र होता है और एक खलनायक होता है उसका विरोधी, उसका भी चरित्र होता

है। लेकिन तारीफ किसकी की जाती है? तारीफ उसकी की जाती है जिसका अभिनय अच्छा होता है, इसने खलनायकका अभिनय बहुत बढ़िया किया। इसने नायकका अभिनय बहुत बढ़िया किया। बोले—भाई इसने मरनेका नाटक बहुत अच्छा किया। ऐसा। मरता नहीं है, मरनेका नाटक करता है। वैसे ही संसारमें अच्छाई और बुराई देखनेमें आती है। एक ही कोई ऐसा है जो नायक और खलनायक—दोनोंका अभिनय निभा रहा है। दोनोंके अभिनयका निर्वाह करनेवाला एक बार स्त्री बनकर आता है मंचपर, तो लोग कहते हैं वाह-वाह-वाह कैसा बढ़िया बना। और वही जब पुरुष बनकर आता है तो कहते हैं वाह वाह कैसा बढ़िया बना। और दोनों एक साथ ही बनकर आता है तो कहते हैं वाह-वाह कैसा बढ़िया बना। **दिव्या ह्यात्मविभूतयः।**

यह जो भगवान्‌का प्राकट्य है सृष्टिके रूपमें, प्राकृत-अप्राकृत चराचरके रूपमें, स्वर्गके रूपमें भी, वह अभिनय करनेमें कितना कुशल है, स्वर्ग बन जाता है और नरकके रूपमें भी वह अभिनय करनेमें कितना चतुर है, नरक बन जाता है।

देखो एक माटी है जो गन्नेके रूपमें प्रकट होती है और एक माटी है जो करेलेके रूपमें, बेलके रूपमें प्रकट होती है। यह माटीके ही रूप हैं। इसमें क्या अच्छा, क्या बुरा? ईश्वरकी विभूतिको पहचानो। सब जगह वह दिव्य है। जहाँ जो है, जैसा है, वहाँ वैसा ही बहुत बढ़िया बन गया। चींटी बना तो क्या बढ़िया बना, मच्छर बना तो क्या बढ़िया बना, साँप बना तो क्या बढ़िया बना!

हन्त ते कथयिष्यामि दिव्या ह्यात्मविभूतयः।

क्योंकि तुम कुरुश्रेष्ठ हो। कुरुवंशियोंमें श्रेष्ठ हो। **कुरूणां श्रेष्ठः कुरुश्रेष्ठः।** ये कौरव और पाण्डव दोनों कुरुवंशी हैं। मूल पुरुष पाण्डु भी कुरुवंशमें पैदा हुए और धृतराष्ट्र भी कुरुवंशमें पैदा हुए। दोनों एक ही वंश तो कुरुवंशियोंमें तुम सबसे श्रेष्ठ हो। प्रधान-प्रधान मेरी विभूतिका श्रवण करो।

प्रधान-प्रधान विभूति क्यों? अर्जुन तो कहते हैं कि **अशेषेण। विस्तरेण।** सारी विभूतियोंका वर्णन करो और विस्तारसे विभूतियोंका वर्णन करो।

इसमें एक बात देखो अर्जुनकी, आकांक्षा देखो और श्रीकृष्णकी बुद्धिमत्ता देखो। आकांक्षा है अर्जुनमें, इच्छा है अर्जुनमें, वे कहते हैं महाराज, आप अपनी सब विभूतियोंका वर्णन करो। अब यदि विभूतिका वर्णन करने लग जायें श्रीकृष्ण, तो अट्ठारह दिनका युद्ध नहीं, अट्ठारह युग बीत जायें; अर्जुनको मानो

युद्धकी कोई परवाह ही नहीं है, चाहे सेना ऐसी-की-ऐसी खड़ी रह जाये, दुर्योधन, युधिष्ठिर, भीष्म पितामह, द्रोणाचार्य, कृपाचार्य और फलाने-ढिकाने सब ज्यों-के-त्यों रह जायें, हम तो श्रीकृष्णके मुखसे उनकी विभूतिका श्रवण करें। यह है अर्जुनकी लालसा। और, श्रीकृष्ण कहते हैं कि हम विभूतिका वर्णन करने लग जायेंगे, तो युद्धका क्या होगा!

अर्जुनकी अगर इच्छा पूरी की जाये, तो युग-युगमें भी नहीं हो सकती, क्योंकि इच्छा तो अर्जुनकी तब पूरी हो, जब उसके कानभर जायें, उसका अन्त:करण भर जाये। भगवान्‌की विभूतिका श्रवण कोई भौतिक पदार्थ नहीं है कि पेट भर जायेगा। कान फुँक जायेगा—सो तो नहीं है। अरुचि हो जाये उसमें! तो अरुचि भी नहीं होनेवाली, और यह कहो कि विषय ही समाप्त हो जाये। तो **नास्त्यन्तो विस्तरस्य मे।** भगवान् कहते हैं कि मेरी विभूतिके विस्तारका अन्त ही नहीं है। विस्तर माने विस्तार।

वैसे 'विस्तार' जिन अर्थमें हमारे घरोंमें प्रयोग करते हैं, उस अर्थमें भी संस्कृतमें है भला। **विस्तर।** जब ब्याह होता है तब पण्डित लोग बोलते हैं **विष्टरो विष्टरो विष्टरः विष्टरम् प्रतिगृह्यताम्।** विस्तर माने आसन। आसन तो देते नहीं, एक कुश दे देते हैं कि यह लो पाँवके नीचे दबा लो। तो **विस्तर** माने आसन भी होता है।

नास्त्यन्तो विस्तरस्य मे। मेरे विस्तारका अन्त नहीं है, मेरे फैलावका अन्त नहीं है। मैं अनन्त हूँ। इसलिए न तुम्हारी तृप्ति होगी, न मेरा वाक्-प्रवाह रुकेगा और न विभूतिका अन्त होगा। इसलिए पूरी-पूरी बात सुननेका आग्रह तो छोड़ दो अर्जुन! **प्राधान्यतः कथयिष्यामि**—प्रधान-प्रधान जो हैं, उन्हींका वर्णन करूँगा।

अब प्रधान-प्रधानमें कौन हैं? तो **अहमात्मा गुडाकेश सर्वभूताशय स्थितः।**

हे नारायण! अर्जुनने पूछा था कि हम कहाँ-कहाँ आपका चिन्तन करें? यह देखो पहले ही भगवान्‌ने कहा कि कहाँ-कहाँ भटककर चिन्तन क्यों करना चाहते हो? अपना ही चिन्तन करके देखो तुम मेरी विभूति हो। बोले—यह बात अर्जुनसे कहना होगा तब तो आगे कहेंगे—**पाण्डवानां धनञ्जयः।** बोले—नहीं, सबकी आत्मा, किसीको भी यह बात कह रहे हैं कि तुम्हें यदि मेरी विभूतिकी खोज हो, तो पहले बाहर क्यों जाते हो ढूँढ़नेके लिए, अपने भीतर अपने आपको ही ढूँढ़ो, कि तुम कौन हो? कहाँ ढूँढने जा रहे हो?

एक आदमी दिनमें बेतहाशा भाग रहा था। किसीने पूछा कहाँ भाग रहे हो भाई? उसने कहा—रोशनी ढूँढने जा रहा हूँ। बोले—भला तुम यह जो पाँव रखते हो और आँखसे देखते हो, यह क्या चीज है? यह जो आँखसे देख-देखकर पाँव रखते हो यह क्या चीज है? यह ऐसे ही हुआ न कि जो पाँवके नीचे रोशनी है सो नहीं दिखती है और जो आँखमें रोशनी है सो नहीं दिखती है। बुद्धिका प्रथम जागरण यही है।

मैंने श्रीउड़ियाबाबाजी महाराजसे प्रश्न किया किसका ध्यान करूँ? बोले—अपना ही करो। बोले—क्या अपने शरीरका करें? बोले—जो अपनेको अपना आपा मालूम पड़ता है, वहाँसे शुरू करो। बोले—हमको देह मालूम पड़ता है। बोले—ठीक है, 'मैं देह हूँ'—यहाँ से शुरू करो। देह तो एक पौधा है, नीचेको सिर और ऊपरको जड़, ऐसा एक पौधा है यह शरीर। इसमें तुम अपनेको देखो, तुम घुसे हुए हो। हड्डी मांस, चाम, यह खून सिरसे लेकर नाखून तक और इसमें चैतन्य तुम घुसे हुए हो, अन्नमय पुरुषके रूपमें अपना चिन्तन करो! अन्नमय कोशाकार जो आत्म-चैतन्य, उसका चिन्तन करो। प्राणमय कोशाकार जो आत्म-चैतन्य, उसका चिन्तन करो। प्राणमय कोशाकार जो चैतन्य; प्राणमय नहीं, उसमें प्राण है, अपान है, उदान है, समान है, व्यान है, ये सब प्राण अपना-अपना काम कर रहे हैं, सारी क्रिया हो रही है, क्रियाशक्ति है, इस क्रियाशक्तिसे तादात्म्यापन्न चैतन्य प्राणमय पुरुष, मनोमय पुरुष, विज्ञानमय पुरुष; कोशका चिन्तन नहीं किया जाता, कोशावच्छिन्न चैतन्यका चिन्तन किया जाता है। विज्ञानमय पुरुष, आनन्दमय पुरुष, कोशोंसे अतीत साक्षी पुरुष, करो चिन्तन। अरे वह नहीं, जाग्रत्में है, स्वप्नमें है, सुषुप्तिमें है उसको अलग रहने दो, यह समग्र जो तुम्हारा शरीर है, यह नीचेको जो हाथ लटका हुआ. नीचेको पाँव लटका हुआ, सिर ऊपर, कमर नीचे, यह जो बैठे हुए होना, यह तो जैसे बल्ब है और उसमें एक चैतन्य बिजली जैसे व्याप्त हो रही है, देहाकार चैतन्य। देहका आकार जुदा और उसमें व्याप्त हाने वाला चैतन्य जुदा! तो उस चैतन्यमें कल्पित जो देहाकारता है, उसको पुरुष बोलते हैं, आत्मामें कल्पित जो प्राणाकारता, मनमें कल्पित जो मनाकारता बुद्धिमें कल्पित जो बुद्ध्याकारता, आनन्दमें कल्पित जो आनन्दाकारता, यह जो आत्मामें तत्तत् कोश आकार कल्पित हैं, उन आकारोंको छोड़करके आओ।

बोले—भाई अब देखो किसी-किसीको नींद आने लग गयी। अच्छा तो नींद आना दो बातका सूचक होता है, एक तो विषयमें रुचि नहीं है। यदि वस्तुको

समझनेके लिए पीड़ा है तो नींद नहीं आवेगी। '*आशिक होकर सोना क्या रे!*' प्रेमके रास्तेमें चले तो सोते क्यों हो? और दूसरी बात होती है अप्रतिपत्ति; माने समझमें न आना।

हमारे प्रेम कुटीके सत्संगी तो बड़े प्रेमी हैं, ये तमोगुणी निद्रासे अभिभूत नहीं होते। इसीलिए भगवान्‌ने मानो सम्बोधन किया—'हे गुडाकेश!' गुडाका माने निद्रा और ईश माने स्वामी। तो तुमने नींद जीत ली है। अब नींदको जीतकर बैठेंगे, तब बुद्धिमें ताजगी रहनी चाहिए। नींद आती हो तो कहीं चिकोटी काट लेनी चाहिए। अपने शरीरमें। हम लोग पहले भजन करने बैठते नींद आती तो कान पकड़कर ऐंठते और वो चपत लगाते अपने मुँहपर, वह चपत अपनेको नहीं लगती, नींदको लगती, नींद चली जाती, पन्द्रह मिनटके लिए। एक चपत कसके लगाया—मुँह लाल हुआ, नींद गयी, आओ भजन करें।

'गुडाकेश'का अर्थ है निद्राको वशमें करना। अर्जुनने निद्राको जीत लिया, निद्रासे उपलक्षित तमोगुण। अर्जुन आलसी नहीं है। अर्जुन तमोगुणी नहीं है। इसलिए उसको 'गुडाकेश' बोलते हैं। गुडाकेशका दूसरा मतलब है कि इसने उपासना कर ली है पूरी। तमोगुणपर विजय प्राप्त करना—यह गुडाकेश, गुडाका माने निद्रा और ईश माने स्वामी—गुडाकेश। और, गुडात् माने शंकर, गुडवत् गोलं, ब्रह्माण्ड गोलं, असति व्याप्नोति इति गुडाकः शिवः। गुडाकः ईशो यस्य। पशुपतिकी आराधना करके जिसने पशुत्वपर, रजोगुण पर विजय प्राप्त कर ली है, विक्षेप जिसके मिट गये हैं, उसका नाम गुडाकेश है।

निद्रापर तो विजय प्राप्त की अपने पुरुषार्थसे और शंकरजीकी उपासना करके विक्षेप मिटा लिया, गुडाकेश हो गया। और, मालूम है देखनेमें भी अर्जुन बहुत सुन्दर है। घुँघराले बाल हैं अर्जुनके, इसलिए उसको गुडाकेश कहते हैं।

अच्छा अर्जुन तुम यह पूछते हो कि मैं कहाँ-कहाँ तुम्हारा ध्यान करूँ? यह पूछते हो, तो मैं तुमसे यह पूछता हूँ कि कहाँ मैं तुमको नहीं दिखता हूँ, जहाँ मैं ध्यान करनेको बोलूँ। अरे सब जगह तो मैं पहलेसे मौजूद हूँ। 'मार' भी भगवान् हैं, लड़ाईमें भी भगवान् है। 'प्रेम' भी भगवान्। लड़ाई करनेमें तो बड़ा निपुण है। लड़ाई करनेसे नहीं भागता। पर भगवान्‌से तो करो। यह ईश्वरका स्वरूप है। तो कौन हो? कि—**सर्वभूताशयस्थितः। आत्माअहं**। ये सर्व जो प्राणी हैं इनका एक आशय होता है। आशय माने खजाना। आशय माने शयन-मन्दिर। आ सर्वशः प्रतिनिवृत्य शयनं यत्र। चारों ओरसे लौटकर जहाँ हम सोते हैं, उसका नाम

अनन्त बनाते हैं, तो किसीका, सोनेका अनन्त होता है' किसीका चाँदीका अनन्त होता है, किसीका सूतका अनन्त बनाते हैं। तो दूधमें उसको डालते हैं। तो फिर एक आदमी दूधमें हाथ डालकर ढूँढता है। तो पण्डित जी पूछते हैं। *'का ढूँढेला?* क्या ढूँढते हो? बोले—*अनन्तफल कहाँ लाँ? खीर सागर समुन्द्र मां।* दोनों बोलते हैं क्षीर सागर भी, समुद्र भी। *पवलाऽऽ? पाये? कि नाहीं। मिलल? मिला? कि नाहीं!'* ढूँढते-ढूँढते तीसरी बार, चौथी बार बोलते हैं *पवलीं, पवलीं।* पा गया, मिल गया।

रमण महर्षिसे हम लोगोंने पूछा कि ईश्वरका ध्यान कैसे करना? बोले कि यह पूछनेवाला कौन? जिसको जाननेकी इच्छा है। बोले—यह इच्छा किसको? बोले—मुझे। तो देखो यह इच्छासे न्यारा हुआ न! जिसको जाननेकी इच्छा हो रही है सो इच्छासे न्यारी चीज है। क्योंकि उसमें कभी इच्छा रहती है, कभी नहीं रहती है। बोले—उसको ढूँढो। उसीको देखो। जहाँ इच्छाका उदय तुम्हारे मनमें होता है हमको स्त्री मिले, हमको पति मिले, हमको पुत्र मिले, हमको धन मिले, हमको संसार मिले। यह इच्छा तुम्हारे जिस जगहपर होती है, वह मशीन है, और वह मशीन जिस वजहसे चल रही है, **ईश्वरः सर्वभूतानां हृद्देशेऽर्जुन तिष्ठति। भ्रामयन्सर्वभूतानि यन्त्रारूढानि मायया।** ये सब जीव यन्त्र पर चढ़े हुए, मशीन पर चढ़े हुए हैं। इसको हृद्-यन्त्र बोलते हैं। यह हृदय एक यन्त्र है, एक मशीन है। और उस मशीन पर बैठकर यह जीव संसारमें घूम रहे हैं। और वह मशीन जिस चीजसे चलती है उस चलानेवाली चीजको पहचानो।

हमारे दिलमें रहकर हमारे दिलकी मशीनको चला रहा है। दुनियाभरको चला रहा है। जानते हो, सोना ऐसा, चाँदी ऐसी, कपड़ा ऐसा-ऐसा, मकान ऐसा। यह तुम्हारी इंजनीयरिंग, यह शिल्प शास्त्रका ज्ञान, सारा कुछ, परन्तु मैं कौन? कि यह तो मालूम नहीं। तो देखो न, ईश्वरको कैसे ढूँढना? हाथसे भीतर हो जाओ। पाँवसे भीतर हो जाओ। दिल-दिमागसे भीतर हो जाओ। देखो वहाँ पहले यही मालूम पड़ेगा कि मैं और मेरा ईश्वर। फिर मालूम पड़ेगा मैं ही मैं।

यह आत्मा कौन है? श्रीकृष्ण कहते हैं—सबके शरीरमें आत्मा मैं। सबका अहमर्थ शोधित अहमर्थ और त्वं पद लक्ष्यार्थ। आत्मा माने त्वं पद-लक्ष्यार्थ और अहं माने तत् पद-लक्ष्यार्थ। **तत् पद-लक्ष्यार्थरूपः अहं, सर्वभूताशय स्थितः। तत् पद् लक्ष्यार्थ आत्मा।** तत्-पद्का जो लक्ष्यार्थ है वह मैं कृष्ण, और त्वं पदका लक्ष्यार्थ जो है वह आत्मा। तो अहमात्मा, आत्मा अहम्। आत्मा मैं हूँ। मैं आत्मा हूँ।

कहाँ? कि सबके दिलमें, सबके कलेजेमें।

कहाँ ढूँढते हो?

भागवतमें एक दृष्टान्त है। एक बुढ़िया रातके समय सड़कपर रोशनीमें कुछ ढूँढ रही थी। राहीने पूछा कि माँ! क्या ढूँढ रही हो? हम तुम्हारी मदद कर दें! बोली—सूई ढूँढ रही हूँ बेटा! बोले—माँ कहाँ खोई थी वह जगह तो बताओ, मैं भी देखूँ। उसने कहा—बेटा खोई तो घरमें थी। तो माँ तू सड़कपर क्यों ढूँढ रही है? बेटा रोशनी तो यहाँ है, वहाँ तो है दीखता नहीं, दीखता तो यहाँ है, वहाँ नहीं दीखता है।

तो परमेश्वर खोया कहाँ? खोया नहीं, भूल आये, अपने कमरेंमें सोते हुएका ख्याल नहीं किया और बाहर सड़कपर ढूँढने चले गये। तो परमेश्वरको पहचानना कहाँ?

नहि गृहे नष्टं वने मृग्यते।

घरमें कोई चीज खो जाय, तो वनमें वह नहीं ढूँढी जाती। अगर दिलमें कोई भूल हुई है तो बाहर ढूँढनेसे वह नहीं मिलेगी, जहाँ वह भूल है, वहीं मिटाओ। जहाँ बाहर ईश्वरको छोड़कर आये हो, वहीं पहुँच जाओ। मेलामें हमलोग कभी जाते, बड़े-बड़े मेलेमें, अब कोई छूट जाता समझो, तो पहले तो यह होता कि दौड़-धूप करो कहाँ गया, कहाँ गया! लेकिन अन्तमें यह तय होता कि एक आदमी यहीं खड़े रहो, क्योंकि जो भूल गया है, जो छूट गया है, वह भी तो ढूँढेगा न! तो जहाँ छूटा है, वहाँ वह जरूर आवेगा कि यहाँ हमको कोई देखनेके लिए आया है कि नहीं, यहाँ खड़े हो जाओ तो देखो वह मिलेगा।

ईश्वरको ढूँढ़ना है—

'मुझको क्या तू अच्छा ढूँढे बंदे मैं तो तेरे पासमें।'

अहमात्मा गुडाकेश सर्वभूताशयस्थितः।
अहमादिश्च मध्यं च भूतानामन्त एव च॥ 20॥

हे गुडाकेश! अहं सर्वभूताशयस्थितः आत्मा। अर्जुनका प्रश्न यह था कि—

केषु केषु च भावेषु चिन्त्योऽसि भगवन्मया। (17)

हे प्रभु! हम आपका किन-किन पदार्थोंमें चिन्तन करें? तो भगवान् पहले आत्माका वर्णन कर रहे हैं। सब जगह अव्यावहारिकत्वात्, क्योंकि सबसे अधिक आदरणीय और सबसे अधिक पूजनीय और सबसे अधिक महान् आत्मा ही है। इसके बिना तो किसीकी सिद्धि ही नहीं होती। आत्मपूर्वक ही सारी प्रवृत्ति होती है। आँखसे किसीको देखने जाओ, कानसे किसीको सुनने जाओ, जीभसे किसीको बोलने जाओ, तो पहले यह मौजूद हो तब न! जिसकी उपस्थितिके बिना दूसरा उपस्थित ही नहीं होता,जिसके प्रकाशके बिना दूसरा प्रकाशित ही नहीं होता, जिसकी प्रियताके बिना दूसरा प्रकाशित ही नहीं होता, जिसकी सिद्धिके बिना दूसरेकी प्रियता ही नहीं होती, जिसकी सिद्धिके बिना दूसरेकी सिद्धि ही नहीं होती, जो सब सिद्धियोंका मूल है, सब सुखोंका मूल है, सब बुद्धियोंका मूल है, सब सत्ताओंका मूल है, वह आत्मा है।

परमात्माका पहले चिन्तन करना है—

उपस्थितं परित्यज्य अनुपस्थितं कल्पनायाम्।

माना बाबा! जो सबसे पहले सामने आगया है, जो सबसे पहले है, उसको छोड़कर दूसरेकी पूजा करने जाना—इसमें कोई प्रमाण नहीं है। अपने आपमें भगवान् नहीं है? दूसरेमें ढूँढने जाते हो! तो बोले—बाबा चिन्तन करना हो तो पहले अपने आपमें ही करो। तो पहला स्थान बताया ईश्वर-चिन्तनका—

ईश्वर चिन्तनका पहला स्थान आत्मा है।

एक बार पानीके दस बूँद इकट्ठे हुए। एक बूँदने कहा कि पानी कहाँ मिलेगा? बोले—भाई देखो हम सब बूँद-बूँद हैं, यह जो बड़ा भारी समुद्र है, तरंग है, इसको ईश्वरके रूपमें देखो। बोले—भाई हमलोग कौन हैं? तो दस बूँद बोले—

मैं बूँद! मैं बूँद। लेकिन वे बूँद-बूँद नहीं हैं, पानी हैं सब। यह तो उपाधिके कारण जो हवा सबमें अलग-अलग बँध गयी है, इसके कारण उनका नाम बूँद बन गया है, नहीं तो है तो पानी।

यह हमलोगोंके भीतर भी जो अलग-अलग हवा बँध गयी है, मेरी साँस अलग और तेरी साँस अलग, सब साँसोंमें एक ही है। साँसें अलग-अलग चलती हैं, परन्तु है सबके भीतर वही। तो जैसे सब कणमें मिट्टी है, जैसे सब बूँदमें पानी है, जैसे सब चिंगारीमें आग है, जैसे सब साँसमें हवा है और जैसे सब पोलोंमें आकाश है, जैसे सब संकल्पमें मन है, जैसे सब विचारमें बुद्धि है, वैसे सब मैंमें परमात्मा है। जितने मैं-मैं-मैं अलग-अलग फुदक रहे, दस बटलोहीमें दाल चुरनेके लिए चढ़ायी गयी और सबमें फुदक रही है; लेकिन वह फुदकता कौन है? सब बटलोहीमें पानी ही तो फुदक रहा है इसलिए सब शरीरमें मैं-मैं फुदक रहा है, यह बिलकुल वही है। इसके ऊपर नजर न जमाकर इसको पहले छोड़कर तब दूसरी जगह ईश्वरको ढूँढने जाते हैं। इस समय ईश्वर नहीं है, आगे ध्यान करेंगे तब ईश्वर होगा। इस जगह ईश्वर नहीं है, अगली जगहमें ईश्वर होगा। यह ईश्वरका रूप नहीं है, दूसरा ईश्वरका रूप है, यह हम सब लोग बोलते हैं, मैंने स्वयं किया, तुमने स्वयं किया, उसने स्वयं किया; यह 'मैं', 'तुम', 'उस'—ये तो अलग-अलग मालूम पड़ते हैं, परन्तु सब में जो स्वयं एक है, उसी स्वयंको आत्मा बोलते हैं। वह सबका एक है।

बोले—परमात्मा रहता कहाँ है! छिप गया है परमात्मा। जाहिर होते हुए भी छिप गया था। जीवत्वाकारसे नहीं छिपा है कुर्ता-कमीज पहनकर नहीं छिपा है। छिपा कैसे है? न पहचाननेके कारण छिपा हुआ है! जैसे कोई आदमी सामने होवे और हम उसे पहचानते न हों, तो वह अनमिला रहता है। ऐसे परमात्मा बिलकुल सामने है, पहचाना हुआ न होनेके कारण वह अनमिला रहता है। देखो परमात्मा यहाँ है और परमात्मा अनुभवरूप है और परमात्मा परम प्रिय रूप हैं और अद्वितीय है, वही-वही है, दूसरा नहीं। परमात्मा है। परमात्मा ज्ञान है—अनुभव है, परमात्मा प्रिय है और परमात्मा अपरिच्छिन्न है, परमात्माके सिवाय दूसरी कोई वस्तु नहीं है। मैं और यह जगत् जुदा-जुदा नहीं है, परमात्मा और मैं जुदा-जुदा नहीं है, मैं और तुम जुदा-जुदा नहीं है। मैं और वह जुदा-जुदा नहीं है। लेकिन पहचाना हुआ नहीं है, इसलिए मालूम पड़ता है 'मैं'-'तुम' जुदा। 'मैं'-'वह' जुदा। 'मैं' 'यह' जुदा। 'यह'-'यह' जुदा। 'यह', 'मैं' जुदा। 'मैं', 'मैं' जुदा। यह

जुदाका जो भूत है यह जैसे भूत न होवे और कोई भूतकी कल्पना करके डरे-ऐसे केवल अन्यकी कल्पना करके डर होता है।

तो अब इसमें बड़ा भारी आश्चर्य बताया हुआ है। बोले—भीतर सूर्य चमक रहा है और बाहर भी सूर्य चमक रहा है, तो बीचमें यह सूर्यको दो बतानेवाला, भीतर और बाहर बनानेवाला कौन है! देखो आकाश दीवारके भीतर भी और आकाश दीवारके बाहर भी है। पर यह आकाशमें घरका और बाहरका भेद बनानेवाला कौन? कि दीवार। तो यह भीतर भी आत्मा-परमात्मा बाहर भी परमात्मा, यह बाहरी-भीतरकी दीवार किसने बनाया? इसीको बोलते हैं देहात्मभ्रम। देहको मैं मान बैठनेकी जो भूल है, वह भूल ही आत्मा और परमात्माको जुदा-जुदा करती है।

तो उस प्रसंगमें यह यहाँ निरूपण है, वह अद्‌भुत ही है। अद्‌भुत माने नित्य परिवर्तनशील आश्चर्य। यह 'अद्' माने होता है नित्य परिवर्तनशील। और 'भुत' माने होता है आश्चर्य। यह 'भू' धातुसे भूतच्च प्रत्यय होकर 'अद्‌भुतं' शब्द बनता है।

अद्‌भुत है। क्या अद्‌भुत है? कि देखो बाहर दूसरी चीज है, उसके आदि परमात्मा, उसके मध्य परमात्मा और उसके अन्त परमात्मा और भीतर जो चीज है—आत्मा, सो परमात्मा।

यह बताया जा रहा है, आप ध्यान देकर देखो, यह कह रहे हैं कि जैसे बाहर तुम्हारे भूत है, धरती है। धरती भूत है। तो धरतीके पहले जब धरती नहीं थी, तब मैं था और धरतीके अन्तमें, जब धरती नहीं रहेगी, तब मैं रहूँगा और धरतीके मध्यमें जो धरती भास रही है, सो मैं हूँ।

ऐसे पानीके आदिमें मैं, मध्यमें मैं, पानीके अन्तमें मैं, पानी मैं। आगके आदिमें मैं, आगके अन्तमें मैं, आगके मध्यमें मैं। वायुके आदिमें मैं, मध्यमें मैं, अन्तमें मैं, आकाशके आदिमें मैं, मध्यमें मैं, अन्तमें मैं। और समझो कि सम्पूर्ण पंचभूत-कारण सहित अहंकार महत्तत्त्व, अव्याकृत तत्त्व, इसके आदिमें मैं, अन्तमें मैं, और मध्यमें मैं। तो समग्र सृष्टिके आदि, मध्य, अन्तमें भगवान्—परमात्मा। माने परमात्माके सिवाय कोई भूत नहीं और आत्मा स्वयं भगवान्।

अब बोले—आत्मा भी भगवान्, पंचभूत भी भगवान्! तो भूतमें जो दूसरा मालूम पड़ता है, सो क्या? यह कहाँसे भेद आ गया? बस, बस, वही समझने लायक है।

देखो शरीरकी दृष्टिसे मैं भी मनुष्य और तुम भी मनुष्य, पर यह छोटा और यह बड़ा, यह भेद कहाँसे आया? मनुष्य मनुष्य तो दोनों हैं न! यह मनसे आया। अच्छा, दो आदमी सामने बैठे हैं, यह भी मनुष्य, वह भी मनुष्य, फिर यह शत्रु और यह मित्र, यह भेद कहाँसे आया? यह मनीरामका खेल है। अच्छा! दो गाय, दो मोटर खड़ी हैं सामने, गाय गाय बराबर, मोटर मोटर बराबर, यह मेरी मोटर, यह तेरी मोटर, यह भेद कहाँसे आया? यह मनसे आया। इसीको बोलते हैं, यह मन जिसको बोलते हैं, इसका नाम यहाँ बताया है आशय।

देखो, एक है आशय। आशय माने अन्तःकरण, मन। इनका यह 'आशय' है। इनका यह आशय है। तो मैं भी परमात्मा और तुम भी परमात्मा, मैं और तुममें भेद किसने किया? इसी 'आशय'ने। ये महाशयजी जो बैठ गये बीचमें, ये ही झगड़ा लगा रहे हैं।

तद्दूरे तद्वन्तिके। तदन्तरस्य सर्वस्य तदु सर्वस्य बाह्यतः। ईशा. 4,5

उपनिषद्में कहा कि सबके भीतर वही, सबके बाहर वही। ईशावास्योपनिषद्में रोज आप पाठ करते हैं। उधर कठोपनिषद्में भी यही बताया—**स बाह्याभ्यन्तरोह्यजः**—बाहर और आभ्यन्तर दोनों अजन्मा ब्रह्म है। **यदिहास्ति तद्मुत्र**—जो यहाँ है वही वहाँ है जो भीतर है सो बाहर है, जो प्रत्यक्ष है सो परोक्ष है। जो कार्य है सो कारण है। जो दृश्य है सो द्रष्टा है। यह बीचमें भेद किसने बनाया? बोले—'आशय'ने।

तो 'आशय' माने क्या होता है? परमात्मामें, यह आशय बीचमें कहाँसे टपक पड़ा? जब सपना देखते हैं, तब द्रष्टा परमात्मा है और जो सपनेमें दृश्य है सो भी परमात्मा है। आत्मा ही तो है वह भी, अपनेसे भिन्न कहाँ है! लेकिन उसमें भेद बना क्यों? एक शत्रु और एक मित्र है, वह किसने बनाया? वह जाग्रत-कालमें जैसा संस्कार पड़ा हुआ है, उसके अनुसार स्वप्नमें जो पुतले फुरे; पुतले बने नहीं। केवल फुरनामें दो पुतले फुरे, और एकमें शत्रु-भाव होगया एकमें मित्रभाव होगया। यह क्या है? यही आशय है। इसीका नाम आशय है।

इसको उपनिषद्में बहुत अच्छे ढंगसे समझाया गया है— **तं विद्या कर्मणि समन्वारभते च पूर्व प्रज्ञा च।** पहले जैसी बुद्धि होती है, जैसा कर्म होता है, जैसी विद्या होती है, अविद्याके अन्तर्गत। अविद्याके अन्तर्गत जैसी विद्या, अविद्याके अन्तर्गत जैसा कर्म और अविद्याके अन्तर्गत जैसी पूर्वप्रज्ञा-पूर्वाग्रह, पूर्वग्रह; पहले मान लिया। जो पूँछ बाँधे छोटी-सी सो हमारी जातिका और जो पूँछ न बाँधे सो

हभारी जातिका नहीं। जो चोटी रखे सो हमारी जातिका, जो न रखे सो हमारी जातिका नहीं। ऐसा हुआ। अच्छा उनको छोड़ दो। जो खड़ा तिलक लगावे, सो हमारे वर्गका, और जो पड़ा तिलक लगावे सो हमारे वर्गका नहीं। यह क्या है? इसीका नाम पूर्वग्रह है।

अब एक शैवने सपना देखा, तो उसमें वैष्णव दीख गया। बोले—राम राम, कठमलिया मिल गया, आज असगुन होगया। और महाराज एक वैष्णवको शैव दिख गया सपनेमें, बोले—यह लिंगोपासक, भस्मधारी, राम-राम। यह क्या हुआ? शरीरमें राख पोतना, राम राम। यद्यपि वैज्ञानिक ढंगसे जो राख बनकर आती है, उसको आजकल बड़े सभ्य लोग लगाते हैं। यह पाउडर क्या है? राख ही तो है न! वह जरा मशीनसे बनती है। हमारे महात्मा लोग जो हैं भोले-भाले; लेकिन वे भी बड़े ढंगसे बनाते हैं। बेलपत्र स्वच्छ करके, शंकरजीपर चढ़ाकर सुखाकर और दूधमें पकाकर अत्यन्त निर्मल, पाउडरसे बढ़िया बनाते हैं। आप लोग जब भभूत लगाकर साधु लोग आयें तो जरा देखना, कैसा चमकते हैं। पाउडरसे कम थोड़े ही चमकता है उनका शरीर? तब बोले—अरे राम राम ये भस्मधारी। बोले—यह खड़ा तिलक, कठमलिया! अच्छा यह बात बताओ, दोनों मनुष्य और दोनों ईश्वरका भजन करते हैं और दोनों सन्मार्गपर चलते हैं, यह कठमलियाको दुश्मन किसने बनाया और भस्मधारीको दुश्मन किसने बनाया? बाहर परमात्मा, भीतर परमात्मा; यह दुश्मन बनानेवाला बीचमें कौन आगया?

तो देखो जैसी किताबें पढ़ीं, जैसी जिद अपने दिलमें बैठायी और जैसा संग किया, वैसा रंग अपनी बुद्धिपर चढ़ गया। यह दोस्त और यह दुश्मन।

हमको याद है, पहले हम जब सफेद कपड़ा पहनते थे, तो वृन्दावन आते, राधावल्लभ सम्प्रदायके आचार्य हाथ पकड़कर हमको ऊपर ले जाते, वहाँ राधावल्लभजीके ऊपर और आदरसे बैठाकर हमसे खूब रसकी चर्चा करते, वृन्दावनी प्रेमकी। हमारे माताजीके गुरु थे वैष्णवाचार्य। तो वे आदरसे पूजन कराते, प्रसाद पवाते अपने यहाँ बैठा कर। जब मैं गेरुआ कपड़ा पहन कर आया, तो वही राधावल्लभ सम्प्रदायके आचार्य, आँख उठाकर हमारी तरफ देखे नहीं, हमसे बात नहीं की और वही रामानुज सम्प्रदायके आचार्य जो हमारी माताजीके गुरु थे हमको मालूम हुआ बादमें, प्रसाद तो पवाया उन्होंने, लेकिन जिस धरतीपर मैं बैठा था, उस धरतीको भी धुलवाया उन्होंने।

अच्छा बताओ ऐसी कौन-सी खामी आगयी, ऐसी कौन-सी खराबी

बाहरवाले परमात्मामें आगयी उनकी आत्मा बदल गयी कि मेरी आत्मा बदल गयी? मन बदल गया न! यह दुनियामें चीज तो ज्यों-की-त्यों है और आदमीका जो आशय है, वह बदलता रहता है। अपने आशयके परिवर्तनसे, यह धर्माधर्मके बारेमें भी बड़ी विलक्षण धारणा है। हम तो समझो, पहले ऐसे घेरेमें रहे हैं कि अपनी जातिके जो ब्राह्मण थे, उनके यहाँ भी जबतक सम्बन्ध न हो तबतक भोजन नहीं करते थे। सम्बन्ध हो, तभी उनके यहाँ भोजन करते थे। हमारे वही जाति, वही पाँति, वही गोत्र; कल ब्याह हो सकता है, परन्तु ब्याह होनेके बाद उनके घर खा सकते हैं, पहले उनके घर नहीं खा सकते।

अच्छा, कितना गोत्र जात-पाँत देखकर ब्याह होवे तो पवित्र! और, जब मथुरामें आया तो देखा बाबा वहाँ तो चौबे लोगोंमें इतना पास-पास ब्याह होता है कि उसकी चर्चा करना ठीक नहीं है। सगोत्र नहीं, सपिंड विवाह होता है, सपिंड नहीं, सपिंडसे निकट भी विवाह होता है। यह तो अलग-अलग धारण हुई! मद्रासमें देखा लोग शौचसे लौटकर हाथ धोना पसन्द नहीं करते हैं। इधर सौराष्ट्रमें गुजरातमें आने पर देखा कि लोग पानी पीनेके बाद पात्रको धोना पसन्द नहीं करते हैं। अब यह कहो कि बनारसवाले गुजरात वालोंसे दुश्मनी करें और गुजरातवाले मद्रासवालोंसे दुश्मनी करें और बंगालके लोग महाराज, बिल्कुल चलती-फिरती, पानीमें हिलती-डोलती जो मछली होती हैं, बंगाली, मैथिल, और उड़िया सभी खाते हैं। राजस्थानमें देखो चामका पानी पीते हैं। अब सबको सब पसन्द कैसे होगा? बोले—राजस्थानी हमको पसंद नहीं, क्योंकि वह चामका पानी पीता है। गुजराती सौराष्ट्रका हमको पसन्द नहीं क्योंकि वह पात्रकी सफाई पसन्द नहीं करता है, मद्रासी हमको पसन्द नहीं क्योंकि उनका शौचाचार जुदा है और उनको हम पसन्द नहीं क्योंकि हम दाढ़ी-मूँछ रखते हैं। तो अगर केवल इसी बातसे लोगोंमें राग-द्वेष होवे रहन-सहनके फर्कसे, संस्कारके फर्कसे, सम्प्रदायके फर्कसे, पूजाके फर्कसे, अगर परमात्मामें फर्क हो जाता हो तो सब ऊपरी बातें हैं। इसीका नाम 'आशय' है। तो राग-द्वेषसे भरा जिनका आशय होता है, एक ऐसा ज्ञान है, एक ऐसा आनन्द है, एक ऐसी अद्वितीय वस्तु है जिसका नाम परमात्मा है। तो यह बाहर भीतरका जो भेद है—सब आशय भेद है।

अहमादिश्च मध्यं च भूतानामन्त एव च।

विशेषताको छोड़ो तो सामान्यके रूपमें परमात्मा है। विशेषता जो है वह अभिमान है। देखो, हम विद्वान् हैं इसलिए हमारी आत्मा दूसरी और यह मूर्ख है

इसलिए इसकी आत्मा दूसरी! तो मूर्खताके कारण इसकी आत्माको दूसरी समझना; विद्वान्के भी आत्मा है। मूर्खके शरीरमें जो पंचभूत हैं, वही विद्वान्के शरीरमें भी पंचभूत हैं। अपने मनमें इससे बढ़करके आशयको पवित्र करने वाला और कोई ज्ञान नहीं हो सकता।

नहि ज्ञानेन सदृशं पवित्रमिह विद्यते।

ज्ञानके समान पवित्र और कोई वस्तु नहीं है! सबकी रहनी जुदा-जुदा होती है, यह बात ध्यानमें रखना।

संसारमें समस्या असलमें क्या है? कि जिसको जो पसन्द आता है, वह चाहता है कि दूसरा भी वैसे रहे। यही, एक ही समस्या है दुनियामें। मुसलमान कहता है सब मुसलमानकी तरह रहें। हिन्दू चाहता है सब हिन्दूकी तरह रहें। घरमें एक आदमीको, स्त्रीको ख्याल होता है कि पुरुष हमारे मनसे रहे और पुरुषको ख्याल होता है स्त्री हमारे मनसे रहे। माँ-बापको ख्याल होता है बेटा हमारे मनसे रहे, बेटाको ख्याल होता है कि माँ-बाप हमारे मनसे रहें। यही समस्या सृष्टिमें संघर्षकी है, अपनेको मनवाला मानना और दूसरेको बेमनका मानना।

अरे भाई जैसे तुम्हारे मन है, वैसे उसका भी मन है और अपने-अपने संस्कारके अनुसार सब चल रहे हैं और परमात्मा? तुम्हारी आत्माका नाम परमात्मा है, उसकी आत्माका नाम परमात्मा है और समूची सृष्टिका नाम परमात्मा है। गड़बड़ न बाहर है न भीतर, गड़बड़ न आत्मामें है न सृष्टिमें है, गड़बड़ कहाँ है? मनमें। इसीसे ये महात्मा लोग मनको ही ठीक करनेका उपदेश करते हैं। मिट्टी अशुद्ध नहीं होती, मन अशुद्ध होता है। आत्मा अशुद्ध नहीं होती, मन अशुद्ध होता है। मन अगर ठीक हो गया, तो सब ठीक हो गया।

अच्छा अब आओ, पंचमहाभूतके बारेमें जरा सोचना है, क्योंकि आत्मा तो सबको मालूम नहीं पड़ती! वैसे भी बिना आत्माके मालूम पड़े कुछ मालूम नहीं पड़ता। यह सिद्धान्त है। जब मैं होगा तभी मुझको कुछ न कुछ मालूम पड़ेगा, मैं नहीं होगा तो किसको मालूम पड़ेगा? लेकिन सबको साक्षात् अपरोक्ष मैंका नहीं होता है, यह ब्रह्म है, यह नित्य-शुद्ध-बुद्ध-मुक्त है, यह सच्चिदानन्द है।

दुनिया सबको मालूम पड़ती है। तो देखो यह दुनिया क्या है! इसके आदिमें क्या है, इसके मध्यमें क्या है, इसके अन्तमें क्या है? श्रीशुकदेवजी महाराज कहते हैं कि—

न यत्पुरस्तादुत यन्न पश्चान्मध्ये च तन्न व्यपदेशमात्रम्। 11.28.21

जो चीज शुरूमें नहीं थी, और आखिरमें नहीं रहेगी वह चीज बीचमें भी नहीं है, केवल नाम बदल गया।

आप समझो कि जैसे पहले घड़ा नहीं था, मिट्टी थी और जब घड़ा फूट जायेगा, तब क्या रहेगा? मिट्टी रहेगी, तो आदिमें मिट्टी, अन्तमें मिट्टी, तो बीचमें जब घड़ा है, वह भी मिट्टीके सिवाय और कुछ नहीं बना। बोले—क्यों नहीं बना! हम घड़ेमें पानी भरकर लाते हैं। अच्छा मिट्टीके अलावा अगर घड़ा कुछ और बन गया है, तो हमारी मिट्टी तौलके वापिस कर दो और तुम अपना घड़ा रख लो। मिट्टी वापिस कर दो तो घड़ा रहेगा? तो यह दुनिया जो बनी है, यह जो दुनिया दिख रही है 'मैं', 'तुम', 'यह', 'वह', यह धरती, पानी आग, हवा, आकाश— यह जो पंचभूतकी सृष्टि है, यह शुरू-शुरूमें यह नहीं थी, परमात्मा था और अन्तमें यह नहीं रहेगी परमात्मा रहेगा। तो बीचमें-से अगर हम कहें कि तुम हमारा परमात्मा लौटा दो और अपनी सृष्टि रख लो, तो सृष्टिकी दशा क्या होगी? जैसी घड़ेकी। इसका मतलब यह हुआ कि यह सृष्टि परमात्मासे अलग सत्य नहीं है। इसका आकार, इसका विकार, इसका संस्कार, इसका प्रकार यह सब परमात्मामें ही है, जैसे सपनेमें मन सारी दुनिया बना लेता है ऐसे ही यह खचित है।

तो शुकदेवजीने दो युक्ति बतायी—

भूतं प्रसिद्धं च परेण यद् यद् तदेव तत् स्यादिति मे मनीषा। 11.28.21 मेरा यह निश्चय है कि जिस उपादानसे जो चीज बनती है और जिस रोशनीमें जो चीज, दीखती है, जैसे सिनेमामें जो चित्र दिखते हैं, वह रोशनीमें भरी हुई फिल्मके सिवाय और कुछ नहीं है। इसी प्रकार जो यह प्रपंच दिखायी पड़ रहा है, यह रोशनीमें भरी हुई, ज्ञानमें भरे हुए फिल्मके सिवाय और कुछ नहीं है।

तो शुकदेवजीने कैसे कहा? कि श्रुतिके अनुसार कहा। श्रुतिने कहा—**न यदिदमग्र आस न भविष्यदतो निधनादनुमितमन्तरा त्वयि विभाति मृषैकरसे**—अरे यह दुनिया तो पहले थी ही नहीं। और आगे यह रहनेवाली नहीं है, 'अन्तरामितमति'— बीचमें यह मालूम पड़ती हुई भी परमात्माके स्वरूपमें बिल्कुल झूठी मालूम पड़ रही हैं। श्रुतिने कहा कि परमात्माके सिवाय यह सृष्टि नहीं है।

श्रीशुकदेवजीके शिष्य गौड़ पादाचार्य कहते हैं—**आदावन्ते तु यन्नास्ति वर्तमानेऽपि तत्तथा**—जो चीज आदि और अन्तमें नहीं रहती है, जैसे सपना सोनेके पहले नहीं था और जागनेके बाद नहीं है—'आदावन्ते तु यन्नास्ति', तो वर्तमानमें जिस समय वह सपना दिखता है, उस समय भी नहीं है।

यह वर्णन किया जाता है कि ईश्वरसे सृष्टि हुई, ईश्वरमें सृष्टि है, ईश्वरमें सृष्टि लीन हो जायेगी, ऐसे वर्णन करते हैं न! असलमें यह नहीं बताते हैं कि ईश्वरसे सृष्टि पैदा हुई, यह कार्य-कारण भाव है, या ईश्वरमें सृष्टि है, इसका अर्थ यह नहीं है कि आश्रय-आश्रयी भाव है, आश्रय-आश्रित भाव है। सृष्टि आश्रित है और परमात्मा आश्रय है। परमात्मा कारण है, सृष्टि कार्य है, जगत् विनाशी है और परमात्मामें लीन होता है।

बोले—नहीं, यह बतानेमें तात्पर्य नहीं है। बतानेमें तात्पर्य यह है कि परमात्माके सिवाय दूसरा कोई है ही नहीं। तो देखो दो साधना अबतक बतायी। यह नम्बरवार है। नम्बरवार क्या है? कि पहला चिन्तन तो यह है कि सबका मैं, एक मैं है परमात्मा। और परमात्मा ही परमात्मा है। यह पहला चिन्तन है। परमात्माका चिन्तन करना हो तो ऐसे चिन्तन है। परमात्माका चिन्तन करना हो तो ऐसे चिन्तन करना। सबका मैं, मैं, मैं एक मैं। मैं+मैं+मैं बराबर मैं!

अब दूसरा चिन्तन यह बताया कि आदि, मध्य, अन्त जो सृष्टिका दिखायी पड़ता है, वह परमात्मा। माने दूसरा चिन्तन यह हुआ कि यह समग्र प्रपंच भी परमात्मा।

या तो यह ध्यान करो कि मैं ब्रह्म। यह पहला अर्थ हुआ। पहली अर्द्धालीका अर्थ हुआ यह चिन्तन करो कि मैं ब्रह्म हूँ। मैं ही मैं हूँ। मेरे सिवाय और कुछ नहीं। और, दूसरा चिन्तन यह हुआ कि सृष्टिका आदि, मध्य, अन्त परमात्मा है, परमात्माके सिवाय सृष्टि है नहीं। पहलेमें त्वं पदार्थ और तत्पदार्थकी एकता है और दूसरेमें तत्पदार्थसे सृष्टिका अभेद है।

अब तीसरा चिन्तन देखो। यह अर्जुनने प्रश्न किया—**केषु केषु च भावेषु?** अब बोले—**आदित्यानामहं विष्णुः** यह तीसरा चिन्तन है। परमात्माका ध्यान कैसे करना।

तो देखो कुछ अदितिके पुत्र हैं। एक होती है दिति और एक होती है अदिति। दिति उसको कहते हैं जो टुकड़े-टुकड़े करे 'द्यति इति दिति द्यौ-अवखण्डने'—जो चीजको टुकड़े टुकड़े कर दे, उसका नाम है दिति, और अदिति जो किसीको अलग-अलग न करे, खण्ड-खण्ड न करे। मिलानकी जो विद्या है वह अदिति है और फूट डालनेकी विद्या दिति है। अदिति देवताओंकी माता है और दिति दैत्योंकी माता है।

अब जरा माँकी ओर चलो। ये आदित्य हैं तुम्हारे शरीरमें; कौनसे? आँख

एक देवता है इसलिए एक माँ है तुम्हारे हृदयमें भला! यह कान एक देवता है, इसकी माँ है तुम्हारे हृदयमें। जीभ एक देवता है, नाक एक देवता है, इनकी माता तुम्हारे हृदयमें है।

समझ लो कि दस इन्द्रियाँ और मन और बुद्धि—ये बारह देवता हैं और बारहों देवताकी माता अदिति है—अभेद-विद्या और ये सब आदित्य हैं। इन बारहोंमें जो बुद्धिमें बैठे हुए वासुदेव हैं, विष्णु, उनका चिन्तन करो। यह दहरविद्या हुई।

पहली विद्या यह है कि परमात्मा ही परमात्मा है दूसरी विद्या है कि जगत् नामकी कोई वस्तु नहीं है। तीसरी विद्या यह है कि अपने हृदयमें वामनका ध्यान करो। यहाँ विष्णु माने वामन है। अदितिके पुत्र वामन हैं—**आदित्यानामहं विष्णुः**। अदितिके जितने बेटे हैं उनमें भगवान् कौन हैं? बोले—वामन।

वामन माने छोटे भगवान् हैं। इसका मतलब यह हुआ कि जो बड़े भगवान् थे, स्वयं प्रकाश ब्रह्म, उनका चिन्तन। उसके बाद जगत्के अत्यन्ताभावसे उपलक्षित जो ब्रह्म, उसका चिन्तन। माने बाधक प्रक्रियासे प्रथम चिन्तन, लय प्रक्रियासे द्वितीय चिन्तन और दहर विद्याकी रीतिसे तृतीय चिन्तन। सम्पूर्ण इन्द्रियोंकी ये शाखाएँ फैलती हैं। यह अदिति एक अभेद बुद्धि है भीतर! उसमें-से ये सब निकलती हैं और वहाँ कौन है कि वहाँ बुद्धिके भीतर वामन भगवान् बैठे हैं। वेदमें इसका वर्णन है—

ऊर्ध्वं अपानं गच्छति मध्ये वामनमासीनं विश्वे देवता उपासते। ऊर्ध्वं प्राणान् उन्नयति अपानं प्रत्यगच्छति।

यह साँस चलती है, आपको यह भेद तो मालूम ही है कि साँस नाकमें-से भीतर, मुँहमें-से होकर भीतर जाती है और फिर ऊपरको ही निकल आती है। यह अगर नीचे निकल जाये, तो आदमी मर जायेगा। अच्छा जो अपान वायु नीचे निकलती है, वह अगर ऊपर निकले तो आदमी मर जाये। प्राण और अपान अलग-अलग जबतक रहते हैं, तबतक शरीर जिन्दा रहता है और प्राण-अपान जब मिल जाते हैं तो मृत्यु हो जाती है। संसारी आदमी जब मरता है, उसका प्राण अपानमें मिल जाता है। मरते समय गुदाके रास्तेसे, मूत्रेन्द्रियके रास्तेसे उनके प्राण निकलते हैं। जो साधक होते हैं उनका अपान प्राणमें मिल जाता है, तो उनका प्राण मुँहसे निकलता है, नाकसे निकलता है, कानसे निकलता है, आँखसे निकलता है। सिर फटकर निकलता है। एक ओर प्राण

चल रहा है और एक ओर अपान चल रहा है। जहाँ प्राण और अपानकी सन्धि है वहाँ एक चैतन्य है छोटा-सा, वामन चैतन्य उसको बोलते हैं—**ऊर्ध्वं प्राणान् उन्नयति अपानं प्रत्यगच्छति।** नीचे जाता है अपान और ऊपर जाता है प्राण और मध्ये—दोनोंके बीचमें वामन भगवान् बैठे हैं। छोटेसे, नन्हेंसे भगवान्। श्वेताश्वतर उपनिषद्‌में पढ़ते हैं—**अंगुष्ठमात्र पुरुषः मध्ये आत्मनि तिष्ठति ईशानो भूतभव्यच्च ततो न विजुगुप्सते।**

यह भीतर, बीचमें एक वामन भगवान् हैं। वामन भगवान् देखनेमें है छोटा, लेकिन उसकी करतूत बड़ी भारी है। वामन देखनेमें छोटा और कारस्तानी उसकी जबरदस्त। वैसा ही है जैसे कोई अंगुली पकड़कर पहुँचा पकड़ ले, ऐसा ही है यह वामन। यह दिलमें नन्हा-मुन्ना बनकर आता है, देखो बलिके यज्ञमें नन्हा-सा बनकर वामन आया। और, बलिको अभिमान था, क्या अभिमान था? कि मैं त्रिलोकका स्वामी हूँ, मैं जाग्रत्, स्वप्न, सुषुप्तिका स्वामी हूँ जीवात्मा हूँ, मैं मर्त्यलोक, पाताललोक, स्वर्गलोकका स्वामी हूँ। त्रिलोकेश होनेका मद था।

अब कश्यप और अदितिका बेटा, जरा-सा वामन बनकर सभामें आया बोला—बस, जिसके तुम मालिक बने हो, वह हमको दे दो! एक पाँवमें लोक ले लिया सारा, दूसरे पाँवमें धर्मका जो फल था परलोक, सो ले लिया। लौकिक ऐश्वर्य एक पाँवमें ले लिया, धर्म भी देना पड़ता है। परमेश्वरको! क्योंकि धर्मीपनेका जबतक अहंकार रहता है, तबतक परमेश्वरके चरणोंमें ठीक-ठीक आत्मसमर्पण नहीं होता। जैसे धनीपनेका अभिमान होता है वैसे धर्मीपनेका भी अभिमान होता है। धनीपनेका अभिमान लोकमद है और धर्मीपनेका अभिमान परलोकेश्वरत्व है—स्वर्ग हमारा। भगवान्‌ने दो पाँवमें नाप लिया बोले—काहेका अभिमान? अब लाओ, तीसरे पाँवके लिए आओ!

है तो कुछ भी नहीं, फिर भी बलिने कहा कि है महाराज हमारे पास, देंगे, तीसरा पग भी देंगे, अपनी प्रतिज्ञा पूरी करेंगे! क्या है तुम्हारे पास? कुछ नहीं, ठनठनपाल। बोले—नहीं, है महाराज। अभी यह हमारा 'मैं' नाप लो तृतीय पाँवमें। यह परिच्छिन्न जो 'मैं' है, छोटा मैं, वह 'मैं' नापमें आता है न!

इसका नाम हो गया, बलि चढ़ गयी। काहेकी? लोककी, परलोककी और अभिमानकी जब उसने संकल्प किया कि हम तीनों दे देंगे, तीनों पाँव पूरा करेंगे, तब वामन वह विराट् हो गया, विश्व था वह विराट् हो गया, इसीका नाम विष्णु है।

विष्णु माने वेष्टि व्याप्नोति विष्णि व्याप्तौ। और, दूसरी धातु है विश् प्रवेशने। शंकराचार्य भगवान् दोनों धातुसे विष्णु शब्द बनाते हैं। एक तो जो सबमें व्याप्त हो और एक जो सबमें प्रविष्ट हो। देखनेमें तो वामन है। वामनका एक अर्थ है कि मालूम पड़ता है उलटा, बाँये मालूम पड़ता है कि हमारे प्रतिकूल है, दुश्मन है, हमारा लोक छीन रहा है, हमारा परलोक छीन रहा है, हमारा धन छीन रहा है हमारा धर्म छीन रहा है। मालूम पड़ता है उलटा, वामन है न! प्रतिकूल मालूम पड़ता है, बलि ले लेता है देनेवालेकी। देखो इतना कृतघ्न और कौन होगा कि देनेवालेको पुष्ट नहीं करता है, देनेवालेका गला काटता है। बलि दे दिया। तो जब बलिके अहंकारका दान हो गया, तब क्या हुआ कि यह वामन जो थे, विष्णु थे, वे बलिके सेवक हो गये।

यह है बलिका बड़प्पन! देखो, ईश्वर बलिका सेवक। लेकिन पहले धन ले लिया, धर्म ले लिया और अहं ले लिया, तीनों ले लिया, तब! तो इसलिए प्रितिय चिन्तन क्या है—

दहर पुंडरीक वेश्म—यह हृदयमें बैठकर बुद्धि और मनके द्वारा अपनी किरणोंको फैलाते हैं और दस इन्द्रियाँ जो हैं, पाँच कर्मात्मक और पाँच ज्ञानात्मक अपनी किरणोंको फैलाती हैं, ये हैं द्वादशादित्य। अदिति बुद्धि और मनको अपने पेटमें लेकर बैठी है। उस अदितिमें नन्हेंसे भगवान्! प्राण और अपानकी सन्धिमें नन्हें-से परमात्माका ज्ञान होता है, अणु परिणाम परमात्माका ध्यान होता है, अंगुष्ठ-परिमाण परमात्माका ध्यान होता है, प्रादेशमात्र परमात्माका ध्यान होता है, नन्हें-मुन्ने भगवान् जब हृदयमें आते हैं, तो धनीपना, धर्मीपना और अहंपना—तीनोंको अपने पाँवके नीचे नाप लेते हैं और स्वयं सेवक होकर रह जाते हैं। तो—**आदित्यानामहं विष्णुः**। उस रूपमें चिन्तन करना। हृद्देशस्थ विष्णुके रूपमें हमारा चिन्तन करना। यह दहर विद्या है भला!

अब आगे सुनावेंगे आपको—

ज्योतिषां रविरंशुमान्।

अहमात्मा गुडाकेश सर्वभूताशयस्थितः।
अहमादिश्च मध्यं च भूतानामन्त एव च॥ 20॥
आदित्यानामहं विष्णुर्ज्योतिषां रविरंशुमान्।
मरीचिर्मरुतामस्मि नक्षत्राणामहं शशी॥ 21॥

अहमात्मा गुडाकेश—अर्जुनका प्रश्न था कि किन-किन विशेष वस्तुओंमें आपका चिन्तन करें? पहले आपको बताया था एक असंभूति, एक संभूति और एक विभूति है। योगाभ्याससे असंभूति, कर्मयोगसे संभूति और उपासना योगसे विभूति। भगवान्‌के वैभवका चिन्तन करनेसे उपासना होती है और सम्पूर्ण सृष्टिके रूपमें परमात्माका चिन्तन करनेसे कर्मयोग होता है और कारणावस्थाका चिन्तन करनेसे समाधि लगती है। उसके बाद यह बात आयी कि अब भगवान् बतावेंगे अपनी विभूति। विभूतिमें अलग-अलग बताते हैं अपनेको, जैसे वेदोंमें मैं सामवेद हूँ, स्थावरोंमें मैं हिमालय हूँ, वृक्षोंमें अश्वत्थ हूँ, तो अलग-अलग चीजका नाम लेकर अपनेको बताते हैं। जब एकका विधान किया जाता है तो दूसरेका निषेध हो जाता है। अगर यहाँ बैठे हुए लोगोंमें-से किसी एकके लिए कह दिया जाये कि ये हमारे सम्बन्धी हैं, उसका मतलब हो जाता है कि दूसरे सम्बन्धी नहीं हैं। ईश्वरके बारेमें, परमात्माके बारेमें यह बात नहीं है। वह तो एक-एक नाम लेनेपर भी सबमें होता है। एकका विधान अन्य योगका व्यवच्छेदक न हो जाये, एक नाम लेकर परमात्मा अपनेको बतावे, तो दूसरा परमात्मा नहीं है, ऐसा न समझमें आवे, इसके लिए पारमार्थिक स्वरूप बता देना भी आवश्यक होता है। तो पारमार्थिक स्वरूप क्या है? तो—

अहमात्मा गुडाकेश सर्वभूताशयस्थितः।

यह बात है। देश, काल, वस्तुसे अपरिच्छिन्न, सजातीय-विजातीय, स्वगत-भेदसे शून्य प्रत्यक्‌चैतन्याभिन्न ब्रह्म मैं हूँ। मेरे सिवाय दूसरा कुछ नहीं, अपनेको ब्रह्म जाननेपर प्रपंचका बाध हो जाता है—यह पहला चिन्तन है। एक नम्बरका।

दूसरे नम्बरका चिन्तन यह बताया कि आत्माको तो ब्रह्म बता रहे हैं, ब्रह्मको आत्मा बता रहे हैं, दूसरी कोई चीज नहीं है, ऐसा बता रहे! ये जो भूत दिखायी पड़ रहे—प्राणी और ये मिट्टी, पानी आदि पदार्थ, ये क्या हैं? यह दूसरे नम्बरका चिन्तन हुआ। जिसके मनमें यह शंका हुई कि यह जगत् क्या है? अपनेको ब्रह्म जाननेसे द्वैतकाल ही बाधित हो गया, नितान्त जिसके, उसके लिए तो यह प्रश्न ही नहीं है, परन्तु जिसके मनमें यह प्रश्न रहा कि मैं तो ब्रह्म और यह जगत् क्या है, तो उसके लिए बताया कि यह जगत्का मूल कारण ब्रह्म और ब्रह्म मुझसे अलग नहीं, ऐसे चिन्तन करना चाहिए, जिसके कार्यका कारणमें लय हो जाये मिट्टी, पानी, आग, हवा, आसमान, तामस अहंकार, राजस अहंकार, वैकारिक अहंकार, महत्तत्त्व, अव्याकृत जिसमें डूबे हुए हैं, वह जो सर्वाधिष्ठान स्वयं-प्रकाश वस्तु है, मैं हूँ।

सृष्टिका पहले परमात्मामें लय कर दो, फिर परमात्माके अभेदका चिन्तन करो, इससे नतीजा यह निकलेगा कि परमात्माके सिवाय दूसरा कोई नहीं है। पहले नीचेसे ऊपर सोचते हुए वहीं गये थे, ऊपर जाकर बैठ गये अपनी गद्दीपर और कह दिया कहीं कुछ नहीं और असली क्या हुआ? जो कुछ मालूम पड़ता है, उस सबको लीन करते हुए क्रमसे कार्यका कारणमें लय करते हुए परमात्मामें पहुँचे और बोले—जो मैं सो परमात्मा। प्रत्यक्चैतन्यसे मानो मैं-से अभिन्न ईश्वर और ईश्वरसे अभिन्न प्रपंच, इसलिए प्रपंच भी मुझसे अभिन्न। मुझसे अभिन्न परमात्मा और परमात्मासे अभिन्न प्रपंच, परमात्माके लिए प्रपंच प्रकट होता है, उसीमें लीन होता है, उसीमें स्थित है, तो—

अहमादिश्च मध्यं च भूतानामन्त एव च।

ये जितने भूत हैं इनका आदि, मध्य, अन्त मैं हूँ, ये परमात्मामें पैदा हुए, परमात्मामें दीख रहे हैं, परमात्मामें लीन हो जायेंगे, इसलिए इनकी उत्पत्ति, स्थिति और प्रलयका जो स्थान है और प्रकाशक है, वह है परमात्मा और वह है मुझसे अभिन्न। मेरे सिवाय न जीव है, न जगत् है, न ईश्वर है। यह स्वरूप ज्ञानसे जो सर्वका बाध है वह प्रथम प्रक्रिया है और जगत्के कारणभूत ईश्वरसे जो अपना अभेद है, वह अभेद हो करके जगत्का अपनेसे भिन्न न होना, यह दूसरी प्रक्रिया है, इसको लय-प्रक्रिया बोलते हैं।

अब तीसरी बात यह बोले कि ये वेदान्तकी दोनों प्रक्रियाएँ छोड़ो, तीसरी लो। वह क्या है? कि **आदित्यानामहं विष्णुः**। यह जितनी सृष्टि है, वह सब

आदित्य है, कश्यप और अदितिके संयोगसे ही सारी सृष्टि होती है, यह कल आपको सुनाया था। कश्यप कहते हैं पश्यकको। **कश्यपः कस्मात्** कश्यपको कश्यप क्यों कहते हैं? **पश्यति इति। पश्यक एव कश्यपो भवति।** पश्यकको ही जब उलटते हैं तो कश्यप हो जाता है। माने अध्यात्मको आत्माको जब सृष्टिके साथ सम्बन्ध करके बोलते हैं, तो उसका नाम कश्यप हो जाता है। जैसे देखो पानीके किनारे खड़े हो जाओ या शीशाके पास खड़े हो जाओ, तो पानीमें अपना शरीर उलटा मालूम पड़ेगा और शीशेमें भी उलटा मालूम पड़ता है भला! शीशाके सामने हम पूर्वमुखसे खड़े हो शीशेमें पश्चिम मुँहसे मालूम पड़ेंगे। यह जो अन्तःकरण रूप शीशा है, इसमें हम अपनेको देखते हैं। तो इसमें अपनी परछाईं दिखती है तो वह उलटी दिखती है। हम हैं द्रष्टा और परछाईं हो जाती है दृश्य। हम हैं अपरिच्छिन्न और परछाईं हो जाती है परिच्छिन्न हम हैं चेतन और परछाईं हो जाती है जड़। हम हैं आनन्दस्वरूप और परछाईं हो जाती है, दुःखद। उसीको आभास बोलते हैं।

ये जितने अन्तःकरण अलग-अलग हैं उनकी जो जीवभूता प्रकृति है उसको अदिति बोलते हैं—**न द्यति**—वह टुकड़े-टुकड़े नहीं करती है। उसमें पड़ती है कश्यपकी परछाईं। अदितिकी वृत्तियोंके भेदसे कश्यपकी परछाईं भी भिन्न-भिन्न हो जाती है, उसको आभास बोलते हैं। आभास अलग-अलग होनेपर भी उसमें व्यापक तत्त्वका चिन्तन है, उसको विष्णु बोलते हैं। विष्णु माने व्यापक, वेवेष्टि इति विष्णुः। विशति इति विष्णुः।

अदितिके बारह पुत्रोंमें, द्वादश आदित्योंमें-से अन्तिम पुत्र वामन हैं। पहले अपने हृदयमें अंगुष्ठ मात्र या अणु मात्र चिद्वस्तुका चिन्तन करो, वह वामन होकर तुम्हारे हृदयमें आवेगा। चिन्तन कहाँ करना? कि प्राण ऊपर, अपान नीचे, दोनोंकी सन्धिमें 'मध्ये वामनमासीनं विश्वेदेवा उपासते।' वह विष्णुका रूप है। और वह होकर आवेगा वामन और बन जायेगा विराट् तो वह बलिका सब कुछ बलि ले लेगा। बलि हो जायेगी। काहेकी? लोक प्रापक धनकी और परलोक प्रापक धर्मकी और अभिमानकी। तीनों पगमें तीनों बात नाप लेता है। यह आता है वामन होकर और बन जाता है यह व्यापक। तो धीरे-धीरे अपने चित्तमें व्यापकताकी कल्पना ले आना—**आदित्यानामहं विष्णुः।** यह तीसरी प्रक्रिया दहरोपासनाके नामसे प्रसिद्ध है, अपने हृदयमें परमात्माका चिन्तन करना।

ज्योतिषां रविरंशुमान्। पहलीमें विशेषता है कि परमात्माका जो स्वरूप है, वह वेदान्ती लोग सामान्यरूपसे प्रक्रियामें जिस बातको लेते हैं, उससे विलक्षण है। वेदान्ती लोग सामान्यरूपसे प्रक्रिया लेते हैं कि जाग्रत्, स्वप्न, सुषुप्तिमें ब्रह्म अनुगत है और जाग्रत् स्वप्न, सुषुप्तिसे अतिरिक्त है, व्यतिरिक्त है। इसीको अन्वय-व्यतिरेक बोलते हैं। जैसे लोहाका गोला होवे और उसमें आग घुस भी जाती है और निकल भी जाती है, ऐसे आत्मा जो है वह जाग्रत्, स्वप्न, सुषुप्तिमें घुस भी जाता है और निकल भी जाता है और सृष्टि, स्थिति, प्रलयमें प्रविष्ट होता है और निकल जाता है। यह जो सामान्य प्रक्रिया है यह वस्तुतः ब्रह्ममें नहीं है।

अव्यावृतमनुगतं—ब्रह्म किसीसे परे भी नहीं है और किसीसे व्यापक भी नहीं है। **व्याप्यव्यापकतानित्याः**—व्याप्य और व्यापक भाव तो द्वैतकी दृष्टिसे है असलमें परमात्मामें व्याप्य-व्यापक भाव भी नहीं है। तो **अव्यावृतं अनुगतं**—वह किसीके परे नहीं है व्यावृत नहीं है, किसीमें व्यतिरिक्त नहीं है और किसीमें अन्वित नहीं है और **निःसामान्य विशेषता** न उसमें जाति है न व्यक्ति है, सामान्य विशेष उसमें है ही नहीं।

ब्रह्मेति नित्यवृत्त्यैव श्रुत्या वस्तुपदिश्यते। ऐसा ब्रह्म है। तो श्रुति मुख्य वृत्तिसे माने अभिधा वृत्तिसे ब्रह्मका नाम लेकर वर्णन करती है। इसमें लक्षणा नहीं होती—**अलक्षणं**। यह ब्रह्मका स्वरूप है, उसमें व्याप्य-व्यापकता नहीं, उसमें व्याप्य-व्यापकता नहीं, उसमें अन्वय-व्यतिरेक नहीं, उसमें सामान्य-विशेष नहीं, वह परिपूर्ण अविनाशी अद्वितीय एकरस अखण्ड आत्मवस्तु है। इस अद्वितीयताके निरूपणमें लक्षणा करनेकी कोई जरूरत नहीं, आत्मा ही ब्रह्म है।

दूसरी प्रक्रिया आती है, तटस्थ लक्षणसे जब वर्णन करते हैं कि यह जो संसार दिख रहा है, इसकी उत्पत्ति, स्थिति, प्रलयका कारण ब्रह्म है। प्रलय उसमें होता है इसलिए उपादान, सृष्टिका कारण होनेसे निमित्त भी वही, अभिन्ननिमित्तोपादान विवर्ती कारण है ब्रह्ममें, यह विवर्ति-कारणत्व भी आरोपित है यह दो नम्बरकी स्थिति है। तीसरे नम्बरकी स्थिति यह है कि हृदयमें विष्णुका ध्यान करो, आत्मा कैसे व्यापक है, परमात्मा कैसे व्यापक है!

अब चौथी बात बताते हैं—**ज्योतिषां रविरंशुमान्**—ज्योतियोंमें अंशुमान रवि मैं हूँ। बारह 'सूर्य माने गये हैं शास्त्रकी रीतिसे। बारह महीनेकी उपाधिसे,

कालचक्रमें बाहर महीनेकी उपाधिसे सूर्यके भी बारह नाम हैं। उसमें बारहवाँ नाम 'अंशुमान' है। सूर्यको तब अंशुमान ही कहते। बोले—नहीं, 'रवि' इसलिए कहते हैं कि अंशुमान नामका एक राजा होगया है सगरका बेटा। असमंजस पहला बेटा और फिर अंशुमान। उसको कोई न समझे, इसलिए 'रवि' शब्द दिया और केवल 'रवि' देते तो बारहोंमें-से कौन-सा रवि, यह सिद्ध नहीं होता। तो जरा ज्योतिषां शब्दका अर्थ देखो। इसका अर्थ उपनिषद् पढ़नेवालोंके लिए बिलकुल प्रत्यक्ष है। वह क्या है? वहाँ वर्णन आता है कि ये जो हमारी इन्द्रियाँ काम करती हैं, ये सब देव हैं, ये सब ज्योति हैं। **ज्योतिषां ज्योतिः** पढ़ते ही पढ़ते हैं, ब्रह्म कैसा है? ज्योतियोंकी ज्योति है, जैसे **मनसो मनः** मनका मन है, प्राणका प्राण है, वैसे ज्योतियोंकी ज्योति है।

अनादिमत्परं ब्रह्म न सत्तन्नासद् उच्यते। 13.12
सर्वतः पाणिपादं तत् सर्वतोऽक्षिशिरोमुखं।
सर्वतः श्रुतिमल्लोके सर्वमावृत्य तिष्ठति॥ 13.13
सर्वेन्द्रियगुणाभासं सर्वेन्द्रियविवर्जितम्।
असक्तं सर्वभृच्चैव निर्गुणं गुणभोक्तृ च॥ 13.14
बहिरन्तश्च भूतानां अचरं चरमेव च।
सूक्ष्मत्वात् तदविज्ञेयं दूरस्थं चान्तिके च तत्॥ 13.15
ज्योतिषामपि तद्ज्योतिः तमसः परमुच्यते। 13.17

अब परब्रह्म परमात्माका चिन्तन कैसे करना? कि **ज्योतिषामपि तज्ज्योतिः** जितनी ज्योति हैं, ज्योति माने द्युति। यह संस्कृतमें असलमें 'द्योत' शब्द है। उसीमें पाणिनीय व्याकरणके नियमसे 'द' का 'ज' हो जाता है। तो द्योतका ही ज्योत बन जाता है 'ज्योतते इति ज्योतिः।' जो चमके उसका नाम है ज्योति। जो चमकावे उसका नाम है ज्योति।

अब दुनियामें जितनी चीजें आपको मालूम पड़ती हैं इन्द्रियोंसे मालूम पड़ती हैं। हाथसे मालूम नहीं पड़ता है, पकड़ा जाता है। पाँवसे मालूम नहीं पड़ता है, चला जाता है। गुदा इन्द्रियसे मालूम नहीं पड़ता है, छोड़ा जाता है, त्याग किया जाता है और वाणीसे बोला जाता है।

ये पाँच कर्मेन्द्रियाँ हमारे औजार हैं, जैसे किसी सैनिकके पास अस्त्र-शस्त्र हों जैसे सैनिकके पास दूरबीन-खुर्दबीन हो—दूरसे देखनेके लिए। लक्ष्यको वींधनेके लिए, औजार चाहिए और वह चीज देखनेका औजार भी होना चाहिए।

कर्मके लिए पाँच कर्मेन्द्रिय हैं और ज्ञान प्राप्तिके लिए पाँच ज्ञानेन्द्रिय हैं, इन्हींको बोलते हैं ज्योति। ये **ज्योतिषां**—बहुत सारी ज्योतियाँ हैं। गन्ध कौन-सी है, चमेलीकी है कि गुलाबकी है, यह आपको कैसे मालूम पड़ेगा? नाकसे। गन्धको किसने चमकाया? नाकने यह चीज खट्टी है कि मीठी? आँखसे देखनेपर थोड़े ही मालूम पड़ेगी? खट्टा आम कि मीठा? इसका पता लगेगा जीभपर। तो जीभने स्वादको चमका दिया। यह भैरवी है कि केदारा? कैसे मालूम पड़ेगा? कानसे। यह ज्योति है। वह ज्योति है, जो शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्धका ज्ञान देवे। अब इन ज्योतियोंमें जब परमात्माका चिन्तन करना हो, तो कहाँ चिन्तन करना? बोले—आँखमें परमात्माका चिन्तन करना। यह नेत्र जो है, यह अध्यात्म है, रूप अधिदैव है और इसमें जो अंशुमान रवि है अपनी किरणोंको फेंक-फेंक कर वस्तुका विभाग करनेवाला, उसको सूर्य बोलते हैं।

तो अंशुमानका अर्थ होता है—

अंशयति इति अंशुः। यह चिरादि धातु है **अंशः विभाजने**। जो बँटवारा करे, यह काला है, यह नीला है, यह हरा है, यह पीला है। इसका विभाग कौन करता है? आपकी आँखमें बैठकर सूर्य जो रोशनी फेंकता है, उससे विभाजन होता है, विभाग होता है। यह कैसे होता है? आत्माका कैसे चिन्तन करना? विश्वको छोड़ो, बाहर जो ग्रह नक्षत्र चन्द्रमा तारे आदि हैं उनको छोड़ो और दक्षिणमें **अक्षं वै पुरुषः**। श्रुतिमें वर्णन आता है कि आँखमें परमात्माका निवास है। इसको बोलते हैं दृष्टि। बुद्धिमें व्यापकताका चिन्तन हुआ। आत्म दृष्टिसे अद्वय, ईश्वर दृष्टिसे अद्वय, फिर बुद्धि दृष्टिसे अद्वय। अब कहते हैं कि यह विचार करो कि संसारमें जितना विभाजन होता है, यह औरत, यह मर्द, यह कैसे मालूम पड़ता है, यह कानसे नहीं मालूम पड़ेगा। आँख तुम्हारे न हो और कोई बता दे कि यह औरत है और यह मर्द है, तो कौन औरत है, कौन मर्द है—यह कैसे समझोगे? अच्छा आँख न हो तो विभाजन जो मालूम पड़ता है वस्तुओंका, यह समुद्र है यह धरती है और यह खम्भा है, यह नहीं मालूम पड़ेगा।

ज्योतिषां रविरंशुमान् नेत्र ज्योतिमें बैठकरके यह परमात्मा संसारके विभागको देख रहा है। तो अपनेको द्रष्टाके रूपमें पहचानना—यह चतुर्थ प्रक्रिया है परमात्माको पहचाननेकी। **अंशुमान**—एक-एक विभागको प्रकाशित करनेवाला जो रवि है; रवि माने गमनशील भी होता है। जो चले उसको भी रवि कहते हैं और जो आवाज करे उसको भी रवि कहते हैं। रु शब्दे भी है और 'रु' गतौ भी है।

उससे बनता है रवि। यह सूर्य बैठा है तुम्हारी आँखमें। आपको क्या सुनावें, अगर आपको मन एकाग्र करना हो, जोर नहीं लगाना, आसन बाँधकर बैठना, सिद्धासन हो, पद्मासन हो और पीठकी रीढ़ सीधी कर लेना और सिरको आगे पीछे कहीं नहीं झुकाना, आँखकी पलक हिलने न पावें, न ऊपर जायँ न नीचे, आँखकी पुतली स्थिर हो जाये, जितनी देरतक आँखकी पुतली स्थिर रहेगी, उतनी देरतक मन स्थिर रहेगा। कारण क्या है? कि यंह द्रष्टा मुख्यरूपसे दृष्टिमें निवास करता है। एक मिनटमें चाहे जब करके देख लें—आँखकी पुतली जब स्थिर होगी, तब मन स्थिर हो जायेगा। अपनेको द्रष्टाके रूपमें यदि चिन्तनं करना हो तो तत्त्वकी प्रधानतासे **अहमात्मा गुडाकेश,** सम्पूर्ण प्रपंचके लयकी दृष्टिसे **अहमादिमध्यं च,** व्यापकताकी दृष्टिसे **आदित्यानामहं विष्णुः** और द्रष्टाकी दृष्टिसे **ज्योतिषां रविरंशुमान्।**

देखो—अन्नमय कोश, प्राणमय कोश, विज्ञानमय कोश, मनोमय कोश, कोश बहुत हैं परन्तु आत्मा द्रष्टा है। जैसे घड़ेका द्रष्टा घड़ेसे न्यारा होता है। ऐसी ही सम्पूर्ण दृश्यका दृश्यसे न्यारा है। न्यारा होकर देख रहा है। आँख ही है।

एक होता है शीशा और एक होता है कैमरा, तो कैमरेमें फोटो आती है और शीशेमें फोटो नहीं आती है, पर परछाईं तो दोनोंमें पड़ती है। शीशेमें परछाईं पड़ती है; परन्तु फोटो नहीं आती है और कैमरेमें परछाईं पड़ती है और फोटो आ जाती है। इसका अर्थ है कि जब द्रष्टा आभाससे एक होकर कर्ता बनता है, तब तो फोटो ग्रहण करता है और जब वह आभासपनेको छोड़कर केवल द्रष्टा रहता है, तो देखता तो सबको है; लेकिन फोटो किसीकी नहीं लेता। द्रष्टा वह है कि जिसको दर्शनका संस्कार नहीं पड़ता और आभास वह है जिसको दर्शनका संस्कार पड़ता है। आत्मा द्रष्टा है, दाहिनी आँखकी प्रधानतासे यह बात कही जाती है। है तो बायीं आँखमें भी वही और दाहिनी आँखमें भी वही, परन्तु दोनों आँखका सूत जहाँ मिलता है, दोनों आँखमें एक-एक डोरी आती है भीतरसे। जहाँसे दो किरणकी डोरी खिंचती है एक दाहिनी आँखमें आती है एक बायीं आँखमें आती है, उसको बोलते हैं तीसरा नेत्र, तिल बोलते हैं उसको। यह दोनों तिलकी परछाईं मानो आँखमें पड़ रही है और त्रिकोण बनाओ, एक बाहर फिरे लकीर और दो भीतरकी, तो दोनों आँखकी लकीर जहाँ मिलेंगी, वहाँ तीसरा तिल है। वहाँ शिवनेत्र है—ज्ञान दृष्टि है। वहाँ द्रष्टा बनकर बैठा हुआ है। वहींसे किरणें निकलती हैं, संसारका विभाजन करती हैं। इसलिए द्रष्टाके रूपमें अपने आत्माका चिन्तन

करना अद्वितीय ब्रह्मके रूपमें, सर्वकारण परमात्माके रूपमें और व्यापक तत्त्वके रूपमें और प्रकाशक द्रष्टाके रूपमें।

अब पाँचवी प्रक्रिया बताते हैं—

मरीचिर्मरुतामस्ति नक्षत्राणामहं शशी—कहते हैं कि वायुओंमें, मरुत माने वायु, वायुओंमें मैं मरीचि हूँ। पहले आपको वायुओंकी बात बताता हूँ। वायु माने हवा—पवन। कहते हैं, देवता अदितिके पुत्र हैं और मरुत दितिके पुत्र हैं। देवता बारह हैं और मरुत उनचास हैं। इन उनचास मरुतोंका नाम आता है पुराणोंमें, कि उनचास मरुत कौन-कौनसे हैं। तो एकद ज्योति, द्विद ज्योति, त्रिक् ज्योति, चतुर्ज्योति, एक सत्र, द्विसत्र, त्रिसत्र, महाबल—ये सब इनके नाम हैं। और दूसरे प्रकारका जो नाम आता है वह ऐसे आता है कि प्राण, अपान, व्यान, उदान, समान, नाम, त्रिकल, कूर्म, देवदत्त, धनंजय, प्रभव, विभव, शंकु, सभ, पराभव—ये वायुओंके नाम हैं। ये जैसे गैस होती हैं तरह-तरहकी वैसे। पहले उनचास प्रकारकी वायु शरीरके भीतर चलनेवाली और बाहर चलनेवाली; ऐसे महात्माओंने बिना यन्त्रकी सहायताके अपने अनुभवसे जाना था। आजकलके वैज्ञानिक लोग यन्त्रोंसे हिसाब लगाकर ग्रहण कब होगा, यह बताते हैं। गणितसे बिलकुल निकल आता है। पृथिवी और सूर्यके बीचमें चन्द्रमा कब आवेगा और ग्रहण कब होगा! यह बड़े-बड़े वैज्ञानिक यन्त्र लगे हुए हैं, उनसे नाप लेते हैं, देख लेते हैं, तब उनको मालूम पड़ता है। वे इस बातसे चकित हो जाते हैं कि भारतवर्षमें तो पाँच हजार वर्षसे पहले भी लोगोंको ग्रहणके बारेमें जानकारी थी। वेदमें भी ग्रहणका वर्णन है। यह महात्माओंके पास क्या ऐसा था कि आँख बन्द करके बैठते और बता देते कि अमुक दिन अमुक समयपर ग्रहण होगा। यह भारतीय महात्माओंके पास कौन-सी विद्या थी? उन्होंने किस विज्ञानसे नापा कि द्वादशकलाका अन्तर क्या है? पन्द्रह तिथि होती हैं। तो बारह कलाका अन्तर जब सूर्य और चन्द्रमामें पड़ता है, तब एक तिथि, बदल जाती है। यह बात आजकल नापकर वैज्ञानिकोंने देखी है। और यह बात हमारे दो हजार, पाँच छ:हजार वर्ष पहलेके जो ज्योतिषके ग्रन्थ हैं, उनमें बिल्कुल ऐसे लिखी है कि सूर्य और चन्द्रमामें जब बारह कलाका अन्तर पड़ता है, तब तिथि बदल जाती है।

अब यह प्रभ वायु दूसरी होती है संभ वायु दूसरी होती है, शरीरमें फड़कनेवाली वायु दूसरी होती है, जिससे शरीर फड़कता है और यह आँख दूसरी वायु होती है और साँस दूसरो वायु होती है। अपान वायु निकलती है, यह

दूसरी वायु होती है। खूनको ढोनेवाली वायु दूसरी होती है। और, अन्नको एक जगहसे दूसरी जगह लेजानेवाली वायु दूसरी होती है। ये **मरुत** हैं। इनको मरुत बोलते हैं। यह जो दितिने विष्णु भगवान्की आराधना की थी, कहते हैं कि इससे उनके अन्दर शक्ति आ गयी है। भगवदाराधनाकी शक्ति इनके अन्दर प्रकाशित हुई है।

तो दोनों तरहसे उनचास पवन आन्तर भी हैं और बाह्य भी हैं। उनचास-उनचास प्रकारके वायु हैं, मरुत। कहते हैं कि ये मध्य अन्तरिक्षमें विचरण करते हैं इनका नाम 'मरुत' है। और शरीर मध्यमें विचरण करते हैं इसलिए भी इनका नाम मरुत है। तो परमात्माका चिन्तन करना तो कैसे करना? **केषु केषु च भावेषु?**

बोले मरुतोंमें मरीचिके रूपमें मेरा चिन्तन करना। ये जो प्राण हैं, साँस चलती हैं, तो केवल साँस ही नहीं, शरीरमें तरह-तरहके प्राणवायु हैं, अपान वायु हैं, उदान वायु हैं; मरुत तो बहुत हैं, तो इनमें परमात्माका चिन्तन कैसे करना? कि मरीचिके रूपमें करना।

अब देखो यह आश्चर्य है कि ये जो उनचास पवन हैं उनमें किसीका नाम 'मरीचि' नहीं है और जो आन्तर उनचास पवन हैं, उनमें भी किसीका नाम 'मरीचि' नहीं है। तो मरुतमें मरीचिके रूपमें परमात्मा है, उसका अर्थ क्या हुआ?

देखो, शरीरमें एक आलस्य छाया हुआ रहता है। आलस्य, निद्रा और प्रमाद—ये तीनों तमोगुणके काम हैं। आलसी आदमीको ईश्वर नहीं मिलता और जो प्रमादी है उसे भी ईश्वर नहीं मिलता। आलसी आदमी तो वह है जिसको समयपर कर्तव्यकी याद तो आयी लेकिन अलसा गया कि फिर कर लेंगे, टाल गया, वह आलसी है। और महाराज जिसको अपने कर्तव्यकी याद ही न आवे वह प्रमादी है। बात थी कलके लिए, बीत गयी और याद आयी आज, तो लोग कहते हैं, भूल गये। यह भूल जाना भी दोष है। यदि तुम उस कामको जरूरी समझते, तो कैसे भूल जाते?

एकदिन मैं कहीं था, तो हमारे एक मित्र आये, बहुत दिनके बाद आये, बड़े भारी पण्डित थे, पाँच सात विषयोंके आचार्य थे। ब्रह्मचारीके वेषमें रहते हैं और विरक्त हैं। हमको मानते हैं गुरु। तो मैंने एक सज्जनसे कह दिया कि भाई, इनको अपने यहाँ ठहरा लो उनके खाने-पीनेकी व्यवस्था कर देना, फिर सबेरे कल मिलेंगे। अब सबेरे जब दस-ग्यारह बजे ब्रह्मचारीजी पूजापाठ करके आये, तब

मैंने उनसे पूछा कि रातको खाना-पीना सब ठीक हो गया? बोले—'हाँ, हाँ ठीक होगया।' मेरे मनमें शंका आयी, फिर उन सज्जनसे पूछा जिन्हें सौंपा था, तो बोले कि हमको तो नींद आगयी, भूल गये बिलकुल! हमने तो खिलाया ही नहीं! महाराज, हमारा स्वभाव ही ऐसा है, क्या करें!

अब देखो इसको अपराध भी नहीं मानते हैं, यह भी नहीं मानते कि भूल हुई तो हमारी कोई गलती हुई। है न प्रमाद! यह प्रमाद तमोगुण है। तो मनुष्यके जीवनमें एक चमक रहनी चाहिए, जिससे आलस्य दबा न ले, जिसको प्रमाद दबा न ले। और, जो बार-बार दुःख आता है वह भी तमोगुणका ही लक्षण है भला! बारम्बार दुःख, मोह, आलस्य, प्रमाद, इसके कारण मनुष्य साधन-भजनमें चौकन्ना नहीं रहता। तो 'मरीचि' क्या है? मरीचि है प्राणोंकी दीप्ति। मरीचि कहते हैं प्रसादको, दीप्तिको, सत्यको। जागते रहो, अर्थात् सावधान रहो। सावधानी हमारे सम्पूर्ण प्राणोंमें व्याप्त एक प्रकारकी क्रिया-शक्ति है, प्राण माने साँस या हवाका नाम प्राण नहीं होता। एकने नाक दबायी दोनों और बोले—हमने प्राणायाम कर लिया। प्राणायाम भी करते जा रहे हैं, हिलते भी जा रहे हैं। दाहिने बाँयें और सामने पीछे सिर लटकाये जा रहे हैं।

प्राणायामका अर्थ क्या होता है? अपनी क्रिया शक्तिको काबूमें लेना। जब चाहे तब हम कर्तव्यमें सट जायें लग जायें, अकर्तव्यके त्यागकी शक्ति और कर्तव्यके पालनकी शक्ति जो अपने अन्दर है यही प्राण-शक्ति है। जैसे राष्ट्रीय नेता थे, वल्लभभाई पटेल, वे महाप्राण कहलाते थे। उनके अन्दर क्रियाशक्ति जाग्रत थी। जो साधन और भजनके मार्गमें चले वह कहीं नींदको साधन न समझ ले भला! आलस्यको साधन न समझे, प्रमादको साधन न समझे, दुःखको साधन न समझे, मोहको साधन न समझे। तमोगुणसे ऊपर उठकर प्रदीप्त जो प्राण हैं, उनमें स्थित होवे। क्रियाशक्ति इसको बोलते हैं—प्राणोपासना। **अन्नं ब्रह्म प्राणो वै ब्रह्म**—यह प्राण ब्रह्म है। तो देखो इसीसे लोग स्वाँस लेते हैं तो सबमें 'हंसः' 'सोऽहम्', 'हंसः' 'सोऽहम्', 'सोऽहं' 'हंसः' अजपा जप चलता है। यह अजपा जप प्राणसे होता है। यदि मनुष्य सो जायेगा आलस्यमें, प्रमादमें, निद्रामें, दुःखमें, मोहमें अभिभूत हो जायेगा, तो वह परमात्माका ध्यान कैसे करेगा? प्राप्तिका प्रयत्न कैसे करेगा? इसलिए जितनी मरुत शक्तियाँ, प्राणकी जितनी शक्तियाँ शरीरमें क्रियाशील हैं व्यष्टिमें, और जितनी शक्तियाँ समष्टिमें क्रियाशील हैं, उनमें तमस्को मारनेवाली जो दीप्ति है उसको 'मरीचि' बोलते हैं।

म्रियते तमः अनेन इति मरीचिः।

मरीचिमें 'मर' है एक तो! मरता है तम जिससे! अपने प्राणोंको काबूमें करके, क्रियाशक्तिको काबूमें करके बैठो; उड़िया बाबाजी कहते हैं कि तीन घण्टा कोई ऐसे बैठे कि पलक भी न हिले, हाथ भी न हिले; कमर भी न हिले, पीठ भी न हिले, गला भी न हिले, माने शरीरका कोई अवयव न हिले, प्राणको इतना काबूमें कर लो। बोले कि उसमें ब्रह्मसाक्षात्कारकी योग्यता आ जाती है, क्योंकि मन एकाग्र हो जायेगा, समाधि लग जायेगी, क्रिया-शक्तिका नियन्त्रण होगया, और प्राणका नियन्त्रण होनेसे मनका नियन्त्रण होगया, मनका नियन्त्रण होनेसे विक्षेपकी निवृत्ति होगयी, और विक्षेपकी निवृत्ति होनेसे परमात्मामें चित्तकी एकाग्रताकी योग्यता आ जाती है प्राणोपासनाके द्वारा। एक तो यहाँ चित्तका ध्यान, दूसरे द्रष्टा भावमें अवस्थिति और तीसरे प्राण-स्पन्दका निरोध करके उसकी दीप्तिका चिन्तन—यह परमात्माकी प्राप्तिका उपाय है।

केषु केषु च भावेषु चिन्त्योसि भगवन्मया।

अर्जुनने पूछा कि हे प्रभु किस-किस भावमें आपका चिन्तन करें? यह पाँचवी प्रक्रिया बतायी—प्राणोपासना और प्राणनिरोध, यह भी परमात्माकी प्राप्तिमें साधन है।

अब बताते हैं **नक्षत्राणामहं शशी**। आप विभाग करोगे तब मालूम पड़ेगा, यह व्यापकत्वका, प्रकाशत्वका, नियन्त्रित्वका चिन्तन ये सभी प्रक्रियाएँ है—**मरीचिर्मरुतामस्मि**। और **नक्षत्राणामहं शशी**—नारायण! नक्षत्र बोलते हैं जो तारे हैं, आकाशमें उनको। वैसे किसीके मतमें सत्ताईस हैं और किसीके मतमें अट्ठाईस है। 'अश्विनी' आदि जो हैं ये सत्ताईस नक्षत्र हैं, जैसे आज 'श्रवण' नक्षत्र है। तो एक 'अभिजित' नामका नक्षत्र श्रवण और धनिष्ठाके मध्यमें और होता है भला! उसको अट्ठाइसवाँ बोलते हैं। सत्ताईस नक्षत्र और उनकी बारह राशि, बारह भेद।

तो सूर्य एक महीनेमें एक राशि पार करता है और चन्द्रमा सवा दो दिनमें एक राशि पार करता है। यह गतिमें फर्क है। चन्द्रमाकी गति पृथिवीके चारों ओर है! और चन्द्रमा सहित पृथिवीकी गति सूर्यके चारों ओर है। गणित एक ही निकलता है चाहे सूर्यकी गति माने चाहे पृथिवीकी गति मानो, वह गति पकड़ लिया है, गतिकी पकड़में कोई भेद नहीं है। जिसने पृथिवीको चल माना, उसने भी चाल उतनी ही मानी और जिसने सूर्यको चल माना, उसने भी चाल उतनी मानी।

अब देखो यह बिना मशीनके चालका कैसे पता चला? बोले—हम पृथिवीपर बैठे हैं तो पृथिवी सबको प्रतीतिसे अचला मालूम पड़ती है और सूर्य चल मालूम पड़ता है। प्रतीतिका जिसने अनुवाद किया उसने कहा—सूर्य चल और पृथिवी अचल और जिसने प्रतीतिका अनुवाद नहीं किया, यन्त्र द्वारा शोधन किया उसने कहा कि पृथिवी चल है और सूर्य अचल है और जिसने आध्यात्मिक अनुभव प्राप्त किया उसके लिए पृथिवी भी चल है और सूर्य भी चल है। अधिभूतरूपसे पृथिवी चल है। अधिदैवरूपसे सूर्य चल है भला। प्रतीतिके रूपमें पृथिवी चल है और भौतिक-विज्ञानकी दृष्टिसे पृथिवी चल है और अधि-दैविक विज्ञानकी दृष्टिसे सूर्य चल है और आध्यात्मिक विज्ञानकी दृष्टिसे दोनों चल हैं और आत्मा स्थिर है।

अब यह चन्द्रमा क्या है? तो देखो क्रिया-शक्तिकी प्रधानतासे प्राणोंमें मरीचिका चिन्तन और प्रकाश दृष्टिसे दृष्टिमें सूर्यका चिन्तन और व्यापकताकी दृष्टिसे बुद्धिमें विष्णुका चिन्तन—व्यापकताका चिन्तन और सम्पूर्ण जगत्के कारणकी दृष्टिसे अभिन्न निमित्तोपादान कारण स्वरूप विवर्ती ब्रह्मका चिन्तन और परमार्थ दृष्टिसे अपने आपके सिवाय और कुछ नहीं।

अब देखो—भाई! यह सब चिन्तन ठीक है, पर मजा भी तो आना चाहिए न! अब मजाका सवाल पैदा हुआ। क्योंकि वैराग्य न हो तो बिना मजाके उपासनामें कोई नहीं जा सकता। उपासना कोई क्यों करे, किसीके पास जाकर क्यों बैठे? समझो एक आदमी अपने घरसे किसीके पास जाकर रोज बैठता है, तो अगर बोर हो तो वहाँ क्यों जाये? जाना बन्द कर दे, मजा आवे तो जाय। बिना प्रयोजनके, आनन्द प्राप्तिके बिना कोई किसीके पास जाता नहीं। तो किसीके पास जानेका दो कारण होता है, एक तो स्वयंका जहाँ आदमी हो, अपने घरमें तकलीफ हो—जहाँ रह रहा हो वहाँ तकलीफ हो—तो चलो भाई चलो थोड़ी देर समुद्रके किनारे बैठेंगे! थोड़े देर इस तकलीफसे छुट्टी तो मिलेगी या तो समुद्रके किनारे कुछ ऐसी चीज देखनेको मिलती हो, मजा आता हो। एक जगह दु:ख होवे और एक जगह मजा होवे, तो दु:खकी जगह छोड़कर मनुष्य मजाके स्थानपर जाता है। इसीलिए दु:खकी निवृत्ति और परमानन्दकी प्राप्ति—यह प्रयोजन होता है। मनुष्यकी साधनाका प्रयोजन होता है संसारमें जो दु:ख है उसकी निवृत्ति और परमात्मामें जो परमानन्द है उसकी प्राप्ति। परमानन्दकी दृष्टिसे परमात्माकी प्राप्ति होनी चाहिए। रस आना चाहिए। तो **नक्षत्राणामहं शशी**। ये आकाशमें नक्षत्र हैं,

वेदोंमें नक्षत्रके अन्तर्गत सूर्यका भी वर्णन है, चन्द्रमाका भी वर्णन है, सभीका वर्णन है। उसका अर्थ होता है—**नक्षन्ति**। वेदमें तो **नक्षन्ते** है, पाणिनीय व्याकरणमें 'नक्षन्ति' बोलते हैं। **नक्षन्ति। गच्छन्ति।** जो सारी सृष्टिमें गमनशील हैं उनका नाम है नक्षत्र।

अब देखो आपके शरीरमें नक्षत्र हैं भला! क्या बढ़िया-बढ़िया तारे खिल रहे हैं। एक कर्ण तारा है, एक चक्षु तारा सभी खिल रहे हैं। एक कर्ण तारा है, एक चक्षु तारा है, एक घ्राण तारा है एक रसना तारा है, ये सब तारे हैं। ये इन्द्रियाँ हैं तारे हैं। इन्द्रियोंसे संसारमें आपको सुख मिलता है। आप यह सोचो कि अगर आपका मन न हो तो क्या सुख मिलता है? बढ़िया-बढ़िया भोजन आपके सामने पड़ा हो और उसी समय खबर आजाय कि पुलिस तुम्हारे घर छापा ड़ालने आ रही है, तो भोजनमें रस आवेगा? अरे मन कहाँसे कहाँ चला जायेगा, जहाँ पैसा रखा होगा वहाँ चला जायेगा, बही-खातेमें मन चला जायेगा, पुलिसमें मन चला जायेगा। होता है कि नहीं? इसको बड़ा भारी दु:ख मानते हैं। इसीसे महात्मा लोग कहते हैं चीज भले न रहे लेकिन मनमें दु:ख न आवे। क्योंकि दु:ख मनमें होता है। चीजमें दु:ख-सुख नहीं होता, इन्द्रियोंमें, जीवमें सुख-दु:ख नहीं होता। खीरका स्वाद ही न आवे, पता ही न चले कि क्या खाया। कैसे? कि मन तो दूसरी जगह चला गया।

अब जब मन दूसरी जगह चला जाता है तो अपने प्रियसे प्रिय व्यक्तिके पास बैठे हों, प्यारेसे प्यारा संगीत सुन रहे हों, कितनी तरहके इत्रोंकी गन्ध तुम्हारी नाकसे लगायी गयी, क्या मालूम पड़ेगा? तो यह रसीली, रसवर्षी कोई चीज है तुम्हारे अन्दर भला! यह जो लोग बोलते हैं छातीसे लग जानेपर खुश हो जायेंगे, अगर प्रेम न हो तो छातीसे लगनेपर भी खुश नहीं होंगे। खानेसे खुश हो जायेंगे? एक जगह बनी पूरी, सन्तोंका भण्डारा था। तीन हजार सन्त खानेवाले थे और पूरी बनकर बिलकुल तैयार हो गयी, हरद्वारकी बात है। उन दिनों राशनिंग थी। अब फाटकके बाहर तो आगयी पुलिस; उसने कहा—तीन हजारके लिए पूरी कैसे बनवायी? बोले-बैठो-बैठो! अब पुलिसवाले बैठे। अब, उस मकानके नीचेसे गंगाजी बहती थीं। पुलिसको बैठा लिया बाहर दरवाजेपर और वह पूरी-साग-हल्वा जो बना था, सो गंगाजीको अर्पण कर दिया।

देखो इतने परिश्रमसे वह हल्वा बना, पूरी बनी साग बनाया सन्तोंको खिलानेके लिए, गंगाजीमें बहा देना पड़ा। क्यों? यह मनीरामका खेल है,

खिलानेका आनन्द नहीं लिया। आनन्द मनमें होता है भला! आनन्द वस्तुमें नहीं होता है, आनन्द क्रियामें नहीं होता है।

मैंने सुना एक सेठके घरमें छापा पड़ा। तो पुलिस वाले आगये, इन्कमटैक्सवाले होंगे, हमको मालूम नहीं है। बोले—आइये, आइये, हमारे घरमें क्या रक्खा है, देख लीजिये। एक-एक आलमारी देख लीजिए, बही-खाते देख लीजिये। चाय-वाय तो पी लीजिये तब देखिये। चाय पिलानेके लिए अंगीठी जलाना जरूरी हो गया। और जब अंगीठी जली तो अंगीठीमें नोट जले, कागज जले, तब चाय बनी। इतनी मेहनतकी बीसों वर्षकी कमाई, मिनटोंमें छिन गयी।

आदमी कहाँ फँसा हुआ है, देखो न; मनमें जब मजा होवे तभी मजा होता है। और मनमें मजा न होवे तो कहीं मजा नहीं होता। यह 'शशि' जिसको बोलते हैं, शशि माने चन्द्रमा होता है। यह कौन है? कि यह मनका अधिदेवता है। आपका जो मन है, उसमें चन्द्रमा चमकता है। आपने कभी आँख बन्द करके देखनेकी कोशिश नहीं की, कभी उसका ध्यान नहीं किया। जैसे शरद-पूर्णिमाका चन्द्रमा प्रकाशमान होता है, आह्लाददायी किरणें बरसाता है, ऐसे आपके हृदयमें एक रसका चन्द्रमा होता है। आपने सुना होगा उपनिषद्में—

मनो ब्रह्म इत्युपासीत।

यह रामके साथ चन्द्र क्यों बोलते हैं? रामचन्द्र क्यों बोलते हैं? कृष्णचन्द्र क्यों बोलते हैं? ब्रह्मचन्द्र तो कोई नहीं बोलता। निषेध, विधि, अन्वय इनके साथ तो नहीं बोला जाता। चन्द्रमा कहाँ होता है? तो यह जो सरस उपासना है, वह चन्द्रकी उपासनामें आती है। इसका भी भेद है, स्त्रीप्रकृति और पुँम् प्रकृति—दो प्रकारका होता है। यह शशि जो है यह दो प्रकारका होता है।

अच्छा, तो परमात्मा ही परमात्मा शेष रहा। दूसरी बात यह कि यह जो प्रपंच दिख रहा है, इसका आदि-मध्य-अन्त परमात्मा, माने यह परमात्माके सिवाय और कुछ नहीं है। पहला विधि वाक्य हुआ, दूसरा निषेध वाक्य हुआ। और, तीसरी बात हुई कि कश्यपसे संयुक्त जो अदिति है, उसके जो पुत्र हैं बारह आदित्य, उनमें वामन एक भगवान् हैं प्राण-अपानकी सन्धिमें, जो छोटे रूपमें प्रकट होते हैं और ले लेते हैं सब कुछ। तो,

ज्योतिषां रविरंशुमान्—हृदयकी बात कही। तत्त्वकी बात दो प्रकारसे—बाध प्रक्रिया और लय प्रक्रियासे कही। हृदयमें उपास्यके रूपमें वामनका वर्णन है। अब सूर्य मण्डलमें उपास्य जो है उसका वर्णन किया। **ज्योतिषां रविरंशुमान्।** आकाशमें जो ज्योति चमकती है, उनमें कौन हैं? कि भगवान् सूर्य हैं। वेदमाता गायत्री सूर्यके रूपमें परमात्माका वर्णन करती हैं। अध्यात्मरूपसे भी और अधिदैव रूपसे भी सविता देवताका जो **वरेण्य भर्ग है सवितुर्देवस्य वरेण्यं भर्गः।** सविता माने सृष्टिकर्ता परमात्मा। देव माने ज्योतंशील स्वयंप्रकाश। जो स्वयं-प्रकाश और सर्व स्रष्टा परमात्मा है, जिसका भूर्भुवः स्व रूप भर्ग है। माने जो सर्वाधिष्ठान है। सवितुः माने कारण है, देवस्य माने स्वयं प्रकाश चेतन है और जिसका महः भुवः स्वः रूप है। सत्त्व-रज-तम, जाग्रत-स्वप्न-सुषुप्ति, विश्व-तैजस-प्राज्ञ ये सच्चिदानन्दके जो तीन विवर्त हैं; उसमें जो भर्ग है उसका हम ध्यान करते हैं। स्वयं प्रकाश सर्वकारण कारण जो भर्ग है उसका ध्यान करते हैं। अध्यात्मरूपसे उसकी स्थिति क्या है? कि—

धियो यो नः प्रचोदयात्—वह हमारी बुद्धि वृत्तियोंका प्रेरक है। तो सूर्यमण्डलान्तर्गत जो चैतन्य है, उस चैतन्य ज्योतिका जो ध्यान है, गायत्रीके द्वारा प्रतिपाद्य, उसका ध्यानमें उपयोग होनेके कारण सूर्यको विभूति बताते हैं। क्योंकि अर्जुनका प्रश्न था कि, **केषु केषु भावेषु** मैं किन-किन भावोंमें आपका चिन्तन करूँ?

सो बताया, बाबा, वही सब है। उनके सिवाय दूसरा कोई है ही नहीं, वही तुम्हारे हृदयमें है। ऐसे बताते गये। वही सूर्य मण्डलमें है।

तो सूर्य मण्डलमें परमात्माका दो तरहसे ध्यान करते हैं। एक चिद्ज्योति परमात्मा—**ज्योतिषामपि तज्ज्योतिः।** सम्पूर्ण ज्योतियोंकी ज्योति वह है। **वरेण्यं**

भर्गः। वरेण्यंसे प्रयोजन बताया हुआ है। वरणीय है। माने उसे प्राप्त किये बिना हमारा जीवन सफल नहीं होता। वरणीय है। वांछनीय है। जैसे कन्याके लिए पति वरणीय है, वैसे हमारी बुद्धि-वृत्तियोंके लिए वह वरणीय है।

बोले—फिर वह अलग होगा, हम अलग होंगे! तो **धियो यो नः प्रचोदयात्**—जो हमारी बुद्धिका प्रेरक है। शरीरके भीतर जो बुद्धिका प्रेरक है वही समष्टिमें सृष्टिका प्रेरक है और सामान्याधिकरण्यसे दोनों एक हैं। अहंग्रह-उपासनाके द्वारा 'जोषावत्तु आदित्यपुरुषः'—जो यह आदित्यमें पुरुष है और जो हमारे भीतर पुरुष है सो एक है। अहंग्रह—उपासनासे इसकी आराधना करो, चिन्तन करो। नहीं तो **ज्योतिषां रविरंशुमान्। ध्येय सदा सवितृ मण्डलमध्यवर्ती। नारायणः सरसिजासनसंनिविष्टा**। ऐसा ध्यान करो।

ऐसा ध्यान करो कि सूर्यमण्डलमें चतुर्भुज पीताम्बरधारी कमलासनपर बैठे हुए नारायण विराजमान हैं। यह अधिदैव ध्यान हुआ।

सूर्यमण्डलमें नारायणका ध्यान अधिदैव ध्यान है और सूर्यमण्डलमें जो तत्त्वका चिन्तन है **धियो यो नः प्रचोदयात्** और **भूर्भुवः स्वः सवितुर्देवस्य**—यह तात्त्विक दृष्टि है। दोनोंमें एकता।

जो हृदयावच्छिन्न चैतन्य है वही सूर्यावच्छिन्न चैतन्य है—यह तात्त्विक दृष्टि है। सूर्यमें नारायण हैं। और कल सुनाया था कि सूर्य आँखमें रहते हैं, नेत्रके अधिदेवता हैं। तो,

यो वै दक्षिणे अक्षिणि पुरुषः—दृष्टिमें द्रष्टा बनकर जो बैठा है वह सूर्यावच्छिन्न चैतन्यका ही चिन्तन है। अध्यात्म-दृष्टिसे, अधिदैव दृष्टिसे, तात्त्विक दृष्टिसे सूर्यका चिन्तन करना। सूर्यमें परमात्माको ढूँढना।

देखो ढूँढनेवालेको तो सब जगह भगवान् मिल जाते हैं और '*मैं बौरी ढूँढन चली, रही किनारे बैठ।*' बावरी निकली घरसे ईश्वरको ढूढ़नेके लिए और बैठ गयी। अपने मनमें जो कुछ गड़बड़ी भरी थी, उसीमें फँस गयी। एक सज्जन गये ईश्वरसे प्रेम करनेके लिए, ईश्वरके पास। तो उनसे उन्होंने कहा—हे भगवान्, पहले तुम यह बताओ कि हमारे शरीरमें यह हड्डी तुमने क्यों बना दी? यह तो बहुत गन्दी है, खून क्यों बनाया, माँस क्यों बनाया, यह विष्ठा-मूत्र हमारे शरीरमें बना दिया, राम-राम-राम! सीताराम। अब वह ईश्वरसे लड़ाई शुरू कर दी। वे गये तो थे प्रेम करने शुरू कर दी लड़ाई कि ऐसा शरीर हमको क्यों बनाया? तो मजा नहीं आया। प्रेमका शुद्ध स्वरूप वही है जहाँ रसकी सृष्टि होवे। प्रेमके रसायनसे, भक्तिके

रसायनसे दुःखकी सृष्टि नहीं होती; प्रेमके रसायनसे आनन्दकी-रसकी-सुखकी सृष्टि होती है। भगवान्‌के रास्तेमें एक एक कदम बढ़ो और सुखी होते जाओ।

अच्छा तो इसमें बताया—**ज्योतिषां रविरंशुमान्**। ज्योति शब्द जो है वह **ज्योतते इति ज्योतिः**। 'द' का 'ज' हो जाता है पाणिनीय-व्याकरणके नियमसे और **अंशुमान्** का अर्थ है जगत्‌में जितना नामरूपका विभाग है वह बुद्धिमें बैठकर, नेत्रमें बैठकर और आकाशमें बैठकर कौन करता है? सूर्य करता है।

सूर्य आत्मा जगतस्तस्थुषश्च—यह जितना चराचर जगत् है इसकी आत्मा सूर्य है। यह जो बाहर यह स्त्री है, यह पुरुष है—यह एक विभाग हुआ, आँखमें हुआ, सूर्यकी रोशनीमें हुआ, बुद्धिसे हुआ। सूर्यकी रोशनी आकाशमें, आँख शरीरमें और बुद्धि हृदयमें—इन तीनों बैठकर यह सूर्य ही सृष्टिका विभाजन करता है। सूर्यके प्रकाशमें सृष्टिका विभाग मिलता है। सूर्यका चिन्तन करो तो विभाग समाप्त हो जायेगा। दुःख तो सारा इसी बातका है, यह मेरा, यह तेरा। नहीं तो दुःख सृष्टिमें क्या है?

उसके बाद यह उपासना आयी कि—**मरीचिर्मरुतामस्मि नक्षत्राणामहं शशी**।

ये मरुत् जो हैं ये प्राण हैं। यह लोग कहते तो हैं, व्यवहारमें आता है कि प्राणोंको बड़ी पीड़ा होती है। प्रेमी लोग कहते हैं कि हे प्यारे! तुम्हारे बिना अब तो प्राण छटपटा रहे हैं—ऐसे बोलते हैं। साँस लेनेमें बड़ी तकलीफ हो रही है! परन्तु यह साँस पट्ठे—ये प्राण ऐसे हैं कि इनको दुःख-सुख होता ही नहीं। तुम बेहोश हो जाओ तब भी ये चलें, तुम सो जाओ तब भी ये चलें! और मर जाओ तो निकल कर एक जगहसे दूसरी जगह चले जायें। 'मरुत' शब्दका अर्थ ही यही है—मा रुदः। स्कन्द पुराणमें भी और भागवतमें भी जहाँ मरुतोंकी उत्पत्तिकी कथा है, दितिने भगवान्‌की आराधना की, इन्द्रने प्रवेश करके सात टुकड़े किये, उनचास टुकड़े किये, तब वे रोने लगे कि हे इन्द्र! जिस पेटमें हम, उसी पेटमें तुम, हमको मारते क्यों हो? इन्द्रने कहा—**मारुदः**। तुम लोग रोओ मत। इसीलिए इनका नाम मरुत हुआ। तो ये रोते नहीं हैं कभी। ये ताकतवर तो हैं। शरीरको यही धारण करते हैं, मनको भी ये धारण करते हैं, वीर्यको भी ये धारण करते हैं। इन्हींसे आँखकी पलकें हिलती हैं। इन्हींसे हाथ हिलता है। इन्हींसे खून चलता है। इन्हींसे बाल बढ़ता है। सारा काम शरीरमें इन्हींसे होता है, बड़े शक्तिशाली हैं। काम सब करते हैं पर रोते नहीं हैं। रोना प्राणका धर्म नहीं है। रोना मनका धर्म है। यह मनका विकार है, सो भी मनका संस्कार नहीं है। संस्कृत मन नहीं रोता है, विकृत मन रोता है। जबतक

आदमीके मनमें विकार नहीं होगा, तबतक वह रोवेगा क्यों? तो बोले कि भाई भगवान्‌के लिए रोते हैं। क्या भगवान्‌के लिए रोना भी विकार है? सो कैसे? वह तो जो भगवान्‌के लिए रोता है, उसे संसारके लिए नहीं रोना पड़ता। वह जो भगवान्‌के लिए रोना है, वह संसारका रोना मिटानेके लिए है, वह दवा है। और, कहीं भगवान्‌के सामने भी गये और बस रोते ही रहे, रोते ही रहे, तो आँखमें आँसू छा जायेंगे, भगवान्‌के दर्शनका मजा ही नहीं आवेगा। मनमें अँधेरा छा जायेगा, आँखमें आँसू छा जायेंगे, अरे भगवान्‌के सामने तो चमक कर जाते हैं। होंठोंपर मुस्कान होती है, आँखोंमें प्रेमकी दृष्टि होती है। दिनभर आदमी रोता ही रहे, तब भी अपने प्रियके सम्मुख जाये तो प्रसन्न होकर जाये कि चलो यह सौभाग्य तो मिला।

अभी मैं आया मोटरसे तो स्वाममी पूर्णानन्दजी महाराज महामण्डलेश्वर खड़े थे। उनकी मोटर खराब होगयी थी, चल नहीं रही थी तो खड़े थे। उनको कोई यह उलझन नहीं थी कि मोटर क्यों खराब हो गयी! बोले—कि आज सौभाग्य है हमारा कि मोटर खराब हो गयी, आपका दर्शन होगया।

संसारकी व्याख्या ऐसे होती है। जो कथावाचक नहीं होगा, वह सुखी कैसे होगा? भगवान्‌की ओरसे कैसा भी आवे, उसको अपने अनुकूल बना लेना, अपने पक्षमें बना लेना, यही तो बुद्धिमत्ता है न! तो ये जो मरुत हैं, उनचास मरुतोंका जो पुराणोंमें नाम है, उसमें भी मरीचिका नाम नहीं है और उनचास प्राणोंका जो शरीरका वर्णन करते समय आता है उसमें भी मरीचिका नाम नहीं है। तो मरीचि माने होता है किरण, सूर्यकी किरण। मरीचि माने ब्रह्माके पुत्र उनके कश्यपादि सन्तान हुई। आधिदैविक दृष्टिसे मरीचि ब्रह्माके पुत्र हैं, उनसे कश्यपादि हुए। और, सूर्यकी किरणें जो आकाशमें फैलती हैं, उनको भी मरीचि बोलते हैं। मरीचि माने दीप्ति भी होता है, प्रकाश भी होता है। तो वेदमें ऐसा वर्णन आता है कि जैसे आगमें ज्योति होती है, तो वह चमकती हुई होती है, प्रकाशमान, और प्राणोंमें जो ज्योति है, वह काम तो सब ज्योतिका करती है—

पावकासा सुच्याः सूर्या इव। इन प्राणोंकी भी एक किरण होती है, ज्योति होती है जो सब प्राणोंमें बिल्कुल एक सरीखी रहती है **देवस्य सूर्यस्य रश्मयः।**

ये प्राण कैसे होते हैं कि जैसे सूर्यकी किरणें हों। **यस्ते मरीचिः प्रवर्ताः।** ऋग्वेदमें अनेक स्थानपर मरीचि शब्दका प्रयोग है और प्राणोंकी किरणोंके रूपमें उनका वर्णन है। तो देखो प्राण चाहे कितने भी होंये, उनको शान्त करो, तब एक हो जायेंगे।

शान्त करो तब एक क्या होंगे? देखो जब सो जाते हैं तब साँस बढ़ जाती हैं, यह तो प्रत्यक्ष देखनेमें आता है न! नींद आती है, कई लोग बैठे-बैठे घर्र-घर्र करने लगते हैं, लेटते हैं तो घर्र-घर्र करने लगते हैं। शास्त्रोंमें यहाँ तक वर्णन है कि जब भगवान् सोते हैं तो उनसे भी घरघराहट निकलती है। उनके श्वासकी जो आवाज है, उसीको वेद बोलते हैं उसमें-से अर्थ महात्माओंने निकाल लिया, यह तो महात्माओंकी खूबी है, वह है तो भगवान्‌की साँसकी घरघराहट।

जब सुषुप्ति होती है, तब साँस बढ़ती है और जब समाधि होती है, तब? श्वासका चलना बन्द हो जाता है, नख-बाल बढ़ना बन्द हो जाता है, खून चलना बन्द हो जाता है, पाचन भी बन्द हो जाता है, रुधिराभिसरण भी बन्द हो जाता है, क्योंकि प्राण शान्त हो जाते हैं। इसका अभिप्राय यह हुआ कि केवल साँस चलना ही समाधिमें बन्द नहीं होता। प्राण अपनी सम्पूर्ण क्रिया समाधिमें बन्द कर देता है। केवल बीज रूपसे रहता है। तो वह जो प्राणोंका बीज है, समाधिमें प्राणकी बीजात्मक शान्त अवस्थिति है, जिसमें उनचासों प्राण अभिन्न होकर रहते हैं। जो प्राण किरण-समूह है उसकी वह शान्त दशा 'मरीचि' है।

अच्छा, आप परमात्माको प्राप्त करना चाहते हैं? प्राणोंको शान्त कीजिए, समाधि-दशामें आ जाइये, परमात्मा मिलेगा। वहाँ मरीचिके नामसे परमात्मा बैठा हुआ है। **म्रियते तमः अनेन इति मरीचिः**। उससे अज्ञानान्धकारकी निवृत्ति होती है, इसलिए उसे मरीचि बोलते हैं।

अब **नक्षत्राणामहं शशी** की बात करें। कल यहाँ तक सुनाया था। कभी पीछे लौट जाते हैं, कभी आगे चले जाते हैं। इसे 'सिंहावलोकनन्याय' बोलते हैं। सिंह जब चलता है आगे, तो चलते-चलते कभी घूमकर पीछे देखने लगता है, फिर आगे बढ़ता है, फिर पीछे देखता है, फिर आगे बढ़ता है।

नक्षत्रामहं शशी—ये नक्षत्र दिखते हैं आकाशमें। उनमें भगवान् अपनेको बताते हैं कि मैं चन्द्रमा हूँ। शास्त्रमें यह प्रसिद्ध है, यत्र-तत्र आया है कि जब संसारमें कोई बहुत पुण्यात्मा होता है तब वह तारा बन जाता है, बिल्कुल साफ-साफ, चम-चम चमकनेवाला नक्षत्र। यह किसीको नक्षत्र कहना—'ये आकाशके हीरे हैं', जैसे वंशमें कोई हीरा हो, वैसे ही आकाशमें ये चमकते हैं। चमक है, उज्ज्वल, धवल—देखो, ये कितने पुण्यात्मा होंगे जो आकाशमें जाकर, मरनेके बाद भी चमक रहे हैं। मरनेके बाद जो चमकनेवाले तारेमें एक बात बतायी गयी है, जो पुण्य कर्म करता है वह चमकता है, जो काला कर्म करेगा, वह काला हो जायेगा, ब्लैक करनेवाला

करेगा, वह काला हो जायेगा, ब्लैक करनेवाला ब्लैक हो जायेगा। काला बाजार है न! ज्यादा नहीं चलता है। इकट्ठा करो, इकट्ठा करो एक बार नाम होगा कि बड़े धनी हो गये और फिर यह होगा, वही कहेगें—'यह चोरी करके इकट्ठा किया है', काला हो जायेगा। पकड़ जाये, छिन जाये, नष्ट हो जाये, पता नहीं किसके हाथ लगे। अपना हृदय कलुषित किया, अपना चरित्र कलुषित किया और आखिर कोयला बने! और एक आदमी है जो अपने धनका, अपने शरीरका सदुपयोग करके, आसमानका तारा बन जाता है, हीरा बन जाता है। चमकता है **पुण्य पुण्यकर्मणा: भवति। पापा: पापेन हा**—जो पुण्य करता है, वह पुण्य होता है।

अब समझो ये जो तारे हैं—'नक्षत्राणां नक्षन्ति पुण्य कर्मणा: ऊर्ध्वं गच्छन्ति इति नक्षत्राणि।' नक्षन्ति। नक्ष धातु गमनके अर्थमें है। त्र प्रत्यय होता है तब 'नक्षत्र' शब्द बनता है।

ऊपर जानेवाले जितने हैं, उनमें यह शशि-चन्द्रमा-तारा हैं। चन्द्रमा बड़ा विलक्षण है। पितृलोक जिसे बोलते हैं, वह बिल्कुल चन्द्रमाके साथ होता है। यह वर्णन किया जाता है कि मरनेके बाद चन्द्रलोकमें जाते हैं, नक्षत्रलोकमें जाते हैं, कौन जाते हैं? जो शुभ कर्म करते हैं। आजकलके बाबू अर्थवादकी उपयोगिता नहीं मानते। जब यह कहते हैं कि जो बुरा काम करेगा, सो नरकमें जायगा और जब यह कहते हैं कि जो अच्छा काम करेगा, सो स्वर्गमें जायेगा, तो वक्ताका अभिप्राय क्या होता है कि बाबा, अच्छे काम करो तो इस जन्ममें भी सुखी रहोगे और तुम्हारा अगला जीवन भी सुखी होगा। मतलब अच्छे काम करो। अच्छा काम करना ही अच्छा है और बुरा काम करोगे तो अब भी दु:खी होओगे और आगे भी दु:खी होओगे। अगर दु:ख चाहते हो तो बुरा काम करो, यह जीवन भी बिगड़ेगा और अगला जीवन भी बिगड़ेगा।

पाप और पुण्यके फलका वर्णन करते हैं उससे वर्तमान जीवनमें बुराई छोड़ो, अच्छाई ग्रहण करो—यह प्रेरणा मिलती है। साक्षात् इसी जीवनके लिए प्रेरणा मिलती है। और देखो जबतक मनुष्यके मनमें आगेके लिए भय न हो और लोभ न हो, तबतक कमजोर मनवाला आदमी अच्छे काममें नहीं लगता है। इसलिए अच्छे काममें लगानेके लिए यह बहुत आवश्यक है। जब सब विज्ञान पढ़ लेंगे और प्रयोग कर लेंगे और राकेटमें बैठ-बैठकर चन्द्रलोक और सूर्यलोकमें जायेंगे तब तो भस्म ही हो जायेंगे। यह राकेटमें बैठ-बैठकर चन्द्रलोक और मंगललोकमें आवेंगे और बतावेंगे कि वहाँ धूल है, पत्थर है, तो वैज्ञानिक

लोग ऐसा करेंगे, सामान्य जनताका जो [illegible] है उसको पवित्र रखनेके लिए यह बहुत आवश्यक है कि आदमी शुभ कर्म करे।

तो ऊर्ध्व जानेवालोंमें, एक बात देखो प्रयोजनकी है। अब यह भाव बताता हूँ कि चन्द्रमा कहनेका क्या अभिप्राय है।

चन्द्रमामें एक तो चमक होती है और एक रस होता है—आह्लादक। चन्द्रमामें आह्लादन होता है। चन्द्रमाकी किरण जब शरीरपर पड़ती है, तो ऐसे मालूम पड़ता है जैसे किसीने चन्दन पोत दिया हो--**चन्दनात् चन्द्रम्।** जैसे किसीने चन्दन लगा दिया हो शरीरपर, जब चन्द्रमाकी मधुर-मधुर किरणें पड़ती हैं शरीरपर, वह चाँदनी छिटकती है, अमृतकी वर्षा होती है। चन्द्रमामें अमृत है, चन्द्रमामें स्वाद है, चन्द्रमामें चमक है और चन्द्रमा देखो अपने वर्गमें कितना प्यारा, कितना सौम्य है। तो चन्द्रमा रसरूप है।

एक आदमीसे कहते हैं कि भाई झूठ बोलना बुरा है, मत बोलो। तो कहेगा झूठ बोलना बुरा है—यह तो हम बचपनसे जानते हैं, लेकिन जब कहीं मजा मिलनेवाला होता है तो झूठ बोल देते हैं। कि भाई चोरी मत करो—यह तो जब नन्हें-से दो वर्षके थे, तभी हमारी माँने हमको बता दिया था कि चोरी मत करो, तुम क्या नयी बात बताते हो! यह जानते हुए भी जब कहीं ऐसा लगता है कि धन मिलेगा, मजा मिलेगा, तो चोरीमें प्रवृत्ति हो जाती है। यह रसका प्रयोजन है जीवनमें; मजा चाहिए, मजा। मजा मिले तो सच बोले, मजा मिले तो झूठ बोले। आदमी सच झूठका भेद नहीं करता, मजा चाहता है। आदमी चोरी और साहूकारीको नहीं चाहता, आदमी मजा चाहता है। जीवनका प्रयोजन हो गया—रस। यदि परमानन्दकी प्राप्ति न हो तो लोग मोक्ष भी न चाहें। सम्पूर्ण दुःखकी निवृत्ति होकर परमानन्दकी प्राप्ति हो—इसीलिए मोक्ष चाहते हैं न! तो देखो यह आनन्दरूपसे—आह्लाद रूपसे कौन है? **ज्ञानम् आनन्दं ब्रह्म। रसो वै सः। रसं ह्येवायं लब्ध्वा आनन्दी भवति।** यह रसरूप जो ब्रह्म है उसका विकास चन्द्रमा है और चिद् ज्योतिरूप जो ब्रह्म है, उसका विकास सूर्यमें है। ज्योतिरूप जो ब्रह्म है उसका विकास सूर्यमें अधिक है और रसरूप जो ब्रह्म है उसका विकास चन्द्रमामें ज्यादा है। बुद्धि प्रधान सूर्य है और मनः प्रधान--रस प्रधान चन्द्रमा है।

आप देखते हैं एक विभाग अपने हिन्दू-शास्त्रोंका अब तो हिन्दू नाम ही लोगोंको अच्छा नहीं लगता है, कहते हैं नाममें क्या रखा है! यह 'हिन्दु' नाममें भी इन्दु है। यह हीनं दूषयति। हिनस्ति दुष्टान् इति हिन्दुः। जो दुष्टका हनन करे उसका

नाम हिन्दु। वीरका नाम हिन्दू है। हिमालयसे लेकर हिन्दु पर्वत-पर्यन्त—इन्दु पर्वत तक, जो निवास करे, हिन्दु—हिमालयसे लेकर कन्याकुमारी तक जिसकी मातृभूमि हैं जिसकी, आचार्यभूमि है—दोनों। यह बहुत विलक्षण है। चन्द्रमाकी बात आपको सुना रहे; हिन्दूधर्मशास्त्रकी यह विशेषता देखो स्त्रीकी उपासनामें चन्द्रमाकी उपासना और पुरुषकी आराधनामें सूर्यकी विशेषता है। रोज सन्ध्यावन्दनमें सूर्यको अर्घ्य दो, गायत्रीका जप करो। गायत्रीकी उपासना पौरुषकी उपासना है। अब चन्द्रमाको अर्घ्य दे पुरुष, कहीं सुना? कहीं विधान ही नहीं है शास्त्रमें कि पुरुष चन्द्रमाको अर्घ्य दे। चाहे गणेश चतुर्थी होवे, चाहे संकट चतुर्थी होवे, चाहे करवा चतुर्थी होवे, चाहे पूर्णिमा होवे। स्त्री उपासनामें चन्द्रमाके लिए मुख्य स्थान है, गौण रूपसे पुरुषके लिए है और सूर्योपासनामें मुख्य स्थान पुरुषके लिए है और गौण स्थान स्त्रीके लिए है। पर सूर्यको अर्घ्य स्त्री भी दे सकती है।

तो अब देखो चन्द्रमा क्या है? यह स्त्रीकी जो वृत्ति है, वह रसिक वृत्ति है, मनः प्रधान-रसप्रधानवृत्ति, स्त्रीके शरीरमें कोमलता जो है उसका भूषण है। भगवान्से पूछो न दाढ़ी मूँछ क्यों नहीं बनाया? लो समानाधिकार। और हे पुरुषो! समानाधिकार देनेवालो एक बच्चा स्त्रीके पेटसे होवे और एक बच्चा पुरुषके पेटसे होवे। लो समानाधिकार। अरे बाबा, ईश्वरने भेद बनाया है। स्त्रीका पेट बच्चा धारण कर सकता है, पुरुषका शरीर बच्चा धारण नहीं कर सकता। स्त्री और पुरुषके शरीरकी बनावटमें बहुत फर्क है। त्याग-प्रधान पुरुष शरीर है और तपः-प्रधान स्त्री शरीर है। यह प्राकृतिक भेद है, वैज्ञानिक भेद है, ईश्वरीय भेद है, शास्त्रीय भेद है।

इसीसे स्त्रीके लिए जब उपासनाका वर्णन करते हैं तो कोमल उपासनाका वर्णन करते हैं। अब महाराज वह **गणानां त्वा गणपतिꣳहवामहे निधीनांत्वा निधिपतेꣳहवामहे** पुरुषावृत्तिका गला हो जायेगा, जैसे वैदिक पण्डितोंका गला होता है। वह उदात्त, अनुदात्त, स्वर युक्त उच्चारण करेंगे। काशीके पण्डितोंसे सुनो वेद पाठ, अरे कैसा मोटा गला हो जाता है।

तो बोलीमें माधुर्य कहाँसे आवेगा? तो **नक्षत्राणामहं शशी। रामचन्द्रः। कृष्णचन्द्रः।** ये चन्द्रमा हैं। यह मधुरा-वृत्तिक हैं। चाहे स्त्रीके शरीरमें हो चाहे पुरुषके शरीरमें हो। मधुर वृत्ति, रसिक वृत्ति जिसके अन्तःकरणमें हो, उसके द्वारा यह चन्द्रके रूपमें परमात्मा उपास्य होता है। तो चन्द्रके रूपमें उपासना रस प्रधान है और मरीचिके रूपमें उपासना शक्ति-प्रधान है—प्राणोपासना है और रविके रूपमें उपासना बुद्धि-प्रधान-ज्ञान प्रधान है। विष्णुके रूपमें जो उपासना है वह

व्यापकता प्रधान है। आदि, मध्य और अन्तके रूपमें जो उपासना है वह कारण-प्रधान है, लय-प्रधान है और आत्मरूपका जो चिन्तन है, वह तत्त्वानुसन्धान है।

यह क्रमसे—**मरीचिर्मरुतामस्मि नक्षत्राणामहं शशी**—अब यह चन्द्रमा, मधुरोपासना रस-प्रधान हुई। अब आँखका देवता सूर्य है, यह बात तो समझमें आती है, कैसे? कि रोशनी न हो आगमें, बिजलीमें, सूर्यमें, तो आँख बेचारी देख नहीं सकती। तो चक्षुका अनुग्राहक होनेके कारण चक्षुका देवता सूर्य है; परन्तु यह चन्द्रमा कौन है? बोले—यह मनका अनुग्राहक देवता है।

आप जानते ही हैं मनका देवता कौन है? मनका देवता चन्द्रमा है। भला यह क्या बात कि मनका देवता चन्द्रमा! क्योंकि सूर्यके बिना आँख नहीं देख सकती, वैसे क्या चन्द्रमाके बिना मन सोच नहीं सकता? कृष्णपक्षकी अमावस्याको मन क्या कोई संकल्प-विकल्प नहीं कर सकता?

अब देखो यह बात सुनाते हैं कि मनका अनुग्राहक चन्द्रमा है। वह आप जानते हैं, यह चन्द्रमाका जो मन्त्र पढ़ते हैं ना, पण्डित लोग, नवग्रहकी जो उपासना होती है, अब देखो हमने कितनी बार, हजारों बार तो होम कराया होगा—**इ देवा.....**

यह मन्त्र जो चन्द्रमाका है हजारों बार मैंने पढ़ा होगा, हवन किया होगा, कराया होगा **सोमोस्माकं ब्राह्मणानां राजा**—औषधि, वनस्पति, ब्राह्मण—इनका राजा चन्द्रमा है।

अब मनके अनुग्रहकी बात है। चन्द्रमाकी किरणोंसे अमृत बरसता है और वह पड़ता है जौ पर गेहूँपर, मटरपर, चनेपर, अंगूरपर, अनारपर भला। उसमें चान्द्ररस आता है—चन्द्रमाका रस। जब चन्द्रमाके रससे परिपुष्ट अन्नका हम सेवन करते हैं, वह अन्न शरीरमें जाता है, तब मन काम करता है। यदि अन्नका रस शरीरके भीतर नहीं होवे तो मन काम नहीं करेगा। पन्द्रह दिन उपवास करके देखो मनीरामकी क्या दशा होती है। ढीला पड़ जायेगा।

क्या मतलब हुआ? कि चन्द्रसे अनुगृहीत जो अन्न है, उस अन्नरससे गृहीत होकर ही मन अपना काम कर सकता है। जैसे सूर्यसे अनुगृहीत बिजली। बिजलीकी रोशनीमें आँख काम करती है। सूर्यसे अनुगृहीत अग्नि, अग्निकी रोशनीमें आँख काम करती है। सूर्यसे अनुगृहीत चन्द्रमाकी रोशनीमें आँख देखती है। इसी प्रकार चन्द्रमाके रससे अनुगृहीत जो औषधि और वनस्पति जौ-गेहूँ-चना-मटर-अंगूर-अनार, आम आदि इन रसानुगृहीत औषधि-वनस्पतिसे ही हमारा मन काम कर सकता है। मनका अधिदेवता चन्द्रमा है, माने देवता है—देवतारूपसे चन्द्रमा।

तो मनमें यदि ऐसा ख्याल होवे कि मजा भी आवे और ध्यान भी हो, समाधि भी लगे और उपासना हो, तो प्राणोपासना मरीचिर्मरुतामस्मि और ध्यान हो और उपासना होवे तो ज्योतिषां रविरंशुमान् और हृदयमें परमात्माकी उपलब्धि होवे, तो **आदित्यानामहं विष्णुः**।

अब मन नहीं लगता दुनियामें, इधर-उधर मन जाता है। मनको अगर इधर-उधर भटकाओगे, जोर लगाओगे कि हे मन! तू लग जा; तो यह माननेवाला है नहीं। यह बहुत लालची है। हमारे मित्र बताते हैं कि जब हम बच्चोंसे कहते हैं कि हम दो आना पैसे देंगे तुम दो माला फेरो, एक माला फेरो दो आना मिलेगा, हम माला पर दो आना, अरे बच्चे लोग माला लेकर बैठ जाते हैं और दस-दस, बीस-बीस माला फेर डालते हैं। क्यों? कि उनको पैसा मिलनेका मजा है, उनके ध्यानमें।

ऐसे यदि ध्यान करते समय, परमात्माका चिन्तन करते समय मनको मजा आवे, तब वह लगता है। तो ऐसे ध्यान करो! जिनके होंठोंसे चाँदनी छिटकती है। जब कभी मुस्कुराते हैं तो दाँतोंसे जो धवलिमा है—उज्ज्वलता, वह बरस पड़ती है। जब कभी आँख उठाकर देखते हैं तब उनकी आँखोंसे रस बरस पड़ता है। जब कभी वे छू देते हैं तो रसका संचार हो पड़ता है। यह रसभावक परमात्मा है, उसका ध्यान करो, रस आवेगा, तुम्हें मजा आवेगा। मन बिना मजा आवे नहीं लग सकता।

प्रयोजन मनुदिश्य न मन्दोऽपि प्रवर्तते।

मन तो जहाँ मजा आवेगा वहाँ लगेगा। तो अपने ध्यानको केवल सत्ता प्रधान मत बनाओ। विष्णु सत्ता-प्रधान है, रवि ज्ञान-प्रधान है और मरीचि शक्ति-प्रधान है। और, आदि-मध्य-अन्त जो है वह ईश्वर है। और आत्मा जो है वह स्वयं प्रत्यक् चैतन्याभिन्न ब्रह्म ही है। ब्रह्मका, ईश्वरका, व्यापकका, ज्ञानका, शक्तिका और रसका-आनन्दका चिन्तन इन विभूतियोंके प्रसंगमें बताते हैं।

अब आगेका प्रसंग बताते हैं—

वेदानां सामवेदोऽस्मि देवानामस्मि वासवः।
इन्द्रियाणां मनश्चास्मि भूतानामस्मि चेतना॥ 23॥

वेदोंमें सामवेद हूँ। वेद शब्दका अर्थ ज्ञान ही होता है। विद् ज्ञाने धातु है, वेद्यते अनेन इति वेदः। जिससे वस्तु जानी जाय, उसका नाम होता है वेद। अब बताओ वेदकी क्या जरूरत? हम अपनी आँखसे मशीन लगाकर चीज देख लेंगे फिर वेदकी जरूरत? इसमें ऐसी बात है कि जो चीज मशीनसे कहीं मालूम पड़ नहीं सकती, जिसके सम्बन्धमें यह बिलकूल पक्का है, पक्की बात है, बिलकूल

निश्चित बात है कि जो द्रष्टा, जो स्वयंप्रकाश आत्मधातु कभी किसी इन्द्रियके प्रत्यक्ष नहीं हो सकती। अतएव मशीनके प्रत्यक्ष नहीं हो सकती क्योंकि मशीन वही चीज दिखाती है जो इन्द्रियोंकी शक्ति बढ़ा देनेसे दिख जाती है। आँखसे कोई चीज नहीं दिख रही है, तो खुर्दबीन लगाया और वह चीज हजार गुना, लाख गुना हो गयी और आँखसे दिखने लगी।

एक ज्ञान वह होता है जो इन्द्रियोंसे अध्याहार्य होता है। कानसे शब्द सुना, शब्दके बारेमें ज्ञान हुआ। आँखसे रूपको देखा और मनमें, बुद्धिमें रूपके बारेमें ज्ञान हुआ। नाकसे गन्धको सूँघा और बुद्धिने कहा चमेली है, गुलाब है, जीभने कहा—यह खट्टा है, मीठा है। बाहरकी वस्तुओंको देख-देखकर और अनुभव करके जो ज्ञानका संग्रह किया जाता है, डाक्टर लोग सौ मरीज मारकर जिस औषधिका अनुभव लेते हैं, ऐसे समझो, सौ मरीजों पर उसका उपयोग किया, किसको लाभ हुआ, किसको हानि हुई, रजिस्टरमें लिखते गये और फिर दवाका स्वरूप निर्धारित हो गया, प्रयोग करके—इसको ऐन्द्रियक ज्ञान बोलते हैं। यह मशीनसे होता है, यह इन्द्रियोंसे होता है, यह कदाचित् ध्यानसे भी होता है। लेकिन मशीनके पीछे, इन्द्रियोंके पीछे, मनके पीछे बुद्धिके पीछे, जो है—**बुद्धे परतस्तु सः। बुद्धेरात्मा महान् परः। महत परममव्यक्तं अव्याक्तात् पुरुषः परः।** उस वस्तुका ज्ञान कैसे होगा? जो ज्ञात होता है उसीको बोलते हैं पुरुषके अनुभवका विषय, पुरुषकी बुद्धिका विषय, पुरुषके मनका विषय, पुरुषकी इन्द्रियोंका विषय, पुरुषके यन्त्रका विषय। एक बार विलायत घूम आवें तो ये बाबू लोग तों समझते हैं कि ये लोग विज्ञानकी—साईंसकी बात क्या समझेंगे! बोले—साईंससे सिद्ध हो गया कि आत्मा है।

अच्छा क्या सिद्ध हुआ साईंससे? फोटो ही ली गयी है न! अरे एक बार 'सरस्वती'में मैंने देखा, आत्माके फोटो छपे थे। ऐसे छपा था कि एक आदमी जो मरने लगा तो उसे बिलकुल शीशेके भीतर बन्द कर दिया गया। जब उसकी साँस निकली तो शीशा फूट गया। अब वह फूटते हुए शीशेमें-से जो प्राण निकलनेकी फोटो ली गयी, बोले यह आत्माकी फोटो ली गयी है। हैगलेने कहा कि हम आत्माकी बूटी तैयार करेंगे, अमृतरस तैयार करेंगे, अमृतवटी बनावेंगे और मरनेवालोंके मुँहमें डाल-डालकर लोगोंको आत्मावाला बनावेंगे। हे भगवान्!

तो यह जो यान्त्रिक ज्ञान है, ऐन्द्रियक ज्ञान है, मानस ज्ञान है, बौद्ध ज्ञान है, साक्षीभास्य ज्ञान है, माने अपनेको भी यदि सामने आकर यदि कोई ज्ञान, ज्ञान

जन्य ज्ञान है, ऐसे। इसको शास्त्रकी भाषामें बोलते हैं—ज्ञानजन्य ज्ञान। पहले मनसे, बुद्धिसे, इन्द्रियसे संसारमें देख लिया और उससे एक ज्ञान पैदा हुआ। यह एक ऐसी चीज है जिसका ज्ञान ज्ञानजन्य नहीं होता। यन्त्रसे नहीं, इन्द्रियसे नहीं, मनसे नहीं, बुद्धिसे नहीं, अनुभवसे भी नहीं, अनुभव-जन्य ज्ञान नहीं है वह। वह तो स्वयं अनुभवरूप है। अनुभवजन्य नहीं, अनुभव स्वरूप है। तो वेद माने क्या? वेद माने वह ज्ञान तुमको यन्त्रोंसे, इन्द्रियोंसे, मनसे, बुद्धिसे अनुभवका विषय होकर कभी मालूम नहीं पड़ सकता। कभी मालूम पड़ ही नहीं सकता किसी करणसे, उस वस्तुका यथार्थ ज्ञान जिसको होवे उसका नाम वेद होता है। इसलिए उसको अपौरुषेय बोलते हैं।

पौरुषेय ज्ञान जो है वह भ्रम, प्रमाद, विप्रलिप्सा, करणापाटव आदि दोषोंसे भ्रष्ट है और उस पुरुष सुलभ दोषसे असंस्पृष्ट जो ज्ञानतत्त्व है उसको जो लखावे उसको बोलते हैं वेद।

ये जो भरतू-चरतू लोग दुनियामें घूमते रहते हैं इनके द्वारा कहीं आत्मा बेचारी प्लेन चट पर कसी जा रही है, कहीं बुलाई जा रही है। पर आत्मा तो उसे कहते हैं जो पुरुषके अनुभवका भी विषय नहीं है, स्वयं अनुभव स्वरूप है। जो अनुभाव्य नहीं है, साक्षीभास्य भी नहीं, स्वयं साक्षी है। साक्षी भास्य तो सुषुप्ति होती है। आत्मा स्वयं साक्षी है। जो यन्त्रका, इन्द्रियका, मनका, बुद्धिका, साक्षीका भी विषय नहीं है, विषयत्वेन साक्षी भी जिसको नहीं जान सकता, उस वस्तुकी ब्रह्मता बतानेवाला जो ज्ञान है, उसको वेद कहते हैं। उसके चार भेद होते हैं—ऋक् यजुः साम और अथर्व। श्रीकृष्ण कहते हैं कि **वेदानां सामवेदोऽस्मि**। वेदोंमें मैं सामवेद हूँ। **गीतिकी सामाख्या**। साम कहते हैं गीतिको।

देखो साम है, सामवेद है। साम माने गीति, रस और वेद माने ज्ञान और अस्मि माने है। सामवेद माने सच्चिदानन्द। अस्मि माने अस्ति। वेद माने भाति और साम माने प्रिय। बड़ा मधुर वेद है। इस वेदमें ज्ञान है। आपको क्या सुनावें! आप लोग तो सब वेदान्त सत्संग मंडलके सत्संगी हैं तो सब जानते हैं भला! अब उनको क्या नयी बात सुनावें? 'तत्त्वमसि' महावाक्य है छान्दोग्योपनिषद्में, वह सामवेदका है। यह 'तत्त्वमसि' नौ बार इस उपनिषद्में आया है। उसका क्या अर्थ हुआ? अरे मैं 'तत्त्वमसि' हूँ—यह इसका मतलब हुआ।

☆

वेदानां सामवेदोऽस्मि देवानामस्मि वासवः।
इन्द्रियाणां मनश्चास्मि भूतानामस्मि चेतना॥ 22॥

भगवान् श्रीकृष्ण अर्जुनसे कहते हैं कि मैं वेदोंमें सामवेद हूँ। देवताओंमें वासव-इन्द्र हूँ। इन्द्रियोमें मैं मन हूँ और भूतोंमें मैं चेतना हूँ।

वेदोंमें मैं सामवेद हूँ। वेद क्या? वेदके सम्बन्धमें कई बात ऐसी हैं जिसको साधारण लोग जानते नहीं हैं। उनके सामने एक विद्वान्ने कोई पुस्तक रख दी और एक वेदकी पुस्तक, दोनों सामने रखीं, तो वे दोनोंको बराबर ही समझेंगे। खास करके आजकल शोधका युग है, तो इसमें पुराण, कुरान, बाइबिल, जिन्दावस्था, गुरुग्रन्थ-साहिब भिन्न-भिन्न सम्प्रदायोंनें जिस ग्रन्थको मुख्य प्रमाण मानते हैं, उन सबको लोग समान ही मानते हैं। परन्तु मान्यताके स्वरूपमें जो भेद है, शोध करने योग्य वस्तु वह है।

मान्यताके स्वरूपमें भेद क्या है? इस संसारमें जितने ग्रन्थ हैं उनका कोई-न-कोई कर्ता माना जाता है। कर्ताका अर्थ यह होता है कि कर्ताने दूरबीनसे, खुर्दबीनसे, अपनी इन्द्रियोंसे, मनसे, ध्यानसे एक बात जानी और जानकर उसको लिख लिया। इस बातको हमारे वैदिक सम्प्रदायमें बुरा मानते हों सो बात नहीं। पर मानते हैं इसको ज्ञानजन्य ज्ञान। डबल ज्ञान बोलते हैं इसको। माने पहले इन्द्रियोंसे, यन्त्रोंसे संसारमें कोई ज्ञान प्राप्त हुआ और उस प्राप्त हुए ज्ञानका अन्तःकरणमें संग्रह हुआ और फिर वाक्य-रचनाके द्वारा वह पोथीमें उतार दिया गया। दुनियाके अनुभव समेटकर, किसीके बेटेने उसको बहुत तकलीफ दी और भीतर खूब तकलीफके संस्कार ज्ञान इकट्ठे हो गये, जो उसने पोथी लिखी तो कहा कि बेटा बहुत दुःखद है। किसीकी घरवालीने बहुत तकलीफ दी, जब उसको खूब तकलीफ हुई घरवालीसे, उसके दिलमें वे संस्कार इकट्ठे होते गये कि घरवाली तकलीफ देनेवाली होती है। अब उसने पोथी लिखी तो लिखा कि ब्याहमें बड़ा दुःख है। इसका नाम ज्ञानजन्य ज्ञान है।

एक डाक्टरने एक प्रकारके रोगीको भिन्न-भिन्न प्रकारकी दवा दी, अब जिस दवासे लाभ हुआ, उसने रजिस्टरमें दर्ज कर दिया कि भई इस रोग पर इस दवाने बहुत काम किया। इसका नाम होता है ज्ञानजन्य ज्ञान।

इस तरह जितने ज्ञान संग्रह किये जाते हैं, माने जितने ग्रन्थ लिखे जाते हैं, उनको अनुवादक ग्रन्थ कहते हैं। हमारे वैदिक भाषामें उस ग्रन्थको अनुवादक ग्रन्थ बोलते हैं। माने जैसा संसारमें अनुभव हुआ वैसा उसमें दर्ज कर लिया गया, वैसा नोट कर लिया गया। ऐसे जो ज्ञानजन्य ज्ञानके संग्रह हैं, उनमें कई दोष होने सम्भव हैं। एक तो बातको समझनेमें कोई गलती कर दी गयी हो, बेटेका प्रेम हो, पत्नीका प्रेम हो, दवामें दोष हो, उसे समझनेमें प्रमाद हो गया हो, उस समय उधरसे इधर हो गया। उनकी इन्द्रियोंको वह न दिखा हो, उस यन्त्रसे वह गृहीत न हो, कितने रसायन ऐसे हैं जिनको पहले लोग जाँच-पड़ताल करके किसी रोगपर चला देते हैं, लेकिन बादमें मालूम होता है एक चीज इसमें ऐसी थी जो पकड़में पहले नहीं आयी थी।

अभी मैंने अखबारोंमें पढ़ा कि कोई कैंसरकी दवा निकाली थी विदेशोंमें, कैंसरके रोगियों पर उसका प्रयोग किया गया और कैंसरकी ग्रन्थि उससे दब जाती थी, लेकिन जितने लोगोंको वह दवा दी गयी यदि गर्भवती स्त्रीको वह दवा दी गयी तो उसका बच्चा पंगु हो गया, प्रायः हाथ नहीं पैदा हुए। जब पाँच हजार रोगियोंमें गर्भवती स्त्रियोंके ऊपर उसका यह प्रभाव पड़ा कि बच्चे तो हुए परन्तु हाथ नदारद, तब उन्होंने कहा, भई इस दवामें दोष तो नहीं है। अब जाँच की तो वह चीज उसमें मिल गयी। जिसके कारण वह कैंसरको तो मिटा देती है, लेकिन हाथ पैदा नहीं होता।

देखो, यह क्या हुआ? कि वह उस समय मशीनसे ग्रहण नहीं हुआ, प्रमाद भी हो गया और यन्त्रसे वह रसायन गृहीत नहीं हुआ। इसको 'करणापाटव' बोलते हैं।

अच्छा, दुनियामें स्टंट कोई फैलाना हो, प्रॉपेगण्डा बोलते हैं, विप्रलिप्सा— संस्कृतका शब्द है। लोगोंको बरगलानेके लिए, वह आदमी बेइमान हो और ऐसी-ऐसी पुस्तकें लिख दे तो प्रमाद, विप्रलिप्सा, करणापाटव, भ्रम-सचमुच ही उससे भूल हो जाय। जो ज्ञान-जन्यज्ञानका संग्रह होता है, वह लौकिक होता है और उसमें संशोधनकी हमेशा गुंजाइश रहती है। संशोधनकी हमेशा उसमें सम्भावना रहती है कि भाई और अनुभव होगा तो और, और अनुभव होगा तो और! जैसे विज्ञानकी स्थिति है, नया-नया विज्ञानका आविष्कार होता जाता है। तो अब यह जो ज्ञानजन्य ज्ञान है, माने संसारका अनुभव कर-करके जो ज्ञान समेटा गया है और आँखसे, कानसे, नाकसे, जीभसे, त्वचासे, मनसे, ध्यानसे अनुभव

करके जो लिखा गया है, वह अनुभाव्य-विषयक ज्ञान माने परिच्छिन्न-विषयक ज्ञान है वह टुकड़े-टुकड़ेका ज्ञान है और वेद जिस धातुका, जिस तत्त्वका ज्ञान बताता है, वह प्रमाणान्तरसे अधिगत और प्रमाणान्तरसे अबाधित ज्ञान है।

यह पहले मैंने जो उनकी भाषा है, उनकी बोली है, उसमें यह बात कही। वह किसी भी दूसरे औजारसे बाहरी या भीतरी जिसका पता नहीं चलता और किसी भी बाहरी और भीतरी औजारसे जो कट नहीं सकता! आँख रूपके बारेमें कुछ भ्रान्त हो जाये, कह दे कि लाल है और बादमें बतावे नहीं, लाल नहीं, केसरिया है, केसरिया नहीं गेरुआ है, तो आँखसे जो चीज मालूम पड़ती है वह आँखसे कट जाती है। रूप और रूपका अभाव दोनों आँखसे मालूम पड़ता है। परन्तु रूप और रूपके अभावका जो साक्षी आत्मा है, वह ज्ञान-जन्य ज्ञान नहीं है। यहाँ तक कि वह अनुभवका भी विषय नहीं होता तो वह क्या है? स्वयं अनुभव है।

स्वयमेवानुभूतित्वात् विद्यते नानुभाव्यता।

स्वयं अनुभव-स्वरूप होनेके कारण वह अनुभाव्य नहीं होता। तो देखो, अब उस ज्ञानके बारेमें आपको कुछ थोड़ी-सी बात बताते हैं। परिस्थिति कैसी भी हो, परिस्थितिका प्रकाशक ज्ञान एक होता है। परिस्थितिके भेदसे ज्ञानमें भेद नहीं होता। और देश चाहे यूरोप हो चाहे एशिया, वह जो अपरिच्छिन्न विषयक ब्रह्म विषयक ज्ञान है वह एक ही होगा। स्वर्गमें दूसरा और पातालमें दूसरा, वह नहीं होता। समाधिमें भी वही रहता है, विक्षेपमें भी वही रहता है। समाधि, विक्षेपके भेदसे उसमें भेद नहीं पड़ता। और चाहे घड़ा दिखे, चाहे कपड़ा, घड़े और कपड़ेमें भेद होगा, परन्तु ज्ञानमें भेद नहीं होगा। रस्सीमें साँप जो दिख रहा है वह झूठा कि सच्चा? झूठा भी हो सकता है, सच्चा भी हो सकता है। लेकिन जो मालूम पड़ना नामका ज्ञान तत्त्व है, वह न झूठा होता न सच्चा। वह तो झूठे और सच्चेका प्रकाशक होता है।

तो ज्ञान न यथार्थ होता है, न अयथार्थ, दोनोंका प्रकाशक। न दूर होता है न निकट, दोनोंका प्रकाशक। न भूत होता है न भविष्य, दोनोंका प्रकाशक। न घट होता है न पट होता है, दोनोंका प्रकाशक। न समाधि होता है न विक्षेप, वह समाधि, विक्षेप दोनोंका प्रकाशक। न वह जीव होता है न ईश्वर होता है, वह दोनोंका प्रकाशक। इस ज्ञानका निर्माण ईश्वर नहीं करता। बोले—भाई ईश्वर तो ज्ञान बनाता होगा?

अब देखो इस बातको आप यदि ध्यानमें लोगे, वेदके बारेमें मान्यताका स्वरूप क्या? बोले—अमुक सन्‌में, अमुक संवत्‌में दो हजार वर्ष पहले एक महान नेता पैदा हुए—और उनको ईश्वरने एक ज्ञान दिया और तेरह सौ वर्ष पहले एक नेता पैदा हुए, उनको ईश्वरने एक ज्ञान दिया। दोनोंमें फर्क है। तो बोले—ईश्वरने कौन-सा ज्ञान दिया? बोले—पहला जो था उसको मंसूख कर दिया और दूसरा दे दिया। मंसूख करना तो आप जानते हैं ना! पहले ज्ञानका अपवाद कर दिया ईश्वरने और दूसरा ज्ञान और दे दिया।

अब तीसरा कहीं और दे दें? तो मना कर दिया कि अब और देंगे ही नहीं। तो हम लोगोंकी जो वेदके सम्बन्धमें मान्यता है, उस मान्यताके स्वरूपको समझो। हमारा कहना यह है कि ज्ञानका निर्माता ईश्वर नहीं हो सकता। अगर ईश्वर ज्ञानका निर्माण करे, तो उस ज्ञानके निर्माणके पहले ईश्वर ज्ञानी था कि अज्ञानी था? यदि कहो कि ईश्वर अज्ञानी था, तब तो वह ज्ञानका निर्माण कर ही नहीं सकता। और, यदि कहो कि ज्ञानी था, तो क्या ज्ञान था? और जब ईश्वरको ज्ञान था ही, तब उसने ज्ञानका निर्माण कैसे किया?

अब देखो आपको बतावें, ज्ञानकी उत्पत्ति सिद्ध नहीं होती, क्योंकि यदि ज्ञानकी उत्पत्ति हो तो उत्पत्तिको कौन जानेगा? उत्पत्ति भी तो ज्ञानसे ही सिद्ध होगी। अच्छा, ज्ञान मर नहीं सकता। क्यों नहीं मर सकता? बोले—ज्ञान मरेगा तो मालूम किसे पड़ेगा? ज्ञानका मरना मालूम पड़ेगा कि नहीं? अगर ज्ञानका मरना अगर मालूम ही नहीं पड़ेगा तो ज्ञानकी मृत्यु कल्पित है। तो ज्ञानका जन्म नहीं होता, ज्ञानकी मृत्यु नहीं होती, ज्ञानमें समाधि नहीं होती, ज्ञानमें विक्षेप नहीं होता, ज्ञानमें झूठ और सचका भेद नहीं होता। ज्ञानमें देश-काल-वस्तुका भेद नहीं होता, ज्ञानमें वक्ता और श्रोताका भेद नहीं होता। ज्ञानके स्वरूपके सम्बन्धमें जो हमारी मान्यता है, भाई नेतागिरी दूसरी चीज है। नेतागिरी तो यह है कि उसमें मेल-मिलाप चाहिए। यह हम नहीं कहते कि वेद किसीने बनाया कि नहीं बनाया। छोड़ो उसको! हम यह कहते हैं कि वेदमें ज्ञानका यह स्वरूप बताया गया है। पोथीका नाम वेद नहीं होता, मन्त्रका नाम वेद नहीं होता। जो उसमें विद्या है उसका नाम वेद है। तो वेदमें जिस विद्याका निरूपण है, उस विद्यामें ज्ञानका यह स्वरूप बताया है।

ज्ञानके इस स्वरूपको समझें। पैदा होनेवाले जो ज्ञान हैं, आँखसे ज्ञान पैदा हुआ और आँखसे मिट गया। आँख फूट गयी तो रूपका ज्ञान ही नहीं, कान बहरा

हो गया तो शब्दका ज्ञान ही नहीं, जीभ खराब हो गयी तो रसका ज्ञान ही नहीं, नाक खराब हो गयी तो गन्धका ज्ञान ही नहीं। ये जो छोटे-मोटे ज्ञान हैं, ज्ञानके स्वरूपके सम्बन्धमें हमारी यह मान्यता नहीं है, इसलिए ज्ञानका कर्ता हम स्वीकार नहीं करते। अगर कोई कर्ता जीवरूप है तो ज्ञानस्वरूप है, ज्ञानसे विलक्षण जो उसका स्वरूप है वह बाधित है। और, यदि ज्ञानका कर्ता ईश्वर है, जो वह ज्ञान स्वरूप है। ज्ञान स्वरूपसे जुदा जो ईश्वर है वह बाधित है। यदि जगत् नामकी कोई चीज है तो वह ज्ञानस्वरूप है, ज्ञान स्वरूपसे जुदा नाम-रूपात्मक प्रपंच है, वह बाधित है।

आप यह देखो, इसीसे हम यह कहते हैं कि वेद अपौरुषेय हैं। पुरुष माने ईश्वर और जीव दोनों। दोनोंके ज्ञानका विषय जो कुछ होता है, उससे परे जो वस्तु है, उसका निरूपण। जो ईश्वरको दिखता है, उससे भी परे और जो जीवको दिखता है उससे भी परे। वह अनुभव जिसमें ईश्वर और जीव—दोनों चमकते हैं उसको ज्ञान बोलते हैं। जिसमें जीव भी आभास है, जिसमें ईश्वर भी आभास है;

माया आभासेन जीवेच उपरौति।

नारायण, अब वेद तो सबमें समप्रमाण है। ऋग्वेद जितना प्रमाण है यजुर्वेद उतना प्रमाण है, सामवेद उतना ही प्रमाण है। अथर्ववेद उतना ही प्रमाण है, वेदोंमें कोई कमबेशी प्रमाणता नहीं है। क्योंकि वे उस विषयका मुख्यरूपसे निरूपण करते हैं जिस वस्तुका प्रत्यक्ष और अनुमानके द्वारा ज्ञान नहीं होता—

प्रत्यक्षेणानुमित्या वा यस्तूपायो न विद्यते।
वदन्ति वेदेन तस्माद् वेदस्य वेदता।

वेदका वेदत्व क्या है? वेदका वेदपना क्या है? जो चीज आँखसे नहीं दिखती, वह वेद बताता है। जो मनसे नहीं मालूम पड़ता, उसे वेद बताता है। जो युक्तिसे नहीं मालूम पड़ता, उसे वेद बताता है। जो युक्तिसे नहीं मालूम पड़ता, उसे वेद बताता है। जो साक्षीभास्य नहीं होता, उसे वेद बताता है। यदि ज्ञान किसीके द्वारा बनाया हुआ हो, ज्ञान अगर किसीसे पैदा हुआ हो, तो वह ज्ञान मर जायेगा।

देखो हमने बड़ी महत्त्वपूर्ण पुस्तकें पढ़ीं, वे दस वर्ष भी बाजारमें नहीं चलीं, पुरानी पड़ जाती हैं। आपको शायद मालूम नहीं होगा, जैसे गीता-प्रेस धार्मिक पुस्तकें छापता है, तो जो हमारे विद्वानोंके द्वारा लिखी हुई पुस्तकें छपती हैं, वे दस हजार, बीस हजार छपती हैं और 'गीता' आज तक कई करोड़ छप चुकी है। इसका कारण क्या है? रामचरितमानस करोड़ोंकी संख्यामें छपता है। भागवत लाखोंकी संख्यामें छपता है। हमने जब भागवतका पहला अनुवाद किया था, तो

उसका पहला संस्करण सात हजार छपा था। अब उसके पाँच-सात संस्करण छप गये। और ये बड़े-बड़े विद्वान् लोग ग्रन्थ लिखते हैं, वे पाँच हजार, दस हजार, बहुत हुआ तो बीस हजार। यह बात और है कि संसारमें जो लाइब्रेरी हैं, उनमें पुस्तकोंकी खोज की गयी है दुनियामें कि सबसे पुरानी पुस्तक कौन है? यह आपको मालूम है? ऋग्वेद ही संसारके पुस्तकालयोंमें सबसे प्राचीन पुस्तक है। यह इतने दिनोंसे क्यों चल रहा है? इसमें-से नयी-नयी बात क्यों निकलती है? वह एक ऐसी बात बताता है जहाँ तक आदमीकी आँख और दिल—यन्त्र और तन्त्र दोनों नहीं पहुँचते। जहाँ यन्त्रकी पहुँच नहीं, जहाँ मन्त्रकी पहुँच नहीं, जहाँ अनुभवकी विषयता नहीं और जो ज्ञेय और ज्ञातापनसे अनुविद्ध अनुभव नहीं, जिसमें अनुभाव्य विषय और अनुभाविता दोनों नहीं, ऐसी अखण्ड वस्तुका प्रतिपादन करनेवाली होनेके कारण वेदको वेद बोला जाता है। अब इसमें सामवेद लो। तो सामवेदकी बड़ी विचित्र स्थिति है। ऐसा वर्णन आता है कि ऋग्वेद—**ऋग्वेदं जातुं वैश्यं वर्णमाहुः।** वैश्य वर्णकी उत्पत्ति ऋग्वेदसे हुई। **यजुर्वेदं क्षत्रियस्याहुर्योनिम्।** यजुर्वेदको क्षत्रियकी योनि बताते हैं। **सामवेदो ब्राह्मणानां प्रसूतिः।** सामवेद जो है वह ब्राह्मणकी माँ है।

अब देखो साधारणरूपसे लोग कहेंगे कि वह वर्णभेद आगया बीचमें। यह वर्णभेद नहीं है। देखो एक होता है बुद्धिबल। एक होता है प्राणबल। एक होता है मनोबल और एक होता है देहबल। कर्म जो है वह शरीरबल प्रधान होता है। हड्डी-माँस-चामका जो शरीर है यह प्रधान हो तो कर्म होता है। यह विश्व होता है सेवक, वर्णमें शूद्र होता है, और आश्रममें होता है ब्रह्मचारी। तैजस वर्णोंमें वैश्य और आश्रमोंमें गृहस्थ होता है। और खूब सपना देखे कि ऐसा करेंगे तो ऐसा होगा, ऐसा करेंगे तो ऐसा होगा, माने स्वप्नद्रष्टा होना चाहिए वैश्यको। तब वह व्यापारमें सफल होता है। और प्राज्ञ जो है वह वानप्रस्थ है, वह योगी है। तैजस उपासक है आश्रममें जो वानप्रस्थ है, सैनिक, यह क्षत्रिय है। यह सबका निरोध करके अपने आपमें स्थापित करना। और, तुरीय जो है वह ब्राह्मण है। ब्राह्मण है, संन्यासी है, इसे बुद्धि जीवी बोलते हैं।

जो लोग जो काम करते हैं उनको एक वासना हो जाती है। सबसे बड़ी कमजोरी मनुष्यकी यही है कि जिसको जो बात जँच जाती है, वह कहता है वही काम सब करें। हम कहते हैं सब-के-सब सत्संगमें आकर सुनें, यह हमारा वासनासे उपरत ज्ञान है, इसमें हमारी वासना है। जब लड़ाईका काम होता है तो

कहते हैं सब बच्चे स्कूल छोड़ दें और उठा लें बंदूक। जब कामकी कमी आयी, बोले—चलो बाबाजी, हल जोतो! व्यवस्थित ज्ञानमें व्यवस्था होती है। ज्ञान अव्यवस्थित नहीं होता।

हमारे गाँवमें चोर-डाकू लोग क्या करते हैं कि गाँवके एक सिरे पर आकर झोंपड़ीमें आग लगा देते हैं। तो गाँवके सब लोग आग बुझानेके लिए, जो श्रेष्ठ बलवान पुरुष होते हैं, वे दौड़ते हैं पानी ले-लेकर, कुएँमें-से रस्सी—बाल्टी लेकर पानी निकालते हैं जब उधर जाते हैं आग बुझाने तो दूसरी ओर सूना हो जाता है, तो उस तरफ जाकर चोर जिन लोगोंकी चोरी करनी होती है, लूटना होता है, वे लूट ले जाते हैं। तो व्यवस्था होनी चाहिए कि रक्षाके स्थान पर रक्षक रहे, आग बुझानेवालेके स्थानमें आग बुझानेवाला रहे।

आपको मैंने सुनाया होगा ये गोलवलकरजी जो हैं, राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघके गुरुजी, ये आये वृन्दावन। तो मैंने भूदेव शर्मासे कहा कि जाकर पूछो गुरु जीसे कि हम भी लाठी लेकर सबेरे इनका जो होता है प्रशिक्षण, उसमें शामिल हुआ करें? गुरुजीने कहा—फिर हमारी लाठी किस काम आवेगी? अरे बाबा हमने तो संस्कृतिकी, धर्मकी, देशकी रक्षाके लिए, ज्ञानकी रक्षाके लिए, संघ बनाया है, यदि यही परम्परा भंग हो जायेगी, साधु न रहे, ब्राह्मण न रहे, तीर्थ न रहे, मन्दिर न रहे तो क्या हिन्दुस्तान और क्या पाकिस्तान और क्या रेगिस्तान और क्या इंग्लिस्तान, इसमें फर्क ही क्या पड़ेगा?

तो अपने ज्ञान-विज्ञानकी जो रक्षा है, उस ज्ञान-विज्ञानकी रक्षामें जो लगता है, उसका विभाग है, ज्ञान-विज्ञानकी रक्षामें जो लगे सो ब्राह्मण, ऐसे समझो। और जो सैन्य-शक्तिके द्वारा, प्राण शक्तिके द्वारा राष्ट्रकी रक्षा करे बाहरसे भी और भीतरसे भी, वे सैनिक-क्षत्रिय! और जो वस्तुको यहाँसे वहाँ तकके लिए सुलभ करे और उसका उत्पादन करे, योजना ठीक बना सके, वैश्यका काम योजना ठीक बनाना है, विश्वकी रक्षाके लिए योजना बनाना और शूद्र वह है जो अपनी शारीरिक शक्ति ठीक-ठीक लगा सके।

यह सब पुराने ढंगकी बातें हैं। यह करनेके लिए मैं बिल्कुल नहीं सुनाता हूँ। यह इसलिए सुनाता हूँ कि इसकी जानकारी आदमीको थोड़ी-सी रहे कि ये सब जब बनाये गये थे, तो बेवकूफीसे नहीं बनाये गये थे, इसके भीतर एक समझदारी थी, हमारे जो बाप-दादे, पुराने लोग थे, उनका यह जो निर्माण था, वह बड़ा वैज्ञानिक था। उनकी यह जो शिल्प-कला थी, आजकल जब लोग देखते हैं

कि डेढ़सौ फुट ऊँचाईपर एक सौ बीस मनका पत्थर तंजोरमें रखा हुआ है, तो लोग आश्चर्यचकित हो जाते हैं कि मन्दिरके शिखरपर यह कैसे चढ़ाया गया? हमारी यह लोहेकी कील दिल्लीमें आपने देखी होगी कभी, वह कुतुबमीनारके बिल्कुल पास है, लोहेकी जो कील गढ़ी हुई है, आजकलके खोजवाले कहते हैं कि कमसे कम तीन हजार वर्षकी होनी चाहिए। लेकिन उस लोहेमें मोर्चा नहीं लगता। क्या विज्ञान था उन लोगोंके पास कि लोहेको ऐसा बना दिया कि उसमें जंग ही न लगे।

हमारे कहनेका अभिप्राय यह है कि यह वेद सम्बन्धी जो मान्यता है, वेदका जो प्रतिपादन है, वह केवल इन्द्रियोंसे होनेवाले ज्ञानतक सीमित नहीं है। ज्ञान तीन तरहका होता है—एक विकृत ज्ञान, एक संस्कृत ज्ञान और एक शुद्ध ज्ञान। विकृत ज्ञान क्या होता है? देखो , पैसेसे सुख मिलता है—यह ज्ञान क्या है? यह विकृत ज्ञान है। क्या विकृत ज्ञान है कि जब बच्चे थे और दो आने पैसे लेकर आते थे और उनसे खरीदकर चाट खा लेते थे, तो उसी समय हमारे मनमें यह बात बैठ गयी; सोच-विचारके नहीं, कि पैसेसे चाट मिलती है, पैसेसे मिठाई मिलती है। यह विकारी ज्ञान हुआ। बोले—तब यह हुआ कि पैसा चाहिए क्योंकि पैसेसे मिठाई खानेको मिलेगी, चोरीसे मिल जाय, बेइमानीसे मिल जाये, छलसे मिल जाय, कपटसे मिल जाय—हमको तो पैसा चाहिए।

अब संस्कृत ज्ञान आया—कि नहीं ईमानदारीका पैसा चाहिए। जो लूटका चोरीका, बेइमानीका, छलका, कपटका पैसा होगा, वह दूसरेको दुःख देगा। दूसरेको दुःख होगा तो तुमको भी दुःख होगा, इसलिए इससे तुम सुखी नहीं हो सकते, ईमानदारीका पैसा चाहिए अब यह संस्कार हुआ।

पहले विकारी ज्ञान हुआ कि स्त्री पुरुषके मिलनसे सुख होता है और संस्कारी ज्ञान क्या हुआ कि स्त्री-पुरुषके मिलनसे सुख होता है, लेकिन ब्याह होना चाहिए भला! यह संस्कारी ज्ञान है। और, शुद्ध ज्ञानका स्वरूप क्या है? शुद्ध ज्ञानका स्वरूप यह है कि जहाँ अपने आपसे तृप्ति हो, वह शुद्ध ज्ञान होता है। जहाँ तृप्ति और ज्ञान अलग-अलग नहीं हो। तृप्ति है विषयमें और ज्ञान है अपनेमें, तो ज्ञान अधूरा है। जहाँ ज्ञान स्वयं तृप्तिरूप हो जाता है वहाँ पूरा होता है। तो सामवेद जो है, इसके बड़े विलक्षण-विलक्षण भेद हैं। पहले वेदका ही भेद आपको बतावें तो वह भी असंख्य हैं! वेद भी दो तरहका होता है एक मन्त्रात्मक, एक ब्राह्मणात्मक। ब्राह्मण और आरण्यक प्रायः विधि बताते हैं और मन्त्रोंका प्रयोग

यज्ञ-यागादिमें किया जाता है और वे वस्तुका निरूपण करते हैं। ब्राह्मणमें भी, आरण्यकमें भी, मन्त्रमें भी उपनिषद् होते हैं। मन्त्रमें उपनिषद् हैं जैसे ईशावास्य। ब्राह्मणमें उपनिषद् है—बृहदारण्यक। आरण्यकमें उपनिषद् है—कठोपनिषद्।

यह विचित्र-विचित्र इनके भेद होते हैं। उनमें सामवेद भी है। सामवेदका गान किया जाता है—**सहस्रवर्त्मा सामवेदः**। अन्य वेदोंकी शाखाएँ थोड़ी-थोड़ी होती हैं और सामवेदकी हजारों शाखाएँ। तो शाखासे भी सामवेद् विशिष्ट है और संगीत होनेसे इसमें माधुर्य है। इसकी उपमा दी है, जैसे ब्याह होता है, तो यह मन्त्र ब्याहके समय भी बोला जाता है और दीक्षाके समय भी बोला जाता है। जैसे आचार्य ब्रह्मचारीको दीक्षित करता है और गुरु जब शिष्यको दीक्षित करता है और जब वर-वधूका विवाह होता है तो तीनों समयमें ये मन्त्र बोले जाते हैं। **मम व्रतं ते हृदयं दधामि**। मैं तुम्हारे हृदयको अपने व्रतमें धारण करता हूँ। जो मेरा व्रत वह तुम्हारा व्रत। **मम चित्तम् अनुचित्तं ते अस्तु**—मैं अपना मन और तुम्हारा मन एक करता हूँ। **मम वाचम् एक मना जुषस्व**। हम तुम दोनों एक मन होकर एक स्वरमें बोलें। कदमसे कदम मिलाकर चलें और एक ढंगसे सोचें। हमारे सोचनेकी शैली भी एक हो। और, **प्रजापतिस्त्वां येनस्तु मध्यम्**—ईश्वरकी कृपासे हम दोनोंका एक साथ विनियोग हो। अच्छा, वह मन्त्र बोलते हैं, क्या? कि **सामारुमस्मि ऋक् त्वं द्यौरहं पृथिवीत्वं**। वर-वधूके शरीरका स्पर्श करके बोलता है—मैं सामवेद हूँ और तुम ऋचा हो। ऋग्वेद हो। **द्यौरहं पृथिवी त्वम्**—मैं आकाश हूँ और तुम पृथिवी हो।

जरा यह सामवेदकी महिमा देखो! **सामाहमस्मि ऋक् त्वं**—ऋचा माने कविता और साम माने संगीत। पति-पत्नी आपसमें क्या वादा करते हैं कि मैं संगीत हूँ और तुम कविता हो। जैसे कविता बहुत अच्छी हो, पर गाकर न बोली जाये, ऊबड़-खाबड़ बोली जाये तो बेसुरी हो जाती है और, संगीत तो बहुत बढ़िया हो, लेकिन उसमें अर्थ कुछ न हो, काव्य कुछ न हो, तो वह संगीत बेकार हो जाता है। जैसे कविता और संगीतके मेलसे दोनोंकी शोभा होती है, वैसे पति और पत्नीके मेलसे गृहस्थाश्रमकी शोभा होती है। और, वैसे ऋच' और साम, ऋग्वेद और सामवेद। ऋग्वेदकी ऋचा जब सामवेदके स्वरसे युक्त हो जाती है, तो उसकी विचित्र शोभा हो जाती है। उसी सामवेदमें छान्दोग्योपनिषद् हैं। उपनिषद् तो बहुत हैं, एक हजार उपनिषदें हैं सामवेदकी। एक हजार ब्राह्मण, एक हजार आरण्यक और एक हजार उपनिषदें हैं। उसमें बताया क्या जाता है? बताया जाता है कि उत्तम पुरुषके एक-वचनमें उसके साथ 'नि' जुड़ जाता है। 'असि' माने 'सत्'

होता है। 'अस्' माने सत्ता और 'नि' माने मैं होता है। 'अस्मि'का अर्थ होता है—मैं सत् हूँ। **अहं ब्रह्मास्मि**। इसी अस्मिसे 'अस्मत्' शब्द बनता है, तब अस्मत्का अहं बनता है। सम्पूर्ण वेदोंमें मधुरातिमधुर जो ज्ञान है, रसात्मक ज्ञान है, सो मैं हूँ—भगवान् बोलते हैं।

यह वेद है। चिन्तन जब परमात्माका करना हो तब कैसे करना, वह आपके ध्यानमें बात होगी एक आत्मदेवके सिवाय और कुछ नहीं। और, यह प्रपंचकी उत्पत्ति, लय सब परमात्मामें, हृदयमें व्यापक विष्णु बैठा हुआ है और गायत्रीमें भी आराध्यरूपसे परमात्मा हैं। सम्पूर्ण प्राणियोंमें देदीप्यमान दीप्ति वह है और ऊर्ध्वगति जो सत्कर्मसे प्राप्त होती है वहाँ तक कर्ममें ही चिन्तन करना।

अब बोले कि वेदोंमें सामवेद। सामवेदरूपसे मेरा चिन्तन करना। एक स्वर पकड़ना और उस स्वरके द्वारा परमात्माको प्राप्त करना।

अब और आगे बढ़ते हैं—**देवानामस्मि वासवः**। देवताओंमें कौन देवता? बोले—इन्द्र देवता। वासव माने इन्द्र। तो देवताओंमें इन्द्र, अद्भुत बात है। यहाँ ब्रह्मा, विष्णु, शिवका ग्रहण नहीं करना। स्वर्गमें रहनेवाले जो देवता हैं। स्वर्गमें रहनेवाले देवता कौन? कि सुख देनेवाले देवता। स्वर्ग माने सुख होता है। अब यह इन्द्रको क्यों बताया? सब देवताओंका मालिक कौन है? यह आप लोगोंने सुना ही होगा, इन्द्र है। देवताओंका मालिक इन्द्र है। अब आपको हम एक ऐसी बात सुनाते हैं जिससे यह देवताओंका मालिक जो है, वह आपके वशमें हो जाय। सिद्ध हो जाय बिल्कुल। लोग भूत, प्रेत, देवता सिद्ध करते हैं कि हम हुकुम दे दें और हमारा काम करे। तो ऐसा प्रेत नहीं सिद्ध करना कि जो तुम्हें तकलीफ दे।

ये मनमुखी आदमी जो होते हैं, उन्हें प्रेत सिद्ध होता है। एक आदमीने किसीसे प्रेतसिद्धिकी दीक्षा ली कि हमको प्रेत सिद्ध हो जाय। प्रेत उसके सामने आया, 'विचारमाला' के 'ज्ञान-वैराग्य प्रकाश'में यह बात लिखी है। तो प्रेत आया, बोला—'भाई, हम तुमको सिद्ध तो हो जायेंगे लेकिन हर समय हमको काम देना पड़ेगा। अगर हमको निकम्मा रखोगे तो हम तुम्हारे सिरपर सवार हो जायेंगे, खा जायेंगे तुमको।

तो बोला—'अच्छी बात है कामकी क्या कमी है? तुम सिद्ध तो हो जाओ।' सिद्ध हो गया। सिद्ध होते ही आदमीने कहा कि हमको लंदनकी अमुक दुकानमें-से, अमुक मार्केका जूता चाहिए।' अच्छा लो। तो जाकर प्रेतजी जूता ले आये। पाँच मिनटमें लाकर हाजिर। फिर कहा—अमेरिकासे हमको अमुक चीज चाहिए।

कोई घण्टे-दो-घण्टे तो वह बेचारा काम ढूँढ़—ढूँढकर उसको बताता रहा, अब काम ही का खात्मा हो गया। प्रेतने कहा काम बताओ नहीं तो हम खा जायेंगे! अब भागा हुआ, डरता हुआ एक सन्तके पास गया, 'महाराज प्रेत खानेको तैयार है। रक्षा करो। संतने कहा कि प्रेतसे तुम कहो कि दुनियामें जो सबसे लम्बा बाँस हो सो ले आओ।

अब वह प्रेत गया, ढूँढते-ढूँढते सबसे लम्बा बाँस लेकर आया। बोले—इसको खूब गाड़ो। इसपर चढ़ो। चढ़ गया। उतरो। उतरा। बोला—फिर चढ़ो, फिर उतरो। जबतक हम कोई दूसरा काम न बतावें, तबतक तुम उसपर चढ़ते-उतरते रहो। तुम्हारे लिए यही काम है।

यह मन जो है यह प्रेत है भला! जो लोग निकम्मे पड़े रहते हैं, उनको यह खा जाता है। इसको तो काम बताओ। बोले—बाहर तो इतने काम ही नहीं हैं। अगर लोगोंके घर-घर घूम-घूमकर काम दें तो झटसे खत्म हो जाये! और यह तो नष्ट कर दे भला! सबके घरमें नहीं जाना चाहिए।

मन्त्र मिले अरु मन मिले, मिले भजन रस प्रीति।
तुलसी तहाँ निशंक होय, कीजिए प्रीति प्रतीति॥

सबसे नहीं मिलना चाहिए। जो अपने इष्टसे विपरीत पड़ता हो, मन्त्रके विपरीत पड़ता हो, विवेकके विपरीत पड़ता हो, जो अपनी साधनाको, भजनको बिगाड़नेवाला हो, निष्ठासे गिरानेवाला हो, उसके पास नहीं जाना चाहिए।

अब क्या हुआ? प्रेत तो वशमें हो गया। यह भीतर जो है, जिसे कुंडिलिनी बोलते हैं, षट्चक्र बोलते हैं, यह बाँस गड़ा हुआ है, अपने मनको मूलाधारसे लेकर सहस्रार तक ले जाओ। फिर उतारो और फिर ले जाओ, फिर उतारो और फिर ले जाओ। मनीरामको जब काम कोई होवे तो बता दिया यह काम कर लिया और जब काम न हो तब उनको भीतर ही भीतर घुमाया करो, बाहर मत ले जाओ। यह प्रेत सिद्धि है भला!

देवताकी सिद्धि करना हो, इन्द्रकी सिद्धि करो। आपलोग रोज मन्त्र पढ़ते हो—

स्वस्ति नः इन्द्रो वृद्धश्रवाः

यह इन्द्र कैसा है? कि वृद्धश्रवाः—बड़ा यशस्वी है। वह हमारे लिए कल्याणकारी होवे। तो उसका अभिप्राय क्या है? इन्द्र जो है वह हमारे शरीरमें हाथका देवता है। जैसे आँखका देवता है सूर्य। सूर्यकी रोशनीमें आँख देखती है, वैसे

इन्द्रकी शक्तिसे हाथ काम करता है। एक पण्डित जयपुरके थे। उनको विज्ञानका बड़ा शौक था, तो उनसे किसीने पूछा कि यह इन्द्रकी शक्तिसे हाथ काम करता है, इसका क्या मतलब है ? तो बोले—भाई, ईथरकी विरलता और घनतासे हाथ काम करता है, यह इसका मतलब है। बोले—सुन्दर माने सुथरा जैसे हो जाता है। सुन्दर माने साफ-सुथरा। तो सुन्दरका जैसे सुथरा हो गया, वैसे इन्द्रका ईथर हो गया।

तो इन्द्रकी शक्तिसे ये हाथ काम करते हैं। तो देखो इन्द्रको अपने काबूमें रखनेका उपाय क्या है ? सत्कर्म ही करो। अपने हाथसे बुरा काम कभी मत करो। इससे तुम्हारा कल्याण होगा-स्वस्ति। और, वृद्धश्रवा—लोकमें तुम्हारा यश बढ़ेगा। और, तुम्हारे अन्त:करणको सुख मिलेगा, शान्ति मिलेगी। जो अपने शरीरसे बुरा काम करेगा, उसको दु:ख मिलेगा, अशान्ति मिलेगी, अपयश मिलेगा और उसका अकल्याण होगा।

तो हाथका देवता इन्द्र है। **वेदानां सामवेदोऽस्मि**—एक ओर ब्रह्मविद्याके रूपमें परमात्माका चिन्तन करना। दूसरी ओर सत्कर्मके द्वारा परमात्माकी आराधना करना। **देवानामस्मि वासवः**—यह तुम्हारे हाथोंमें जो इन्द्र है, उसको सिद्ध करना उसकी पूजा करना।

जब हम अपनी आँखसे बुरी चीज देखने लगते हैं तो भीतर बैठा सूर्यदेवता दु:खी हो जाता है और जब हम अपने हाथोंसे बुरे काम करने लगते हैं तो हमारे भीतर इन्द्रके रूपमें बैठा हुआ ईश्वर दु:खी होता है। और, जब हम अपने दिलको दु:खी करते हैं तब हमारे भीतर बैठे हुए हृदयेश्वरको ही दु:ख मिलता है।

तुम्हारे दिलमें कौन है ? अकेले तुम्हीं हो कि तुम्हारा कोई प्यारा भी है ? देखो यह विचार कर लो। अगर तुम ज्ञानी हो तो अपने दिलमें तुम अकेले हो और अगर तुम भक्त हो तो तुम्हारे हृदयमें तुम भी हो और तुम्हारा ईश्वर भी है। अपने दिलमें जब तुम दु:खकी आग जलाते हो तो उससे तुमको आँच लगती है, या तो तुम्हारे प्यारेको आँच लगती है।

एक दिन किसीने आकर पूछा कि महाराज वे आजाते हैं हमारे घरमें, तो हमको भूखा ही रहना पड़ता है। भाई, घरमें वे आजायँ तो आजायँ, पर भीतर दु:ख तो नहीं आवे। हमें प्रत्येक बातमें इस बातकी सावधानी रखनी चाहिए, यह दु:ख आदर करने योग्य वस्तु नहीं है। अज्ञान आदर करने योग्य वस्तु नहीं है। पाँच रुपया तुम्हारा नुकसान होगया तो पाँच रुपया तो गया, यह तो बाहरका नुकसान हुआ और दिलमें जो दु:ख आया, सो ? वह तो घरमें आग लग गयी न! अच्छा

लड़ाई हो गयी, दो-दो बात कह दी, कानमें दो बात उनकी आयी और कानमें दो बात हमारी गयी, लेकिन वह कानमें-से उड़ जानी चाहिए न! अगर वह दिलमें जाकर बसेगी तो दिल दु:खी हो जायेगा।

जितने देवता हैं सृष्टिमें, अग्नि भी देवता है उसकी आराधना होती है, सूर्य भी देवता है उसकी आराधना होती है, वरुण भी देवता है उसकी आराधना होती है। देवता तो बहुत हैं, लेकिन सबसे बड़ा देवता कौन है? सबसे बड़ा देवता तुम्हारे हाथमें बैटा हुआ है, अगर तुम अच्छे काम करोगे तो सब देवता तुम्हारे ऊपर प्रसन्न हो जायेंगे, क्योंकि देवताओंका मालिक राजी हो जायेगा।

स्वस्ति नः इन्द्रो वृद्धश्रवा। स्वस्ति नः पूषा विश्ववेदाः। हम अच्छी चीज देखें आँखोंसे। **स्वस्ति न तार्क्ष्यो अरिष्टनेमिः।** हम कानसे अच्छी बात सुनें। **स्वस्तिनोबृहस्पतिर्दधातु।** वाणीसे अच्छी बात बोलें कानसे अच्छा सुनें! आँखसे अच्छा देखें। जीभसे अच्छा बोलें और हाथसे अच्छा करें। ये चार बात इस मन्त्रमें कही गयी हैं।

देवानामस्मि वासवः यह इन्द्र बैठा है हाथमें—अगर ईश्वरका चिन्तन करना है तो अपने हाथमें बैठे हुए इन्द्र देवताका चिन्तन करो। इससे कर्म करनेकी शक्ति आती है। हमने अपने हाथका चमत्कार देखा है, बहुत शक्ति हाथमें आती है। श्रीउड़ियाबाबाजी महाराज कभी-कभी कहते थे—यह काम कर दो तो बेटा और जो एक घूँसा मैं जोरसे लगाता था हाथसे, जो काम नहीं होता था बड़े-बड़ोंसे वह खटसे हो जाता। एक बार इतना बोझ उठा लिया हाथसे, जितना सामान्यरूपसे नहीं उठता है। तो हाथमें बल आता है। यह योगोंमें जो सिद्धियोंका वर्णन है—**बलेषु हस्ति बद् बलादि मे**—बलका संयम करनेसे हाथीका बल मनुष्यके अन्दर आ सकता है।

मैंने पढ़ा नहीं, देखा है, अनुभव किया है। दूसरेका नहीं, अपना ही देखा है। बड़ा भारी बल शरीरमें उदय होता है, बलका संयम करनेसे। आप इन्द्रका संयम करो हाथमें, कि इन्द्र देवताके रूपमें ईश्वर आपके हाथमें बैठा है, आप बड़ेसे बड़ा काम अपने हाथसे कर सकोगे, अच्छेसे अच्छा काम दुनियामें कर सकोगे, और अपना नाम इन्द्रके समान परम ऐश्वर्यशाली करोगे, इन्द्रके समान यशस्वी बनोगे, सुखी बनोगे, शान्त बनोगे और तुम्हारा कल्याण होगा।

☆

वेदानां सामवेदोऽस्मि देवानामस्मि वासवः।
इन्द्रियाणां मनश्चास्मि भूतानामस्मि चेतना॥ 22॥

वेदोंमें मैं सामवेद हूँ और देवताओंमें मैं वासव-इन्द्र हूँ। **इन्द्रियाणां मनश्चास्मि**—इन्द्रियोंमें मैं मन हूँ और भूतोंमें मैं चेतना हूँ। वेद होते हैं मन्त्रभाग और उनके प्रतिपाद्य होते हैं देवता और देवताकी की जाती है मनसे भावना और भावना करते हैं चेतनावान् भूत। यज्ञकी पूरी सामग्री बता दी। वेद चाहिए, देवता चाहिए, हाथ आदि इन्द्रियाँ चाहिए हवन करनेके लिए और उसमें मन-भावना होनी चाहिए और यह कर्ता पुरुष जो है यह चेतन होना चाहिए, कर्ता होना चाहिए चेतनावान्।

भगवान् अपनी आराधनाकी पद्धति बता रहे हैं। वेदमें जो स्वर है—साम-स्वर, बोले मैं हूँ। देवताओंमें इन्द्र मैं हूँ जो सत्कर्मका प्रेरक है। तो वह सत्कर्मका प्रेरक है और वह सत्कर्म-आराध्य है। अब उसकी आराधना कैसे की जाये? कि, **इन्द्रियाणां मनश्चास्मि**। यह भगवान् अपना अता-पता बता रहे हैं कि हमको कहाँ ढूँढ़ना, यह इन्द्रियोंमें मैं मन हूँ। कोई कहे कि इन्द्रियाँ तो दस हैं और मन तो ग्यारहवाँ है। ग्यारहवाँ कहनेसे मन कोई इन्द्रियोंसे जुदा हो जाता हो—ऐसा नहीं है। देखो आगे आवेगा—

इन्द्रियाणि दशैकं च पञ्चचेन्द्रियगोचराः। 13.5

तेरहवें अध्यायमें जहाँ क्षेत्रका वर्णन है दस इन्द्रियाँ और एक मनका वर्णन है। और, **एकादशं मनश्चात्र** और इन्द्रियोंमें ग्यारहवाँ मन है यह विष्णु-पुराणमें आया।

तो मन भी एक इन्द्रिय है। भाई, आँखसे रूप जाना जाता है, कानसे शब्द जाना जाता है, नाकसे गन्ध जाना जाता है, जीभसे स्वाद जाना जाता है, त्वचासे स्पर्श जाना जाता है, यह मनसे क्या जाना जाता है? मनसे क्या काम होता है? अच्छा; आपके शरीरमें जब कभी दर्द होता है, तो वह कानसे जाना जाता है कि आँखसे? नाकसे जाना जाता है कि जीभसे? वह कैसे जाना जाता है? जब शरीरमें

कहीं पीड़ा होती है—आज मेरे पाँवमें दर्द है, आज मेरे सिरमें दर्द है—यह बात कैसे मालूम पड़ती है? इसको मालूम करनेके लिए भी तो कुछ चाहिए। तो एक अन्तर-इन्द्रिय है—भीतर इन्द्रिय है और यह ऐसी इन्द्रिय है अद्भुत, हजारों बार उपनिषदोंमें मनका वर्णन किया गया है।

ये जो इन्द्रियाँ हैं बाहरकीं, ये असाधारण करण हैं और मनको साधारणकरण बोलते हैं। यह क्या हुआ? आँख केवल रूपको ही देख सकती है, असाधारण है। शब्द नहीं सुन सकती, गन्ध नहीं बता सकती। आँख फूल देखेगी बहुत बढ़िया, पर इसमें गन्ध कैसी है—यह आँख नहीं बता सकती, नाक बता सकेगी। और, नाक गन्ध बता सकेगी लेकिन रूप नहीं बता सकेगी। नाकसे सूँघके बताओ कौन-सा रंग है? लेकिन मन ऐसा है कि आँखमें रहे तो आँख रूपको ठीक देखे और नाकमें रहे तो नाक ठीक गंध सूँघे. एक एक विषयके ज्ञानके लिए एक-एक इन्द्रिय असाधारण होती है और मन जो है वह सब इन्द्रियोंमें साधारण रूपसे रहता है। मन सामान्य है।

देखो अब यह ईश्वरत्व आया। सामान्यरूपसे सबमें रहना—**इन्द्रियाणां मनश्चास्मि**—यह ईश्वरत्व होगया। पाँचमें एक सरीखा रहना, दसमें एक सरीखा रहना। अनेकमें एक होकर रहना। यह मनकी बड़ी भारी विशेषता हुई। लेकिन मन केवल इन्द्रियोंके ज्ञानमें मददगार हो, इतना ही नहीं, इन्द्रियोंसे जो नहीं दीखता है वह भी मन देखता है। कैसे? कि इन्द्रियोंसे-आँखसे एक आदमी दिखता है कि यह आदमी है, लेकिन यह दोस्त है कि दुश्मन है, यह क्या आँख बताती है? आँखसे नहीं पता चलता, वह तो मनसे पता चलता है शरीरके भीतर दर्द है—यह मन बतावेगा। सब इन्द्रियोंके साथ रहकर उनके-उनके विषयके ज्ञानमें सहयोग देगा, दुश्मन-दोस्त बतावेगा और रास्ता बतावेगा। कैसे? कि यह अच्छा काम है, यह बुरा काम है, जैसा संस्कार है, दोस्त-दुश्मन जैसे संस्कारसे अनुप्राणित होकर बताता है, वैसे यह अच्छा काम है, यह बुरा काम है—यह भी मन ही बताता है। यहाँ तक कि मन साधन भी है और मन बाधन भी है। असुरसे उपहत होता है, जब असुर मनको घायल कर देता है, तब वह बाधक बन जाता है, गुस्सा आवे मनमें, दुश्मनको साधना आवे मनमें, लोभ आवे मनमें और जब देवतासे आक्रान्त होता है मन, तब उसमें श्रद्धा आती है, उसमें धृति आती है, उसमें क्षमा आती है—

धृतिः क्षमा दमोस्तेयं शौचमिन्द्रियनिग्रहः।

धीर्विद्यासत्यमक्रोधो दशैक धर्मलक्षणम्॥

ये कहाँसे आता है? हिन्दू धर्ममें इसको सामान्य धर्म मानते हैं। धृतिः। अपनी इन्द्रियोंको और मनको रोकनेकी शक्तिका नाम धर्म है। दण्ड देनेका सामर्थ्य रहनेपर भी क्षमा कर देना—यह धर्म है। सामर्थ्य रहनेपर दण्ड न देना भी यह अपने मनको रोकना हुआ कि नहीं? और भोगकी सामग्री रहनेपर भी इन्द्रियको रोक लेना—यह धर्म है। धर्म माने धारण। रोकना। चोरीका मौका होनेपर भी मनको रोक लेना—चोरी न करना। बिना मुँह धोये—गन्दे मुँह रह सकते हैं? बिना आपदस्त लिये रह सकते हैं? लेकिन अपने शरीरको पवित्र रखना—यह धर्मका लक्षण है। धृति, क्षमा आदि ये सामान्य धर्म हैं। ये कहाँ रहते हैं? ये मनमें रहते हैं। तो—मन एव महारिपुः। जब संसारमें फँस जाता है, तब मन दुश्मन है। और, जब यह संसारसे छुड़ानेका साधन करने लगता है, भगवान्‌की ओर उन्मुख होता है, तो भगवान्‌की इसमें परछाई पड़ती है और यह भगवदाकार हो जाता है।

आपको एकदम स्वातन्त्र्यकी दृष्टिसे यह बात सुनाता हूँ। हमारे रसके जो आचार्य हैं वे बताते हैं, मजा कैसे मिले! बोले—सावधान! अब नाटक शुरू होने जा रहा है! वह इधर गया, सिनेमा शुरू हो गया, तो सावधान हो गया, देखो पहला क्या दृश्य आता है? ऐसे। यह क्या हुआ? इसको अपोहन बोलते हैं, इसको अपवाद बोलते हैं। माने दूसरी बातोंके सोचनेमें जो पहलेसे लगे हुए थे, कि बैठे थे नाटक देखने और याद कर रहे थे मरे हुए को। तो अब नाटक देखो, माने मरे हुएको मनसे निकाल दो। यह पहली बात होगी, तब नाटकका मजा आवेगा। यदि अपोहन नहीं होगा, चिन्तामें मगन रहेंगे तो नाटकका मजा नहीं आवेगा। यह पहली बात हुई। अब दृश्य आया सामने। यह दृष्टान्तके लिए आपको सुनाते हैं भला! दृश्य है सामने, क्या? रथ पर चढ़े हुए दुष्यन्त, तपोवनमें जा रहे, बड़े जोरसे रथ चल रहा है। और एक हरिण उनके आगे-आगे भाग रहा है कालिदासने उसका वर्णन किया है—

ग्रीवाभङ्गाभिरामं मुहुरनुपतति स्यन्दने बद्धदृष्टिः
पश्चार्धेन प्रविष्टः शरपतनभयाद्भूयसा पूर्वकायं।
दर्भैरर्धावलीढैः श्रमविवृत मुखभ्रंशिभिः कीर्णवर्त्मा
पश्योदग्रप्लुत त्वाद्वियति बहुतरं स्तोकमुर्व्यां प्रयाति॥

बार-बार अपना गला घुमाकर वह रथकी ओर देख रहा है कि रथ हमारा

पीछा कर रहा है कि नहीं? क्या दृश्य है।

उसका पिछला हिस्सा मानो अगले हिस्सेमें घुसा जा रहा है। क्या करता जा रहा है? थोड़ी-थोड़ी घास जो उसने खायी है डरके मारे उसका मुँह खुल गया, वह घास गिरती जा रही है। जोर-जोरसे छलाँग भरनेके कारण आकाशमें ज्यादा चलता है और धरतीपर कम चलता है।

देखो, सावधान! माने बाहरकी बात निकाल दो और नाटकके दृश्यमें एकाग्र हो जाओ! अब यह रसास्वादनकी एक प्रणाली हुई अब आगे क्या हुआ? कि दो तपस्वी आकर सामने खड़े हो गये।

भो भो आश्रममृगोऽयं न हन्तव्यो न हन्तव्यः।

अरे राजन्! यह आश्रमका हरिण है, पाला हुआ हरिण है, इसको नहीं मारना, नहीं मारना। रथ रुक जाता है, राजा उतरके आश्रममें प्रवेश करता है और उद्यानको सींचती हुई शकुन्तला सामने आती है। अब जो नाटक देखनेवाला था वह कहाँ गया? उसकी दुनिया भूल गयी—पहली बात हुई और जो उद्दीपन सामग्री है वहाँ रथ, हिरण, आश्रमवासी, तपोवन और सखियाँ इनके मनमें एकाग्रता आयी। शकुन्तला और दुष्यन्तकी जब आँखें मिलीं तो द्रष्टा तन्मय होकर दोनोंको अपने दिलमें बनाकर यह देखने लगा—शकुन्तलाको क्या मजा आ रहा है दुष्यन्तको देखनेमें और दुष्यन्तको क्या मजा आ रहा है शकुन्तलाको देखनेमें—इसमें तन्मय हो गया। तो रसानुभूतिकी प्रक्रिया क्या हुई? पहले अपोहन—दूसरेको छोड़ना, उसके बाद एकाग्रता, उसके बाद तन्मयता—यह रसानुभूतिकी प्रक्रिया हुई।

अब इसके बाद क्या होगा? स्वयं दुष्यन्त, स्वयं शकुन्तला; ऐक्य हो जायेगा दृश्यसे द्रष्टाकी तन्मयता। परन्तु अद्वैतवादियोंमें द्वैतकी भ्रान्तिका जैसा भंग होता है वैसा ही होगा। इस रसको क्या बोलेंगे? इसे नाट्यकार लोग बोलते हैं ब्रह्मानन्द सहोदर।

अब आपको देखना है मनमें परमात्मा। तब यह जरूरी है कि आप जब मनमें रसका अनुभव करनेके लिए चलें तो दुनियादारीकी बातको एकबार छोड़ दें। नहीं तो न दृश्य दिखेगा, न एकाग्रता आवेगी, न तन्मयता होगी, न मजा आवेगा। नाटकमें बैठकर याद कर रहे हैं कि आज घाटा लग गया, दिलकी धड़कन बढ़ी रहेगी, मजा कहाँसे आवेगा? तो यह जो परमार्थका मार्ग है जब इसमें चलते हैं तो इसमें भी पहले अपोहन करना पड़ता है। निचोड़के, जैसे

कपड़ेमें पानी भरा हुआ हो, तो उसको निचोड़ देते हैं। साबुन लगाकर, उसको पानीसे धोकर निचोड़ दो कि पानी और साबुन उसमें-से निकल जाय। यह दुनियाकी मैल जो कपड़ेमें लगी है—अन्त:करणके कपड़ेपर, मनके कपड़ेपर, उसे निकालकर पहले फेंकना पड़ता है और फिर अपने चित्तको एकाग्र करना पड़ता है और एकाग्र करके तन्मय हो जाना पड़ता है। तब आप देखो, आपको सगुण भगवान्‌का रस आवेगा—**इन्द्रियाणां मनश्चास्मि**। यह देखो वृन्दावन, वही वन-सामग्री है, हरिण-सरीखा, तपोवन-सरीखा। यह वृन्दावन, यह यमुनाजी, एक गोवर्धन, ये गौएँ, ये गोपियाँ, ये लताएँ, ये वृक्ष, यह कृष्णको राधा देख रहीं और यह राधाको कृष्ण। पहले दुनियाके भावको हटाओ, मनको वहाँकी उद्दीपन सामग्रीमें ले चलो और फिर आलम्बनमें मनको तन्मय कर दो और देखो कि तुम्हारा मन, तुम्हारा हृदय दो भागमें हो गया, राधा भी हो गया, कृष्ण भी हो गया। राधा होकर तुम्हारा मन रस ले रहा है और कृष्ण होकर तुम्हारा मन रस ले रहा है।

कहते हैं यह जो रसानुभूति है यह क्या है? **संवेदनमेवआनन्दघनं वदन्ति**। यह जो हमारे मनका संवेदन है, यह हमारे मनकी जो संवेदनात्मक स्थिति है, इसका नाम है आनन्द घन। तुम क्या याद करते हो? तुम क्या कल्पना करते हो? तुम क्या देखते हो? कितनी स्वतन्त्रता है। नानीका मरना याद करके रो लो आप भले पचास वर्ष पहले मरी हो। आगे, बेटा बीमार न पड़ जाये, याद करके आज दिलकी धड़कन बढ़ा लो। और, हमारे पीछे कोई खड़ा हो, किसीने तलवार तान दी हो—यह सोच कर अभी रो लो। यह सोचकर कि गंगास्नान किया, सन्तका दर्शन किया, सत्संगमें बैठे, दुनिया भूली, भगवान्‌की याद करो और अभी आनन्द ले लो। यह कितनी स्वतन्त्रता है मनुष्यके जीवनमें! बिल्कुल परतन्त्रता है ही नहीं, तुम मजा लेनेमें बिल्कुल स्वतन्त्र हो। रसानुभूतिके लिए दुनियाकी कोई चीज चाहिए ही नहीं। नाटक देखना तो पड़ता है। नाटकका सुख बाहरसे भीतर थोड़े ही खींचता है! नाटक दृश्य है, वह बाहरसे सुखको भीतर घुसेड़ता नहीं; भीतर विद्यमान सुखको ही नाटक जगा देता है। नाटक आत्मसुखका अभिव्यंजक है। वह विषय-सुखको हृदयमें प्रवेश करानेवाला नहीं है।

अच्छा, यह दृष्टान्तकी बात कही कि हमको संसारमें रस कैसे आता है, लौकिक अभिनयमें लौकिक नाट्यमें रस कैसे आता है! लौकिक नायक हो तो दुष्यन्त और दिव्य नायक हो तो श्रीकृष्ण। और नाटक बाहर हो तो नाटक और

भीतर हो तो भगवान्‌की लीला। इतनी तो बात है। रसानुभवकी प्रणाली वही है, बिलकुल संवेदन, इसको संवेदनात्मक प्रणाली बोलते हैं। संवेदन ही आनन्द-घन है।

तुम क्या देखते हो, तुम क्या जानते हो, तुम क्या सोचते हो, तुम क्या करते हो? अब यह संवेदन क्या है? तो बोले—**एतद् सर्वं मन एव**। यह कौन है? कि यह मन है।

अब देखो एक वेदान्तकी बात सुनाते हैं। वेदन्तकी संवेदन-प्रणाली यह है, वह प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यानपर अवलम्बित नहीं है, यह जैसे नाटककी प्रणाली है—नाटकमें प्राणायाम करोगे, तब समझमें आवेगा? नहीं, उसमें प्राणायामकी जरूरत नहीं है। अच्छा, भक्तिमें प्राणायाम करोगे तब भक्तिका मजा आवेगा? नहीं। तब ब्रह्मज्ञानमें जो मजा आता है वह कैसा आता है? **ब्रह्मात्वात्म सहोदर**। प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान, सत्कर्म और समाधि ये छः अंग योगके हैं, अष्टांग जो हैं योगदर्शन वाले, वे दूसरे हैं, लेकिन ब्रह्मास्वाद-ब्रह्मानन्दका अनुभव करनेके लिए न प्राणायामकी जरूरत, न प्रत्याहारकी, न धारणाकी, न ध्यानकी, न समाधिकी, न सत्कर्मकी। यह प्रणाली विलक्षण है यह **इन्द्रियाणां मनश्चास्मि**—क्योंकि यह सब प्रक्रिया मनमें ही होती है। मनमें परमेश्वर। इतनी सस्ती चीज दुनियामें और कोई नहीं हो सकती कि जितनी मनमें परमेश्वरकी उपस्थिति।

हीरा होता है जौहरीके घरमें तिजोरीमें बन्द और परमात्मा होता है अपने शरीरमें, अपने मनकी तिजोरीमें बन्द, अपने हृदयकी तिजोरीमें बन्द। जब चाहो जब खोलकर देख लो—**इन्द्रियाणां मनश्चास्मि**। तो इसकी तीन प्रक्रियाएँ बताते हैं। यह जो दुनिया दिख रही है—प्रपंच; इसके प्रपंचत्वका अपोहन करो। पहले इसको अपने दिमागसे हटाओ—**सर्वं ब्रह्म। सर्वं खल्विदं ब्रह्म। तद् जलानि इति उपासीत। तद् जलान् इति शान्त उपासीत**। बोले—यह जो कुछ प्रपंच दीख रहा है यह प्रपंच नहीं है, यह ब्रह्म है। क्यों? कि—**तद् जलानीति। तद् जन्त। तल्लनच। तदन्तच**। यह उसीमें पैदा होता है, उसीसे, वही। उसीमें, उसीसे, वही स्थित होता है। उसीमें, उसीसे, वही लीन होता है। तो यह जो दुनिया दीख रही है यह ब्रह्मरूप है। **सर्वं खल्विदं ब्रह्म**। इसको चाहे ऐसे सोचो कि मिट्टी पानीमें, पानी आगमें, आग हवामें, हवा आकाशमें, आकाश मनमें। और, चाहे ऐसे सोचो कि मनसे आकाश, आकाशसे वायु, वायुसे अग्नि, अग्निसे जल, जलसे पृथिवी, अन्वय-व्यतिरेकसे, मनसे यह सृष्टि पैदा हुई है और मनमें ही लीन होती है,

मनके सिवाय यह सृष्टि और कुछ नहीं है। तो शान्त हो जाओ। शान्त हो जाओ का मतलब यह हुआ कि जिससे तुम द्वेष करते हो वह भी वही है जिससे तुम राग करते हो। वह भी वही है, जिससे तुम द्वेष करते हो। इसलिए राग करके अपनेको दीन मत करो। राग होनेसे आदमी दीन हो जाता है। लोभी दीन होता है। कामी दीन होता है। क्रोधीको दीन होना पड़ता है, रोना पड़ता है। हमारा दुश्मन नहीं मरता। क्रोधी दीन हो जाता है, मोही दीन हो जाता है। दैन्य आ जाता है।

तो जिससे तुम द्वेष करके जलते हो वह वही चीज है जिससे तुम राग करके खुश होते हो। और, जिससे राग करके खुश होते हो वह भी वही चीज है जिससे द्वेष करके जलते हो। एक ही परमात्मा सर्वरूपमें, प्रकट हो रहा है। द्वेषका विषय जुदा और रागका विषय जुदा नहीं है। जिससे आज राग करके तुम खुश होते हो, कल उससे द्वेष करके नाराज हो जाओगे। और आज जिससे द्वेष करके नाराज हो रहे हो, कल उससे दोस्ती करके खुश हो जाओगे। यह जो राग-द्वेष है यह अपनेको सुख-दु:ख देनेके लिए तो है, परन्तु वस्तुके साथ उसका कोई सम्बन्ध नहीं है, एक ही वस्तु सर्वरूपमें प्रकट हो रही है। तो राग और द्वेषका तो अपोहन कर दो और रागाश्रय और रागविषय, द्वेषाश्रय-द्वेषविषय एक ही वस्तु है ब्रह्म इसको बोलते हैं।

तद् जलानिति शान्त उपासीत्!

यह प्रपंचका अपोहन हुआ। यह जो सन्मात्र सदायतन, सत्प्रतिष्ठ, सद्रूप ब्रह्म है, वेदान्तकी भाषामें यह क्या है? बोले—जबतक अहं नहीं होगा, तबतक ब्रह्म नहीं और जबतक ब्रह्म नहीं होगा तबतक अहं नहीं।

तब दूसरी स्थिति आयी, एकाग्रताकी स्थिति। पहला हुआ अपोहन, प्रपंचका अपोहन करके बस अब नाटक प्रारम्भ हो रहा है। सावधान! दुनिया नहीं है, ब्रह्म है। और यह ब्रह्म कौन है? कि मैं हूँ, इसका नाम एकाग्रता है। इसको 'अवर वृत्ति' बोलते हैं—**अहं ब्रह्म**। फिर 'पर वृत्ति' हुई—परामर्श—**अहमेव**। ब्रह्मका नाम छोड़ दो। दो शब्द क्यों रखना।

प्रपंचेव ब्रह्म। ब्रह्मैवाहं। अहमेव। यह तृतीय स्तर हुआ। सब ब्रह्म है। मैं ब्रह्म हूँ। और, देश काल वस्तुके परिच्छेदको हटाना हुआ, तब उसको ब्रह्म कहा। जब देश, काल, वस्तुका परिच्छेद बाधित होगया, तब ब्रह्म कहनेकी जरूरत! बोले—क्या है? कि मैं ही हूँ। **अहमेव**। बोले—'अहम्' भी तो बोलते ही हो न! यह शब्द-

परामर्श है, यह भी 'परवृत्ति' है। 'अहमेव' भी बोलनेकी जरूरत नहीं। जहाँ बोलना नहीं, वहाँ परामर्श भी नहीं। '*न हम न तुम दफ्तर गुम।*' तो क्या हुआ? तो देखो **सर्वं ब्रह्म** के प्रपंचका अपोहन हुआ। **अहं ब्रह्म**के ऐक्यका संपादन हुआ और **अहमेव**से संपादन भी बाधित हो गया। फिर 'अहं' बोलनेकी तो कोई जरूरत ही नहीं रही तो बोलनेकी जरूरत क्या? रसानुभूतिकी जो प्रक्रिया है उसमें, इसे बोलते हैं वेदान्तकी रसानुभूतिकी प्रक्रिया।

इन्द्रियाणां मनश्चास्मि—इन्द्रियोंमें मैं मन हूँ। इन्द्र किसको बोलते हैं? इन्द्र बोलते हैं **इन्द्रो मायाभि पुरुरूप ईयते**। इन्द्र मायासे अनेकरूप दीखता है। माया क्या है? यह जो इन्द्रिय है, यह माया है और ये विषय मायाके खेल हैं। और जो इन्द्र है सो तत्त्व है। इन्द्र उसको कहते हैं 'इन्द्रो'—जिसमें सब जल जाये उसका नाम इन्द्र। निरुक्तमें इन्द्र शब्दकी अनेक व्युत्पत्ति दी हुई है—**इदं द्रष्टा इति इदन्द्रः। इदन्द्रं सन्तं इन्द्र इत्याचक्षते**। इदंका जो द्रष्टा है उसको बोलते हैं इन्द्रद्रं। और इन्द्रद्रंको ही 'द'का लोप करके 'इन्द्र' बोलते हैं।

ये इन्द्रियाँ क्या हैं? **इन्द्रस्य लिंगम् इति इन्द्रियम्**। इन्द्रका जो लिंग है जिसके द्वारा यह आत्मा संसारके विषयोंका भोग करता है, उसको इन्द्रिय बोलते हैं। जहाँ व्याकरणमें इन्द्रिय शब्दकी व्याख्याकी हुई है वहाँ बताया कि ये इन्द्रियाँ पाँच हैं या दस हैं या ग्यारह हैं। ये ग्यारहों जिस एकको हैं उसका नाम इन्द्र। 'इन्द्र' शब्दसे लिंग अर्थमें, सृष्ट अर्थमें, दृष्ट अर्थमें, दुष्ट अर्थमें, दृष्ट, दष्ट, दुष्ट लिंग—इन अर्थोंमें इन्द्र शब्दसे दस प्रत्यय होकरके इन्द्रिय शब्द बनता है। यह व्याकरणकी बात है। तो **इन्द्रियम्**।

संसारका विषय भोगना है तो आत्मदेव इन इन्द्रियोंके पीछे बैठकर इनके द्वारा शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्धका तमाशा देख रहे हैं—मजा ले रहे हैं। और, जब मजा नहीं लेना, वैराग्य हुआ इन्द्रियाँ सब सुस्त पड़ गयीं। तो इन इन्द्रियोंके भीतर एक बैठा हुआ है। यह देखो आत्माका प्रत्यक्ष-निदर्शन है। मनका तरह-तरहसे वर्णन होता है। यह मनीराम जो भीतर बैठे हैं, 'मन्यते अनेन इति मनः' जिससे सब चीज जानी जाती है। आँखसे केवल रूप जाना जाता है, कानसे केवल शब्द जाना जाता है, नाकसे केवल गन्ध जाना जाता है परन्तु मन शब्दको भी जानता है, रूपको भी जानता है, गन्धको भी जानता है।

अब देखो प्रक्रियाकी एक बात सुना देते हैं। अपनी प्रक्रिया तो भाई, छूट गयी बहुत देरसे। इसीलिए तो बोले—भाई पंचदशीमें आभासवाद है। 'वेदान्त-

सिद्धान्त मुक्तावली में एक जीववाद है। अपनेको लेकर क्या करना है, उसका भी प्रयोजन था सो पूरा होगया।

हीरा पायो गांठ गठियायो बार-बार वाको क्यों खोले!
मन मस्त हुआ तब क्यों बोले?

एक-एक महाभूतकी एक-एक सात्त्विक तन्मात्रासे इन्द्रियाँ बनी हैं भला। जैसे शब्दकी जो सात्त्विक तन्मात्र है उससे कान बना और स्पर्शकी—वायुकी जो सात्त्विक तन्मात्रा है, उससे त्वचा बनी। रूपकी जो सात्त्विक तन्मात्रा है उससे आँख बनी। एक-एक चीज है, इनमें इससे एक-एक देखते हैं, मन पाँचोंको जानता है इसलिए मनमें पाँचो चीजें हैं। ये शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध हैं, तामस हैं, क्योंकि ये जानते नहीं हैं जाने जाते हैं। जाननेका साधन इनके पास नहीं है। पंचमहाभूत जाने जाते हैं, जानते नहीं। इसलिए तामस हैं विषय रूपसे और इन्द्रियरूपसे एक-एक विषयके जाननेवाली जो इन्द्रियाँ हैं, वे एक-एककी सात्त्विक तन्मात्रा हैं। पाँचोंको जाननेवाला जो मन हैं, वह पाँचोंकी सात्त्विक तन्मात्रा है। क्यों मन पाँचोंका है और क्यों इन्द्रियाँ एक-एककी हैं और क्यों ये सात्त्विक हैं और क्यों विषय तामस हैं। तो यह बात समझनेकी होती है, किताबमें पढ़ लेनेसे तो नहीं मालूम पड़ती। जिसके मनमें प्रश्न ही नहीं उठता उसको उत्तर कहाँसे समझमें आवे?

अच्छा अब देखो यह मन जो है इसको परमात्मा बोलते हैं क्योंकि,

मन एव मनुष्याणां कारणं बन्ध मोक्षयोः।

मन इन्द्रियोंके द्वारा अथवा बिना इन्द्रियोंके विषयको अपने पेटमें लेकर बैठता है, तो विषयाकार और यह मन जब भगवान्‌को अपने पेटमें लेकर बैठता है तो भगवदाकार। जैसे शीशा है, उसके सामने शराबकी बोतल रख दो, तो शराब चमकेगी कि नहीं शीशेमें? शराब चमकेगी और उसके सामने गंगाजल रख दो तो गंगाजल चमकेगा। तो यह मन क्या है? कि शीशा सरीखा है। स्वच्छ है और इसमें, यह जितना हम दुनियाको जानते हैं, उतना ही नहीं, ईश्वर तक, बम्बई नहीं, सिर्फ भारत वर्ष नहीं भला! सिर्फ एक ब्रह्माण्ड नहीं; कोटि-कोटि ब्रह्माण्ड इसी मनके भीतर चमकते हैं। यदि मन ब्रह्माण्डोंकी ओर देखे तो अनन्त कोटि ब्रह्माण्डोंका द्रष्टा है और यदि यह ब्रह्माण्डोंकी ओर देखना छोड़ दे तो समाधि है भला। अनन्त समाधि है, अनन्त समापत्ति है। और, यदि यह परमात्माको देखे—**मनसैवेदनातव्यं**, मनसे ही परमात्माकी प्राप्ति होती है। **दृश्यते**

त्वग्रया बुद्ध्या सूक्ष्मया सूक्ष्मदर्शिभिः। यह एकाग्र और सूक्ष्म बुद्धिके द्वारा परमात्मा देखा जाता है।

परमात्माके दर्शनमें विलम्ब इसीलिए हो रहा है कि या तो तुम विक्षेपमें फँस गये, या तो समाधिमें फँस गये। यदि समाधि और विक्षेप दोनोंको छोड़कर, जिसकी झिलमिल-झिलमिल रोशनी मनमें पड़ रही है, देखो वह चमकता जा रहा है परमात्मा, अपने मनमें परमात्माका दर्शन होवे। जब परमात्माका दर्शन होता है, सबसे बढ़िया चीज हमारे पास जो ईश्वरकी दी हुई है, यह मन है और इसमें हम स्वतन्त्र हैं कि मनको सुखमें लगाकर सुखी हो जायें, मनको दुःखमें लगाकर दुःखी हो जायें, मनको परमात्माकी याद करके परमात्मा हो जायँ। यह इतना बड़ा साधन, यह मन जो भगवान्ने दिया है यह मनके रूपमें जो भगवान् आते हैं हमारे जीवनमें, यह बहुत विचित्र है।

अब थोड़ी योगकी बात सुनाते हैं। यह बात यह है कि जिसको हम लोग मन, मन कहते हैं, इसका एक छोटा रूप होता है और एक बड़ा रूप होता है। जैसे अपनी साँस है—प्राण, इसका दो रूप आपको मालूम पड़ता है कि नहीं? एक तो जो नाकसे घुसती है, निकलती है, प्राणवायु जिसको बोलते हैं और एक जो सारी सृष्टिमें भरी हुई हवा है। यदि हवा न हो तो आपकी साँस रहेगी? तो इसका मतलब यह है कि हमारी जो साँस है, वह हवासे एक भी है और अलग भी है। तो अलग कैसे है? कि धौंकनी होती है, लोहारके घरमें धौंकनी चलती है, ऐसे एक धौंकनी चल रही है। इसी तरह प्राणवायु जैसे पैदा होती है और शरीरको हिलाना-डुलाना, खूनको दौड़ाना, हाथको उठाना, आँखकी पलकको हिलाना, इसीसे होता है—प्राणसे। तो प्राणके दो रूप हैं, एक व्यष्टि प्राण होता है शरीरकी उपाधिसे, और एक समष्टि प्राण होता है समष्टिकी उपाधिसे और व्यष्टि और समष्टिके भेदको मिटा देवें, तब क्या होता है? **प्राणो ब्रह्म।** व्यष्टि प्राण, समष्टि प्राण और प्राण ब्रह्म। प्राण व्यष्टि, प्राण समष्टि और प्राण ब्रह्म, यह प्राणकी उपाधिसे परमात्माका चिन्तन हुआ—प्राणोब्रह्म।

अब मनकी उपाधिसे परमात्माका चिन्तन करो। व्यष्टि मन और समष्टि मन, यह देहकी उपाधिसे जो भेद मालूम पड़ता है, असलमें हृद् गोलक, जैसे आँख-आँखसे सूर्य अलग-अलग दिखता है, ऐसे हृद्गोलकमें भेद होनेसे मन अलग-अलग मालूम पड़ता है। व्यष्टि हृद्गोलकमें मन और समष्टि हृद्गोलकमें मन। जब अपने मनमें जो व्यक्तिगत वासनाएँ हैं, उनको जब मिटा देते हैं और

व्यक्तिगत अहंकारको मिटा देते हैं तब यह मन शान्त होकर समष्टिके मनसे एक हो जाता है। जब समष्टिके मनसे एक होता है तब बड़ी-बड़ी सिद्धियाँ हो जाती हैं, विश्वामित्रने जैसे ब्रह्माण्ड बना दिया? प्राप्त होती हैं। वह प्राणके दृष्टान्तसे आप समझो, ध्रुवने तपस्याकी छह महीनेकी और प्राणरोध कर दिया। जब ध्रुवने अपना प्राणरोध किया तो समष्टिका प्राणरोध होने लग गया। देवता लोग व्याकुल होने लगे। विष्णु भगवान्के पास गये। तब उन्होंने आकर दर्शन दिया, क्योंकि ध्रुवकी साँस और विश्वकी साँस एक हो गयी थी। जब योगी अपने मनको शान्त करता है, निर्वासन करता है, निरहं करता है तो क्या करता है? चार दृष्टि— संकल्प, विकल्प, अहंकार और अनुसन्धान! ये कार्य हैं न! जैसे जाग्रतावस्थामें बुद्धि है, बुद्धि-प्रधान अन्त:करण है। जाग्रतावस्थामें कोई समझकर काम करते हैं। मन: प्रधान है अन्त:करण कब? स्वप्नावस्थामें। उसमें सोचना समझना, नियन्त्रण नहीं होता। अहंकार-प्रधान अन्त:करण कब? कि सुषुप्ति-अवस्थामें और, समाधिमें चित्त-प्रधान अन्त:करण है, उसमें मन, बुद्धि, अहंकार—तीनों नियन्त्रित हो गये, केवल चित्त रह गया। यह व्यष्टि हुआ। अब यह जब समष्टिके साथ एक हो जाता है तो क्या सिद्धि होती है? हम कहें कि इन्द्र इधर आओ, तो इन्द्र आवेगा, हम कहें कि ब्रह्मा इधर आओ, तो आवेगा, 'विष्णु इधर आकर दर्शन दो तो विष्णु आ जायेंगे। क्यों? कि समष्टिके मनसे जब हमारा मन एक होगा, तो एक ब्रह्माण्डमें रहनेवाले, ब्रह्मा, विष्णु, महेशका मन भी हमारे मनके अन्तर्गत हो जायेगा। तब दूसरेके मनकी बात जान लेना, जल्दीसे दूर पहुँच जाना, हल्का हो जाना, भारी हो जाना, बड़ा हो जाना—यह योगमें मनकी समष्टि-रूपता है, मनको समष्टिरूप मानते हैं।

जैन लोग और नैयायिक मनको अणुरूप मानते हैं और वेदान्ती लोग मनको शरीरव्यापी मानते हैं। अणु मन, मध्यम परिमाण मन और विभु मन, ऐसे होता है। एक अणुमन है। तो बोले—यहाँ छूट गया मन, कैसे मालूम पड़ा, कि टेलीफोन लगा है। यहाँ जो पतली-पतली नसें हैं—संवेदन सूत्र जो हैं यहाँ छूआ और बस टेलीफोनसे खबर पहुँच गयी दिलमें, सिरमें, ऐसे। तो जो अणु मानते हैं वे ऐसे मानते हैं। और मध्यम परिमाणवाले मानते हैं कि मन तो वहाँ रहता ही है, इसको मालूम पड़ जाता है। और, जो लोग मनको व्यापक मानते हैं, वे अहं-ग्रन्थिके कारण मनमें परिच्छेद मानते हैं।

जब प्राणायामसे, प्रत्याहारसे, धारणासे, ध्यानसे मनका निरोध करते हैं तो

एक बार मन समष्टि मनसे एक हो जाता है और जब समष्टि मनसे एक होता है तब सब ऐश्वर्य उसके अन्दर आजाता है। मन ही ईश्वर है। मन ही माया है। आत्मा और इन्द्रियोंके बीचमें दोनोंकी कड़ी जोड़नेवाली जो चीज है, उसे चैतन्य-दृष्टिसे ईश्वर कहते हैं और उसीको जगत् कारणकी दृष्टिसे माया कहते हैं। नियन्ताकी दृष्टिसे उसीको ईश्वर बोलते हैं।

इंन्द्रिय और इन्द्रियकी सृष्टि इन्द्रियायण-सृष्टि इसको बोलते हैं और आत्मा, इन दोनोंके बीचमें कड़ी जोड़नेवाली चीज क्या है? बोले—ईश्वर है, चैतन्यकी दृष्टिसे! तो वह मन है। वह माया कैसे है? वही अनिर्वचनीय दृष्टिसे कारणकी दृष्टिसे उपादानकी दृष्टिसे माया है और निमित्तकी दृष्टिसे ईश्वर है। और, अभिन्ननिमित्तोपादान कारण की दृष्टिसे उसीको सगुणब्रह्म बोलते हैं और कारणत्वका बाध हो जानेपर उसको शुद्ध ब्रह्म प्रत्यक् चैतन्याभिन्न ब्रह्म बोलते हैं। यह मनकी विलक्षण गति है। यदि मनको पहचान लिया जाये—यद्यपि यह बात साधारण साधकोंके लिए नहीं है। श्रुतिने कहा,

मनो ब्रह्म इत्युपासीत्। मनो ब्रह्म इति व्यजानात्।

ऐतरेय उपनिषद्में, तैत्तरीय उपनिषद्में, बृहदारण्यक उपनिषद्में **मनोब्रह्म**...ऐसे वर्णन आता है। **मनोमेता प्राण शरीरमेता। मनोमयः विज्ञानमयः भारूपः**। ऐसे आत्माका वर्णन आता है।

तो यह क्या रूप है? अब देखो बात साधारण रूपमें। आपको कुछ करनेकी बात नहीं बता रहा हूँ भला। जिस समय आपको भोग भोगना हो उस समय धर्मके अनुसार बोलना। भोग धर्मके विपरीत न भोगना। और, जब कोई कर्म करना हो तब याद करके शास्त्रके अनुसार धर्मानुसार कर्म करना। धन कमाना हो तब शास्त्रके अनुसार धन कमाना। तो भोगको रहने दो बाहर। अब इस समय भोग नहीं कर रहे और इस समय धन नहीं कमा रहे और इस समय कर्म नहीं कर रहे, इसलिए शरीरको शान्त करके बैठ जाओ। और देखो तुम्हारे मनमें क्या संकल्प उठता है। यह विचार करो। जरा अन्तर्मुख हो जाओ। यह मन जब मनको देखता है तब यह ब्रह्मकी प्राप्तिका कारण होता है और मन जब संसारको देखता है, तब यह संसारमें फंसनेका कारण होता है। तो मनसे मनको देखो। क्या देखो? कि मनमें संकल्प आया कि हमको तो घड़ीकी याद आयी। तो घड़ी खरीदने बाजारमें मत जाओ और आँख खोलकर घड़ी देखो मत! बोले—घड़ीकी याद नहीं आयी, यह घड़ी तो ब्रह्मसे भिन्न नहीं है, इसलिए

घड़ी ब्रह्म है और घड़ीकी जो याद आयी सो भी ब्रह्म है। तो बोले—महाराज, अब तो कपड़ेकी याद आ गयी। तो देखो कपड़ा ब्रह्मसे भिन्न नहीं है और कपड़ेकी याद भी ब्रह्मसे भिन्न नहीं है। भोगो मत। करो मत। रखो मत। मनमें जो-जो ख्याल आवे सब ब्रह्म है।

मनो ब्रह्म इत्युपासीत्।

मनमें आनेवाली प्रत्येक वस्तुको ब्रह्म बोलो और ब्रह्म समझो और ब्रह्म देखो।

यत्र यत्र मनो याति तत्र तत्र समाधयः।

अन्तमें तो होना ही है। तो देखो मनमें आनेवाले प्रत्येक पदार्थको और प्रत्येक संकल्पको जब ब्रह्माधिवासित करोगे, इसका नाम क्या होगा? आप रोज पाठ करते हो—

ईशावास्यमिदं सर्वं। इदं सर्वं मनोगता।

जो कुछ मनमें आता-जाता है, उनको बोले, जानता हूँ बाबा तुम ब्रह्म हो। स्त्री आयी, बोले जानता हूँ ब्रह्म हो तुम। पिता आये, बोले—जानता हूँ ब्रह्म हो तुम।

अब वह ब्रह्म होनेसे क्या होगा? कि उसमें जो भोग्यताकी भ्रान्ति है—काम, उसमें जो लोभ है, उसमें जो क्रोध है, उसमें जो मोह है वह ब्रह्म कहते ही कटता जायेगा। यह ब्रह्म मनोमय है। उपनिषदोंमें ऐसा वर्णन है। यह पृथिवी मनोमयी है। जल, अग्नि, वायु मनोमय हैं। मुम्बई, भारतवर्ष, एशिया, योरुप, अमेरिका सब पंचभूतके खेल हैं। और पंचभूत क्या है? कि पृथिवी, जल, अग्नि, वायु, आकाश—ये सब क्या है? श्रुतिमें है—**तस्माद्वा एतस्माद् आत्मनः आकाश संभूतः।** ये सब मनके खेल हैं।

देश क्या है? पूर्व-पश्चिम-उत्तर-दक्षिण क्या है? मन। भूत-भविष्य-वर्तमान क्या है? मन। स्त्री-पुरुष, घट-पट-मठ क्या है? मन। यह मन क्या है? कि मन ब्रह्मरूप है। मन परमात्माका रूप है। देखो न, घर बैठे परमात्माकी प्राप्ति। इसीको बोलते हैं—**इन्द्रियाणां मनश्चास्मि।**

वेदानां सामवेदोऽस्मि देवानामस्मि वासवः।
इन्द्रियाणां मनश्चास्मि भूतानामस्मि चेतना॥ 22॥

पहले **इन्द्रियाणां मनश्चास्मि** पर कई बात आपको कई दिन सुनायी। हमारे प्राचीन ग्रन्थोंमें मनका तरह-तरहसे निरूपण होता है। बौद्ध दर्शनमें मनको चार स्कन्धके रूपमें मानते हैं। वैष्णव-दर्शनमें मनका दूसरा स्वरूप है। मीमांसा दर्शनमें मनका दूसरा स्वरूप है। जैन दर्शनमें मनका दूसरा स्वरूप है। आपको हम औपनिषद् दर्शन वेदान्त दर्शनमें जो मनका निरूपण है सो सुनाते हैं। उपनिषद्में ऐसे निरूपण करते हैं कि **येन पश्यति। येन वा शृणोति। येन गंधाम् आजिघ्रति। येन वदति।** जिससे आँखके द्वारा हम देखते हैं, जिससे कानके द्वारा हम सुनते हैं, जिससे नाकके द्वारा सूँघते हैं, जिससे वाणीके द्वारा बोलते हैं, जिससे हम बाहर और भीतरके सब अर्थोंको जानते हैं **तदेतद् हृदयं मनश्च**। इसीको बोलते हैं हृदय और मन।

अब किसीने कहा कि हम आँखसे देखते हैं, कानसे सुनते हैं, नाकसे सूँघते हैं, जीभसे बोलते हैं, इसमें मनकी जरूरत क्या है?

तो बोले—नहीं, यह भी तो हम अनुभव करते हैं। आँखके सामने कोई निकल गया, बोले—हमने नहीं देखा—**अन्यत्रमना अभूवं नापश्यम्। आन्यत्रमना अभूवं नाश्रृण्वम्।**

बृहदारण्यक उपनिषद्में आया कि मेरा मन दूसरी जगह था, मैंने नहीं देखा। कोई बात बोलता रहता है, बोले—हमने नहीं सुनी। क्यों नहीं सुनी? कि हमारा मन दूसरी जगह था, हमने नहीं सुना। लोग टेलीफोन पर बात करते हैं, सामने पोथी लेकर कोई बैठ जाये, पढ़ते रहते हैं, कोई ध्यान देने लायक बात कही, तब तो ध्यान दिया और नहीं तो सुनते गये। उसने कहा—तुमने हमारी यह बात नहीं सुनी? कि नहीं सुनी। क्यों नहीं सुनी? पोथी पढ़ रहे थे। अखबार पढ़ रहे थे। तो क्या हुआ? मन तो चला गया अखबारमें, मन तो चला गया पोथीमें, इसलिए वह कानमें आया हुआ शब्द भी सुनाई नहीं पड़ा। तो इसका अर्थ क्या हुआ कि सिर्फ कानसे नहीं सुना जाता, सिर्फ आँखसे नहीं देखा जाता, सिर्फ नाकसे नहीं सूँघा जाता, सिर्फ जीभसे नहीं बोला जाता, उसके साथ मनका होना जरूरी है। नहीं तो कुछका कुछ बोल जाते हैं। क्यों? मन हमारा दूसरी जगह था। तो यह क्या है? इन इन्द्रियोंसे जुदा एक मन

नामकी चीज है। ऐसा नहीं समझना कि इन्द्रियाँ ही मन है। तो मन नामकी जुदा एक चीज है। उसके बारेमें ऐसा वर्णन आता है—

कामः संकल्पो विचिकित्सा श्रद्धाऽश्रद्धा धृतिरधृतिः बुद्धिः भीः इति एतत्सर्वं मन एव। उपनिषद्‌में बताया कामः संकल्पो विचिकित्सा—ये सब क्या है? यह सब मन है। कामना कहाँ उठती है? हमको अमुक चीज मिले। इस वस्तुका हमारे पास बहुत अभाव है, यह हमको मिलनी चाहिए। यह काम किसका रूप है? बोले—मन एव। मन ही है। यह चीज बड़ी बढ़िया है। यह संकल्प कहाँसे होता है? पहले संकल्प होता है, काम होता है। पहले किसी चीजको अपने मनसे बढ़िया मान लेते हैं और फिर उसको चाहने लगते हैं। विचिकित्सा—संशय होता है मनमें, यह चीज बढ़िया है कि नहीं है? किसी पर श्रद्धा होती है कि ये बड़े सद्‌गुणवाले हैं किसी पर अश्रद्धा हो जाती है कि ये बड़े दुर्गुणवाले हैं। कभी हम धैर्य धारण कर लेते हैं और कभी अपना धैर्य खो बैठते हैं। यह जिसमें धैर्य धारण करते हैं वह क्या है? और जिसमें धैर्य खो बैठते हैं वह क्या है? समझदारी कहाँ आती है? डर कहाँ लगता है? **इति एतत् सर्वं मन एव।** यह सब मन ही है। और यह कितनी खुशीकी बात है कि जो परमात्मा है, वह तरह-तरहके रूप धारण करके हमारे भीतर खेलता है। **इन्द्रियाणां मनश्चास्मि**— परमात्मा हमारे भीतर कैसे खेलता है? तो उपनिषद्‌में बताया **संज्ञानं आज्ञानं विज्ञानम्**—संज्ञान, आज्ञान, विज्ञान, हम तरह-तरहकी नामवाली चीज जानते हैं। यह स्त्री है, यह पुरुष है, ये नाम कौन रखता है? बोले—मन।

बड़ी दूर-दूरका ज्ञान रखते हैं। बोले—अमेरिकामें ऐसा, रूसमें ऐसा, साईबेरियामें ऐसा, हिमालयमें ऐसा, कन्याकुमारीमें ऐसा, यह कहाँ रहता है? ये कारीगरीके जो ख्याल हैं, ऐसे तस्वीर बनाओ, ऐसे मूर्ति बनाओ, यह डिजाइन कपड़ेपर निकालो, यह कौन बताता है? जो बेल-बूटा निकालते हैं, ऐसा बढ़िया अक्षर निकालो, ऐसा बढ़िया शृंगार करो, बाल ऐसे सँवारो, भौंहको इतनी टेढ़ी करो, कपड़ेको ऐसे पहनो, यह भीतरसे कौन बताता है? यह कहाँसे आता है? श्रद्धा, स्मृति, धृति—यह सब कहाँसे आता है? इष्टि, दृष्टि, सम्पूर्ण इन्द्रियोंके द्वारा अर्थको उपलब्ध कौन करता है?

अच्छा, मुझे दर्द हो रहा है, यह किसको मालूम पड़ता है? दृष्टि, द्युति—ये सब क्या है? **एतद् सर्वं प्रज्ञानस्य नामदेहादि भवन्ति।** हमारे प्रज्ञान-अन्तःकरणमें बैठकर परमात्मा यह जो तत्तत् उपाधिसे नाना खेल-खेल रहा है **इन्द्रियाणां**

मनश्चास्मि, वह परमात्मा, वह ब्रह्म ही हमारे अन्तःकरणमें बैठ करके और जो-जो वृत्ति उठती है, उसमें प्रतिबिम्बित हो-होकर उसमें आभास बन बनकर तरह-तरहका खेल-खेल रहा है। *मुझको क्या तू ढूँढै बन्दे मैं तो तेरे पास में।*

यह ब्रह्म जरा चुपचाप रहता है। घोषणा कर दी गयी वेदमें—वेदान्तमें कि परमात्माका जो स्वभाव है, वह सुख चाहते हैं तो **तूष्णीम्** चुप, मौन। फिर ब्रह्मके मनमें जब बुलवाँस आयी—बोलनेकी लालसा—संकल्प, तब उसने कहा कि अगर ब्रह्मके रूपमें बोलेंगे तो लोग कहेंगे कि दुनियामें इतना तो प्रोपेगंडा फैला रखा है कि नहीं बोलते—नहीं बोलते, सबको तो यह कह रखा है कि बिलकुल मौन; तो अब यह बोलता कैसे है? तब यह मन होकर बोलता है! परमात्माके बोलनेका स्थान मन है। परमात्माके संकल्प करनेका स्थान मन है। परमात्माके काम करनेका स्थान प्राण है। परमात्माकी पहली अभिव्यक्ति जो है वह प्रज्ञा, प्राण और वाक्‌के रूपमें होती है। उपनिषद्‌में ऐसा वर्णन आया है—

यो वै प्राणः सा प्रज्ञा। या वा प्रज्ञा स प्राणः।

जो प्रज्ञा है सो प्राण है और जो प्राण है सो प्रज्ञा है। यह भीतर जो समझदारी है, वह चेतनकी पहली सवारी है। चैतन्य आत्माकी पहली सवारी है समझदारी। वह बुद्धिमें अवतीर्ण होता है—**मनसैव पश्यति।मनसैव शृण्वति।** मनसे ही आदमी देखता है। मनसे ही आदमी सुनता है। और **कार्यंचाकार्यं विजानाति**—क्या करना चाहिए और क्या नहीं करना चाहिए—यह बात भी मनुष्यको मनसे ही मालूम पड़ती है।

अब देखो यह मन कहाँ मालूम पड़ता है! मैंने आपको सुनाया था हमारे पेटपर एक निशान हुआ, तो जब मैं बच्चा था, इतना बच्चा था कि तबकी कोई दूसरी बात याद नहीं आती; लेकिन वह जो पेटपर फोड़ा हुआ था और नाईने अपने उस्तरेसे जो उसको काटा था, वह याद आता है। मैं किसकी गोदमें था! अपने मामाकी गोदमें था और बड़े होनेपर जिस नाईको मैंने बहुत बार देखा, उसी नाईने अपने उस्तरेसे फोड़ेको काटा था, यह हमको डेढ़ दो वर्षकी उम्रकी बात अभी याद आती है। वह दृश्य बिलकुल प्रत्यक्ष दिखता है। क्योंकि वहाँ क्लारोफार्म तो सुँघाया नहीं गया था, कोई इंजेक्शन लगाया नहीं गया था। जब उस्तरेसे काटा गया और हाथ-पाँव पीटकर चिल्लाया, उसकी याद आती है।

अब बताओ वह डेढ़ बरस दो बरसकी उम्रकी याद जो आज आती है वह कहाँ है? वह आँखमें है? नाकमें है? जीभमें है? वह याद कहाँ है? उस घटनाका जो संस्कार है वह जिसमें सुरक्षित है उसको मन कहते हैं।

अच्छा, अब यह देखो कि ये जो स्मृतियाँ उदय होती हैं, ये एक साथ ही क्यों नहीं उदय हो जातीं? पचास वर्षकी स्मृतियाँ युगपत-एक साथ क्यों नहीं उदय होतीं? कभी कुछ, कभी कुछ, याद आता है, कभी बचपनकी बात याद आयी, कभी जवानीकी बात याद आयी। कभी पण्डिताईकी बात आयी तो कभी मूर्खताकी बात याद आयी। कितनी भूलें हुई उनकी याद आती है।

अब आपको सुनाया एकदिन मैंने, हमसे इम्तिहानमें पूछा गया कि आठ और छह कितने होते हैं? लिखना था पटरीपर, तो मैंने लिखा तेरह। अच्छा तो तेरह कैसे लिखा सो आपको बताता हूँ! मास्टरने इशारा किया गलत है। अब मैं जोड़ूँ तो आठ, नौ, दस, ग्यारह, बारह, तेरह। बिलकुल छह तेरह पर जाकर पूरा हो। आठ और छह कितना होता है? अब वह मास्टर इशारा करे बारम्बार कि तेरह नहीं, चौदह। पर अपनी तो समझमें ही न आवे। अब देखो ना। यह भूल याद आती है। यह जो आठको मैं गिन लेता था, आठको नहीं गिनना चाहिए था। आठके बाद नौ, दस, गिनते हुए चौदह पर पहुँचते। हम तो आठसे ही गिनते थे, तेरहपर ही रह जाते। अब यह भूल हुए कितने दिन हो गये! पचास वर्षसे एक आध ही कम होगा, जब की होगी यह भूल।

तो याद कहाँ है? इसीको बोलते हैं यह कोश है। यह मन जो है मनुष्यके पास, स्मृतियोंका खजाना है। यह संसारमें जो उपलब्धियाँ होती हैं उनका यह खजाना है। यह रागका खजाना है, द्वेषका खजाना है, इसीमें तो सब रहते हैं तो आप, कभी-कभी कर्मकाण्ड होता होगा तो वेदका मन्त्र सुनते होंगे—**यज्जाग्रतो दूरमुदैति दैवं तदु सुप्तस्य तथैवंति दूरं गमम् ज्योतिषां ज्योतिरेकं तन्मे मनः शिवसंकल्पमस्तु।** मेरे मनका स्वरूप क्या है? "किं मे मनः। मम मनः किं भवति। किं लक्षणं भवति।" हमारा मन किस लक्षणवाला है? क्या पहचान है हमारे मनकी? बोले—जब हम जागते हैं—**जाग्रतो दूरं उदैति**—हम जागते हैं बम्बईमें और यह पहुँच जाता है वृन्दावनमें, जै बिहारी जी महाराज! वह कौन है? है जान-पहचान उससे? **यज्जाग्रतो दूरमुदैति दैवं।** सेठजी जगे बालकेश्वरमें और उनका मन पहुँच गया कालबा देवी रोड, वह क्या है? उसीका नाम है मन। जब आदमी जागता है तो वह आदमीसे दूर हो जाता है। **तदु सुप्तस्य तथैवैति।** और जब आदमी सोने लगता है तो सारा तखल्लस छोड़कर—सारी चक्करबाजी छोड़कर कहाँ जाता है? सोते हुएके पास आकर मिल जाता है। वह कौन है? वह कौन अपना दोस्त है जो जानगेपर तो भाग जाय और सोनेपर

पटसे अपने पास आकर सो जाय! ऐसा दोस्त कौन है? है दोस्त! कभी दुश्मन भी होता है कभी दोस्त भी होता है।

दैवं—है कैसा? कि बड़ा चमकदार है। देवताका काम करता है। आगेकी सोच ले। पीछेकी याद कर ले, वर्तमानमें दोस्त दुश्मनकी पहचान बता दे। **दैवं। यज्जाग्रतो दूरमुदैति दैवं तदु सुप्तस्य तथैवैति दूरङ्गमं**—हवाई जहाज इतनी जल्दी नहीं पहुँच सकता। बन्दूककी गोली नहीं पहुँच सकती। रेडियोकी आवाज नहीं पहुँच सकती उतनी जल्दी। **दूरं गमं**—क्षणमें अमेरिका, क्षणमें रूस। क्षणमें स्वर्ग, क्षणमें नरक। कि है कौन? कि **ज्योतिषां ज्योतिरेकं**—ये जो अपने पास ज्योति हैं इन्द्रियाँ—आँख, कान, नाक—ये अलग-अलग हैं, इनमें वह एक ज्योति है।

ऐसी चीज क्या है? बोले—**तन्मे मनः**—वह मेरा मन है। उसके बारेमें क्या चाहते हो? उसके बारेमें यह चाहते हैं कि **शिवसङ्कल्पमस्तु**—उसमें कल्याणकारी संकल्प होवे। यह हमारा मन बुरा संकल्प न करे। दूसरेके लिए भी न करे कि यह मर जाये और अपने लिए भी न करे कि मैं मर जाऊँ। दूसरेके लिए भी यह संकल्प न करे कि वह दुःखी हो और अपने लिए भी न करे कि मैं दुःखी होऊँ।

यह हमारा प्यारा-प्यारा चुलबुला मन परमात्माके संकल्पसे भरने योग्य है, कल्याणके संकल्पसे भरने योग्य है। इसको बुराईके संकल्पसे मत भरो। मनके बारेमें वेदमें ये छह मन्त्र इकट्ठे ही हैं। इसीमें-से एक और सुना देता हूँ—

यत् प्रज्ञानमुत चेतो धृतिश्च यज्ज्योतिरन्तरमृतं प्रजासु।
यस्मान्न ऋते किंचन कर्म क्रियते तन्मे मनः शिवसंकल्पमस्तु॥

यत्प्रज्ञानमुत चेतो धृतिश्च—यही प्रज्ञप्ति है, जो शरीरके अन्दर जीवनमें जो चेतना है वह मन ही है और वही संस्कार चयन करता है—चेत है। **धृतिश्च**—वही धारण करता है।

यज्ज्योतिरन्तरमृतं प्रजासु—सारी प्रजाके भीतर यह मन नहीं है, अमृतमय ज्योति है। **यस्मान्म ऋते किंचन कर्म क्रियते**—इसके बिना न पाप होतां, न इसके बिना पुण्य होता; न इसके बिना सुख होता, न इसके बिना दुःख होता, न इसके बिना अच्छा होता, न इसके बिना बुरा होता।

दूसरे वेदके मन्त्रोंमें इसको गणेश बताया है

निषुसीद गणपते गणेषुत्वामाहुर्विप्रतमं कवीनाम्।
न त्वत्क्रियते किंचनारेमहामर्कंमधवञ्चित्रमर्च॥

ऐसे वेदमें वर्णन है—हे गणेशजी! आप इन गणोंमें, ये जो आपके सेवक

हैं—इन्द्रियगण! गणेश कौन हैं? कि मन। 'धीश' भी बोलते हैं। एक 'धीशगीता' है। जैसे 'भगवद्गीता' है, 'गुरुगीता' है वैसे 'धीशगीता' है **धियो यो नः प्रचोदयात्**। एक 'गणेशगीता' है। तो ये गण माने इन्द्रियगण और इनका स्वामी मन। हृषीकेश यही है। देखो **इन्द्रियाणां मनश्चास्मि** यह बढ़िया-बढ़िया देखनेवाली आँख, यह बढ़िया-बढ़िया सुननेवाला कान, यह सूँघनेवाली नाक, यह बोलनेवाली जिह्वा इनमें तुम विप्रतम हो, सर्वोत्तम ब्राह्मण हो। शरीरके भीतर सर्वोत्तम ब्राह्मण कौन? कि मन।

अब आलसी हो प्रमादी हो तो शूद्र हो जायेगा। और, बस कमानेके संकल्पमें लगा हो तो बनिया हो जायेगा। मारपीटके संकल्पमें लगा हो तो क्षत्रिय हो जायेगा और अपने शुद्ध सात्त्विक स्वरूपमें रहे तो—**त्वं आहुर्विप्रतमं कवीनां। न त्वद् ऋते किंचन क्रियतारे।** बिना इस मनके दुनियामें कोई काम नहीं होता। बिना मनके पाप भी नहीं होता। अगर बिना मनके कोई आदमी काम कर दे तो पाप नहीं होता। करवा लिया जाये उससे कोई काम, उसका मन न हो और करना पड़ जाये, तो पाप नहीं लगेगा। पाप तो मनसे लगता है। पुण्य मनसे लगता है। सुख भी नहीं होगा बिना मनके और बिना मनके दुःख भी नहीं होता। बिना मनके अदृष्ट भी नहीं बनेगा।

ये मनीराम तो बड़े विचित्र हैं। परमात्मासे जो जो होना होता है संसारमें, परमात्माको जो जो रूप धारण करना होता है, वह इस मनके द्वारा ही धारण करते हैं।

बोले—भाई, यह आदमी कहाँसे आया है? और कहाँ जायेगा? श्रीमद्भागवतमें बड़ा सुन्दर इसका वर्णन है। महाभारतमें भी है—

मन एव मनुष्यस्य पूर्वरूपाणि शंसति।
भविष्यतश्च भद्रं ते तथैव न भविष्यतः।। 4.29.66

एक आदमी नरकमें-से जब निकलता है, खूब पीड़ा, खूब तकलीफ पाकर आता है और जब मनुष्यका जन्म उसको मिलता है, तब उसका रूप क्या रहता है? काट खाये। वह इतनी पीड़ा पाकर आता है कि उसको यही ख्याल रहता है कि सब लोग हमको सतानेवाले हैं, सब हमको दुःख देनेवाले हैं, नरकके यमदूत उसके दिमागमें भरे रहते हैं। तो उस आदमीके मनकी हालत क्या रहती है? कि काट खाऊँ। हिंसा प्रधान मन होता है उसका, दूसरेकी चोरी कर लें। दूसरेके साथ अत्याचार करें। दूसरेको तकलीफ पहुँचायें क्योंकि इतनी तकलीफ पायी है उसने नरकमें कि अब उसको उस तकलीफका अनजानमें ही बदला

लेनेकी प्रवृत्ति होती है, जो उसको तकलीफ न पहुँचावे उसको भी तकलीफ पहुँचावे। समझ जाओ कि यह नरकमें-से आया है। जो दुनियामें दूसरेको तकलीफ देनेवाला आदमी है, उसके मनको देखकरके पता चल जाता है कि यह पूर्व जन्ममें नरकमें था। यह बात भागवतमें लिखी है। और, जो आदमी स्वर्गसे आता है, तृप्त होगा। वह कहेगा भोग दूसरोंको भोगने दो। उसके मनमें परोपकारकी वृत्ति आती है, क्योंकि वह तो देख चुका होता है कि कल्पवृक्ष कैसा है, अप्सरा कैसी है, विमान कैसा है वह स्वर्गसे आता है ना? जो सुखी जीवन व्यतीत करके आता है, वह दूसरोंको सुख देता है।

अच्छा, आगे कहाँ जायेगा इसका भी पता लगता है। **भविष्यतश्च राजेन्द्र**—अगले जन्ममें कहाँ जायेंगे? तो देखो, इनको ज्यादा क्या चाहिए? बोले—माँस चाहिए। तो गीध योगिनमें जायेंगे, माँस ज्यादा मिलेगा। इनको तो हिंसा चाहिए, तो बाघ बनेंगे, शेर बनेंगे। तो जो चाहिए, तुम्हारे मनमें जो यह कि मैं उसके पास पहुँच जाऊँ—यह जो लगा रहता है; अपने मनको देखो। कहाँ पहुँचनेकी ललक रहती है तुम्हारे मनमें? जहाँ पहुँचनेकी ललक तुम्हारे मनमें लगी रहती है वहाँ पहुँच जाओगे। पैसेके पास पहुँच जाओगे, हिंसाके पास पहुँच जाओगे। इसका पता चल जाता है कि नहीं? यह जीवन्मुक्त होगा कि नहीं?

तथा च न भविष्यतः। कि अब इसका पुनर्जन्म नहीं होगा। अब यह स्वर्गमें नहीं जायेगा। अब यह नरकमें नहीं जायेगा। अब इसके आगे कोई गति नहीं होगी इसकी—इसका पता चल जाता है। कैसे चलता है? कि—जिसके मनमें वासनाएँ कम हैं, मननमें जिसकी रुचि है, निदिध्यासनमें जिसकी रुचि है, श्रवणमें जिसकी रुचि है, सत्संगमें जिसकी रुचि है। बोले—क्या रखा है सत्संगमें! कहाँ रखा है? कि ताश खेलनेमें। बोले—तान दुपट्टा सो जाओ। निद्रामें, आलस्य है, प्रमाद है। हम कहते हैं सत्संग छोड़ना ठीक है, अगर तुम्हारी समाधि लग जाती है तो। लेकिन समाधि न लगती हो, दुःख होता हो, हिंसा होती हो, कल्पना होती हो तो इस औषधको क्यों छोड़ते हो? यह तो ऐसा ही है कि रोगीने दवाकी शीशी फोड़ दी, पनालेमें फेंक दी। तो मनसे पता चलता है कि यह आदमी निर्वासन होनेवाला है कि नहीं? जिसका मन वासना परित्यागकी ओर जा रहा है वह इसी जीवनमें जीवन्मुक्त हो जायेगा और जिसका मन वासनाका परित्याग नहीं कर रहा है, उसका मन कहाँ जायेगा? मैं कहता हूँ उपनिषदोंमें हजारसे भी ज्यादा ऐसी श्रुति हैं जो मनका वर्णन करती हैं।

मनसा साधु पश्यति।

यह आत्मा भी असलमें परमात्मा ही है यह जीवात्मा असलमें परमात्मा है। तो जैसे परमात्मा अपने संकल्पसे सम्पूर्ण जगत् बनता है वैसे जीवात्मा अपने संकल्पसे तत्तत् शरीरधारी बन गया। पशु, पक्षी, स्त्री, पुरुष बन गया, यह इसके संकल्पमें—मनमें सामर्थ्य है। यह उपनिषद्में बताया कि अगर आप परमात्माका दर्शन करना चाहते हैं तो कैसे प्राप्त करेंगे? कि—

मनसैवेदमाप्तव्यं नेह नानास्ति किंचन।

मनसैवेदमाप्तव्यं—मनसे ही प्राप्त करो।

देखो, मनमें भी भीतरसे एक ज्योति आरही है परमात्माका निर्गुण रूप तो ज्ञान है, ज्ञाता और ज्ञेयसे रहित ज्ञान। ज्ञेय माने जगत्, चाहे लौकिक चाहे अलौकिक, चाहे प्राकृत चाहे विभु। और, ज्ञाता माने अल्पज्ञ चाहे सर्वज्ञ। जिसमें अल्पज्ञ जीव नहीं है और सर्वज्ञ ईश्वर नहीं है और प्राकृत और अप्राकृत, लौकिक और दिव्य जिसमें ज्ञेय नहीं है। ज्ञेयसे रहित और ज्ञातृत्वसे रहित जो अखण्ड ज्ञान है, उसको बोलते हैं परब्रह्म-परमात्मा और जब वही समष्टि मनकी उपाधिसे युक्त होता है तब ईश्वर और वही व्यष्टि मनकी उपाधिसे जब युक्त होता है तब जीव। मनमें उतरे बिना परब्रह्म परमात्मामें न ईश्वर, न जीव। वह मनमें उतरता है। तो;

मनसैवेद माप्तव्यम् का अर्थ क्या है? आप विषयको छोड़कर मनमें आजाओ, बाहरके विषयका ख्याल मत करो, अपने शरीरमें आजाओ और शरीरका ख्याल छोड़कर मनमें आजाओ और मनकी बदलती हुई वृत्तियोंको छोड़करके, उसमें जो एक मन है उसमें आ जाओ। यह माया-वाया और कुछ नहीं है। यह सम्पूर्ण वृत्तियोंका कारण-रूप जो मन है, उसको माया बोलते हैं और उसमें स्वयंप्रकाश अद्वितीय जो परमात्मा है उसको ब्रह्म बोलते हैं।

तो लौट ना? विषयसे इन्द्रियोंमें आओ और इन्द्रिय-गोलकको शरीरमें छोड़ दो और मनमें आजाओ और मनकी बदलती हुई वृत्तियोंको छोड़कर सामान्यमें—एक मनमें आजाओ और मनः-सामान्यमें जो वृत्त्यंश है उसका परित्याग कर दो और दृङ्मात्र जो वस्तु है वह तुम हो, वह ब्रह्म है, वह आत्मा है। तो **मनसैवेद-माप्तव्यं नेह नानास्ति किंचन।** यहाँ नाना नहीं है और जब नाना नहीं है, तब न माँ है, न मामा है। नाना होवे तो माँ होवे और तब मामा होवे। माँ और मामा, डबल माका नाम मामा हुआ न! माने माके साथ एक और लगा है मा-सरीखा। मौसी कौन है? कि माँ सदृशी—माँके सदृश है, उसका नाम मासी हुआ। मासी—माँ-सदृशी।

तो यह महाराज जहाँ नाना ही नहीं रहा तो माँ नहीं रही, मामा नहीं रहा। यही तो मम्मी-मम्मी है ना, मम-मम, मेरी। और, न माँ न मामा, न मम्मी; क्योंकि नाना ही नहीं रहा। **नेह नानास्ति किंचन**—नानात्वका निषेध हो गया कि यह कौन है? कि देखो यह परमात्मा है। यह आत्मदेव है, यह परमात्मा है। **मनसैवेदमाप्तव्यं।**

जबतक रुचि न हो, जिज्ञासा न हो, मुमुक्षा न हो, यह नहीं मिलता है। तो,

नायमात्मा प्रवचनेन लभ्यः न मेधया न बहुना श्रुतेन।

यह प्रवचनसे नहीं मिलता। कोई रसवर्षी व्याख्यान देते हैं। जितनी बार सुनो, वही सुन लो। **न मेधया**—बड़े भारी जज बैरिस्टर हैं, उनको नहीं मिलता। ये बड़े भारी काशीके विद्वान् हैं इससे नहीं मिलेगा ईश्वर।

मनसैवेदमाप्तव्यम्—अन्तर्मुख वृत्तिसे इसका ग्रहण होता है। वृत्तिसे बाह्य विषयको छोड़ो, देखो परमात्मा तुम्हारे भीतर ही है। तो वेदान्तमें बोलते हैं 'यह मन मैं हूँ'—यह कहनेका अभिप्राय क्या? भगवान्ने कहा कि इन्द्रियोंके भीतर मन मैं। यह तो ऐसे बता रहे हैं कि जैसे तुम्हारे घरमें खूँटीपर कोई चीज टंगी हो और पहचानमें न आवे। यह देखो यह दिल तो तुम्हारा घर है और इसके भीतर खूँटीपर मनके रूपमें परमात्मा टँगा हुआ है, पर तुम्हारी पहचानमें नहीं आता है। अरे मन नहीं है भाई, परमात्मा है। यह सारी दुनियाका कारण है, मन रहे मन, तब दुनिया रहे और मन न रहे तो दुनिया रहे ही नहीं। गौड़ पादाचार्यका एक श्लोक है—

मनसो ह्यमनीभावे द्वैतं नैवोपलभ्यते।

माण्डूक्यकारिकामें गौड़पादाचार्यजी महाराज जो शंकराचार्यके दादागुरु थे। शंकराचार्यके गुरु गोविन्दपाद, गोविन्दपादके गुरु गौड़पाद। तो शंकराचार्य भगवान् तो बच्चे थे, केरलमें उनकी जन्मभूमि थी और गौड़पादाचार्य थे उत्तर-भारतके। ये गौड़ ब्राह्मण थे और वे दाक्षिणात्य ब्राह्मण थे। यह बात सुरेश्वराचार्यने लिखी है—**एवं गौड़ेयीर्द्राविडेयीर्तथा।** गौड़ीय—गौड़पादाचार्य और द्रावड़ीय—शंकराचार्य; ऐसे उन्होंने वर्णन किया। ये हमारे गौड़ और द्रविड़ माने उत्तर भारतीय और दक्षिण भारतीय—दोनोंके आचार्य इसका प्रतिपादन करते हैं कि—जहाँ मन अ-मन हो गया तो देखो पति-पत्नीमें झगड़ा कबतक है? जबतक दोनोंका मन अलग-अलग है, एक कहती है क्लब, दूसरा कहता है सिनेमा। खिंचाव होगया और जब एक मन दूसरे मनमें मिल गया तो झगड़ा मिट गया। यह जो जीवका मन है, यह अपनी वासनासे कि हमको यह मिले, हमको यह मिले, हम यह देखें, हम यह करें, यह जीवका मन बन गया। और, जब

जीवने अपनी वासना छोड़ दी तो जीवका मन ईश्वरका मन बन गया। उस मनमें तो परमेश्वर है।

वेदान्ती लोग ऐसे वर्णन करते हैं—**मनसो मनः**। परमात्मा कौन है? मनका भी मन है **प्राणस्य प्राणाः**। प्राणका भी प्राण है। **चक्षुऽषश्च चक्षुः**। आँखका भी आँख है। परमात्माको ढूँढो, आँखोंके भीतर एक आँख है। प्राणोंके भीतर एक प्राण है। मनके भीतर एक मन है। वह परमात्मा है। और, जब उसने अपनी बहिर्मुखता छोड़ दी, बाह्य पदार्थोंका संकल्पन-विकल्पन छोड़ दिया, तो वह मन परमात्मा है तो परमात्माके सिवाय मन कोई दूसरी चीज नहीं है। यह श्रीकृष्ण भगवान् कहते हैं कि मैं हूँ मन। माने मुझसे जुदा मन नामकी कोई चीज नहीं है। तुम्हारे हृदयमें मैं ही मन बनकर बैठा हूँ।

अच्छा, तो— **न बाह्ये नातिहृदये तद्रूपं विद्यते मनः।**
यदर्थं प्रतिभानन्तं मन इत्यभिधीयते।

यह मन कहाँ रहता है? कोई-कोई ऐसा मानते हैं कि यह मन हृदयमें रहता है, अणुके बराबर। कोई मानते हैं सारे शरीरमें रहता है और कोई कहते हैं मन व्यापक है—विभु द्रव्य है। कोई कहते हैं मन द्रव्य है, कोई कहते हैं अद्रव्य है, कोई कहते हैं मन द्रव्याद्रव्य है। माने वस्तु है कि नहीं है? मन है क्या चीज?

इसके सम्बन्धमें बड़े-बड़े विचार हैं। पूर्व-मीमांसक कहते हैं कि मन तो एक विभु द्रव्य है सम्पूर्ण विश्व-सृष्टिमें व्यापक है। नैयायिक कहते हैं मन बिलकुल नन्हा-सा है। वेदान्ती कहते हैं कि सारे शरीरमें है। अब तत्त्व दृष्टिसे देखो। अरे भाई, यह मन न कहीं बाहर है और न तो कहीं भीतर है। यह, मनकी लम्बाई बताओ कितनी है? एक फुटका है कि एक मीलका है, कि हजार मीलका है, कितना है? लम्बाई-चौड़ाई बताओ? अच्छा रंगरूप बताओ? उसका आकार बताओ रंग काला है कि पीला है कि नीला है, मन कैसा होता है? मन पशुकी आकृतिमें है कि मनुष्यकी आकृतिमें है, यह मनकी आकृति क्या है? अच्छा, इसकी उम्र क्या है? कब पैदा हुआ, यह बुढ़ाता है कभी? अरे महाराज बुड्ढे लोगोंका मन तो और तरुणाता है। कहते हैं कि दुनियामें एक चीज ऐसी है; आदमी बुड्ढा होता है तो उसके बाल बुड्ढे हो जाते हैं—**जीर्यन्ति जीर्यता केशाः**। सफेद हो जाते हैं।

प्रेमकुटीमें हमलोग रहते थे न! स्वामी प्रेमपुरीजी महाराजके पास, तो कभी-कभी भोजन करते समय बाल निकल आता। तो उठाके दिखाया देखो

बाल, तो वसन्त बहन दौड़के आती थी, कहती थी कि सफेद है कि काला? क्या मतलब? बोले—सफेद हो तो मेरा, काला हो तो यशु बहनका।

तो आदमी बुड्ढा होता है तो उसके बाल बुड्ढे हो जाते हैं। मुँह पोपला हो जाता है। लेकिन **तृष्णैका तरुणायते**—मनमें जो प्यास है, वह बुढ़ापेके साथ बूढ़ी नहीं होती, तृष्णा और बढ़ती है—प्यास और बढ़ती है। ये मनीराम बच्चे हैं, चंचलता तो इनमें बच्चे सरीखी है और विषय-भोगकी जो लिप्सा है, जवान-सरीखी है। ये अपने ज्ञानका अभिमान कितना करते हैं? बुड्ढे जैसा। विषय भोग चाहते हैं जवान जैसा, चुलबुलापन करते हैं बच्चे सरीखा! आखिर इनकी कुछ उम्र भी है?

न किसी कालमें इनकी समाप्ति होती है, न देशमें इनकी परिणति होती है, लिमिट जिसको बोलते हैं, परिमिति! तो ये हैं क्या? बोले—बस हैं ये इतने ही। विषयका चिन्तन करो तो विषय हैं, परमात्माका चिन्तन करो तो परमात्मा हैं। **न बाह्ये नहि हृदये तद्रूपं विद्यते मनः**। न मनकी उम्र है, न मनका वजन है, न मनकी लम्बाई-चौड़ाई है, न मनकी रूप-रेखा है, न मनमें कोई आकृति है, न मनकी कोई बाहर या भीतर जगह है। यह क्या है? कि सुखका चिन्तन करो तो सुखरूप, दु:खका चिन्तन हो तो दु:खरूप, पापका चिन्तन होवे तो पापरूप, पुण्यका चिन्तन होवे तो पुण्यरूप और परमात्माका चिन्तन हो तो परमात्मरूप।

तो इनको मन कब बोलते हैं? जब संसारका चिन्तन होवे, जब विषय मालूम पड़े तब मन। इसी स्वयं प्रकाश परमात्माको जब विषयकी प्रतीति होती है तो परमात्माको ही मन कहते हैं। जब विषयकी प्रतीति नहीं होती, विषय बाधित हो जाता है, विषय विषयत्वेन प्रतीत नहीं होता; यह नहीं समझना कि अन्धा हो जाता है। बहरा हो गया, सो नहीं। जब बीस विषय प्रतीत होते हुए भी विषयत्वेन प्रतीत नहीं होते, ये विषय नहीं हैं, कि ये कौन हैं? कि ये परमात्मा हैं। जब सम्पूर्ण प्रपंच परमात्मरूपसे प्रतीत होवे, क्या एक और क्या नाना, क्या द्वैत और क्या अद्वैत, ये सब मनके भेद हैं। द्वैत-अद्वैत भी मनके भेद हैं यह नहीं समझना कि कोई परमार्थ हो।

श्रीउड़ियाबाबाजी महाराजसे किसीने एक बार कहा कि महाराज, आप अध्यासका निरूपण कीजिये और अध्यासकी निवृत्ति कैसे होती है यह बताइये। बोले—भाई हमारे न तो अध्यास है, न अध्यासकी निवृत्ति है। बोले—सब संन्यासी अध्यासका पहले निरूपण करते हैं और फिर उसका अपवाद करते हैं। पहले

अध्यासको सिद्ध करते हैं—मैं अज्ञानी हूँ और फिर 'मैं ब्रह्म हूँ'—यह बोध कराकर अज्ञानको निवृत्त करते हैं—अध्यासको निवृत्त करते हैं। बोले—नहीं, यह तो अद्वैतवादी लोग करते हैं, यह अद्वैतवादी संन्यासियोंका काम है कि वे अध्यासको सिद्ध करें और अध्यासका निषेध करें। बोले—महाराज, आप क्या अद्वैतवादी नहीं हैं? बोले—ना, हम अद्वैतवादी नहीं हैं। 'तब आप कौन हैं? कि हम अद्वैत हैं। हम अध्यासके भी प्रकाशक और अध्यासकी निवृत्तिके भी प्रकाशक। अध्यास कल्पनाके भी प्रकाशक और अध्यासका जब बाध हो गया तो उस बाधके भी प्रकाशक, हम वादी नहीं है, और हमारा कोई प्रतिवादी भी नहीं है सृष्टिमें। वादी-प्रतिवादी—दोनोंके प्रकाशक, स्वयं प्रकाश, एकरस।

तो द्वैत-अद्वैतका भेद कबतक है? अवधूत गीतामें एक बहुत बढ़िया श्लोक है—

अद्वैतं ....द्वैतमिच्छन्ति चापरे
समं त्रं न विन्दन्ति द्वैताद्वैत विवर्जितम्।

कोई द्वैतका आग्रह करते हैं और कोई अद्वैतका आग्रह करते हैं। वे नहीं जानते हैं, दोनों अज्ञानी हैं। वे नहीं जानते हैं कि द्वैत और अद्वैत दोनोंमें सम तत्त्व हैं एकरस अद्वैत, रातमें भी मैं ही, और दिनमें भी मैं ही, शान्तिमें भी मैं ही और तूफानमें भी मैं ही। जिसमें द्वैत और अद्वैतका कोई बखेड़ा नहीं। यह द्वैत-अद्वैत सब 'मैं' का बखेड़ा है और अर्थ प्रतिभानका नाम मन है और अर्थका अर्थत्वेन जो अभाव है, माने अपने स्वरूपसे अभिन्न अर्थ नामकी कोई चीज नहीं, जो दिखता है सो ही ब्रह्म, जो देखता है सो भी ब्रह्म, जो देखनेका साधन है सो भी ब्रह्म—

ब्रह्मार्पणं ब्रह्म हविर्ब्रह्माग्नौ ब्रह्मणा हुतम्।
ब्रह्मैव तेन गन्तव्यं ब्रह्मकर्मसमाधिना॥ 4.24॥

यह मन क्या है? यदि ब्रह्मातिरिक्त मन होता, तो एक मन होता और एक ब्रह्म होता। भगवान् श्रीकृष्ण कहते हैं। इन्द्रियाँ शान्त हो जाती हैं तब मैं शान्त मनके रूपमें सबको प्रकाशित करता हूँ और इन्द्रियाँ जब विक्षिप्त हो जाती हैं तब भी उनमें रहकर ज्ञानके रूपमें मैं ही प्रकाशित करता हूँ, मेरे सिवाय और कोई मन नहीं, मैं ही मन हूँ। मैं ही मन हूँ—**इन्द्रियाणां मनश्चास्मि।**

☆

इन्द्रियाणां मनश्चास्मि भूतानामस्मि चेतना ॥ 22 ॥

भगवान् अपने मैंको और मनको एक बता रहे हैं। भगवान्में जो विशेषता है, जो गुण हैं वे कुछ-कुछ मनमें भी होने चाहिए! अगर मनमें वे गुण न हों तो भगवान् मनको अपना शरीर क़ैसे बतायेंगे? तो आओ भगवान्के साथ थोड़ा मिलान करें मनका। मिलान करनेमें एक बात पहले आती है। कल किसीने हमसे पूछा कि मनको कैसे देखें? तो मैंने उनसे बातकी कि जैसे यहाँ बैठते हैं और हमको दिख रही है चौपाटी, मन चौपाटीमें चला गया और फिर चौपाटी दिखने लगी। जब हम यह देखने लगते हैं कि हम चौपाटी पर पहुँच गये और हम चौपाटी देख रहे हैं तब मन नहीं दिखायी पड़ता। और, अगर यह ख्याल रहे कि देखो यही हमारे भीतर मन है और मनके भीतर चौपाटी है। हम मनके भीतर होकर चौपाटी पर नहीं गये हैं। हमारे अन्दर मन है और मनके भीतर चौपाटी है। देखो, चौपाटीका विशाल मैदान, वहाँसे दीखनेवाला समुद्र, वहाँसे दीखनेवाली मैरीनड्राईव, वह सब कहाँ है?

यह शरीर, शरीरके भीतर मन और मनमें इतना लम्बा-चौड़ा, देखो पाँच मिनटसे चौपाटी देख रहे हैं, तो पाँच मिनट कहाँ है? एक मील लम्बी चौपाटी देख रहे हैं तो एक मील लम्बा कहाँ है? वहाँ बहुत-से लोगोंको देख रहे हैं, ये बहुत-से लोग कहाँ हैं? यह सब आपके मनके भीतर है। जैसे आप अपने मनके भीतर, मनसे ही, मनमें ही बनाया, मनमें ही अपने मनके भीतर चौपाटीको धारण किया और मन ही देख रहा है।

देखो, अपने मनका सामर्थ्य आप कि वह चौपाटी जहाँकी तहाँ थी, इसने नयी चौपाटी अपने मनमें बना ली। जब आप देखोगे कि हम चौपाटी पर नहीं गये हैं, हमारा मन ही चौपाटी बनाकर देख रहा है, आँख बन्द करो और देखो। तो चौपाटी मानसिक हो गयी और मन दीखने लग गया। अब मनने कहा कि जब मन ही मन देखना है तो चौपाटी क्या देखें। अरे मनके लिए तो जैसे दस कदम चौपाटी जाना वैसे एक हजार मील वृन्दावन जाना। तो आओ मनमें वृन्दावन देखें। यह यमुनाजी हैं, यह गोवर्धन है, यह लता-कुंजकी हरियाली है, यह सेवा-कुंज है, यह श्री राधारानी हैं, यह श्रीकृष्ण हैं, लीला हो रही है यह सब कहाँ दिख रहा है? कि मनमें। तो जब यह समझोगे कि हमारे मनमें ही सब दिखता है, तब तो मन

दिखेगा और जब तुम मनमें बैठकर मनको तो पीछे छोड़ दोगे और विषयके पास पहुँच जाओगे, तब मन नहीं दिखेगा, विषय दिखेगा और विषय-देशमें न जाओ, विषय-कालमें न जाओ, विषयकी कल्पनाको देखो कि तुम्हारे हृदयमें हो रही है, तो वह कल्पना तुमको दिखेगी।

चौपाटीकी कल्पना थी, वह दिख रही थी और वृन्दावनकी कल्पना हुई तो वृन्दावन दिख रहा था। तो मन कौन है? जो चौपाटीकी कल्पना कर रहा था वह मन है और जो वृन्दावनकी कल्पना कर रहा, वह मन है! यह जो कल्पनारूप मन है, यह कल्पक है। यह अभी दृष्टान्त बताया। मन तो वृन्दावनसे भी न्यारे हुआ और चौपाटीसे भी न्यारे हुआ। यह नहीं। आप समझो कि अभी यहाँ बैठकर जो घरकी बात याद आ रही है दूरकी, या आपको यहाँसे उठकर कहीं जाना है, अभी जिसकी कल्पना हो रही है, वह कहाँ है? दोनों मनमें हैं। अच्छा, कल्पित भूतमें स्मृति है और कल्पित भविष्यत्में योजना है, क्योंकि दोनों मनमें ही हैं। मनमें न भूत है, न भविष्य है। अच्छा, बोले—भाई यह 'भारतीय विद्या-भवन'का हॉल जो दिख रहा है, यह तो है। तुमको जो दिख रहा है, वह दूसरा और जो बाहर है सो दूसरा। क्योंकि जैसे कैमरेमें परछाई पड़ती है, तब फोटो आता है। बाहर जो चीज होती है वह अलग खड़ी होती है, पूर्व मुँहसे खड़ा है कोई फोटो खिंचवानेके लिए और कैमरेमें पश्चिम मुँहसे आया, जो बाहर पूर्व मुँहसे खड़ा होगा वह कैमरेमें पश्चिम मुँहसे आयेगा। क्या लीला है यह! यह जो सृष्टि दिखायी पड़ रही है वर्तमानमें भी, वह भी मनमें ही दिखायी पड़ रही है। मन है कैमरा, अन्तःस्थ हुए बिना कोई भी चीज दिखायी नहीं पड़ती। जब आँखके रास्ते, कानके रास्ते, नाकके रास्ते, जीभके रास्ते बाहरकी चीज भीतर जा करके प्रतिबिम्बित होती है मनमें, तब ज्ञान होता है।

अयं घटः। अयं पटः।

जबतक मनमें प्रतिबिम्बित न हो ले, तब तक घट-पटका पता ही न चले। तो बात क्या हुई कि असलमें हम मानस-सृष्टिको ही देखते हैं। यह मन कौन है? यह वर्तमानमें सृष्टि है। लंदन कैसा है? जिन लोगोंने देखा है वह तो भले देखे हुए की याद करते हैं, जिन्होंने नहीं देखा, उनसे पूछो तो वे भी बता देंगे कि कैसा है? हमारे मनमें ऐसा-ऐसा लगता है। हमारे एक मित्र हैं नारायण दास बाजोरिया, अभी कनखलमें रहते हैं। वे सब देश-विदेश घूम आये। तो बोले—महाराज हमको तो नयी दिल्ली जितनी अच्छी लगी, उतना अच्छा लंदन नहीं लगा। हमको तो वहाँके मकान ही अच्छे नहीं लगते, बिलकुल काले-काले, पुराने-पुराने।

अब यह देखो वेदमन्त्रमें मनका वर्णन है। मैंने छोटी बात बतायी है, वेदमें बड़ा करके वर्णन है।

येनेदं भूतं भुवनं भविष्यत परिगृहीतं अमृतेनैव सर्वं।
येन यज्ञस्ताव तन्मे मनः शिवसंकल्पमस्तु॥

यह हमारा मन कैसा है? बोले—अमृत। ऐसा अमृत है कि सारा भूत इसीने पकड़ रखा है, सारे भविष्यकी कल्पना इसीने कर रखी है। वर्तमानमें जितना भुवन है, पृथिवीका जितना व्यास है, जितनी लम्बाई, चौड़ाई है, जितनी परिधि है, नीचे धरती कितनी है, ऊँचाई धरतीपर कितनी है, दाँये कितनी, बाँये कितनी, सामने कितनी, धरतीका वातावरण कितना बड़ा है, ब्रह्माण्ड कितना है और कोटि-कोटि ब्रह्माण्ड विराट् पुरुषमें कैसे हैं? बोले—ये सब मनने ही पकड़ रखा है। भूतको पकड़ रखा है मनने, भविष्यत्को पकड़ रखा है मनने, वर्तमानको पकड़ रखा है मनने, यह माई-ताई, मौसी—ये कहाँ रहती हैं? सब मनमें रहती हैं। ये सब तो मरते रहते हैं जी, कितनी स्मृतियाँ पैदा हुईं और मर गयी, कितना भूत हुआ और मर गया। कितना भविष्य जैसा हम सोचते हैं वैसा नहीं होगा, मरा हुआ; मरे हुए भविष्यको सोचते हैं। मरे हुए भूतको सोचते हैं। दुनियामें जो चीज नहीं है, जो दोस्त नहीं है, उसको दोस्त समझते हैं। जो दुश्मन नहीं है उसको दुश्मन समझते हैं। यह तो सब मनका परिग्रह है। ये सब मर जाते हैं, पर मन नहीं मरता है—**अमृतेन सर्वं**—मनको अमृत कह। तो भूत विषय, जो अपने मर गये दादा दादी और जो अनन्त कोटि ब्रह्माण्ड नष्ट हो गये! तुमने नष्ट होते देखा था किसीको? अनन्त कोटि ब्रह्माण्डको कभी पैदा होते देखा था? न ब्रह्माण्डकी उत्पत्ति देखी, न ब्रह्माण्डका प्रलय देखा, न अनन्तकोटि ब्रह्माण्ड देखे और न तो एक-एक ब्रह्माण्डमें जो चीजें हैं, सो देखीं, यह सब मनीरामका खिलवाड़ है। सबसे खेलते हैं और स्वयं **अमृतेनैव सर्वम्**।

अब बोले—भाई, इसको छुड़ानेवाला कौन है? इन भूतकी कल्पनासे, वर्तमानकी कल्पनासे, भविष्यकी कल्पनासे छुड़ावेगा कौन? **येन यज्ञस्त्रायते सप्त होता**। नारायण—बलि चढ़ाओ। यज्ञ करो। सर्वमेधीय यज्ञ करो।

जैसे आप सुनते हैं, अश्वमेध, गोमेध, नरमेध, ऐसे सर्वमेध यज्ञका वर्णन है। यजुर्वेदके कई अध्यायोंमें इसका वर्णन है। सबकी बलि चढ़ा दो, भूतकी बलि चढ़ाओ। भूतकी बलि होती है। भविष्यकी बलि चढ़ाओ वर्तमानकी बलि चढ़ाओ। यज्ञके द्वारा भूतकी बलि होती है। उपासनाके द्वारा वर्तमानकी बलि

होती है और योगाभ्यासके द्वारा भविष्यकी बलि होती है। ज्यादा आगेकी कल्पना न आवे चित्तका निरोध करना पड़ता है इसके लिए। वर्तमान जो है वह भगवान्के चरणोंमें अर्पित कर देना पड़ता है। और, वर्तमानमें किसी ऐसे काममें लग जाओ कि भूतकी याद ही न आवे। यज्ञमें लग जाओ।

भूतकी बलि, वर्तमानकी बलि, भविष्यकी बलि—यह कौन करता है? कि मन करता है। अरे मनसे चलो, मनको ठीक कर लो तो ईश्वर। तो देखो, भूत, भविष्य, वर्तमान और इनसे छुड़ानेवाला। भूत-भविष्य-वर्तमानका आधार कौन है? मन। इनका उपादान कौन है? मन। इनको चलानेवाला कौन है? मन। इनसे छुड़ानेवाला कौन है? मन। तो ईश्वर क्या है? भूत-भविष्य-वर्तमानका आधार कौन है? भूत-भविष्य-वर्तमानका उपादान है? भूत-भविष्यका चलानेवाला है? और सबके मर जाने पर स्वयं अमृत है। यही तो ईश्वरका लक्षण है।

यह तुम्हारा मन क्या है? ईश्वरसे एक है। सर्व-नियन्त्रित लक्षण जो है, सर्वाधारस्वरूप लक्षण—सबका आधार होना, कैसे यह सपनेमें सबका आधार है हमारा मन, वैसे जागनेमें भी सबका आधार है हमारा मन। अपने मनकी शक्तिको नहीं जानते हो, पहले जब हम बच्चे थे, तो दो-तीन जन योगाभ्यास करते थे। हमारे, एक तो थे स्वामी ज्योतिर्मयानन्दजी, एक राघवानन्द थे, वह वसन्त बहन जिसमें रहती थी—सिद्धाश्रम हरिद्वारमें, वह उन्होंने ही बनवाया था, वे जब छोटे थे तो योगाभ्यास करते थे! तो ज्योतिर्मयानन्दजी, प्रसिद्ध नारायण सिंह, सूबेदार सिंह आदि बैठकर क्या अभ्यास करते, कि चींटी चल रही है, बोले कि हम संकल्प करते हैं कि यह चींटी यहाँ तक पहुँचते-पहुँचते पीछेको लौट जाये। यह चिड़िया उड़ रही है, हम संकल्प करते हैं आओ चिड़िया यहाँ बैठ जाये—ऐसे, अपने संकल्पकी शक्तिकी परीक्षा करते थे।

यह इतना ही नहीं, यह मन जब कहता है कि ऐ कृष्ण! आओ, तो आते हैं। हमने विपिन बाबूसे कहा कि यह तो सब मानसिक है। बोले—बस, हमारा ध्यान हो गया। जबतक हम समझते थे कि पता नहीं वह कब आवें और कब न आवें, यह बात उनके हाथमें है, तबतक मैं अधरमें लटका हुआ था, आज हमारी समझमें आगया कि जब हम कहेंगे कि यह रहा कृष्ण हमारे हृदयमें, जबतक हम छोड़ेंगे नहीं, तबतक रहेगा।

अपने मनकी शक्तिको समझो। यह सर्वाधार है, यह सर्वसंकल्पक है, यह

अनन्तकोटि ब्रह्माण्डमें बिलकुल व्याप्त है, यह संकल्प कोई मामूली संकल्प नहीं है।

अब देखो दूसरी बात ईश्वरके लक्षणमें जो आती है वह बताते हैं। ईश्वर सर्वज्ञानका आधार है, यह तो आप जानते हैं। ईश्वर जैसे सर्व विश्वका आधार है वैसे सर्वज्ञानका आधार है। अब देखो सर्वज्ञान स्वरूपकत्व जो है, ज्ञानसे हमारा मतलब वृत्ति है। क्योंकि जो असली ज्ञान है उसका आधार कोई नहीं होता वह तो सबका आधार होता है।

अब देखो एक मन्त्र पहले आपको सुनाते हैं—

यस्मिन् ऋचः साम यजूंषि यस्मिन्। प्रतिष्ठिता रसना यस्मिंश्चित्तं सर्वभूतं प्रजानाम्। तन्मे मनः शिव संकल्पमस्तु।

क्या है हमारा मन, जो तुम्हारे दिलमें चुलबुलाता है, जो कभी मर्दसे जाकर फँसता है, कभी औरतसे जाकर फँसता है, जो कभी पैसेसे जाकर फँसता है, जो कभी बच्चेसे जाकर फँसता है, वह मन तुम्हारा कितना प्रबल है? और यह भी बात है कि दुनियामें कितनोंसे फँसकर भी छोड़ देता है और कितनोंको फँसाकर भी छोड़ देता है।

मैंने सुना कि विलायतमें एक सज्जन एक स्त्रीसे मिले। उससे पूछा कि तुम हमको पहचानती हो? उसने कहा—कहीं देखा है ऐसी याद आती है। तो बोले—तुम हमारी भूतपूर्व पत्नी हो, हमारा तुम्हारा ब्याह हुआ था। बोली—हाँ, यह भी याद आता है, पर किस नम्बरके हो तुम मेरे पति, यह याद नहीं आता है। माने जितने तलाक दिये हैं उनमें-से तुम्हारा कौन-सा नम्बर है, यह याद नहीं आता है।

तो यह मनीराम कितनेसे फँसते हैं और कितनोंको फँसाते हैं। कितनोंको तलाक देते हैं ये, दिनभरमें आठ-दस चीजको बढ़िया समझकर उसमें फँसेंगे और आठ-दस चीजको घटिया समझकर उसको छोड़ेंगे। दिनभरमें सत्रह कल्पना करते हैं। ये हैं कौन? अरे ये बहुत बड़े हैं, इनको छोटा नहीं समझना।

जहाँ सृष्टिकी उत्पत्तिका वर्णन है वेदमें वहाँ भी मनका वर्णन है—

तस्माद्वा एतस्माद्वात्मनः आकाशः संभूतः।
आकाशाद्वा, वायोरग्नि अग्न्या पृथिवी पृथिव्या अन्नम्॥

यह सम्पूर्ण प्रजा कैसे पैदा हुई? कि अन्नसे। अन्न कहाँसे पैदा हुआ? कि धरतीसे। धरती कहाँसे पैदा हुई? कि पानीसे। पानी कहाँसे पैदा हुआ? कि गरमीसे। गरमी कहाँसे पैदा हुई? कि हवासे। हवा कहाँ पैदा हुआ? कि

आकाशमें। आकाश कहाँसे पैदा हुआ? तो श्रुति दो नाम लेती है—**तस्माद्वा एतस्माद्वा**—ईश्वरसे अथवा मनसे। **तस्माद्वा एतस्माद्वात्मनः**। यह मनसे आकाश, आकाशसे वायु, वायुसे तेज, तेजसे जल, जलसे पृथिवी, पृथिवीसे अन्न और अन्नसे सारी प्रजा उत्पन्न हुई। यह है तुम्हारा मन। क्या वर्णन करते हैं मनीरामका! देखो, जैसे ईश्वर सर्वज्ञ है वैसे मन भी सर्वज्ञ है। एक जीववादमें सर्वज्ञ ईश्वर जीवसे जुदा नहीं है।

तो देखो क्या आनन्दकी बात वेद कहता है—'यस्मिन् ऋचाः'—ऋग्वेद जिसमें है, सामवेद जिसमें है, जैसे रथके चाकमें आरियाँ बनायी हुई होती हैं, वैसे मनके एक हिस्सेका नाम है ऋग्वेद। मनके एक हिस्सेका नाम है यजुर्वेद, मनके एक हिस्सेका नाम है सामवेद। सारे वेद मनमें रहते हैं।

आप तैत्तिरीय उपनिषद् कभी पढ़ें यह मन्त्र जो मैं बोल रहा हूँ, यह तो है वेदके मन्त्रसंहिताका और तैत्तिरीय उपनिषद् कभी पढ़ें, वह भी वेद है, तो उसमें बताया, यह अन्नमय कोश है, इसके भीतर प्राणमय कोश है। असलमें वह कोशका वर्णन नहीं है, वर्णन तो पुरुषका है। यह जब हम अपनेको देह समझते हैं, तो चैतन्य और देह दोनों मिल गया। यह अन्नमय पुरुष हुआ। माने देहाकार परिणत जो अन्न है, उसमें व्याप्त पुरुष चैतन्यमय है। अब उसके बाद प्राणमय कोश है। यह शरीरमें जो क्रियाशक्ति है, उस क्रियाशक्तिमें व्याप्त चैतन्य प्राणमय पुरुषमें है। मैं अन्नमय नहीं हूँ, प्राणमय हूँ। उसके बाद बोलते हैं मैं प्राणमय नहीं हूँ, मनोमय हूँ। त मनोमय कोशका जब विवरण किया, तो यह बताया कि यह मनोमय पुरुष तित्तरीयरूप है—तीतर है। तीतर पक्षी।

अच्छा तो उसका सिर क्या है? कि **तस्य यजुरेव शिरः**। यजुर्वेद उसका सिर है। सामवेद उसके दूसरे अंग हैं। क्या अभिप्राय हुआ? ये सब मनोमय पुरुषके अवयव हैं। मनोमय माने मनमें हैं। ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद कहाँ रहते हैं? कि मनमें रहते हैं। इनके मन्त्रोंका अर्थ कहाँ भासता है? मनमें भासता है। पद-पदार्थ कहाँ भासता है? मनमें भासता है। इनकी स्मृति कहाँ रहती है? मनमें रहती है। श्रवण करने पर ये ग्रहण कहाँ होते हैं? मनमें होते हैं। इनके अर्थका साक्षात्कार कहाँ होता है? मनमें होता है।

सबके मन अलगं-अलग हैं? नहीं, सबका मन अलग-अलग नहीं है—**यस्मिन् चित्तं सर्वमोतं प्रजानां**—एक-एक व्यक्तिके पास एक-एक चित्त है। चित्त माने संस्कारयुक्त ज्ञानका खजाना। सबके पास एक-एक संचित ज्ञानराशि है। वह

अपनी-अपनी अलग है और सबकी संचित ज्ञानराशि जिस एक मनमें ओत-प्रोत है। माने मनमें तीन अंश हैं—एक विषयका अंश है, एक संस्कारका अंश है और एक ज्ञानका अंश है—चैतन्यका। चैतन्य अंशके बिना तो मन कोई काम कर ही नहीं सकता।

देखो, यह कहते हैं कि विषय भासनेसे संस्कार पड़ता है और संस्कार होनेसे ही विषय भासते हैं। संस्कार न हों तो इन्द्रियाँ ही न बनें। संस्कारसे इन्द्रियाँ बनीं और इन्द्रियोंसे विषय भासा और विषय भासनेसे इन्द्रियोंके द्वारा इनका संस्कार पड़ा और संस्कारसे इन्द्रियोंके द्वारा विषयका भान हुआ। कार्य है विषय और कारण है संस्कार। कार्य है संस्कार और कारण है विषय। इनमें कार्य कारणकी व्यवस्था नहीं है। जैसे दो आदमी हों और उनमें यह कहा जाये कि यह बाप है। बेटा होनेसे ही बाप है न! पहले बेटा हुआ तब बाप बना। तब बेटा ही बाप हुआ। नहीं, पहले बाप था तब बेटा हुआ। बेटा हुआ तब बाप हुआ और बाप हुआ तब बेटा हुआ। बापपना और बेटापनामें कार्य कौन और कारण कौन? तो यह अनादि परम्परासे संस्कारसे विषय और विषयसे संस्कार। ये गण होते हैं और अमृतस्वरूप जो ज्ञानांश है, मनमें जो ज्ञान है, वह अखण्ड है। अपने-अपने संस्कारको लेकर सबका चित्त अलग-अलग शरीरमें रहता है, उसके अनुसार विषयका ग्रहण होता है।

एक ही आदमीको एक आदमी महात्मा समझता है, दूसरा दुरात्मा समझता है। एक महात्माको देख रहा है और एक दुरात्माको देख रहा है। क्यों? वह जो आदमी है, वह तो आदमी है, उसमें महात्मापन दुरात्मापन कौन देख रहा है? जिसके मनमें श्रद्धाका संस्कार है वह महात्मापना देख रहा है और जिसमें अश्रद्धाका संस्कार है वह दुरात्मापना देख रहा है। संस्कारसे महात्मापन, दुरात्मापन दिखा।

अब एकको हुआ कि भाई, आज महात्माका दर्शन हुआ, बड़ा आनन्द आया। अब महात्माके दर्शनका संस्कार पड़ा और एकने कहा—हाय हाय! आज इस दुरात्माके दर्शन हुए, बड़ा कष्ट हुआ। उसके मनमें दुरात्मापनका संस्कार पड़ा। असलमें कार्य-कारणभाव विषय और संस्कारमें कल्पित है। इसमें जो ज्ञानांश है, वह बिलकुल जुदा है। ज्ञानांशको लेकर यह मन अमृतस्वरूप है। इसमें सबके चित्त ओत-प्रोत हैं। इसीमें ऋग्वेदकी ऋचा, इसीमें सामवेदका गान, इसीमें यजुर्वेदके यज्ञोपयोगी मन्त्र। तब यह कौन हुआ? यह सम्पूर्ण वृत्तिज्ञानका आधार, संस्कारका आधार, विषयका आधार, सर्वज्ञ है। सर्वज्ञ कौन है? कि यह हमारा मन है।

तन्मे मनः शिवसंकल्पमस्तु।

देखो ईश्वरके लक्षण हैं कि नहीं? यह पहचान है ईश्वरकी, पर घटित होती है अपने मनमें। हमारे इस मनमें ईश्वर ही भरना चाहिए। ऐसी पवित्र वस्तु पर— जैसे शंकरजी पर धूल चढ़ाना शोभा नहीं देता, ऐसे अपने इस पवित्र मनमें संसारके बुरे संस्कार भरना शोभा नहीं देता। यह ईश्वर है। श्रीकृष्ण कहते हैं—

इन्द्रियाणां मनश्चास्मि।

अब एक तीसरा लक्षण लो मनका। ईश्वर क्या करता है? ईश्वर नियन्ता है। जिसके नियममें रहकर पृथिवी टूटती नहीं है, बालू बिखर नहीं जाते। जिसके नियममें बँधकर सूर्य समयसे उदय और अस्त होता है। हवा चलती है। समुद्रमें बाढ़ आकर नगरको डुबो नहीं देती है, समुद्र नियन्त्रणमें है। सातों समुद्र जिसने नियन्त्रित किये, चौदहों भुवन जिसने नियन्त्रित किये, सम्पूर्ण प्रजाको जिसने नियन्त्रित किया, उसको क्या बोलते हैं? उसका नाम ईश्वर है। ईश्वर ब्रह्माका, विष्णुका, शिवका नियन्ता है। सबमें एक है ईश्वर। बड़ी भारी एक रस्सी है उसके पास, उस रस्सीमें सारी सृष्टिको फँसाकर रखता है।

कैसे नियन्त्रण करता है। यह मनका वर्णन है—यह ईश्वरका लक्षण है अन्तर्यामी होना, नियन्ता होना, सबको अपने काबूमें रखना। जो जानता है कि सब अपने काबूमें ही है, वह सुखी रहता है और जो काबूमें करनेकी कोशिश करता है उसमें हीनताका भाव है। जो कहता है कि हम काबूमें नहीं रखेंगे तो यह हमारे हाथसे बाहर जाकर चीज बिगड़ जायेगी, उसमें हीनताका भाव है, अपनेको छोटा समझता है। मन सम्पूर्ण सृष्टिको नियन्त्रित करता है। आप देखो मनका लक्षण आपको सुनाते हैं—

सुषा रथीः अश्वान् इव। यन्मनुष्यान् नेमीयते इषुभिर्वाजनेयीव हृत्प्रतिष्ठं यदग्रिम जविष्ठं तन्मे मनः शिवसंकल्प मस्तु।

हमारा मन कैसा है? अरे भाई रोज सुनते हो ब्रह्म ...ा है, ब्रह्म ऐसा है, ईश्वर ऐसा है, भक्ति ऐसी है, ज्ञान ऐसा है और यह तुम्हारे दिलमें जो चुलबुला बैठा है, यह चुलबुला बच्चा नहीं है, यह नटखट कृष्ण है—**इन्द्रियाणां मनश्चास्मि** कृष्ण है। कैसा-कैसा नाचता है। कैसा-कैसा प्रेम करता है। कैसा मक्खनके लिए रोता है और कैसा मुस्कुराता है। कभी मुस्कुराता है तो कभी रोता है। कभी नाचता है तो कभी सो जाता है। यह कभी गाय चराने जाता है, कभी बछड़ा चराने जाता है, कभी गोपियोंसे छेड़-छाड़ करता है और कहीं युद्धभूमिमें अर्जुनको उपदेश करता है। और कहीं जरासन्धको देखकर रण छोड़ रहा है। कालयवनको देख

रण छोड़ रहा है—भग गये, हम समझते हैं कि श्रीकृष्णने जितनी विभूति बतायी हैं अपनी गीतामें, उसमें सबसे ज्यादा मजा उनको अपनेको मन बतानेमें आया होगा। क्योंकि यह भाग जाये, यह छिप जाये, यह सो जाये, यह जाग जाये, यह मुस्कुराये, यह रोवे, यह खाये और यह एकादशी व्रत कर ले और बच्चे पैदा कर ले और ब्याह कर ले और अपने अन्दर सारे ब्रह्माण्डोंको दिखा दे। अब अपने मनको समझ लो, अपने मनका दर्शन हो जाये, कृष्णका दर्शन हो जाये। **केषु केषु च भावेषु।** प्रभु! हम तुम्हारा चिन्तन कहाँ-कहाँ करें! किस-किस भावमें तुम्हारा चिन्तन करें? मनमें चिन्तन करें। यह कैसा है?

सुषारथि अश्वानिव यन्मनुष्यान् नेमीयते इषुभिः बाजिनिव—जैसे एक सारथि, यह भी देखो वर्णन क्या मिलता है कि 'जैसे एक सारथि'— उनको याद आ गयी होगी कि वेदमें लिखा है कि मन सुसारथि है, जानकार सारथि जैसे घोड़ोंको चलाता है। जैसे बागडोर पकड़कर अच्छा सारथि घोड़ोंको चलाता है।

अर्जुनके रथपर जब बैठे होंगे भगवान् तो उनको याद आयी होगी कि जैसे मन सुसारथि है, वैसे मैं भी सुसारथि बनकर बैठा हूँ। **सुसारथि।**

अश्वानिव—ये जो अश्व हैं—घोड़ेकी तरह मनुष्य दुनियामें इधर-से-उधर भटक रहे हैं, चारा-पानीके लिए जाते हैं। बोले—हैंगिग गार्डनमें जायेंगे तो चारा मिलेगा, चौपाटी पर जायेंगे तो चारा मिलेगा। ये आँखके घोड़े जाकर चरते हैं वहाँ। आँखके घोड़े चरते हैं, जीभके घोड़े चरते हैं, कानके घोड़े चरते हैं। ये घोड़े चरनेके लिए जाते हैं। **अश्वान्। यन्मनुष्यान् नेमीयते इषुभिर्वाजिनिव।** बड़े-बड़े जबरदस्त जो घोड़े होते हैं, उनको जैसे बागडोरसे वशमें कर लेते हैं, वैसे यह मन ही मनुष्योंको वशमें करता है। यह मन ही इन्द्रियोंको वशमें करता है। मन कहे अरी ओ आँख! मत जा कहीं। मन कहे अरे ओ कान मत जा कहीं! नियन्त्रण कर ले। नियन्ता सम्पूर्ण ज्ञानका आधार है मन। सम्पूर्ण वृत्तिज्ञानका आधार है। ब्रह्मज्ञान भी मनमें ही होता है क्योंकि अविद्याकी कल्पना भी मनमें ही है और कहीं अविद्या नहीं है। आत्मामें, ब्रह्ममें, ईश्वरमें कहीं अविद्या नहीं है। अविद्या होनेकी कल्पना भी मनमें ही है। जब मनमें ब्रह्मविद्या आती है, तब अविद्या निवृत्त हो जाती है। ये मनीराम बड़े ही विलक्षण हैं। रहते कहाँ हैं?

हृत् प्रतिष्ठं—हृदयमें इनकी प्रतिष्ठा है।

यदजिरणं यविष्ठं—ये कभी बूढ़े नहीं होते—हमेशा जवान। पहले अमृत बताया—**अमृतेन सर्वं।** ये मनीराम हैं। **हृत्प्रतिष्ठं यदजिरणं यविष्ठं**—ये बड़े वेगवत्तर

हैं—दौड़नेमें इनकी बराबरी कोई नहीं कर सकता। वह आपने पढ़ा है न, **तदेजति तनैजति।** परमात्माका वर्णन है इसमें—**अनेजदेकं मनसो जवीयाः।** परमात्माके भेदकी कल्पना अगर किसीसे की जा सकती है तो मनके साथ। यह विभूति है। क्या विभूति है? **मनसो जवीया। नैनं देवामाप्नुव पूर्व मर्षत्।** आँख जबतक सामनेवाले दृश्यपर जाती है, उससे पहले ही मन पहुँच जाता है। **हृत्प्रतिष्ठं यदिजरं** और बुड्ढा कभी नहीं होता, अमृत है। यविष्टं। ऐसा हमारा मन है। **तन्मे मनः शिवसंकल्पमस्तु**—ऐसा हमारा मन, कल्याणकारी संकल्पोंसे भर जाये। इसमें कोई अमंगलका—अपने अमंगलका भी संकल्प नहीं करना। हमारे गाँवमें बोलते हैं—'पड़ाइन शुभ बोला'—हे पड़ाइन! जब बोलो तब शुभ बोलो।

एक महात्मा थे, एक बच्चा खेल रहा था उनके सामने। कोई शैतानीकी उस बच्चेने। महात्मा बोले—अरे ओ पागल! क्या करता है? उनके मुँहसे निकला कि 'ओ पागल' वह बच्चा तुरन्त पागल हो गया। भाई देखो, अपने मुँहसे, अशुभ मत बोलो। महात्माने उस दिनसे प्रतिज्ञा की कि अब अपने मुँहसे किसीको पागल कह-कर नहीं पुकारेंगे। क्योंकि हम जिसके बारेमें जैसा सोचते हैं, मनका असर पड़ता है। तुम यह सोचो, सब हमारे मित्र हैं। यह क्यों सोचते हो कि सब हमारे शत्रु हैं।

एक महात्माने हमको बताया कि अगर कोई अपनेसे दुश्मनी करता हो, अपना बुरा चाहता हो, तो क्या करना चाहिए! बोले—उसके लिए समय निश्चित करो, दस मिनट समय उसको रोज दो। कैसे दें? रातको जब सोने लगो, तब सोचो कि वह आदमी भी सचमुच हमसे दुश्मनी करना नहीं चाहता है, हमसे प्रेम ही चाहता है। वह तो कोई दुर्भाग्यसे उसके अन्दर गलतफहमी आगयी तो ऐसा काम करने लगा। मैं अपना प्यार देता हूँ उसको। मैं अपना सारा प्रेम उसके ऊपर उँड़ेलता हूँ, वह हमारा दोस्त है। हम उसे अपने हृदयसे लगाते हैं। मन-ही-मन ऐसा सोचो, रोज दस मिनट मन-ही-मन उसके बारेमें ऐसा सोचो, देखो थोड़े ही दिनोंमें वह तुम्हारा मित्र हो जायेगा। शत्रु नहीं रहेगा। मित्र बनानेकी पद्धति यह नहीं है कि पहले वह हमको प्रेम दे तब हम उसको प्रेम देंगे। मित्र बनानेकी पद्धति यह है कि हम पहले अपना सारा प्रेम देते हैं, वह चाहे दे, चाहे न दे।

तो यह मन हमारा कोई छोटा-मोटा नहीं है! यह सम्पूर्ण भुवनमें व्याप्त है, यह ईश्वरको पकड़के ले आवे। यह कहे चलो विष्णु भगवान् दर्शन दो हमें। कृष्ण चलो! शिव चलो। तो शिवको, विष्णुको, कृष्णको पकड़कर ले आवे। पहले देना पड़ता है, लेना नहीं होता।

मैंने सुना विलायतमें एक लड़कीका किसीसे प्रेम था, वहाँ तो ऐसा होता है ज्यादा। अब हम यहाँकी बात इसलिए नहीं कहते हैं कि अपना ही देश है, अब हम क्या किसीका नाम लें कि अमुक लड़की और अमुक लड़का। तो उसने लिखा कि हम तुमसे बहुत प्रेम करते हैं। चिट्ठी लिखी लड़कीने लड़केको कि हम तुमसे बहुत प्रेम करते हैं, हमारा प्राण तुम्हारे लिए, हमारा हृदय तुम्हारे लिए, हमारा जीवन तुम्हारे लिए। हम तुमसे कुछ नहीं चाहते, हम अपना सर्वस्व तुम्हें अर्पित करते हैं। हस्ताक्षर कर दिया। उसके बाद उसको रुपयेके लिए ख्याल आया, तो लिखा उसने कि हमको बहुत जरूरत है, दो सौ रुपये तुरन्त भेज देना। तुमसे माँगना तो नहीं चाहिए था क्योंकि अभी ब्याह नहीं हुआ है, मँगनी हुई है, तो उसके पहले पैसा माँगना उचित तो नहीं है, लेकिन अब क्या करें यह चिट्ठी तो डाकमें डाल दी गयी है।

ऐसे तो नहीं बनता है भाई। ईश्वरके सामने ऐसे नहीं चलता। तुम देखो, सब तुमसे प्रेम कर रहे हैं। देखो, ईश्वरमें जैसे सम्पूर्ण भूत, भविष्य और वर्तमान, इनकी उपादानता और आधारता है और ईश्वरमें जैसे सर्वज्ञता है और ईश्वरमें जैसा अन्तर्यामीपना है, वैसा तुम्हारे मनमें है। यह जो हम साधनमें लगते हैं, यह हमारा मन अगर दृढ़ रहे तो दृढ़ रखता है और मन कमजोर पड़ जाये तो सब कमजोर हो जाता है। यह कमजोरी जितनी है यह मनकी ही है।

बड़े-बड़े कर्मनिष्ठ कर्मठ जो मनीषी विद्वान् पुरुष हैं वे धैर्यसे जो काम करते हैं, वह किससे करते हैं? कि मनसे करते हैं। क्योंकि धैर्य कहाँ रहता है? मनमें रहता है। जिसके अन्दर दृढ़ता नहीं है, कोई तकलीफ सहकर भी अपना संकल्प पूरा करेंगे। जिसके अन्दर धैर्य नहीं है, बात-बातमें उद्विग्न हो जाये, समझना कि उसके ऊपर अभी यह ईश्वर प्रसन्न नहीं है। ईश्वर प्रसन्न किसके ऊपर है? जिसका मन मुस्कुराता है। पति-पत्नी खूब तमतमाये हुए हों, लड़ाई हो रही है, आँखसे आँसू गिर रहे हों, चेहरा लाल हो रहा हो और उसी समय कोई तीसरा आदमी घरमें घुसे, तो दोनों झट, मुँह हाथ-धोकर मुस्कुराते हुए आकर उससे मिलेंगे और दिखावेंगे कि हमारा तो आपसमें बड़ा भारी प्रेम है।

यह जो होंठोंकी मुस्कुराहट है, यह झूठी है। जैसे गुलाबकी कली खिलती है, जैसे कमल खिलता है, वैसे जिसका मन खिला रहे। हृदय कमलका खिलना—मानससरोवरमें जो आनन्द कमलकी मुस्कुराहट है, प्रफुल्लता है, यह अपने मनीराम हैं।

श्रीकृष्ण कहते हैं कि तुम्हारे पास इन्द्रियाँ तो बहुत हैं, पाँवसे चलते हो,

लेकिन बेचारा अन्धा है, उसे रास्ता नहीं दिखता! हाथसे करते हो लेकिन वह अन्धा है और शरीरके जो पनाले हैं उनसे तो क्या उम्मीद रखी जाय! ये आँखें हैं, इनका मुँह भगवान्‌ने अपनी ओर नहीं रखा, दूसरी ओर कर दिया। जैसे बड़ी-बड़ी लाइट लगाते हैं, उनसे बाहर दूर-दूर तक रोशनी फैलती है, लेकिन उनसे पीछे क्या रहता है? अरे उनके पीछे अँधेरा है, इसीसे भगवान्‌ने अपना नाम कृष्ण रखा। लाईटके पीछे क्या है? यह जो लाईट है ना हमारे शरीरमें—आँख, नाक, कान, जीभ—ये बाहर, सबको ठीकसे देखते रहते हैं उनको यह देखा-देखी करनेकी आदत है। जैसे कोई खिड़कीमें तो खड़ा हो जाये, खुदको छिपा ले और बाहर जाते-आते लोगोंको खूब देखे, वैसे यह रोशनी उन्होंने दुनिया पर डाली। सबकी आवाज सुनें, सबका रूप देखें, सबको छूएँ, सबका स्वाद लें और खुद! कि इनके पीछे कौन बैठा है? अरे वही साँवरा, वही काला। तुम्हारे मनमें वही बैठा है।

ये बाहर अन्धी जो इन्द्रियाँ हैं उनके पीछे भी और बाहर रोशनी डालनेवाली जो इन्द्रियाँ हैं, उनके पीछे भी वही—**मनसो मनः**। वही मनका मन बैठा है। इसलिए परमात्माका चिन्तन करना हो, तो कैसे चिन्तन करना?

इन्द्रियाणां मनश्चास्मि।

बोले—महाराज, मनका पता कैसे चले? यह हड्डी-मांस-चाम-विष्ठा-मूत्र इतना सामने आगया है कि इसमें मनका पता ही नहीं लगता। इसको ढूँढो!

भूतानामस्मि चेतना—यह चेतना जो है, यह भूत है। मिट्टी, पानी, आग, हवा और आकाश—ये पाँच हैं भूत। इन पाँचोंसे सम्बन्धित एक छठी चेतना भीतर सम्बद्ध है। गीतामें चेतनाको एक जगह क्षेत्र भी बताया है और यहाँ परमात्माका चिन्तन करनेके लिए उसे आधार भी बताया है।

महाभूतान्यहंकारो बुद्धिरव्यक्तमेव च।
इन्द्रियाणि दशैकं च पंच चेन्द्रियगोचराः॥
इच्छा द्वेषः सुखं दुःखं संघातश्चेतना धृतिः। 13.5-6

संघात है यह शरीर। संघात माने भानुमतीका कुनबा। *भानुमतीने कुनबा जोड़ा। कहीं की ईंट कहींका रोड़ा!* यह शरीर क्या है? यह जैसे मोटर बहुतसे पुर्जोंसे बनती हैं, कोई दाहिने घुमानेके लिए, कोई बाँये घुमानेके लिए, कोई सीधे चलनेके लिए, कोई रोकनेके लिए, जैसे बहुत पुर्जे होते हैं मोटरमें। जिनको अभ्यास न हो, वे ठीक नहीं चला सकते। हम लोग मोटरमें बैठते हैं। दिन भरमें किसी-किसी दिन चार-चार, पाँच-पाँच मोटरोंमें बैठ लेते हैं। सबेरे किसीकी मोटरमें आये, किसीकी

मोटरमें गये। भोजन करनेके लिए गये तो किसीकी मोटरमें गये। शामको घूमने गये तो किसी मोटरमें गये। जब ड्राइवर चलाता है मोटर, तो समझ जाते हैं कि इसको चलाना आता है कि नहीं। इसका पाँव स्थिर रहता है कि नहीं, इसको हैंडिल ठीक घुमाना आता है कि नहीं? मोटर चलते समय आवाज आती है कि नहीं, सब बात समझमें आजाती है। तो यह जो शरीर है यह भी अनेक उपचयोंसे जुड़ा हुआ है। यह चेतना उसे काबूमें रखती है। जब आदमी मरने लगता है, तो मालूम पड़ता है कि अब घुटनेपर प्राण नहीं है, चेतना नहीं है। अब कमर तक नहीं है। हमारे पितामह जब मर रहे थे, तब मैंने बहुत निकटसे देखा, बहुत कम मेरी उम्र थी। वह मर रहे थे, बेचारे अठत्तर वर्षकी उम्र थी। हमको लगा, एक बार कि घुटने तक काला पड़ गया है, कमर तक काला पड़ गया, छाती तक काला पड़ गया, और मुँह तो ऐसा प्रज्ज्वलित देदीप्यमान, मालूम पड़े कि मुँह चमक रहा है। मैं एक हाथ भी उनसे दूर नहीं था और गौरसे देख रहा था कि ऐसे समयमें क्या-क्या होता है शरीरमें। और एक बारमें यों सब काला पड़ गया।

लेकिन यह बात देखी थी कि उनकी चेतना नीचेसे ऊपर गयी, यह ऊर्ध्वगतिका लक्षण है, मरते समय। और, किसी किसीकी चेतना मूत्रेन्द्रियसे निकलती है, पेशाब हो जाती है, किसीको वीर्यपात हो जाता है मरते समय। किसीको विष्ठा निकल जाती है। उसको बोलते हैं चेतनाकी अधोगति। वह चेतना मरते समय प्रत्यक्ष निकलती हुई मालूम पड़ती है। वह कौन है? चेतना क्या है? देखो उसमें विशेषता क्या है? एक तो वह हड्डी-मांस-चामका बना हुआ मुर्दा नहीं है। मुर्दा तो पड़ा रह जाता है और वह चली जाती है। और मनमें जो संकल्प-विकल्प ज्यादा आते हैं, उस चेतनामें संकल्प विकल्प कोई नहीं होता है। उस मनमें विषय नहीं प्रवेश करते। वह विषयकी कल्पना नहीं करती, ऐसी जो केवल चेतना मात्र है, अन्नमय पुरुष। अन्नमयकोश नहीं, अन्नमय पुरुष। प्राणमय कोश नहीं, प्राणमय पुरुष। मनोमय कोश नहीं, मनोमय पुरुष। विज्ञानमय कोश नहीं, विज्ञानमय पुरुष। यह तत्तत् कोशमें आविष्ट जो चेतन है—आविष्ट चैतन्य। एक स्वस्थ चैतन्य है—स्वरूप चैतन्य है और एक आविष्ट चैतन्य है। तो यह आविष्ट चैतन्यको चेतना बोलते हैं।

तो परमात्माका चिन्तन करना हो, उसमें करो, भगवान् बताते हैं।

☆

वेदानां सामवेदोऽस्मि देवानामस्मि वासवः।
इन्द्रियाणां मनश्चास्मि भूतानामस्मि चेतना॥ 22॥

इसकी इतनी प्रक्रिया आपको सुनायी। बात यह है, यह इतना नजदीक है अपने कि अगर इसके रूपमें ईश्वर मिल जाये, तब तो फिर जागते ईश्वर, सोते ईश्वर, ईश्वर ही ईश्वर। तो कृष्ण—भगवान्ने बताया कि इन्द्रियोंमें मैं मन हूँ। इसमें ईश्वरके भी सारे लक्षण मिलते हैं और यह एक करणके रूपमें भी है। औजार भी है और आत्मा भी है। इसीसे जो केनोपनिषद्में पूछा न, कि—

केनेषितं पतति प्रेषति मनः केन प्राण प्रथम प्रैति तः।

मन किसके भेजनेसे अपने विषयमें जाता है! इसका उत्तर यह दिया कि—**मनसो मनः**। एक मनका भी मन है। मनका दो हिस्सा कर दिया, एक प्रेरीय मन और एक प्रेरक मन। यह मनका दो रूप हो गया। बौद्ध लोग जैसे विज्ञानका दो रूप मानते हैं—एक प्रवृत्ति-विज्ञान और एक आलय-विज्ञान। एक वह विज्ञान जिससे घड़ी मालूम पड़ती है, फिर कपड़ा मालूम पड़ता है, फिर आदमी मालूम पड़ता है। एक तो वह विज्ञान जिससे अलग-अलग चीजें मालूम पड़ती हैं और एक वह विज्ञान जो चीजोंके अलग-अलग मालूम पड़नेपर भी अपनेको एक ही जानता है कि मैंने घड़ीको जाना, मैंने कपड़ेको जाना, मैंने आदमीको जाना और मैंने स्त्रीको जाना, मैंने पुरुषको जाना। तो मनके दो हिस्से हैं, एक आलय-विज्ञान, अहं रूप और एक भिन्न-भिन्न विषयोंमें जाकर जाननेवाला साधारण करण है—**मनसा पश्यति। मनसा शृण्वति। मनसा वदति।** मन होनेपर ही हम बोलते हैं, मन होनेपर ही देखते हैं, मन होनेपर ही सुनते हैं। अगर मन न हो तो **मनसो ह्यमनीभावे नैवौपलभ्यते।** तो यह मनका भी मन है।

शंकराचार्य भगवान्से भी बहुत पहले गौडपादाचार्य हुए। शंकराचार्यजीके दादा गुरु गौड़पादाचार्यने भिन्न-भिन्न सम्प्रदायोंका उल्लेख किया है, माण्डूक्यकारिकामें है। तो उसमें एक मनोवादी मनको ही ईश्वर मानते हैं, बुद्धिवादी बुद्धिको ही ईश्वर मानते हैं। प्राणवादी प्राणको ही ईश्वर मानते हैं। जो

भिन्न-भिन्न ईश्वरके सम्बन्धमें सम्प्रदाय हैं, उनमें एक बहुत प्राचीन सम्प्रदाय था जो कहता था कि मन ही ईश्वर है। इसपर ख्याल गया कि फिर तो ईश्वरका समूचा लक्षण ही मनमें घटित होना चाहिए। जो-जो ईश्वरके बारेमें कहा जाय, सो तो मनके बारेमें अगर कहनेका अवकाश न हो तो मन ईश्वर कैसे होगा?

यह मत समझना कि यह इच्छा करनेवाला, इच्छाओंसे आक्रान्त, काम इसमें, क्रोध इसमें, लोभ इसमें, मोह इसमें, ईश्वरके रूपमें इसकी उपासना कैसे होगी?

देखो, काम-क्रोध-लोभ-मोह जो हैं यह मनका रूप नहीं है, यह तो विकार है और यह विकार भी औपाधिक है। जब देहकी उपाधिको, इन्द्रियकी उपाधिको मनके साथ जोड़ देते हैं, तब यह देहकी और इन्द्रियोंकी जो चेष्टाएँ हैं, ये मन पर आरोपित होती हैं। यह मन बड़ा आश्चर्यजनक पदार्थ है, चार-पाँच दिन आपको सुना चुका, आपने थोड़ा ध्यान इसपर दिया होगा, पहले भी 'प्रेम कुटीर'में सुनाता था। शुक्ल यजुर्वेद-संहितामें जो मनके वर्णनके लिए छह मन्त्र हैं, प्राय: पाँचका अर्थ मैंने इस प्रसंगमें सुना दिया है। उसमें मनका पूरा स्वरूप है—

यज्जाग्रतो दूरमुदैति दैवं तदु सुप्तस्य तथैवैति।

एक बात पर उसमें ध्यान दो, वह मैंने अबतक छोड़ ही दिया था, क्योंकि जब इन्द्रियोंमें अनुसन्धान करनेके लिए, ईश्वरका स्वरूप क्या है? मन ही उसका स्वरूप है। भगवान् ही बताते हैं। कहते हैं मन हमारी एक विभूति है, उसमें हमारा अनुसन्धान करो! **इन्द्रियाणां मनश्चास्मि।**

केषु केषु च भावेषु, इस प्रश्नका उत्तर यह है! अर्जुनने पूछा—कहाँ-कहाँ आपका चिन्तन करें? तो भगवान् बोले कि इन्द्रियोंके भीतर जो मन है, माने अन्तरंग है। इसका अर्थ हुआ आन्तरसे आन्तर जो मन है। इस मनमें ईश्वरका चिन्तन करें।

अब देखो, यह यक्षकी विशेषताएँ। कभी चमक जाय और कभी छिप जाये। यक्ष एक तरहका उपदेवता होता है। वह कभी चमकता है और कभी छिप जाता है। हमारे हृदयाकाशमें यह मन रूप जो यक्ष है वह कभी चमकता है और कभी छिप जाता है। अब इसका इतिहास थोड़ा, दो मिनटमें आपको सुना देते हैं। देवता और असुरकी लड़ाई तो होती है। तो दैत्य विषय बलसे लड़ते हैं और देवता आत्मबलसे लड़ते हैं। दैत्यका लक्षण यह है कि उनके पास कितना अन्न है, कितना धन है, कितना अस्त्र-शस्त्र है, उनके पास कितनी सेना है—बाह्यबलसे

दैत्य लड़ते हैं और आन्तर बलसे देवता लड़ते हैं। उनको कितना ईश्वरका आश्रय है, उनके पास कितनी सात्त्विकता है, उस आन्तर बलसे देवता लड़ते हैं। तो बाह्य शक्ति क्षीण हो जाती है और आन्तर शक्ति बढ़ती रहती है। अन्तमें देवताकी जीत होती है।

केनोपषिद्में यह आख्यायिका है। जब देवताकी जीत होती है, तो देवताको अभिमान हो जाता है कि हमने आत्माके बलसे नहीं, ईश्वरके बलसे नहीं, अपने बलसे यह विजय प्राप्त किया है।

यह आदमीको भूल जाता है कि जब वह विपत्तिमें होता है, संकटमें होता है, जब दु:खमें होता है, तो उसको कितनी शक्ति देवतासे, आत्मासे, ईश्वरसे प्राप्त हुई, जहाँ सुख आया कि बिलकुल भुला देते हैं।

एक इलाहाबादमें हाईकोर्टका जज था, उसीके ऊपर कोई मुकदमा चल गया, तो अनुष्ठान करवाता था। कई अदालतोंमें मुक़दमा चला। तो जब जीत जाये तब तो कलश, ब्राह्मण कुछ नहीं, हम अपने कानूनसे जीत गये और जब हार जाये तो फिर आकर हाथ जोड़े साधु-ब्राह्मणको कि महाराज कृपा करो। आदमी जीतता है तो अभिमान हो जाता है, कोई अच्छा काम करता है तो उसको अभिमान हो जाता है। यह अभिमान देवताका लक्षण नहीं, असुरका लक्षण है।

तो ब्रह्मने कहा कि ये हमारे आश्रित, यह हमारे भक्त, इनको इतना अभिमान नहीं होना चाहिए। तो उनके बीचमें यक्ष प्रकट हुआ—**यद पूर्वं यक्षमन्तः प्रजानाम्।**

वह जो यक्षके रूपमें प्रकट हुआ, उसका नाम वहाँ ब्रह्म दिया हुआ है। अब आप देखो उस यक्षको, यक्षको यक्ष क्यों कहते हैं? **यक्ष्यते इति**—जिसकी पूजा की जाये उसका नाम यक्ष। **इज्यते इति। यजति इति।** यक्षका बहुत अर्थ होता है। **ई लक्ष्मीं तस्यां अक्षिणी यस्य। ईं लक्ष्मीं अक्ष्णोति। ईं कामं अक्ष्णोति।**

शास्त्रमें यक्ष शब्दके बहुत सारे अर्थ दिये हुए हैं। यक्ष हुआ प्रकट। देवताओंने कहा कि जानना चाहिए कि यह कौन-सा यक्ष है। जाननेके लिए अग्निको भेजा गया। वाणीकी पहुँच ब्रह्मतक है नहीं। अग्नि वाक्की अधिष्ठात्री है। अग्निदेव नहीं पहचान सके। यक्षने पूछा तुम कौन? मैं अग्नि हूँ, जातवेदा हूँ। कि तुम्हारे अन्दर क्या शक्ति है? कि मैं सारी सृष्टिको जला सकता हूँ। अच्छा, एक तृण जला दो, नहीं जला, लौट आये। वायु भेजे गये, इनकी यही दशा हुई। अन्तमें इन्द्र भेजे गये, इस यक्षके पास। इसका अभिप्राय यह है कि वाक्की उपासनासे

और प्राणकी उपासनासे; वायु प्राण है। प्राणोपासना और वाक्‌की उपासनासे परमात्माकी प्राप्ति नहीं हुई। तब अन्तमें इन्द्र भेजा गया। इन्द्र कर्मका देवता है। कर्ममें तो बड़ा सामर्थ्य है। लेकिन ब्रह्म इन्द्रके सामने अन्तर्धान हो गया। उस यक्षने इन्द्रसे बात तक नहीं की। अग्निसे तो बात भी की, वायुसे बात भी की, परन्तु इन्द्रको तो ठुकरा दिया, बिलकुल उसके सामनेसे लुप्त हो गया। अब तो देवता लोग बड़े व्याकुल हुए यह यक्ष कौन, यह यक्ष कौन!

फिर ब्रह्मविद्या प्रगट हुई—उमा-हेमवती—ऐसा ही उसका नाम है। उन्होंने उपदेश किया कि यह यक्ष ब्रह्म ही था। यहाँ तकको बात तो सब लोगोंके ध्यानमें रहती है। अब इसके आगे जो बात है वह जल्दी ध्यानमें नहीं आती। इसी ब्रह्मकी कृपासे, इसीकी शक्तिसे तुमने युद्धमें विजय प्राप्त किया है, दैत्यों पर। काम पर, क्रोधपर, लोभपर जो विजय प्राप्ति हुई है वह कैसे? ब्रह्मकी शक्तिसे। ब्रह्म-विद्याने बताया। यह विद्याका फल है।

अब यह हुआ कि इस ब्रह्मकी पूजा करो। यह बड़ा अन्तरंग है, पूजा करो। आराधना करो। तो बोले—यक्षको तो हमने देख लिया एक बार। एक बार सामने आया और फिर अन्तर्धान हो गया। अब हम इसकी उपासना कैसे करें? केनोपनिषद्‌में आप देखना, बड़ा ही अद्‌भुत वर्णन है। तो वहाँ बोलते हैं कि यह जो आकाश है, इसमें तुम लोग कभी बिजली चमकते देखते हो कि नहीं? **विद्युतो द्योतन्**—इसी प्रकार हृदयाकाशमें जो बिजलीकी तरह चमकता है, वह ब्रह्मका आधिदैविक रूप है—बारम्बार बिजलीकी तरह कौंध जाना, चमक जाना। जो चमकता हुआ रूप है, बड़ी भारी चमक आयी और गयी, आयी और गयी—इस तरहका ध्यान करना ब्रह्मकी आधिदैव-उपासना है। और ब्रह्मकी अध्यात्म उपासना क्या है? तो यह जो हमारे चिदाकाशमें बारम्बार संकल्परूप मनका स्फुरण होता है उसकी दशा बिजलीकी तरह है। जैसे आकाशमें बाहर बिजली चमकती है और मिट जाती है, ऐसे हमारे इस चिदाकाशमें ब्रह्म ही संकल्पके रूपमें चमकता है और शान्त होता है। उस चमकमें उस संकल्पमें जो विषय अंश है उसको छोड़ दो और वृत्ति-अंश जो है वह उदय होता है और शान्त होता है। शान्त और उदित-दोनों जिसका रूप है, वह है मन।

वह मन ही यक्ष है—

यदपूर्वं यक्षमन्त प्रजानाम्।

मनके रूपमें हमारे हृदयमें वह यक्ष ब्रह्म हमारे भीतर बैठा हुआ है। फिर

श्रुतिने केनोपनिषद्में बताया—**तद्ध तद् वनं नाम**। इसका नाम वन है। यह मनका वन है, इसीमें यह यक्ष रहता है। कोटि-कोटि संकल्पकी जो स्फुरणा होती है, उस स्फुरणामें प्रकाशरूपसे यह चमक रहा है। जैसे सूर्य होता है और एक उसकी किरणें होती हैं। किरणोंको तुम्हारे पास पहुँचनेमें कभी बाधा पड़ती है। कैसे बाधा पड़ती है? बीचमें कभी बादल आजाये। तो बाधा पड़ जायेगी। यह भीतर आत्मारूप सूर्य है—परमात्मारूप सूर्य है, उसमें-से जो व्यापनी प्रभा छिटकती है। वह क्यों नहीं दिखती है? इसलिए कि कामके, क्रोधके, लोभके जो बादल हैं, वे विषयाकार कर देते हैं। असलमें वे विषय भी उसी प्रभासे चमकते हैं, इन्द्रियाँ भी उसी प्रभासे चमकती हैं। इन्द्रियाँ कर्म-जन्य हैं, विषय कर्मजन्य हैं। जब मनुष्य कर्म करता है तो भोगके लिए विषय और भोगनेके लिए इन्द्रियाँ—दोनों कर्मके फलरूप मिले हुए हैं। इसीसे इन्द्रको ब्रह्मका साक्षात्कार नहीं हुआ। क्योंकि वह कर्म और कर्मफलसे युक्त जो इन्द्रिय और विषय हैं उनमें लगे हुए हैं—**तद्ध तद्वनं**।

आप देखो संसारके हजारों विषय हैं। और उनको प्रकाशित करनेके लिए आपके पास पाँच ज्ञानेन्द्रिय हैं और पाँच कर्मेन्द्रिय हैं। यह वन है। इसके भीतर व्यापक सूर्यके समान जो प्रभा फैली हुई है, इसकी प्रभा, चमकती है और मिटती है। वह आधिदैविक उपासना है और जो आत्माकी नित्यस्फुरता है—नित्य स्फुरण है, सत्ता जैसे होती है, ऐसे स्फुरता होती है। सत्तासे मिलता हुआ स्फुरता शब्द है। एक सत्ता ऐसी होती है जो होती है लेकिन फुरती नहीं है और परमात्माकी सत्ता ऐसी होती है जो है भी और फुरती भी है, जिसके बिना कोई काम होता ही नहीं।

तो अब देखो परमात्माकी उपासनाकी बात। उपासना भी दो तरहकी होती है। देखो—**मनो ब्रह्म इत्युपासीत्**। तैत्तिरीयोपनिषद् की श्रुति है। और **मनो ब्रह्म इति व्यजानात्**। मनको जाननेवाले कहते हैं यह मन परमात्मा है। कैसे कहते हैं? कि **मनो ब्रह्म इत्युपासीत्**। अब यह सम्पूर्ण विषयोंको मन इन्द्रियोंके द्वारा प्रकाशित करता है विषयोंसे अलग करके और इन्द्रियोंसे अलग करके। विषय इन्द्रियके सम्बन्धसे उत्पन्न जो संस्कार हैं, उन संस्कारोंसे अलग करके मनको देखो। ऐसा ख्याल करो कि यह मनमें ज्ञानांश है, यह कौन है? कि यह ब्रह्म है।

दोनों प्रकारकी उपासना पुराने जमानेमें प्रचलित थी, जब अध्यासका निरूपण करते हैं तब कहते हैं कि मन ही मैं हूँ। ऐसे भी अध्यास होता है। आत्मा

और मनका एक अध्यास है, और, परमात्मा और मनका एक अध्यास है। तो जैसे मैं देह हूँ, मैं इन्द्रिय हूँ—यह अध्यास है, वैसे मैं मन हूँ—यह भी एक अध्यास है। इसी प्रकार परमात्मा मन है—यह भी एक अध्यास है। लेकिन यहाँ मनकी चर्चा नहीं, जो कर्मसे संस्कृत मन है वह मन नहीं, जो घट-पट-मठ आदिमें घूमता रहता है, वह मन नहीं, एक बार विषयसे अलग करके, इन्द्रियोंसे अलग करके और संस्कारोंसे अलग करके और संस्कारोंमें ही, इन्द्रियोंमें ही, विषयोंमें ही रहनेवाला जो मनका ज्ञानांश है, उसकी उपासना करो!

मनो ब्रह्म इत्युपासीत्।

अब दूसरी पद्धति देखो—**मनो ब्रह्म इति व्यजानात्**—यह भी तैत्तिरीयोपनिषद्में है। ये दोनों अलग मन्त्र हैं। 'मन ब्रह्म है—ऐसा उसने जाना।' बोले—भला मनको ब्रह्म जाना तो यह क्या बड़ी बात जान ली, यह तो छोटी बात है। ऐसा मत समझना, मनने तो सारी दुनिया ही बना रखी है। जब तुम हँसते हो तो कैसे? मनसे ही। मन ही हँसाता है। मनमें कोई अच्छी-सी बात आगयी और हँस गये। मनमें कोई बुरी बात आगयी, रो गये। अनिष्टकी शंका हो गयी—रो पड़े और इष्ट प्राप्तिकी कल्पना हुई—हँस पड़े।

आपने यह श्रुति तो कितनी बार सुनी होगी—**यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते येन जातानि जीवन्ति यत्प्रयन्त्यभिसंविशन्ति तद् विजिज्ञासष्व तद् ब्रह्मेति।**

अब मैं आपको वह श्रुति सुनाता हूँ—

मनसा वा इमानि भूतानि जायन्ते। मनसा जातानि जीवन्ति। मनः प्रयन्त्यभिसंविशन्ति। मनो ब्रह्म तद् विजिज्ञासस्व।

यह श्रुति है, बिलकुल वेदका मन्त्र है। क्या बोलते हैं? कहते हैं कि 'मनसा इमानि भूतानि जातानि'—ये जितने भूत मालूम पड़ रहे हैं, ये मनसे ही पैदा हुए हैं। मन न हो, जब सुषुप्तिमें मन सो जाता है, तो कोई भूत दिखायी पड़ता है? वह सबको अपने भीतर लेकर माताको, जिसको हम माता मानकर बड़ा प्रेम करते हैं तो जाग्रतावस्थामें जो माता है सुषुप्तिमें कहाँ जाती है?

तत्र माता अमाता भवति पिता अपिता भवति।

वहाँ पिता कहाँ रहता है, वहाँ वेद कहाँ रहते हैं? वहाँ देवता कहाँ रहता है? तो **मनसा वा इमानि भूतानि जायन्ते। मनसा जातानि जीवन्ति।** जबतक मनसे इनके बारेमें सोचते हैं, तबतक हमारे सामने रहते हैं और मनसे छूट गये, तो पता ही नहीं क्या हो गये?

देखो आप इस समय सत्संगमें बैठे हो न, घरकी कितनी बातें छूट गयी हैं, उनका कुछ पता है? यह तो **मनसैव जीवन्ति** हम अपने मनसे ही इनको जिलाकर रखते हैं। मरे हुए लोगोंको हम कहाँ जिलाकर रखते हैं? अपने मनमें ही तो रखते हैं। और **मनः प्रयन्त्यभिसंविशन्ति**—सब मनकी ओर जा रहे हैं, मनमें तृप्त हो रहे हैं और मनमें ही अन्तमें प्रवेश कर जाते हैं, इसलिए फिर क्या करना चाहिए—**मनो ब्रह्म**। विषय-अंश, वृत्ति-अंश और ज्ञान-अंश—तीन चीज मनमें हैं। यह वृत्ति और विषयके साथ मिल जानेके कारण इन्द्रिय वृत्ति और विषय इनके साथ मिल जानेके कारण, यह आत्मदेव ही करण मालूम पड़ते हैं—अन्तःकरण मालूम पड़ते हैं। और, यदि विषयसे और वृत्तियोंसे अपने आपको अलग कर लो, तो तुम स्वयं ज्ञानरूप हो।

इन्द्रियाणां मनश्चास्मि—बृहद् उपनिषद् और छान्दोग्य-उपनिषद्—दोनोंमें ऐसा बढ़िया ढंगसे मनमें परमात्माके चिन्तनका वर्णन है—

केषु केषु च भावेषु चिन्त्योऽसि भगन्मया

अर्जुनने कहा—कहाँ-कहाँ आपका चिन्तन करें? भगवान् बोले—मैं ही हूँ, कहाँ जाते हो? जैसे पुराणोंमें बताया है कि आदमी गंगा-किनारे रहता हो और फिर कोई पर्व पड़े, तो बोले—आज यमुना-स्नान करने जाना है, तो गंगाजीका अपराध हो जायेगा। गंगा-किनारे रोज रहता हो और गंगा-स्नान करता हो, और पर्वके दिन यह सोचे कि गंगा-स्नानमें उतना पुण्य नहीं होगा, सरयूमें स्नान करनेसे ज्यादा होगा। तो यह क्या भाव हुआ? गंगाजी तो गयीं न! यह तो ऐसा ही हुआ कि—

घरके जोगी जोगड़े आन गाँव के सिद्ध।

एक बार मैं कनखल गया, एक बहुत बड़े मंडलेश्वर वहाँ रहते थे। उनके लिए एक चिट्ठी थी, जो काशीके एक बहुत बड़े महन्तने हमको लिखकर दी थी कि कनखल जाना तो उनके पास ठहरना। उनके पास गया। वे तो बहुत बड़े विद्वान्, बहुत बड़े-बड़े संन्यासी उनके पास थे। उनकी पुष्पांजलि, आरती होती थी। यह बात सन् अट्ठाईस-उन्तीसकी होगी। तो मैंने एक दिन उनसे पूछा कि स्वामीजी महाराज, यहाँ कोई अच्छे महात्मा रहते हों तो आप उनका पता बताइये, हम उनका दर्शन करनेके लिए जायेंगे।

अरे भाई, नाराज हो गये भला। डाँट दिया हमको। हम समझते नहीं थे, नासमझीसे, पूछा था। हमारी बुद्धिमें यह बात बिलकुल नहीं थी। हम तो समझते थे

जब कनखल आये हैं तो इनका दर्शन तो हो ही गया और यहाँ जो अच्छे-अच्छे लोग हों, उनके बारेमें जानकारी प्राप्त हो और उनका भी दर्शन करके आवें। हमारी बुद्धि तो इतनी थी, लेकिन इसमें उनका तिरस्कार जो था, वह बात हमारी बुद्धिमें नहीं आयी थी। तो जब नाराज हुए तो समझमें आगयी कि बिलकुल ठीक कह रहे हैं। तो फिर हँस गये। हँसने लगे। अच्छे थे। सत्पुरुष थे, हँसने लगे और बोले कि अच्छा तुम्हारा मतल· यह होगा कि जो विरक्त ज्ञानी हों, वैराग्यसे जो लोग रहते हों, उनकी ओर जाना चाहते हो, अच्छा तो मैं बताता हूँ अमुक हैं, अमुक हैं, फिर बताया कि जाओ उनके दर्शन करके आओ!

वे तो बड़े सत्पुरुष थे। मैं तो अपनी अक्लका ही दोष बता रहा हूँ। अब यह बात आपको काहेको सुनायी? इसलिए सुनायी कि यह जो आपका साढ़े तीन हाथका शरीर है, यह सब तीर्थोंका तीर्थ है, देखो हिन्दुके लिए जो तीर्थ होता है वह मुसलमानके लिए तीर्थ नहीं होता और मुसलमानके लिए जो तीर्थ होता है, वह हिन्दुके लिए नहीं होता। तब तीर्थपना कहाँसे निकला? मनमें जिसके श्रद्धा है, उसके लिए तीर्थ है और जिसके लिए मनमें श्रद्धा नहीं है, उसके लिए तीर्थ नहीं हुआ। तब श्रद्धा तीर्थ है—**श्रद्धा तीर्थम्।**

यदि तुम्हारे मनमें श्रद्धारूप तीर्थ है, तो बाहर जगह-जगह तुमको तीर्थ मिलेंगे। और भीतर श्रद्धारूप तीर्थ नहीं है, तो बाहर तीर्थकी प्राप्ति होगी ही नहीं। जिस तीर्थमें जाओगे, वहाँ यह होगा कि अभी तीर्थ भगवान् सो रहे हैं, किवाड़ी बन्द है, अभी तुमको मिलेंगे नहीं। और यदि श्रद्धा तीर्थ तुम्हारे साथ होगा, तो तीर्थसे तीर्थ मिलता है। अब हमें सुनानी क्या बात थी? सुनाना यह था कि ईश्वर तुम्हारे इस साढ़े तीन हाथके शरीरके भीतर है और वह ऐसा है कि कभी आँखमें आकर झाँकता है, कभी कानमें आकर सुनता है, कभी नाकमें आकर सूँघता है, कभी जीभमें आकर स्वाद लेता है, कभी त्वचामें आकर छूता है, कभी हाथमें आकर काम करता है, कभी पाँवमें आकर चलता है। वह अगर तुम्हारी किसी इन्द्रियको छूना बन्द कर दे, तो तुम्हारी वे इन्द्रिय निकम्मी हो जायेगी।

देखो, कहते हैं न, दिमागकी अमुक नस बिगड़ गयी हैं इसलिए हाथ नहीं उठता, दिमागकी अमुक नस खराब हो गयी है, इसलिए पाँव नहीं उठते हैं, दिमागकी अमुक नस खराब हो गयी है, इसलिए जीभ नहीं उठती है। देखो न, परमात्माको ढूँढ़नेके लिए तुम्हारे शरीरके भीतर इन इन्द्रियोंके भीतर, विषय नहीं—विषयोंकी कल्पना करनेवाला है और नहीं तो कल्पना करेगा कैसे? ज्ञानसे

ही तो कल्पना करेगा। जिस ज्ञानसे कल्पना होती है, जिसज्ञानसे कल्पना मालूम पड़ती है, जिस ज्ञानमें कल्पनाका लय हो जाता है, वह कालका ज्ञान, वह देशका ज्ञान, वह वस्तुका ज्ञान, वह धर्माधर्मका ज्ञान जब शब्द, स्पर्श, रूप, रसका ज्ञान होवे तो उसका नाम इन्द्रिय हो जाता है। जब प्रिय-अप्रियका ज्ञान होवे तब उसका नाम मन हो जाता है, जब कर्तव्याकर्तव्यका निश्चय होवे तो उसीका नाम बुद्धि हो जाता है। जब चिन्तन होने लगे तो उसीका नाम चित्त हो जाता है। जब वह अपनेको पापी-पुण्यात्मा सुखी-दुःखी मानने लगता है, तब उसीका नाम अहंकार हो जाता है। एक ऐसा ज्ञान आपके भीतर बैठा हुआ है, बिलकुल चमाचम, जगमग-झिलमिल, वह तो बड़ा चंचल है। कि चंचल हो तो उसको कृष्ण समझो, कहो कि यह ब्रह्म है। जब चंचल हो तो कहो कि यह ईश्वर इन्द्रिय वृत्तियोंके सम्बन्धसे चंचलता कर रहा है, यह तो मन है और फिर **मनसो मनः**। मनका जो मन है उसको पकड़ो।

यह बात यह हैकि दुनियाका कोई भी विषय भीतर आने पर ही मालूम पड़ता है, इसलिए मनके भीतर आये हुए जो विषय हैं, उनको बट्टे-खातेमें लिखो और केवल मनको रहने दो। देखो यह मन आत्मा है, यह मन परमात्मा है, यह मन माया है, यह मन जगत् है, यह मन तुम्हारा समाज है, तुम्हारा परिवार है, तुम्हारी जाति है, यह मन ही तो सब कुछ बना हुआ है तो जैसे परब्रह्म परमात्मा सर्वात्मक है, ठीक वैसे यह मन भी सर्वात्मक बना हुआ है।

ऐसा वर्णन आता है शास्त्रमें, ये जो महात्मा लोग होते हैं, इनकी विचित्र गति होती है। ये मनको रोकते नहीं। विषयी लोग विषयमें अपने मनको रोक देते हैं और साधक लोग विषयसे अलग करके मनको रोक देते हैं। और महात्मा लोग?

यत्र यत्र मनो याति तत्र तत्र समाधयः।
देहाभिमाने गलिते विज्ञाते परमात्मनि॥

मन कहाँ गया? कि जरा घड़ा देख रहा है। अरे भाई **यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते। सर्वं खल्विदं ब्रह्म।** यह घड़ेके रूपमें तो ब्रह्म ही है। तो फिर मन घड़ेमें-से हटा और कहाँ गया? कि कपड़ेमें। बोले—यह कपड़ा! क्या है? पंचभूतका ही तो विकार है और पंचभूतके रूपमें तो ब्रह्म ही प्रतीत हो रहा है। यह कपड़ा भी ब्रह्म ही है। **यत्र यत्र मनो याति**—प्रत्येक वस्तुको ब्रह्मपर्यन्त देखते हैं। जितना नाम उनके ध्यानमें आता है, मनमें आता है, सब नामको ब्रह्मपर्यन्त देखते हैं। और सब

रूपको ब्रह्म पर्यन्त देखते हैं। केवल रूपको ऐन्द्रियक रूपमें ही देखना, यह रूपको आधा देखना है और नामको केवल व्यक्तियोंका, वस्तुओंका नाम समझना, यह नामको अधूरा देखना है। कोई भी नाम है वह ब्रह्मपर्यवसायी है और कोई भी रूप है वह ब्रह्मपर्यवसायी है।

अब देखो मनमें जो नाम है सो भी ब्रह्म, मनमें जो रूप है सो भी ब्रह्म और जो स्वयं मन है, सो भी ब्रह्म। तो अब मनका और कृष्णका अहं—**इन्द्रियाणां मनश्चास्मि**। यदि मन कृष्णका अहं हो सकता है तो क्या जीवका अहं नहीं हो सकता? एक बार बातको आमूल चूल—नखसे लेकर शिखा तक इस बातको समझ लेना चाहिए कि परमात्माका चिन्तन हमको कैसे करना है? ऐसे समझो कि समूची धरती ब्रह्मरूप है, तो एक कण जो तुम्हारे सामने आया पृथिवीका, उड़कर बालू आया, वह क्या ब्रह्म नहीं है? समुद्र समूचा ब्रह्म है तो उसका एक छींटा क्या ब्रह्म नहीं है? आग समूची ब्रह्म है तो उसकी एक चिन्गारी क्या ब्रह्म नहीं है? वायु जो है—**वायु त्वमेव प्रत्यक्षं ब्रह्मासि**। तो उसकी एक लहर तुम्हारे कलेजेमें-से बाहर निकलती है, भीतर घुसती है, तो यह क्या ब्रह्म नहीं है? आकाश ब्रह्म है—**कं ब्रह्म। खं ब्रह्म**। तो तुम्हारे शरीरके भीतर जो आकाश है, सो भी ब्रह्म, बाहर जो आकाश है सो भी ब्रह्म। **मनो ब्रह्म इत्युपासीत्**। मनके भीतर भी ब्रह्म बाहर भी ब्रह्म, स्वयं मन भी ब्रह्म। ब्रह्म ही ब्रह्म। तो, भगवान्‌ने कहा भाई तुम्हें चिन्तन करना हो, तो बोले कि **अक्के चेत मधु विन्देत किमर्थं पर्वतं व्रजेत्**। यदि घरके बगीचेमें शहद लगी हो तो शहद ढूँढनेके लिए पहाड़पर क्यों जाना, क्यों चढ़ना? यदि तुम्हें परमेश्वर तुम्हारे इस साढ़े तीन हाथके शरीरके भीतर ही मिलते हों, मनमें ही मिलते हों तो उसको ढूँढनेके लिए बाहर, जानेकी क्या जरूरत! इसलिए अनुसन्धान करो कि यह नखसे लेकर शिखा तक जो शरीर है, इसमें जो इन्द्रियाँ हैं, इन्द्रियोंमें जो मन है, भूत, भविष्य, वर्तमानकी कल्पना वही करता है, सम्पूर्ण विषयोंकी सृष्टि वही करता है वही सम्पूर्ण इन्द्रियोंका नियमन करता है, उसीमें **ऋग्वेद, यजुर्वेद, यस्मिन् ऋचाः साम यजूंषि यस्मिन् प्रतिष्ठिता रथनाभावा विदाराः**। यह मन तुम्हें प्राप्त है। तो परमात्माको ढूँढो भाई, तो अपने मनमें ढूँढो।

एक बात आपको सुनावें, दसवें अध्यायमें इतनी देर लग जायेगी, यह ख्याल अपनेको पहले नहीं था। जब शुरू किया तो सोचा तिहत्तर तो विभूति हैं कुल, और गिन लेंगे अमुकमें अमुक, अमुकमें अमुक, तो पाँच-सात-दस दिनमें

यह दसवाँ अध्याय समाप्त हो जायेगा, लेकिन हो गया डेढ़ महीना और यह हुआ कोई आधेके करीब। तो इसमें जो दो उपनिषद् हैं और विभूति उपनिषद् आपको प्रारम्भमें बताया था। **अहमादिर्हि देवानां महर्षीणां च सर्वशः। एतां विभूतिं योगं च। विस्तरेणात्मनो योगं विभूतिं च जनार्दन।** तो एक योगोपनिषद् है और एक विभूति उपनिषद् है। और, इसका फल यह बताया है कि—

एतां विभूतिं योगं च मम यो वेत्ति तत्त्वतः।
सोऽविकम्पेन योगेन युज्यते नात्र संशयः॥ 7॥

इस फल श्रुतिपर ध्यान दो, इस विभूति उपनिषद् और योग उपनिषद्को जो जान लेता है तत्त्वतः, 'अविकम्प योग' उसको प्राप्त होता है।

यह अविकम्प योग क्या है? एक मन्त्रयोग है, एक हठयोग है, एक लय योग है, एक राजयोग है, एक पूर्णयोग है, एक राजाधिराज योग है, एक महाराजाधिराजयोग है। आजकल तो योग बहुत हैं, यह कौन योग है? कि यह 'अविकम्प योग' है। 'अनासक्ति योग' है, 'निष्काम कर्मयोग' है, 'भक्तियोग' है, 'ज्ञानयोग' है, बड़े योग हैं कि यह कौन योग है? कि यह 'अविकम्प योग' है। 'अविकम्प योग' माने जो कभी हिले नहीं। माने 'अखण्ड योग' है। 'अखण्ड योग' माने रातमें दिनमें, सुबहमें शाममें, सोते-जागते, सपनेमें हर समय ईश्वर तुमको मिला ही रहे, ईश्वर कभी बिछुड़े नहीं, यह बात बतानेवाला दसवाँ अध्याय है—

सोऽविकम्पेन योगेन युज्यते नात्र संशयः।

यह गीताका विभूतियोग पूरा तो हो बहुत जल्दी, अपने मनमें भी ऐसा ही था कि जल्दी पूरा कर दें, जब देखते हैं सामने तो बोलनेकी उमंग आजाती है और **इन्द्रियाणां मनश्चास्मि** पर पाँच-सात दिन लग गये, तो अब उसको छोड़ देते हैं, क्योंकि छोड़नेसे ही काम चलेगा—

'बाढ़ै कथा पार न लइहौं'

क्योंकि जैसे हमारे शरीरके भीतर मन है, यह किस प्रमाणसे सिद्ध होता है? यह तो आपका एक नया प्रश्न है। बौद्ध-मतमें ऐसा मानते हैं कि मन प्रत्यक्ष प्रमाणसे ही सिद्ध है, इस आँखसे तो मनको देख नहीं सकते, कानसे मनको सुन नहीं सकते, त्वचासे छू नहीं सकते। बोले—नहीं, जैसे इन इन्द्रियोंसे विषयोंका प्रत्यक्ष होता है, वैसे इन सब इन्द्रियोंमें एक रहकर जो काम करनेवाला है, वह है। जिससे नेत्रमें वेदनाका अनुभव करता है, कान मेरा मन्द सुनता है, आज मेरे प्रियका संयोग हुआ, वियोग हुआ—यह सब जाननेके लिए जो करण है, वह करण हमारा मन है, प्रत्यक्ष है। दूसरे आचार्योंने कहा कि नहीं, मन प्रत्यक्षसे सिद्ध नहीं है, अनुमानसे सिद्ध है, ये विषय अनेक हैं और यह इन्द्रियाँ अनेक हैं, इनमें जो एक जिसके रहनेसे काम होता है, मन दूसरी जगह चला गया तो सुनायी नहीं पड़ा, मन दूसरी जगह चला गया तो दिखायी नहीं पड़ा, तो अनुमानसे सिद्ध है। दूसरोंने कहा कि नहीं उपमानसे मनकी सिद्धि होती है। कैसे? कि जैसे बाहरके विषयोंको देखनेके लिए इन्द्रियाँ हैं, ऐसे ही भीतर हमारे एक इन्द्रिय है, जैसे बाहरकी चीजें मालूम पड़ती हैं। तो बोले—ये जितने प्रमाग हैं ये मनको सिद्ध करनेवाले नहीं हैं। ये तो मनसे सिद्ध होते हैं। मन होवे तो प्रत्यक्ष होवे, मन होवे तो अनुमान होवे, मन होवे तो उपमान होवे।

जैनमतमें ऐसा मानते हैं कि हमारे गुरुजनोंने मनका निरूपण किया है, इसलिए मनकी सिद्धि होती है। महावीर स्वामीने कहा है।

वेदान्ती लोग कहते हैं कि मनसे ही गुरुकी भी सिद्धि होती है। बोले—तब यह मन किसने बनाया? मन किस प्रनाणसे सिद्ध होता है? बोले—देखो, जिसने सारी सृष्टि बनायी है, उसीने मन बनाया है। अगर मन बनानेवालेकी अलग कोई खोज करोगे, तो वह मिलनेवाली नहीं है—

एतस्माद् जायते प्राणाः मनः सर्वेन्द्रियाणि च।

परमेश्वरसे ही प्राण हुआ, परमेश्वरसे ही मन हुआ, परमेश्वरसे ही इन्द्रियाँ हुईं, परमेश्वरसे ही ये सारे विषय हुए। परमेश्वरके स्वरूपकी दृष्टिसे कुछ नहीं हुआ और सृष्टिकी दृष्टिसे उसको बनानेवाला परमेश्वर है। तो परमेश्वर इसका कारण है और अपौरुषेय जो वेद-वचन है, वही मनके होनेमें प्रमाण है।

तो भला अपौरुषेय वेद वचनका क्या मतलब है? जैसे डाक्टर रोग और रोगीकी ठीक-ठीक जाँच-पड़ताल करके दवाका निश्चय करता है और सौ-हजार रोगियोंपर प्रयोग करनेके बाद इस निश्चयपर पहुँचता है कि इस रोगपर यह दवा लाभकारक है। तो इस ज्ञानको क्या बोलते हैं? पौरुषेय ज्ञान। पहले मानसिक और ऐन्द्रियक प्रत्यक्ष प्राप्त करके अपने अनुभवमें बैठाया, और उसको बोले— ज्ञान-जन्य ज्ञान। इन्द्रियोंसे जब संसारका ज्ञान होता है उससे यह ज्ञान हुआ, इसको पौरुषेय ज्ञान बोलते हैं। और, इन्द्रियोंसे जिस वस्तुका ज्ञान नहीं होता, मनसे जिस वस्तुका ज्ञान नहीं होता, बल्कि मनका ही जिससे ज्ञान होता है, आप केन-उपनिषद्का वह मन्त्र जानते हैं—

यन्मनसा न मनुते येनाहुर्मनो मतम्।
तदेव ब्रह्म त्वं विद्धि नेदं यदिदमुपासते॥

जो मनका विषय नहीं है, जिससे मन जाना जाता है। 'मनसो मनः' जो मनका भी मन है। तो मन जो है वह साक्षीभास्य है। इस मनमें परमात्माका चिन्तन विषयसे निराला, इन्द्रियोंसे निराला, प्राणसे निराला, प्राण और आत्माके बीचमें फुर फुर करता हुआ स्फुरित। बोले भाई यह तो ठीक पर मनका परिमाण कितना बड़ा है? इसमें भी बड़ा मतभेद है। योगी मानते हैं—विभु है। पूर्वमीमांसकोंमें दो मत है—दादाभट्टादिका एक मत है, कालिकनाथ और पारसमिश्र आदिका, दूसरा मत है कुमारिल्लभट्ट और प्रभाकरका। गुरुमत और भट्टमत दो मत हैं पूर्वमीमांसामें। दोनोंमें-से आधे-आधे लोग मनको 'विभु' मानते हैं और आधे-आधे लोग 'अणु' मानते हैं।

देखो, इसका भी सम्बन्ध है। हमारे हृद्देशसे सम्बन्ध रखनेवाला जो मन है सो तो अणु होगा और आकाशवत् सम्पूर्ण विश्व सृष्टिमें आत्मदृष्टिसे जब हम देखते हैं, जब कोई वस्तु हमारे और संसारके बीचमें दीखती है, तब उसके अनुभवकी दो प्रणाली होती है, संसारकी ओरसे देखेंगे तो संसारसे संबद्ध नन्हा-सा, एक-एक शरीरमें अलग-अलग फुरनेवाला मैं-मेरा और परमात्माकी ओरसे देखेंगे तो

सम्पूर्ण विश्व-सृष्टि जैसे स्वप्नमें फुरती है, ऐसे यह सम्पूर्ण जाग्रत् सृष्टि मनमें फुर रही है, तो मन विभु परिमाण हो गया। तो वेदान्ती मानते हैं कि स्फुरना ही मनका स्वरूप है। एक ब्रह्माण्ड फुरें, दस ब्रह्माण्ड फुरें और करोड़ ब्रह्माण्ड फुरें तो, हमारे मनमें ही तो फुरता है। हम जब देश, काल, वस्तुसे अपरिच्छिन्न हैं तो हमारे अन्दर सम्पूर्ण देशमें व्यापकताकी दृष्टिसे सम्पूर्ण कालमें नित्यताकी दृष्टिसे और सम्पूर्ण विषयमें कारणकी दृष्टिसे चिदाभाससे युक्त मन ही स्फुरित हो रहा है, तो विषयको प्रकाशित करनेवाला चिदाभाससे युक्त जो मन है उसमें विषय और आभासका निषेध करके, अहं और इदंका निषेध करके देखो तब क्या है? कि ब्रह्मरूप है। **इन्द्रियाणां मनश्चास्मि**—चिन्तन करो **मनो ब्रह्म इत्युपासीत्**। यह मन ब्रह्म है—ऐसी उपासना करो। विषयसे अलग करके, इन्द्रियोंसे अलग करके प्राणसे अलग करके, आत्मामें मायाके रूपमें फुरफुराने वाला। व्यक्त मायाके रूपमें फुर-फुरानेवाली जो चीज है अनन्तकोटि ब्रह्माण्डका जन्म जहाँ होता है वह है—**इन्द्रियाणां मनश्चास्मि**।

अच्छा, अब आगेकी बात सुनाते हैं। बार-बार मन लौट आता है। मन ही तो है, उसको अपनी बात अच्छी लगती है।

भूतानामस्मि चेतना—अब देखो ये भूत जो हैं, भूतमाने मिट्टी, पानी, आग, हवा, आसमान। ठोस धरती-गंधात्मिका, तरल जल है—रसात्मक और वायव्य माने गैसरूप अग्नि है, आग गैसरूप है। गच्छन्ति इति गां-चलने फिरनेवालों पर अपना शासन स्थापित करके रहती है। **अग्रे नयति**। अग्नि कहते ही उसको हैं जो आगे ले चले। यह भावकी, रेलगाड़ी आगे चलती है, मोटर चलती है, तो वायव्य, ऊष्मारूप—वायव्य। वायुका काल।

तो एक हुआ ठोस धरती, तरल पानी और गैसके रूपमें अग्नि और गतिके रूपमें वायु और इन चारोंके आधारके रूपमें-अवकाशके रूपमें आकाश। अब यह शरीरमें पाँचों चीज हमारे प्रकट होती हैं। बोले—इनमें एक छठी चीज है—सबकी चेतना। यह चेतना क्या है? कि देखो शरीर जब रहता है, चेतना धातु न रहे और शरीर रहे, तो उसको मुर्दा बोलते हैं। मूर्च्छामें भी चेतना काम करती है। मूर्च्छामें खून चलता है, बाल बढ़ते हैं। समाधिमें चेतनाका निरोध हो जाता है—अव्यक्त रूपसे चेतना होती है।

इसको बड़े मजेसे महात्मा लोग समझाते हैं। आपकी नींद जब टूटती है और मैं कौन हूँ और किस जगह हूँ और कितने बज गये हैं, मेरा नाम क्या है—यह

मालूम नहीं होता। एक ऐसी अवस्था होती है कि नींद तो टूट गयी और मन नहीं जगा, होश तो आ गया, परन्तु वह सामान्य चेतना है, विशेष चेतना नहीं है कि मैं अमुक हूँ और मेरा नाम वृन्दावनलाल है, गिरधरलाल है, गोविन्द भाई है। यह नाम अपना नहीं मालूम, जाति नहीं मालूम, किस गाँवमें हैं, किस मकानमें हैं, यह नहीं मालूम और नींद टूट गयी। तो देखो मन नहीं आया और चेतना है। इसीसे देखो जब मन फुरेगा तो क्या कहेगा कि आज हमको यह काम करना है, हम इस गाँवमें हैं, हमारा यह नाम है, हमारी यह जाति है, इतने बज गये। देश-विशेष, माने हम किस जगहमें हैं और काल विशेष माने कितना समय होगया और व्यक्ति विशेष— मैं कौन व्यक्ति हूँ। कर्म-विशेषकी तो फुरना न होवे और सामान्य रूपसे होश होवे, तो उसको कहेंगे चेतना। उसमें-से मनकी फुरनाका आधान,मनक पूर्वरूप। मनके जागरणका पूर्वरूप। इसीको 'संघातश्चेतना धृति:' तेरहवें अध्यायमें जब क्षेत्रका वर्णन किया है, तो चेतना कहा है। तो चेतनाकी शरीरमें प्रथम अभिव्यक्तिका नाम चेतना है और द्वितीय अभिव्यक्तिका नाम मन है। होशमें जब तरह-तरहकी बातें आती हैं तब उसको मन कहते हैं और जबतक तरह-तरहकी बातें नहीं आतीं तब उसको चेतना कहते हैं। —सतमं मन:।

अब आप ब्रह्म चिन्तनकी दृष्टिसे जरा देखो, होश तो होवे लेकिन विशेषका चिन्तन न होवे, निस्संकल्प स्फुरण-निर्विशेष स्फुरणा होवे, उसको चेतना कहते हैं। अब इसको ब्रह्म चिन्तन बोलते हैं। विशेष स्फुरणाकी पूर्वदशा और शुद्ध चैतन्यकी प्रथम अभिव्यक्ति इसका नाम है—**भूतानामस्मि चेतना**—भगवान् श्रीकृष्ण कहते हैं—'मैं सबके भीतर चेतना बनकर बैठा हूँ।' इसीसे सब चेतित होता है—**चिति संज्ञाने**। चिति उसको कहते हैं कि जब एक-एक वस्तुकी अलग-अलग संज्ञा होने लगे—**अयं घट:। अयं पट:**। तो यह घड़ा, यह कपड़ा, ये अलग-अलग चीजें चेतित होनेके पहले जो चैतन्यकी दशा-विशेष है उसको चेतना कहते हैं। उसके रूपमें परमात्माका चिन्तन करना। आभास होवे पर विषय न होवे—लो और सरल कर देते हैं इसको। अन्त:करणमें चेतनका आभास तो होवे, परन्तु विषयकी स्फुरणा न होवे। और चेतन जो है वह आभास रहित है, साक्षी जो है वह आभाससे विलक्षण है। आभास तो मायामें अविद्यामें अन्त:करणमें होता है और चेतन जो है वह तो अविद्याका-आभासका-मायाका अधिष्ठान है। तो यह परमात्माके चिन्तनकी एक प्रणाली बतायी।

देखो दो हैं इसमें—'योगोपनिषद्' और 'विभूति उपनिषद्'।

एतां विभूतिं योगं च मम यो वेत्ति तत्त्वतः।
सोऽविकम्पेन योगेन युज्यते नात्र संशयः॥

अगर इस विभूतिको समझ लो, इस योगको समझ लो, जो इस दसवें अध्यायमें बताया जा रहा, तो तुम्हें 'अविकम्प योग' की प्राप्ति होगी। इन्द्रियोंमें मन है और भूतमें चेतना है। देखो ना, क्या आश्चर्य बनके ईश्वर हमारे शरीरमें बैठा है। इसको ढूँढो। ईश्वरको ढूँढना है। अपनेको तो जानते नहीं, अपनेको तो ढूँढते नहीं।

काहे रे बन ढूँढन जाये?

वनमें ढूँढनेके लिए क्यों जाते हो? इस तनमें ढूँढो न! इस मनमें ढूँढो! जो 'वन' है, वह वनमें ढूँढनेका नहीं है। जो एक ही होता है—वन है, वह वनमें ढूँढनेका थोड़े ही है। वह कैसा है? कि अ-वन है। अवन माने रक्षक। जो रक्षा करे वह अवन।

तो बोले-भाई चेतनामें है, मनमें है, यह सब तो ढूँढनेको कहते हो, दिन-रात आता है रोना। बड़ी अद्भुत सृष्टि है।

रुद्रकी व्याख्या आपको सुनावें हजार-हजार रुद्र होते हैं—**सहस्त्राणि सहस्त्रशो ये रुद्राः।**

वेदमें मन्त्र आता है कि हजारों हजार रुद्र होते हैं। फिर ग्यारह क्यों बोलते हो? बोले—एकादश उनके वर्ग हैं। संख्या तो उनकी दो हजार है। और शंकर उनके अधिपति हैं। रुद्र अधिपति नहीं हैं। इसमें देखो ऐसी बढ़िया बात बतायी गयी है। हमें बताना तो यह है कि इसमें ईश्वरका चिन्तन कैसे करना—**केषु केषु च भावेषु चिन्त्योसि भगवन्मया।** अर्जुनने पूछा कि किन-किन भावोंमें आपका चिन्तन करें? तो देखो 'रुद्र' शब्दका सीधा अर्थ आपको बताते हैं—रुलानेवाला। जो डंडा लेकर हर समय मारनेको तैयार।

रोधयति असुरान् इति रुद्रः। रुद्र शब्दकी व्युत्पत्ति क्या है—जो असुरोंको रुलाये सो रुद्र। बोले कि रुलानेवाली समस्याएँ तो बहुत हैं संसारमें-मरनेमें रोवें, वियोगमें रोवें, धन जानेमें रोवें, भोग न मिलनेमें रोवें, लड़ाई होनेमें रोवें, दिनमें सत्रह दफे रोवें। तो सत्रहों दफे रुद्र आता है। जीवनमें जितने रोनेके प्रसंग आते हैं उनमें रुद्र आता है। बोले कि यह तो बहुत बुरा है भाई, रुलानेवाला आता है। रुलानेवाला किसीको पसन्द ही नहीं होता है और यह रुद्र रुलाता है।

देखो संसारमें वैराग्यका कारण यही है। जब तुम्हारे सामने कभी रुद्र आवे, माने हम वैसे तो देख सकते हैं कि चेतनामें परमात्मा है, मनमें परमात्मा है, हाथमें

परमात्मा है इन्द्रके रूपमें। और, वेदोंमें सामवेद है काव्य और संगीतके रूपमें परमात्मा है। पर रुलानेवालेमें कैसे देखें? यह देखो कि करस्तात्-शं माने कल्याण और कर माने हाथ। शंकर माने कौन? कि जो अपने हाथमें—मुट्ठीमें लोगोंका कल्याण रखे उसका नाम शंकर। शंकरोति इति शंकरः। जो कल्याणकारी-कल्याण करे उसका नाम शंकर। और, जिसकी मुट्ठीमें कल्याण उसका नाम शंकर। तो जहाँ-जहाँ रुद्र होता है, वहाँ अपनी मुट्ठीमें तुम्हारा कल्याण लेकर शंकर खड़ा रहता है। माने जब-जब तुम रोते हो, तो उसका मतलब है आगे हँसना आनेवाला है।

रोओ मत, रोओ मत हँसना पड़ेगा।
हँसो मत हँसो मत रोना पड़ेगा।
निंदो मत निंदो मत सराहना पड़ेगा।
सराहो मत सराहो मत निंदना पड़ेगा।

हमारे बचपनमें लोकोक्ति जब सिखाते थे, तो ऐसे बोलते थे।

तो बोले—जितने रुलानेवाले प्रसंग हैं, उनमें हमारा कल्याण निहित है। ईश्वरकी ओरसे एक चोट आती है, कि तुम फँस गये दुनियामें, लौटो उधरसे! शंकर वैराग्यका देवता है। एक महात्माने बचपनमें हमको बताया था जब मनमें काम आवे, लोभ आवे, मोह आवे, तो भगवान्‌के रुद्र-रूपेका ध्यान करना। काम आनेपर राम-कृष्णका ध्यान करो तो थोड़ा लिहाज भी करेगा। वे कहेंगे अच्छा भाई, हो जाने दो, पूरा हो जाने दो। लेकिन उस समय नृसिंहका ध्यान करो, वह गलेमें अँतड़ी, भयंकररूपमें हिरण्यकशिपुका पेट फाड़ रहे, ब्रह्मा, विष्णु, महेश भयभीत हो रहे, लक्ष्मी चकित हो रही, नृसिंह रूपका ध्यान करो देखो काम आ नहीं सकता।

तो ये जितने भयंकर रूप हैं भगवान्‌के वे हमारे मनको निष्काम बनानेके लिए हैं। और निष्कामता तो कल्याणकी जननी है।

अच्छा, अब फिर कल।

रुद्राणां शंकरश्चास्मि वित्तेशो यक्षरक्षसाम्।
वसूनां पावकश्चास्मि मेरुः शिखरिणामहम्॥ 23॥

रुद्राणां शंकरश्चास्मि—रुद्रोंके बीचमें मैं शंकर हूँ और रुद्रोंसे संबद्ध शंकर हूँ। क्योंकि यह अन्तर्गतको भी विभूति कहते हैं और बाहर जो हो उसको भी विभूति कहते हैं—यदि सम्बन्ध हो। जैसे **नक्षत्राणामहं शशी**—मैं नक्षत्रोंमें चन्द्रमा हूँ। तो चन्द्रमा नक्षत्र तो नहीं है, परन्तु जिस समय आकाशमें चन्द्रमा उदित होते हैं उस समय चन्द्रमा सबसे अधिक प्रकाशमान होता है, इसलिए भगवान्ने अपनेको चन्द्रमा कहा। **इन्द्रियाणां मनश्चास्मि**—मन इन्द्रिय है कि नहीं—इसमें तो विवाद है, परन्तु इन्द्रियोंमें मुख्यता मनकी उपस्थितिकी ही है। तो परमात्माका चिन्तन कैसे करना? **केषु केषु च भावेषु चिन्त्योऽसि भगवन्मया**—आओ भगवान्का अनुसन्धान करें। यह ईश्वरका अनुसन्धान है।

ईश्वरका अनुसन्धान यह है कि हमें रुद्रके दर्शन होते हैं, परन्तु उसमें जो शंकर है, वह नहीं दीखता है। है उसमें शंकर, परन्तु दीखता नहीं। भला बताओ रुद्रके हमको दर्शन होते हैं इसका क्या मतलब है? तो रुद्र शब्दका तीन अर्थ—तीन व्युत्पत्ति वैदिक कालसे ही प्रसिद्ध है।

रौतीत रुद्रः। रुदं राति इति रुद्रः।
रोरूयमाणोद्रवतीतिरुद्रः ।
रोदयतेइतिवारुद्रः ।

निरुक्तमें रुद्र शब्दकी तीन व्युत्पत्ति कुल दी गयी है माने वेदमें जहाँ जहाँ रुद्र शब्द आये, वहाँ वहाँ इन तीन अर्थोंमें-से ही कोई एक अर्थ होगा। 1-'जिसकी वजहसे आवाज होती है शब्द जो हैं। 2-जिसकी वहजसे लोग रोने लगते हैं', चिल्लाने लगते हैं', उसका नाम रुद्र है। चीख पुकार जिसकी वजहसे मनुष्यके जीवनमें आती है उसका नाम रुद्र। और, 3-**रोरूयमाणो द्रवति**—स्वयं चिल्लाता हुआ भागता है, जैसे मेघ गर्जना करता हुआ आकाशमें इधरसे उधर दौड़ता है, वह काली घटा छा जाती है, गर्जना होती है, खूब गरजते तरजते बादल इधरसे उधर

दौड़ते हैं, तो उनके भीतर बैठकर वह गर्जना-तर्जना कौन कर रहा है? कौन चमक जाता है ? बोले— रुद्र है। **रौरूयमाणो द्रवति**। माने शब्द करता हुआ आता है और **अरोध्यन शत्रु-कलत्राणि रोद्ययति असुरान्**। जो असुरोंको रुलाता है जिसकी वजहसे शत्रुओंके कलत्र रोने लगते हैं उसका नाम रुद्र है।

तो यह जो रुलानेवाला रूप है भगवान्का, यह बड़ा विलक्षण है। यह संसारमें जगह-जगह देखनेमें आता है, कोई मर गया तो रोओ। मौत किसका रूप है ? भगवान्का ही रूप है । **मृत्यु सर्वहरश्चाहम्**। सबको हरण करनेवाला मृत्यु मैं हूँ। माने इस रुद्रमें शंकर है।

भगवान्ने जब अपना स्वरूप बताया तो कहा कि **अमृतं चैव मृत्युश्च**। अमृत भी मैं हूँ और मृत्यु भी मैं ही हूँ। जब मृत्युका रूप धारण करके रुद्र आता है, जब रोगका रूप धरकर रुद्र आता है, जब वियोगका रूप धरकरके रुद्र आता है, जब घटाएँ घिर जाती हैं जीवनमें चारों ओर और अन्धकार छा जाता है, वज्र गिरनेवाला होता है, बिजली चमकती है और ऐसा होता है कि अब मरे, अब मरे, जब जीवनमें शोक आता है, मोह आता है, रोग आता है, वियोग आता है, जैसे विषाद आ गया, अर्जुनके जीवनमें। विषाद आ गया, तो उस विषादमें प्रसाद है कि नहीं ?

प्रसादे सर्वदुःखानां हानिरस्योपजायते। 2.65

उस विषादमें-अर्जुनका रोना भगवान्के हृदयमें करुणाका उत्पादक है और वह करुणा गीताके रूपमें मूर्त होती है। जो विषादके रूपमें आये रुद्र और शं के रूपमें आयी गीता और शंकरके रूपमें आये कृष्ण-यह विभूतिका चिन्तन हुआ। जब जब हमारे जीवनमें विपत्ति आती है, दुःख-दोष-अन्धकार आता है, बेहोशी आती है, मृत्यु आती है, सत्के विरुद्ध मृत्यु आती है, चित्के विरुद्ध बेहोशी आती है, आनन्दके विरुद्ध दुःख आता है और पूर्णताके विरुद्ध वियोग आता है। जब-जब ये रुद्रके रूप हमारे जीवनमें प्रकट होते हैं, तब-तब वहाँ शंकर है, हमारा कल्याण वहाँ निश्चित है। दुःखसे डरो मत। हार मत मानो।

देखो एक आदमीकी गाड़ी चली तो पहियेका जो हिस्सा पहले ऊपर था, वह नीचे चला गया। रथमें जो चक्र होता है वह जो हिस्सा ऊपर करके खड़ा करके रखा था उन्होंने, जो चला रथ तो ऊपर वाला हिस्सा झट नीचे हो गया। रोक दिया रथ, हाय हाय हाय ऊपर वाला हिस्सा नीचे चला गया, अब गाड़ी कैसे बढ़ावें ? बोले—भलेमानुस अब बस फिर यह ऊपर आता है देखो। कालिदासने यही उपमा दी है मेघदूतमें—

कस्यैकान्तं सुखमुपनतं दुःखमेकान्ततो वा।
नीचैर्गच्छत्युपरि च दशा चक्रनेमिक्रमेण॥

दुनियामें ऐसा कौन है जिसके जीवनमें केवल दुःख-ही-दुःख आया हो? जगत्में ऐसा कौन है जिसके जीवनमें केवल सुख ही सुख आया हो? अरे बाबा, यह तो दशा ऐसी है जैसे रथका पहिया ऊपरसे नीचे, नीचेसे ऊपर होता है, वैसे संयोगके बाद वियोग, वियोगके बाद संयोग। मृत्युके बाद जीवन, जीवनके बाद मृत्यु—यह तो लगी रहती है। तो हर वियोगमें संयोग छिपा है, हर मृत्युमें अमृत छिपा है, हर दुःखमें सुख छिपा है और हर अज्ञानमें ज्ञान छिपा है।

रुद्रके रूपोंमें वही सम्पूर्ण संसारमें रुलानेवाले हैं, यह देखो अब बस हमारा कोई भारी मंगल होनेवाला है। भविष्यमें जो मंगल आने वाला है, उसपर मन ले जाओ, मंगल आनेवाला है, बिल्कुल मंगल आनेवाला है, घबड़ाना नहीं।

यह ईश्वरका चिन्तन है। एक सज्जन कहीं जंगलमें पड़ गये। गहन वन। गह्वर। पहाड़की बड़ी-बड़ी घाटियाँ, हिंसक जन्तु उसमें शेर, बाघ, सिंह, भालू, नीचे नदी, रास्ता भूल गया। अमावस्याकी रात्रि, घोर अन्धेरा, एक पहर बीत गया, दूसरा पहर बीत गया, तीसरा पहर बीत गया, मालूम हो कि आजकी रात छह महीनेकी हो गयी, बीतती ही नहीं है, दो घड़ी रात रह गयी, अन्धेरा ज्यों-का-त्यों। वह दुःखी हुआ, बोला कि जब इतनी देरतक रात नहीं बीती, प्रतीक्षा करते-करते कितनी देर हो गयी। तो अब यह रात बीतेगी नहीं, आओ नदीमें कूदकर मर जायें। जो वह कूदनेके लिए तैयार हुआ, तो क्या देखता है कि उधरसे भगवान् शंकर पधार रहे हैं, 'अरे मेरे मित्र! यह क्या करते हो? सारी रात तुमने प्रतीक्षा करके बितायी-दुःखसे बितायी अब तो सिर्फ दो घड़ी रह गयी है।'

वह बोला कि महाराज, अन्धेरा तो जैसा सायंकाल था, वैसा अब भी है। बोले—यह क्या हुआ, काल तो बीत गया, घबड़ा गये। झूठे ही घबड़ा गये।

तो ये जितने रुद्रके रूप हैं—मृत्यु, अज्ञान, दुःख, मोह, परिच्छिन्नता—इनमें भी कल्याणकारी शक्ति अपना काम कर रही है और उन कल्याणकारी शक्तियोंके रूपमें स्वयं भगवान् शंकर हैं! रुद्र तो मृत्युका देवता है। रुद्र प्रलयका देवता है और शंकर जो है, वह कल्याणकारी है।

असलमें रुद्रका धर्म, उसका असली स्वरूप क्या है? शंकरके ग्यारह रूपोंका नाम रुद्र है। सबमें रुद्र है। माने रुद्रका रुद्रत्व जो है वह शंकरत्व है। कहनेका अभिप्राय क्या हुआ? कहनेका अभिप्राय यह हुआ कि जब सृष्टिके लोग

ईश्वरसे बिलकुल विमुख हो जाते हैं और बहिर्मुख हो जाते हैं और भोगपरायण हो जाते हैं और अर्थपरायण हो जाते हैं और एक दूसरेकी हिंसा करने लगते हैं तो जब ईश्वर यह देखता है कि सृष्टि तो बनायी गयी थी इसलिए कि लोग मृत्युसे बचनेके लिए, अज्ञानसे बचनेके लिए, दुःखसे बचनेके लिए साधन करें, भजन करें, सत्संग करें, ईश्वरका चिन्तन करें। ईश्वरका संकल्प यह था कि अज्ञाननिद्रामें शयान जो जीव हैं उनको वहाँसे निकालकर जाग्रतावस्थामें लाया जाये—सृष्टिकालमें लाया जाय उनको—स्थितिकालमें लाया जाय और यहाँ तत्त्वज्ञानका संपादन करके वे अपना कल्याण साधन करें। लेकिन देखा कि इनको जो रास्ता दिखाया गया था, उससे विपरीत चल रहे हैं। तो रुद्रने कहा कि बेचारे ये दुःखी हो गये हैं तो एक बार प्रलय कर दो। तब प्रलय कर देनेसे सृष्टि लीन हो जायेगी, थोड़ा विश्राम मिलेगा इनको। जब विश्राम कर लेंगे, थोड़ी शान्ति जब इनको मिलेगी, थकान थोड़ी दूर होगी तो ये फिर कायदेसे अपने साधन-भजनमें लग जायेंगे। इसलिए रुद्रने जैसे कोई थकेको विश्राम दे, जैसे कोई नींद न आनेवालेको सुला दे, जैसे कोई पके हुए अंगका आप्रेशन कर दे—काट दे, जैसे कोई दुष्टको जेलमें डाल दे, इस तरह रुद्र भगवान् भी लोगोंको प्रलयकी निद्रामें सुला देते हैं, इसलिए कि विश्राम करके जब उठेंगे, तब इनकी बुद्धि फिर अच्छे काममें लगेगी, और सावधान होकर अच्छा काम करेंगे।

तो रुद्रका काम बहुत बढ़िया। तो रुद्रमें शंकर हैं। ऐसे समझो कि यह जो बात मैंने सुनायी, यह आधिभौतिक और आदिदैविक दृष्टिसे है। अब आप आध्यात्मिक दृष्टिसे इसका अर्थ देखो। यह हमारे शरीरमें रुद्र हैं ग्यारह। कौन-कौनसे? तो पाँच कर्मेन्द्रिय, पाँच ज्ञानेन्द्रिय और एक मन। ये ग्यारहों रुद्र हैं। ये पट्ठे क्या करते हैं **पराञ्चिखानि व्यतृणत् स्वयम्भूस्तस्मात् पराङ् पश्यति नान्तरात्मन्।** आपने पार्थिव पूजा कभी देखी होगी। तो एक लिंग मुख्य बनाते हैं मिट्टीका, पतले-पतले अन्य बनाकर उसके पास लपेट देते हैं। बीचमें जो होता हे वह शंकर होता है और जो ग्यारह लपेटे जाते हैं, वे गौण होते हैं।

ये जो ग्यारह रुद्र हैं, ये भीतर बैठे हुए जो आत्मदेव हैं, उनके आवरण बन गये। तो रुलाता कौन है? थोड़े दिन चलना छोड़ दो तो पाँव सो जायेगा, तब रोवोगे कि हाय-हाय हमारे तो चलनेकी शक्ति नहीं रही। बुरे काम कर देता है तो हाथ रुलाता है। जीभ यदि किसीके प्रति बुरे शब्दका उच्चारण करवा देती है तो रुलाती है। क्योंकि हम दूसरेके बारेमें जो कहते हैं, आप यह नहीं समझना कि वह दूसरेके

बारेमें होता है। यह कानमें बतानेकी बात है भला। गुरु लोग कानमें बताते हैं। जो कुछ तुम दूसरेके बारेमें कहते हो, वह तुम स्वयं अपने ही बारेमें कहते हो, क्योंकि दूसरेके खोलसे ढके हुए भी तुम ही हो। जैसे यहाँ देहेन्द्रिय मनकी खोलसे ढका हुआ 'मैं' है। देखो, जैसे सबके शरीरमें यह खोलसे ढका हुआ आकाश तो एक ही है। सबके हृदयमें अवकाश एक ही है। इसीमें मैं-मैं नामका जो चेतन है, यह सबके शरीरमें एक ही है। मैं तुम्हारे कानमें गुप्त-से-गुप्त मन्त्र यह देता हूँ कि जो बात तुम दूसरेके बारेमें बोलते हो और दूसरेके बारेमें सोचते हो, वह असलमें तुम दूसरेके बारेमें नहीं सोचते, अपने ही बारेमें सोचते हो। है न! यह गुप्त बात है। जब तुम सोचोगे कि दूसरेको दुःख मिले, तो उसका अर्थ यह होता है—कि मुझको दुःख मिले। सबके भीतर एक ही है—

घूँघटको पट खोल रे, तोहे पीउ मिलेंगे।
सबके घटमें साईं रमता, कटुक बचन मत बोल रे।

रुद्राणां। यह जीव जो है, यह रुद्र है। रुलाता है। दूसरेको रुला दे, अपनेको रुला दे। और आँख भी, दुश्मनको देखे तो रुला दे और दोस्तसे फँस जावे तो भी रुलावे। यह फँसकर रुलाती है। कान रुलाता है। ये सब रुद्र हैं। नाक रुलाती है। सुगन्धमें फँसती है, राग-द्वेष करते हैं, सुगन्धमें फँसती है, दुर्गन्धसे परहेज करती है। राग-द्वेष होता है। मनका यही हाल है, राग-द्वेष करता है, रुलाता है। तो ये **दशैकं च**—इन्द्रियाणि दस, और एक मन। यह क्षेत्र है, इसके भीतर जो क्षेत्रज्ञ बैठा हुआ है, वह शंकर है।

बस यह बात ध्यानमें रखना कि जैसे भक्त लोग अपने इष्टदेवको ब्रह्मा और विष्णुसे परे बोलते हैं, ऐसे, जो इष्ट देवका स्वरूप है असली, वही तो आत्माका स्वरूप है। जैसे वह ब्रह्मा विष्णुसे परे है, वैसे यह भी ब्रह्मा विष्णुसे परे है। निर्गुणधारामें अपनेको सबसे परे बोलते हैं और सगुणधारामें उसे सबसे पर बोलते हैं; लेकिन निर्गुण और सगुणका भेद अगर एक ओर रख दिया जाये, इनका अपवाद कर दिया जाये तो जो तुम्हारे हृदयमें है, मेरे लिए तुम्हारे हृदयमें है, तुम्हारे लिए मेरे हृदयमें है, यह भक्ति हुई। यह भक्ति हुई कि हमको सामने बैठे गोविन्द भाईके हृदयमें भगवान् दिख रहे और गोविन्द भाईको मेरे हृदयमें बैठे भगवान् दिख रहे यह भक्ति हुई। और, ज्ञान यह हुआ कि मेरी नजर भी खराब नहीं है और उनकी नजर भी खराब नहीं है, दोनोंकी नजर सच्ची है और दोनोंके दिलमें एक ही बैठा हुआ है। तो उपाधिका—मैं और तुमका जो भेद है

वह उपाधिके कारण है और उपाधिका तिरस्कार कर देनेपर दोनोंमें एक ही है—**शंकरश्चास्मि**।

अब एक भूमिका बाँधके बात खत्म करते हैं। **वित्तेशो यक्षरक्षसाम्**—एक होते हैं यक्ष और एक होते हैं रक्षक। जो भोगी होते हैं उनको यक्ष बोलते हैं। पुराणमें उनकी निरुक्ति है। ब्रह्माने एक तरहकी सन्तान पैदा की, तो वह उन्हींको खानेके लिए दौड़ी, जिससे पैदा हुई उसीको खाने दौड़ी, तो उसका नाम हुआ यक्ष और जिसने कहा कि नहीं, खाओ मत, रक्षा करो—बचाओ उसका नाम हुआ रक्षक। जिन्होंने कहा 'रक्ष रक्ष' वे रक्षक और जिन्होंने कहा 'यक्ष यक्ष' उनका नाम यक्ष।

अब आप इसको देखो दुनियामें। जैसे आपके घरमें पैसा आता है तो दो तरहके लोग घरमें निकलेंगे एक तो कहेंगे भाई इसको बचाकर रक्खो-पूँजी बनाओ। इसको तिजोरीमें रखो, बैंकमें रक्खो, इसके लिए हिसाबकी कापी बनाओ। यह क्या हुआ? ये अर्थ परायण जो हुए वे रक्षक हुए, क्योंकि वे न दूसरेको खाने देते हैं न खुद खाते हैं। धनकी तीन गति होती है।—**दानं भोगो नाशः तिस्रो गतयो भवन्ति वित्तस्य**। दे दो तो दूसरेके काम आवे, दूसरेको न दो तो खुद खाओ। और, न खुद खाते हैं न दूसरेको खाने देते हैं। क्या करते हैं? कि पहरेदार हैं। तो यह हाथमें डंडा लेकर जो पहरेदार बने हुए हैं, वे रक्षक हुए। रक्षक क्यों हुए? कि वे खुद तकलीफ भोगते हैं और दूसरेको तकलीफ देते हैं।

दूसरे हुए यक्ष। क्या? कि लाओ हम तो मौज कर लें, दूसरेको मिले चाहे न मिले। तो चलो एक जगह तो काममें आया। असलमें एक आदमी भोग भी करता है, तो उसमें दूसरेको भोग मिलता है। एक आदमी बढ़िया कपड़ा पहने तो कपड़ा बनानेवाले जुलाहेको भी मिलेगा, रुई वालेको भी मिलेगा। भोग करनेसे भी प्रकारान्तरसे दूसरेके लिए धनका बँटवारा होता है, प्रकारान्तरसे होता है, उसमें बाँटनेवालेको पुण्य नहीं मिलता, क्योंकि पुण्यकी बुद्धि ही नहीं है उसकी कि दूसरेका हम उपकार कर रहे हैं, कर्तृत्व नहीं है पुण्यका उसमें। लेकिन बँटवारा तो भोग करनेमें भी होता है। जब एक आदमी शराब भी पीता है समझ लो, गन्दी-से-गन्दी चीज—सड़ा पानी, वह भी बेचनेवाले दुकानदारसे लेकर बनानेवाले तक, बोतल बनानेवाले तक और जौ पैदा करनेवाले, अंगूर पैदा करनेवाले तक, भोगकी परम्परा जो है वह पहुँच जायेगी। सौ रुपयेमें कुछ-न-कुछ चार पैसा उसके हाथ भी लगेगा जो अंगूर पैदा करता है। लेकिन जो भोग भी नहीं करते हैं

उनका तो रक्खा-रक्खा सड़ जाता है, किसके हाथ आवेगा? बेटेको भी मिलेगा कि नहीं!

तो ये यक्ष और राक्षस जो केवल पहरेदार हैं, न खायें न खाने दें, दूसरेकी हानि करते हैं। और, जो खुद तो खायें, बँटवारा हुआ; पर धर्म नहीं है दोनोंमें। बोले—इनमें ईश्वरका अनुसन्धान कैसे करना? इनमें भी ईश्वरका अनुसन्धान करना बड़ी अद्भुत लीला है। इसमें कहते हैं—वित्तेश। **वित्तेशोयक्षरक्षसाम्।** इनमें मैं वित्तेश हूँ। वित्तेश माने कुबेर होता है। कुबेर शब्दका शाब्दिक जो अर्थ है, वह है कुरूप। 'वेर' माने शरीर और 'कु' माने बुरा, देखनेमें सुन्दर नहीं है। कुबेर देखनेमें-बाहरसे सुन्दर नहीं है, लेकिन भीतरसे उसके पास जो सम्पत्ति है वह ईश्वरकी दी हुई है। कुबेरके पास कुछ नहीं था, बिलकुल दरिद्र नारायण थे, लेकिन जब इन्होंने शंकरजीको आराधना की तो शंकरजीने कुबेरको लोकपाल बनाया और उनको धनाध्यक्ष बनाया।

तो ये जो धनमें लगे हुए लोग हैं, भोगमें लगे हुए लोग हैं, इनमें यदि कोई ऐसा निकल आवे कि वह अपनी सम्पत्तिको और अपने ऐश्वर्यको अपना न मानता हो, बिलकुल ईश्वरका दिया हुआ देखता हो—यह हमारा नहीं है, ईश्वरका है, ईश्वरका दिया हुआ है—ऐसा अगर कोई दिखता है, तो उसमें जरा ईश्वरको ढूँढना, मिलेगा—उसके मनमें ईश्वर मिलेगा—उसके जीवनमें ईश्वर मिलेगा। अब यह कल सुनावेंगे।

रुद्राणां शंकरश्चास्मि वित्तेशो यक्षरक्षसाम्।

कितने रुद्र हैं वे गरजते—तरजते हैं। काली घटाके रूपमें छा गये। रुद्र रुलाते हैं, खुद रोते हैं। रुद्रके आँसू गिरते हैं काली घटामें-से। खुद रोते हैं और दूसरोंको रुलाते हैं। पर आप जानते हैं वर्षामें कितना कल्याण है। इसी प्रकार यह जीवनमें जो आँसू गिरते हैं, ये बड़ी शान्ति, बड़ा सुख देनेवाले होते हैं। इनके बाद है क्या? इनके बाद शंकर है। इनके भीतर शंकर हैं।

देखो, दु:खकी यदि सीमा हो जाये तो या तो आदमी दु:खका सहिष्णु हो जायेगा, या तो दु:खसे तटस्थ हो जायेगा और मान लो दु:खसे मर भी गया तो यह कोई बड़ी घटना नहीं है शरीरका छूटना कोई महत्त्वपूर्ण घटना थोड़े ही है अरे एक छूटा दूसरा मिला। यह तो ऐसा ही है पानीका बबूला बना और मिट गया।

तो सहिष्णु होनेकी आदत पड़ जाय तो भी दु:ख कल्याणकारी, यदि दु:ख ही दु:ख देख करके दु:ख देनेवालेसे तलाक ले लें, तटस्थ हो जायें, त्याग कर दें उसका, तो भी कल्याण और मर जायें तो शरीर ही छूट गया फिर दूसरा शरीर मिलेगा वही, इस तपस्याका, इस रोनेका फल मिलेगा उसमें, रसकी प्राप्ति होगी।

तो भगवान् अपने सम्पूर्ण रुद्र रूपोंमें कल्याणकारी शंकर बन करके बैठे हुए हैं। **रुद्राणां शंकरश्चास्मि**। यह मंगलमय रूप भगवान्का स्मरण करने योग्य है।

देखो, अर्जुनने पहले भगवान्का विराट् रूप देखा, बोला—**दिशो न जाने न लभे च शर्म**—विमूढ हो गया मैं तो, मुझे शान्ति नहीं मिलती। बिल्कुल व्याकुल। यह विराट् रूप है। इसमें सब मरे-मराये तो दिख रहे हैं **द्रोणं च भीष्मं च जयद्रथं च**—सब मरे हुए दिख रहे हैं। व्याकुल हो गया।

भगवान्ने कहा—अर्जुन डरो मत—**मा ते व्यथा मा च विमूढभावो**। मेरे इस भयंकर रूपको देखकर व्यथित मत हो।

यह भय दिखानेवाला वही है। कल सुनाया आपको, ये जितने उत्तम

पुरुषके प्रयोगके मन्त्र आते हैं वेदमें, सायणाचार्यने लिखा है कि जितने मन्त्र उत्तमपुरुषके प्रयोगके आते हैं, माने—अहं, अस्मि—वे सबके सब आध्यात्मिक होते हैं। आध्यात्मिक मन्त्रका विभाग जब उन्होंने किया तो बोले जैसे **अहं मनुरभवं सूर्यश्च**। वामदेवका मन्त्र है, मैं ही मनु हुआ, मैं ही सूर्य हुआ। तो यह वामदेव व्यक्ति जो है, वह तो न मनु हुआ, न सूर्य हुआ। वामदेव व्यक्तिकी जो आत्मा है, वह जैसे अब वामदेवके रूपमें प्रकट है, वैसे ही सूर्यके रूपमें भी प्रकट है, वैसे ही मनुके रूपमें भी प्रकट है। **अहं रुद्रेभिर्वसुभि चराणि। अहं रात्रि संगमनि वसूनाम्**। तो वेदमें जितने मन्त्र अहंके रूपमें वर्णन करते हैं और अस्मिके रूपमें वर्णन करते हैं वे सब आत्मदेवका ही वर्णन करते हैं।

तो यह शंकर जो हैं, ये ग्यारह रुद्र, ऐसे समझो कि ग्यारह विषय है; दस इन्द्रियोंके दस विषय, ज्ञानेन्द्रियोंके विषय शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध होते हैं ना और कर्मेन्द्रियोंके भी विषय होते हैं, गन्तव्य देश पादका विषय है। आदातव्य जो विषय है वह हाथका है। वक्तव्य वाणीका है। आनन्दैतव्य उपस्था है! और विसर्गैतव्य गुदाका विषय है। माने पाँच कर्मेन्द्रियोंके भी विषय हैं। और एक मनका विषय है मन्तव्य। तो ये हुए ग्यारह रुद्र और इनके भीतर शंकरके रूपमें आत्मा है। ये शरीरके रूप हैं। यह जीव है, इसमें शिव है। यह शिव शिरोभाग है, एक शिवलिंग है। यह हृदय दूसरा शिवलिंग है। नाभिनेत्र भी शिवलिंग है। इसमें जो एक-एक हड्डी, प्रत्येक जोड़से अलग-अलग जो हड्डी हैं वह शिव-रूप है।

यह महाराज ध्यान करो तो मगन हो जाओ। छूट जाये यह संसार एकदम। शिव ही शिव, शिव ही शिव। यह ओंकारत्रय देखो। यह नाक, उसका एक आँखके भौंहसे और एक इधरसे, और इसका 'उ' जो है ना, वह गया यहाँ, ओंकार लिंग है यह। ओंकार मान्धाता बोलते हैं। ये दोनों बाँह और हृदय यह एक लिंग है, ज्योतिर्लिंग है यह। दोनों पाँव और पूंछ उसकी नाभिकी तरफ, यह तृतीय लिंग है। यह आनन्देश्वर लिंग इसको बोलते हैं। आनन्देश्वर लिंग, हृदयेश्वर लिंग, ओंकार मान्धाता सुमेरु लिंग है।

तो ग्यारह विषयसे घिरा हुआ, ये ग्यारह रुद्र हैं। और शरीर जो है वह शंकर है। अब शरीरमें इसके भीतर देखो, ग्यारह जो इन्द्रियाँ हैं वे रुद्र हैं, उसके भीतर देखो प्राणलिंग है और दस प्राण विज्ञान-रुद्र हैं। और उनके भीतर आत्मदेव जो हैं ना, विज्ञानेश्वर लिंग है भगवान्‌का, इस तरहसे माया और मायाकी जितनी वृत्तियाँ

हैं, ये दशधा एका जितनी वृत्ति हैं इन सबके स्वामी—आत्मदेव जो हैं, वह ब्रह्मलिंग है। व्यष्टिमें आत्मलिंग, समष्टिमें ईश्वर लिंग-ब्रह्म लिंग—ये सबके सब मन्त्र जो अहं और अस्मिसे वेदमें निरूपित होते हैं वे सबके सब उत्तम पुरुषसे वर्णित पुरुषोत्तम हैं। अब—

वित्तेशो यक्षरक्षसाम्। कल सुनाया आपको यक्ष और राक्षसका भेद क्या होता है। तो मणिभद्र आदि यक्ष होते हैं और हेति, प्रहेति आदि राक्षस होते हैं। ये जो कुबेर हैं ये न यक्ष हैं न राक्षस हैं। कुबेर तो विश्रवा मुनिके पुत्र हैं व्याकरणकी रीतिसे विश्रवाके पुत्रके अर्थमें दो निकारा होते हैं—एक विश्रवण और एक रवण। तो रवणसे रावण बनता है और विश्रवणसे वैश्रवण बनता है। विश्रवा मुनिके दो पुत्र हैं। यह जो रावण है यह तो मोह-मदीय सरीखा है और कुबेर जो हैं ये भगवदीय हैं। भगवान्के हैं।

अब देखो यहाँ तीन पुरुषार्थोंका वर्णन बिलकुल स्पष्ट है। 'यक्ष' भोग पुरुषार्थी है, 'रक्ष' अर्थ पुरुषार्थी है—इकट्ठा करो, न खाओ, न खाने दो—इसका नाम हुआ राक्षस। 'रक्षत' 'रक्षत'—यह पहरेदारी है और 'यक्षत्' माने 'खाओ पीओ, मौज उड़ाओ। यही जगत्का मेला है।' जो भोग परायण हो गये वे यक्ष और जो अर्थ परायण हो गये वे रक्षत।

बोले—इनमें भगवान्की विभूति कौन-सी है। तो कहा—इनमें किसीका चिन्तन मत करो। इनसे संबद्ध जो विशेष है—यक्षेश्वर; कुबेर जो है यह यक्षेश्वर है। शंकर भगवान् प्रसन्न हुए कुबेरकी तपस्यासे और उनको कह दिया कि तुम यक्षोंके अधिपति हुए—धनाध्यक्ष, धनाधिपति शंकरजीने उनको वरदान दिया।

निधिनामधिनाथस्त्वं गुह्यकानां भवेश्वर।

हे कुबेर! तुम सब निधियोंके स्वामी हो जाओ।

यक्षाणां किन्नराणाञ्च तथा राज्ञाञ्च सुव्रत।
पतिः पुण्यजनानां च सर्वेषां धनदो भव॥

तो बोले—भाई अच्छा ये भोगी यक्ष और धनी रक्ष--ये दोनों तो गये, अब इनके स्वामीमें ईश्वरका चिन्तन कैसे करना! तो वित्तेशमें तृतीय पुरुषार्थ है, इन दोनोंकी अपेक्षा तृतीय। वह क्या है? कि धर्म पुरुषार्थ है। किस धनीमें भगवान्का चिन्तन करना! लो धनाध्यक्ष हैं। वे कहते हैं कि जो धर्मपुरुषार्थी हो, यह वित्तेश है।

एक होता है वित्तदास और एक होता है वित्तेश्वर। वित्त माने धन। वित्त

उसको कहते हैं जिसमें केवल जानकारीका सुख हो। ध्यान देना जरा, धनमें और कोई सुख नहीं है, क्या है? कि जानकारीका सुख है। हमारी तिजोरीमें इतना है, सुना और फूल गये, बही-खातेमें इतना लिखा है, बैंकमें इतना है, यह केवल जानकारीका सुख है। आभिमानिक सुख है, न खायें न खिलायें और रोज रातको बही-खाता देखकर कि हमारे पास इतना हो गया—जानकारीसे खिल उठें।

तो ये दो तरहके होते हैं—एक वित्तेश्वर और एक वित्तदास। वित्तेश्वर कौन होता है? कि जो उस धनका सदुपयोग करता है—देता है। ज्यादा गेहूँ पैदा करनेका अर्थ यह नहीं होता कि सब अपने घरमें रख लिया जाये, उसका अर्थ होता है, जिसके घरमें गेहूँ नहीं होता, उसके घर खानेके काममें आवे। यह नहीं कि किसान उसको घरमें रखे-रखे सड़ा डाले, गेहूँ पैदा करनेका यह अर्थ नहीं है। ऐसे रुपया भी ज्यादा पैसा करनेका अर्थ यह नहीं है कि वह पड़ा-पड़ा, या तो रुपयेका अवमूल्यन हो जाये, या नोट ही बदल जाये और या तो कहीं ऐसी जगह धरतीमें गाड़ दिया जाये कि सौ-पचास-हजार वर्षके बाद किसीको मोहरें मिलें, बोलें—इतने पुराने सिक्के मिले हैं। यह तो 'वित्तदास'का काम है। वह धनका दास है तो 'वित्त' शब्दका अर्थ आपने शायद ध्यानमें लिया होगा। वित्त माने ज्ञान। 'विद्' धातु जो है वह ज्ञान अर्थमें है, लाभ अर्थमें है और विचार अर्थमें है। यह 'वित्त' शब्दका अर्थ बचपनसे हमको याद है। हमारे गुरुजीसे जब हम व्याकरण पढ़ते थे, तो थोड़ी देर पढ़ते थे, वे बहुत बड़े थे, तो सन्तोष उतना नहीं होता था, हम जितना एक दिनमें व्याकरण बाँच जाना चाहते थे, उतना वे नहीं पढ़ाते थे। वे तो दस लाइन, बीस लाइन पढ़ाते। फिर दूसरे पंडितके पास जाते जो हमको दस पेज पढ़ा दे, बीस पेज पढ़ा दे। तो जो दस पेज पढ़ानेवाले थे वे छोटे थे और जो दस लाइन पढ़ानेवाले थे वे बहुत बड़े थे। तो छोटे पंडितके घरमें एक यज्ञ पड़ा, उन्होंने कहा भाई, हमको निमन्त्रण भेजना हैं लोगोंको, तो गुरुजीसे निमन्त्रण पत्र लिखवा दो, वे बहुत बढ़िया लिखवा देंगे, वे बहुत अनुभवी हैं। मैंने कहा उनसे, फिर तो बोले अच्छी बात है, लिखके देता हूँ। उन्होंने अपने हाथसे लिखकर दिया था। वह हमको याद है अभी तक, उसमें 'वित्त' शब्दका प्रयोग उन्होंने किया था—

पाथोधि नयेन्दु विक्रम सते संवत् 1984की बात है यह भला।

राधे सिते भार्गवे (शुल्क) पंचमी शुक्रवार। पंचम्यां खलु भग्ये वैष्णव महे

मान्या वदान्या अयं ता हाध्यं श्रुत वित्त वित्त विलसत प्रज्ञैसुहृदमिसमम्। आगत्यैः विधीयतां इति तरं वक्षं यदितर याचते।

तो मैंने उनसे पूछा कि आप जो कहते हैं कि सहायता करो और इसमें 'वित्त' शब्दका प्रयोग करते हैं, इससे तो ऐसा लगने लगा ना कि जैसे धन माँग रहे हों, निमंत्रणमें, ऐसा लगता है। तब उन्होंने समझाया 'श्रुतवित्त विलसत प्रज्ञैः'—यह जो वित्त है, यह धरतीपर रखा हुआ वित्त नहीं है, यह प्रज्ञामें रखा हुआ वित्त है। यह पंडितके पास जो वित्त होता है, उसकी तिजोरी घर या बैंकमें नहीं होती, उसकी तिजोरी तो प्रज्ञामें होती है, प्रतिभामें उसकी तिजोरी होती है।

अब यह वित्त क्या है? तो वित्त उसको कहते हैं जिसकी जानकारीमें लोगोंको सुख होता है, लेकिन मिल्कीयत नहीं है। मिल्कीयत तो वह है, जिसको उठाकर दिया जा सके। अगर देनेका अधिकार हो तब तो स्वामी और केवल पहरेका अधिकार हो तो? दास।

जैसे आपके आफिस हैं, गद्दियाँ हैं, उनमें चपरासी और पहरेदार भी होते हैं कैसे? कि वह हर समय बंदूक लेकर खड़ा रहता है वहाँ वह केवल पहरेदार है। और एक होता है मालिक कि जो चाहे सो किसीको दे दे! यह जो वित्तेश है, आपको याद दिलाते हैं आज्कल महाराज संन्यासी महात्मा जो लोग होते हैं, संन्यासी-उदासी, वे तो सम्प्रदायको बाँट दिये, आवरण है ना, भीतर जो वस्तु है वह तो सबमें एक है, यह झगड़ा तो सिर्फ मूर्खताका है। जितने विवाद हैं सृष्टिमें, वे मूर्खताके सिवाय और किसी कारणसे नहीं हो सकते।

तो संन्यासियोंके यहाँ रोज आज-कल जो, पुष्पांजलि होती है शामको, उसमें एक मन्त्र पढ़ा जाता है। मैं बचपनसे समझो, पहले पहल मैं सन् अट्ठाईस उन्तीसमें किसी मण्डलेश्वरके यहाँ गया होऊँगा और देखा कि वह मन्त्र सब संन्यासी हाथ जोड़कर पढ़ रहे हैं, तो भाई अपनी समझमें तो नहीं आया कि संन्यासी लोग यह मन्त्र क्यों पढ़ रहे हैं, बोल देता हूँ मैं—

राजाधिराजाय प्रसह्य साहिने, नमो वयं वैश्रवणाय कुर्महे।
स मे कामान् कामकामाय मह्यं, कामेश्वरो वैश्रवणो दधातु॥

ये वित्तेश हैं। कामेश्वर वैश्रवण, विश्रवा ऋषिके पुत्र वैश्रवण-कुबेर। बोले—'स मे कामान् कामकामाय मह्यं'—मैं काम-कामी हूँ और तुम कामेश्वर हो। मेरी कामनाओंको पूर्ण करो। अब मैं तो बाबा घरद्वार छोड़कर, अपनी खेती-गृहस्थी छोड़कर, बाल-बच्चा छोड़कर, अपनी यजमानी छोड़कर, चेला छोड़कर

मैं तो जाऊँ साधुओंमें कि हमको विरक्त होना है, त्यागी होना है, ब्रह्मज्ञान प्राप्त करना है और वहाँ जाकर जब हाथ जोड़कर बोलना पड़े—

स मे कामान् कामकामाय मह्यं कामेश्वरो वैश्रवणो दधातु

तो ग्लानि हो जाये, राम राम क्या पढ़ना पड़ता है। यह बचपनकी बात है। अब आप ऐसे मत समझो आज तो मैं इसको बीस बार बोल दूँ। यह नहीं समझना कि जो लोग बोलते हैं उनकी मैं आलोचना करता हूँ। मैं उनकी संगतमें बैठकर बीस बार बोल सकता हूँ। लेकिन जब घर-द्वार छोड़कर जाता था, तब तबीयत झनझना उठती थी कि क्या बोलना पड़ता है। तो अब तो मैं ही महा गृहस्थ हूँ। 'महा-कर्ता, महा-भोक्ता, महा त्यागी, महा-गृहस्थ।' यह तो आप योगवासिष्ठ पढ़ें, तब मालूम पड़े। उसमें ये सब शब्द हैं। बड़े आदरके साथ इसका वर्णन है।

तो देखो हमारे कहनेका अभिप्राय यह कि इसमें परमात्माका अनुसन्धान करना 'वित्तेश' कौन है? वित्तेश वह है जो धनका संचय भी नहीं करता, अपनेको धनका मालिक नहीं मानता, अपने पास धन है यह देखकर खुश नहीं होता और स्वयं भोगकर भी खुश नहीं होता। जो दूसरोंको देकर खुश होता है उसका नाम वित्तेश। वित्तेश माने धर्म पुरुषार्थी। यह काम पुरुषार्थी नहीं है, यह अर्थ-पुरुषार्थी नहीं है, यह धर्म-पुरुषार्थी है। **कामेश्वरो वैश्रवणो दधातु**—यह राजाधिराज, यह प्रसह्यसाही, यह वैश्रवण, वैश्रवण माने यशस्वी। विश्रवाका पुत्र भी उसका मतलब है और विशेष श्रवण जिसका हो, जब दानियोंकी चर्चा चले कौन दानी? तो बोले—बाबा कर्णदानी, नृगदानी। तो धनी कौन? जब दानियोंकी चर्चा होने लगे तो उंगलीके पहले पोर्वेपर उसका नाम आवे।

गुणिगणगणनारम्भे पततिं न कठिनी ससंभ्रमा यस्य।
तेनाम्बा यदि सुतिनी वद . वन्ध्या कीदृशी भवति॥

'कठिनी' माने अंगूठा! जब दानियोंकी गणना होने लगे तब पहला नाम उसीका लेकरके अंगूठा पहली उँगलीके मूलमें पड़े। 'ससंभ्रमा'—अरे अरे जल्दी करो भाई, उसका नाम लो। और जिसका नाम न आवे, यदि कंजूस बेटा पैदा करके माँ बेटेवाली बनी, तो बोले—फिर बाँझ ही होना अच्छा था।

आओ 'वित्तेश' माने भगवान् शंकरकी वह विभूति देखो, कुबेर जी शंकर भक्त हैं। जैसे अपना मालिक सब लुटाकर, अपने पहननेके लिए कपड़ा ही नहीं रखा-दिगम्बर हो गया, यह शंकरजीका स्वरूप है दिगम्बर—निरावरण, अपने पहननेके लिए कपड़ा ही नहीं रखा, उसका मालिक वित्तेश्वर, उस

वित्तेश्वरमें परमात्माको देखो, जिसको यह अभिमान नहीं है कि मैंने परिश्रम करके धन पैदा किया, मेरे परिश्रमसे मिला, उसको क्या अभिमान है? कि हमारे भगवान्‌ने हमको दिया है।

'यह हमारा है'—यह अभिमान नहीं है, यह हमारे भगवान्‌का है और भगवान्‌की जो प्रजा है, उसमें बाँटनेके लिए हमारे पास है। धन हमारी कमाई नहीं है, धनका मैं मालिक नहीं हूँ, धन हमारे भोगके लिए नहीं है, धन किसके लिए है? धर्मके लिए है।

वित्तेशका यह स्वरूप है। भोग और अर्थसे ऊपर उठकर जो काम करता है उसके अन्दर त्यागकी सच्ची प्रेरणा आती है। देखना यह आध्यात्मिक लाभ हुआ। दानसे त्याग आता है। दान दूसरी चीज है और त्याग दूसरी चीज है। दान माने जिस वस्तुको हम देते हैं, उसको कीमती समझते हैं। अपनी ममता उसपरसे हटाकर दूसरेकी ममता पैदा करते हैं, अब यह मेरा नहीं तुम्हारा है, उसका नाम दान हुआ और त्याग जब करते हैं तो चीजको कीमती नहीं समझते। बोले—मैंने छोड़ा, तो दूसरेकी ममता इसपर पैदा कराने लायक नहीं है। जो दान करता है उसके अन्दर त्यागकी प्रेरणा आती है और तब वह सिद्ध हो जाता है। **वित्तेशो यक्षरक्षसाम्।**

वसूनां पावकश्चास्मि। अरे अद्‌भुत है एकदम। ईश्वरको ढूँढनेके लिए, 'वसु' माने होता है धन। **वसु तो ये धने मणौ।** 'वसु' एक जाति होती है देवताओंकी, उन्हें आठ वसु कहते हैं। पानीका नाम वसु है, धनका नाम वसु है, मणिका नाम वसु है और आठ जो देवता हैं उनका नाम वसु है। वसु माने अध्यक्ष भी होता है। अब **पावक** शब्दका अर्थ सुनाऊँगा। बोले देखो पावक माने आग होता है, मुख्य रूपसे जितनी धन-सम्पत्ति है, उसमें आग बनकर भगवान् बैठे हुए हैं, जलन होगी। अरे नारायण इस बातको लो **वसूनां पावकश्चास्मि**—वसुओंमें क्या बनकर बैठा हूँ? पावक। पावक माने पवित्र करनेवाला। सम्पत्ति मिली तो धर्म करके अपनी आत्माको पवित्र करो। पावक माने सोना भी होता है। तेजस् है न!

वसूनां पावकश्चास्मि। देवता लोग होते हैं उनमें एक वसुगण है। विश्वेदेवा एक गण होता है। साध्य एक गण होता है, रुद्र एक गण होता है और वसु भी एक गण होता है। आठ संख्याका एक गण होता है, आठ देवता इसमें होते हैं, धरा, ध्रुव, सोम, अहः, अनिल, अनल, प्रत्यूष और प्रभात—ये आठ नाम वसुओंके होते हैं। ये देवयोनि हैं। उन आठोंमें एक 'पावक' नामके वसु होते हैं, भगवान् कहते हैं कि वे वसु मैं हूँ। विभूतिका वर्णन है।

केषु केषु च भावेषु चिन्त्योसि भगवन्मया।

प्रश्न हुआ कि किन-किन भावोंमें आपका चिन्तन करें, किन-किन पदार्थोंमें आपका ध्यान करें? तो भगवान् यहाँ बताते हैं कि आठ वसुओंमें-से पावक नामक वसुमें हमारा चिन्तन करो। बोले—भाई, भगवान्‌ने यह पावक वसुको क्यों पसन्द किया? देवता तो सब हैं।

देखो यह 'धरा' जो है धरती, यह एक वसु है, माने एक अंश है। वसु माने धन होता है—वसुन्धरा-पृथिवी है। वसुन्धरा माने धरती होता है संस्कृत भाषामें। रत्नगर्भा—पृथिवीका एक नाम है संस्कृतमें। जब ज्वालामुखी फूटता है तो हीरे निकल आते हैं। सोनेकी खान होती है, ताँबेकी खान होती है, चाँदीकी खान होती है—रत्नगर्भा है। मैंने देखा अल्मोनियम मिट्टीमें-से निकालते हैं। प्लैटिनम निकलता है। चाँदी तो मिट्टी है बिलकुल। चाँदी मिट्टीका ही एक रूप है। सोना बल्कि मिट्टीका रूप नहीं है, चाँदी मिट्‌टीका रूप है। सोना आग है और चाँदी मिट्टी है।

यह अपने, धातुओंका जो विवेक है उसमें है। चाँदी आगमें जल जाती है और सोना आगमें नहीं जलता, इसीसे चाँदीसे सोनेकी कीमत ज्यादा होती है। तो यह पृथिवी यह एक वसु है—धरा। ध्रुव एक वसु है। ज्यादा दिनका जीवन जो है—अमृत होना, और 'सोम'—आह्लाद देना—दूसरेको सुख मिले। 'अहः'—प्रकाशका देवता, 'अनिल'—प्राण वायुका देवता और 'अनल'—तेजका देवता, 'प्रत्यूष' माने प्रातःकाल और 'प्रभास' माने हृदयमें रोशनी होना। यह जो प्रकाश फैलता है—प्रभास—घरमें दीपक जलता है तब प्रकाश फैलता है। ये सब वसु हैं।

वसु हैं—माने जीवनके लिए आवश्यक सम्पत्ति हैं। आधिभौतिक रूपसे तो मैंने जैसे नाम गिनाया वैसे, और आदिदैविक इनका देवता होता है और आध्यात्मिक भी इनका रूप होता है।

अब इनमें-से किसमें भगवान्का चिन्तन करना, भगवान् तो सबमें हैं। सबमें हैं तो क्या हुआ? सब पत्थरमें भगवान् हैं लेकिन शालिग्राममें उनकी पूजा की जाती है। तो सबसे बड़ी सम्पत्ति क्या है? बोले—पावक। पावक माने अग्नि—अनल। ऐसा समझ लो कि जिसके घरमें आग नहीं है, अग्नि नहीं है, होटलमें ही खा आता है, घरमें रोटी नहीं पकती है। होटलमें रोटी खाना—यह धनीका लक्षण नहीं है, गरीबका लक्षण है। जिस रोटीमें अपनी माँका प्रेम न हो पत्नीका प्रेम न हो, हाथमें-से प्रेम झरता है। रसोइयेकी बनायी रोटीमें और घरमें प्यार करनेवालेकी बनायी रोटी खानेमें बड़ा फर्क होता है। तो अग्नि—आग जिसके घरमें रहे—धन है। बहुत बड़ी सम्पत्ति है। वह तो देखो पशुके घरमें आग नहीं होती। देखो कोई पशु आग नहीं जलाते, कोई पक्षी आग नहीं जलाते। मनुष्यकी सम्पत्ति तो अग्नि है। रोटी बनानेकी आग, हवन करनेकी आग। अग्निकी उपासना, पहले हमारे यहाँ अग्निहोत्र करते थे।

आज देखो थोड़ी छोटी-छोटी बात आपको सुनाते हैं। हम अपने गाँवकी, घरकी बात सुनाते हैं। हम लोगोंके घरके दरवाजेपर कभी कोई बर्तन पड़ा होता, तो कुत्ते आकर मुँह लगा देते, खाने लगते बर्तनमें, तो अगर मिट्टीका बना हुआ बर्तन होता या काँचका होता, तब तो वह फेंक दिया जाता, हमारे घरमें कोई सोना-चाँदीका बर्तन व्यवहारमें नहीं आता था। या तो पीतल होवे या कांसा होवे, यही दो बर्तन बहुत करके याद आ रहे हैं। तो अगर कुत्ते मुँह डाल जाते तो हमारे पितामह कहते थे कि इनको आगमें डालो। तो आगमें डालनेसे अग्निदेवता उसको शुद्ध कर देते।

तो पावक कहते हैं पवित्र करनेवालेको। धर्मकी दृष्टिसे भी पात्रमें जहाँ अपवित्रता आयी वहाँ अग्नि देवताने शुद्ध किया।

अब देखो बड़े हुए तो डाक्टर आये इन्जेक्शन लगानेको, अरे तो क्या किया महाराज, अब ऐसी जगह इन्जेक्शन लगवाना था जहाँ सुईको उबालनेकी सुविधा नहीं थी। तो उन्होंने रुईमें थोड़ा-सा स्पिरिट डाला, दिया सलाई घिसकर लगायी और अपनी सुईको उसपर सेंक लिया।

ऐसा हमने कई बार देखा, बद्रीनाथकी यात्रामें देखा, इन्जेक्शन लगाया,

हमने कहा—हम ऐसे नहीं लगवावेंगे, तो स्प्रिट लैंप जलाया, सुई गरमकी और इन्जेक्शन लगा दिया।

तो आपको सुनाया अग्निसे सुई शुद्ध हो गयी। पावक देखो, घरकी गन्दगीको भी दूर करे और जंगलमें हों और डर हो तो आग जलाकर बैठ जाओ, भालू आपपर आक्रमण करे और दियासलाईकी एक तीली जला दो तो वह भाग जायेगा। यह देखो स्थूल अग्निकी यह महिमा है, सूक्ष्म अग्निकी बात भी आपको बताते हैं।

अच्छा देखो, बिजलीके रूपमें भी तो अग्नि है न, जो आपके घरमें जलती है, अगर रोशनी न हो तो? सूर्यके रूपमें भी अग्नि है। अशुद्धिको दूर करनेवाली अग्नि। कच्चेको पक्का बनानेवाली अग्नि। अन्धकारको दूर करनेवाली अग्नि। हमारे नेत्रको ज्योति देनेवाली अग्नि। अनुसन्धान करो। माने यह ईश्वरका रूप है। इसमें ईश्वरको देखो, रोटी पकाकर देनेवाली आगमें भी ईश्वर है। सूर्यके रूपमें चमकनेवाले रूपमें भी ईश्वर है। और आँखको जो रोशनी देती है, घरमें बिजली जलती है उसमें भी और आपके घरमें जो सोना है उसको आकड़ा अग्नि बोलते हैं। खानमें जो आग निकलती है उसको आंकड़ाग्नि कहते हैं। आकाशमें जो अग्नि निकलती है उसको विद्युताग्नि, द्युत्याग्नि बोलते हैं और जो लकड़ीसे बनती है आग उसको भौमाग्नि बोलते हैं। पेटमें अब पचानेवाली जठराग्नि है। अब ईश्वरका अनुसन्धान करो। सूर्यमें ईश्वर, प्रज्वलित होनेवाली अग्निमें ईश्वर, स्वर्णमें ईश्वर और पेटमें ईश्वर—यह पावक है।

अहं वैश्वानरो भूत्वा प्राणिनां देहमाश्रितः।
प्राणापानसमायुक्तः पचाम्यन्नं चतुर्विधम्॥ 15.14

देखो यह संन्यासियोंमें प्रथा है कि भोजन करनेसे पहले पन्द्रहवें अध्यायका पाठ करते हैं। खोज करके देखो कि पन्द्रहवें अध्यायमें ऐसी क्या चीज है कि भोजनके साथ इसका सम्बन्ध जोड़ दिया, बस यही श्लोक है एक। वहाँ भगवान् कहते हैं कि पचाता मैं हूँ। माने हम जो खाते हैं, तो यह नहीं समझना कि हम अपने मुँहमें डालते हैं, पेटके भीतर बैठे भगवान्के मुँहमें डालते हैं। जो चीज भगवान्के मुँहमें डालने लायक न हो, अपने मुँहमें नहीं डालना। जिसके बारेमें तुम्हें ग्लानि हो, गन्दगी मालूम पड़ती हो—यह तो भगवान्के भोग लगाने लायक नहीं है, वो चीज अपने मुँहमें नहीं डालना चाहिए। क्योंकि अपने भीतर बैठकर खानेवाले वही हैं। अच्छा तो यह बात भी हम बम्बईवालोंके लिए इसमें छूट दे देते हैं। इसमें आपलोग अपनी तारीफ ही समझना। अब आगे बात करते हैं।

बाहरमें देखो सारे व्यवहारमें अग्नि है। बिना गर्मीके कोई व्यवहार सिद्ध नहीं होता। बिना गर्मीके अन्नमें अंकुर भी उदय नहीं होता। बिना अग्निके मोटर भी नहीं चलती, रेलगाड़ी भी नहीं चलती, वायुयान भी नहीं चलता। अच्छा, बिना अग्निके हम बोल नहीं सकते।

आप देखो अग्निका एक रूप, वाक्की अधिष्ठातृ देवता कौन हैं? जीभमें दो चीज है, दो इन्द्रियाँ हैं जीभके भीतर, एक स्वाद लेनेवाली वरुणदेवताक रसना, और एक बोलनेवाली अग्निदेवताका वाक्। तो कहते हैं जब पहले मनमें बोलनेकी इच्छा होती है, तो वस्तुकी कल्पना होती है। तो बुद्धि मनको हुकुम देती है कि तुम अपनी बात जाहिर करो, तो मन शरीरकी आगको चोट पहुँचाता है, गर्मीको प्रकट करता है—

मनः कायाग्नि माहन्ति तत्प्रेरयति मारुतम्।
मारुतस्तूरसि चरन् मन्द्रं जनयति स्वरम्॥

हम बोलते कैसे हैं? कि मन शरीरकी आगको धधकाता है, उससे प्राणवायुमें गति आती है और वह प्राण जीभको हिलाता है तब आवाज निकलती है। आजकल विज्ञानसे भी यह मानते हैं कि जो हमलोग भोजन करते हैं, उससे एक प्रकारकी गर्मी पैदा होती है और वह गर्मी आकर जीभके मूलमें केन्द्रित होती है और उस गर्मीसे ही हमारी वाणी निकलती है। तो वाक्की अधिष्ठातृ देवता वास्तवमें अग्नि है।

अब अग्निका चिन्तन करना। थोड़ा दुनियाको शरीरमें एक प्रकारकी ऊष्मा है—गर्मी। यह जो टैम्प्रेचर लेते हैं न थर्मामीटर लगाकर, संस्कृतमें इसका नाम 'घर्ममित्र'—(गर्मीका मापक) है। बोले फिर उससे क्या करते हैं? तापकी गतिको नापते हैं। टैम्प्रेचरमें टेम्प-ताप ही है।

अच्छा वह ताप आपके शरीरमें है तभी आप जिन्दा हैं। अगर ताप न हो तो आप जीवित नहीं रह सकते। तो अग्निमें भगवान्का अनुसन्धान करो। केवल ऊष्माके रूपमें शरीरमें भगवान् हैं। अरे समाधि लगेगी, यह नहीं समझना यह कोई मामूली बात है, समाधि लग जायेगी, अगर आप अपने शरीरमें ऊष्माके रूपमें, ऊष्मा माने गर्मी, उम्मस जिसको बोलते हैं, उष्मद्; पसीना जिससे होता है, उस गर्मीको देखो तुम्हारे शरीरमें व्याप्त है, न उसमें कोई संकल्प है, न उसमें कोई पक्षपात है, न उसमें जन्म-मृत्युका भय है, उसके साथ अपने मनको एक कर दो। अब हनुमत्-शैलीसे कथा सुनाता हूँ।

कथाकी शैली तीन होती है—व्यास-वैयासिक, नारदीय और हनुमदीय। यह महाराष्ट्रमें जो करताल बजाकर करते हैं, नारद शैली उसको बोलते हैं। और, जो पुस्तक रखकर सामने, बोलते हैं एक विषयपर-प्रसंगपर, बिलकुल प्रसंग मिलाकर बोलना यह व्यास शैली है और हनुमत् शैली है कभी इस किनारे, कभी उस किनारे, कभी पेड़पर कभी डालीपर। आज जो मैं बोल रहा हूँ वह हनुमत् शैली है। हनुमानजी बड़े भारी वक्ता हैं। सनत्कुमारादि उनके श्रोता हैं। मुक्तिकोपनिषद् सारी हनुमानजीने बतायी है सनत्कुमारको। तो हनुमानजी वक्ता हैं और उसमें संगतिकी जरूरत नहीं रहती।

अब देखो **वसूनां पावकश्चास्मि।**

तो रोटी बनानेवाली आग दूसरी और हवन करनेवाली आग दूसरी। जिस-पर रोटी बनती है उसका नाम गृह्यागिन है और जिसपर होम करते हैं उसका नाम दक्षिणाग्नि है—आह्वनीय-अग्नि। और जिसपर आदमीकी लाश जलाते हैं वह चित्यागिन है—चितागिन। गृह्यागिन, आह्वनीयागिन और चितागिन—ये तीनों पावक हैं।

अन्नमें, पानीमें कोई दोष हो तो आगपर चढ़ा दो तो गृह्यागिन उसका पावक है माने पवित्र करनेवाली है। तुम्हारे जीवनमें कोई पाप हो, ताप हो—हवन करो तो आह्वनीय अग्नि अन्तःकरणको शुद्ध करके स्वर्गमें जानेके योग्य बनावे, नरकको मिटावे। और, चित्यागिन जो है वह तुम्हारे मुर्देमें जो गन्दगी होती है, उसको जला देती है, नहीं तो मुर्दा सड़कर सारी सृष्टिको गन्दा कर दे। ये तीनों 'पावक' हैं। गृह्यागिन भी पावक है, आह्वनीयागिन भी पावक है, दक्षिणागिन भी पावक है, चित्यागिन भी पावक है।

फिर इष्टियोंके भेदसे भी अग्निके भेद होते हैं। प्राजापत्यागिन, विवाहमें जिस अग्निका प्रयोग करते हैं। बड़ी विचित्र-विचित्र कथा है, तो उसको छोड़ो, वह भी अन्तःकरणको शुद्ध करके परमेश्वरके पास पहुँचानेवाली है। अब इसके आगे देखो शरीरमें जो उष्मा है। इसके आगे प्राणागिन है। जो लोग **अहं वैश्वानरो भूत्वा प्राणिनां देहमाश्रितः**—इसका ध्यान करके भोजन करते हैं उनको भोजनगत जो दोष होता है उनको दोषसे मुक्ति हो गयी, क्योंकि उन्होंने भगवान्‌के अर्पण कर दिया, मैं भोक्ता नहीं, भोक्ता भगवान्। वह तो भक्तकी बात हुई।

ये वेदान्ती कहते हैं कि यह भगवान् भी प्राणरूप ही हैं—**प्राणो ब्रह्म इत्युपासीत**—प्राणागिन है भीतर हमारे शरीरमें। तो जब भोजन करते हैं तो पञ्चाहुति देते हैं यह हमको बचपनमें जब हमारे बाबा भोजन करते थे, तो बोलते—**ॐ**

प्राणाय स्वाहा। ॐ अपानाय स्वाहा। ॐ व्यानाय स्वाहा। ॐ उदानाय स्वाहा। ॐ समानाय स्वाहा। पाँच आहुति भोजन करते। इसका अर्थ क्या होता है? कि **अहं भोक्ता न भवामि प्राण एव भोक्तारः।** मैं भोक्ता नहीं हूँ। भोक्ता तो ये प्राण हैं। यह कोयला मेरे अन्दर नहीं डाला जाता धमन भट्टीमें डाला जाता है। जैसे कपड़ा बनता है तो आगसे बनता है न, तो कोई कहे उसमें कोयलेका प्रयोग होता है। कोयलेका प्रयोग होगा तो कपड़ा काला हो जायेगा। बोले—कोयला कपड़ेमें नहीं डाला जाता,कोयला भट्टीमें डाला जाता है। कोयला दाल-भातमें नहीं डाला जाता कोयला चूल्हेमें डाला जाता है। तो यह जो भोजन है, उसका खानेवाला मैं नहीं हूँ। उसके खानेवाले ये प्राण हैं, प्राण खाते हैं इनसे शक्ति आती है।

अब यह अनुसन्धान करो कि ये प्राण पावक हैं—अग्नि है। ये क्या करते हैं कि जैसे धुँआ निकलता है, प्राणमें-से धुँआ निकलता है, यह शरीरमें जैसी ऊष्माग्नि है—गर्मी है उसका धुँआ निकला। क्या निकला? ये जो बाल है, शरीरकी गर्मीके धूम-धुँए हैं, पेटमें पचानेवाली अग्नि है, उसकी राख क्या है? जो विष्ठा-मूत्र निकलता है। और जो उससे रस बनता है, वह शरीरमें काम करता है।

अग्निका अनुसन्धान करो माने इसमें परमात्मा है। यह प्राणाग्नि जो भीतर गन्दगी होती है, उसको सांसके द्वारा फूँक देती है। आगको जलनेके लिए भी हवा चाहिए और धुँआ फेंकनेके लिए भी हवा चाहिए। तो यह जो हमारे शरीरमें गन्दगी है उसको फेंकना और बाहरसे शुद्ध वायु लेना और उसके द्वारा क्रियाशक्तिका शरीरमें निर्माण होना—यह भगवान् कर रहे हैं। यह पावक है। अगर सांस न चले तो नस-नाड़ियोंमें खून नहीं चलेगा। बाल नहीं बढ़ते हैं। जब श्वांस रोध कर लिया जाता है समाधिके द्वारा। विष्ठा-मूत्र नहीं निकलता, क्योंकि अग्नि वहाँ शान्त है। निरिन्धन हो जाता है—ईन्धन रहित अग्नि हो जाता है।

एक हानिकारक अग्नि है, एक लाभकारी अग्नि है। घरमें आग लग जाये तो? यह हानि पहुँचायेगी, करेन्ट लग जाये बिजलीका तो अग्निने हानि पहुँचा दी। तो यह कामाग्नि, क्रोधाग्नि—ये सब शरीरके भीतर हैं, हानिकारक हैं।

तो अग्नि हानिकारक नहीं है, अग्निका जब गलत उपयोग होता है, तब हानिकारक है। जब बिजलीका तार खराब हो जाता है, तब! हमारी असावधानीसे नंगे तार छू जाते हैं तब आग लग जाती है। तो जो यह कामाग्नि और क्रोधाग्नि है, इसमें अग्नि हानिकारक नहीं है, उसमें कामकी जो उपाधि है, क्रोधकी जो उपाधि है, वह हानिकारक है। वहाँ परमात्माका चिन्तन करना होगा तो कैसे

करेंगे? काम और क्रोधको हटाकर, बल्कि धर्मविरुद्ध काम और धर्मविरुद्ध क्रोधमें भी ईश्वरका चिन्तन करो और क्रोध-कामकी उपाधिको हटाकरके भी परमात्माका चिन्तन करो।

एक प्रेमाग्नि होती है। प्रेमकी आग बड़ी प्रबल है। छटपटाते हैं, जिनके हृदयमें यह आग जल जाती है, उनको चैन नहीं। जैसे अपनी दाढ़ी कोई नोचे। आग लग जाये तो अपनी दाढ़ी नोचकर फेंकने लगते हैं, ऐसे यह प्रेमियोंके कलेजेमें जब आग लगती है, प्रेमकी, तो ये अपनी दाढ़ी नोचकर फेंकने लगते हैं।

अब देखो प्रेमकी बात सुनाते हैं। प्रेमाग्निका यह स्वरूप है कि वह प्रेमको छोड़कर, माने जैसे आगमें कोई चीज डाल दे, तो वह अपने सिवाय और सबको भस्मकर देती है, वैसे यह प्रेमाग्नि एक ईश्वरको उधरकरके और सब भस्म कर देती है। इसलिए यह 'पावक' नाम किसका है आपको याद दिला देते हैं।

वसुश्रेष्ठ द्रोण थे और धरा उनकी पत्नी थी। द्रोण माने अन्न और धरा माने धरती, इन दोनोंसे कृषक-कृष्ण, यह गोप जाति है न, 'कृषिगोरक्ष्य वाणिज्यं वैश्य कर्म स्वभाजम्' यह कृषि तो इनका कर्म ही था। तो उसमें कृषक-कृष्ण।

कल मैं पढ़ रहा था, तो कोई मन्त्र ढूँढना था वेदमें, तो एकाएक मन्त्र आया—**सीते वन्दामहे त्वा**। हे सीते तुम हमारी वन्दना करते हैं। तो यह सीतारामका वर्णन नहीं है, वह हल जो चलता है खेतमें, हलका जो फाल है जो लोहेका लगा रहता है धरतीमें घुस जाय उसको सीता बोलते हैं। संस्कृतमें उसके लिए 'सीता' शब्द है।

सीते वन्दामहे त्वा। कि हे हलमें लगे फाल हम सब तुम्हारी वन्दना करते हैं।

अयोध्याजीमें एक रामायणी हैं तो उन्होंने 'वेदमें सीता' ग्रन्थ लिखा, तो उसमें जहाँ-जहाँ हलके फालके लिए ऋग्वेदमें 'सीता' आया है—'तुम हमारे लिए सुखदा हो, तुम हमारे लिए सर्वदा हो, हे सीते, हम तुम्हारी वन्दना करते हैं' संकल्प होता है। वह उल्लेख उन्होंने सीताके लिए कर दिया।

तो आठ वसुओंमें-से पावक नामके जो वसु हैं उन्हींका नाम किसी कल्पमें द्रोण है और वह नन्दबाबाके रूपमें प्रकट हुए थे। उनके हृदयमें प्रेमाग्नि है। ब्रह्माजीने पूछा—बेटा, क्या चाहते हो? कहा कि महाराज हम तो आपकी आज्ञाका पालन करना चाहते हैं। कि बड़े अच्छे बेटे हो।

सबसे अच्छा बेटा कौन? कि जो माँ-बापकी आज्ञा मानना चाहे।

'तुम्हें कुछ चाहिए?'

बोले—हाँ महाराज चाहिए। क्या चाहिए? कि जब हम मर्त्यलोकमें प्रकट हों तो साक्षात् परमेश्वरकी भक्ति मिले। साक्षात् परमेश्वरकी भक्ति कैसे मिलेगी?

तो ब्रह्माजीने कहा—जाओ, ब्रह्म तुम्हारा बेटा हो जाये। तो कृष्ण हुए। यह प्रेमाग्नि है।

देखो संसारमें जो अर्थी है वह चाहता है कि अर्थ बढ़े और जो भोगी है वह चाहता है कि भोग बढ़े, जो धर्मी हैं वह चाहते हैं कि धर्म बढ़े, पर जो भक्त है, वह यह नहीं चाहता कि हमारे प्रियतम बढ़ें, अन्यत्व है इसमें। क्या? कि जिसको प्रेमाग्नि ज़गती है वह यह नहीं चाहेगा कि हमारे आठ-दस प्रियतम हो जावें, हृदयमें प्रेम बढ़ा तो बोले कि भाई एक प्रियतमसे काम नहीं चलता, पाँच-दस और प्रियतम बढ़ा लें। तो प्रेममें अग्निपना क्या है? कि एकके सिवाय जो दूसरे होते हैं, उनको वह भस्म करता है। समझो संसारमें कोई सौ वस्तुओं और व्यक्तियों-से प्रेम करता है अब उसके हृदयमें प्रेमकी थोड़ी-सी आग डाल दो, तो जब प्रेमकी आग पड़ेगी तो उसमें-से निन्यानबे जल जायेंगे और एक रह जायेगा। अब यह देखो अनलने क्या किया? यह है पावक। **वसूनां पावकश्चास्मि**। सबसे बड़ी सम्पत्ति तुम्हारे पास वह है, जो तुम्हारे दिलमें कूड़ा-करकट भर गया है, उसको जलाकर भस्मकर दे, साफ कर दे और तुम्हारे हृदयमें प्रियतम आ जाये। देखो न, इस अग्निमें ईश्वरका अनुसन्धान करो। श्रीमद्भागवत्में, अभी तो जो हम बात कहना चाहते हैं, वहाँ पहुँचे नहीं हैं। श्रीमद्भागवतमें यह प्रसंग आया है कि भगवान्‌का ध्यान करें। तो बोले—अपना है हृदय। तो हृदयमें एक पोल है, जैसे हमारे दोनों हाथके बीचमें पोल है न, यह कैसी है? यह शिवलिंग है, इसका ध्यान किया जाता है। ऐसे भी ध्यान करनेकी पद्धति है। यह दोनोंके बीच जो आकाश है—चिदंबरम् है यह। इसका नाम चिदंबरम् है। चिदंबरम्‌में क्या है? एक माला है। मालाके भीतर ज़ो अवकाश है उसको चिदंबर क्यों बोलते हैं? पाँच लिंग शंकरजीके हैं, पृथिवी लिंग कांजीवरम्‌में है, आंपोलिंग त्रिचनापल्लीमें है, श्रीरङ्गममें। अग्निलिंग त्रिवनमलईमें है, वायुलिंग कालहेतीश्वरमें है। आकाशलिंग चिदम्बरम्‌में है।

तो यह जो हमारा हृदय है यह चामके भीतर हड्डीके भीतर, मांसपेशियोंके भीतर एक अवकाशात्मक स्थान है उसको चित्ताकाश-हृदयाकाश बोलते हैं। उस हृदयाकाशमें पहले सूर्य है। सूर्यके भीतर चन्द्रमा है, चन्द्रमाके भीतर अग्नि है, चैतन्य अग्नि है और,

अग्निमध्ये स्मरेद् रूपं ममैतद् ध्यानमङ्गलम्।

श्रीमद्‌भागवतमें आया है सूर्यने अन्धकारको दूर कर दिया। तो पहले अन्धेरा मिटाओ, फिर अज्ञानको मिटाओ, इसके बाद चन्द्रमाने दु:ख मिटा दिया, आह्लाद दे दिया—शीतल कर दिया। अब उसके बाद वह्निने कर्मका जो मल है—उसको भस्म कर दिया और अग्निके बीचमें कौन रहता है? कि स्वयं भगवान्। ध्यान करनेकी रीति बतायी। अरे राम राम राम! यह अग्निमें? वृन्दावनका भगत तो महाराज, काँप गया कि अग्निमें भगवान्‌का ध्यान। कहीं आगकी कोई चिनगारी पड़ जाये हमारे कोमल भगवान्‌पर!

तब इसको फिर बदलना पड़ता है, आध्यात्मिक करना पड़ता है, कैसे? कि आँखसे ध्यान करना—यह सबसे बाहरी चीज हुई। यह सूर्यका ध्यान है। दृष्टिका जो ध्यान है यह सूर्यका ध्यान है और मनसे जो कल्पना है, ईश्वरकी कोई अपने मनसे कल्पना कर ली—यह चन्द्रमाका ध्यान है और सबका अनुशासी जो ध्यान है, वाकका जो ध्यान है, माने शास्त्रोक्त शब्दका उच्चारण करके—नारायण-नारायण-कृष्ण-कृष्ण, यह शब्दानुवेधी ध्यान है। यह ध्यान, क्योंकि साईंससे यह ध्यान निकलता नहीं है, यन्त्रसे तो ध्यान निकलता नहीं है, विज्ञानसे तो ध्यान निकलता नहीं है, यह गुरुके उपदेशसे-शास्त्रके उपदेशसे-शब्दसे; जब शब्दकी आवृत्ति करते हैं तब उससे ध्यान निकलता है। यह वाक् अग्नि देवता है। यह सबके पास है। भगवान्‌के पास सूर्य नहीं है, भगवान्‌के पास मन भी नहीं है, भगवान्‌के पास आँख भी नहीं है।

न तत्र वाक् गच्छति न मनो गच्छति न तत्र चक्षुर्गच्छति

वहाँ आँख नहीं जाती, मन नहीं जाता, बोले—वाक्‌के पास चलो। बोले—तब वाक् ही ध्यान है? कि नहीं उससे भी परे है—

न तत्र वाक् गच्छति।

तो शब्दानुशासी अग्नि जिसकी देवता है, उस वाणीके द्वारा शब्दका उच्चारण करो—कृष्ण, कृष्ण पीताम्बरधारी, मुरली मनोहर, श्यामसुन्दर, शंखचक्र गदाधारी, नारायण, ॐ ॐ ॐ, सोहम् सोहम्, शिवोऽहं, शिवोऽहं, यह वाक्‌का सहयोग लेकर ध्यान करो तो बोले—**वाणी मध्ये स्मरेद् रूपं** हृदयाकाशमें सूर्य, सूर्यमें चन्द्रमा, चन्द्रमामें अग्नि और अग्निमें जो शब्दका उच्चारण हो रहा है उसमें परब्रह्म परमात्मा ध्यानकी पद्धति हो गयी यह।

यह हृदयमें जो ध्यान हुआ, यह ऐश्वर्यका ध्यान है। भक्तका ध्यान हुआ।

प्रेमाग्निमें माधुर्यभावका ध्यान और यह जो सूर्य, चन्द्रमा अग्निके भीतर ध्यान है, यह ऐश्वर्य-भावका ध्यान है।

अब योगियोंका एक ध्यान सुनाता हूँ। योगी लोग अग्निका स्थान शरीरमें मानते हैं नाभिचक्रको। पृथिवीका स्थान मूलाधार और जलका स्थान स्वाधिष्ठान, अग्निका स्थान मणिपूरक, मणिपूरक चक्र नाभिमें होता है। तो वहाँ एक त्रिकोण है। यह षट्कोण युगलके सामरस्यका बोधक है। बिलकुल मिलितरूपमें जहाँ जुगल होते हैं, उसको षट्कोण बताता है। दो आदमी अगर एकदम सटकर बैठ जायँ तो अपने आप चक्र बनता है। देखो हम अभी बैठे हैं तो त्रिकोण बना हुआ है—एक घुटना एक कोण है दूसरा घुटना दूसरा कोण है और कमर तीसरा कोण है। त्रिकोण बनाकर हम बैठे हुए हैं, और अब दो आदमी बिल्कुल परस्पर स्त्री-पुरुष मिलकर बैठेंगे, तब उससे बनेगा षट्कोण। तो शक्ति और शिवका जो मिलित दम्पती रूप है, अथवा राधा-कृष्णका जो मिलित दम्पती रूप है, अथवा लक्ष्मीनारायणका जो मिलित दम्पती रूप है, वह षट्कोणके द्वारा सूचित होता है। वह शक्ति और शक्तिमानके अभेदका-सामरस्यका बोधक होता है।

यह मत समझना कि जो लोग अपने दरवाजेपर या घरमें या किताबमें षट्कोण बना लेते हैं वे इसको समझते हैं। यह नहीं है कि षट्कोण बना लिया; वैष्णव लोग मुख्य करके षट्कोण बनाते हैं, कुंडलिनी शक्ति वाले भी षट्कोण बनाते हैं और फ्रीमैंसनका तो चिन्ह ही है षट्कोण। थियोसोफिकल सोसाईटीके अन्तर्गत जो फ्रीमैंसन है, षट्कोण उसका चिन्ह ही है।

अरे रामकृष्ण मिशनमें भी जो कुंडलिनीशक्तिसे परिवेष्ठित है, वह षट्कोण ही है। ये तान्त्रिक इशारे हैं। जो जाननेवाले हैं वे देखते ही समझ जाते हैं, एक-एक बात इनकी बता सकते हैं कि ये किस मन्त्रका जप करते हैं, ये क्या ध्यान करते हैं, इनका आचार क्या है, इनका सम्प्रदाय क्या है, सारी बात मालूम हो जाती है।

यह जो नाभिचक्र है, यह त्रिकोण है। त्रिकोण नाभिचक्र चिन्मय है और उसमें अग्नि है। अग्नि-मण्डल है। उसमें चिन्मय अग्नि प्रज्वलित हो रही है और होम कर रहे हैं व्यास।

ॐ अविद्यां जुहोमि स्वाहा। ॐ अस्मितां जुहोमि स्वाहा। ॐ रागं जुहोमि स्वाहा। ॐ द्वेषं जुहोमि स्वाहा। ॐ अभिनिवेशं जुहोमि स्वाहा।

जुहोमि माने हवन करता हूँ। ये पाँच प्रकारके जो क्लेश हैं, उनका मैं

हवन करता हूँ। शंकराचार्य भगवान्ने अट्ठाईस आहुति लिखी हैं त्रिकोणमें हवन करनेके लिए।

यह तो प्रसंगवश याद आ गयी बात। यह अग्निकी एक यौगिक उपासना है। एक योगाग्नि होती है। जैसे धर्माग्नि नरक और पापको भस्म करके स्वर्ग देती है, योगाग्नि चित्तकी चंचलताको भस्म करती है और प्रेमाग्नि अपने परमेश्वरसे अन्यत्र रागको नहीं जाने देती, मोहको मिटा देती है, मोहको भस्म करती है। एक ज्ञानाग्नि है!

ज्ञानाग्निः सर्वकर्माणि भस्मसात्कुरुते तथा। 4.37

यह ज्ञानाग्नि अज्ञानको भस्म करती है। तो देखो प्रीतिकी स्थिति हुई, लौकिक अग्नि जो है उनकी तो बाह्य स्थिति है और शरीरके अन्दर भी आधिभौतिक अग्नि है जो ऊष्माके रूपमें-गर्मीमें रहती है। जठराग्नि भी भौतिक अग्नि है। यह शरीरमें बीमारीमें थर्मामीटरसे देखी जाती है, लेकिन जो प्राणाग्नि है वह स्थूल आध्यात्मिक है और जो प्रेमाग्नि है वह सूक्ष्म आध्यात्मिक है। और ज्ञानाग्नि अत्यन्त सूक्ष्म आध्यात्मिक अग्नि है। क्योंकि वह परमार्थ आत्मतत्त्वके सिवाय, प्रत्यक् चैतन्य ब्रह्म तत्त्वके सिवाय, ब्रह्माभिन्न प्रत्यक् चैतन्यतत्त्वके सिवाय और सबको जला देनेवाली होती है। वह द्वैतको रखती ही नहीं। उसका ईंधन है अज्ञान, वह ज्ञानाग्नि अज्ञानको भस्म करती है। ज्ञानाग्निका बाह्य अज्ञान है और अज्ञानसे ही ऐसा मालूम पड़ता है कि सत्तामें आकृतियाँ पैदा हो गयी हैं अखण्ड सत्त्वमें आकृति कहाँ? वह तो अज्ञानसे मालूम पड़ता है। देशकी वृत्तियाँ, कालकी वृत्तियाँ, वस्तुकी वृत्तियाँ, मैं वृत्तियाँ, तुम वृत्तियाँ, यह वृत्तियाँ, वह वृत्तियाँ। एक अखण्ड चैतन्यमें ये वृत्तियाँ उत्पन्न हो गयी हैं—यह अज्ञानसे ही मालूम होता है। और यह जो मालूम पड़ता है कि कानकी खुजली मिटानेमें आनन्द है, आँखकी खुजली मिटानेमें आनन्द है। अरे आनन्द अपनेमें होता है। बोले—नाकमें खुजली-खूब इत्र लगाओ, फूल सूँघो, तब आनन्द होगा। जीभकी खुजली मिटाओ, बिना चटनी लगाये जीभपर, एकबार खीर डालते हैं मुँहमें, तो दो-चार कौर डालनेपर बोर होने लगते हैं, तो चटनी लगाकर आनन्दको तेज करते हैं। सीताराम यह बिलकुल दाद है, जैसे त्वचामें दाद होती है, वैसे यह जीभकी दाद है, कानकी दाद है, नाककी दाद है, जिसको हम खुजला-खुजलाकर मिटाना चाहते हैं। अरे कभी फक्कड़ोंकी बात सुनो। यह दाद है। जैसे दाद खुजलानेमें मजा आता है, दाद बढ़ती है उससे, मिटती नहीं है, वैसे ही यह

इन्द्रियोंकी खाज मिटानेमें **विवर्धन्ते भोगमनुरागाः।** जितना-जितना भोग करोगे उतना-उतना विषय-भोगका राग और बढ़ता जायेगा। और, उतना-उतना ही दूसरोंको सताओगे। **नानुपहत्य भूतानि भोगः संभवति।** लोगोंको दुःख पहुँचाये बिना बड़ा भोग नहीं किया जा सकता।

एक दिन किसीके घर गया था तो भाभी और ननदमें लड़ाई हो रही थी, मेरे सामने। भाभी साड़ी खरीदकर ले आयी थी—दो-चार-दस। ननद शिकायत कर रही थी कि भाभी व्यर्थमें साड़ी खरीदकर ले आयी हैं। भाभी बोली—ननदजी, तुम्हारे पास कितनी साड़ी है, बताओ भला। बोली कोई पाँच सौ होंगी। भाभी बोली—मैं तो अभी दस ले आयी, तब भी मेरे पास साढ़े तीन सौ होंगी, मेरे पास ज्यादा कहाँ है?

महाराज, लोग स्त्रियोंकी मनोवृत्तिके बारेमें जान नहीं सकते। एक घरमें देखा सौ जोड़े जूते रखे थे, जब बाहर निकलते हैं सेठजी, तब नया जूता पहनकर निकलते हैं। मैंने पूछा—यह क्या है? कोई दुकान-उकान है क्या? करोड़पति सेठके घरमें जूतेकी दुकान कैसे हो सकती है? तो जितना-जितना भोग करोगे, भोगकी वासना बढ़ेगी, जितना-जितना संग्रह करोगे, उतना-उतना संग्रहकी वासना बढ़ेगी।

देखो, यह आनन्दमें भोगके विषयकी अनेकता, भोगके स्वादकी अनेकता, भोगकी लालसाकी अनेकता यह आनन्दके स्वरूपके अज्ञानसे है। जो आनन्दके स्वरूपको जानता है, वह जानता है कि आनन्द बाहरकी चीजोंमें नहीं है, यह तो भीतरकी चीजोंमें है। एक कहानी आपको सुना देते हैं।

प्रसिद्ध है कि दिल्लीमें एक बादशाह था, जरा उसका चरित्र अच्छा नहीं था। उसने सुना कि हमारे दीवानकी लड़की बड़ी सुन्दर। तो दीवानको भेज दिया बाहर और लड़कीके पास खबर भेज दी कि तुम हमारे पास आओ। ऐतिहासिक कथा है भला। तो लड़कीने कहा कि हमारे पिताजी तो बाहर चले ही गये हैं और आपका प्रेम हमसे बहुत ज्यादा है तो आप ही आजाइये। अब महाराज बादशाह तो कामाग्निसे पीड़ित थे, बुझानेके लिए पहुँचे वहाँ। जब वहाँ पहुँचे तो उसने उनके सामने थालमें रूमालसे ढँककर कोई वस्तु भोजनके लिए रखी, तो कोई लाल थी, कोई पीली थी, कोई नीली थी, कोई हरी थी। तो बादशाह ने कहा—ओहो बड़ा प्रेम है इसका तरह-तरहकी चीज बनायी है इसने। उन्होंने लाल उठाकर मुँहको जो लगाया, सो तो नींबू था, लाल रंग

ऊपरसे डाला हुआ था। अलग कर दिया, फिर पीला लगाया तो वह भी नींबू था. रंग पीला और नींबू। हरा लगाया, रंग हरा और था नींबू। बादशाह ने कहा यह क्या वाहियात काम है? तो बोली—ऐसा ही है संसारमें महाराज, रंग ही ऊपरके अच्छे हैं, स्वाद सबमें एक है, काहेको अपना चरित्र बिगाड़ते हो भला। लड़कीने बेधड़क कह दिया—हमको चाहे मार डालो, लेकिन इस कुमार्गमें क्यों ले जाना चाहते हो? तुमको कौन-सी तृप्ति मिलेगी।

अब देखो ये जो भिन्न-भिन्न प्रकारके आकार दिखायी पड़ रहे हैं, रंग ही रूप हैं भला! आनन्द बाहरकी वस्तुमें नहीं पैदा होता, भीतर फुरफुराता है। और वृत्तियाँ जो हैं, वह अनेक नहीं होतीं, एक ही चेतन हैं। और ये आकृतियाँ भी अनेक नहीं होतीं, एक ही चेतन हैं। देश, काल और वस्तुका भेद भासनेपर भी मूलत: अखण्ड अनन्त आत्मचैतन्य एक है। देह अलग-अलग होनेपर भी, जाति अलग-अलग होनेपर भी पशु, पक्षी आदि जाति, आकृति आदि अलग-अलग होनेपर भी परमात्मा एक है। तो ज्ञानाग्नि क्या है? इसी अद्वितीय आत्मतत्त्वका ज्ञान जब होता है, तब यह ज्ञानकी आग अनेकताके संस्कार सहित, भोगकी अनेकता, विषयकी अनेकता, वृत्तिकी अनेकता, अनेकता सहित सम्पूर्ण प्रपंचके संस्कार सहित अज्ञानको यह ज्ञानाग्नि भस्म कर देती है।

तो जो अग्निकी उपासना करेगा **वसूनां**, सबसे बड़ा धन कौन हुआ? वह परमात्मा। अब देखो ज्ञान धन हुआ, धर्म धन हुआ; धर्म धन है, प्रेम धन है, योग धन है, घरमें अग्नि जो है वह धन है और शरीरमें जो अग्नि है वह भी धन है उसके बिना तो मुर्दा। **वसूनां**—संसारमें जितने धन हैं जितने वसू हैं, जितनी कीमती चीजें हैं उनमें अग्नि सबसे कीमती वस्तु है। और इसका यदि अनुसन्धान प्रारम्भ करो तो अन्तमें कौन मिलेगा? अन्तमें परमात्माकी प्राप्ति होगी, जिसके होनेसे प्रेम-प्रेम है, जिसके होनेसे ज्ञान ज्ञान है, जिसके होनेसे योग योग है, वह परमात्मा है **पावक**।

पावक माने 'पुनाति इति पावक:'—जो सबको पवित्र करे उसका नाम पावक। द्वैतकी गन्धसे द्वैतके रससे, द्वैतके रूपसे, द्वैतके स्पर्शसे, द्वैत शब्दसे, द्वैताकार वृत्तिसे और द्वैतकी भ्रान्तिसे सर्वथा विलक्षण यह अग्निस्वरूप परमात्मा है।

अग्निमें परमात्माका अनुसन्धान करो।

अब कल सुनावेंगे—मेरु: शिखरिणामहम्।

रुद्राणां शंकरश्चास्मि वित्तेशो यक्षरक्षसाम्।
वसूनां पावकश्चास्मि मेरुः शिखरिणामहम्॥ 23॥

अब 'पावक' शब्द जो है यह बड़ा विलक्षण है। इसमें पावक माने होता है जो पवित्र करे, पावन-पावक। यह 'पु' धातु है इससे पुण्य, पवन, पावन, पावक—ये सब शब्द बनते हैं। देखो पार्थका तो पा है—प्रार् और कृष्ण का न है, पावक है न, और दोनोंके बीच यह 'अव' पड़ा हुआ है। पार्थकी रक्षा करनेवाले जो श्रीकृष्ण हैं, पार्थका अवन करनेवाले कृष्ण। इसको कहते हैं पावक। 'पा' माने पार्थ 'अव' माने अवन करनेवाले और 'क' माने कृष्ण। यह पार्थकी रक्षा करनेवाले स्वयं श्रीकृष्ण हैं पावक। हम तेरह-चौदह वर्षके थे तो धर्मशास्त्रकी पुस्तकें पढ़ते थे। क्योंकि जब कोई पूछने आता था हमारे पितामहसे कि हम यह यज्ञ कैसे करें यह होम कैसे करावें, इस व्रतका क्या-क्या विधान है, इस कर्मका प्रायश्चित क्या है, सूतक-पातक कैसे लगता है, सूतक कितने दिनका होता है, लोग पूछते थे तो हम भी उन पुस्तकोंको, जिनसे देखकर वे बताते थे, उनको हम भी पढ़ते थे। और, जब काशी पढ़नेके लिए आया, तब तो हमारे गुरुजीकी धर्मशास्त्रमें बड़ी रुचि थी उन दिनों, और मेरे ऊपर तो उनका इतना स्नेह, इतना विश्वास था कि पुस्तककी पुस्तक बता देते थे कि इसको बाँचकर तुम यह बताओ कि इसमें इस पदार्थका कहाँ-कहाँ वर्णन है? देखो हमको उस समयका यह स्मरण है कि उन्होंने कहा कि 'अध्यात्म रामायण' पूरा बाँचकर यह बताओ कि इसमें रामनामकी महिमा कहाँ-कहाँ लिखी, नोट करो, और राम नाम लेनेका निषेध भी इसमें कहीं है कि नहीं है। लो, हाँ, तो मिल गया। उसमें जब सप्तर्षि वाल्मीकिसे मिलते हैं, तो वह कहते हैं कि यह जन्मसे ब्राह्मण है और कर्मसे किरात और बड़ी हिंसा इसने की है, तो राम-राम उच्चारण करना इसको बतावेंगे तो यह नहीं ले सकेगा। यह प्रसंग मिला। गुरुजी ऐसे खुश हुए हमारे ऊपर, क्या बतावें?

अहं पुरा किरातेषु किरातैः सह वर्धितः।
जन्ममात्रद्विजत्वं मे शूद्राचाररतः सदा॥

वह है—

इत्युक्त्वा राम ते नाम व्यत्यस्ताक्षरपूर्वकम्।
एकाग्रमनसात्रैव मरेति जप सर्वदा॥

वे बोलकर गये कि मरा-मरा जपना, राम-राम नहीं, मरा-मरा जपना।

ट *श्रउलटा नाम जपत जग जाना। बाल्मीकि भये ब्रा समाना।*

बड़े ही खुश हुए कि देखो क्या बढ़िया बात निकालकर हमारे सामने रखी। पुराने ढंगके थे तो उन धर्मशास्त्रके ग्रन्थोंमें एक बात मैं पढ़ता जब कोई पहले चोरी करता, बदमाशी करता और कह देता कि हमने नहीं की है, तो उससे शपथ-विधि करायी जाती, तो अमुक विधि करके, अमुक पूजा-पत्री करके और हाथपर पीपलका पत्ता रखकर आग रखी जाती, जो पवित्र होता तो आग उसका हाथ नहीं जलाती। ऐसा धर्मशास्त्रके ग्रन्थोंमें लिखा हुआ है। उसको 'शपथ-विधि' बोलते हैं। पहले तो यह था कि जो शपथ लेता वह संदिग्ध होता और जिनके सामने शपथ ली जाती वे असंदिग्ध रूपसे पवित्र होते, तब तो शपथ चल जाती। आज तो महाराज जो सौगन्ध दिलानेवाले हैं, वही पवित्र नहीं हैं तो सौगन्ध चले कहाँसे?

यह अग्निदेवता पवित्र करते हैं। अब इसमें देखो एक बात आपको सुनावें कि ये जो अग्निदेवता हैं ये शपथसे भी पवित्र करते हैं। और उपासनासे पवित्र करते हैं। सोना भी अग्निका एक रूप है, उसमें हम मानते हैं कि मरते आदमीके मुँहमें तुलसी, गंगाजल, सोना—पवित्र वस्तुएँ (उसके मुँहमें) डालना।

अच्छा, सोनेकी मूर्ति बनाकर भगवान्‌की आराधना करना—यह भी तो अग्निकी ही आराधना है। यह भी एक पद्धति है।

अच्छा, अग्निमें अग्नि देवताकी आराधना। अग्निदेवता हविष्य लेकर निकलते हैं। अग्निमें जब होम होता है तो जैसे दशरथके यज्ञमें हविष्य लेकर निकले, वे रक्षवर्णा अग्निदेवता। उनकी आराधना।

सूर्यमें नारायण—रूप अग्निकी आराधना, उपास्यदेवमें हम अग्निका चिन्तन करते हैं। कल जो मैंने सुनाया वह साधनके रूपमें अग्निका चिन्तन था। यज्ञाग्नि, प्रेमाग्नि, ज्ञानाग्नि, यह साधन-रूपसे ही अग्निका चिन्तन हुआ। असलमें उपास्य रूपसे अग्निका चिन्तन होना चाहिए।

गोपियाँ कभी-कभी कृष्णको फटकार देती थीं, अरे चलो, हम तो तुमसे प्रेम करके मारे गये, हमको क्या मालूम था कि तुम दिलमें आते हो तब आग लगा देते हो। एक गोपी कहती है—

सखिजन वचो विश्रम्भात् त्वं विलासफलांकिताः।

हमने तुम्हारी तस्वीर देखी, तो सखीकी बातपर विश्वास करके तुम्हारी तस्वीर देखी।

शिव शिव कथं जानीमत्वांधिकधियो वयं।

हम भोली-भाली सीधी-सादी हैं, हम क्या जानें, क्या समझें।

निविड बडवावह्निज्वाला कलापविलासिनम्।

जब तुप हृदयमें आते हो तो तुम पहले दिखते हो तो धुँआ सरीखे और बादमें कलेजेमें आग जलने लगती है। तुम तो दिखते हो धुँआ सरीखे काले-काले और कलेजेमें आग लग जाती है—अग्नि ज्वाला!

तो उपास्यके रूपमें अग्नि देवताका चिन्तन होता है। इसके लिए आपको बताते हैं आप भी ऐसा रोज करते हो। यहाँ बैठते हो न, ईशावास्य-उपनिषद्का पाठ करते हैं, तो क्या कहते हैं उसमें—**अग्ने नये सुपथा राये**। हाँ, बस उतना ही बहुत है, समझदार लोग थोड़ेमें ही समझ जाते हैं। तो उसमें **अग्ने** जो संबोधन है वह किसके लिए है? ईश्वरके लिए है। तो अग्निमें तीन पदार्थ हैं—**ऐति, अनक्ति, नयति**। अग्नि ज्ञान देता है, माने जहाँ आग जलती है वहाँ प्रकाश हो जाता है, तो ज्ञान मिलती है, यह अग्निका एक गुण है। **ऐति गमयति**।-

अनक्ति—और किसी चीजमें कोई चीज मिली हो, जैसे सानेमें ताँबा मिला हो, तो 'अनक्ति'—दोनोंको बिलकुल अलग-अलग कर देती है, विवेक देती है। प्रकाश देती है अग्नि, विवेक देती है अग्नि। और **नयति**—माने एक जगहसे दूसरी जगह पहुँचा देती है। पहुँचाती कैसे है? कि भाप बनकर। जैसे रेलगाड़ी, मोटर गाड़ी चलती है।

ये तीन अर्थ है अग्निके। तो 'अनक्ति'में जो अनक है, उसका विनक्ति होता है, व्यनक् होता है उसका 'ग' है।

एतिका 'अ' है, विनक्तिका 'ग' है और नयतिका 'नि' है—इन तीन धातुओंसे 'अग्नि' शब्द बनता है। याज्ञिक लोग इसको बोलते हैं—**अग्रनीर भवति। अग्रे प्रणीयते। अङ्गं नयति**। अग्निके लिए ऐसे-ऐसे शब्द आते हैं। निरुक्तकार कहते हैं यह 'अग्रणी' है, आगे-आगे चलनेवाली चीज है। यज्ञ करो तो पहले अग्नि आवेगी उसमें।

और **अग्रे प्रणीयते**—पूर्व दिशामें पहले ही द्वारपर—अग्निको आह्वनीय अग्नि बनाया जाता है और **अंगं नयति**—का अर्थ बड़ा विलक्षण है, यह स्नेहको

सुखाता है, माने गीली लकड़ी यदि आगके पास रख दें तो रुखी हो जायेगी, तो अग्निकी उपासना जो लोग करते हैं तो क्या होता है कि जो राग-द्वेषसे मरते रहते हैं, उनके दिलमें-से राग-द्वेष मर जाता है। ब्रह्मचारीके लिए अग्नि-उपासना अंगार्य है। वह आगके पास बैठकर होम करता है, तो उसका वीर्य शरीरमें पच जाता है। वीर्यका पाचक होनेके कारण अग्निकी उपासना करते हैं। तो यह **अग्रे नयति** रुक्ष अङ्गं नयति, माने संसंनाम होकर यदि उसको प्रज्वलित करें, तो छोटी-से-छोटी जगहमें चिनगारी बनकर घुस जाये और उस जगहको सुखा दे। तो यह परमात्मा संसारके रागको मिटानेवाला है, इसलिए परमात्माका एक नाम अग्नि है।

अग्निमीले पुरोहितं—ऋग्वेदके पहले मन्त्रमें अग्निरूपसे परमात्माकी स्तुति है। **रत्नधातमम्**—अरे जो हीरा चाहो सो हीरा निकाल लो। हीरे आगमें-से पैदा होते हैं। उपास्यरूपसे जब हम अग्निका वर्णन करते हैं तो आपको एक जगह पहुँचाये बिना वह बात पूरी नहीं होती। जब हम ज्ञानाग्नि कहते हैं तब अज्ञानके लिए निवर्तक अग्निका वर्णन होता है। अन्धकारके निवर्तक अग्निको जैसे अग्नि बोलते हैं बाहर वैसे अज्ञानके निवर्तक ज्ञानको अग्नि बोलते हैं भीतर। सब अन्तःकरणकी वृत्ति है, उसमें परमात्माका अनुसन्धान कैसे हो? तो—चैतन्यारूढ़ वृत्ति अज्ञानान्धाकरको निवृत्त करती है।

जैसे हम शरीरसे पुण्य करें या पाप करें, तो शरीर पाप-पुण्य करता है? नहीं, शरीरमें पाप-पुण्य करनेका सामर्थ्य नहीं है। जब चैतन्य देहारूढ़ होगा, तब देहसे पाप-पुण्य बनेगा। यह बात आप ध्यानमें रख लो, माने जब चैतन्य देहाभिमानको धारण करके कर्ता बनेगा कि मैंने यह कर्म किया, तब वह पापी या पुण्यात्मा बनेगा माने चैतन्यके बिना देहसे पाप-पुण्य नहीं होता।

एक चाँदीकी सिल्ली किसीके पाँवपर गिर पड़े और पाँव टूट जाये तो चाँदीकी सिल्लीको पाप-पुण्य लगेगा? नहीं लगेगा। अपने दाँतसे अपनी जीभ कट जाये, तो पाप लगेगा क्या? लेकिन अपने दाँतसे किसीका शरीर काट लें, तो? कि पाप लग जायेगा। क्यों लगेगा? कि जान-बूझकर वहाँ कर्ता बने। तो जबतक कर्मको मेरा नहीं माना जाता और मैं कर्त्ता हूँ—यह भ्रान्ति जबतक नहीं होती, तबतक कर्मसे फलकी उत्पत्ति नहीं होती। पाप-पुण्य तबतक नहीं होगा, जबतक कर्त्ता नहीं बनोगे—माने तुम चैतन्य जबतक कर्मारूढ़ नहीं होओगे—देहारूढ़ नहीं होओगे तबतक पाप-पुण्यकी उत्पत्ति नहीं होगी। देहाभिमान ही पाप-पुण्यका

जनक है। इसी प्रकार अज्ञान-निवर्तक वृत्ति देहके समान जड़ है, जब उसमें ज्ञाताके रूपमें चैतन्य अवतीर्ण होता है तब 'अहं घटं जानामि। अहं पटं जानामि।' घट-विषयक अभिमान अथवा पट-विषयक अज्ञानको वृत्ति कब निवृत्त करती है? जब हम ज्ञाता होते हैं, तब उसका फल होता है—'अहं घटं जानामि', 'अहं पटं जानामि।'

ब्रह्मका अज्ञान है, अपने आपको ब्रह्म न जानना रूप जो अज्ञानान्धकार है, उस अज्ञानान्धकारको वृत्ति दूर नहीं कर सकती। तब कौन दूर करेगी? वृत्यारूढ़ चैतन्य दूर करेगा। निवर्त्य-निवर्तक भाव वृत्यारूढ़ चैतन्यमें होगा। यह जो ज्ञान अविद्याको निवृत्त करता है, वह शुद्ध ज्ञान नहीं है, वह ज्ञान स्वरूप ब्रह्म नहीं है। क्या है? वह तो वृत्तिसे मिलकर वहाँ ज्ञान-स्वरूप ब्रह्म-वृत्तिसे मिलकर, एक क्षणके लिए झूठा ज्ञाता बनकर—यह रहा ब्रह्म, यह रहा ब्रह्म। अरे यह तो अपना आपा ही है। और वृत्ति मर गयी और ब्रह्म रह गया। यह ब्रह्मज्ञान जो होता है उसमें ब्रह्म और आत्माके बीचमें जो अज्ञान है, वह मिटता है, लेकिन मैं ब्रह्मको जानता हूँ—यह अभिमान उत्पन्न नहीं होता। यह ब्रह्मज्ञानकी रीति है। अन्धकार नष्ट हो जाये और ज्ञातापनेका अभिमान न आवे—यह युक्ति ब्रह्मज्ञानमें की जाती है। यह दिव्य युक्ति है। तो बोले—ठीक है ज्ञानाग्नि भी जैसे रसोई बनाकर चूल्हेकी आग बुझा देते हैं, बुझाना पड़ता है, बेचारी खुद नहीं बुझ सकती, लेकिन ब्रह्मको जानकर ज्ञानाग्नि खुद बुझ जाती है। तब इसको ईश्वर कैसे मानें? ईश्वर तो वह है जो बुझता नहीं और वहाँ—**वसूनां पावकश्चास्मि**। तब तो वह वृत्ति भी ब्रह्म नहीं है जो अज्ञानको निवृत्त करनेवाली ज्ञान वृत्ति—वृत्ति ज्ञान है। वह अपना काम करके, जैसे दीयासलाई जलायी घरमें, देख लिया, दीयासलाई बुझ गयी। दीयासलाईकी तीलीमें जैसे अग्निका अवतार हुआ था—अग्नि आये हुए थे और एक बार प्रकाश करके उसने अज्ञानको, अन्धकारको मिटा दिया और फिर बुझ गयी, काम हो गया।

लकड़ीमें-कोयलेमें आग आयी, रसोई पकाया, गैसके चूल्हेमें आग जलाया, रसोई पकाया और फिर बुझ गयी। तो ज्ञानाग्नि अज्ञानको निवृत्त करनेके बाद बुझ जाती है। तब **पावकश्चास्मि**में पावक—जो अग्नि शब्द है वह और भी ऊपर जाता है। कि वह और कहाँ ऊपर जाता है? क्या?

ब्रह्मार्पणं ब्रह्महविर्ब्रह्माग्नौ ब्रह्मणा हुतम्।
ब्रह्मैव तेन गन्तव्यं ब्रह्मकर्मसमाधिना॥

यदि अग्निमें परब्रह्म परमात्माका अनुसन्धान करें तो ब्रह्म अग्नि है।

अग्निका स्वरूप है कि अगर उसमें कोई चीज डालें तो वह जल जाती है, भस्म हो जाती है कि नहीं? अग्निमें लकड़ी डालो, कोयला डालो, सबको राख बना देती है। परन्तु यह ब्रह्माग्नि अदृश्य है। विलक्षण है। विदित-अविदितसे दृश्यादृश्यसे। सम्पूर्ण द्वैतको—द्वैत भ्रान्तिको, अविद्याको और द्वैत विस्तारणी मायाको द्वैतसत्यापादिका भ्रान्ति और द्वैतविस्तारणी माया अनन्त परमात्मामें माया द्वैतका विस्तार कर रही है और अविद्या उसको सच्ची बना रही है। ये दोनों बहन हैं, अविद्या और माया दोनों एक साथ मरती हैं। तो माया दुनियाको फैला रही है और अविद्या इसको सच बना रही है। और, जब ज्ञानाग्निका उदय हुआ, तो जैसे आगके सामने जादूका खेल न चले, ऐसे माया और अविद्या—दोनों भस्म हो गयीं। यह ब्रह्म कैसा? बोले—न इसमें माया, न अविद्या, न द्वैत, यह सबको राख करके देश कल्पना, काल कल्पना, वस्तु कल्पन—सबको भस्म करके, यह ब्रह्मरूप जो अग्नि है—ब्रह्माग्नि, ब्रह्मणा हुतम्, दाएँ ब्रह्म, बाँए ब्रह्म, ब्रह्मैव वेदममृतं पुरस्तात् सामने ब्रह्म, पीछे ब्रह्म, ऊपर ब्रह्म, नीचे ब्रह्म, न ऊपर न नीचे, न दायें न बायें, यह सब तो है ही नहीं; ऐसा ब्रह्म अग्नि है इसलिए **वसूनां—वसन्ति अस्मिन् इति वसुः अधिष्ठानः** जितने आधार हैं वस्तुओंके जैसे घड़ा मिट्टीमें रहता है, मिट्टी पानीमें रहती है, पानी आगमें रहता है, आग जैसे वायुमें, वायु आकाशमें, आकाश मनमें। इसी तरहसे मनमें आकाश, आकाशादि पंचभूत अहंकारमें, प्राणादि मनमें-राजस् और मन-इन्द्रिय आदि जो सात्त्विक हैं सो अहंकारमें और अहंकारका आधार महत्तत्त्व, महत्तत्त्वका आधार बीज विशिष्ट—अव्याकृत—ये आधार हैं। एकका आधार दूसरा, दूसरेका आधार तीसरा, जैसे पतीली हों, छोटीको उससे बड़ीमें, उसको उससे बड़ीमें, ऐसे रखते चले गये, पच्चीस पतीली एकमें रख दें, तो अब एक दूसरेका आधार बनती गयीं। इसीलिए सम्पूर्ण सृष्टिके आधारका अनुसन्धान करते-करते सबका आधार कौन? तो जीवात्मामें रहकर अविद्या, ईश्वरमें रहकर माया सबका आधार बनी और माया-अविद्या दोनों एक और दोनों हो गयीं। जब भस्म तब कौन रहा? ब्रह्म। यह ब्रह्म—**वसूनां पावकश्चास्मि**—यह द्वैताद्वैतके प्रपंचसे रहित, अद्वैत ब्रह्म है, यह वास्तवमें पावक है। इसी ब्रह्मका अनुसन्धान किसी भी भावको लेकर, आधार बनाकर चिन्तन करो। ये सब शरीर, सब दृष्ट और सब मकान और सब घड़ा, कपड़ा, सब मिट्टीमें, मिट्टी अपनेसे दस गुना पानीमें, पानी अपनेसे दस गुने अग्निमें, अग्नि अपनेसे दस गुने वायुमें, वायु अपनेसे दस गुने आकाशमें। और, ये

सब विषय इन्द्रियोंमें और इन्द्रियाँ मनमें। यह सारी क्रिया, कर्म तीन हैं—नाम, रूप, क्रिया और सारी क्रिया प्राणमें और प्राण अहंकारमें। और, यह अहंकार विज्ञानवान् और यह विज्ञान बीज-विशिष्ट अव्याकृत सत्तामें और यह बीज विशिष्टता और अज्ञातता जो सत्तामें है वह अविद्याके कारण कल्पित है। वस्तुत: नहीं है।

जब आत्माको ब्रह्म जान लेनेसे अविद्या निवृत्त हो गयी, तो जो शेष रहा, सो। बोले—'वसूनां पावकश्चास्मि'का अर्थ हुआ कि सम्पूर्ण आधारोंका आधार और स्वयं निराधार। और, आधेयकी जिसमें सत्ता नहीं, सम्पूर्ण आधारोंका भी आधार और स्वयं निराधार और आधेयकी जिसमें सत्ता नहीं, ऐसा अखण्ड ब्रह्म तत्त्व ऐसा मैं। इस प्रकार वसुओंमें पावकके रूपसे ब्रह्मका अनुसन्धान करना।

मेरुः शिखरिणामहम्—मेरु हूँ—शिखरवालोंमें। प्रशस्त शिखरवालोंमें मैं मेरु हूँ। आपको एक बात मेरुके बारेमें, जैसी भारतीय धारणा है, सुनाता हूँ। यह ऐसा मानते हैं भूगोलमें कि जम्बूद्वीप नामकी जो वस्तु है, खारे समुद्रसे वेष्ठित, आजकल खारा समुद्र ही तो मिलता है तो खारे समुद्रसे वेष्ठित जो भूभाग है, उसको भारतवर्ष बोलते हैं प्राचीनकालमें।

एक भरतखण्ड होता है और एक भारतवर्ष होता है। तो हिमालयसे लेकर इन्दु पर्वत-पर्यन्त 'हि' माने हिमालय और इन्दु पर्वत कन्याकुमारी तक इसका नाम हिन्द होता है। आजकल तो कुएँमें ही भाँग पड़ गयी है। अगर हिन्दु नामसे ही लोगोंको नफरत हो जायेगी तो हिन्दु धर्म, हिन्दु संस्कृति—ये सब किसके आधार पर रहेंगे? तो हिमालय पर्वतसे लेकर इन्दु पर्यन्त भारत जिसको बोलते हैं यह भरतखण्ड है। और भारतवर्ष वह है कि—यह हिमाचल मेरु पर्वतके दक्षिण दिशामें है—ऐसा बोलते हैं। ऐसे आठ दिशामें आठ पर्वत, जैसे कमलकी पंखुड़ी हो और बीचमें कर्णिका होती है। जैसे कमल हो आठों ओर आठ उपद्वीप होते हैं दलके रूपमें—पंखुड़ीके रूपमें और बीचमें जो गद्दी होती है—कर्णिका। वह कर्णिका कैसी कि ऐसे शिखराकार। तो उसके चारों ओर यह कमलाकार मेरु पर्वत होता है वह कमलाकार होता है। और यह बर्फ जो है उसके आठ ओर आठ उपद्वीप, उसके आठ दल होते हैं। बीचमें कर्णिका होती है। हिमालय आदि पर्वत उसके चारों ओर मंजरीकी तरह उसको घेरे हुए होते हैं। यह हिमालय तो उसका एक आभूषण है और वह सोलह हजार योजन नीचे और सोलह हजार योजन ऊपर—बत्तीस हजार योजनका एक सुवर्णमय पर्वत है। उसके तीन शिखर

हैं—एक शिखर पर ब्रह्माजीकी पुरी है, एक शिखरपर शंकरजीकी पुरी है और एक शिखरपर विष्णु भगवान्‌की पुरी है। ब्रह्मा, विष्णु, शंकर—तीनों उस मेरु पर्वत पर रहते हैं। अरे अभी आप उसकी कल्पना अगर बैठाने लगो दिमागमें, कैसा है, तो देखो कलकी बात नहीं बताता हूँ, आजकी कहता हूँ और आज भी घर जानेके बाद की नहीं, कि सोचोगे-विचारोगे तब। अभीकी बात कहता हूँ। वह मेरु पर्वत कैसा है, यह बात आप सोचने लग जाओ तो आपका मन संसारकी ओरसे बिलकुल ऊपर उठ जायेगा। सुवर्णमय मेरु, सोलह सहस्र योजन नीचे, सोलह सहस्र योजन ऊपर और बीचमें दलके रूपमें वर्ष और छोटे-छोटे पर्वत उसके सहारे टिके हुए, दस पर्वतोंका आधार और जगमग-जगमग जगमगाता हुआ और उसके ऊपर वैकुण्ठ एक जगह, कैलाश एक जगह, ब्रह्मलोक एक जगह; यह ब्रह्मपुरी, शिवपुरी, विष्णुपुरी—तीनों पुरी और उसपर ये तीनों देवता अपने पार्षदोंके साथ रहते हैं, बड़ा दिव्य रत्नोंसे भरा हुआ है। यह शिखर शब्दका अर्थ रत्नमय होता है। शिखर माने—रत्न। जैसे कहते हैं— शिखर-सम्मेलन माने अपने-अपने देशके जो रत्न हैं—सर्वश्रेष्ठ पुरुष हैं, उनका सम्मेलन होगा। शिखर माने चोटीके जो रत्न हैं देशके उनका सम्मेलन। यह शिखर सम्मेलन हुआ। तो शिखराणि-रत्नानि। शिखर माने रत्न। शिखरि माने रत्नवाले।

तो चित्रकूटमें भी शिखर है, त्रिकूटमें भी शिखर है, हिमालयमें भी शिखर है, लेकिन शिखरकी दृष्टिसे सुमेरु सबसे श्रेष्ठ है। अमरकोशमें जो नाम लिखे हैं मेरुके—**मेरुः सुमेरूः हेमाद्रिः रत्नसानुः सुरालयः**। इतने नाम हैं मेरुके। सारा वर्णन नाममें ही आ गया।

मेरुः—मेरु उसको कहते हैं कि जिससे रत्नकी छटा छिटके-चमके खूब। ऐसा समझो कि ये जो ग्रह नक्षत्र तारे हैं इनकी भी बात सुनाता हूँ। ये भी मेरु के साथ सम्बन्ध रखते हैं। इन ग्रह, नक्षत्र तारोंमें भी एक सुमेरु होता है। आपकी जो माला है उसमें भी एक सुमेरु होता है। एक सौ आठ दाने तो माला में होते हैं और एक सौ नौवां दाना जो होता है उसको सुमेरु बोलते हैं। मेरुः—सुमेरु। हेमाद्रिः—सोनेका पहाड़। रत्नसानुः—रत्नके उसके शिखर। सुरालयः—देवताओंका निवासस्थान।

इतने नाम मेरु पर्वतके हैं। तो मेरुको मेरु क्यों कहते हैं, आप देखो चारों ओर भारत सरीखे नौ वर्ष जो हैं, वे नौ वर्ष मेरुके अगल-बगल दायें-बायें सब लिपटते हैं। और इनके पहाड़, इनकी नदियाँ, इनके समुद्र। इन वर्षोंके पहाड़,

इनकी नदियाँ, इनके समुद्र, इनके जंगल, उस सुवर्ण वर्ण पर्वतके शिखरके नीचे, चारों अगल-बगल और ऊपर तीन शिखर-सत्त्व-रज-तम, उनपर ब्रह्मा-विष्णु-महेश ऐसे बैठते हैं ये सुमेरु और जगमग-जगमग झिलमिल-झिलमिल ज्योति छिटक रही है।

यहाँतक वर्णन आता है कि जब ये सब वर्ष डूब जाते हैं तो नैमित्तिक प्रलय होता है, मन्वन्तरके अन्तमें। प्रत्येक मन्वन्तरके अन्तमें जो प्रलय होता है, मेरु डूब जाता है, चारों ओर पानी ही पानी रहता है और वह सुमेरुका सुवर्णमय शिखर और उसपर जो मणि-माणिक्य हैं, वे समुद्रमें प्रतिबिम्बित होते हैं। जैसे आप कभी प्रातःकाल समुद्रकी ओर देखो तो यदि सूर्योदय आपको दिखता हो तो एक लाट दिखेगी सबेरे-सबेरे, बड़ी-लम्बी चारों ओर जलमय पृथिवी और अनेक रत्नों सहित ब्रह्मपुरी सहित, कैलाशपुरी सहित, वैकुण्ठपुरी सहित सुमेरु जलमें प्रतिबिम्बत होता है। झिलमिल-झिलमिल ज्योति ध्यान करो, ईश्वरका अनुसन्धान करो उसमें। **मेरुः शिखरिणामहम्।** जितने शिखर वाले पर्वत हैं, चोटीवाले पदार्थ हैं उनमें मैं मेरू हूँ। भगवान् कहते हैं तो '**मेरु**' शब्दका अर्थ होता है, '**डुणिञ**' है मूलमें धातु इसकी '**डुणिञ**' है तो '**मिनोति प्रक्षिपति ज्योतीषि इति मेरुः**'। बहुत ऊँचा होनेके कारण अपने रत्नोंकी छटासे सम्पूर्ण विश्वको चमका देता है, इसलिए इसको मेरु बोलते हैं। अच्छा, यह कैसा है? कि आप इसको मान लो अपने हृदयमें। तुम शरीरमें कहाँ रहते हो? तो कोई कहीं, कोई कहीं रहते हैं भला! जिनको चलनेकी आदत ज्यादा है वे पाँवमें रहते हैं, उनका निवास पाँवमें है, जबतक वे पाँव पटककर मील-दो-मील चलें नहीं, तबतक उनको शान्ति नहीं मिलती है। अब जिनको काम करनेका ज्यादा अभ्यास है, उनका निवास हाथमें है। जिनको बोलनेका अभ्यास हो जाता है उनका निवास जीभमें है। वह तो जिस इन्द्रियसे बहुत काम करोगे उसी इन्द्रियमें ज्यादा तादात्म्य होने लगेगा। जो भोजनके ज्यादा प्रेमी हैं, अगर उनका पेट ठीक न हो तो उनका निवास मलमें हो जायेगा। और, पेट ठीक हो और भोजनके प्रेमी हों तो उनका निवास जीभमें रहेगा। यह हँसीके लिए मैं आपको नहीं बता रहा हूँ, यह शरीरका विज्ञान है। कोई बहुत सोचता है तो वह दिमागमें रहता है और कोई बहुत प्यार करता है तो वह दिलमें आ जाता है। दिल और दिमागका समन्वय करके यह मनुष्य-जीवन चलाना पड़ता है।

हमारा मतलब यह है कि आपका निवास-स्थान हृदयमें है, वह भारतवर्ष है। और यह जो पीठकी रीढ़ है, इसको मेरुदण्ड बोलते हैं। यह मूलाधार-चक्रसे

लेकर, माने गुदासे लेकर अब हृदयके नीचे भी तो है, यह हृदयके सोलह हजार योजन नीचे है और जो हृदयके ऊपर है वह हृदयके सोलह हजार योजन ऊपर है और इसमें देखो आँखके रूपमें सूर्य रसनामें वरुण, जिह्वाके मूलमें अग्नि, मनमें चन्द्रमा, कानमें दिशा, त्वचामें वायु, हाथमें इन्द्र, पाँवमें उपेन्द्र—ये सब-के-सब देवता इसी मेरुदण्डके आधारपर शरीरमें टिके हुए हैं। पीठकी रीढ़में कुंडलिनी इड़ा, पिंगला, सुषुम्नाको लपेटती हुई और गाँउ लगाती हुई नीचेसे ऊपरतक जाती है। तो यह जो मेरुदण्ड है, इसका शिखर सबसे ऊपर है। आज्ञाचक्रके भी ऊपर अनेक स्थान प्राप्त होते हैं। तीसरा तिल है मेरुका—तीसरा नेत्र, श्याम-तिल इसको बोलते हैं। बंक नाल, भ्रमर गुफा सहस्रार, शून्य शिखर। यह सब योगी लोग योगाभ्यासके द्वारा षट्चक्रका भेदन करके अपने गुरुजी महाराजके चरणोंमें पहुँचते हैं। सहस्रारमें बैठे हुए जो गुरुदेव हैं, शक्तिसम्पन्न गुरुदेव, समर्थ गुरुदेव, उनके चरणोंमें पहुँचते हैं। भीतर ही मेरु, सुमेरु सब, यहीं है।

यह देखो बाहरसे भीतर आनेकी प्रक्रिया है। बाहर मनको रखते हुए चित्तको एकाग्र कर लेना। भूगोलमें सुमेरुका चिन्तन है और भीतर चित्तको करके चित्तको स्थिर कर देना। यह मेरुदण्ड एक बाँस है।

आदमीको मनरूप भूत लगा है। यह मनुष्यको कहीं बैठने नहीं देता। सत्संगमें जाओ तो कहता है वहाँ भीड़भाड़ रहती है। है क्या! लोगोंने बताया, बड़े घरके लोगोंने बताया कि जैसे सब बैठते हैं वैसे बैठना पड़ता है। सबके बीचमें, टाटपर बैठना पड़ता है, सबकी साँस लगती है। इन्फैक्शन हो जाता है लोगोंके बीचमें बैठनेसे। और फिर सबके शरीरमें-से गन्ध आती है। अब देखो सत्संगमें आये तो क्या-क्या कल्पनाकी। सत्संग छोड़ो। अच्छा भाई एकान्तमें रहकर भजन करो। बोले—एकान्त तो खाये जा रहा है। बोले कि अच्छा भगवान्का ध्यान करो। तो मन कहेगा कि यह तो कल्पना है।

तो यह मनका भूत है। वह आदमीको, प्यार करो तो कहेगा इनको हमारी जरूरत है। गर्ज है इनको हमारी! उपेक्षा करो तो कहेगा इनका प्रेम ही नहीं है। यह मन कहीं किसीको टिकने नहीं देता, शान्तिसे बैठने नहीं देता। यह मनका भूत, सबसे ज्यादा दु:ख देनेवाला अपना मन है। सृष्टिमें कोई किसीका शत्रु नहीं, कोई किसीका मित्र नहीं।

के शत्रुवत् सन्ति? निजेन्द्रियाणि।
कान एव मित्राणि? वितानि तानि।

शत्रु कौन है दुनियामें? अपनी इन्द्रियाँ। और मित्र कौन है अपना? उनके भोगोंका विस्तार। लोग चाहते हैं कि हम अपने मापं दंडके अनुसार दूसरेको चलावें। बोले—देखो, अमेरिकामें भी हमारा रुपया ही चलना चाहिए। अगर यह आग्रह करके कोई जायेगा तो दुःख पावेगा कि नहीं पावेगा? अरे, भाई अमेरिकाका मान दंड दूसरा है, वहाँ डॉलर चलता है। बोले—इंग्लैण्डमें भी हमारा ही पैसा चलना चाहिए। बोले—नहीं भाई, वहाँ पौंड दूसरा है। सबका मापदंड दूसरा होता है। संसारमें दुःखी वही है जो अपने मापदंडके अनुसार दूसरेको चलाना चाहता है।

अब समझो हमारे पास एक उदासी महात्मा आवें और वे कहें हम जैसे विनयसे रहते हैं और जैसी सेवा करते हैं, जैसी रसोई अपने हाथसे बनाकर खिलाते हैं, वैसे तुम करो तो तुम बड़े महात्मा! हम तो नहीं कर सकते। दशनामी मंडलेश्वर आये बोले—तुम भी गद्दीपर हमारी तरह बैठो, तब तुम बड़े महात्मा! हम तो नहीं बैठ सकते। यदि किये तो गये अपनेसे। नहीं तो उनके मापदंडसे चले गये। एक विरक्त आये बोले—हम जैसे गंगा किनारे धूलमें लोटते हैं, वैसे लोटो, नहीं लोट सकते। तो उनके मापदंडसे हम क्या हुए? एक दंडपाणि आये बोले—हर समय हाथमें दंड लेकर तने रहो। मैं रख चुका हूँ स्वयं, अब दंड छोड़ चुका हूँ। अब कोई कहे कि चलो त्रिवेणीमें स्नान करो तो तुमको बड़ा पुण्य होगा, तो वह पुण्य मैं बहुत लूट चुका हूँ। एक बोले कि होटल खोलो मेलेमें और लोगोंको चलकर खूब खिलाओ। हे भगवान् हम तो इसका मजा देख चुके हैं।

एक बात आपको कहते हैं। तुम्हें जो अच्छा लगे सो ही दूसरा करे! तुम हमको संन्यासी मानते हो, उदासी मानते हो, वैष्णव मानते हो, दंडी मानते हो, उस मापदंड पर हमको नापते हो। हम न अपनेको संन्यासी, न उदासी, न वैष्णव, न दंडी, हम तो अपनेको ब्रह्म मानते हैं और उस मापदंडसे अपनेको देखते हैं। न तुम्हारा त्याग, न तुम्हारा वैराग, न तुम्हारी साधना, न तुम्हारा सम्प्रदाय। हम तुम्हारे मापदंडसे अपनेको मापते ही नहीं हमारा मापदंड दूसरा है। हम क्या बातको समझते नहीं हैं?

तो जो अपने मनके अनुसार दूसरेको चलाना चाहता है दुनियामें, वह दुःखी होता है। अब बोले—भाई! मनके अनुसार चलना चाहे, तब भी दुःखी होगा। मन होना चाहिए काबूमें। यह भूत है बिलकुल भूत है। तो इसके लिए यह जो मेरुदंड है शरीरके भीतर, इसको कहो कि चल मूलाधार चक्रमें। कि पहुँच गये महाराज।

कि ऊपर स्वाधिष्ठानमें आ जा। उसके ऊपर मणिपूरक चक्रमें आ जा। अब अनाहतमें आ जा। अब विशुद्धमें आजा, आज्ञामें आजा। चल सहस्रारमें। अरे समाजा शून्य शिखरमें। फिर जग गया तो फिर नीचे उतर सहस्रारमें अब आजा आज्ञाचक्रमें। ऊपर आ, नीचे जा, ऊपर आ, नीचे जा। अरे रगड़ मारो भाई इसको। यह ज्योतिर्मय मेरुदंडके रूपमें यह परमेश्वर तुम्हारे शरीरके भीतर बैठा हुआ है।

ये आकाशमें जो ग्रह नक्षत्र तारे होते हैं ना, उनका एक शिशुमार चक्र बनता है। उसकी पूँछमें कौन तारे हैं, पेटमें कौन हैं, पीठमें कौन हैं, सिरमें कौन हैं, **वसूनां पावकश्चास्मि मेरुः** सम्पूर्ण ज्योतिर्मय चक्करोंको देखो जैसे शरीरमें ज्योतिर्मय चक्र कौनसे हैं? आँख ज्योतिर्मय चक्र है रूपको दिखाता है। कान ज्योतिर्मय चक्र है, नाक ज्योतिर्मय चक्र है, जीभ ज्योतिर्मय चक्र है, यह त्वचा ज्योतिर्मय चक्र है। ऐसे अनन्त कोटि ब्रह्माण्डमें जो चन्द्रमा है, सूर्य है तारे हैं, गृह हैं, नक्षत्र हैं, ब्रह्मा हैं, विष्णु हैं ये सब इस मेरुः पर बैठे हुए हैं।

अब देखो भला मेरु माने क्या हुआ? यह **डुमिञ प्रक्षेपणे** मेरु शब्द जिस धातुसे बनता है, वह प्रक्षेपणार्थक है। **मिनोति प्रक्षिपति ज्योतींषि** जिससे बस सारे शरीरमें और सारे ब्रह्माण्डमें और सारी माया प्रदेशमें ज्योतिकी किरणें बिखरती रहती हैं उसका नाम है मेरु। वह चिन्मय किरणोंका जो प्रकाशक है वह ज्योतिर्मय किरणोंका आधार मेरु।

अब बोले देखो भाई एक व्याख्या मैंने यहाँ सुनायी नहीं, वह क्या है? कि पर्वतका चट्टानका ध्यान करनेका तो विधान है।

यह ब्रह्म कैसा है? जैसे चट्टानका भीतरी भाग। उसका ध्यान करनेसे क्या होगा? अमनस्क दशाकी प्राप्ति हो जायगी। जैसे चट्टानका भीतरी हिस्सा बिना किसी नाम विशेष और विशेष रूपका है—घन, दूसरी वस्तुके प्रवेशकी गुंजाइश नहीं, वैसा यह ब्रह्मघन है नाम रूप विवर्जित और मनकी अमनस दशा पर्वतके ध्यानसे प्राप्त होती है।

तो बोले—यह व्याख्या यहाँ उपयुक्त नहीं है। क्यों? कि आगे जब **पर्वतानां हिमालयः** आवेगा न, तब उसमें घनीभावकी व्याख्या होगी। यहाँ ज्योतिर्मय रूपसे ईश्वरके अनुसंधानका नाम है—**मेरुः शिखरिणामहं** और धनीभूत चट्टान जैसे होओ।

पुरोधसां च मुख्यं मां विद्धि पार्थ बृहस्पतिम्।
सेनानीनामहं स्कन्दः सरसामस्मि सागरः ॥ 24 ॥

यह अध्याय दसवाँ, बड़े महत्त्वका है। इसमें 'योग उपनिषद्' और 'विभूति उपनिषद्'—दो उपनिषद् हैं। स्वयं भगवान्‌ने भी कहा—

एतां विभूतिं योगं च मम यो वेत्ति तत्त्वतः।

बोले अगर इस योगको समझ जाय कोई, विभूतिको समझ जायें तो 'योग' समझ जाये तब तो समाधिमें परमात्मा। 'विभूति' समझ जाये तो व्यवहारमें परमात्मा। व्यवहारमें विभूति और समाधिमें योग और दोनों जगह यदि परमात्मा मिल जाये तो 'अविकम्पयोग' हो जाये—

सोऽविकम्पेन योगेन युज्यते नात्र संशयः॥

कहीं परमात्मासे वियोग ही न हो पाये। यदि एक ही गाँवमें किसीका मायका और ससुराल दोनों हो। तो न माता-पितासे वियोग हो, न पति-पत्नीका वियोग हो—एक ही गाँवमें दोनों। व्यवहारमें विभूतिके रूपमें भगवान् और समाधिमें योगके रूपसे भगवान् और योग और विभूति दोनोंमें एक ही—यह क्या आनन्दका अध्याय है।

सोऽविकम्पेन योगेन युज्यते।

अन्तमें भी भगवान्‌ने कहा कि,

अथवा बहुनैतेन किं ज्ञातेन तवार्जुन।
विष्टभ्याहमिदं कृत्स्नमेकांशेन स्थितो जगत्॥ 42 ॥

अर्जुन! तुमको बहुत क्या बतावें। वाणीका अपव्यय है। **नानुध्यायान् बहूनि शब्दान् वाचो विग्लापनं हि तत्।** बहुत शब्दोंको नहीं रखना चाहिए क्योंकि यह वाणीकी शक्तिका अपव्यय है। जब अर्थको पहचान लिया तो शब्दाडम्बर लेकरके क्या करना! हीरा मिल गया तो सन्दूकके लिए क्या विवाद करना है—**विक्रीते करणी किं अंकुशे विवादाः।** हाथी बिक गया तो अंकुशके लिए विवाद क्या है! अरे हो जा भाई, तू भी अविकम्प योगी।

सम्पूर्ण विश्व प्रपंचमें क्या जाग्रत्, क्या स्वप्न, क्या सुषुप्ति, क्या समाधि! एक परमात्मा परिपूर्ण है। सब दृष्टिकोणसे भगवान् अपनेको परमात्मा बताते हैं।

अब पुरोहितकी चर्चा है। यह तो व्यावहारिक है, यह व्यक्तिमें है। अभी तक जो बात आयी थी, वह बड़े विलक्षण ढंगसे आयी थी, और आगे भी थोड़ी आनेवाली है। अब एक व्यक्तिका नाम लिया, इसका मतलब हुआ कि पुरोहित वृत्ति भारतीय संस्कृतिमें बहुत पुरानी वस्तु है, यह आधुनिक नहीं है। शंकराचार्यजीने भी पुरोहित नाम लिखा है—**राजपुरोहितानां मिष्टं प्रधानम्** राजाओंके पहले पुरोहित होते थे, गृहस्थोंके पुरोहित होते थे।

'पुरोहित' शब्दका अर्थ होता है जो पहलेसे हमारी भलाई सोचे। 'पुरा' माने पहले और 'हित' माने भलाई। यजमान बेचारेको तो पता ही नहीं है कि चैत्र मासमें क्या करना चाहिए, बैसाखमें क्या करना चाहिए, कब एकादशी करनी चाहिए, कब जन्माष्टमी करनी चाहिए, कब रामनवमी करनी चाहिए, कब आग्रहण-इष्टि करनी चाहिए, कब वर्षका पौर्णमास। पुरोहितजी पहले ही पञ्चाङ्गमें देख लेते हैं और कहते हैं—यजमान तुम यह-यह काम करना। लड़कीकी शादी ऐसे वरसे करना, लड़केकी शादी ऐसी लड़कीसे करना। पुरोहितका काम बहुत पड़ता था। देखो, गीतामें तो श्राद्धका भी वर्णन है। अर्जुनने कहा—

पतन्ति पितरो ह्येषां लुप्तपिण्डोदकक्रियाः। 1.42

तो श्राद्ध भी होता था। श्राद्ध तो पुरोहित लोग करवाते थे। इसलिए 'पुरोधा'की जरूरत है। पुरः ईयते इति पुरोधाः। कहीं यात्रा करनी होय, तो बोले, मंगल-कलश लेकर वेदका मन्त्र बोलते हुए पुरोहितजी, आप आगे-आगे चलो। पुरोधीयते इति। हमारे गाँवमें हँसी करते हैं कि पुरोहितजी सब जगह आगे-आगे चलेंगे, लेकिन नदी और नाला विवर्जित। कहीं आगे नदी-नाला पड़े तो पुरोहितको आगे नहीं चलना।

अब यह पुरोहितोंमें बृहस्पतिजीकी बात सुनावेंगे आपको। तो पुरोहित सबके होते हैं, देखो युधिष्ठिरके भी धौम्यादि पुरोहित थे, राजा जनकके शतानन्दादि पुरोहित थे। दशरथके वसिष्ठादि थे। ऐसे प्रायः सभी राजवंशोंमें पुरोहित होते थे। तो भगवान् बताते हैं कि मैं कौन हूँ पुरोहितोंमें? तो अपनेको बताते हैं बृहस्पति। **पुरोधसां च मुख्यं मां विद्धि पार्थ बृहस्पतिम्।** पुरोहितोंमें मुख्य-प्रधान, मुझे बृहस्पति समझना। 'विद्धि' माने समझो—जानो। पुरोहितोंमें मुख्य। मुख्य शब्दका एक अर्थ होता है कि मुखिया होता है, गाँवमें-मुखी, मुखिया,

मुख्य! ब्राह्मणको भी मुख्य कहते हैं और अग्निको भी मुख्य कहते हैं। वेदोंमें यह शब्द अग्निके लिए आता है—**अग्निमीळे पुरोहितं**। यह ऋग्वेदका पहला ही मन्त्र है। अग्निके लिए पुरोहित शब्द आया है।

अग्निसे ब्राह्मणोंकी दोस्ती है। दोस्ती क्या है? कि ये दोनों भाई-भाई हैं। आग और ब्राह्मण दोनों भाई-भाई। अच्छा, क्या आप लोग 'पुरुषसूक्त'का कभी पाठ करते हैं?

ब्राह्मणोऽस्य मुखमासीद् वाह राजन्यः कृतः।
ऊरु तदस्य यद्वैश्यः पद्भ्याँ शूद्रोऽअजायत॥ पू.सू. 12

मुखसे ब्राह्मण हुआ। और, वह याद है?

चन्द्रमा मनसो जातश्चक्षोः सूर्योऽअजायत।
श्रोत्राद्वायुश्च प्राणश्च मुखादग्निरजायत॥ पू.सू. 13

भगवान्‌के मुखसे ही आग भी पैदा हुई और मुखसे ब्राह्मण भी पैदा हुए। तो भाई-भाई हुए न! तो इन लोगोंने बँटवारा किया। देवताके लिए, पितरके लिए जो कुछ परलोकमें भेजना हो, वह कुछ ब्राह्मणके मुँहमें डालना और कुछ अग्निके मुखमें डालना।

इसमें देखो, लोग पहले अन्नकी कीमत नहीं करते थे, क्रियाकी कीमत नहीं करते थे। जो श्राद्ध-पूजा करनेवालेमें भाव बनता था, कर्त्ताको कर्मका फल मिलता था।

तो अब बृहस्पतिजीकी थोड़ी बात आपको और सुनाते हैं। सब तरहकी भौतिकी, वैदिकी, आध्यात्मिकी। तो अभी आपका भीतर धीरे-धीरे मन चले, इसके लिए—'बृहस्पति' शब्दका मूल अर्थ बताते हैं—

बृहतां पतिः बृहस्पतिः।

जो बृहत्‌का स्वामी है उसको बृहस्पति बोलते हैं। व्याकरणके नियमसे त् का स् हो गया है। बोलना चाहिए बृहत्पति, परन्तु व्याकरणके नियमानुसार इसको बोलते हैं बृहस्पति।

मैंने सबसे पहला ग्रन्थ संस्कृतका पढ़ा था—'मुहूर्त चिन्तामणि'। कोई पाँच सौ के लगभग श्लोक हैं, हमको सब कंठस्थ थे बचपनमें। तो देखो सात दिनोंमें-से एक दिन बृहस्पतिका है। लो। आपके घरमें भी सातवाँ हिस्सा बृहस्पतिका होना चाहिए। सातवाँ दिन बृहस्पतिका है।

यहाँ 'बृहस्पति' एक दिन होता है और 'बृहस्पति' एक ग्रह है आकाशमें।

बृहस्पति' देवसभामें गुरु होता है और 'बृहस्पति'को जीव बोलते हैं। 'मुहूर्त चिन्तामणि' मैंने पढ़ी थी, तो उसमें जहाँ-जहाँ 'जीव' शब्द आता सर्वत्र 'जीव' शब्दका अर्थ बृहस्पति होता।

तो देखो, जीवके रूपमें बृहस्पति, देवताओंके गुरुके रूपमें बृहस्पति, ग्रहके रूपमें बृहस्पति और पुरोहितके रूपमें बृहस्पति। आप लोग बृहस्पतिके बहुत प्रेमी हैं—**पुरोधसां च मुख्यं मां विद्धि पार्थ बृहस्पतिम्**। अब आप पूछोगे कि भला हमको बृहस्पतिका प्रेमी क्यों बना दिया? इसलिए कि प्रेम कुटीरके जो सत्संगी हैं वे रोज इनका नाम लेते हैं।

अरिष्टनेमिः स्वस्ति नो बृहस्पतिर्दधातु।

आप लोग बृहस्पतिके भक्त हो। अब आपको 'बृहस्पति'के बारेमें एक बात बतावें वह यह है कि बड़ी भारी तपस्या इन्होंने की,

बृहता तपसानेन बृहतां पतिरस्यहो।
नाम्ना बृहस्पतिरिति ग्रहेष्वर्च्यो भविष्यति॥

भगवान् शंकरने बृहस्पतिकी तपस्यासे प्रसन्न होकर कहा कि सम्पूर्ण वेदोंका ज्ञाता होनेके कारण तुम्हारा नाम आजसे बृहस्पति है और जब-जब नवग्रहकी पूजा होगी, तब-तब तुम्हारी पूजा भी होगी।

तो यहाँ नवग्रह रूपसे बृहस्पतिका वर्णन नहीं है, पुरोहित रूपसे बृहस्पतिका वर्णन है। पुरोहित कैसा होना चाहिए? पुरोहित होना चाहिए बृहस्पति। बृहस्पतिका अर्थ है सम्पूर्ण वेदोंका ज्ञाता। बृहती खण्ड जो है वेदमें, बृहती वाणीको बोलते हैं। बृहती वेदकी ऋचाको बोलते हैं। तो हमारा पुरोहित कैसा होवे? कि बृहती माने वेद वाणी, बृहत् माने वेदके मन्त्र, उसकी मुट्ठीमें होवें। सम्पूर्ण वेदोंका जो ज्ञाता हो उसको बोलते हैं बृहस्पति।

बृहस्पतिर्वै देवानां पुरोहिताः।
तमनुन्ये राज्ञां पुरोहिताः॥

ऐतरेय ब्राह्मणमें यह वर्णन आता है, जहाँसे ऐतरेय-उपनिषद् ली गयी है, मूल ग्रन्थमें आया कि बृहस्पति देवताओंके पुरोहित हैं। और संसारमें जितने पुरोहित हैं सब उनके पीछे हैं। सबसे आगे बृहस्पति, क्योंकि यह भगवान्‌की विभूति हैं।

अब देखो पुरोहितको बृहस्पति होना चाहिए माने वैदिक होना चाहिए और वेदका विद्वान् होना चाहिए। अब वेदके विद्वान्‌में दो भाग होता है, वह आपको

पीछे सुनाऊँगा। शब्दराशि और अर्थराशि—ये दो चीज हैं वेदमें। दोनोंका विद्वान् होना, बड़ा कठिन होता है।

तो बृहस्पतिसे गुरु, बृहस्पतिसे पुरोहित होने चाहिए। बृहस्पतिका एक नाम गुरु भी है। बृहस्पतिको गुरु बोलते हैं, सुरगुरु बोलते हैं, जीव बोलते हैं। पहले गुरु नामवाली जो व्याख्या है, वह सुनाता हूँ, पुरोहित नामवाली, गुरु नामवाली। इन्द्रने असुरोंको जीत लिया, आप इसकी अपनी समझ लायक व्याख्या ग्रहण करो—

स्वस्ति न इन्द्रो वृद्धश्रवाः।

उस मन्त्रके प्रारम्भमें इन्द्र हैं और अन्तमें बृहस्पति हैं। चाहे कितना बड़ा भी कोई असुर होवे, मनमें काम हो, क्रोध हो, लोभ हो, मोह हो, ये चाहे मानसिक असुर होवें। चाहे बाहरी दुनियामें कोई असुर होवे, लेकिन मनुष्य यदि कर्म करे, प्रयत्न करे तो असुरपर विजय प्राप्त कर सकता है। इसलिए इन्द्र असुरोंपर विजयी होता है। भला, इन्द्रका कर्मका क्या सम्बन्ध है? कर्म करनेवाले जो हाथ हैं इनका अधिष्ठातृ देवता है इन्द्र! इसलिए आपके जीवनमें जितने भी संकट आवें, उनको सोकर, गिरकर, पड़कर अपने दुःखको दूर मत करो, अपने कर्मसे, अपने प्रयत्नसे, अपने परिश्रमसे अपने संकटको दूर करो।

इन्द्र असुरोंपर विजयी हुआ और कैसे हुआ? बृहस्पतिकी सलाहसे हुआ। बृहस्पति वेदवित् है, उन्होंने उसको युक्ति बतायी और इन्द्र विजयी हुआ। विजयी होते ही इन्द्रको बड़ा गर्व हो गया। यक्षवाली कथा अलग है और यह बृहस्पतिवाली कथा अलग है। यह लोगोंका पुरोहित होनेमें, गुरु होनेमें एक बड़ा भारी संकट है। इस बातको यजमान लोग कम समझते हैं, पर समझदार जो गुरु-पुरोहित हैं, वे समझते हैं। क्या संकट है कि यह जो गुरु और शिष्यके बीचमें, पुरोहित और यजमानके बीचमें लेन-देनका सम्बन्ध हो जाता है इससे यजमान यह समझता है कि पुरोहितजी हमारे घरमें कर्मकाण्ड कराते हैं, या वेदका मन्त्र पढ़ते हैं या हमारे घरमें आते हैं तो हमारे पैसेके लिए आते हैं। यह बहुत हानिकारक विचार है क्योंकि इसमें तो पुरोहित-गुरु लोभी हो गये और यजमानकी श्रद्धा मिटती गयी।

अब समझो एक स्त्री एक दिन एक साधुके पास पहुँची। साधुने जरा उसकी ओर ध्यान नहीं दिया, तो बोली—अब मैं बुढ़िया हो गयी आप मेरी ओर क्यों देखोगे! तो क्या मतलब हुआ? मतलब वह यह समझती है कि यदि मैं युवती होती, चमकती होती तो यह साधु हमारी ओर देखता। क्योंकि इसके मनमें

काम तो होगा ही। अब देखो उन्होंने उलाहना तो दिया देखनेका, लेकिन अनजानमें कामी होनेका आक्षेप हुआ कि नहीं हुआ?

अच्छा इसी तरहसे कोई गरीब गया साधुके पास और बोला कि हाय-हाय हमारी ओर क्यों देखोगे, हमारे पास पैसा कहाँ है? क्या मतलब हुआ, उसका! वह देखो, अनजानमें ही कह रहा है, गाली दे रहा है कि तुम लोभी हो। वैसे नहीं कहा, सीधे नहीं कहा कि तुम लोभी हो, लेकिन घुमा-फिराकर उसने कह दिया कि तुम लोभी हो।

देखो बातकी जो ध्वनि है, वह कहाँ जाती है? तो यह गुरु-पुरोहितका यजमानोंके साथ जो सम्बन्ध है और उसमें जो दान-दक्षिणा बीचमें आती है, वह श्रद्धाको घटाती है, मटियामेट करती है। बोलते हैं यह सब ब्राह्मणोंने स्टन्ट बना रखा है दक्षिणा लेनेके लिए, यह करो, बस एक सुपारी रखी, उसपर चन्दन चढ़ाया और बोले यह गणेश हैं दक्षिणा चढ़ाओ। गोबरकी गौरी बनायी, बोले—चन्दन-अक्षत हमारे घरका गया और पेड़ा हमारे घरका गया और बोले दक्षिणा चढ़ाओ। और वे पैसा लेकर चले गये महाराज। तो यह पुरोहितोंके बारेमें लोगोंकी जो स्थिति है, श्रद्धा बिगड़ जाती है। इसीलिए शास्त्रमें बताया है कि पौरोहित्य कर्म बड़ा निन्दित है।

तो यह दुर्घटना बृहस्पतिके जीवनमें भी घटित हुई। जब इन्द्र राजा हुए और बृहस्पति इन्द्रकी सभामें मिलनेके लिए गये तो जहाँ इन्द्र विजयी होनेके पहले स्वयं गुरुजीके घर जाते थे, जाकर दंडवती करते थे और धरतीमें बैठते थे और कहते थे कि हे महाराज, ऐसा उपाय बताओ कि हम असुरोंपर विजय प्राप्त कर लें। वहाँ विजयी होनेपर ऐसा हुआ कि खुद गुरुजी महाराज, इन्द्र तो आये ही नहीं, खुद गुरुजी गये। गुरुजी गये तो भरी सभामें, इन्द्रने कहा कि यदि हम आँखसे आँख मिलावेंगे तो उठकर खड़ा होना पड़ेगा, तो महाराज गुरुजी आये तो वे दूसरेसे बात करने लगे, मानो ध्यान ही न हो, आसनपर बैठे रहे। अब गुरुजी जाकर दो मिनट खड़े हुए! इस कथाका मैं भाव सुनाता हूँ। गुरुजी खड़े थे, इन्द्रने ध्यान नहीं दिया। चाहिए कि गुरुजी आये हैं, तो प्रणाम करे, सिंहासनसे उठकर खड़ा हो। अब गुरुजी महाराज अन्तर्धान हो गये वहाँसे। अब चेलेको तो छोड़ा ही, अपना घर भी छोड़ दिया, बच्चोंको भी छोड़ दिया और वह जो चेलाजीकी दूसरी धर्मपत्नी थी, उसको भी छोड़ दिया और अन्तर्धान हो गये कि जाओ, तुम समझते हो हमारे बिना इनका काम नहीं चलता है, तो तुम्हारे बिना हमारा काम चलता है

भला। गायब हो गये। अब देखो, यह जो वैदिक संरक्षण था इन्द्रका वह छिन गया। वैदिक संरक्षण छिन गया तो असुरोंको मालूम पड़ा कि अब तो वैदिक-संरक्षण इन्द्रपर नहीं है, बृहस्पतिका संरक्षण नहीं है, असुरोंने किया आक्रमण और इन्द्रको जीत लिया, देवता लोग हार गये।

असुरोंमें बल बहुत है। असुर ज्येष्ठ हैं, देवता कनिष्ठ हैं। यह वेदोंमें वर्णन आता है। बड़े भाई दैत्य हैं और छोटे भाई देवता हैं। इसका अभिप्राय यह है कि काम-क्रोध-लोभ-मोह तो हमारे मनमें पहले अपने आप ही आते हैं, बिना बुलाये आते हैं और देवता संस्कार डालकर, यम-नियम-ब्रह्मचर्य-सन्तोष—इनके संस्कार हमारे हृदयमें पैदा किये जाते हैं। देवता तपस्यासे आते हैं, परिश्रमसे आते हैं। विकार अपने आप ही आते हैं। तो विकार अपने आप आनेके कारण दैत्य पक्षमें हैं और संस्कार करनेसे आते हैं इसलिए देवता पक्षमें हैं। अब देवताका तो सारा जीवन ही बृहस्पतिके अधीन है। यदि वेद न हो और गुरु न हो तो संस्कार पड़ेगे कहाँसे? ब्रह्म तो किसीको संस्कार डालता नहीं, वह तो अकर्म है—नैष्कर्म्य है।

ब्रह्म संस्कार डालता नहीं और प्रकृति डालती है विकार। लोग नेचरकी माँग पूरी करनेमें लग जाते हैं। गुरु और शास्त्रसे विमुख होने पर आखिर क्या करेंगे, नेचरकी माँग पूरी करते हैं।

अच्छा देखो, तो क्या हुआ कि गुरुके बिना तो इन्द्रकी चल नहीं सकती और वैदिक संरक्षण इनका चला गया। उन्होंने कहा कि हम विश्वरूपको गुरु बनावेंगे। विश्वरूप माने यह जो दुनिया है, इसको देख-देखकर प्रयोगशाला बनावेंगे और प्रयोग करके साईंसके द्वारा-विज्ञानके द्वारा; यन्त्रके द्वारा, दुनियाकी एक-एक चीज देखकर हम ऐसे आविष्कार करेंगे, विश्वरूपसे हम शिक्षा-दीक्षा लेंगे और विजयी होंगे।

यह भागवतमें कथा है और भी अनेक पुराणोंमें यह कथा है। पर आप वहाँ पढ़कर इसको समझ नहीं पाओगे जल्दी। विश्वरूपको गुरु बनाया। अब विश्वरूपको गुरु बनानेका अर्थ है दुनियामें अनुभव करके सीख लेंगे। शराब पीकर सीखेंगे कैसा नशा होता है। चोरी करके सीखेंगे कैसी सजा मिलती है। जुआ खेलकर सीखेंगे—उससे पैसा कैसे जाता है। जहर खा-खाकर देखेंगे उसमें क्या सामर्थ्य है। विश्वरूपका परीक्षण करके माने अपने बड़े-बूढ़ोंके अनुभवोंसे लाभ न लेना और प्रत्येककी परीक्षा करना, विश्वरूपका यही अनुभव है।

अब हुआ क्या कि विश्वरूपके तीन मुँह थे, एक सात्त्विक, एक राजस और

एक तामस। विश्वरूपमें तीनों बात होती हैं, दुनियामें तो सब होती है। वेद कहता है देखो, ब्रह्म एक है, प्रकृति एक है, विश्व एक है, इसमें पंचभूत एक है, सब कुछ एक-एक-एक करने पर धर्मकी स्थापना कैसे होगी? तो विश्वरूपने क्या किया? वह एक मुँहसे तो यज्ञ करे और सोमपान करे—अमृत पीये समझो, दूसरे मुँहसे अन्न खाये और तीसरे मुँहसे शराब पीये। देखो, सात्त्विक, राजस, तामस। एक ओर बापका सम्बन्ध देवतासे, माँका सम्बन्ध दैत्यसे। अब विश्वरूप क्या करेगा? विश्वरूपपर जिनकी दृष्टि जायेगी वे कहेंगे यह भी मनमें आता है यह भी आता है, यह भी आता है, यह भी तो संसारकी एक स्थिति है, वे संसारके विकारोंको स्वीकृति दे देंगे। यह जहाँ तक साईंसकी खोज है, जहाँ तक विज्ञानकी खोज है, उस जड़ दृष्टिसे भी सृष्टिमें समता है और चैतन्य दृष्टिसे भी विश्वमें समता है। जड़ विकसित होकर चैतन्य हो जाता है और चैतन्य विकृत होकर जड़ हो जाता है। अंगूरमें-से जीव पैदा होता है, जीव मरनेके बाद राख हो जाता है। इसको बोलते हैं जड़ताकी समता। जड़की समता दूसरी चीज है और वैदिक समता दूसरी चीज है।

अब विश्वरूप बना गुरु और इन्द्र बने उसके चेला। तो एक बार उसने अपने विज्ञानके बलपर, मनोविज्ञान भी जानता था विश्वरूप, विज्ञानकी भी उसने स्थापना की और इन्द्रको नारायण-कवचका उपदेश किया और इन्द्र विजयी हुए। एक दिन हो रहा था यज्ञ, तो विश्वरूपने क्या किया? एक आहुति असुरोंको दे, और एक आहुति देवताओंको। यह विज्ञान युद्धकी भी प्रेरणा देता है और जीवनकी भी प्रेरणा देता है। यह चाहे तो एक साथ सबको मार डाले और चाहे तो जीवन दे। यह तो जड़ है। मनुष्य अपनी वासनाके अनुसार इसका उपयोग करता है। वासनामें कोई नियन्त्रण होता नहीं। अब इन्द्रको मालूम पड़ गया कि यह जो पुरोहित बना है हमारा और भीतरसे पक्षपात रखता है दैत्योंका। मनकी माँग पूरी करो, नहीं तो रोग हो जायेगा, यह कौन-सा पक्ष है? यह विश्वरूपका पक्ष है। वेदका पक्ष नहीं है। वेद कहता है—यह करना और यह नहीं करना। यह उचित, यह अनुचित, यह धार्मिक, यह अधार्मिक, यह न्याय, यह अन्याय। यह बात वेद बताता है। और, ये बताते हैं क्या? कि तुलसीदलमें अमुक-अमुक विटामिन हैं और अमुक-अमुक तत्त्व हैं। ऐसी दवा कोयलेसे भी बनती है जिसमें वही सब विटामिन आजाते हैं और वही तत्त्व आजाते हैं। तुलसी खाओ चाहे कोयला खाओ!

उससे क्या हुआ? इन्द्रने विश्वरूपको मार डाला कि विश्वरूपसे काम नहीं

चलेगा। तो हत्या लगी। अब देखो हत्या क्या लगी? इन्द्रका कर्तृत्व, यदि बृहस्पति होते तो बताते। अरे! एक बार तुम्हारी जीत हुई थी और अपनेको जेता मानते थे, कर्त्ता मानते थे, तो यक्षके रूपमें आकर ब्रह्मने तुम लोगोंका गर्व दूर किया था। बताया था—कर्त्ता आत्मा नहीं है, कर्त्ता ब्रह्म नहीं है, कर्तृत्वका अभिमान मत करो, लेकिन इस बार समझानेवाला कोई वैदिक गुरु था ही नहीं। इसलिए विश्वरूपको मारनेकी बात आ गयी। एक परब्रह्म परमात्मा, अब इसमें उचित अनुचितका विभाजन करनेवाला कोई वैज्ञानिक तत्त्व नहीं था। कोई तात्त्विक स्थिति नहीं थी। वह तो वेद वाक्यसे ही उसका विभाजन होता, तो कोई वेदका जानकार बृहस्पति उनके पास था ही नहीं। और उधर त्वष्टा हुआ नाराज। त्वष्टा माने दुनियाको गढ़नेवाला बढ़ई। त्वष्टा—बढ़ई हुआ नाराज, उसने कहा कि इन्द्रके मनमें भेदभाव है, उसने वृत्रासुरकी सृष्टि की यज्ञ करके। त्वष्टाने वृत्रासुरकी सृष्टि की। वृत्रासुर माने आवरण। बड़ा-बड़ा मेघ जो छा जाता है आकाशमें, उसको वैदिकी भाषामें वृत्रासुर बोलते हैं और वृत्र आवरण है। वरणात्—आवरणात्। आवरण करनेके कारण ही आवरण और वृत्रासुर बोलते हैं। छा गया इन्द्र पर। निगल गया इन्द्रको, दबा लिया इन्द्रको।

अब गुरु नहीं, बृहस्पति नहीं, वेद नहीं, रक्षा कैसे हो? तो सब लोग अन्तमें बोले—भाई, यह विश्वरूपसे काम नहीं चलेगा, विष्णुरूपकी शरण लो। विष्णु माने व्यापक रूप होता है। दृश्य पदार्थकी शरण मत लो, दृश्य विज्ञानसे काम नहीं चलेगा, अदृश्य-विज्ञानकी शरणमें जाओ। तो अदृश्य-विज्ञानके ज्ञाता विष्णुने यह निर्णय किया कि बिना वेदके काम नहीं चलेगा, वेदका ज्ञाता चाहिए पुरोहित। दध्यङ् अथर्वण ऋषिकी शरण ग्रहण करो। जिसको बोलते हैं दधीचि—दध्यङ्ङाथर्वण ऋषि। बोले—भाई बृहस्पति नाराज हैं अब दध्यङ्ङाथर्वणसे काम कैसे चलेगा? तो दध्यङ्ङाथर्वण भी वेदके ज्ञाता हैं और बृहस्पति भी वेदके ज्ञाता हैं, पर दोनोंमें फर्क है।

यह आज आपको कथा सुनाने लग गया पुराणकी, लेकिन आप इसको मामूली कहानी नहीं समझना। दध्यङ्ङाथर्वण अर्थराशिके विद्वान् हैं और बृहस्पति शब्दराशि और अर्थ राशि— दोनोंके विद्वान् हैं। इसमें फर्क है भला। तो धर्म शब्दराशिसे भी सम्पन्न होता है। जो ब्राह्मण वेदके मन्त्रका अर्थ न जानता हो और यज्ञमें उसका ठीक-ठीक उच्चारण कर दे, तो उस उच्चारणसे धर्मकी उत्पत्ति हो जाती है, इसको अपराविद्या बोलते हैं। यदि यज्ञमें पुरोहित अपराविद्याका विद्वान्

होवे और पराविद्याका विद्वान् न भी होवे, तब भी वह वेद मन्त्र बोलेगा तो उसके उच्चारण रूप कर्मसे अपूर्वकी उत्पत्ति होगी, उससे धर्मकी सिद्धि हो जावेगी।

अर्थराशि क्या है कि पराविद्या जो वेदकी है वह अर्थ राशि है। पराविद्या क्या? **यया तदक्षरमधिगम्यते**। मुण्डकोपनिषद्के प्रारम्भमें ही यह प्रसंग आया है, जिससे अक्षर तत्त्वका जो ज्ञाता है वह पराविद्याका ज्ञाता है। अर्थके रूपमें परमात्माको जाननेवाला। तो दध्यङ् अथर्वण ऋषिने क्या किया? अब ज्ञानका माहात्म्य बताया, अपने शरीरकी हड्डी दे दी। खुद मर गये और अपने शरीरकी हड्डी दे दी। और ब्रह्मविद्या प्राप्त जो महापुरुष है उसकी हड्डीसे वज्र बना और वज्रसे वृत्रासुरका नाश हुआ—आवरण भंग हुआ समझो। लेकिन फिर भी वेदका आश्रय तो था ही नहीं। आवरण पूरा नहीं गया। असत्त्वापादक आवरण मिट गया और अभानापादक बना ही रहा।

फिर आया कर्त्तापन इन्द्रके मनमें, बोला—वृत्रासुरकी हत्या लगी। जब विज्ञानसे सिद्ध है कि जाग्रत-स्वप्न-सुषुप्ति-समाधि एक है, अंगूर भी वही है और अंगूरकी राख भी वही है, पंचभूत है। लौकिक विज्ञान तो यही है, पंचभूत है—राख है। अब वृत्रासुरकी हत्या कैसे छूटे? यह निश्चय हुआ कि यदि बृहस्पति नहीं आवेंगे तो वृत्रासुरकी हत्या नहीं छूटेगी। बुलाये गये, समादृत बृहस्पति आये। फिर बृहस्पतिने यज्ञ करवाया इन्द्रसे। वही भेदभाव फिर आगया माने यह जो जगत्का मूल तत्त्व है वह वस्तुरूपसे एक है, उसमें यदि लौकिक दृष्टिसे भेदकी स्थापना की जाये तो वह भी गलत, पारलौकिक दृष्टिसे भेदकी स्थापना की जायेगी तो वह भी गलत और अपनेको कर्त्ता मानकर बैठोगे तो भी गलत और अपनेको अकर्त्ता मानकर बैठोगे तो वह भी गलत। वेद जो बताता है वह 'अध्यारोपापवादाभ्यां निष्प्रपंचं प्रपंच्यते'—जहाँ व्यक्तिकी बुद्धिसे ज्ञान होगा वहाँ व्यक्तिका बाध नहीं होगा। इसीलिए वेदका सिद्धान्त यही है कि व्यक्तिकी बुद्धिसे नहीं, वचन-जन्य बुद्धिसे, महावाक्यजन्य वृत्तिसे अज्ञानकी निवृत्ति होती है। अत: वेदको अपौरुषेय मानते हैं।

विश्वरूपका जो ज्ञान था वह पौरुषेय ज्ञान था। इन्द्रको जो विश्वरूप गुरुसे प्राप्त हुआ वह पौरुषेय ज्ञान प्राप्त हुआ। जैसे डाक्टर लोग सौ रोगीको मारकर एक दवाके बारेमें निश्चय कर पाते हैं कि यह इस रोग पर कैसी रहती है। जो डाक्टर मूलत: प्रयोग करते हैं। सौ चूहे जब मारे जाते हैं, एक-एक दवासे, जब सौ-सौ खरगोश पर प्रयोग किया जाता है. जब सौ-सौ बन्दर मारे जाते हैं, तब मालूम पड़ता है कि

यह चीज किसीके खूनमें जाकर-पेटमें जाकर क्या असर डालती है। यह विद्या पौरुषेय विद्या है। इसमें भ्रम भी होता है, प्रमाद भी होता है, करणापाटव भी होता है और विप्रलिप्सा—ठगनेकी बुद्धि भी होती है। तो पौरुषेय ज्ञान अनर्थका हेतु होता है। विश्वरूपका जो ज्ञान था, वह पौरुषेय ज्ञान था। और बृहस्पतिका जो ज्ञान है वह अपौरुषेय ज्ञान है। यह **बृहती पतिः**। इसीलिए इनको बृहस्पति बोलते हैं। 'बृहती' छन्द भी होता है वेदमें। अब तीन बात होनी चाहिए जिसको बृहस्पति कहते हैं बृहद्, ब्रह्म, महत्। **बृहद् ब्रह्म महच्चेति शब्दाः पर्यायवाचकः।**

बृहत् कहो, ब्रह्म कहो, महत् कहो, ये शब्द पर्यायवाची हैं। **एभिः समन्वितो राजन् गुणैर्विद्वान् बृहस्पतिः।** ये तीनों बात जिस विद्वान्में इकट्ठी होवें उसको बृहस्पति बोलते हैं। जैसे आजकल वाचस्पतिकी उपाधि देते हैं। जैसे अंग्रेजीमें थीसीज लोग लिखते हैं तो 'डाक्टर' होते हैं, ऐसे संस्कृत युनिवर्सिटीमें जैसे कोई आचार्य होनेके बाद तीन वर्षतक और अध्ययन करता है और ऋस्यर्चा करता है—रिसर्च, अनुसन्धान करता है तब उसको वाचस्पतिकी पदवी दी जाती है, व्याकरणाचार्यके बाद वह वाचस्पति हुआ। संस्कृत युनिवर्सिटीमें राधाकृष्णनको वाचस्पतिकी पदवी दी सम्मानार्थ। तो यह वाचस्पति है। वाचस्पतिका अर्थ यह है—

बृहत्त्वात् ब्रह्मत्वात् महत्त्वाद् वा बृहस्पतिरिति उच्यते।

अब आपको बड़ी पुरानी बात सुनाता हूँ। हमारे तो भई, चेलाई थी न, माने किसीके विवाह होता था, यज्ञोपवीत होता था, सत्यनारायणकी कथा होती थी, हमारे पिता जाते, हमारे पितामह जाते, हम भी कुछ थोड़े दिनों तक समझो सोलह-सत्रह वर्ष तक जाते रहे। जब होम होता, तो वेदका एक मन्त्र, होम करनेके लिए बृहस्पतिकी पूजा करानेके लिए बोला जाता। वैसे वेदमें बृहस्पतिसे प्रारम्भ होनेवाले मंत्र बहुत हैं। एक दो नहीं हैं, बहुत हैं।

बृहस्पते अति यदर्यो अर्हाद्द्युमद्विभाति क्रतुमज्जनेषु।
यद्दीदयच्छवस ऋतप्रजात तदस्मासु द्रविणं धेहि चित्रम्॥ शु. य. अ. 26 मं. 3

ऐसे मन्त्र आता है। यह बृहस्पतिका मन्त्र है—हे बृहस्पते! जो सबसे श्रेष्ठ है—'अर्हादर्या'—जो श्रेष्ठसे भी श्रेष्ठ है परमेश्वर, सबका स्वामी, जब कोई यज्ञ करता क्रतुमद् जनेषु। तब उसके जीवनमें 'द्यौमत् बिभाति'—प्रकाशमान होकर वह प्रकट होता है।

ऋतप्रजात तदस्मासु द्रविणं धेहि।

यह बृहस्पतिका मन्त्र है शुक्ल यजुर्वेदका—उसी सर्वश्रेष्ठ स्वामीको तुम हमें दे दो। बोले—भाई, तुम सब कुछ छोड़कर उस सर्वश्रेष्ठ स्वामीको क्यों माँग रहे हो? धन माँगो, भोग माँगो, और कुछ माँगो। बोले—नहीं! हे सुप्रजात आप तो बड़े अच्छे ढंगसे उत्पन्न हुए हो, कुलीन पुरोहित हो, बृहस्पति हो **सुप्रजात,** तत्त्वज्ञानी हो, हमें यह दुनियादारोंको जैसा धन चाहिए, वैसा धन नहीं चाहिए—**द्रविणं तदस्मातु द्रविणं देहि चित्रं।** हमको मामूली धन नहीं चाहिए जिसको लेकर दुनियादार लोग अभिमानमें डूब जाते हैं, वह पैसा हमको नहीं चाहिए। **अस्मासु तत् चित्रं द्रविणं देहि** हमें तो वह चित्र-विचित्र—आश्चर्यजनक धन चाहिए जिसको प्राप्त करके तपस्वी लोग तपोधन हो जाते हैं, जिसको प्राप्त करके ज्ञानी लोग ज्ञानधन—बोधधन हो जाते हैं, हमको वह धन तुम दो। वह ब्रह्मविद्या प्रदान करो बृहस्पते!

यह मन्त्र है बृहस्पतिका। उस ढंगसे आपको सुनावें तो उसमें बड़े विलक्षण-विलक्षण वर्णन हैं।

बृहस्पते जय०—हे बृहस्पते! ऐसी कृपा करो कि हम अन्नमय कोशपर विजय प्राप्त कर लें!

बृहस्पते याहिरथेन—हे बृहस्पति देवता, तुम रथपर बैठ करके—मनोरथपर बैठकर ईश्वरके पास जाओ और उससे कहो कि वह हमारे जीवनमें प्रकट होवे। यह इस बृहस्पतिका वेदोंमें वर्णन प्राप्त होता है। यह बृहस्पति गुरु है। जो लोग समझते हैं हम तर्कसे ज्ञान सिद्ध कर देंगे, युक्तिसे ब्रह्मज्ञान सिद्ध कर देंगे, यन्त्रसे ब्रह्मज्ञान सिद्ध कर देंगे, अरे जो लोग सच्चे जिज्ञासु नहीं हैं या विरक्त नहीं हैं उनको कोई कैसे भी बहका ले। ब्रह्म युक्तिका बेटा नहीं होता, ब्रह्म तर्कका बेटा नहीं होता, ब्रह्म बुद्धिका बेटा नहीं होता, ब्रह्म पौरुषेय-ज्ञानका विषय नहीं होता, ब्रह्म किसीके वक्तृत्वके अभिमानका पोषण नहीं करता, यह ब्रह्म बृहस्पतिसे प्राप्त होता है। यह गुरु तत्त्व है।

अब देखो, दूसरी बात आपको सुनाते हैं। बृहस्पति प्रेम तत्त्व भी है। आप जानते हैं बृहस्पति जब किसीको अरिष्ट होता है तब पुषराज धारण करते हैं। उसको संस्कृतमें बोलते है—पुष्पकमणि। हमारे कानपुरमें एक साधु रहते थे बड़े वृद्ध, बिलकुल मरणासन्न थे। उनके पास एक पुष्करलिंग था, मय अर्घाके सब-का-सब पुष्कर ही था—सारा पुषराज। वह चमचम चमके पीला-पीला, उसमें-से वासन्ती छटा निकले, कभी-कभी चमचम चमके। किसी राजाने मध्य-प्रदेशमें

खरीदा था, पर खरीदनेके बाद उनके यहाँ कुछ हानि हुई तो उन्होंने महात्माको दे दिया। उसकी उन दिनों, माने अबसे पचासों वर्ष पहले जब उनको मिला था, तब सवा लाख कीमत थी। और मैंने अबसे पन्द्रह वर्ष पहले देखा था। तो एक रातको डाकू आये और उनको मारकर छीन ले गये। तो वह पुषराज होता है, पीला; यह क्या है ? कि यह प्रेमका देवता है। बृहस्पतिका रंग भी पीला है। सूर्यका, मंगलका रंग लाल है, चन्द्रमा और शुक्रका श्वेत है, बुधका हरा है, शनिका नीला है। बृहस्पतिका पीतवर्ण है, प्रेमका देवता है।

अच्छा, अब आपको संक्षेपमें थोड़ी बात सुनाते हैं। बृहस्पति माने जीव होता है। यह वाक्पति है, बृहस्पति है। आप देखो सबसे बड़ा पुरोहित कौन है ? यह वाणी जो हमारी बोलती है, इस वाणीके पीछे जो बोलनेवाला बैठा है, वह हमारा पुरोहित है। अगर वह बिगड़ गया तो हमारा सारा व्यवहार बिगड़ जायेगा। पैसेसे व्यवहार सिद्ध नहीं होता, कपड़ेसे व्यवहार सिद्ध नहीं होता, चन्दन-अक्षत मालासे व्यवहार सिद्ध नहीं होता। हमको एक बहुत बड़े महात्माने वर्षों पहले बचपनमें यह बात बतायी थी, व्यवहार माने शब्दोच्चारण—**व्यवहारः शब्दोच्चारणम्।**

यह जो हम अपनी जीभसे बोलते हैं, इससे किसीको दुश्मन बना लेते हैं, किसीको दोस्त बना लेते हैं, किसीको प्रेयसी बना लेते हैं, किसीको माँ बना लेते हैं, यह वाणी सृष्टिका निर्माण करती है। वाणीसे सृष्टि उत्पन्न होती है। ये नाम जितने हैं दुनियामें ये सब शब्दसे बने हैं। क्रिया जितनी है वह शब्दसे ही बनी है और उपसर्ग जितने हैं ये सब शब्दसे ही बने हैं। अव्यय जितने हैं, यह चार प्रकारकी जो शब्द-राशि है वह जिह्वासे बनी है। इस जिह्वाके भीतर जो बैठा हुआ है, वह हमारा मुख्य पुरोहित है—वाक्पति वाणीका पति, जीव है, उसका नाम जीव है। वह व्यवहारको ठीक बनानेवाला बृहस्पति है। अच्छा, हमारा जप होता है जिससे, हम ईश्वरके मार्गमें बढ़ते हैं, वैखरी वाणीका पति वही, मध्यमा वाणीका पति वही, पश्यन्ती वाणीका पति वही और परावाणीका पति वही।

दुनियामें वक्ता वही और कर्त्ताका भाव वही, द्रष्टाका भाव वही और वक्ता, कर्त्ता और द्रष्टा समयके भावसे विनिर्मुक्त परावाक् चित्स्वरूप वही। तो आपका सबसे बड़ा पुरोहित कौन ? अरे जो भीतर मूलाधार चक्रसे, नाभिमें आता है, जो नाभिमें-से हृदयमें आता है, जो हृदयमें-से कंठमें आता है, जो कंठमें-से जीभमें आता है। श्रीमद्भागवतमें ऐसा इसका वर्णन है—

स एष जीवो विवरप्रसूतिः प्राणेन घोषेन गुहां प्रविष्टः।
मनोमयं सूक्ष्ममुपेत्य रूपं मात्रा स्वरो वर्ण इति स्थविष्टः॥ 11.12.17

अब आओ आपकी बृहस्पतिसे जान पहचान करायें। बृहत् माने वाक्, बृहस्पति माने वाक्पति। अब आप **स पुरोधसां च मुख्यं मां**—अपनी भलाई सोचनेमें सबसे पहले जो वस्तु होती है, वह वस्तु कौन-सी है? जीभसे शुरु करो और जीभसे बोला सुनो, यह जीभ महाराज सर्पिणी भी बन जाती है और अमृत भी बन जाती है। दुनियामें जितने सम्बन्ध बिगड़ते हैं, यह वाणीकी वजहसे बिगड़ते हैं। लोग इसके कारण जिन्दगी भर दुःख पाते हैं और इसी वाणीके कारण मनुष्यके व्यवहारका निर्माण होता है और वह जिन्दगी भर सुखी होता है। तो यह वाक् चार रूपमें भीतर घुसती है—वैखरी, मध्यमा, पश्यन्ती और परा। और, बृहस्पति यदि तुम्हें होना है, तो परावाक् पति, होते तुम ब्रह्म, पश्यन्ती वाणीके पति होते-होते द्रष्टा, मध्यमा वाणीके पति होते-होते कर्त्ता और वैखरी वाणीके पति होते-होते वक्ता। वक्ता-कर्त्ता एक ही अंशसे दो रूप समझो।

इस बृहस्पति वाक्पतिमें वस्तुतः अनुसन्धान करने पर यदि अनुसन्धान करें, तो, **केषु केषु च भावेषु चिन्त्योसि भगवन्मया।** प्रभु! हम तुम्हारा किस-किस भावमें चिन्तन करें? तो उत्तर निकलता है, श्रुति कहती है—**वाचं न विजिज्ञासीत्, वक्तारं विधातु।** बृहरादरण्यक श्रुति बोलती है, वचन क्या है इसका ख्याल मत करो, यह बोल कौन रहा है उसकी खोज करो। नरकमें बैठकर मत बोलो, स्वर्गमें बैठकर मत बोलो। हमारे साईं थे वृन्दावनमें, वे कहते थे कि जब कोई वक्ता बोलने लगता है तो महाराज हम पहचान जाते हैं कि यह कहाँसे बोल रहा है? इसकी आवाज कहाँसे आ रही है? कोई वक्ता बिलकुल बाजारमें बैठकर बोलता है, कोई पड़ोसीके घरमें बैठकर बोलता है, कोई किसी सम्प्रदायके लड़ाई-झगड़ेमें बैठकर बोलता है। हम पहचानते हैं इस बातको, कौन कहाँ बैठकर बोल रहा है! जो परमात्मामें बैठकर बोलता है उसकी वाणीमें समत्व होता है, उसकी वाणीमें अन्तर्मुखता होती है, उसकी वाणीमें ब्रह्म होता है, उसकी वाणीमें ब्रह्म बरसता है।

असलमें यह वाक्पति होना, वाक्पतिका अनुसन्धान, बृहस्पतिका अनुसन्धान, यह परमात्माका अनुसन्धान है।

अच्छा अब कल सुनावेंगे।

☆

पुरोधसां च मुख्यं मां विद्धि पार्थ बृहस्पतिम्।
सेनानीनामहं स्कन्दः सरसामस्मि सागरः ॥ 24 ॥

भगवान् कहते हैं कि पार्थ, मुझे जानो। पहचानो। पार्थ शब्दका अर्थ है जो कुन्तीका पुत्र है पृथा माने कुन्ती। **प्रथनात् पृथाः** जो सारे संसारमें प्रसिद्ध होवे उसको पृथा कहते हैं। उस पृथाका जो पुत्र है उसको पार्थ, पृथा—कुन्ती।

और **पार्थ**का अर्थ है—**परमेश्वरार्थ**।'प' माने परमेश्वर और अर्थ माने प्रेरित, 'प' और अर्थ, पार्थमें दो शब्द हैं। **पः परमेश्वरः अर्थो यस्य**। जो केवल श्रीकृष्णको ही अपना अर्थ समझता हो।

दुर्योधनसे, श्रीकृष्णने कहा कि मैं या सेना! दुर्योधन बोला सेना। अर्जुनसे श्रीकृष्णने पूछा—मैं या सेना? अर्जुनने कहा कि तुम। तो कृष्णको ही अपने सम्पूर्ण जीवनका जो अर्थ माने उसका नाम पार्थ।

संस्कृतमें एक शब्द आता है—अपार्थ, उसका अर्थ होता है व्यर्थ, बेमतलब। जो पार्थ न हो वह कौन? बोले—अपार्थ, उसका जीवन बेमतलब। अपार्थ हो गया उसका जीवन। अपगतार्थ, अर्थ रहित। शून्य हो गया उसका जीवन जो पार्थ नहीं है। माने जो दुनियामें परमेश्वरको पाना नहीं चाहता। धन चाहता है, भोग चाहता है, कल कारखानेमें लगा हुआ है, बोले—उसका जीवन अपार्थ है, क्योंकि ये सब चीजें जानेवाली हैं, रहनेवाली नहीं हैं। तो हे पार्थ! हे अर्जुन! **पुरोधसां च मुख्यं बृहस्पतिं मां विद्धि**। संसारमें सब पुरोहितोंमें जो मुख्य है—मुखिया हैं—सर्वश्रेष्ठ हैं उन बृहस्पतिको मेरा स्वरूप समझो।

आपको बृहस्पति शब्दका अर्थ उस दिन बताया था। अब आपका एक ओर ध्यान खींचता हूँ। बृहस्पतिको वाक्पति बोलते हैं। और, बृहस्पतिको जीव भी बोलते हैं, संस्कृत भाषामें ऐसे समझो कि जब कोई मर जाता है तो हमारे गाँवमें बोलते हैं—बोलते राम चले गये। तो यह शरीरके भीतर जो बोलते राम हैं, बृहस्पति, वाणीके पति, वाक्पति, यह जो बोलते हुए राम हैं उनको बृहस्पति

बोलते हैं। तो सब बृहस्पति नहीं होते। बोलना सबको नहीं आता। बोलनेका सबसे बढ़िया गुर यह है कि जिससे बोला जाये, उसके हृदयमें सुखका संचार हो। देखो पंखा इसलिए चलाते हैं कि बैठे हुए लोगोंकी गर्मी कम हो जाये। और बल्ब किसलिए जलाते हैं? कि लोगोंकी आँखके सामने जो अन्धकार है वह दूर हो जाये। तो बोलते किसलिए हैं? कि कोई रास्ता भटक गया है, उसको रास्ता मालूम पड़ जाय। बोलते इसलिए हैं कि कोई दुःखी हो तो सुखी हो जाये। यह दानमें पैसा किसीको देते हैं क्यों? भूखे मर रहा हो तो उसकी जीविका चल जाये। दवा किसीको क्यों देते हैं? उसका रोग निवृत्त हो जाये, कपड़ा किसीको क्यों देते हैं? जाड़ा निवृत्त हो जाये। इसी प्रकार यह वाग्दान जो है, हम किसीसे बोलते क्यों हैं? कि अगर वह मौतके रास्तेमें जा रहा हो, गड्ढेमें गिरने जा रहा हो तो बच जाये गड्ढेमें न गिरे, वह अगर बेवकूफ बनने जा रहा हो तो बेवकूफ न बने, वह अगर दुःखी होने जा रहा हो तो दुःखसे बच जाये। हम अपने हृदयमें, अपनी झोलीमें जैसे पैसा भरा हुआ हो और उसको हाथसे उठाकर बाँटा जाय; वैसे हमारे हृदयमें जो सुख भरा हुआ है उस सुखको बाँटनेके लिए बोला जाता है।

यह वाणी विकीर्ण होती है—माने बिखरती है—फैलती है। जैसे पैसा लुटाया जाता है, वैसे शब्दोंकी पूँजी, शब्दोंका धन भी लोगोंमें लुटाया जाता है। तो **बोलिये तो तब जब बोलिबे की रीति जानो**। बोलना आवे तो बोलो, नहीं तो मौन ही रहिये। मौन रहना अच्छा है। दूसरोंको दुःख पहुँचानेके लिए बोलना अच्छा नहीं है। बोले तो दूसरोंको सुख देनेके लिए बोलें, तब तो वह वाचस्पति है।

आपको एक वेदान्तकी बात सुनाता हूँ। यह जैसे व्यवहार और परमार्थ दो बात बोलते हैं, यह व्यवहार है, यह परमार्थ है। तो वेदान्तमें यह प्रश्न उठाया कि व्यवहार क्या है? वहाँ उसका उत्तर है—**व्यवहारः शब्दोच्चारणम्। स्फुरणरूपो वा**। व्यवहार माने शब्दका उच्चारण। हम बोलकर ही मित्रको शत्रु बना देते हैं और हम बोलकर ही शत्रुको मित्र बना लेते हैं। अगर अपने बापको कोई पुकारे और 'माँका खसम' बोले तो लड़ाईकी बात हुई कि नहीं? और पिताजी कहकर बोले तो? प्रेम हो गया। अब हैं तो वह पिताजी ही, 'माँका खसम' कहो तब भी पिता मतलब हुआ और पिताजी कहो तब भी मतलब 'पिता' हुआ, लेकिन एक बोली तो है न! बोली, हृदयमें जो अमृतकुण्ड है। उसके लिए ऐसा बढ़िया लिखा विश्वनाथ चक्रवर्तीने **कस्मिन्नेव निमज्जयामि भवति नो...**श्रीकृष्णलीलाका अमृत हमारे हृदयमें भरा हुआ है, हे वाग्देवी मैं उसमें तुमको डुबोता हूँ।

देखो रसगुल्लेको चाशनीमें डालते हैं, गोल-गोल बनाकर, गुलाब जामुन जैसे बनाते हैं, ऐसे अपनी वाणीमें जो शब्द हैं उनको हृदयामृतकी चाशनीमें डुबो-डुबोकर बोलना चाहिए।

वाणीमें तीन गुण होना आवश्यक है—वह सुननेवालेकी उम्रको लम्बी करे, छोटी न करे। जब सुननेवालेके दिलमें धक्का लग जायेगा। हम एक बात आपको सुनाते हैं—दो मित्र समझो, क्योंकि हम ज्यादा खुलासा करेंगे तो वे समझ जायेंगे। दो मित्र आपसमें टेलीफोन पर बात कर रहे थे। सामनेसे मित्रने झूठमूठ हँसीमें ऐसी बात कही कि वह टेलीफोनका रिसीवर हाथसे छूटकर गिर पड़ा और वहीं हार्टअटैक हो गया, आदमी महीनों बीमार रहा। टेलीफोन पर शब्दकी चोट लगी।

तो बोलना ऐसा चाहिए जिससे सुननेवालेकी उम्र बढ़े। और सुननेवालेको कोई धोखा हो रहा हो, वह अज्ञानमें फँसा हो तो उसका वह अज्ञान मिट जाये और उसको कोई दुःख हो तो वह दुःख दूर हो जाये—ऐसा बोले। श्रीमद्भागवतमें द्रौपदीके बोलनेका वर्णन है—**धर्म्यं न्याय्यं सकरुणं निर्व्यलीकं समं महत्।** छह गुण थे द्रौपदीके वचनमें। 1. धर्मसे तो कभी दूर होती नहीं थी, उसकी बात धर्मानुकूल होती थी। और 2. '*न्याय्यं*'—दो टूक फैसला कर देती थी। और 3. उस फैसलेमें भी करुणा भरी रहती थी। और 4. निर्व्यलीकं—और बिलकुल सच्चा। 5. समं—रागद्वेष रहित। और 6. महत्—उदारता। दो आदमियोंमें पाँच-पाँच रुपयोंके लिए झगड़ा हो, तो जिसके पास पाँच रुपया है, रहने दिया और दूसरा जो पाँच रुपयेके लिए मर रहा था, उसको अपने पाससे निकालकर दे दिया। उदारतासे पूर्ण। खाली जबानी जमा-खर्चसे तो काम नहीं चलेगा, थोड़ी उदारता भी चाहिए।

निर्व्यलीकं समं महत्—जब द्रौपदी ऐसा वचन बोलती थी तो श्रीकृष्ण वाह-वाह बोल उठते थे। क्या बढ़िया निर्णय दिया द्रौपदीने। यह श्रीमद्भागवतमें छह गुण बताये हैं द्रौपदीके वचनके। तो 'बोलिये तो तब जब बोलिबेकी रीति जानो।' **विद्धि पार्थ बृहस्पति।** यह वाक्पति है ईसमें परमात्माको ढूँढो। माम्—माने परमात्मा—श्रीकृष्ण। और, बृहस्पतिम् माने वाक्पति।

व्यवहारो शब्दोच्चारणं—वाली बात आपके ध्यानमें रहे। जितना व्यवहार है उसमें विनय, उसमें हितैषीपना जरूर होना चाहिए। उसमें कड़वाहट बिलकुल न हो, ऐसा वचन बोलना चाहिए। जहाँ वाचिक तपस्याका वर्णन गीतामें है, वह आपके ध्यानमें होगा—

अनुद्वेगकरं वाक्यं सत्यं प्रियहितं च यत्। 17.15

अगर तुम अपने मुँहसे कभी ऐसी बात न बोलो जिससे किसीको उद्वेग हं जाये तो जैसे पंचाग्नि तप करनेवाले तपस्वीको पुण्य मिलता है, वही उद्वेग रहित वचन बोलनेवालेको प्राप्त होता है। अनुद्वेगकरं वाक्यं—ऐसा वाक्य बोलो वि जिससे हड़बड़ीमें न पड़े कोई। कोई भोजन करता हो तो वहाँ जुलाबकी चर्चा मत करो, नहीं तो कै आजायेगी बेचारेको। कोई सोने जा रहा हो तो उसे घाटेकी याद मत दिलाओ। अच्छा, थोड़ा बोलोगे तो याद भी थोड़ा ही रखना पड़ेगा, दुनियाकी कोई बात याद नहीं रखनी पड़ेगी। संसारका विस्मरण होता है इससे।

तो वाक्पतिका अर्थ है, देखो कि एक तो जो हम वैखरी वाणीसे बोलते हैं। आप किसीको कहो कि तुम हमारे मित्र हो और फिर चपत लगा दो एक, उसको अच्छा लगेगा और कहो कि तुम हमारे शत्रु हो और जरा आँख टेढ़ी करके देखो या उँगली उठाओ उसकी ओर मारपीट हो जायेगी।

यह भी एक बात है, आप समझो वाणीमें ईश्वर बैठा है, जिसको तुम कहोगे कि यह हमारा शत्रु है, वह तुम्हारा शत्रु हो जायेगा। जिसको कहोगे यह हमारा मित्र है, वह हमारा मित्र है, वह तुम्हारा मित्र हो जायेगा। कबतक वह मित्र कहनेवालेके साथ शत्रुता कर सकता है? जिससे कहोगे कि तुम्हारा प्रेम नहीं है, उसका प्रेम घट जायेगा। जिससे कहोगे कि तुम्हारा हमारे ऊपर बहुत प्रेम है, उसका प्रेम बढ़ जायेगा। यह वाणीमें सिद्धि बसती है।

हमारी वाणीमें भी मैंने देखा है कभी-कभी सिद्धि रहती है। कहोगे लो भला अपने मुँहसे अपनी सिद्धिकी बात करते हैं। बात ऐसी है कि सब सिद्ध होते हैं। चौबीस घण्टेमें एक मिनट ऐसा आता है कि तुम्हारे मुँहसे जो बात निकलती है वह बिलकुल सच्ची हो जाती है। रोज चौबीस घण्टेमें एक मिनट ईश्वर सबको यह सिद्धि देता है।

एक दिन हमारे पास एक सज्जन आये तो मैंने उनसे पूछा कि तुम पाण्डेय हो कि उपाध्याय? अब देखो अपनी सिद्धि बताते हैं। बोले कि महाराज आपको कैसे मालूम हो गया? मैं तो दोनों ही हूँ, पाण्डेय भी हूँ, उपाध्याय भी हूँ। भला एक आदमी पांडे और उपाध्याय कैसे होगा? तो देखो वाक्सिद्धि हो गयी न! वह बोला कि हमारा जन्म तो पाण्डे कुलमें हुआ है, लेकिन मैं गोद उपाध्यायमें चला गया हूँ। इसलिए पाण्डेय, उपाध्याय दोनों हूँ। आपके मुँहसे जो बात निकली वह झूठी कैसी होगी?

लो, मुँहसे बात निकली और सच्ची हो गयी। अच्छा भाई, अगर तुम हमको चाहते हो तो यह कहो कि तुम हमारे हो, तुम्हारा हमसे बहुत प्रेम है। और, यदि तुम यह चाहते हो कि हम तुमको नहीं चाहें, ऐसे बोलो तुम हमारे कोई नहीं हो, ऐसे बोलो कि तुम्हारा हमसे बिलकुल प्रेम नहीं है। अच्छा, तुम ऐसा समझते हो, तो ठीक है भाई, फिर क्या किया जाये।

देखो वाक् सिद्धि बताते हैं। एक दिन एक सज्जन हमारे पास आये तो उनको कोई बात समझानी थी देश, काल, वस्तुमें क्या फर्क होता है। तो उनसे कहा कि मान लो तुम्हारा वजन एक सौ चौदह पौंड है, वह स्त्री नहीं, पुरुष था, क्योंकि हल्की-फुल्की तो स्त्री होती है, वह पुरुष होनेपर भी जरा दुबला-पतला था, तो हमने कह दिया एक सौ चौदह पौंड। वह बोला—महाराज आपको कैसे मालूम है, मैं तो अभी तौलकर आ रहा हूँ, एक सौ चौदह पौंड ही था हमारा वजन। इसको 'बाईचांस' बोलते हैं न! संयोगवश। तो यह वाक्सिद्धि हो गयी।

ऐसे मनुष्य यदि बुरी बात अपने मुँहसे कहता रहे तो क्या पता जिस समय वह कहे वही वह क्षण हो जिसमें वाक्सिद्धि हो जाती है। क्योंकि तुम्हारे भीतर ईश्वर है, तुम वाक्पति हो तुम्हारे मुँहसे किसीके लिए अगर कोई शब्द निकलेगा तो वह तो ईश्वरकी वाणी है, कभी सच्चा हो जाये। तो कितना सावधान होकर बोलना चाहिए। यह नहीं कि वेग आया दिलमें और उसको उगल दिया।

देखो, घरमें कभी-कभी तुमको कै आती होगी, ऐसा कौन मनुष्य है जिसको कभी वमन न आता हो, लेकिन अगर पलंग पर बैठे-बैठे मितली आती है तो क्या पलंगपर कर देते हो? कि नहीं। जहाँ पानी बहानेकी जगह है। यह शब्दकी भी कै आती है, कभी-कभी वमन होता है। एक तो अपच नहीं होने देना चाहिए और दूसरेकी बुराई जब अपने दिलमें मनुष्य भर लेता है, जैसे कोई गन्दी चीज खा ले, कोई जिन्दा मक्खी मुँहमें घुस जाये और निगल ले मनुष्य। तो मक्खी निगलने पर क्या होता है? कै हो जाती है। तो जिसको कै होती है उसने मक्खी निगला हुआ है, इसी प्रकार जिसको शब्दोंकी कै होती है, वेगमें आकर चाहे जो उँडेल देता है, वह मक्खी निगले हुए है, यह पहचान है।

तो व्यवहार जितना है, वह शब्दोच्चारण है। आप किसीके पाँच रुपये ले लो और प्रेमसे बात करो तो पाँच रुपया लेना खटकेगा नहीं, और शत्रुतासे बात करो और लेओ नहीं, सिर्फ माँगो, बादमें कह देना कि हमको लेना नहीं था, हम तो

ऐसे ही माँग रहे थे, तो वह शत्रुतापूर्वक माँगना भी शत्रुता है और प्रेमसे छीन लेना भी प्रेम है। सारी मधुरता जीवनमें वाणीमें आती है, यह वाणी ही व्यवहार है। एक होता है आहार और एक होता है व्याहार। संस्कृत भाषामें 'आहार' शब्दका अर्थ है भोजन और 'व्याहार' शब्दका अर्थ है बोलना। व्याहार माने वाणी—व्याहृति-व्याहृत-व्याहार।

अब ढूँढो कि जीभके पीछे बैठकर बोलनेवाला कौन है? एक बात। यह जो गले, कंठ तालुमें जो आघात होता है, आपको मालूम होगा, यह अक्षर जो हम बोलते हैं, तो आपसमें हमारी जो नस नाड़ियाँ हैं, टकराकर तब बोलती हैं। जैसे 'क' है, कंठसे। 'स' बोलेंगे तो दाँतसे और ऋ, ष, ण, बोलो दिमाग पर असर जायेगा—**अकुह विसगनीयानां कंठा**। यह जो टक्कर होती है, यह कौन है जो हमारी नस-नाड़ियोंको हिलाकर आपसमें टकराता है जिससे आवाज पैदा होती है, वह कौन है? अच्छा, मन भी तो आपसे बोलता है, जीभ हिले नहीं 'आवाज हो नहीं' कंठ हिले नहीं और मन बात कर रहा है। बोले—हे प्यारे! तुम कहाँ छिपे हुए हो, तो मनके पीछे बैठकर कौन बोल रहा है? मन चुप हो गया—शान्त हो गया तो मन कहाँ चला गया? बोलनेवाला कहाँ सोया हुआ है? सपनेमें भी तो बात करते हैं। तो वहाँ बात करनेवाला कौन है? वह बोलनेवाला सुषुप्तिमें कहाँ चला जाता है? देखो, इसका अनुसन्धान करो तो जाग्रत्‌में बोलनेवाला, जीभको हिलानेवाला, फिर मनको हिलानेवाला, फिर मनको शान्तकरके चुप होकर सोनेवाला। अरे बाबा, परमेश्वर तो तुम्हारे भीतर बैठा हुआ है—वाक्पति। उसका नाम वाक्पति है, उसका नाम बृहस्पति है।

वही परमात्मा पहले मात्रा बनता है, फिर स्वर बनता है, फिर वर्ण बनता है और फिर वाक्य बनकर हमारी वाणीसे निकलता है। परमात्माको ढूँढना है तो **बृहस्पतिं मां विद्धि**। यह वर्णके पीछे स्वर और स्वरके पीछे मात्रा और मात्राके भीतर बैठकर परमात्मा हमको बोलनेकी शक्ति दे रहा है। तो आओ ज़ीवके रूपमें, वाक्पतिके रूपमें परमात्माको ढूँढ़ना, व्यष्टिमें और सम्पूर्ण वेदवाणीके ज्ञाताके रूपमें ढूँढ़ना, समष्टिमें, परमात्माको और महावाक्यसे दोनोंकी एकता समझना—यह बृहस्पतिमें परमात्माका अनुसन्धान है।

सेनानीनामहं स्कन्दः—यह बड़ा अद्भुत है। सबके साथ एक सेना होती है। बिना सेनाका कोई नहीं होता। पहले आपको पुराणकी कथा सुनायेंगे। सेना शब्दका दो अर्थ होता है, जिसमें वीर रहें उसका नाम सेना। **इनैः सहिता सेना**।

'इन' माने सूर्य। सूर्यके समान गतिशील और प्रकाशमान। और, अन्धकाररूप शत्रुको निवृत्त करनेवाले वीर पुरुष जिस झुण्डमें रहें उसका नाम होता है सेना। **इनैः सह सूर्यवत् गति शलिभिः पुरुषैः वर्तमाना सेनाः। स इना सेनाः** दूसरा सेना शब्दका अर्थ है **सिनोति बध्नाति इति सेनाः।** जो लोगोंको कैद कर ले, उसका नाम सेना। जो शत्रुओंको मार डाले उसका नाम सेना।

और सेनानी कर्म! **सेनान् नयति सेनानी। सेनान् नयन्त्यः इति सेनान्यः। तेषां सेनानी नाम। सेनान् नयति इति सेनानी।** जो सेनाका संचालन करे, उसका नाम सेनानी। यह जैसे सिंधियोंमें होता है, कई लोगोंके नामके पीछे बाधनानी, पमनानी, आस्वानी, आडवानी, रूपानी तो यह सेनानी है। यह 'अनी' नहीं है, 'नी' है केवल। 'अनी' माने तो सेना होता है। यह केवल 'नी' सेनापति। सेनानी।

सेनापति सृष्टिमें बहुत हैं, सेना लेकर दौड़ते हैं। भगवान् कहते हैं उन सेनापतियोंमें मेरा अनुसन्धान कैसे करना? देखो जो दस प्राण हैं, इनमें एक सेनापति है प्राण। प्राण सेनापति है। और अपान, व्यान, समान, उदान सब उसके अनुयायी हैं। ये इन्द्रियाँ हैं, इनमें सेनापति है नेत्र। इन्द्रियोंका सेनापति सूर्य है। भीतर मन सेनापति है। बुद्धि भी सेनापति है। अहंकार भी सेनापति है। विभाग हैं। माने गोली चलानेवाले सेनापति अहंकारके अधीन हैं। योजना बनानेवाले सेनापति मनके अधीन हैं और देश-विदेशके जो लड़ाईके अनुभव हैं, उनकी जानकारी रखनेवाले चित्तके अधीन हैं। निर्णय करनेवाले कि इस दिशासे आक्रमण करो और यों व्यूह बनाओ। और अब कर दो आक्रमण यह बुद्धिके अधीन है। ये सब सेनापति हैं शरीरमें।

अब उसमें एक है स्कन्द। स्कन्द कौन है? आप जानते हो शंकरजीके बेटेका नाम स्कन्द है। स्कन्द उसको इसलिए कहते हैं कि वह शिवजीके शरीरमें-से स्खलित होकर बाहर गिरा, समुद्रमें गया, अग्निके मुखमें गया, कृतिकाके मुखमें गया। षड्मुख बोलते हैं। स्कन्द और षड्मुख दोनोंका एक ही अर्थ है। छह जिसके मुँह हों उसका नाम षड्मुख। जो स्कन्दित हुआ हो—स्खलित हुआ हो—जो गिरा हो उसका नाम है स्कन्द। यह क्या चीज है? तो आप समझो कि एक तारकासुर हुआ, एक क्रौंचासुर हुआ—ये दो असुर हुए। देवताके मारे ये मरे नहीं। इन्द्र हार गये, अग्नि हार गये, वरुण हार गये, ब्रह्मा-विष्णु भी हार गये। शंकरजीने लड़ाई की तो इनके ऊपर भी उसने जृम्भास्त्रका

प्रयोग कर दिया और वे जंभाई लेने लगे। शंकरजी प्रलयके देवता, उनके मारे भी नहीं मरा।

क्रौंच पक्षीको बोलते हैं, चिड़िया हुई और एक तारकासुर है। इन असुरोंसे भेंट सबकी नहीं होती। किसी-किसीकी भेंट होती है इनसे। ये जो पक्षपात है न, चित्तमें ये साधकके जीवनमें आनेवाले असुर हैं। विषयी संसारी लोगोंको तो ये कभी दिखायी नहीं पड़ते। यह पक्षपात चित्तमें, वह क्रौंचासुर है। देखो अपने शालिग्रामको चन्दन लगाते हैं और दूसरेके शालिग्रामको उठाकर कहीं-का-कहीं रख देते हैं।

अनन्त कोटि ब्रह्माण्ड हैं। हर ब्रह्माण्डमें ब्रह्मा, विष्णु, रुद्र हैं और इन्द्र, चन्द्र, वरुण, कुबेर सब अलग-अलग और स्कन्द जो हैं ये चिदाभास। मायामें जो आभास है, मायामें जो चिच्छायाका आभास है, वह ईश्वर और अविद्यामें जो चिच्छायाका आभास है—अन्तःकरणमें जो चिच्छायाका आभास हैं वह जीव। यह स्कन्द समष्टिरूपमें चिदाभास होकर ब्रह्मा, विष्णु, महेशका भी संचालक है और व्यष्टिरूपमें यह चिदाभास होकर जितनी सेना हमारे पास है—यह इन्द्रिय सेना, प्राण सेना, वृत्ति सेना, हमारे चित्ताभाससे एक होकर उसका संचालन करता है।

अब इस आभासका अनुसन्धान करो तो यह किसका आभास है? तो कृष्ण बोले कि मैं मिल जाऊँगा। अगर ढूँढोगे इसमें तो मैं मिल जाऊँगा।

सेनानीनामहं स्कन्दः सरसामस्मि सागरः।

सेना कहते हैं उसको जिसका कोई संचालक हो—**इनेन-ईश्वरेण सह संचालकेन सह वर्तमानाः सेनाः।**

इनेन सहितासेना। बिना सेनापतिके सेना नहीं होती। नहीं तो सब जैसे बिखर जायें झुण्ड-का-झुण्ड। तो सब सेनापतियोंके सेनापति कौन हैं? स्कन्द। स्कन्द माने 'ईषत् चलितशिव'—शिव-पुत्रका नाम स्कन्द है। पुत्र भी कैसा? योनिज नहीं, मायासे संपृक्त नहीं, केवल आभास मात्र। स्कन्द माने आभास।

कश्मीरी शैव सम्प्रदायमें तो 'स्कन्द'-'स्पन्द' ईश्वरका ही नाम है। स्कन्दका जो अर्थ होता है वही स्पन्दका भी होता है। विमर्श-शक्तिसे युक्त जो शिव है। सम्पूर्ण जीव और जगत् जिसके विमर्शमें है। जैसे हमारे स्वप्नमें स्वप्नकी सारी सृष्टि, वैसे ही जिसके विमर्शमें सम्पूर्ण सृष्टि, वह स्कन्द है।

भोक्तैव भोग्यभावेन सदा सर्वत्र संस्थितः।
तेन शब्दार्थ चिन्त्यासु न स शब्दः न यः शिवः॥

भोक्ता ही भोग्य है। कर्ता ही कर्म है। कारण ही कार्य है। द्रष्टा ही दृश्य है। आनन्द ही भोग्य है।

कहनेका अभिप्राय कि एक परमात्माके सिवाय दूसरी कोई वस्तु नहीं है—जब इसका अनुसन्धान करोगे तब स्कन्दका अनुसन्धान होगा। नहीं तो राग-द्वेष हो जायेगा। संसारमें मनुष्य राग-द्वेषसे मृत्युको प्राप्त करता है और सब जगह परमात्माका दर्शन करनेसे दुःखसे, अज्ञानसे और मृत्युसे छुटकारा मिलता है।

सरसामस्मि सागरः—बात मोटी है। क्या कि सागरके किनारे तो आप लोग रहते हो और सरस आपने बहुत देखे होंगे। कई लोग गये होंगे अजमेर, अजमेरका सरोवर देखा होगा! ब्रह्म-सरोवर और मानसरोवर बहुत लोग तो नहीं गये होंगे! एक शिव-सरोवर है, और नारायण सरोवर भी है आप जानते ही

हैं। एक-एक देवताका एक-एक सरोवर और जैसे आँख सरोवर है। कान, मुँह ये सब, इनकी बनावट सरोवरकी तरह है। कोई त्रिकोण, कोई लम्बी, कोई गोल। बिन्दु-सरोवर गुजरातमें, सिद्धपुरमें है। कच्छमें नारायण-सरोवर है। सरोवर बहुत होते हैं। ये क्या हैं? ये ह्रद् हैं। इनको ह्रद बोलते हैं। वेदकी भाषामें इनको 'दहर' बोलते हैं। दहरोपासनाका नाम आपने सुना होगा।

प्रत्येक शरीरमें एक-एक दहर, एक-एक ह्रद है—सरोवर है। फिर उसको और लौकिक बनाओ तो एक-एक ह्रद है। ह्रद् बिगड़के ह्रद हो गया। ह्रद् है, ह्रद् है, दहर है। हृत्को हृत क्यों कहते हैं? **हरति संस्कारान् इति हृत्**। जो इन्द्रिय और विषयके सम्बन्धका, मन और विषयके सम्बन्धसे जो संस्कार होता है, उस संस्कारको जो इकट्ठा करके अपनेमें रख ले, उस आहरणशीलका नाम, संस्काराहरणशीलको ह्रद् बोलते हैं। और जलाहरणशील जो है उसको ह्रद् बोलते हैं। सोतोंका जो जल है, नालोंका जो जल है, नहरोंका जो जल है वह आकर जिसमें इकट्ठा होवे, उसका नाम सर-सरस। चाहे ट्यूबवैलसे निकालो, चाहे पहाड़में-से बहकर आवे, चाहे वर्षाका आवे, जहाँ जल इकट्ठा होता है उसीको 'सरस' बोलते हैं। **स्त्रियन्ते जलैः स्त्रियवन्ते** सारे जल चलकर जिसमें आवें उनका नाम सरस।

सरः सरसि सरांसि—मनः मनसि मनांसि।

अब ये जो तरह-तरहके सरस हैं, स्त्रीके हृदयमें एक सरोवर है, पुरुषके हृदयमें एक सरोवर है, जितने मनुष्य हैं सबके हृदयमें एक सरस है, एक सरोवर है। अब भला बताओ कि सरोवर तो बहुत हैं, परन्तु भगवान्का अनुसन्धान कहाँ किया जाये? तो बोले कि परमात्माका अनुसन्धान दधीचिरूपसे विराजमान जो सागर है उसमें करो।

सागरमें कैसे अनुसन्धान करें? कहते हैं जीवके लिए एक सहारा है। जीवके साथ विष जुड़ गया है—विषय-विष लग गया है। देवता, दानव मरने लगे हैं। अब अमृत कहाँ मिलेगा? सागरका मन्थन करो तब अमृत मिलेगा। यह सागर अमृतके उद्भवका स्थान है।

सगरपुत्रैः अश्वानुसन्धानार्थं कृतः सागरः।

सगरके बेटोंने घोड़ा ढूँढनेके लिए जिसको बनाया उसका नाम सागर। सगर माने सविष। जिसके साथ विष लगा हो, दुःख हो, अज्ञान हो, मृत्यु हो, इसीका नाम सगर होता है, यही सविष होना है। विषके निवारणके लिए क्या

चाहिए? अमृत चाहिए। अमृत कैसे? कि तुम्हारे पास जो साधन है, उससे समुद्रका मन्थन करो, उसमें परमात्माका अनुसन्धान करो। तो अब देखो **सगरस्य अयनः सागरः।** जो सगरसे सम्बन्धित है—सम्बद्ध है उसको सागर बोलते हैं।

अब सागरमें ईश्वरका अनुसन्धान कैसे करना, इसके लिए एक दो बात आपको सुनाते हैं। पहले सागरके भौतिक रूपको ही देखें। श्रीमद्भागवतमें लिखा है—

मुनिः प्रसन्नगम्भीरो दुर्विगाह्यो दुरत्ययः।
अनन्तपारो ह्यक्षोभ्यः स्तिमितोद इवार्णवः॥
समृद्धकामो हीनो वा नारायणपरो मुनिः।
नोत्सर्पेत न शुष्येत सरिद्भिरिव सागरः॥ 11.8.5-6

यह सागर क्या है? एक महात्मा है ऐसे वर्णन किया है—**मुनिः प्रसन्नगम्भीरः।** यह समुद्र कैसा है? बोले—प्रसन्न-गम्भीर है, इसका जल नीला-नीला हमेशासे निर्मल रहता है और गम्भीर बहुत है। यह महात्मा है। महात्माको कैसा होना चाहिए? हमेशा प्रसन्न होना चाहिए—निर्मल। और गम्भीर होना चाहिए। और **अक्षोभ्यः।** इसमें कोई चीज फेंक दो तो यह क्षुब्ध होनेवाला नहीं है। कैसा होना चाहिए? कि **स्तिमितोद इवार्णवः।** जैसे शान्त जलका समुद्र होता है ऐसे महात्माको होना चाहिए। अरे भाई, रहनी सीखो समुद्रसे। बड़ी विचित्र बात कही है। चाहे कुछ हो जाये, वर्षा हो गयी, समुद्रका जल निर्मल, गँदला नहीं हुआ। गहराईमें, उसकी गम्भीरतामें, ब्राह्मी स्थितिमें कोई फर्क नहीं पड़ा। प्रसन्न माने चित्तका निर्मल होना। प्रसन्नता माने चित्तकी निर्मलता और गम्भीरता माने अपनी ब्राह्मी स्थितिको कभी छोड़ना नहीं। और **अक्षोभ्यः**—क्षोभके जितने भी कारण आवें, क्षुब्ध होना नहीं। शान्त समुद्रकी तरह। सागरमें अनुसन्धान करो, समुद्रके किनारे बैठ जाओ, भगवान्‌का ध्यान करो, क्या विशाल समुद्र है व्यापक, ओर-छोर नहीं। समुद्र बड़ा कि पृथिवी? अरे बाबा, समुद्र तो बहुत बड़ा है। उसमें यह पृथिवी तो एक हिस्सा एक चौथाई है, तीन हिस्सा समुद्र है, परमात्माका अनुसन्धान करो—

पादोऽस्य विश्वा भूतानि त्रिपादस्यामृतं दिवि। पू.सू. 3

यह विश्वा भूतानि धरती है एक पाद और तीन पाद समुद्र है। सत्-चित्-आनन्द स्वरूप समुद्र है, सच्चिदानन्द समुद्र है।

इसीसे श्रीमद्भागवतमें बताया कि समुद्रसे सीखो, समुद्र गुरु है—

समृद्धकामो हीनो वा नारायणपरो मुनिः।
नोत्सर्पेत न शुष्येत सरिद्भिरिव सागरः॥ 11.8.6

क्या बढ़िया वर्णन किया, जैसे समुद्रमें नदियाँ गिरती हैं और कभी-कभी नदियाँ सूख जाती हैं, नहीं गिरती हैं देखो महानदी बरसातके दिनोंमें कैसी विशाल-कितनी बड़ी होकर गिरती है और गर्मीमें जाकर देखो महानदीकी क्या दशा—गोदावरी, कावेरी, सिन्धु, गंगा, ब्रह्मपुत्र—ये सब-के-सब समुद्रमें गिरती हैं—'सरिद्भिरिव सागरः।' लेकिन समुद्र 'नोत्सर्पेत न शुष्येत'—समुद्रमें बाढ़ भी नहीं आती और समुद्र सूखता भी नहीं।

इससे क्या सीखना चाहिए कि कभी चार रुपया आता है और कभी नहीं आता है। जिस दिन चार रुपया आगया उसदिन तो महाराज खिल गये। एक सेठको लगा टैक्स, ज्यादा लगा। आकर बोला—महाराज इतना टैक्स कैसे चुकावें? मैंने कहा अरे भाई कमाई हुई कि नहीं तेरे? कमाई हुई तो चुका दे। बोला—महाराज कमाई हुई, यह बात तो सच्ची है लेकिन जब कमाई हुई तो दस उसको दिया दस वहाँ फेंका, पार्टी उड़ाई और मौज की, वह तो सब खर्च हो गया, अब देंगे तब तो व्यापार ही हमारा खत्म हो जायेगा। ऐसे बोले कि अगर हम पूरा टैक्स चुकावेंगे तब तो हमारा व्यापार खतम हो जायेगा।

लो। यह भलेमानुसका काम नहीं है। **समृद्धकामो हीनो वा**—भले कामनाएँ पूरी होवें और भले कोई कामना पूरी न होवे। कैसे रहना? कि **नारायण परायण।** जैसे समुद्र अपने हृदयमें नारायणको धारण करके रहता है। समुद्र क्यों नहीं सूखता, समुद्र क्यों नहीं डूबो देता अपने तटको?

एक आदमीके पास चार पैसा आजाये तो वह गरीबकी झोंपड़ी भी उखाड़के फेंक दे कि हमारे मकानके पास उसकी झोंपड़ी रहेगी? हमारा महल बनेगा हम तुम्हारी झोपड़ी नहीं रहने देंगे। और जिस दिन नहीं आया, उस दिन सूखके काँटे। तो जिन्दगीमें कभी बाढ़ आनेका मौका आता है कभी सूखनेका मौका आता है, लेकिन समुद्र बाढ़ आनेसे घमण्ड नहीं करता और सूखनेसे उसको दु:ख नहीं होता। उसमें कमी-बेसी है नहीं। क्यों? कि नारायण परायणः। वह तो अपने हृदयमें नारायणको धारण करके बैठा हुआ है। नारायणका घर बन गया। नारायण रहते हैं समुद्रमें—क्षीर सागरमें। तो **नोत्सर्पेत न शुष्येत।** उत्सर्पण नहीं करे और सूखे नहीं।

अच्छा, अब एक बात देखो, समुद्रमें ईश्वर है। यह देवता और दानवोंको समुद्रमें ही तो ढूँढनेसे अमृत मिला था। उसीको अगर बोलते हैं। सागर शब्दका अर्थ समझो। अगर कौन है? अगर है अमृत। अगर है कौस्तुभमणि—उसमें कोई गरल नहीं है, भगवान् अपने गलेमें बाँधते हैं। तो **नास्ति गरो येन तत् अगरम्। अमृतम्।** जिसके साथ विष नहीं रहता उसका नाम है अगर। अगर माने अमृत। कौस्तुभमणि। एक ऐसा मणि है, वह मृत्यु प्रतिबन्धक है। वह अपने साथ रहे तो मौत नहीं हो सकती। और एक ऐसी औषधि है कि जिसको पी लें तो मृत्यु नहीं हो सकती। एक ऐसा मन्त्र है कि जिसका जप करें तो मृत्यु नहीं हो सकती, उसको अगर बोलते हैं। विष जहाँ काम न करे उसका नाम अगर। तो सागर कैसा है? कि जहाँ विष काम न करे। अमृत है उसमें। अमृतके सहित है, इसमें अमृत भरा हुआ है। उस अमृतका ध्यान करो। क्या सुनावें आपको उसकी महिमा, खुद तो खारा हो गया और दूसरोंको जितना पानी मिलता है पीनेको मीठा ही मिलता है। जब बादल आते और हाथ जोड़कर कहते हैं कि हे सागर! थोड़ा-सा जल हमको दे दो जाकर पहाड़ पर बरसें, वहाँसे वनस्पति औषधियोंको पानी मिले, वहाँके बाशिन्दोंको पानी मिले, पशु पक्षियोंको पानी मिले, मनुष्योंको पानी मिले और नदियाँ बहें देशमें, अन्न उत्पन्न हो, हे समुद्र थोड़ा पानी दे दो! तो समुद्रने कहा—भई, हमको बड़ा संकोच है देनेमें, क्योंकि हमारा पानी तो खारा है, हम दूसरेके लिए कैसे देंगे?

तो मेघने पूछा कि तुम्हें देनेकी रुचि है कि नहीं है? बोला—देनेकी रुचि तो है महाराज। अरे जब इतना सद्भाव है तुम्हारे अन्दर, तो तुम्हारा खारा भी मीठा हो जायेगा। जिसके हृदयमें सद्भाव होता है, उसका खारापन भी मीठा हो जाता है।

अब कोई कहे कि हम समुद्रमें कृष्णका अनुसन्धान करेंगे। तो अगर माने क्या होता है? अगर माने कृष्ण। कैसे? कि **अगं गोवर्धनं। न गच्छतीति अगः पर्वतः। अगं गोवर्धनं राति इति अगरः कृष्णः। अगं पर्वतं गोवर्धनं राति गृह्णाति वामहस्तेन।**

जो बाँयें हाथपर गोवर्धन पहाड़को उठा ले उसका नाम अगर। **अगरेण सह वर्तते द्वारकायामिति सागरः।** अरे वह समुद्र है, श्रीकृष्ण भी जिसकी शरण लेते हैं। यह प्रत्यक्-चैतन्यात्मक समुद्र है। यह आपको कभी सुनाया हो, न सुनाया हो, याद नहीं है। देखो, यह बोलते हैं—

पराञ्चि खानि व्यतृणत् स्वयंभूस्तस्मात् पराङ् पश्यति नान्तरात्मान्।

ये इन्द्रियाँ हैं बहिर्मुख और भीतर बैठा हुआ है ईश्वर। तो जब कभी ईश्वर हमारी आँखके सामने आता है, तो कहाँसे आता है? हृदयमें-से निकलकर आँखमें आता है। बाहरसे चलकर आँखमें नहीं आता, भीतरसे निकलकर आँखमें आता है। इसीसे जो ध्यान करता है उसे ईश्वरका दर्शन होता है। और, जो कहता है कि पहले ईश्वरका दर्शन हो, हम पीछे ध्यान करेंगे, वह बेचारा मारा जाता है, इस रास्तेमें। पहले हृदयमें ईश्वरको प्रकट करो, तब आँखसे दर्शन होगा। और, कहो पहले आँखसे दिखे पीछे हृदयमें बैठावेंगे तो वह पद्धति नहीं बनेगी।

भारतवर्षके पश्चिमी समुद्रतटमें—द्वारका है। प्राक् कौन है? कि पूर्व, जहाँ सूर्योदय होता है और प्रत्यक् प्रतीचि कौन है? कि जहाँ सूर्यास्त होता है तो श्रीकृष्ण अपनी लीला संवरण कहाँ करते हैं? बोले—प्रत्यक्-समुद्रमें। यह आत्मसमुद्र है। प्रत्यक्–समुद्र माने आत्मसमुद्र। उसमें डूब गये। द्वारका ही डूब गयी। वह अन्तःकरण और वह उस अन्तःकरणमें प्रकट प्रभु, कहाँ गये? प्रत्यक्–समुद्रमें, वही लीला-संवरणका स्थान है। वही ब्रह्म-चैतन्य यह आत्मसमुद्र है। उसीमें उदय होते हैं, उसीमें खेलते हैं, उसीमें समाते हैं। फिर उदय होते हैं, फिर खेलते हैं, फिर समाते हैं, यह प्रत्यक्-समुद्र—सागर है।

अब नारायणको तो जानते ही हो आप, समुद्रमें रहते हैं। भगवान्को ससुरालमें ही रहना ज्यादा पसन्द है। समुद्रकी बेटी हैं, लक्ष्मी—मुद्रा, समुद्रा। मुद्रा लगी हो जिसके साथ, शान्त मुद्रा, विक्षिप्त मुद्रा, मुद्रा माने वही, पहले रुपया होता था, ऐसे बजा लेते थे, वह मुद्रा।

और **समुद्रिच्यते समुन्नत इति समुद्रः**। यह समुद्र-सागर। अच्छा तो नारायण समुद्रमें रहते हैं, उनका अनुसन्धान करें। कृष्ण रहते समुद्रमें—द्वारकामें, उनका अनुसन्धान करें। और कोई रामका भक्त हो तो कैसे करें? रामका भक्त हो तो ऐसे करे **नास्ति गरो यस्मात्**। शंकरजीने विष पी लिया। राम राम, राम राम कहकर पी लिया। शंकरजीके लिए विष अविष हो गया। गर अगर हो गया। तो जिसका नाम लेनेसे शंकरजीको विष नहीं व्यापा, उस रामके साथ समुद्रका स्मरण करो। समुद्रको तो बाँध ही दिया रामचन्द्रने, सागरको। सागरको रामचन्द्रने बाँध दिया। नारायणने सागरमें अपना निवास स्थान बनाया। श्रीकृष्णने अपना निवास स्थान बनाया। यह देखो, शंकर भगवान् रामेश्वर होकर समुद्रके किनारे बैठे।

अब देखो दूसरी बात आपको सुनाते हैं। सागरके रूपमें अपना ही

अनुसन्धान करना। बोले—यह क्या बात है? तो यह बात है, आप गीतामें ही इसको पकड़ो।

आपूर्यमाणमचलप्रतिष्ठं-
समुद्रमापः प्रविशन्ति यद्वत्।
तद्वत्कामा यं प्रविशन्ति सर्वे
स शान्तिमाप्नोति न कामकामी॥ 2.70

अच्छा, आपकी समझमें आ ही गया होगा। क्योंकि आत्माके रूपमें समुद्रका अनुसन्धान करो। कैसे? कि देखो सब नदियाँ पहाड़ोंसे बह-बहकर आकर समुद्रमें गिरती हैं—आपूर्यमाणम्। लेकिन समुद्र अपनी प्रतिष्ठाको छोड़ता नहीं है, अपनी मर्यादामें स्थिर रहता है। और सारे जल समुद्रमें प्रविष्ट हो जाते हैं। सब कोशिश कर रहे हैं कि समुद्रको हम भर दें और उसमें बाढ़ आजाये। और, समुद्र है बाबा कि बैठा हुआ है, उसमें बाढ़ ही नहीं आती। बोले—हम क्रोध दिलावेंगे तुमको। नहीं, क्रोध नहीं दिला सकते भाई! अपने दाँतसे कभी जीभ कट जाती है, तो क्या गुस्सेमें दाँत तोड़कर फेंक देते हैं? कोई होंगे बाबा ऐसे! अपने ही दाँतसे अपनी ही जीभ कट जाये तो लेकर लोढ़ा फोड़ा अपना दाँत कि तुमने हमारी जीभ काटी, हम तुमको तोड़ते हैं। तो जीभ भी कटी, दाँत भी टूटे।

तो महात्मा लोग देखते हैं कि ये जो संसारकी वस्तुएँ हैं, वे अपना स्वरूप ही हैं। यह अपना ही दाँत और अपनी ही जीभ है। बोले—देखो अपना खून कोई पीता है? कामनाका क्या अर्थ हुआ? कामका क्या अर्थ हुआ, अपना ही रक्त सबके शरीरमें प्रवाहित है, अपनी ही आत्मा सर्वत्र परिपूर्ण है। तो कोई क्षोभ दिलावे तो क्या दिलावे! काम आकर महात्माको क्षुब्ध करे। बोले—अपना ही रक्त पीनेकी इच्छा होवे! कोई महात्माको क्रोधका क्षोभ दिलावे! अपने ही दाँतपर कहीं गुस्सा आवेगा? अरे अपने नाखून कभी-कभी ऐसे लग जाते हैं छिल जाता है। दवा तो करनी पड़ती है लेकिन नाखून तोड़ते नहीं बनता है।

आपूर्यमाणम चल प्रतिष्ठं। अपनी मर्यादामें रहो। **तद्वत्कामा यं प्रविशन्ति सर्वे**—कोई आँखके रास्ते, कोई कानके रास्ते, कोई जीभके रास्ते, कोई नाकके रास्ते, संसारके सारे भोग महात्मामें प्रवेश कर रहे हैं, लेकिन वह अचल प्रतिष्ठ है। उसीको शान्ति है। और, जो चाहके चक्करमें पड़ा, उसको शान्ति नहीं मिलती—

स शान्तिमाप्नोति न कामकामी।
कामा हितयाः तेषां कामी कामकामी॥

हमको यह मिले, हमको यह मिले, जैसे किसी राजाको यह सनक हो जाये कि जो पड़ोसमें जमीन होगी उसपर हम कब्जा कर लेंगे, उसको कभी शान्ति मिलेगी? क्योंकि पड़ोसकी जमीन तो कभी पूरी होगी नहीं। सारी धरती ले लो इसकी इच्छा हो जायेगी। जो यह चाहेगा कि यह भी हमको मिले, यह भी हमको मिले, उसको शान्ति नहीं मिल सकती, वह काम कामी है।

शान्ति किसको मिलेगी? जो अपनी जगह पर बैठा है अपनी प्रतिष्ठा अचल, अपनी मर्यादा अटल। कभी नदी बहती हुई आती है, मिल जाती है, और कभी नदी सूख जाती है, नहीं आती है। लेकिन समुद्र तो अपनी जगह पर अटल, उसको कोई क्षुब्ध करनेवाला नहीं—**तद्वत् कामा यं प्रविशन्ति सर्वे**। यह नहीं समझना कि ज्ञानी पुरुष देखता नहीं, खाता नहीं, सुनता नहीं। लेकिन बढ़िया-बढ़िया संगीत आप ही उसके कानमें घुस जाते हैं, बढ़िया भोजन आप ही लाकर लोग उसके सामने रख देते हैं। और जीभके रास्ते गलेमें वह भोजन चला भी जाता है। परन्तु **तद्वत्कामा यं प्रविशन्ति सर्वे**—भोग उसके भीतर प्रवेश करते हैं, वह भोगके लिए व्याकुल नहीं होता। भोग अपनेको धन्य करनेके लिए उसके पास जाते हैं, वह भोगके पास नहीं जाता।

यह अनुसन्धान क्या? समुद्र मिलनेके लिए नदीके पास नहीं जाता, नदी बहकर समुद्रसे मिलनेके लिए आती है, सागरका अनुसन्धान करो।

यह महात्माका वर्णन हुआ, सद्‌गुणकी दृष्टिसे ऐसा हुआ? बोले—नहीं सद्‌गुणकी दृष्टिसे ऐसा नहीं, परमात्माकी दृष्टिसे ही आओ सागरका अनुसन्धान करें। यह ब्रह्म समुद्र है, कारणवारि है। कारणवारिके रूपमें ईश्वरका और ब्रह्म-समुद्रके रूपमें।

एक तो गोपियोंका वर्णन बहुत बढ़िया है। श्रीकृष्ण स्वयं गोपियोंका वर्णन करते हैं। वेदस्तुतिमें प्रसंग आया है कि श्रुतिकी प्रमाणरूपता और इन्द्रियोंकी प्रमाणरूपतामें क्या फर्क है। तो आँख कहती है कि जो मैं देख रही हूँ, सो सच्चा। पूछा कि तुम सच्ची हो कि नहीं? तो बोली मैं भी हूँ और लाउडस्पीकर भी है, शब्द भी है। तुम नहीं हो, पुस्तक है। तो बोली—ना, ना, हम और पुस्तक दोनों समान सत्तामें हैं। जितने प्रमाण हैं वे द्वैत उपस्थित कर देंगे, एक मैं और एक जिसको जानता हूँ सो।

अब श्रुतिने बताया ब्रह्मको। तो किसीने पूछा क्यों श्रुति, तुमने ब्रह्म बताया, ब्रह्म सच्चा? कि हाँ, बिलकुल सच्चा। तुम? श्रुति कहेगी कि पहले यह बताओ कि

हमारे बताये हुए ब्रह्मको तुमने जान लिया? कि हाँ जान लिया। बोली—अब मैं झूठी। तो जैसे यह श्रुतिकी बात हुई, क्या? *तुम प्रभु जीओ मैं मर जाऊँ*। ऐसे गोपियोंका जो प्रेम है कृष्णके प्रति, यह जैसे ज्ञानका वर्णन होता है चेतनका, वैसे रसका वर्णन होता है। गोपी क्या बोलती है? कि

तुम प्रभु जीओ मैं मर जाऊँ।
तुम नीके रहो उन ही के रहो।

यह है गोपीका वर्णन। श्रीकृष्ण गोपीके प्रेमका वर्णन करते हैं। ग्यारहवें स्कन्धमें है, उद्धवसे कृष्ण वर्णन करते हैं—

ता नाविदन् मय्यनुषङ्गबद्धधियः स्वमात्मानमदस्तथेदम्।
यथा समाधौ मुनयोऽब्धितोये नद्यः प्रविष्टा इवनामरूपे॥ 11.12.12

जैसे नदी जब समुद्रमें मिली तो बड़े जोरसे डरी, क्यों डरी? मिलते-मिलते, उसने समुद्रसे पूछा कि हे समुद्र! मैं तुम्हारे अन्दर मिलूँगी तो मेरे जलका स्वाद अलग रहेगा कि नहीं? गंगाने पूछा—तुम्हारे अन्दर गोदावरी मिलती है, कृष्णा मिलती है, कावेरी मिलती है, सिन्धु मिलती है, ब्रह्मपुत्र आकर तुम्हारे अन्दर मिलती है, इन सब नदियोंके जलका स्वाद, इन सब नदियोंका नाम, इनका रूप अलग-अलग तुम्हारे अन्दर है कि नहीं? तो समुद्रने कहा कि नहीं, हमारे अन्दर **नद्यः प्रविष्टा इव नामरूपे** जो नदी आकर मिलती है, वह अपना नाम-रूप खो देती हैं। देखो यही समुद्र है।

गंगाजीने कहा—फिर तो मैं नहीं मिलूँगी। तो समुद्रने कहा—भले मत मिलो, लेकिन बाबा हमारे अन्दर मिलोगी तो तुम्हारी न तो अपनी जगह रहेगी, न तो तुम्हारा नाम रहेगा, न तो तुम्हारा स्वाद रहेगा और न तो तुम्हारी पावनता रहेगी, नामरूप खोकर मिलना पड़ेगा।

मैं बौरी ढूँढन चली रही किनारे पैठ।

जो अपनेको खो देनेमें डरेगा, वह क्या प्रेम करेगा? तो गोपियोंने कृष्णमें अपनेको कैसे खोया?

यथा समाधौ मुनयोऽब्धितोये नद्यः प्रविष्टा इव नामरूपे

जैसे मुनि समाधिमें जाता है तो मेरा अमुक नाम है और मेरा अमुक शरीर है, यह बात उसको भूल जाती है, जैसे नदी समुद्रमें मिलती है तो अपना नाम-रूप खो देती है, ऐसे गोपी जब कृष्णमें मिलीं, तो अपनेको भूल गयी, अपने लोकको भूल गयी, परलोकको भूल गयी। हमारे पतिका क्या होगा यह भूल गयी और

हमारे परलोकका क्या होगा यह भूल गयी। अपना भोग भूल गया, अपना धर्म भूल गया, अपनी सम्पत्ति भूल गयी, तब जाकर वह श्रीकृष्णमें मिलीं। अपना धर्म, अर्थ, काम-तीनों पुरुषार्थ छोड़कर तब वे कृष्णसे मिलीं।

तो देखो, यह प्रेमाब्धि है—इसका नाम प्रेमसागर है। **सरसामस्मि सागरः।** जबतक तुम संसारमें किसी औरसे प्रेम करोगे, तबतक तुम्हारा हृदय सरोवरके रूपमें रहेगा और जब ईश्वरसे प्रेम करोगे, तब! मिल गये सागरमें यह देखो इसका नाम प्रेम-सागर है।

अब ज्ञान सागरकी बात सुनाता हूँ—ब्रह्म-सागर। यह श्रुति है, अब जो मैं बोल रहा हूँ यह वेदका मन्त्र है—

यथा नद्यः स्यन्दमानाः समुद्रे
अस्तं गच्छन्ति नामरूपे विहाय।
तथा विद्वान् नामरूपाद् विमुक्तः
परात्परं पुरुषमुपैति दिव्यम्॥

छुद्र नदीं भरि चलिं उतिराई। थोरेहुँ धन जस खल बौराई॥

जैसे खलके पास थोड़ा-सा भी धन आजाये तो वह बौरा जाता है—पागल हो जाता है। अरे भाई फले-फूले फिरते हो, किसीको कुछ गिनते नहीं। क्या बात है? बोले—अंटी गर्म हो गयी। अंटी गरम हो जाती है जिसकी—

थोरेहुँ धन जस खल बौराई।
महावृष्टि भई फूटि किआरीं।
जिमि सुतंत्र भएँ बिगरहिं नारी॥

गोस्वामी तुलसीदासजीने लिखा है। वह रामकिंकरके पिताजी रामायणकी कथा बोलते थे, वे भी रामायणी थे, वे बोले—***दृष्टि की महावृष्टि भई, फूटि***—किसीकी नजर लगी और फिर-फिर घरसे फूट गयी और ***की यारी***—दूसरेसे यारी कर ली। दृष्टिकी वहाँ वृष्टि हुई, फिर फूट गयी और फूटकर की यारी दूसरेसे यारी कल ली। ऐसे बोलते थे।

तो आओ **यथा नद्यः** नदीको नदी क्यों बोलते हैं नदीको नदी इसलिए बोलते हैं कि 'नदति'। **नदन्ति इति नद्यः।** यह चिल्लाती बहुत है। नदी बोलती बहुत है **नदन्तीति नद्यः।** इसीसे नदीका नाम न लें नदीमें जितनी देर हों, उसका नाम लेना मना है। जिस नदीमें, नावसे पारकर रहे हों—नदीमें बैठकर 'नदी'—ऐसा न बोलें। क्योंकि 'नदी' यह कोई बढ़िया नाम नहीं है। यह नदी तो दीन हो जाती है।

'नदी-दीन' उलट दो। दीन है तभी तो बही जा रही है बेचारी नहीं तो बहती क्यों? समुद्रकी ओरसे देखो, यह दीन हैं। पहाड़की ओरसे देखो तो नदी है। तो—**यथा नद्यः स्यन्दमानाः** यह बहती-बहती कहाँ जाती हैं? **समुद्रे अस्तं गच्छन्ति**—अपना नाम-रूप छोड़कर समुद्रमें अस्त हो जाती हैं, निक्षिप्त हो जाती हैं।

विद्वान् जबतक ईश्वरसे अलग रहता है, तबतक ही वह बहता रहता है। ज्ञानी पुरुष कबतक बहता है? इन्द्रियोंके मार्गमें होकर विषयोंकी दिशामें वह कबतक बहता है? बहना कबतक? कि जबतक अज्ञान है और जब अपनेको मानता है—यह नामवाला मैं हूँ।

यह नाम जो है यह रस्सी है। शास्त्रमें बताया कि नाम रस्सी है। सरकारी नौकरी करना हो तो पहले तुमको एक नाम मिलेगा। क्या? कि तुम सिपाही हो, तुम इन्स्पेक्टर हो, ओहदा मिलेगा—नाम मिलेगा पहले और फिर उस ओहदे—उस नामके मुताबिक काम न करो तो सजा हो जायेगी। और, यदि कोई सरकारी दफ्तरमें भर्ती होकर अमुक नाम न रखवावे तो ड्यूटी नहीं होती। नामके बिना ड्यूटी नहीं होती।

वेदमें यह वर्णन है कि जब आदमीने अपना नाम ब्राह्मण रखा, पहले अपनेको ब्राह्मण कहा, तब ब्राह्मणकी ड्यूटी उसपर आयी। पहले अपनेको क्षत्रिय कहा, तब क्षत्रियकी ड्यूटी आयी। **नामानि दामानि च।** पहले ईश्वर मनुष्यका नाम रखता है और नाम रखकर तब बाँधता है। तो जब हम अपनेको कहते हैं अमुक, तब बँधते हैं। गुरु रह गया अलग, चेला गया विश्राम करने एक मचान पर। किसान आया, पूछा—ए तू कौन है? बोला—मैं फकीर हूँ। बोला—बेवकूफ, फकीर है तो हमारे मचानपर आकर क्यों सोया? फकीरका यह काम थोड़े ही है कि किसीके मचानपर आकर सोवे। हम रातभर जागते रहेंगे और तुम सोवोगे?

अब फकीर नाम हुआ तो फकीरका धर्म हो गया। बेचारा अपमानित होकर लौट आया। दूसरे दिन गुरुजी गये। गुरुजी जाकर मचानपर तान दुपट्टा सो गये। अब आया किसान, बोला अरे कौन है, कौन मेरे मचानपर सो रहा है? बोले ही नहीं। सोचा—भई कौन है, हमारा रिश्तेदार-नातेदार ही हो, अपमान कैसे करें? मशाल ले आया, देखा, अब वह तो बोला ही नहीं, मौन, अब अपने मनसे ही समझना पड़ा कि यह कौन है। बोला कि चोर-सरीखा लगता नहीं, कोई

महात्मा हो, कोई दरवेश हो, कोई फकीर हो, हम अपमान कर दें तो हमको पाप लगेगा। वह बोला ही नहीं। तुम कौन हो? माँ-बाप कौन? तो बोले ही नहीं। नाम क्या है? बोले ही नहीं। बोला—अच्छा भाई तुम कोई दरवेश हो, तुम मचानपर रहो, आज रातभर हम खड़े ही रह लेंगे।

जब अपना नाम बताओगे नामवालेका धर्म होता है, जिसने अपना नाम छोड़ दिया उसका धर्म नहीं होता है। **नामरूपाद्विमुक्तः**—ज्ञानी पुरुष नाम और रूपसे विमुक्त हो जाता है। कैसे? कि जैसे नदी समुद्रमें मिलती है। कठोपनिषद्में आया **अक्षरात् परतः परः। परात्परम्। परतः अक्षरात् परः**। वे कहते हैं जितना कार्य जगत् है, सबसे परे अक्षररूप कारण है। और ये कौन है? अक्षरसे भी परे है, माने कार्य-कारणके सम्बन्धसे विमुक्त है। कार्य-कारण भाव सत्में विवर्त है। द्रष्टा-दृश्य भाव चित्तमें विवर्त है, भोक्ता-भोग्य भाव आनन्दमें विवर्त है। असली परमात्माका अनुसन्धान करना हो, असली—न सलति न गच्छति—जो अपनेको कभी छोड़कर जाये नहीं सो असल। सलिलमें जो सल् है, 'सल् गतौ', वही धातु है। 'न सलति इति असलम्'। जो कभी अपनेसे जुदा हो नहीं, उसका नाम असल है। असल है कि नकल? बोले—भाई असल है।

तो असल परमात्माकी प्राप्ति कब होती है? कि जब वह अपनेसे जुदा न हो—कभी वियोग न हो—अन्यता न हो। तो सागरके रूपमें परमात्माका अनुसन्धान करना। **सरसामस्मि सागरः**। परिपूर्ण अद्वितीय जो परमात्मा है—**यथा नद्यः स्यन्दमानाः समुद्रे** नामरूप छोड़कर गोपियाँ भी नाम-रूप छोड़कर कृष्णमें मिलती हैं ज्ञानी भी नामरूप छोड़कर परमात्मामें मिलते हैं। विषयकी ओर दौड़नेवाला नहीं, **आपूर्यमाणमचल प्रतिष्ठं** ऐसे समुद्रके रूपमें परमात्माका अनुसन्धान करना।

अब कल सुनावेंगे **महर्षिणां भृगुरहं**। यह भृगुका भी बड़ी महिमा है। वेदमें भृगुकी उत्पत्ति की जो प्रक्रिया लिखी है, विलक्षण है **भृज्यमानो न देहे इति भृगुः**। आगमें डाल देने पर भी भुना नहीं, उसका नाम भृगु।

महर्षीणां भृगुरहं गिरामस्म्येकमक्षरम्।
यज्ञानां जपयज्ञोऽस्मि स्थावराणां हिमालयः ॥ 25 ॥

अच्छा, अब स्वयं आप जो मनुष्यके रूपमें हैं—साधकके रूपमें, भगवान्‌की विभूति बन जायें, इसके लिए भगवान् श्रीकृष्ण अर्जुनसे एक ही श्लोकमें चार विभूतिका वर्णन करते हैं। इन चारों विभूतियोंकी एक साथ व्याख्या बताते हैं। **महर्षीणां भृगुरहं**—इसका अर्थ है कि आपके जीवनमें एक गुरु चाहिए। भृगु गुरु है। जो खूब तकलीफ दे-देकर, भून-भूनकर चेलेको चाँटा मार-मारकर ठीक करे, उसका नाम भृगु है। जो गुरुके दिये हुए दुःखसे डरते हैं, वे कुन्दन कैसे होंगे? जो भूने सो भृगु। **भर्जनात् भृगुः**। जैसे चनेको भूनते हैं भाड़में, जैसे सब्जीको भूनते हैं घीमें, ऐसे जो अपने चेलेको खूब भून-भूनकर, सता-सताकर, दुःख दे-देकर, उससे तप करा-कराकर, जैसे सोनेको गला-गलाकर, पीट-पीटकर जेवर बनाते हैं, ऐसे जो भूने उसका नाम भृगु।

हमको एक बात याद है, हमारे महात्मा मोकलपुरके बाबा, एक बार हमको गाली दे रहे थे, खूब जोर-शोरसे गाली दे रहे थे। गाली देते थे तो जैसे देहाती आदमी गाली देता है न, माँ बहन बेटीकी गाली ऐसे दे रहे थे। तो जब खुश हो गये, शान्त हुए तो मैंने उनसे पूछा कि महाराज आप गुस्सा बहुत करते हैं। तो बोले—हमारा गुस्सा तुमको बुरा लगता है, अरे दुनियामें बहुत लोग गाली देंगे, तो हमारी गाली सहनेकी जब तुमको आदत पड़ने लग जायेगी, तो दुनियामें आनेवाली दूसरोंकी भी गाली सह सकोगे। और अगर हमारी गाली तुमको सहन नहीं होगी तो क्या करोगे जिन्दगीमें? जो एक बड़े-बूढ़ेकी बात, जो अपने माँ-बापकी न सहे, गुरुकी न सहे, वह तो अभागा है दुनियामें। जो पतिकी न सहे वह स्त्री अभागिनी। सहनेसे तो जीवनका निर्माण होता है। असहिष्णुतासे जीवनका निर्माण नहीं होता! जो उबल जायेगा, वह तो बाहर गिर जायेगा और जो सह-सहकर पकेगा वह गाढ़ा हो जायेगा। तो गुरु चाहिए, एक जीवनमें।

इस प्रसंगमें वह पुरानी बात याद आगयी। दूसरी चीज आपको क्या चाहिए जीवनमें? **गिरामस्म्येकमक्षरम्।** एक मन्त्र चाहिए आपको। **महर्षीणां भृगुरहं**—यह गुरु है और **गिरामस्म्येकमक्षरम्**—यह मन्त्र है। तीसरी बात क्या चाहिए? मन्त्र लेकर उसको भूल मत जाना। **यज्ञानां जपयज्ञोऽस्मि**—उसका जप करना।

कोई आपत्ति आवे, विपत्ति आवे, कोई दूसरा महात्मा आजाये, कोई दूसरे सम्प्रदायका आजाय और बहकाने लग जाय, मन चंचल हो जाय, बोले—ना, ना, **स्थावराणां हिमालयः**—पहाड़की तरह दृढ़ हो जाओ, अपनी जगहपर पक्के हो जाओ। अगर ये चारों बात तुम्हारे अन्दर आजायँ तो विभूति तुम स्वयं हो जाओ। दूसरी सब तो एक-एक विभूति अलग-अलग हैं। ये चारों विभूतियाँ तुम्हारे जीवनमें आजायें तो तुम हो जाओ चारों विभूति। गुरु, मन्त्र, मन्त्रका जप और स्थिरता—ये चारों बात तुम्हारे जीवनमें आजायँ, तो तुमको ईश्वरकी प्राप्ति हो जायेगी।

अब देखो—**महर्षीणां भृगुरहं**—महर्षियोंमें मैं भृगु हूँ। महर्षि तो बहुतसे हैं। ऋषियोंके कई भेद होते हैं जैसे सनातन, सनत्कुमार, सनन्दन, सनक—ये परमर्षि कहलाते हैं। एक परमर्षि होते हैं, एक ब्रह्मर्षि होते हैं। ब्रह्मर्षिका ब्राह्मण होना जरूरी है और ऋषि होना जरूरी है। एक देवर्षि होते हैं। एक काण्डर्षि होते हैं, एक श्रुतर्षि होते हैं। वेदोंमें तरह-तरहके ऋषियोंका वर्णन आया है।

तो ऋषि क्यों कहते हैं ऋषिको? यह 'ऋष्' धातु गत्यर्थक है और 'सर्वे गत्यर्थः ज्ञानार्थाः।' **स्तोमान्ददर्श इति ऋषिः।** जिसने वेद-मन्त्रोंका दर्शन किया उसका नाम ऋषि। वेदमन्त्रको कोई बनाता नहीं। वेद मन्त्र पहलेसे मौजूद रहते हैं। जब ऋषि तपस्या करते-करते पवित्र होता है, ध्यान करते-करते पवित्र होता है, समाधि लगाते-लगाते जब ऐसी दशामें पहुँचता है कि विश्व-सृष्टिमें वेद-मन्त्रोंके रहनेका जो स्तर है उसे आँखसे देखने लग जाये—

उत् त्वास्त्वं न पश्यन् न ददर्शवाचम्।

सारी दुनिया देख डाली, लेकिन मन्त्रका दर्शन नहीं हुआ। चारों ओर सुन लिया, लेकिन मन्त्रका श्रवण नहीं हुआ, लेकिन जब ऋषि **परमे व्योम्नि**—परमाकाशमें **ऋतो अक्षरे परमे व्योम्नि**—जब ऋषि ध्यान करता-करता परम अक्षर परमाकाशमें पहुँचा, तब वहाँ क्या देखता हैं कि मन्त्र बोल रहे हैं। मन्त्रको जो देखे, वेदके मन्त्रका जिसने अपने हृदयमें दर्शन किया, उसका नाम ऋषि। आजकल तो अपने नामके साथ सब लोग ऋषि लगा लेते हैं। बहुत लोग ऐसे

होते हैं कि उनसे पूछा जाये कि तुम्हारे नामके साथ यह पुराणालंकार, शास्त्रालंकार, कहाँसे लगा? तो इसके सिवाय कि उन्होंने अपने मनसे गढ़ लिया और कोई इसका जवाब नहीं।

वृन्दावनमें हमको एक डाक्टर मिला अपने नामके साथ एम.बी.बी.एस. लगाये हुए था। एक दिन हमको इंजेक्शन लगवाना हुआ, तो इंजेक्शन भी इस तरह लगाना था कि हमारे शरीरसे एक जगहसे खून निकालकर दूसरी जगह लगाना था, पन्द्रह वर्ष पहलेकी बात है। उसने निकाल तो लिया, पर वह फिर भीतर डाल नहीं सका। अब यहाँ छेदे, वहाँ छेदे, छेद-छेदकर खराब कर दिया दबावे जैसे कोई पत्थर दबाता है। तो मैंने फिर बादमें पता लगाया कि यह डाक्टर कहाँका है? तो उसने बताया कि मैं तो पाकिस्तानका डाक्टर हूँ। वहाँ था जब एम.बी.बी.एस. किया था। कि तुम्हारा प्रमाण-पत्र है? तो बोला कि नहीं, जब वहाँसे भागने लगे तब छोड़ आये। तब पाकिस्तानसे आये हुए लोगोंसे पूछा कि भाई, यह वहाँ डाक्टर था? बोले कि नहीं, वहाँ तो यह कम्पाउण्डर था।

जैसे वह कम्पाउण्डर पाकिस्तानसे हिन्दुस्तान आनेपर डालडा डाक्टर बन गया, असली घी नहीं, नकली, ऐसे आजकल डालडा ऋषि भी हो जाते हैं। कभी आँखसे उन्होंने पूरी वेदकी पुस्तक भी देखी हो इसमें शंका है। वेद एक बार बाँच गये हों इसमें भी शंका है। वेदके किसी एक मन्त्रका अर्थ भी जानते हों—इसमें भी शंका है। और हो गये ऋषि?

हमारे एक सज्जन हैं, कर्णवासमें, अभी जिन्दा हैं वे। उनको सब लोग ऋषिजी-ऋषिजी कहते हैं। बोले—भाई तुमको ऋषिजी क्यों कहते हैं? उनको गुस्सा बहुत आता है तो दुर्वासा ऋषि बोलते हैं, दुर्वासा छिपा लेते हैं और ऋषिजी बोल देते हैं। वेदके मन्त्रोंका रहस्य जाननेवालेको ऋषि नहीं बोलते। शंकराचार्यको ऋषि नहीं बोलते। रामानुजाचार्यके साथ ऋषि शब्दका प्रयोग नहीं होता क्योंकि उन्होंने वेदका रहस्य देखा है, और वेदके मन्त्रोंको नहीं देखा है।

वसिष्ठ ऋषि हैं, विश्वामित्र हैं। विश्वामित्रने गायत्रीको पहले-पहल देखा। आप जानते ही हो, गायत्रीके ऋषि विश्वामित्र हैं। तो जितने वेदके भिन्न-भिन्न मंत्रोंके द्रष्टा हैं उनको ऋषि बोला जाता है। इन ऋषियोंमें भी जिन्होंने आध्यात्मिक मंत्रोंको देखा है—अहं प्रधान। आध्यात्मिक मन्त्र कौन होते हैं? जिसमें अहं अथवा अस्मि शब्दका प्रयोग होता है। मैं ऐसा हूँ, मैं ऐसा हूँ **अहं पूर्वेभिः अहं रुद्रेभिः वसुभिः चरामि। अहं पूर्वे पतिभिः वसूनाम्। अहं प्रथमजा**

ऋतस्य। अहं-अहं करके जो वर्णन होता है उस ऋचाको आध्यात्मिक ऋचा बोलते हैं। सायणाचार्यने भाष्य किया है वेदपर, उसमें यह बात लिखी है। तो उसमें भी जो आध्यात्मिक मन्त्रोंके द्रष्टा हैं वे महर्षि हैं और जो सामान्य मन्त्रोंके द्रष्टा हैं वे ऋषि हैं। उनमें भगवान् कहते हैं कि मैं भृगु हूँ।

अब आपको भृगुकी बात थोड़ी सुनाते हैं। ये प्रजापति, पुराणमें जिनको ब्रह्मा बोलते हैं, वेदमें उसको प्रजापति बोलते हैं। ऐसे आपको शब्दकी व्युत्पत्ति बताता हूँ। वेदमें सुर किसको बोलते हैं? जो सुष्ठु-भलीभाँति अपने स्थानमें रमे उसका नाम है सुर। माने देवता स्वर्गमें सन्तुष्ट रहते हैं, वे दैत्योंके पातालपर कभी आक्रमण नहीं करते। यदि दैत्यलोग स्वर्गपर आक्रमण करें तब तो देवता लोग उनसे लड़ते हैं। और, अगर दैत्य लोग पातालमें भाग जायँ तो देवता उनपर आक्रमण नहीं करते। कहते हैं तुम लोग अपने घरमें रहो। और, असुर किसको कहते हैं? जो अपनी भूमिसे, अपने धनसे, अपनी पत्नीसे, अपने घरसे सुष्ठु रमण नहीं करता माने उसमें जो सन्तुष्ट नहीं है, उसका नाम है असुर। जो पराया माल लेना चाहे, परायी स्त्री, पराया धन, पराया मकान, परायी धरती जो छीनना चाहे, उसका नाम असुर। और जो अपनी स्त्रीमें, अपने धनमें, अपने मकानमें, ईश्वरकी ओरसे जो प्राप्त है उसमें जो सन्तुष्ट हो उसको बोलते हैं सुर। यह निरुक्तमें सुर और असुर शब्दकी व्युत्पत्ति है—

सुष्ठु रमते स्वस्थाने इति सुरः।

और

न सुष्ठु रमते स्वस्थाने इति असुरः।

तो ये महर्षि माने भृगु। ये प्रजापतिके पुत्र हैं, प्रजापति कौन हैं? सुर और असुर दोनों जिनकी सन्तान हैं, उनको प्रजापति बोलते हैं। उनमें दैत्य बड़े बेटे हैं और देवता छोटे बेटे हैं।

देखो तुम्हारे मनमें काम, क्रोध, लोभ, पहले बेटे हैं, सन्तोष दूसरा बेटा है। क्रोध पहला बेटा और क्षमा दूसरा। दुर्गुणका जब उदय होता है विकारसे, तब संस्कारसे उसको शान्त किया जाता है। यह नहीं समझना कि अपने आप ब्रह्मचर्य आवेगा, अपने आप सन्तोष आवेगा, अपने आप शान्ति आवेगी। कि नहीं, उनके लिए प्रयास करना पड़ता है। देवता पौरुष साध्य होता है और दैत्य स्वभावसे प्रकृतिमें आता है।

प्रजापतिने क्या किया कि उन्होंने वीर्यकी परीक्षा की। उसको आगमें भूना

भर्जनात्। जैसे आजकल अल्मोनियम निकालनेके लिए या कोई रसायन निकालनेके लिए मिट्टीकी परीक्षा करते हैं, उन्होंने कहा—वीर्यमें क्या है, वीर्यकी परीक्षा की, हमारे प्रथम वैज्ञानिक प्रजापतिने वीर्यपर प्रयोग किया कि आखिर इसके अन्दर है क्या! तो उसको तपाया उन्होंने। तो तपाने पर पहली चीज जो उसमें निकली, उसका नाम हुआ भृगु। **भृज्यमानो न देहरे।** वीर्य तो जल गया परन्तु जो चीज नहीं जली, उसका नाम भृगु हुआ। उसका नाम चैतन्य है। गायत्रीके मन्त्रमें जो **भर्गः** है, अब समझो कि एक व्यक्तिके वीर्यका भर्जन करने पर भृगु निकले और समष्टिमें जो वीर्य है उसका भर्जन करने पर भर्ग निकला। जो हमारे शरीरके भीतर भृगु है, वही सारे संसारके भीतर भर्ग है। व्यष्टिमें जो भृगु है, समष्टिमें वही भर्ग है। महावाक्य दोनोंकी एकता बताते हैं।

अब वह कथा सुनाता हूँ। वेदके मन्त्रमें उसका वर्णन है। प्रजापतिने जब वीर्यका भर्जन किया, पकाया उसको तो उसमें चैतन्य शेष रह गया, बाकी सब जल गया। आभास भी जल गया केवल चैतन्य शेष रह गया। यही अल्पज्ञतासे विशिष्ट जो चैतन्य है और सर्वज्ञतासे विशिष्ट जो चैतन्य है, सो एक है दोनोंमें, अब यह भृगु हुआ। तो फिर दुबारा पकाया। कहीं देखो आगमें कोई चीज बची तो नहीं है, ढूँढा, तो उसमें-से अंगिरा निकले। फिर देखा कि कहीं कोई तीसरा तो नहीं है तो उसमें अत्रि निकले। अंगारमें छिपे हुए थे, जब निकले वे अंगिरा हुए और जो वीर्यके भर्जनसे निकले वे भृगु हुए, बोले—इसमें कोई तीसरी चीज तो नहीं छिपी है! तो बोले वे अत्रि हुए।

तो भृगु परमात्माका रूप है, अंगिरा जीवका रूप है, अंगी है वह शरीरमें, अंगवार है। इसके बात त्रिगुणातीत महात्मा अत्रि निकले। बोले—अरे बाबा इसमें-से तो बच्चेपर बच्चे निकलते आ रहे हैं, इसमें कोई और तो नहीं छिपा है? फिर उसको खोदा, तो विखनात् वैखान सो भवति, चतुर्थ पुत्रके रूपमें उसमें-से वैखानस निकले। पाँचवें पुत्रके रूपमें भरद्वाज निकले। यह सृष्टिका क्रम है। तो बोले यह प्रजापतिकी मुख्य सन्तान और वीर्यके भर्जनसे निकले हुएके कारण इनका नाम भृगु है।

ये बड़े ही विचित्र हैं। आप जानते हैं भृगुजी किसके भक्त हैं? एक बार ऋषियोंकी सभा हुई, भागवतमें बताया है। तो यह वहाँ विवाद हुआ कि भक्ति किसकी करनी चाहिए? मुनियोंने कहा—भृगुजी, आप इसका पता लगाइये कि **त्रिषु देवेषु को महान्?** तीन देवताओंमें महान् कौन है? तो भृगुजी महाराज रुद्रके

पास पहुँचे। रुद्रने देखा कि यह भी ब्रह्माका पुत्र और मैं भी ब्रह्मका पुत्र, दोनों भाई-भाई! अरे हमारा भाई आ रहा है, तो प्रेमकी उमंगमें रुद्र दौड़े कि भृगुको गलेसे लगा लें। भृगुने कहा बस, बस वहीं खड़े रहो, छूना नहीं हमको। रुद्र तो हक्के-बक्के रह गये। भृगु बोले—शरीरमें चिताका भस्म लगाये और गलेमें मुंडोंकी माला पहने, श्मशानमें रहनेवाला, तू अपवित्र, गन्दा, तू मुझे अपने कलेजेसे लगावेगा? हट! अब रुद्रको तो आया क्रोध, बोले—यह तो हमारा तिरस्कार करता है। शूल उठा लिया मारनेको। इतनेमें पार्वतीजी आगयीं और गिर पड़ीं चरणोंमें, महाराज! आपका भाई है, हमारा देवर है, हमारा भी तो रिश्ता है, जरा ख्याल तो करो हमारा। भाई-भाईमें इस तरह लड़ाई झगड़ा, राम-राम ठीक नहीं है।

देखो यह देवी है, इसका नाम देवी है, जो भाई-भाईसे लड़ाई होनेमें बचावे, उसका नाम देवी। और महाराज चार बात और लगाकर झूठी-सच्ची लड़ाई करा दे तो देवी नहीं है, वो आसुरी है।

अब वहाँसे गये भृगुजी ब्रह्माके पास तो ब्रह्माजी बड़े खुश हुए कि हमारा बेटा आया और भृगुजी महाराज बिलकुल उस सम्प्रदायके हो गये जिसमें सिर झुकाना हीनता मानी जाती है कि हमारा सिर झुक जायेगा तो हम छोटे हो जायेंगे। बिलकुल तनकर ब्रह्माजीके सामने खड़े हो गये। ब्रह्माजीको क्रोध आया कि यह हमारा बेटा होकर हमको प्रणाम नहीं करता।

महाराज, बेटोंकी बात मत पूछो। एक बिलकुल सच्ची घटना है इलाहाबाद प्रयाग यूनिवर्सिटीमें एक जन वकालत पढ़ते थे, उनके बाप गाँवके थे। खेती करते, घुटने तक धोती पहनते, मैला कुरता पहनते, सिरपर पगड़ी बाँधते, डंडा लेकर चलते। वे महाराज पैदल चलकर अपने घरसे जब कहीं घरमें दलिया बनता, गन्ने घरमें पैदा होते, गुड़ नया-नया होता, मटर होती तो अपने बेटेको खिलानेके लिए वे अपने सिरपर, कन्धे पर लेकर जाते थे, उसको देनेके लिए।

एक दिन क्या हुआ कि उसके दोस्त बैठे हुए थे, मेज कुर्सीपर चाय चल रही, वे पहुँचे दोस्तोंने पूछा यह कौन है? तो वकील साहब बोले—यह नौकर है हमारा, घरसे सामान लेकर आया है। और, वह तो बापने सुन लिया, जाकर सामान-वामान तो रख दिया, और आकर कुर्सीपर बैठ गये। अब तो सब-के-सब भौंचक्के हो गये यह कौन आदमी है जो कुर्सीपर बैठ गया। हे भगवान्! वे

बोले—तुम लोग आश्चर्य मत करो कि मैं बराबर आकर तुम्हारे पास कैसे बैठ गया। मैं इनका नौकर नहीं हूँ, इनकी माँका नौकर हूँ। इसलिए बराबर बैठता हूँ। अब तो बेचारेके ऊपर सौ घड़ा पानी पड़ गया।

आजकलके बेटे बापको नौकर समझते हैं। वे कमाकर हमको पढ़ावें, व्याह करें, कमाई अपनी सारी हमारे लिए छोड़ जायें। बाप अगर अपनी कमाई भी खर्च करता हो, तो बेटेको लगता है ये हमारे लिए कुछ नहीं छोड़ेंगे, सब खर्च किये जा रहे हैं। बुरा मानते हैं।

बेटेका यह उद्धतपना देखकर, बाप लोग तो ढँकते रहते हैं, अपने घरकी बात बताते नहीं। रोज दुर्दशा भोगते हैं, अपने घरमें बाप लोग, उसको बेटा ही जानते हैं। लेकिन वह तो अपने घरका *'कक्का जबलपुरकी ढकी रहन दो पोल'।* यह तो सबके घरमें वही पोल पट्टी है, वह तो अपने घरकी निकालते नहीं हैं। अब ब्रह्माजीको बड़ा गुस्सा आया, शाप दें कि मर जायें भृगु, लेकिन ब्रह्माजीने कहा कि अपना बेटा है भाई, बेटेको क्या शाप दें, हमारे ही शरीरसे पैदा हुआ, उसी समय अपना क्रोध शान्त कर लिया।

अब गये विष्णुके पास जरा भृगुका स्वरूप देखो, यह रुद्रके, ब्रह्माके सामने झुकनेवाले नहीं हैं, विष्णुके सामने गये। अब विष्णु महाराज पाँव फैलाये लेटे, साँपका गद्दा, तकिया और लक्ष्मी पाँव दबानेवाली! भृगुने कहा कि वाह जगत्की रक्षा करनेका यही ढंग है। कहीं कोई आक्रमण कर दे, कहीं कोई शत्रु चढ़ आये, क्या दूधके समुद्रमें, खाने-पीनेकी कोई फिक्र नहीं, वहींसे नल लगा दिया सबके पेटमें, साँपकी शैय्या पर, शेष पर, प्रधान पर सोते हैं। लक्ष्मी पाँव दबाती है। भृगुने उनकी छाती पर पाँव रख दिया। विष्णु झट उठे, बोले—महाराज, आपने बड़ा बढ़िया किया, सेवकसे कोई अपराध हो जाये तो स्वामीको दंड देना चाहिए। आपके आनेपर मैंने उठकर स्वागत नहीं किया, मुझसे अपराध हुआ, आपने बहुत योग्य दंड दिया।

भृगुने कहा—वाह, महान् पुरुष है कोई तो यह! भागवतमें यह कथा है, आयी है। विष्णु बोले—हमारी छाती कठोर आपके पाँव नरम, कहीं आपको चोट तो नहीं लगी? इसको महत्ता बोलते हैं।

तो वे भृगु हैं जो ब्रह्मा, विष्णु, महेशकी भी परीक्षा करके उनके सत्त्व और महत्त्वका निश्चय करते हैं। जिसमें पापको गलानेकी शक्ति है। भृगु किसको कहते हैं? **भृज्यते स्म, भर्जय-ते स्म**। दोनों प्रकारकी व्युत्पत्ति है इसकी। यह भूनता

है और भूना जाता है। यह ब्रह्माके द्वारा भूना जाता है और लोगोंमें भूनता हैं। तुम्हारे सुखको जला दे। जैसे सुनार सोनेको जलाकर उसमें-से मैल निकाल देता है, ऐसे भृगु—गुरु उसको कहते हैं, यह 'भृगु' शब्दके अन्तमें जो 'गु' है, उसीसे गुरु शब्द प्रारम्भ हुआ और 'ऋ' तो है ही 'भृ'में और भ् है तो भृगु माने हुआ गुरु भक्त, गुरुकी भक्ति करो। 'भृगु' पीछेसे पढ़ो तो गु ऋ और भ। तो भृगु कौन है? यह देखो ये भृगु हैं, **महर्षीणां भृगुरहं।**

आपको मालूम होगा एक बार दुर्वासाके शापसे इन्द्र श्रीभ्रष्ट हो गये। स्वर्गकी लक्ष्मी और वैकुण्ठकी लक्ष्मी जाकर समुद्रमें मिल गयीं। भगवान्ने यह समुद्र-मन्थन क्यों करवाया क्या बलिको एक घोड़ा भगवान् नहीं दे सकते थे? उच्चैःश्रवा। क्या इन्द्रको एक ऐरावत हाथी नहीं दे सकते थे? या ब्राह्मणोंको कामधेनु नहीं दे सकते थे? सब दे सकते थे, लेकिन लक्ष्मीजी खो गयी थीं। बोले—कहाँ छिपी है तो पता लगा कि समुद्रमें छिपी हैं। बोले—अच्छा समुद्रमें? समुद्रकी इतनी हिम्मत कि हमारी पत्नी लक्ष्मीको अपने भीतर छिपा ले! अच्छा देखो, हम ऐसी चाल चलते हैं कि हमको कोई मेहनत न करनी पड़े और लक्ष्मी मिलें। तो महाराज, समुद्रका मन्थन हुआ। उसमें-से लक्ष्मी निकलीं। अब यह हुआ कि लक्ष्मीका तो फिरसे ब्याह होगा। मैं वरमाला पहनाऊँ तो कन्यादान कौन करे? भृगु ऋषि बुलाये गये। भृगुकी साक्षात् बेटी हैं। लक्ष्मीका एक नाम भार्गवी है। वैकुण्ठ छोड़नेके बाद भृगुकी पत्नी ख्यातिसे उत्पन्न हुईं। ख्यातिसे उत्पन्न होकर समुद्रकी छातीमें रहने लग गयीं। समुद्र-मन्थनके समय समुद्रसे फिर उत्पन्न हुईं। फिर ब्याह हुआ लक्ष्मीका, भृगुकी बेटी होकर।

यह बात क्या हुई? भृगुकी बेटी क्यों बनना पड़ा? नारायणकी छातीपर पाँव रखा था भृगुने। नारायणको तो गुस्सा नहीं आया लक्ष्मीको आगया। भृगु बोले—अच्छा बेटी। *तुम्हारे भी पंख लग रहे हैं!* तुमको हमारी बेटी होना पड़ेगा। हम दुनियाके वे ऋषि-महर्षि नहीं हैं जो लक्ष्मीको अपना भोग्य बनाना चाहते हैं, हम तुमको अपनी बेटी बनाते हैं और बेटी बनाकर नारायणसे हम तुम्हारा फिरसे ब्याह करते हैं।

वो भृगु ऋषि हैं महाराज। इसलिए नारायणको भी लक्ष्मी देनेवाला भृगु हैं। नारायणको लक्ष्म देनेवाला, नारायणकी मुहर, भृगुने अपने पाँवकी मुहरसे नारायणको पट्टा किया, नहीं तो वैकुण्ठमें जितने पार्षद होते थे, सब चतुर्भुज होते थे, इसकी पहचान ही नहीं होती थी, कौन विष्णु है, कौन नहीं है। भृगुने वह मुहर

लगायी नारायणकी छातीपर कि देखते ही पहचान जाओ कि यह पार्षद है कि नारायण है। भृगुके पाँवका चिन्ह पार्षदोंकी छातीपर नहीं होता है। यह नारायणपर मोहर लगानेवाले, लक्ष्मीको बेटी बनानेवाले, और ये सम्पूर्ण आभासरूप वीर्यको भून देनेपर भी बाधित कर देनेपर भी शेष रह जानेवाले ये भृगु हैं। इन्होंने फिर ब्रह्मज्ञान प्राप्त किया। **भृगुर्वारुणिः**। भृगु वरुणके पुत्र हैं ऐसा वर्णन है। वीर्यके सार-तत्वसे निकलनेके कारण ही वारुणि बोलते हैं। **वरुणं पित्रमुपस्तार। अभिः भगवो ब्रह्म।** ब्रह्मका उपदेश करो। यह है भृगु।

यह है गुरु। गुरु कौन है? जो दुःखको जला दे—एक बात, जो पापको जला दे—दूसरी बात, जो वासनाको जला दे—तीसरी बात। जो अज्ञानको जला दे—चौथी बात और अज्ञानकृत सम्पूर्ण भेद-विभेदको जला दे-भस्म कर दे। यह महाराज भूननेवालेका नाम भृगु है, यह गुरु है।

गिरामस्मि एकमक्षरम्—अब बोले—मन्त्र बताओ। यह जितनी वाणी बोली जाती है इसमें एक अक्षर मैं हूँ। संस्कृत भाषामें एक शब्दका अर्थ होता है, आपलोग यह नहीं समझना कि संस्कृत भाषामें किसी शब्दका ऐसे 'अ' 'ब' 'स' की तरह जैसे लोग नाम लेकर कल्पना कर लेते हैं। पूछा—अगस्त मास क्यों? बोले—अगस्त नामका एक वैज्ञानिक था। उसने ज्योतिषके हिसाबसे देखा कि ग्यारह महीना माननेपर कालका पूरा वर्णन नहीं होता है। बारहवाँ महीना चाहिए—अगस्त। उसने यह खोज की इसलिए बारहवें महीनेका नाम क्या हो गया? ग्यारहसे बारह महीना कर दिया। अगस्त बढ़ गया। यह सुकरातका चेला था, प्लेटो, अगस्त। तो नामपर नाम आ गया। नामपर नाम रख दिया।

अच्छा हमारे यहाँ बताओ, महीनेका नाम क्यों होता है? पुष्य नक्षत्र जिसकी पूर्णिमामें हो उसका नाम पौष। मघा नक्षत्र जिसकी पूर्णिमामें हो उसका नाम माघ। फाल्गुनी नक्षत्र जिसकी पूर्णिमामें हो उसका नाम फाल्गुन। बिलकुल प्राकृत है। चन्द्रमाकी गतिका आकाश में जो घटना-बढ़ना होता है, उसके हिसाब से बारहों महीनेका नाम रखे हुए हैं, यह किसी ऋषि-महर्षिके नाम पर नहीं है, बिल्कुल वैज्ञानिक, प्राकृत रीतिसे।

अच्छा तो एक शब्दका अर्थ क्या होता है? **इता संख्या एक इत्युच्यते। इता** माने व्याप्त। **व्याप्नोति सर्वासु संख्यासु सा संख्य एक इत्युच्यते।** जो संख्या सब संख्याओंमें व्याप्त होती है, उसका नाम एक होता है। **एति इति एकः। इञः गतौ। एति व्याप्नोति इति एकः। गच्छति सर्वासु संख्यासु इति एकः।** एक किसको कहते

हैं? जो सबमें व्याप्त हो। इसका क्या मतलब हुआ? देखो दो कैसे बनेगा? एक और एक-दो। तीन कैसे बनेगा? एक, एक और एक-तीन। चार कैसे बनेगा? एक, एक, एक और एक - चार। बिना एकके कोई गिनती बनती ही नहीं है। कई एकका जो झुण्ड होता है उसे पाँच-छह-सात बोलते हैं। इसलिए जो सबमें रहे, सब गिनतीमें रहे उसका नाम एक। —**एति व्याप्नोति।**

अब देखो परमात्माका नाम एक हो गया कि नहीं? परमात्माका नाम एक हो गया। **हिरण्यगर्भः समवर्तताग्रे भूतस्य जातः पतिरेक आसीत्।** जैसे एक संख्या सब संख्यामें व्याप्त है, ऐसे एक ईश्वर सब वस्तुमें व्याप्त है। इसलिए ईश्वरको एक बोलते हैं।

इससे भी बड़ा ईश्वरके लिए कोई शब्द है? कि है। वह क्या है? अद्वितीय। क्योंकि एक तो सबमें व्याप्त होता है और जो अद्वितीय होता है, उसमें व्याप्य-व्यापक भेद ही नहीं, कौन किसमें व्याप्त होवे? दूसरा है ही नहीं, इसलिए अद्वितीय बोलते हैं।

सदेवासीत् सोम्यमग्र एकमेवाद्वितीयम् इसलिए बोलते हैं एक भी अद्वितीयम् भी। तो देखो आप, एकमक्षरं बताते हैं। अक्षर कौन? जो एक हो—**अकारेण सर्वावाक् सम्पृण्णा** दुनियामें जितने स्वर और वर्ण हैं उसमें एक अक्षर ऐसा है जो व्याप्त रहता है। वह क्या है? बोले—अ—जैसे एकके बिना कोई गिनती नहीं वैसे अ के बिना कोई स्वर और वर्ण नहीं। क ख ग... इनमें 'अ' है कि नहीं? अच्छा बोले—आ, इ, ई, उ, ऊ, ए, ऐ... जो भी बोलो, बिना अकार के कोई वर्ण नहीं होता, इसलिए परमात्माका नाम 'अ' है—

अकारो वासुदेवः स्यात्।

यह समझदारीके लिए है। यह जैसे गरीबने अपने बेटेका नाम रखा करोड़ीमल और करोड़पतिने अपने बेटेका नाम रखा मँगतूराम। दोनों नाम हमको मालूम है, सेठोंमें है। एक बिल्कुल गरीबके बेटेका नाम है, करोड़ीमल और एक करोड़पतिका नाम मगतूराम। इसका मतलब क्या हुआ? कि उसने झूठ ही एक संज्ञा रख ली—कल्पना कर ली, संस्कृत भाषामें ऐसा नहीं होता। संस्कृत बोलीमें जिसका जो अर्थ होता है वही होता है।

एक मक्षरम—

अब अक्षर देखो क्या है? एक अक्षर कौन है? कि **ओमित्येकाक्षरं ब्रह्म।** ॐ—यह मंत्र है। देखो ॐ का तो आपने बहुत अर्थ सुना होगा। हमने

माण्डूक्योपनिषद् पर यहाँ प्रवचन किया है और सारा माण्डूक्योपनिषद् ॐ का अर्थ बतानेके लिए है।

विश्व तैजस् प्रास तुरीय, अकार उंकार, मकार यह परमात्माका नाम है। अब आपको ॐ का एक अर्थ बताते हैं। अ माने अहम्। उ माने उत्—ऊर्ध्वं। **उदीचि ब्रह्म नाम। उत्।** और म माने अस्मि। अ अहम्, उ उत्-ब्रह्म, म् अस्मि। मैं ब्रह्म हूँ। ॐ का अर्थ है मैं ब्रह्म हूँ।

एक महात्मा थे, उनका नाम था धनराज पंडित। सूर थे दोनों आँखसे। ऐसा चमत्कार था उस आदमीके अन्दर, हमने अपनी आँखसे देखा है, उनकी बात सुनी है। आजकल जो शास्त्र मिलते हैं वे तो थोड़े हैं और उनको जो मालूम थे वो बहुत ज्यादा। आजकल सारी धरतीपर छपे हुए जितने ग्रन्थ हैं वे तो उनको मालूम ही थे। जो न लिखे हुए हैं, न छपे हुए हैं, वे ग्रन्थ उनको मालूम थे। वे गीता प्रेसमें आये, गीता प्रेसवालोंने कहा कि महाराज गीताकी डेढ़-दो सौ व्याख्या तो हमारे पास है, आपकी जानकारीमें गीताकी कोई विलक्षण व्याख्या है? बोले—हाँ है। वह तो कहीं छपी नहीं है—ऐसी है। क्या व्याख्या है महाराज? बोले—गीतामें कामका वर्णन है, कामशास्त्रकी व्याख्या है। बोले—यह व्याख्या किसने लिखी? बोले—गार्ग्यान् ऋषिने लिखी। कैसी है? बोले—लिखो हम बताते हैं—

अनन्याश्चिन्तयन्तो मां ये जनाः पर्युपासते।

यह दृष्टान्त दिया उन्होंने। उनके पास महामहोपाध्याय पण्डित अम्बादास शास्त्री और डॉ. भगवानदास श्रीप्रकाशजीके पिता—ये दोनों गये और बोले—महाराज। हमको ॐ का अर्थ बतानेवाला कोई शास्त्र आपको मालूम हो, जो धरती पर अभी तक प्रकट न हुआ हो, वह बताओ। बोले—है। अब महाराज वह ऋषिका नाम, ग्रन्थका नाम, बाईस हजार श्लोकोंमें वह ग्रन्थ है, लिखो। अब अम्बादास शास्त्री लिखने बैठ गये, महामहोपाध्याय बड़े अच्छे विद्वान थे। अब वह सारे ॐकार का अर्थ उन्होंने बाईस हजार श्लोकोंमें लिखवाया। उसमें ॐकारका अर्थ क्या लिखा है उन्होंने? 'अ' माने अहम्। 'उ' माने एतत्। 'म' माने नहीं। अहम् एतत् न। यह देहेन्द्रिय मन व्यष्टि-समष्टिदिके रूपमें जो प्रपंच दीख रहा है—यह मैं नहीं हूँ। मैं इससे न्यारा हूँ, नामरूपका अधिष्ठान, नाम रूपका साक्षी, नाम रूपका प्रकाश एकाक्षर ब्रह्म है। **ओमिति ब्रह्म। ओमिति आत्मानं युञ्जीत। ओमिति आत्मानं उपासीत्।** बोले—एकबार ॐकारके अर्थका विचार करें

तो ब्रह्मज्ञान हो जाये। यदि ठीक-ठीक ॐकारका अर्थ आ जाय एकबार, उसमें दुहरानेकी जरूरत नहीं पड़ती। एकबारमें न आवे तो?

यज्ञानां जपयज्ञोऽस्मि—जप करो।

महाभारतके शान्तिपर्वमें-मोक्षधर्ममें एक जापकोपाख्यान है, आप लोग कोई महाभारत पढ़ते हों, तो उसमें देखना, और न पढ़ते हों तो कोई बात नहीं। ऐसा नहीं कि सबको सबकुछ पढ़ना चाहिए। जप करते थे। तो गायत्री देवी उनके ऊपर प्रसन्न हुई। गायत्रीका जप करते थे। जप करते थे, देवी प्रसन्न। आयीं बोलीं—ऐ ब्राह्मण देवता! तुम्हारी जो इच्छा हो सो लो—धर्म लो, अर्थ लो, काम लो, मोक्ष लो। बोले—देवी कृपा करो, हमको कुछ नहीं चाहिए। हम माँगनेवाले नहीं है, हम वह ब्राह्मण नहीं हैं जो किसीके आगे हाथ फैलावे। हम वह नहीं हैं जो प्रतिग्रह लेनेवाला है, प्रतिगृहीता नहीं है। हम तुम्हारा दिया हुआ भी कुछ नहीं लेंगे। गायत्री देवी बोली कि भाई, ऐसे काम नहीं चलेगा, हम बड़ी दूरसे चलकर तुम्हारे पास आयीं, तुम्हारे ऊपर प्रसन्न हैं, तुम्हें कुछ देना चाहती हैं, नहीं लोगे तो हमारा भी तो अपमान होगा, बहुत समझाया। उन्होंने कहा—अच्छा तुम्हें कुछ देना ही है तो तुम यही दो कि जपमें हमारी रुचि और बढ़े और हमारा जप कभी न छूटे।

यह मोक्षधर्म प्रकरणमें यह जापकोपाख्यान है। बड़ा रोचक उपाख्यान है। यम आये, काल आये, मृत्यु आये, सैंकड़ों वर्ष जप करनेके बाद। उन्होंनें कहा—चलो स्वर्ग, बोले—स्वर्ग जाये हमारी बला, हमें तो जप चाहिए, स्वर्ग तो है नरकके समान। वहाँ स्वर्गका नरकके रूपमें खूब विस्तारसे वर्णन है। वह तो स्वर्ग नहीं, नरक है, जहाँ जानेके लिए कहते हो। हम स्वर्गमें नहीं जायेंगे, हम तो अपना जप करेंगे, जप नहीं छोड़ेंगे। इतनेमें वहाँ राजा इक्ष्वाकु आये। उस ब्राह्मणने कहा कि हम तुम्हारी क्या सेवा करें। तो इक्ष्वाकुने कहा—हम तो क्षत्रिय हैं, हम भी दान नहीं लेते।

तो ब्राह्मणने कहा—हमारे घर आये, हमारी कुटियापर आये हो, कुछ तो लो बाबा। तो बोले कि अच्छा तुमने जो इतने दिन जप किया है, उसका फल हमको दे दो। बोले कि ले लो फल। पूछा—क्या फल है तुम्हारे जपका? मैं तो बहुत संक्षेपमें बताता हूँ। उसने कहा कि देखो भाई, हम तो जबसे संस्कार हुआ, तबसे जप करते हैं और हमने कभी यह खोजबीन नहीं की कि इसका फल क्या मिलता है और न तो मैंने फलकी प्राप्तिके लिए यह किया है, हम तो बस यही चाहते हैं कि हमारा जप बना रहे, जो अबतक फल बना है तो तुम ले लो और

फिर हम जप करेंगे। फलमें हमारी रूचि नहीं है, हमारी तो जपमें रूचि है। तुम फल ले लो।

अब इक्ष्वाकुने कहा कि मैं फल नहीं लूँगा, तुम बताओ कि क्या फल है। बोला कि हमको मालूम ही नहीं कि फल क्या है, हमने फलके लिए नहीं किया। बोले—बिना बताया हुआ हम नहीं लेंगे। अब दोनोंमें लड़ाई हो गयी। दोनों बिलकुल लड़नेको तैयार; बोले—आयो युद्ध कर लो। ब्राह्मण भी तैयार हो गया कि आओ युद्ध कर लो, राजा इक्ष्वाकुसे। युद्ध करेंगे लेकिन हम फल कैसे बतावें। बड़ी विचित्र कथा है। दोनों ओरसे अस्त्र-शस्त्र सुसज्जित, फिर इक्ष्वाकुको आयी बुद्धि, उन्होंने कहा—देखो हम तो हथियार चला सकते हैं, लेकिन तुम हथियार नहीं चला सकते, क्योंकि ब्राह्मण हो, तुम्हारे धर्मके विपरीत है। तुम हथियार नहीं चलाओगे तो हम भी तुम्हारे ऊपर हथियार नहीं चलावेंगे। इसलिए आओ वाग्युद्ध किया जाये। शास्त्रार्थ करें, देखें कौन जीतता है। अब दोनोंमें शास्त्रार्थ हुआ, इतनेमें दो बड़े विरुप और विकृत देवता प्रकट हुए, आपसमें लड़ते हुए, इसका कुछ न्याय करें। ऐसा न्याय करना पड़ा इक्ष्वाकुको कि ब्राह्मण जीत जाय। फिर यमराजने-मृत्युने-कालने, सबने उस ब्राह्मणसे कहा कि तुम ब्रह्मलोक चलो, जपका यह फल है। ब्राह्मणने कहा—नहीं, हमारी जपमें रुचि दिनों-दिन बढ़ती जाये, जपमें रुचिके सिवाय हम इसका फल कुछ नहीं चाहते।

जापकोपाख्यान महाभारतके शान्तिपर्वमें मोक्षधर्ममें, बहुत विचित्र है।

ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः

महर्षीणां भृगुरहं गिरामस्म्येकमक्षरम्।
यज्ञानां जपयज्ञोऽस्मि स्थावराणां हिमालयः॥ 25॥

महर्षीणां भृगुरहं—महर्षि तो बहुत हैं कोई गिनती नहीं कर सकता। तो बोले ऋषिको महर्षि क्यों बोलते हैं? कि ऋषि भी होवे महान् भी होवे। कि ऋषि तो सब महान् होते हैं। जो शाप देनेवाले ऋषि होते हैं, उनको महान् नहीं माना जाता। महान् माने उदार। महत्ता एक ही वस्तुमें है, उदारतामें ही महत्ता है। **उत् ऊर्ध्वं आसमन्तात् इयर्थी इति उदारः**। उदार किसको बोलते हैं? कि जिसका हाथ ऊपर रहे। उत् माने ऊर्ध्वं आसनमपात इयर्थि—उदारं माने जिसका हाथ ऊपर रहे।

महान् किसको कहते हैं? बोले—महाधनी है, जरूर इसका हाथ बद्धमुष्टि होगा। मुट्ठी बाँधके न रखे तो कोई ज्यादा संग्रह कैसे कर सकता है? तो महान्का अर्थ क्या है? कि जो उदार हो।

जो लोक-कल्याणमें लगे हुए हैं, दूसरोंकी भलाई करनेवाले हैं और ज्ञानी हैं ऋतं तु। ऋत् धातु ज्ञानके अर्थमें है। दूसरोंकी भलाई भी करे, आत्मज्ञान-सम्पन्न भी हो तब उसको महर्षि बोलेंगे। वह ऋषियोंमें महान् है। महर्षि भी बहुत हैं। उसमें-से एक प्राईवेट ऋषि निकालो। वह भृगु होता है।

भृगु क्या होता है? कि देखो संसारमें बड़े-बड़े ऋषि हैं, वृहस्पति आदि जो धन कमानेका रास्ता बताते हैं। वात्स्यायन आदि जो ऋषि हैं, वे भोग करनेका रास्ता बताते हैं। काम-शास्त्रका प्रणेता कौन है? वात्स्यायन। भोग कैसे मिले, वह रास्ता वे बताते हैं। अच्छा धर्म कैसे मिले—यह रास्ता जैमिनि आदि बताते हैं। जो हमें वासनापूर्तिके मार्गमें ले जाय, वह महर्षि भले होवे, पर वह भृगु नहीं है। भृगु कौन है? जो हमारी वासनाओंका भर्जन करे। वासनाओंको भून दे—ज्ञानाग्निसे भस्म कर दे। ऐसा वर्णन है कि सौन्दर्याग्निसे भी वासना भस्म होती है। यह सुन्दरता जैसे रामचन्द्र बड़े सुन्दर हैं, तो उनको देखकर भोगनेका मन नहीं होता।

यह अपने उड़िया बाबाजी महाराजकी एक विशेषता आपको बताता हूँ। मैं कोई सन् चौंतीससे सैंतालीस तक उनके साथ रहा, माने गीताप्रेसमें रहते समय भी उनका सम्पर्क बना हुआ था। यदि बहुत बढ़िया चीज उनके सामने लाकर रख दी जाय तो वे कहते थे इतना बढ़िया अंगूर और उसको खा जायँ? राम-राम। चबा जायँ? राम-राम। रहने दो। देखेंगे—इतना बढ़िया फूल? अगर कोई बढ़िया फूल खिलता, बाबाको याद होगा, हम लोग जहाँ रहते वहाँ एक कुँआ है, तो जब वह कुँआ बना पहले-पहल तो पानी बहुत निकलता था, जगत नहीं बनी थी, तो वही फूल लगा दिये, तो आकर कभी-कभी देखते थे। कहते—इस फूलको तोड़ना नहीं, खिलने दो।

इसका नाम है जो सुन्दरताका प्रेमी होगा, वह भोगके द्वारा सुन्दरताको चौपट करना तो नहीं चाहेगा।

अब यह परिभाषा आजकलके लड़के-लड़कियोंको नहीं मालूम है। सुन्दरता वह होती है जिसको देखकर कामकी निवृत्ति हो जाये। श्रीकृष्णकी, श्रीरामकी सुन्दरता वासना निवृत्त करनेके लिए है। जितना प्राकृत सौन्दर्य होता है, जैसे चन्द्रमा आकाशमें उगता है, बड़ा सुन्दर होता है, देखकर आँखें तृप्त हो जाती हैं, मनमें आह्लाद् होता है, लेकिन अगर कोई भले मानुस यह चाहे कि आकाशमें-से चन्द्रमाको तोड़कर हम अपनी तिजोरीमें रख लें और मेरा बनाकर रखें, ऐसा नहीं, वह इस स्तरका सौन्दर्य है, उसको खुले आकाशमें बिखरने दो, उसको तिजोरीमें मत बन्द करो।

प्रेम भोग देनेके लिए होत है, प्रेम भोग लेनेके लिए नहीं होता। धर्म वासनाका संकोच करनेके लिए होता है, बढ़ानेके लिए नहीं होता। उपासना वासनाको एक जगह जोड़नेके लिए होती है, बढ़ानेके लिए नहीं होती। योग भी वासनाको निस्संकल्प—उठने न दे, वहीं हाथपाँव तोड़कर रख दे। योग वासनाका हाथ-पाँव तोड़कर रख देता है—योगाग्नि।

और ज्ञानाग्नि वासनाकी शक्ल ही रहने देती है, उसकी पारमार्थिकताको भस्म कर देती है। ज्ञानाग्निमें वासन परमार्थ सत्य नहीं होती है, चुड़ैल हो जाती है। जैसे चुड़ैल झूठी होती है भ्रमसे दिखाई पड़ती है, वैसे वासना बिलकुल झूठी हो जाती है। यह जो परमार्थका मार्ग है, यह वासनाको भूननेका मार्ग है। तो भृगु कौन है? **भर्जनात्। भृज्यति।** जो वासनाको भून दे।

अब तुम अपने गुरुकी ओर जरा देखो, चेले लोग नाराज हुए, उनका मन

हुआ कि हम तमाशा देखने जायेंगे, या माँ बाप जब बेटा बेटीको सिनेमा देखनेसे मना करने लगते हैं तो बेटा बेटी नाराज होते हैं कि हमको सिनेमा देखने नहीं जाने देते, बाजारमें नहीं जाने देते। वे तो इनकी वासनाको दबाकर इनके जीवनका निर्माण करना चाहते हैं और वे अपनी वासनाकी पूर्ति करके अपनी शक्तिको, अपनी बुद्धिको अपनी सत्ताको बिखेर देना चाहते हैं।

तो भृगु कौन हैं? भृगु वह है जो अपने शिष्यकी वासनाको पका-पकाकर, भून-भूनकर मिटा दे। महर्षियोंमें कौन? सब महर्षि हैं, लेकिन एक महर्षिसे जाकर तुम पूछो कि—हम स्वर्गके लिए यज्ञ करें, तो तुरन्त बता देगा कि हाँ करो, स्वर्ग-काम्य यज्ञ है, वेदमें आज्ञा है। प्रवृत्ति मार्गी है, वह गुरुके पास जाओगे तो वह कहेगा यज्ञ करो, तुम्हारी रुचि है यज्ञ करनेमें तो यज्ञ करो, लेकिन स्वर्गके लिए मत करो, अपना हृदय शुद्ध करनेके लिए करो। यज्ञ करो परन्तु वासनाकी पूर्तिके लिए नहीं, वासनाकी निवृत्तिके लिए। पर ऐसा कौन कहेगा? जो हमारा व्यक्तिगत रूपसे कल्याण चाहता है, हमको परमात्माकी प्राप्ति करा देना चाहता है, उसको भृगु बोलते हैं। तुम्हारी हाँ में हाँ मिला देनेवालेका नाम भृगु नहीं है। तुम्हारी स्वीकृतिमें, बेवकूफीसे बहुत सारी स्वीकृतियाँ मानी हुई हैं।

अब देखो एकादशी है कि द्वादशी, कालकी दृष्टिसे दोनों कालके अवयव हैं। दोनों मासके अवयव हैं, दोनों पक्षके अवयव हैं, एकादशी और द्वादशी। सोमवार और मंगलवारमें क्या फर्क है? एक इशारा ही तो है समझनेके लिए, लेकिन एकदिन व्रत रहो, यह बात कहाँसे निकली? गुरु तो चाहता है कि भोजनकी वासना समूची निकल जाय, लेकिन अनुशिष्ट करके एक दिन तो हमारी बात मानो, एकादशीका व्रत किया करो। यह वासनाके संकोचकी प्रक्रिया है, यह वासनाके विस्तारकी प्रक्रिया नहीं है। अब एक दिन तुम्हारे खानेकी जो इच्छा थी, उसपर तो आग डाली। पन्द्रह दिनमें एक दिनपर तो आग डाली। यह वासनाके निवारणकी प्रक्रिया है सारी-की-सारी—**महर्षीणां भृगुरहं।**

तो यह गुरु है भ, ऋ और ग और गु+रु+भ, भक्ति है यह। गुरु भक्ति ही मनुष्यका कल्याण करती है।

अच्छा अब इसका एक मन्त्र है—**गिरामस्म्येकमक्षरम्।** मन्त्र भी छोटे-से-छोटा बताना जिसके बिना कोई मन्त्र बनता ही नहीं। **मन्त्राणां प्रणवसेतुः।** जितने

मन्त्र होते हैं उनमें पुलका काम, सेतुका काम मेंड़का काम, दो खेतके बीचमें मेंड़ होती है, जैसे दो मकानके बीचमें जो दीवार होती है, उस दीवारको सेतु बोलेंगे— मर्यादा-मेंड़, वैसे ही दो मन्त्रोंके बीचमें सेतु है। जैसे कोई **ॐ नमः शिवाय** मन्त्रका जप करे, नमः शिवाय तो मकान है और ॐ जो है वह मर्यादा है। मर्यादा नहीं होनेसे सब एक हो जायेगा। हमने छः माला-बारह माला मन्त्रका जप किया, उसके बीचमें वह प्रणव जो होता है वह मन्त्रको पृथक्-पृथक् करके उसको फलप्रद बनाता है। **मन्त्राणां प्रणवसेतुः।**

अब यहाँ यह बताते हैं कि देखो आप किसी भी इष्टका ध्यान करते हैं न, कोई मन्त्र ऐसा नहीं होता जिसके पास प्रणव न हो। यह श्यामसुन्दर है, यह खुद ही तीन टेढ़े-टेढ़ हैं। पाँवसे टेढ़े, कमरसे टेढ़, उनको बतानेमें भी कमर थोड़ी टेढ़ी हो जाती है। यह टेढ़ापन-बाँकापन क्या है? यह बाँकापन प्रणव है। प्रणवके मध्य तुरीय है, तीन रेखा अगर प्रणवकी है, ऊपरवाली, बीचवाली, नीचेवाली, अकार, उकार, मकार—तुरीयं त्रिषु संततम्—तीनोंमें। ॐकार का बाँकपनको लेकर श्यामसुन्दरका ध्यान करो।

रामचन्द्रका जो धनुषबाण है, वह बिल्कुल प्रणव है। शंकरजीका जो त्रिशूल है वह तो उनके हाथमें ही रहता है, वे प्रणवको अपनी मुट्ठीमें रखते हैं, वह त्रिशूल है। तो प्रणवमें अपने इष्टका ध्यान करो।

इसके बाद देखो, केवल ॐकारका ही जप और ध्यान करो। इसमें एक बात आपको सुना देते हैं, ये श्रोता जो हैं, इनको बहुत समझदार मानकर यह बात मैं नहीं कह रहा हूँ, क्योंकि समझदार मानता तो यह सोचता कि ये समझते ही होंगे, बतानेकी क्या जरूरत है।

एक आदमी आता है, यहाँ भी कभी आता है, आज है कि नहीं, हमको मालूम नहीं, वह कहता है मैं मानसिक जप करता हूँ और पच्चीस वर्षसे करता हूँ, पर हमारे मनमें बड़ी अशान्ति है। पच्चीस वर्षसे मानसिक जप करता है पट्ठा, और मनमें बड़ी अशान्ति है। हे भगवान् असल बात यह है कि वाणीसे जैसा जप करना चाहिए वैसा उसने नहीं किया। उसको किसीने बता दिया कि वाचिक जपसे उपांशु जप श्रेष्ठ होता है और उपांशु जपसे मानस जप श्रेष्ठ होता है। मनुस्मृतिमें इसके श्लोक लिखे हैं और यह मत समझना कि हमने वे नहीं पढ़े हैं। हमने पढ़े हैं। लेकिन वाणीसे पहले विधि-विधानके अनुसार गुरुसे मन्त्र लेना, मन्त्रका पहला विधान यही है कि गुरुका दिया हुआ मन्त्र होवे। दूसरे—

उसके उच्चारणका विधान, और वाणीसे पहले जप करलो, तब यह भीतर घुसेगा। वृन्दावनमें तो क्या करते हैं कि घरमें तो मौजसे अपना काम करते रहते हैं, जब सड़कपर कहीं चलना होता है तो सिरको जरा धो-धाकर खूब बढ़ियासे चन्दन लगाते हैं, निकलते समय लगाते हैं, घरमें ऐसे रहते हैं। बिना स्नान किये। गोस्वामीजीके घरमें पाँच बजे सुबह पहुँचो, सो रहे होंगे। बोले— अच्छा आते हैं, गोस्वामीजी अभी भजन कर रहे हैं। तो उठकर वे तुरन्त लम्बा तिलक लगावेंगे और हाथमें जपमाली लेकर आजायेंगे और हमारे भगत लोग, ये सड़कपर निकलते हैं तो वो लटकाते हैं माला, राधेश्याम-राधेश्याम दो बार बोलें और मनिया चार-चार, दस-दस एक साथ सरकाते हैं।

तो वाणीसे जप करनेकी जैसी विधि है, वैसे जप करो। वाणीसे जप करनेपर उपांशुमें प्रवेश होता है, गलेके अन्दर और गलेके अन्दर ठीक किया जाये तो वह हृदयके अन्दर उतरता है।

पूर्वभूमौ कृता भक्तिः उत्तरां भक्तिमानयेत्।

अब तुम्हारे बीचमें आया कि किसीने कहा कि वाणीके जपसे तो मनका जप श्रेष्ठ है। मनका करने लगे तो नींद आ गयी। कोई अनधिकार प्रवेश करता है, उसको उतना लाभ नहीं होता। तो प्रणवका जप भी वाणीसे होता है। प्रणवका जप माने अपने इष्ट मन्त्रका जप। जो लोग समझते हैं, यह मन्त्र बढ़िया है और यह मन्त्र घटिया, वे जरा परमार्थसे थोड़ा दूर ही रहते हैं। क्योंकि ब्रह्म तो एक है, परमात्मा तो एक है, परमार्थ तो एक है, उसमें जो श्रेष्ठता, कनिष्ठता होती है, वह तात्त्विक नहीं होती, वह शास्त्रके द्वारा अध्यारोपित होती है। जो शास्त्रकी रीतिसे उसकी श्रेष्ठताको स्वीकार करके भजन करता है, वह उसके फलका अधिकारी होता है। तो इष्ट सहित ओंकारका जप करो, मन्त्र सहित ओंकारका जप करो, केवल ओंकारका जप करो वाणीसे—बारह हजार।

यस्तु द्वादशसाहस्त्रं नित्यं प्रणवमभ्यसेत्।

अच्छा आगे चलो। ओंकारका जप नहीं ओंकारका ध्यान नहीं, ओंकारकी नोंकपर जाकर बैठ जाओ। ॐ··· कहते हुए जहाँ साँस टूट जाये, वहाँ जाकर फिर बोलो—ॐॐ···। फिर मन नीचे गिरे, फिर साँस उठे तो फिर ॐ···। यह त्रिशूल तुम्हारी मुट्ठीमें आ जायेगा, शिव हो जायेगा। क्योंकि ॐकार त्रिशूल है, इसका अगला हिस्सा 'अ' है। इसकी जो पूँछ है ना, वह 'ऊ' है, ऊ की मात्रा जैसे लिखी जाती है वह और उसके ऊपर जो बिन्दी है वह 'म' का प्रतीक है। 'अ' विश्व है,

'उ' तेजस् है, बिंदी प्राज्ञ है और अर्ध मात्रा माया है। माने ये तीनों मायामें हैं। और उसके ऊपर जो अमात्र है, वह अमात्र तुरीय है **ओमिति आत्मानं युञ्जीत। ओमित्येतदक्षरमिदं सर्वम्।**

यह सब सृष्टि ओंकार रूप है।

एतदालम्बनं श्रेष्ठं एतदालम्बनं परम्।
एतदालम्बनं ज्ञात्वा यो यदिच्छति तस्य तत्।
ओमितिएकाक्षरंब्रह्म ।

जैसे एक संख्या सर्व संख्यामें अनुगत है। एकके बिना कोई गिनती बताओ। बोले—सौ। बोले—सौ माने एक एक एक सौ बार। नौ? नौ में तो एक नहीं है। बोले—नहीं, एक एक एक नौ बार। कुल गिनती ऐसी नहीं है जो एकके बिना बनती हो। **एति इति एकः**। जो अपने बाद वाली सब संख्याओंमें व्याप्त हो उसका नाम एक। यह व्यापकका नाम एक है। और यह ॐ क्या है? कि **तुरीयं त्रिषु संततम्। ओंकारेण सर्वावाप्संत्रयेण।**

ऐसा कोई अक्षर बोलो जिसमें 'अ' न हो। जैसे बिना एकके संख्या नहीं, वैसे बिना 'अ' के कोई शब्द नहीं—वाक्य नहीं। ऐसा कोई शब्द कोई वाक्य होता जिसमें 'अ' न हो। ऐसी कोई वस्तु नहीं जिसमें तुरीय ब्रह्म न हो। तो—

अश्नुते इति अक्षरम्। व्याकरण महाभाष्यके विद्वान पतंजलिमुनि अक्षर शब्दका अर्थ करते हैं—**अश्नुते इति अक्षरम्**। जो सबमें व्याप्त है, उसका नाम अक्षर। गीतामें बोले—**नक्षरतीति अक्षरम्। अक्षमं गतिं दधाति इति अक्षरम्। अक्षिणी व्याप्नोति इति अक्षरम्**। यह व्यापक तत्त्व है। यह परमात्माका ध्यान है।

तो देखो, **महर्षीणां भृगुरहं**—एक तो गुरुकी पहचान बतायी इस श्लोकमें। जो संसारकी वासनाको पूरी करे सो नहीं, जो मिटावे, **भर्जनात् भृगुः**। वह गुरु। और, मन्त्र कौन-सा? एकाक्षर मन्त्र। जैसे देखो मन्त्रके जितने अक्षर हैं, सब इष्ट देवका ध्यान करनेके लिए, सब मन्त्र अर्थ-प्रधान हैं। और ओंकार मन्त्र शब्द-प्रधान हैं। माने 'नमः शिवाय'का जप करो, तो शिवका ध्यान करो, उसके अर्थका ध्यान करो और ॐकारका जप करो तो ध्यान न हो तब भी काम चल जाये। **गिरामस्म्येकमक्षरम्** और ध्यान करो तो योगदर्शनकी रीतिसे ॐकार शब्दका अर्थ ईश्वर है।

माण्डूक्योपनिषद्की वेदान्तकी रीतिसे ॐकारका अर्थ क्या है? विश्व,

तैजस, प्राज्ञ और तुरीय। तो तुरीयको आत्मरूप जानकर ब्रह्मरूप जानकर अदृष्ट **मव्यवहार्यमग्राह्यमलक्षणमचिन्त्यमव्यपदेश्यम्**—अपनेको ब्रह्म जानकर यह तीनका बाध हो जाता है—अकार, उकार, मकर।

बोले—बाबा, अर्थ न समझें तो। फिर क्या करें? बोले—कि यज्ञ करो। यज्ञका अर्थ यहाँ जप है। यज्ञ बहुत-से होते हैं। यज्ञ वह होता है जिसमें कुछ इकट्ठा करना पड़े—लकड़ी, शाकल्य, वेदी, अग्नि, ब्राह्मण, मन्त्र, विधि-विधान, यजमान, सहायक। आदान-प्रदान न होवे तो यज्ञ नहीं होता। यह हमारे प्राचीन कालकी वितरण-प्रणाली है। जिसके पास धन इकट्ठा हो जाता था, वह आस-पासके लोगोंमें बाँटे। तो कैसे बाँटे? तो देखो ब्राह्मण तो वेदकी रक्षा करते हैं, वे मन्त्र पढ़ें। और, क्षत्रिय जो हैं वे रक्षा करें, घोड़ेको लेकर घूमें, पहरेदारी करें। वैश्य लोग शाकल्य, लकड़ी आदि जुटावें और शूद्र उसमें काम करें। तो जो संगृहीत धन है, उसका सबके प्रति प्रदान हो जाये। अन्तःकरणकी शुद्धि उसका मुख्य अर्थ है। उसमें देवताकी पूजा हो, सत्संग हो, दान हो। तीनों बात हो, तब यज्ञ हो। 'देवपूजासंगतिकरणदानेषु' यज्ञ शब्दका अर्थ होता है। यज्ञमें दान होता है, यज्ञमें सत्संग होता है और यज्ञमें देवताओंकी पूजा होती है। यज्ञसे नियम आता है, अपने जीवनमें उत्सर्ग आता है। जब हम यज्ञ करते हैं, इतने दिनोंतक ब्रह्मचर्यसे रहेंगे, इतने दिनोंतक हविष्यान्नका भोजन करेंगे, इतने दिनोंतक आराम नहीं करेंगे। भोगसे, आरामसे, संसारी कर्मसे निवृत्तिका संकल्प लेकर यज्ञमें बैठ गये।

यज्ञ तो बहुत बढ़िया, लेकिन यज्ञमें एक बड़ा दोष है। अब जप यज्ञकी महिमा बतानेके लिए यज्ञमें दोष बताते हैं। यह मत समझना कि हम यज्ञमें दोष बताते हैं। हम वेदमें, ब्राह्मणमें, यज्ञमें, तीर्थ स्नानमें दोष बतानेवाले नहीं हैं। जब गुण-दोषका विचार करते हैं, तो एकमें निष्ठा करानेके लिए गुण-दोषका विचार करते हैं। अधिकारी विशेषके लिए क्या अच्छा है और क्या बुरा है, एक रोगीके लिए, गर्मीका रोग होवे और रस सिन्दूर खिलवें, तो फायदा थोड़े ही करेगा। गर्मीके रोगमें मुक्ताभस्म फायदा करेगा, रससिन्दूर फायदा नहीं करेगा। बोले—नहीं भाई; चन्द्रोदय, रससिन्दूर दवा तो बहुत बढ़िया है महाराज, बड़ी कीमती है, बड़ी अच्छी-अच्छी चीजें उसमें पड़ती हैं। पड़ती होंगी, लेकिन तुम्हारे रोगके लिए मुक्ताभस्म ठीक है।

तो मुक्ताभस्म खराब है, रससिन्दूर अच्छा है, यह नहीं, जिस रोगीके लिए

जो उपयोगी है, वही ठीक है। इसीको अधिकारभेद बोलते हैं। सभी धान बाईस पसेरी नहीं होता है। अच्छा बुरा, जो बताते हैं, इसीसे बताते हैं। बोले—देखो यज्ञ करते हैं तो हिंसा-प्रधान यज्ञ होता है। अश्वमेध करो तो घोड़ेको घुमाया जाये, औषधियोंको चूसा जाये, आग जलाना पड़े, यज्ञमें हिंसा होती है। बोले—ऐसा यज्ञ बताते हैं जिसमें हिंसा ही हो, ऐसा कौन-सा है? कि **यज्ञानां जपयज्ञोऽस्मि**। यह वाक् प्रधान यज्ञ है। द्रव्य प्रधान जो यज्ञ होते हैं, उसमें हिंसा होती है और यह वाक्-प्रधान यज्ञ है, यह जपयज्ञ है।

जप शब्दका अर्थ होता है 'ज' माने जन्म और 'प' माने रक्षा। **जन्मना पाति इति जपः**। जो जन्मसे रक्षा करे **जन्मना तदुपलक्षणात् मृत्युरपि पाति इति जपः**। जिसका जन्म होता है, उसकी मृत्यु भी होती है। तो जन्मसे बचावे तो मृत्युसे भी बचावे। तो जन्म और मृत्यु दोनोंसे बचावे उसका नाम जप।

यज्ञ क्यों है? कि यह 'नमः' 'नमः' जो बोलते हैं, 'स्वाहा' बोलते हैं—मन्त्र तो एक ही होते हैं, तो जिसके अन्तमें 'नमः' हो या 'स्वाहा' हो, कुछ-न-कुछ होना चाहिए। ऐसे मन्त्र होते हैं। तो सबका अर्थ दान होता है। 'नमः' का अर्थ भी दान होता है। मैं नमन करता हूँ, माने अपने अहंकारको मिटाता हूँ। स्वाहा करता हूँ माने अपना दान करता हूँ।

मन्त्र क्यों होते हैं? जैसे अग्निमें देखो, 'इन्द्राय स्वाहा' 'अग्नये स्वाहा' 'बरुणाय स्वाहा।' 'गोपीजनवल्लभाय स्वाहा।' बोले—वहाँ तो घी की आहुति देते हैं। यहाँ काहे की है? **आत्मानं जुहोमि स्वाहा**। श्रीकृष्णके प्रति मैं अपना होम करता हूँ, यह जपका अर्थ हो जायेगा। एक सर्वमेध होता है, एक आत्ममेध होता है। ये यज्ञ होते हैं। शुक्लयजुर्वेदमें सर्वमेधके बहुत सारे मन्त्र हैं। सर्वमेध माने सबकी बलि ईश्वरके सामने दे देना।

जपयज्ञका अर्थ है आत्ममेध। अपना देह भगवान्‌को अर्पण करना, अपनी इन्द्रियाँ भगवान्‌को अर्पण करना, अपने प्राण भगवान्‌को अर्पण करना; अपना मन अपनी बुद्धि भगवान्‌को अर्पण करना।

वेदान्ती बोले—क्या अर्पण-अर्पण लगा रखा है। अर्पणका अर्थ होता है। अपना विवेक जब करते हो, तब द्रष्टा सिद्ध हो जाते हो, कि मैं देहका द्रष्टा इन्द्रियका द्रष्टा, मनका द्रष्टा, बुद्धिका द्रष्टा, आनन्दका द्रष्टा। तुम तो हो गये द्रष्टा, अब यह देह, इन्द्रिय, प्राण, मन, बुद्धि—इनका क्या होगा? तुम तो इनसे न्यारे हो गये। बोले—इनको कारणाग्निमें हवन कर दो। मिट्टीको मिट्टीमें पानीको पानीमें

आगको आगमें, हवाको हवामें, मनको मनमें, बुद्धिको बुद्धिमें, माने व्यष्टिको समष्टिमें हवन कर दो। समष्टि ईश्वरका शरीर है और तुमने अहं जोड़कर अपनेको; जबतक तुम अपनेको द्रष्टा नहीं जानते थे, तबतक तो तुमने देहेन्द्रियादिसे मन जोड़ रखा था, अब तुम द्रष्टा हो गये तो तुम्हारा अहं मन निकल गया। तो अहं मम निकल गया तो यह सब किसका हो गया? यह ईश्वरका हो गया।

अब यह ईश्वरका संकल्प है, बोले ईश्वरके शरीरमें कल्पित है सारी सृष्टि तो तुम्हारे देहेन्द्रियादि भी ईश्वर सृष्टिके अन्तर्गत होनेसे ईश्वर कल्पित हैं और ईश्वरके साक्षी स्वरूपमें उनका भी कुछ नहीं। तब साक्षी-साक्षी एक हो गया। इसका अर्थ यह हुआ कि तुमने जब देहेन्द्रियादिसे अपनेको अलग किया तो यह जो कार्यभूत तुम्हारा शरीर है, यह कारण द्रव्यमें होम गया। इसका अर्थ तर्पण है, इसका अर्थ स्वाहा है।

अब शास्त्रीय रीतिसे नहीं समझोगे भाई, तो कहोगे शास्त्र ही गलत।

हमको एक महात्माने बताया था, यह आपको अपने बचपनकी धारणा बताते हैं। हमारा नाम उस समय शन्तनु था। लोग शंन्तनुबिहारी थोड़े ही बोलते थे, वह तो बड़े होनेपर बोलने लगे। माने जो नाम लेते थे वे बोलते थे शन्तन पण्डित। संतन बोलते थे। एक पटवारीने कागजमें हमारा नाम लिखा शीतल प्रसाद। एकने लिखा शीतल पण्डित। अब वह पता नहीं कि उर्दूमें कैसे लिखते हैं। उर्दूके तो कागज होते थे। गाँवके लोग बोलते थे संतन भैय्या। संतन बेटवा। संतन पण्डित। तो कौन-सा मैं? आपको एक बात बतायें यदि कभी तुमको ऐसा मालूम पड़े कि शास्त्र झूठे हैं, तो तुम यह समझना कि हमारी बुद्धि झूठी है। किसी देशमें किसी कालमें, किसी जातिके लिए, किसी व्यक्तिके लिए किसी अधिकारीके लिए वह शास्त्र जरूर सच्चा है। अगर तुम उसकी संगति नहीं लगा पाते तो शास्त्रकी कमजोरी नहीं है, तुम्हारी बुद्धिकी कमजोरी है, यह बात गाँठ बाँध लो आजसे। वह मान लिया कि ब्राह्मणके लिए नहीं है, तो शूद्रके लिए होगा। और मान लें कि शूद्रके लिए नहीं है, तो ब्राह्मणके लिए होगा। हिन्दुस्तानके लिए नहीं है तो तिब्बतके लिए होगा। तिब्बतके लिए नहीं है तो अमेरिकाके लिए होगा। स्वर्गके लिए होगा, पातालके लिए होगा। जगत्में भिन्न-भिन्न प्रकारके अधिकारी होते हैं। मान लो यह बात। और बोले कि जो साधन अन्तर्मुख न करे, वहिर्मुख करे, उस साधनमें कोई गल्ती है— ऐसा मानना।

और, अगर तुम्हारे सामने भगवान् प्रकट होवें और कहें कि विषय-भोग करो तो समझना कि वह ईश्वर नहीं है, वह शैतान आया है तुम्हारे पास। जो तुम्हें पापमें लगाये, विषय-भोगमें ले जाये, वह शैतान है।

यह आपको इसलिए सुनाया, यह जप जो है, **यज्ञानां जपयज्ञोऽस्मि** यहाँ यदि यह कहा जाता, **यज्ञानां जपोऽस्मि**, यज्ञोंमें मैं जप हूँ तो क्या अर्थ होता, आप समझते हैं। यज्ञ करते समय जो यज्ञमें ही अंगके रूपसे जप किया जाता है सो मैं हूँ, माने यज्ञ करो और जप करो। लेकिन जपके साथ जब यज्ञ लगा दिया, तो इसका अर्थ हुआ कि और जो क्रियात्मक यज्ञ हैं उनसे अलग यह वचनात्मक यज्ञ है। यह यज्ञ कैसे होता है? यह जीभ स्रुवा है, वाक् अग्नि है और इसमें जो शब्दका उच्चारण होता है, उसका हवन होता है। ऐसे बताते हैं कि ऊपर और नीचे, जीभके ऊपर नीचे है, ये दो अरणि हैं और जिह्वा जो है यह मन्थन काष्ठ है। उसके हिलानेसे जो अग्नि उत्पन्न होती है—वागग्नि, उस वाक्-अग्निमें ईश्वरका चिन्तन करो।

यज्ञानां जपयज्ञोऽस्मि।

श्रीचैतन्यगिरिजी उस दिन सुना रहे, आपको सुना देते हैं, नर्मदाजीसे स्नान करके निकले तो एक ऐसे साधु सड़कपर पड़े रहते हैं, पड़ा था, गेरुआ कपड़ा पहने, तो चैतन्यगिरिजीने कहा ऐ महात्मा क्या पड़े हो दिनमें नौ बजे. उठो भजन करो। बोला—आओ, आओ इधर, अपना कान हमारे सिरपर लगाओ, सिरपर रखा, तो सिरमें-से आवाज निकल रही थी, ॐ ॐ।

हम भी अपने सिरपर हाथ रखकर पहले देखा करते थे कि आवाज निकलती है कि नहीं। जब जप करते थे, तब।

बाबा बोले—अच्छा पेटपर कान रखो, तो ॐ ॐ ॐ कानसे सुनायी पड़ा। बोले—हमारे पाँवमें कान लगाओ, तलवेमें-से ॐ ॐकी ध्वनि निकल रही।

यह चैतन्यगिरिजीने बताया। हमने तो बहुत देखा है। सोते समय मनुष्यके शरीरसे भगवान्‌के नामकी ध्वनि निकलते देखा है, रोम-रोम खड़े होते हैं भगवान्‌के नामका उच्चारण करनेसे, रोम-रोम उच्चारण करते हैं। एकने जोरसे पुकारा 'ॐ नमः शिवाय'। शंकरजी आकर सामने खड़े हो गये।

जपमें तो बड़ी शक्ति है। ताराबाई थीं, पच्चीस-तीस वर्ष पहले। संगीतकी आचार्य थीं। उसको लोग अमेरिका ले गये थे। फ्रांस ले गये थे। वहाँ वह प्रदर्शन

करती थी, अखबारोंमें उन दिनों छपता था। उसके सामने पाउडर फैला दिया जाता था। और वह वीणा लेकर गान करती थी। जैसे ईसाका, मरियमका गान करती जैसा गान करती, तो वह पाउडरपर वैसी मूर्ति बन जाती।

यह वाणीसे ध्वनिकी तरंग निकलती है, वह आकृति बनाती है। एक दिन एक बंगाली वहाँ मिले, वे बोले कि अच्छा देखो हम तुम्हें एक गाना बताते हैं, तुम उसे गाओ, देखें क्या आकृति बनती है। तो शंकराचार्यजीका भैरवाष्टक उन्होंने सिखाया उसको। और, जब उसने वीणापर भैरवाष्टकका गान शुरू किया, ठीक स्वर-तालसे, राग-रागिनीसे, पाउडरपर बना कुत्ता और कुत्तेके साथ एक नाटी आकृति बन गयी अरे भाई भैरवका रूप तो ऐसा ही है, नाटे हैं और कुत्ता उनके साथ रहता है।

देखो शब्दकी शक्ति जो है न, वह अचिन्त्य है। अच्छा जैसे कोई पुकारे, बच्चू भाई उठो और आप खूब नींदमें हों, तो आप नींद टूटनेपर शब्द सुनते हैं कि शब्द सुनकर नींद टूटती है? आप बता दें इस बातको। ऐसे कहो कि नींद टूटनेपर शब्द सुनते हो, तो जगाया किसने? और कहो कि शब्द सुनकर नींद टूटी, तो उस समय तो तुम्हारा मन भी सोया हुआ था, आँख भी सोयी हुई, कान भी सोया हुआ, नाक भी सोयी हुई, शब्द तुमने सुना कैसे? उस समय तो कान सोये हुए थे, उस समय दिल सोया हुआ था, आवाज सुनकर उठे कैसे? तो यदि कान और मन सोया हुआ था तो तुमने आवाज सुनी कैसे? और नींद टूटनेपर सुनी, तो पुकारने पर कैसे जगे? यह बड़ा अनिर्वचनीय खेल है। इसीको बोलते हैं—

शब्दशक्तेऽर्चिन्त्यत्वात्—शब्दकी शक्ति अचिन्त्य होती है। वह देखो बिना करणके, आदमी बिलकुल उस समय कान-नाक-मुँह सब बन्द और शब्द कानसे टकराकर देवदत्तको यज्ञदत्तको अपना नाम समझ गये तुम कि हमको पुकार रहा है। कैसे समझे? जग जाता है।

इसीसे कहते हैं कि अज्ञानी भी जब महावाक्यका श्रवण करता है, अज्ञानी अज्ञान निद्रामें शयन कर रहा है, बोले—अज्ञान टूटेगा तब महावाक्यका अर्थ समझोगे कि महावाक्यका अर्थ समझ लोगे तब अज्ञान टूटेगा? दोनोंमें आगे-पीछे करो किसीको। बोले—**शब्दशक्तेर्चिन्त्यत्वात्। चिन्मयस्तन्मेहानतः** शब्द शक्ति अचिन्त्य है। इसीको जप कहते हैं—**यज्ञानां जपयज्ञोऽस्मि।** जप वृत्तिको एक विषयक बनाता है। वाणीसे उच्चार्यमान जप धर्म उत्पन्न करता है। और, मनसे

किया हुआ जप वृत्तिको एक विषयक बनाता है। और, वृत्ति एक विषयक होनेपर क्या होता है ? इष्टदेवका साक्षात्कार होता है। और तन्मयता हो जाय—

महर्षीणां भृगुरहं गिरामस्म्येकमक्षरम्।
यज्ञानां जपयज्ञोऽस्मि स्थावराणां हिमालयः॥ 25॥

कैसे जप करना ? सिद्धि आवे तो हिलना नहीं। देवता कोई आकर कहे— सुनो हम तुमको धन देते हैं। उठना नहीं, बिलकुल। बोले—हम तुमको स्वर्गमें ले चलते हैं विमानसे। बोलना नहीं। कैसे रहना ? कि दृढ़ रहना अपनी जगहपर।

यह जो एकका माहात्म्य सुनते हैं फिर उधर गये, दूसरेका सुना तो उधर गये। दयानन्दजी कहते थे कि एक किसानने एक खेतमें बोया बाजरा। दूसरेने आकर कहा— अरे राम-राम क्या किया, बाजरेमें क्या रखा है ? ज्वार बोओ। तो उलट दिया उसको, फिर ज्वार बो दिया। पाँच सात दिन बाद जब ज्वारमें अंकुर निकले, तो कोई आकर बोला—अरे राम, यह क्या किया ? उड़द बोओ; बड़ा लाभ होगा। फिर चौथा आया, अंकुर निकले देखकर बोला अरे यह क्या किया, मूँग बोओ. इसमें क्या पैदा होगा ? हुआ क्या ? कुछ नहीं !

एक महात्माकी बात सुनी, तो वाणीसे जप करने लगे, एक महात्माकी सुनी तो मनसे जप करने लग गये। एककी सुनी तो 'नमः शिवाय' हो गये, एककी बात सुनी तो 'नमो नारायणाय' हो गया, 'गोविन्दाय नमो नमः'। कि नहीं, अपने साधनमें दृढ़ता चाहिए।

यज्ञानां जपयज्ञोऽस्मि। दृढ़ता क्या ? कि **स्थावराणां हिमालयः।** जप यज्ञके बाद हिमालयका नाम क्यों लिया ? जैसे हिमालयमें स्थिरता है, स्थैर्य है। स्थिरताओंमें कौन-सी स्थिरता ? बोले हिमालयकी-सी स्थिरता।

गर्म स्थिरता नहीं, ठण्डी स्थिरता चाहिए। किसीके ऊपर चिढ़ो मत और स्थिर रहो। हिमालय देवतात्मा है। आपको क्या बतावें, ऐसा वर्णन आता है वेदान्तमें, हमारी वृत्ति कैसी होनी चाहिए ? **निरस्तसर्वसङ्कल्पा या शिलावदत्र-स्थितिः।** कोई संकल्प न हो और जैसे पत्थरकी चट्टान होती है, निस्संकल्प, निर्विकल्प, ऐसी हमारी स्थिति हो जाय। यह हिमालय है।

श्रीउड़ियाबाबाजी महाराजको जब शंकरजीने उपदेश किया, तो शंकरजीने कहा—**शिलाया हृदयं च यत्**—बेटा, ऐसे हो जाओ, जैसे शिलाका हृदय। जैसे शिलाके हृदयमें कोई क्रिया, कोई संकल्प, कोई स्पन्द, कोई प्राण नहीं है, ऐसे हो जाओ। **अमनस्क तदायाति।** अमनस्क दशाको प्राप्त हो जाओ।

तो यह जो हिमालय है, यह शीतल अमनस्क दशा है, उष्ण अमनस्क दशा नहीं। शीतल अमनस्क दशा है। यह कौन है ? वर्ह है।

अस्त्युत्तरस्यां दिशि देवतात्मा, हिमालयो नाम नगाधिराजः।

कालिदासने वर्णन किया है। 'उत्तरस्यां दिशि' एक उत्तर होता है, उत्तर माने ऊपरकी तरफ। एक नागाधिराज हिमालय है। कैसा है ? कि देवतात्मा है। देखो एक सूर्य देवताकी आँख, अश्विनी कुमारकी नाक, अग्नि देवताकी बोलनेवाली जीभ, वरुणके कान, वायुकी त्वचा—यह सम्पूर्ण सात-सात देवताओंकी नगरी तो प्रत्यक्ष और इनके ऊपर ब्रह्माजी, विष्णुजी, शिवजी, यह नगाधिराज हिमालय। बोले—निरस्त सर्वसंकल्प। किसी इन्द्रियके द्वारा, मनके द्वारा कोई संकल्प-विकल्प नहीं। ऐसे हो जाओ। **स्थावराणां हिमालयः।** भगवान्‌की विभूति है। स्थावरोंमें हिमालय।

यह विभूतियोग है। एक योग है, एक विभूति है आत्म-प्रधान योग है और ऐश्वर्य-प्रधान विभूति है और दोनोंसे परमात्माके चिन्तनमें मदद मिलती है।

तो यह भगवान्‌का विराट् रूप है। इसमें जहाँ ध्यानसे देखेंगे वहाँ आपको भगवान्‌की विभूति मिलेगी। यह समग्र विराट् ही भगवान्‌की विभूति है—वैभव है। वर्णन करके इसका अन्त स्वयं भगवान् भी नहीं पा सकते।

तब प्रश्न उठता है कि भगवान् अज्ञानी है क्या ? कि नहीं, अज्ञानी नहीं है। यदि अन्त होता और ईश्वर न जानता तो अज्ञानी होता। जब अन्त है ही नहीं, तो उसका न जानना ही ज्ञान है। यह जो ईश्वरका विस्तार है, इस विस्तारको ईश्वर भी नहीं जानता। तो जो नाम लेकर बतानेमें स्वयं ईश्वर ही हार गया, उसके नामोंकी गिनती हम क्या करेंगे ?

अश्वत्थः सर्ववृक्षाणां देवर्षीणां च नारदः।
गन्धर्वाणां चित्ररथः सिद्धानां कपिलो मुनिः॥ 26॥

सारे वृक्षोंमें भगवान् अश्वत्थ हैं। यह जो अश्वमेध यज्ञ होता है, वह क्या है ? यह सम्पूर्ण विश्व अश्व है। देखो, बृहदारण्यक उपनिषद्‌में विश्वको ही अश्व कहा गया है। यह सर्वमेध है, विश्वमेध है। शुक्ल यजुर्वेदमें तैंतीसवें अध्यायसे लेकर सर्वमेधका जो वर्णन है, उसमें यह विश्वमेध है। यह अश्वमेध माने अश्वत्थ-भगवान्‌का ही स्वरूप है। जितने भी वृक्ष हैं, उनमें अश्वत्थ भगवान्‌की विभूति है। *अश्ववत् तिष्ठति, अश्वत्थमपि अव्ययं प्राहुः। 'अश्वत्थं प्राहुरव्ययम्।'*

यह 'न श्वः तिष्ठति'—कलतक तो रहेगा नहीं, लेकिन लोगोंने इसका नाम अव्यय रख छोड़ा है।

'देवर्षीणां च नारदः'—भगवान् कहते हैं कि देवर्षियोंमें नारद हूँ। नारद माने नर-नारायणके ज्ञानका संचार करनेवाला। '*नरस्य इदं नारम्, नर-नारायण-प्रोक्तं ज्ञानम्। तद् ददातीति नारदः*'—जो नर-नारायण-प्रोक्त ज्ञानका सम्प्रदाय चलाये—वह नारद। गन्धर्वोंमें चित्ररथ हूँ और सिद्धोंमें कपिल हूँ।

उच्चैःश्रवसमश्वानां विद्धि माममृतोद्भवम्।
ऐरावतं गजेन्द्राणां नराणां च नराधिपम्॥ 27॥
आयुधानामहं वज्रं धेनूनामस्मि कामधुक्।
प्रजनश्चास्मि कन्दर्पः सर्पाणामस्मि वासुकिः॥ 28॥
अनन्तश्चास्मि नागानां वरुणो यादसामहम्।
पितॄणामर्यमा चास्मि यमः संयमतामहम्॥ 29॥

भगवान् बोले कि घोड़ोंमें उच्चैःश्रवा हूँ। क्यों? बोले—भाई, जहाँसे अमृत निकला है, वहींसे यह भी निकला है। और गजेन्द्रमें ऐरावत हूँ। यह भी अमृत निमित्तक हुआ, समुद्र-मन्थनमें-से निकला है, तो यह रत्न है। नरोंमें नराधिप हूँ, आयुधोंमें वज्र हूँ, धेनुओंमें कामधेनु हूँ और उत्पन्न करनेवाले, प्रजनन शक्तिवाले जितने पदार्थ हैं—उनमें मैं कन्दर्प हूँ, सर्पोंमें वासुकि हूँ। नागोंमें अनन्त हूँ। इन सर्पों और नागोंके भेद होते हैं, इनके अनेक प्रकारके भेद पुराणोंमें मिलते हैं जिनसे पता चलता है कि सर्प कौन होता है और नाग कौन होता है। इनमें एक सिरका भी भेद है, अनेक सिरोंका भी भेद है। जो पानीमें रहनेवाले हैं, उनमें वरुण हूँ और पितरोंमें अर्यमा हूँ। संयमशीलोंमें यम हूँ। जो संयमन करे, लोगोंको काबूमें रखे, वह यम मैं ही हूँ।

प्रह्लादश्चास्मि दैत्यानां कालः कलयतामहम्।
मृगाणां च मृगेन्द्रोऽहं वैनतेयश्च पक्षिणाम्॥
पवनः पवतामस्मि रामः शस्त्रभृतामहम्।
झषाणां मकरश्चास्मि स्रोतसामस्मि जाह्नवी॥ 31॥

मैं दैत्योंमें प्रह्लाद हूँ और जो सबको भेड़की तरह हाँक रहा है, **'कलयताम्'**—वह काल हूँ। मृगोंमें मृगेन्द्र हूँ, पक्षियोंमें गरुड़ हूँ और पवित्र करनेवालोंमें वायु हूँ। **'रामः शस्त्रभृतामहम्'**—भगवान् कहते हैं कि जो अपने साथ शस्त्र रखते हैं, उनमें राम हूँ। शसनशीलको शस्त्र कहते हैं। जो काटे, उसका नाम शस्त्र होता है और जो

फेंका जाये, उसको अस्त्र बोलते हैं। *अस् धातु क्षेपके* अर्थमें है और *शस् धातु शसनके* अर्थमें है। इसलिए भाला, तलवार, फरसा—ये सब शस्त्र होते हैं और जो बाण हैं, ब्रह्मास्त्र आदि हैं—वे अस्त्र होते हैं। ब्रह्मास्त्र, वाय्वास्त्र, मेघास्त्र, पर्वतास्त्र—ये सब अस्त्र हैं। पानीमें बहनेवाली नदियोंमें जाह्नवी हूँ।

सर्गाणामादिरन्तश्च मध्यं चैवाहमर्जुन।
अध्यात्मविद्या विद्यानां वादः प्रवदतामहम्॥ 32॥

यह जो सारी सृष्टि है, उसका आदि भी मैं हूँ, अन्त भी मैं हूँ और मध्य भी मैं ही हूँ—अर्थात् मैं+मैं+मैं, बराबर=मैं। और आदि-मध्य-अन्तका भेद झूठा, क्योंकि मैं तो आदि-मध्य-अन्त सबमें हूँ। आदिमें मध्य नहीं है, मध्यमें आदि नहीं है, अन्तमें आदि और मध्य नहीं है और आदि-मध्यमें अन्त नहीं है। तो परस्पर व्यावृत्त हैं और अहं अनुवृत्त है। इसलिए अहंकी सत्ता अबाधित है और आदि-मध्य-अन्त कल्पित है।

भगवान् बोले कि विद्या तो बहुत हैं महाराज! लेकिन उसमें जो आध्यात्मविद्या है, वह मैं हूँ। अध्यात्म-विद्या क्या है? कि आत्मानात्मविवेक है। वही सबसे बड़ी विद्या है।

'**वादः प्रवदतामहम्**'—शास्त्रोंमें जो जल्प-वितण्डादि भेद कहे गये हैं, उनमें वाद मैं हूँ। वाद माने क्या? कि तत्त्व-निर्णयके लिए जो चर्चा है, उसका नाम वाद है। वह अपने विवेकके लिए है। जो दूसरेको हरानेके लिए है, बात काटनेके लिए है—वह भगवान्‌को पसन्द नहीं है।

अक्षराणामकारोऽस्मि द्वन्द्वः सामासिकस्य च।
अहमेवाक्षयः कालो धाताहं विश्वतोमुखः॥ 33॥

भगवान् कहते हैं कि मैं अक्षरोंमें अकार हूँ और समासमें द्वन्द्व हूँ, क्योंकि दोनोंके अर्थ उसमें प्रधान होते हैं। मैं ही अक्षय काल हूँ। मैं ही विश्वतोमुख धाता हूँ। महाराज, यह ऐसा भगवान् है, जो किसी चीजको छोड़ता ही नहीं और ऐसा बोलनेमें कि यह मैं हूँ, यह मैं हूँ—कोई संकोच नहीं करता है।

मृत्युः सर्वहरश्चाहमुद्भवश्च भविष्यताम्।
कीर्तिः श्रीर्वाक्च नारीणां स्मृतिर्मेधा धृतिः क्षमा॥ 34॥

मैं सर्वसंहारक **मृत्यु** हूँ! अरे पाप-ताप नहीं लगता है उसे, जो सारी सृष्टिको मिथ्या ही देख रहा है।

हत्वापि स इमाँल्लोकान् न हन्ति न निबध्यते।

क्या कहोगे? भगवान्ने क्या नहीं कह दिया है। लोग नाराज हो जाते हैं साफ-साफ बोलनेपर महाराज! लेकिन भगवान् क्या कहते हैं। ध्यान दीजिए—

सर्वथा वर्तमानोऽपि न स भूयोऽभिजायते।
सर्वथा वर्तमानोऽपि स योगी मयि वर्तते।
नायं हन्ति न हन्यते। कं घातयति हन्ति कम्।
न्याय्यं वा विपरीतं वा पञ्चैते तस्य हेतवः।

ऐसा बोलनेवाला है भगवान्! बोला, मैं सबको हर लेता हूँ। एक गोपीने उलाहना देते हुए कहा कि तुम माखनकी चोरी क्यों करते हो? भगवान् बोले कि अभी तो केवल तुम्हारा माखन ही चुराया है। आगे देखना कि एक दिन तुम्हारी सारी चीजें चुरा ले जाऊँगा। तब पूछना फिर हमारा नाम! एक दिन तुम्हें भी चुरा ले जाऊँगा तुम्हारे दिलको भी चुरा ले जाऊँगा क्योंकि मैं सर्वापहारी हूँ।

भगवान् बोले कि मैं ही मृत्यु हूँ और मैं ही सबको जन्म देता हूँ। यहाँ मानो किसीने कहा कि महाराज, आप तो कई बार किसी साँवरी गोपीका रूप धारण कर लेते हैं, गोंदनवारीका, चूड़िनहारीका रूप धारण कर लेते हैं। यह सब क्या है? भगवान्ने कहा कि मेरी दृष्टिमें स्त्री-पुरुषका भेद तो है ही नहीं। मैं सब महिलाओंमें रहता हूँ। किस रूपमें रहते हैं? कि उनकी कीर्तिके रूपमें, यशके रूपमें—जिससे कि लोग उनके यशका, कीर्तिका, बहुत दिनोंतक गान करें। यश होता है फैलनेवाला, दिगन्तव्यापी और कीर्ति भविष्यव्यापिनी होती है। जिस स्त्रीकी खूब कीर्ति हो--कि यह बहुत अच्छी है, पतिव्रता है, सद्‌गुणी हो, समयपर उसको अपने कर्तव्यकी '**स्मृति**' आ जाये, और धारणा-शक्ति हो, उसमें **मेधा** हो, एक बार कोई बात बता देनेपर वह उसको पकड़ ले, उसको ठीक-ठीक समझ ले। '**धृतिः**'—माने कोई कष्टका समय आये तो उसमें धैर्य धारण कर ले, और कोई अपराध करे तो उसको **क्षमा** कर दे। इस प्रकार मैं एक-एक स्त्रीमें सात-सात गुणोंका रूप धारण करके रहता हूँ। माने, जिस स्त्रीमें कीर्ति हो, श्री हो, मधुरवाणी हो, स्मृति हो, मेधा हो, धृति हो और क्षमा हो— उसमें साक्षात् विद्यमान रहते हैं। इसलिए लिंगभेद मत करना। भगवान्में लिंगभेद नहीं है।

वृहत्साम तथा साम्नां गायत्री छन्दसामहम्।
मासानां मार्गशीर्षोऽहमृतूनां कुसुमाकरः॥ 35॥

मैं सामोंमें वृहत्साम हूँ, छन्दोंमें गायत्री हूँ और मासोंमें मार्गशीर्ष हूँ। भगवान्

रामका ब्याह मार्गशीर्षमें ही हुआ था और पहले वर्षारम्भ भी मार्गशीर्षसे ही हुआ करता था, इसलिए मार्गशीर्षका महत्त्व है। बोले कि ऋतुओंमें वसन्त हूँ।

द्यूतं छलयतामस्मि तेजस्तेजस्विनामहम्।
जयोऽस्मि व्यवसायोऽस्मि सत्त्वं सत्त्ववतामहम्॥ 36॥

भगवान् बोले, अरे अर्जुन! और तो और, '**घूतं छलयतास्मि**'—तुम लोगोंको तो अनुभव ही है। तुम लोग जो जुयेमें हार गये थे न, उसके रूपमें मैं ही जान-बूझकर आया था और तुम लोगोंको हराया था।

हे भगवान्! तुम ऐसा काम भी किया करते हो? हाँ, अगर ऐसा काम नहीं करता तो अधार्मिकोंका नाश कैसे होता? और धार्मिकोंकी रक्षा किस प्रकार होती? मैं धर्मके पक्षमें हूँ—यह बात लोगोंको कैसे मालूम पड़ती? इसलिए मैं ही आया था जुएका रूप धारण करके। मैं तेजस्वियोंमें तेज हूँ, व्यवसाय हूँ। जय हूँ, सत्त्ववानोंमें सत्त्व हूँ।

वृष्णीनां वासुदेवोऽस्मि पाण्डवानां धनंजयः।
मुनीनामप्यहं व्यासः कवीनामुशना कविः॥ 37॥
दण्डो दमयतामस्मि नीतिरस्मि जिगीषताम्।
मौनं चैवास्मि गुह्यानां ज्ञानं ज्ञानवतामहम्॥ 38॥

'**वृष्णीनां वासुदेवः**' हूँ। शाण्डिल्यने 'वासुदेव' शब्दकी व्याख्या करते हुए कहा है कि विभूतिको अपना इष्टदेव नहीं बनाना चाहिए। लेकिन वासुदेव विभूति भी हैं और विभूतिमान् भी हैं। इसलिए वे इष्टदेव हो सकते हैं। शाण्डिल्य-दर्शनमें यह सूत्र ही है—

प्राणत्वात् न विभूतिषु; वासुदेवेऽप्रीति चेन्नाकारमात्रत्वात्। (2.1.24.26)

महाराज, तुम यदुवंशियोंमें तो वासुदेव बन गये, किन्तु क्या पाण्डवोंमें कोई नहीं हो? बोले कि वाह अर्जुन! नाराज मत होओ। पाण्डवोंमें तो जो तुम—वह मैं। '**पाण्डवानां धनंजयः।**' और मुनियोंमें? अरे भाई, हमारी कीर्तिका गान करनेवाला और अपने वंशकी कथा लिखनेवाला व्यास कौन है? मैं ही तो हूँ। व्यासजीने एक महाभारत लिखा तो क्या किया? जितने भी पाण्डु, धृतराष्ट्र और विदुर थे, ये सब व्यासजीके ही तो थे। उन्होंने अपने बेटोंकी ही कीर्ति लिखी। परन्तु उन्होंने अपने वंशकी कथा नहीं लिखी, बल्कि महाभारतके व्याजसे आम्नायका प्रदर्शन किया—

भारतव्यपदेशेन ह्याम्नायार्थश्च दर्शितः।

उनको सम्पूर्ण वेदार्थ अपने वंशमें दिखायी पड़ता था, इसलिए उन्होंने उसका निरूपण किया। अच्छा, कवियोंमें क्या हैं आप? बोले कि उशना—माने शुक्राचार्य हूँ। दमन करनेवालोंमें दण्ड हूँ। जीत चाहनेवालोंमें नीति हूँ—**'नीतीरस्मि जिगीषताम्'** संस्कृतिसे जीत नहीं होती है, नीतिसे जीत होती है, संस्कृतिकी आँख पीछेकी ओर होती है—जैसे हमारे बाप, दादा, परदादा पुराने लोग कैसे-कैसे करते थे—उधर तो देखो! यह संस्कृति है। किन्तु नीति नयन है। यह भविष्यको देखती है—**'नीतिर्नयनं'**। वही धातु है। यह भविष्यको सोच-सोचकर चलना नीति है। यदि आप विजय प्राप्त करना चाहते हैं तो आपके जीवनमें नीति चाहिए।

और भगवन्, गुप्त रखनेकी सबसे बड़ी विद्या क्या है? बोले कि मौन! मौन ही सात्त्विक, राजस, तामस तीन प्रकारका होता है। यदि श्रद्धा न हो तो यह सात्त्विक नहीं रहेगा; फलाकांक्षा हो तो राजस हो जायेगा और मौनी बाबा तो हों, लेकिन दुराचारी हों—तो तामस हो जायेंगे। मौन भी तामस हो जायेगा। यह भेद गीतामें ही है। वहीं आगे यह बात लिखी है कि श्रद्धालुका मौन सात्त्विक है, निष्काम मौन सात्त्विक है और सदाचारीका मौन भी सात्त्विक है।

अब भगवान् बोले कि ज्ञानवानोंमें जो ज्ञान है, वह सब ज्ञान मैं ही हूँ। विषय तो ज्ञानका विवर्त है। ज्ञान कभी परोक्ष नहीं होता, वह नित्य अपरोक्ष है। ज्ञान अपने पास होता है, दूसरे पदार्थमें नहीं होता। नैयायिकोंने भी ज्ञानको आत्माका गुण ही माना है—**'ज्ञानाधिकरणम् आत्मः'**। उनका ज्ञान भी कभी परोक्ष नहीं होता। बौद्धोंका ज्ञान भी कभी परोक्ष नहीं होता। ज्ञान तो परोक्ष होता ही नहीं! यदि कहो कि मुझे अभी परोक्ष ज्ञान हुआ है महाराज, अपरोक्ष ज्ञान नहीं—तो जैसे घट दीवारके उस पार होता है, वैसे ज्ञान उस पार थोड़े ही होता है! ज्ञान तो अपरोक्ष ही होता है। विषयकी जो परोक्षता है, उसको ज्ञानमें आरोपित करके ज्ञानको परोक्ष कहते हैं। नहीं तो ज्ञान कभी परोक्ष नहीं होता।

यच्चापि सर्वभूतानां बीजं तदहमर्जुन।
न तदस्ति विना यत्स्यान्मया भूतं चराचरम्॥ 39॥
नान्तोऽस्ति मम दिव्यानां विभूतिनां परंतप।
एष तूद्देशतः प्रोक्तो विभूतेर्विस्तरो मया॥ 40॥

भगवान् कहते हैं कि सम्पूर्ण प्राणियोंका बीज मैं हूँ। फिर कहते हैं कि यह जो चराचर सृष्टि दिख रही है, वह मेरे सिवाय और कुछ नहीं है। जब मैं हूँ

तब सारी सृष्टि है। और मैं नहीं हूँ तो कुछ नहीं है। मेरे बिना रहेगा कुछ नहीं। सत्ता कहाँ रहेगी? मेरे बिना प्रकाशेगा कैसे? ज्ञान कहाँसे होगा? मेरे बिना प्रियता कहाँसे आयेगी? मैं अद्वय हूँ और यह अद्वैत जो दिखायी पड़नेवाला है, वह कुछ है ही नहीं। यह नहीं, भगवान् आगे जाकर बोलते हैं—कि चर-अचर दोनों ब्रह्म ही है।

नान्तोऽस्ति मम दिव्यानां विभूतीनां परंतप।
एष तूद्देशतः प्रोक्तो विभूतेर्विस्तरो मया॥ 40॥

यह मैंने जो विभूतिका विस्तार तुमको सुनाया यह तो केवल नाम मात्र-गणनामात्र है। वैसे तो सब नाम भगवान्के हैं और सब रूप भगवान्के हैं। यहाँ तो नाम मात्र बता दिया।

अच्छा तो विभूति पहचाननेका एक तरीका बताते हैं कि किस ढंगसे हम भगवान्की विभूतिको पहचानें।

यद् यद् विभूतिमत्सत्त्वं श्रीमदूर्जितमेव वा।
तत् तत् देवावगच्छ त्वं मम तेजोंऽशसंभवम्॥ 41॥

आप हमारी विभूतिको पहचानिये। जहाँ-जहाँ विभूति है—विशिष्ट भवन है वहाँ-वहाँ विभूति है। सब वस्तुओंकी अपनी-अपनी विभूति है—विशिष्ट भवन है। भवन माने होना—विशिष्ट रूपसे पृथक् होना।

असलमें यन्त्रके अनुरूप बिजली काम करती है। यह बात ध्यानमें रहनी चाहिए। बिजली एक होनेपर भी जहाँ जैसा जो यन्त्र होता है उसके अनुरूप काम करती है। लाउडस्पीकरमें आवाज फेंकती है, हीटरमें गरमी, रेफ्रिजरेटरमें ठण्डक, पंखेमें हवा—बिजली तो एक ही है, परन्तु ये विभूतियाँ पृथक्-पृथक् क्यों हैं? तो पूर्व-पूर्व कर्मानुसार विशिष्ट.प्रकारका जो यन्त्र जैसा बन जाता है, भगवत्शक्ति उसमें वैसा काम करती है। इसकी शक्तिमें विषमता नहीं, यन्त्रमें विषमता है। जिसके कारण विषमता आती है। दुनियामें कोई बड़ा भी होता है, कोई छोटा भी होता है। यद् यद् विभूतिमत्।

अब आपको भगवान्का दर्शन करना हो तो देखिये, कहाँ-कहाँ विभूति है, कहाँ-कहाँ श्रीमत् श्री है। श्री माने सौन्दर्य भी होता है, सम्पदा भी होती है, आदर भी होता है—आदरणीय अर्थमें भी श्री शब्दका प्रयोग होता है। श्रीका सर काटकर (SIR) सर बन गया है। जहाँ-जहाँ विभूति है—सत्ता है, जहाँ-जहाँ श्री है—लक्ष्मी है और वहाँ-वहाँ ऊर्जा है, शक्ति है।

यद्यद्विभूतिमत्सत्त्वं श्रीमदूर्जितमेव वा।
तत्तदेवावगच्छ त्वं मम तेजोंऽशसंभवम्॥ 41॥

जो जो पदार्थ हमें सृष्टिमें दिखायी पड़ते हैं, भगवान् कहते हैं—हमारे तेजका ही, हमारे अंशका ही वह एक रूप है, जहाँ तुम्हें ऊर्जा-शक्ति दिखायी दे। यजुर्वेदके पहले ही मन्त्रमें ऊर्जा शब्दका प्रयोग है। हरिः ॐ। **इषे त्वोर्जे त्वा वायवस्थ देवो.....। यजुः॥ 1:1॥**

जहाँ ऊर्जा है, श्री है, विभूति है, वहाँ भगवान्का दर्शन करो। आपको कोई जगह ऐसी नहीं मिलेगी जहाँ भगवान् न हों। भगवान्को पहचानो।

पर वर्णन करते-करते तो ऐसे लगता है, कि श्रीकृष्ण भी थक गये, वर्णन करके पार नहीं पा सकते। तो बोले—

अथवा बहुनैतेन किं ज्ञातेन तवार्जुन।
विष्टभ्याहमिदं कृत्स्नमेकांशेन स्थितो जगत्॥ 42॥

आओ अर्जुन, तुम यह बहुत लम्बी-चौड़ी बात सुनकर, जानकर क्या करोगे। बात तो जितनी थोड़ेमें होती है, उतनी ही अच्छी लगती है। बहुत बोलनेकी प्रतिक्रिया अच्छी नहीं होती। संक्षेपमें अपनी बात साफ-साफ समझा दें कि सुननेवालेकी समझमें आ जाये और अपनेको संतोष हो जाये कि हमने समझा दिया।

तो भगवान् कहते हैं—देखो अर्जुन तुम तो मुझको जानते हो। मेरी विभूति जानकर क्या करोगे! **अथवा बहुनैतेन किं ज्ञातेन तवार्जुन।**

एक-एक नाम लेकर हम तुमको बतावें तो तुम जानकर क्या करोगे? उससे क्या लाभ है। यह तो *नदिया एक घाट बहुतेरे* नदी एक है घाट बहुतसे हैं। **ऋजुकुटिलनानापथजुषां नृणामेको गम्यस्त्वमसिपयसामर्णव इव।**

हजार-हजार विभूतियोंको मान लें, परन्तु परमेश्वर तो एक ही है। महिम्नश्लोकमें कहा—कोई सीधे, कोई टेढ़े मार्गसे चलते हैं, परन्तु पहुँचते सब एक ही जगह पर हैं। बहुत वर्णन करके क्या करना है?

विष्टभ्याहमिदं कृत्स्नमेकांशेन स्थितो जगत्।

हमने अपने एक छोटेसे हिस्सेसे सारे जगत्को स्तब्ध कर रखा है और मैं स्वयं अपने स्वरूपमें स्थित हूँ। इस सम्पूर्ण जगत्को जो हिलती-डुलती-चलती-फिलती चीज है, जो ज्ञानमें आती-जाती है, जो सत्तामें आकृति बनती-बिगड़ती है, उस सबको तो मैंने एक अंशमें स्तब्ध कर लिया है, स्तम्भित कर लिया है और स्वयं अपने स्वरूपमें स्थित हूँ।

गीताके भगवान् यह बोलते हैं कि परमात्माके सिवाय दूसरी कोई वस्तु नहीं है।

अहं कृत्स्नस्य जगतः प्रभवः प्रलयस्तथा।

मैं सम्पूर्ण जगत्का प्रभव भी हूँ, प्रलय भी हूँ। विभूति प्रलयके पहले नहीं होती, प्रलयके पश्चात् भी नहीं होती। विभूति तो जीवन-कालमें ही होती है। सृष्टि-कालमें ही विभूति होती है। इसीसे पहले ही कहा—**अहं सर्वस्य प्रभवः**। जब विभूति नहीं थी तब मैं कारणके रूपमें था और जब विभूति नहीं रहेगी तब मैं सबके प्रलयके रूपमें रहूँगा। मैं ही नामरूपात्मक इस विभूतिमय सृष्टिका आदि और अन्त हूँ। पहले ही कहा—

अहमादिश्च मध्यं च भूतानामन्त एव च॥ 20॥

बीजं तदहमर्जुन॥ 39॥

ममैवांशो जीव लोके॥ 15.7॥

भगवान् कहते हैं इस विश्व-सृष्टिका बीज मैं ही हूँ। ईश्वरके सिवाय दूसरी कोई वस्तु नहीं है। ईश्वरका जब अनुभव होता है, तब यह मालूम पड़ता है। तो वेद तो हमारा ज्ञान है, गीता हमारी वाणी है। परमात्मा हमारा आत्मा है और यह सम्पूर्ण विश्वसृष्टि अपना ही सर्वरूपमें दर्शन है।

ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः

स्वामी अखण्डानन्द सरस्वतीजी महाराज

क्या आप चाहते हैं कि आपके जीवनमें कोई दुःख न हो, आप सदैव सुखी रहना चाहते हैं? आपको कोई डरा न सके, नित्य निर्भय रहना चाहते हैं? आप चाहते हैं कि आपके प्रियसे आपका अलगाव न हो, पल-पल प्रियका संग बना रहे? आपका व्यवहार भी ठीक रहे और परमार्थ भी? आपकी दुनियादारी ठीक रहे और दुकानदारी भी?

सचमुच ऐसा जीवन कितना स्वच्छ, कितना सुन्दर, कितना सत्य, कितना शिव होगा!

श्रीमद्भगवद्गीताके दसवें अध्याय 'विभूतियोग' में भगवान्‌ने 'अविकम्प योग'से युक्त आपके ऐसे ही जीवनकी कामना की है।